प्रथम तथा द्वितीय दौरके पत्रकों पर मध्यस्थके साथ प्रथम
पक्षके पाँचों प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर

तृतीय दौर के पत्रकों पर प्रथम पक्षके अन्यतम
प्रतिनिधि पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीनाके हस्ताक्षर

इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि जिनागम में सर्वत्र भाव चारित्र या निश्चय चारित्र की ही प्रधानता है, क्योंकि वह मोक्ष का साक्षात् हेतु है। उसके होने पर साथ में गुणस्थान परिपाटी के अनुसार व्यवहार चारित्र होता ही है। उसका निषेध नहीं है। परन्तु ज्ञानी की सदा स्वरूप रमण की दृष्टि बनी रहती है, इसलिये मोक्ष मार्ग में उसकी मुख्यता है। मोक्षमार्ग का तात्पर्य ही यह है। इस प्रतिशंका में प्रसंगवश इसी प्रकार की सम्बन्धित और भी अनेक चर्चायें आई हैं परन्तु उन सब का समाधान उक्त कथन से हो जाता है, अतः यहाँ और विस्तार नहीं किया गया है।

तीनों दौरोंके पत्रकों पर मध्यस्थके साथ द्वितीय पक्षके
तीनों प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर

विषय-सूची

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा

प्रथम दौर

: १ :

शंका ६

उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्त कारण सहायक होता है या नहीं ?

समाधान १

प्रकृतमें निमित्तकारण और सहायक इन दोनोंका अभिप्राय एक ही है। इसलिये उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्याय सहायक होती है यह कहने पर उसका तात्पर्य यही है कि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्याय निमित्त कारण होती है। परन्तु यहाँ पर यह स्पष्टरूपसे समझना चाहिये कि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायको आगममें जो निमित्त कारणरूपसे स्वीकार किया है सो यह वहाँ पर व्यवहारनयकी अपेक्षा ही स्वीकार किया है, निश्चयनयकी (पर्यायार्थिक निश्चयनयकी) अपेक्षा नहीं। इसी अभिप्रायको विस्तारके साथ विवेचन द्वारा स्पष्ट करते हुए अन्तमें निष्कर्षरूपमें श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

कथमपि तन्निश्चयनयात् सर्वस्य विस्रसोत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेव उत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः।

—अ० ५, सू० १६, पृ० ४१०

किसी भी प्रकार सब द्रव्योंके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्यवस्था निश्चयनयसे विस्रसा है, व्यवहार नयसे ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।

यहाँ पर 'सहेतुकत्वप्रतीतेः' पदमें 'प्रतीतेः' पद ध्यान देने योग्य है।

द्वितीय दौर

: १ :

शंका ६

उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं ?

प्रतिशंका २

विचारणीय तत्त्व यह है कि क्या उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्त कारण सहायक होता है या नहीं अर्थात् कार्यकी उत्पत्ति सामग्रीसे अर्थात् उपादान और निमित्त कारणोंसे होती है या केवल उपादान कारणसे । कहीं-कहीं जैनाचार्योंने अन्तरंग कारण और बहिरंग कारणका भी उल्लेख किया है। अन्तरंग कारणसे तात्पर्य कार्ययोग्य द्रव्यशक्तिसे है तथा बहिरंगसे मतलब बलाधानमें सहायकसे है । इन्हींको उपादान और निमित्त कारण भी कहते हैं। जब-जब शक्ति व्यक्ति रूपमें आती है तब-तब निमित्तकी सहायतासे ही आती है। जैसे जब-जब हम देखते हैं अर्थात् हमारी लब्धिरूप चेतना उपयोगरूप होती है तब यह कार्य नेत्रेन्द्रियकी सहायतासे ही होता है। यदि इसकी मनो-वैज्ञानिक व्याख्या करें तो कहना होगा कि किसी भी वस्तुको देखते समय उस वस्तुका उल्टा फोटू हमारी पुतली (रेटीना) पर पड़ता है और इसमें जो हलन-चलन होता है उससे हमारी सुसुप्त चेतना जागती है और उस पदार्थको जानती है। यहाँ दो प्रकारके परिणमन होते हैं—एक भौतिक और दूसरे मानसिक (आत्मिक)। पुतली पर अक्स उसका भौतिक परिणमन है और उसके बादका अनुकम्पन और जानना मानसिक (आत्मिक) परिणमन है। यदि भौतिक परिणमन न होवे तो तीन कालमें भी आत्मिक परिणमन अर्थात् चेतना लब्धिसे उपयोगरूपमें नहीं आवेगी। इस ही को बलाधानमें निमित्त कहते हैं। महर्षि पूज्यपादने उपयोगका लक्षण निम्न प्रकार लिखा है—

उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ।

—सर्वा० सि० २-८

महर्षि अकलंकने भी लिखा है—

बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासम्भवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ।

—तत्त्वार्थरा० २-८

इसी प्रकार क्रियाका लक्षण करते हुए महर्षि अकलंकने लिखा है—

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया ।

अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यं । बाह्यं च नोदनाभिघाताद्यपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेषः द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेत्युपदिश्यते ।

—तत्त्वा० वा० ५-७

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि पदार्थमें क्रियाकी शक्ति है और वह रहेगी, किन्तु पदार्थ क्रिया तब ही करेगा जब बहिरंग कारण मिलेंगे, जब तक बहिरंग कारण नहीं मिलेंगे वह क्रिया नहीं कर सकता, अर्थात्

उसकी शक्ति व्यक्तिरूपमें नहीं आ सकती, जिसके द्वारा शक्ति व्यक्तिरूपमें आती है या जिसके बिना शक्ति व्यक्तिरूपमें नहीं आ सकती वही बहिरंग कारण या निमित्त कारण है या वही बलाधान निमित्त है।

यह ठीक है कि लोहा ही घड़ीके पुर्जोकी शक्ल धारण करता है। यह भी ठीक है कि लकड़ी या लोहा ही विविध प्रकारके फर्नीचरके रूपमें परिणत होते हैं। यह भी ठीक है कि मेटीरियलसे ही मकानका निर्माण होता है। यह भी ठीक है कि विविध प्रकारके रसायनिक पदार्थोंमें ही विभिन्न प्रकारके अणुबम आदि बनते हैं, किन्तु ये वस्तुएँ जिन मनुष्यों या कलाकारोंके द्वारा विभिन्न रूपको धारण करती हैं, यदि वे न होवें तो वैसा नहीं हो सकता, मनुष्य या कलाकार ही उनको उन उन रूपोंमें लानेमें सहायक होते हैं यही उनका बलाधान निमित्तत्व है। कलाकारका अर्थ ही यह है कि वह उसको सुन्दर रूप देवे। यह कार्य मनुष्यसे और केवल मनुष्यसे ही सम्भव है। जहाँ तक मेटीरियलकी बात है वह तो सुन्दर और भद्दी दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंमें समानरूपसे रहता है। घड़ियोंके मूल्योंमें तरतमता लोहेकी बात नहीं है, किन्तु मुख्यता निर्माता कलाकारकी है।

प्राचीन नाटच साहित्यकार भरतमुनिने अपने नाटचशास्त्रमें रसका लक्षण करते हुए लिखा है कि—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

इससे स्पष्ट है कि मानव हृदयमें विभिन्न प्रकारके रसोंकी उत्पत्ति ही बहिरंग साधनोंकी देन है। यदि कभी सिनेमा देखनेवालेसे पूछा जाय कि खेल कैसा था तब वह जो उत्तर देगा वह विचारणीय है। इसी प्रकार आत्मीय जनकी मृत कायाका देखना, बाजारोंमें घूमते हुए सुन्दर सुन्दर पदार्थोंको देखना आदि व्यावहारिक बातें हैं जिनपर गंभीर विचारकी जरूरत है। क्या सिनेमामें जो कुछ भी सुनने या देखनेमें आता है वह व्यर्थ है या वही देखनेवालेके हृदयोंको प्रफुल्लित करनेमें सहायक होता है? आत्मीय जनकी मृत कायाको देखना व्यर्थ है और जो शोक हुआ है या शोकके उत्पन्न करनेमें वह सहायक है? यही बात बाजारू चीजोंके सम्बन्धमें चिन्तनीय है।

जैन तत्त्वज्ञानका विद्यार्थी यदि ज्ञान और ज्ञेयके रूप पर तथा विषय और कषायके रूप पर विचार करेगा तब उसको मालूम होगा कि यह पर पदार्थ ही केवल जो ज्ञेय न रह कर विषय बन जाता है और आत्मामें कषाय उत्पन्न करा देता है, ऐसी स्थितिमें भी आश्चर्य है कि हमारे आध्यात्मिक महापुरुषोंका ध्यान इसकी तरफ नहीं जा रहा है।

इस विषयमें महर्षि समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानन्दकी मान्यताएँ मनन करने योग्य हैं—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

इस कारिकाके द्वारा स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि किसी आत्मामें दोष (अज्ञानादि विभावभाव) तथा आवरण (पुद्गल कर्म) दोनोंका अभाव (ध्वंस) रूपसे पाया जाता है, क्योंकि उनके हानिक्रममें अतिशय (उत्तरोत्तर अधिक) हानि पाई जाती है। जो गुणस्थानोंके क्रमसे मिलती है। जैसे सुवर्णमें अग्निके तीव्र पाकद्वारा कीट व कालिमा अधिक अधिक जलती है तो वह सोना पूर्ण शुद्ध हो जाता है।

कारिकाकी व्याख्या लिखते हुए शंकाकी गई है कि आवरणसे भिन्न दोष और क्या वस्तु है? दोषको आवरण ही मान लिया जावे तो क्या हानि है? तब अकलंकदेव उसका समाधान करते हुए लिखते हैं—

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः ।

—अष्टशती पृ० ५१

कारिकामे आचार्यने 'दोषावरणयोः' ऐसा द्विवचन दिया है, जिससे आवरण पौद्‌गलिक कर्मसे भिन्न ही अज्ञानादि विभाव दोष पद वाच्य हैं जो कि स्वजीवके परिणाम तथा पर-पुद्‌गलके परिणामरूप दोनों परिणामसे जन्य हैं ।

इसी भावको विशद करते हुए श्री विद्यानन्द स्वामी लिखते हैं—

न हि दोष एव आवरणमिति प्रतिपादने कारिकायां दोषावरणयोरिति द्विवचनं समर्थम् । ततस्तत् सामर्थ्यात् आवरणात्पौद्‌गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्न एवाज्ञानादिदोषोऽभ्यूहते, तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च ।

अर्थ—दोष ही आवरण है ऐसा अभिप्राय कारिकामें दिये हुए विवेचनसे नहीं हो सकता । इसलिये आवरण पुद्‌गल कर्मसे भिन्न जीवगत कुज्ञानादि विभाव ही दोष मानना चाहिये । तथा उसके हेतु आवरण कर्म जो पर कारण जीवसे भिन्न है तथा जीवका पूर्व परिणाम भी जनक है यह स्वकारण है ।

उपरोक्त भाष्यमें अकलंकदेवने स्वयं निमित्त कारण ज्ञानावरणादि पुद्‌गल कर्मको निमित्त कारण पर शब्दसे तथा स्व शब्दसे पूर्व पर्यायविशिष्ट जीवको उपादान कारणरूपसे उल्लेख किया है। यही अभिप्राय विद्यानन्दने स्वरचित अष्टसहस्रीमें 'तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म पूर्वस्वपरिणामश्च' इस वाक्यसे विशद किया है ।

महर्षि कुन्दकुन्दने भी इसी बातका समर्थन समयसारमें किया है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

अर्थात्—पुद्‌गल जीवके परिणामके निमित्तसे कर्मरूपमें परिणमित्त होते हैं, तथा जीव भी पुद्‌गल कर्मके निमित्तसे परिणमन करता है ।

इसी बातका विस्तृत विवेचन स्वयं महर्षि कुन्दकुन्दने ही आगे चलकर किया है—

सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिवद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिवद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

अर्थात् सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्यात्व है ऐसा जिनवरोंने कहा है, उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जानना चाहिये । ज्ञानको रोकनेवाला अज्ञान है ऐसा जिनवरोंने कहा है उसके उदयसे जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये । चारित्रको रोकनेवाला कषाय है ऐसा जिनवरने कहा है उसके उदयसे जीव अचारित्रवान् होता है ऐसा जानना चाहिये ।

मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीनों पौद्‌गलिक हैं । यदि इनको पौद्‌गलिक न माना जायेगा तो फिर कार्यकारणभाव नहीं बन सकेगा । आचार्य अमृतचन्द्र सूरिने भी इसी बातको स्वीकार किया है—

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिवन्धकं किल मिथ्यात्वम्; तत्तु स्वयं कर्मैव। तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम्। ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिवन्धकमज्ञानत्वम्, तत्तु स्वयं कर्मैव। तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानत्वम्। चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिवन्धकः किल कषायः, तत्तु स्वयं कर्मैव। तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वम्। अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्।

—समयसार टीका पृ० २४६

इसी प्रकार समयसारकी बन्ध अधिकारकी गाथा २७८-२७९ भी इस विषयमें मनन करनेयोग्य है—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

अर्थात्—जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होनेसे रागादिकरूपसे (ललाई आदि रूपसे) अपने आप परिणमता नहीं है, परन्तु अन्य रक्तादि द्रव्योंसे वह रक्त (लाल) आदि किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होनेसे रागादिरूप अपने आप परिणमता नहीं है, परन्तु अन्य रागादि दोषोंसे वह रागी आदि किया जाता है ॥२७८-२७९॥

यदि अभ्युपगम सिद्धान्तसे श्री पं० फूलचन्द्रजीकी बातको मान लिया जाय कि कार्य केवल उपादानसे ही होता है और निमित्त केवल उपस्थित ही रहता है तब भी विचारणीय यह हो जाता है कि वह निमित्त कैसे बन गया। उपस्थित तो उस समय उसी तरह अन्य पदार्थ भी हैं और फिर यही निमित्त हैं और वे पदार्थ निमित्त नहीं हैं इसमें क्या नियामक है।

१. श्री पं० फूलचन्द्रजी कुछ भी कहें, किन्तु उनको उसके समर्थनमें प्रमाण तो उपस्थित करना ही होगा। यदि उनकी ऐसी ही मान्यता है कि निमित्त कारण केवल उपस्थित ही रहता है और उपादानको उपादेयरूप होनेमें या शक्तिको व्यक्तिरूप होनेमें कुछ व्यापार नहीं करता, ऐसी स्थितिमें उनकी मान्यता एक विवादस्थ बात हो जाती है। और इसके समर्थनमें प्रमाण उपस्थित करना ही चाहिये।

२. दूसरी बात यह है कि ऐसी परिस्थितिमें अर्थात् उपादान और निमित्तकी परम्पराओंको परस्परमें असम्बन्धित मानने पर बन्धादि तत्त्वोंकी व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी। आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरिने भी ऐसा ही स्वीकार किया है—

तथान्तर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो,जीवस्य विकारहेतुरजीवः।

—समयसार गा० १३

स्वयमेकस्य पुण्य पापास्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध-मोक्षानुपपत्तेः।

—समयसार गा० १३

अर्थात् भीतरी दृष्टिसे देखा जाये तो ज्ञायक भाव जीव तत्त्व है, जीवके विकारका हेतु अजीव पुद्गल है। क्योंकि अकेले जीव तत्त्वके पुण्य-पापादि, आस्रवरूपता, संवरपना, निर्जरा और बन्ध व मोक्ष नहीं हो सकते।

३. तीसरी बात यह है कि असंख्यातप्रदेशी जीवमें शरीर परिमाणके छोटे बड़े होनेसे आकारमें छोटा-

बड़ापन माना है। यदि जीवको शरीरके प्रभावसे रहित माना जायगा तब यह बात भी नहीं बन सकेगी। और इस प्रकार आगमका विरोध होगा।

४. चौथी बात यह है कि इस प्रकार कर्मफलकी व्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी। यदि विभावसे कर्म-बन्ध और कर्मोदयसे विभाव नहीं मानेंगे तो कर्मफलकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जिस विभावको हम कर्म कहते हैं वह तो निमित्तमात्र है तथा कर्मबन्ध केवल उसके उपादान कर्मपरमाणुओंका कार्य है। इसी प्रकार जब कर्मोदय होता है वह भी निमित्त है और उस समय आत्मामें होनेवाला विभाव केवल उपादानका ही कार्य है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक-अमुक कर्मका अमुक फल है। यह तो परस्पर सम्बन्ध व्यवस्थामें ही सम्भव हो सकता है।

५. पाँचवीं बात यह है कि केवल उपस्थित रहनेवाले निमित्त कारण तथा व्यापार करनेवाले निमित्त कारणमें परस्परमें विरोध भी है। निमित्तकारण यदि व्यापार करता है या प्रेरक है तब तो केवल उपस्थिति-मूलक नहीं माना जा सकता। यदि निमित्तकारण उपस्थितिमूलक है तो उसको प्रेरक या व्यापारमूलक नहीं माना जा सकता है। जहाँ तक निमित्तकारणकी प्रेरकताका सम्बन्ध है उसकी विस्तारसे चर्चा की जा चुकी है। और उसके समर्थनमें अनेक महर्षियोंके प्रमाण दिये जा चुके हैं। ऐसी स्थितिमें केवल उपस्थिति-मूलक कारण माननेकी कल्पनाको भी स्थान नहीं रह जाता। श्री पं० फूलचन्द्रजीने भी अपनी जैन तत्त्व-मीमांसामें इसको स्वीकार किया है। इससे विदित होता है कि लोकमें धर्मादि द्रव्योंसे विलक्षण प्रेरक निमित्त कारण भी होते हैं। सर्वार्थसिद्धिका वह उल्लेख इस प्रकार है—

तुल्यबलत्वात्तयोर्गति-स्थितिप्रतिबन्ध इति चेत् ? न, अप्रेरकत्वात्।

—तत्वा० अ० ५, सू० १७

द्रव्य वचन पौद्‌गलिक क्यों है इसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि 'भाववचनरूप सामर्थ्यसे युक्त क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेर्यमाण पुद्‌गल द्रव्यवचनरूपसे परिणमन करते हैं, इसलिये द्रव्यवचन पौद्‌गलिक हैं।' इस उल्लेखमें स्पष्टरूपसे प्रेरक निमित्तताको स्वीकार किया गया है। इससे भी प्रेरक निमित्तकी सिद्धि होती है। उल्लेख इस प्रकार है—

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्‌गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्‌गलिकी।

—त० सू० अ० ५, सू० १९

तत्वार्थवार्तिकमें भी यह विवेचन इसी प्रकार किया है। इसके लिये देखो अध्याय ५, सू० १७ और १९।

इसी प्रकार पंचास्तिकायकी (गा० ८५ व ८८ जयसेनीया टीका) संस्कृत टीका और बृहद्‌द्रव्य-संग्रहमें (गा० १७ व २२ सं० टी०) भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो उक्त कथनकी पुष्टिके लिये पर्याप्त हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि अन्तरंग कारण या उपादान कारण या द्रव्यकी शक्ति कार्यरूप या व्यक्तिरूप निमित्तकारणके व्यापारके विना नहीं हो सकती। और इसीलिये आचार्योंने निमित्त कारणको बलाधान निमित्त स्वीकार किया है। ऐसी स्थितिमें यह कहना कि कार्यकी उत्पत्ति केवल उपादान कारणसे ही होती है या निमित्त कारण केवल उपस्थित ही रहता है, शास्त्रीय मान्यताके विपरीत है। इसी चर्चाको यदि दार्शनिकरूपमें लिखा जाय तो यों लिखना चाहिये—

१. केवल उपादान कारणसे ही कार्य होता है यह मिथ्या है, क्योंकि इसके समर्थनमें शास्त्रीय प्रमाणोंका अभाव है।

२. कार्यके समय केवल उपस्थितिमात्रसे कोई निमित्त कारण हो सकता है यह मिथ्या है, क्योंकि इसके समर्थनमें शास्त्रीय प्रमाणोंका अभाव है।

३. कार्यकी उत्पत्ति सामग्रीसे ही अर्थात् उपादान और निमित्त कारणसे ही होती है, यह समीचीन है, क्योंकि शास्त्र इसका समर्थन करते हैं।

०

मूलशंका ६

उपादनकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्त कारण सहायक हैं या नहीं ?

प्रतिशंका २ का समाधान

समाधान—इस शंकाके उत्तरमें यह बतलाया गया था कि जब उपादान कार्यरूपसे परिणत होता है तब उसके अनुकूल विवक्षित द्रव्यकी पर्याय निमित्त होती है। इसकी पुष्टिमें श्लोकवार्तिकका पुष्ट प्रमाण उपस्थित किया गया था, जिसमें बतलाया गया था कि 'निश्चयनयसे देखा जाए तो प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति विस्रसा होती है और व्यवहार नयसे विचार करने पर उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।'

किन्तु इस आगम प्रमाणको ध्यानमें न रख कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि कार्यकी उत्पत्ति निमित्तसे होती है। उपादन जो कार्यका मूल हेतु (मुख्य हेतु-निश्चय हेतु) है उसको गौण कर दिया गया है।

आगममें प्रमाण दृष्टिसे विचार करते हुए सर्वत्र कार्यकी उत्पत्ति उभय निमित्तसे बतलाई गई है। आगममें ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि उपादान (निश्चय) हेतुके अभावमें केवल निमित्तके बलसे कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है। पता नहीं, जब जैसे निमित्त मिलते है तब वैसा कार्य होता है, ऐसे कथनमें निमित्तकी प्रधानतासे कार्यकी उत्पत्ति मानने पर उपादानका क्या अर्थ किया जाता है। कार्य उपत्तिमें केवल इतना मान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि गेहूँसे ही गेहूँके अंकुर आदिकी उत्पत्ति होती है। प्रश्न यह है कि अपनी विवक्षित उपादानकी भूमिकाको प्राप्त हुए विना केवल निमित्तके बलसे ही कोई गेहुं अंकुरादिरूपसे परिणत हो जाता है या जब गेहुं अपनी विवक्षित उपादानकी भूमिकाको प्राप्त होता है तभी वह गेहूँके अंकुरादिरूपसे परिणत होता है। आचार्योंने तो यह स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है कि जब कोई भी द्रव्य अपने विवक्षित कार्यके सन्मुख होता है तभी अनुकूल अन्य द्रव्योंकी पर्यायें उसकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र होती है। निष्क्रिय द्रव्योंमें क्रियाके विना, और सक्रिय द्रव्योंमें क्रियाके माध्यम विना जो द्रव्य अपनी पर्यायों द्वारा निमित्त होती है वहां तो इस तथ्यको स्वीकार ही किया गया है, किन्तु जो द्रव्य अपनी पर्यायों द्वारा क्रियाके माध्यमसे निमित्त होती हैं वहाँ भी इस तथ्यको स्वीकार किया गया है। श्री राजवार्तिकजीमें कहा है—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति।

यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटीभवति, अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष अभ्यन्तरपरिणामसान्निध्याद् घटो भवति न दण्डादयः इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वम् ।

अर्थ—जैसे मिट्टीके स्वयं भीतरसे घटके होने रूप परिणामके सन्मुख होनेपर दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं, क्योंकि दण्डादि निमित्तोंके रहने पर भी वालुकावहुल मिट्टीका पिण्ड स्वयं भीतरसे घटके होनेरूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होनेके (घट पर्याय रूप परिणमनके सन्मुख न होनेके) कारण घट नहीं होता, अतः वाह्यमें दण्डादि निमित्त सापेक्ष मिट्टीका पिण्ड ही भीतर घट होनेरूप परिणामका सानिध्य होनेसे घट होता है, दण्डादि घट नहीं होते, इसलिए दण्डादि निमित्तमात्र हैं ।

यह प्रेरक निमित्तोंकी निमित्तताका स्पष्टीकरण है । इस उल्लेखमें वहुत ही समर्थ शब्दों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि न तो सव प्रकारकी मिट्टी ही घटका उपादान है और न ही पिण्ड, स्थास, कोश और कुसुलादि पर्यायोंको अवस्थारूपसे परिणत मिट्टी घटका उपादान है, किन्तु जो मिट्टी अनन्तर समयमें घट पर्यायरूपसे परिणत होनेवाली है मात्र वही मिट्टी घटपर्यायका उपादान है । यही तथ्य राजवार्तिकके उक्त उल्लेख द्वारा स्पष्ट किया गया है। मिट्टीकी ऐसी अवस्थाके प्राप्त होने पर वह नियमसे घटका उपादान वनती है । यही कारण है कि तत्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेख द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जव मिट्टी घट पर्यायके परिणमनके सन्मुख होती है तव दण्ड, चक्र और पौरुपेय प्रयत्नकी निमित्तता स्वीकृत की गई है, अन्य कालमें वे निमित्त नहीं स्वीकार किए गये हैं ।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्डमें लिखा है—

किं ग्राहकप्रमाणाभावाच्छक्तेरभावः अतीन्द्रियत्वाद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, कार्यान्यथानुपपत्तिजनितानुमानस्यैव तद्ग्राहकत्वात् । ननु सामग्र्यधीनोत्पत्तिकत्वात् कार्याणां कथं तदन्यथानुपपत्तिः यतोऽनुमानात्तत्सिद्धिः स्यात् इत्यसमीचीनम् , यतो नास्माभिः सामग्र्याः कार्यकारित्वं प्रतिषिध्यते । किन्तु प्रतिनियताया सामग्र्याः प्रतिनियतकार्यकारित्वं अतीन्द्रियशक्तिसद्भावमन्तरेणासम्भाव्यमित्यसावप्यभ्युपगन्तव्या ।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड २,२, पृ० १९७

अर्थ—क्या ग्राहक प्रमाणका अभाव होनेसे शक्तिका अभाव है या अतीन्द्रियपना होनेसे ? इसमेंसे प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि कार्योंकी उत्पत्ति अन्यथा नहीं हो सकती इस हेतुसे जनित अनुमान ही उसका (कार्यकारिणी शक्तिका) ग्राहक है ।

शंका—कार्योंकी उत्पत्ति सामग्रीके अधीन होनेसे शक्तिके अभावमें जो कार्योंकी उत्पत्तिका अभाव स्वीकार किया है वह कैसे वन सकता है, जिससे कि अनुमान द्वारा शक्तिकी सिद्धि की जा सके ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि हम सामग्रीके कार्यकारीपनेका निषेध नहीं करते, किन्तु अतीन्द्रिय शक्तिके सद्भावके विना प्रतिनियत सामग्रीसे प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है, इसलिए अतीन्द्रिय शक्तिको भी स्वीकार करना चाहिए ।

यहाँ प्रश्न होता है कि वह अतीन्द्रिय शक्ति क्या है जिसके सद्भावमें ही कार्योंकी उत्पत्ति होती है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए वहाँ पुनः लिखा है—

यच्चोच्यते-शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि । तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ पर्याये वा प्रश्नः स्यात्, भावानां द्रव्य-पर्यायशक्त्यात्मकत्वात् । तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव, अनादिनिधनस्वभावत्वाद् द्रव्यस्य । पर्यायशक्तिस्त्व-नित्यैव, सादिपर्यवसानत्वात् पर्यायाणाम् । न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वा-नुषंगः, द्रव्यशक्तेः केवलायाः कार्यकारित्वानभ्युपगमात् । पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः । तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्याय-शक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा ।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड २,१ पृ० १८७

और जो यह कहा जाता है कि शक्ति नित्य है कि अनित्य है इत्यादि । सो वहाँ क्या यह द्रव्यशक्ति या पर्यायशक्तिके विषयमें प्रश्न है, क्योंकि पदार्थ द्रव्य-पर्याय शक्तिस्वरूप होते हैं । उनमेंसे द्रव्यशक्ति नित्य ही है, क्योंकि द्रव्य अनादिनिधन स्वभाववाला होता है । पर्यायशक्ति तो अनित्य ही है, क्योंकि पर्याय सादि-सान्त होती है । यदि कहा जाए कि शक्ति नित्य है, इसलिए सहकारी कारणोंकी अपेक्षा किये बिना ही कार्यकारीपनेका प्रसंग आ जाएगा सो ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल द्रव्यशक्तिका कार्यकारीपना नहीं स्वीकार किया गया है । किन्तु पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति कार्य करनेमें समर्थ होती है, क्योंकि विशिष्ट पर्यायसे परिणत द्रव्यका ही कार्यकारीपना प्रतीत होता है और उसकी परिणति सहकारी कारणसापेक्ष होती है, क्योंकि पर्यायशक्ति तभी होती है, इसलिए न तो सर्वदा कार्यकी उत्पत्तिका प्रसंग आता है और न ही सहकारी कारणोंकी अपेक्षाकी व्यर्थता प्राप्त होती है ।

इस प्रकार यह ज्ञात हो जाने पर कि सहकारी कारणसापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारिणी मानी गई है, केवल उदासीन या प्रेरक निमित्तोंके बलपर मात्र द्रव्यशक्तिसे ही द्रव्यमें कार्य नहीं होता । यदि द्रव्यशक्तिको बाह्य निमित्तोंके बलसे कार्यकारी मान लिया जाए तो चनेसे भी गेहूँकी उत्पत्ति होने लगे, क्योंकि गेहूँ स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु वह पुद्गलद्रव्यकी एक पर्याय है, अतएव गेहूँ पर्याय विशिष्ट पुद्गलद्रव्य बाह्य कारणसापेक्ष गेहूँके अंकुरादि कार्यरूपसे परिणत होता है । यदि विशिष्ट पर्यायरहित द्रव्य सामान्यसे निमित्तोंके बल पर गेहूँ अंकुरादि पर्यायोंकी उत्पत्ति मान ली जाए तो जो पुद्गल चनारूप हैं वे पुद्गल होनेसे उनसे भी गेहूँरूप पर्यायकी उत्पत्ति होने लगेगी, इसलिए जो विविध लौकिक प्रमाण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है कि जब जैसे प्रबल निमित्त मिलते हैं तब द्रव्यको निमित्तोंके अनुसार परिणमना ही पड़ता है सो यह कथन आगमानुकूल न होनेसे संगत नहीं प्रतीत होता । वास्तवमें मुख्य विवाद उपादानका है, उसका जो समीचीन अर्थ शास्त्रोंमें दिया है उस पर सम्यक् दृष्टिपात न करनेसे ही यह विवाद बना हुआ है । यदि आगमानुसार विशिष्ट पर्यायशक्तियुक्त द्रव्यशक्तिको अन्तरंग कारण अर्थात् उपादान कारण स्वीकार कर कार्य-कारणकी व्यवस्था की जाए तो कोई विवाद ही न रह जाए, क्योंकि यथार्थमें जब-जब विवक्षित कार्यके योग्य विशिष्ट पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति होती है तब-तब उस कार्यके अनुकूल निमित्त मिलते ही हैं । कार्यमें उपादानकारण मुख्य है, इसलिए उपादानकारणका स्वकाल प्राप्त होने पर कार्यके अनुकूल निमित्त मिलते ही हैं ऐसा नियम है और ऐसा है नहीं कि निश्चय उपादान हो और निमित्त न मिलें । इसी बातको असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा यों कहा जाता है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है ।

निमित्त कारणको कार्यकारी कहना असद्भूत व्यवहारनयका विषय है यह हमारा ही कहना हो ऐसा नहीं है, किन्तु आगममें इसे इसी रूपमें स्वीकार किया गया है । यथा—

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां आदिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघट-पटादीनां च कर्त्ता भवति ।

—बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ८ टीका

अर्थ—यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोका, आदि शब्दसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारकरूप तीन शरीर और आहार आदि छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल पिण्डरूप नोकर्मोका तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा बाह्य विषय घट-पट आदिका कर्ता होता है।

कार्य-कारणपरम्पराकी यह सम्यक् व्यवस्था होने पर भी यह संसारी प्राणी अपने विकल्पोंके अनुसार नाना प्रकारकी तर्कणाएं किया करता है और उन्हें ही प्रमाण मान कर कार्यकारणपरम्पराकी व्यवस्था बनाता है। प्रकृतमें यह तो कहा नहीं जाता कि प्रत्येक द्रव्यकी जो विभावपर्याय होती है वह निमित्तके अभावमें होती है। जब प्रत्येक द्रव्य सद्रूप है और उसको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाला माना गया है ऐसी अवस्थामें उसके उत्पाद-व्ययको अन्य द्रव्यके कर्तृत्व पर छोड़ दिया जाए और यह मान लिया जाए कि अन्य द्रव्य जब चाहे उसमें किसी भी कार्यको उत्पन्न कर सकता है उसके स्वतन्त्र सत्स्वभावपर आघात है। ऐसी स्थितिमें हमें तो यह कार्य-कारणकी विडम्बनापूर्ण व्यवस्था आगमके प्रतिकूल ही प्रतीत होती है। आचार्योंने प्रत्येक कार्यमें अपने उपादानके साथ मात्र आभ्यन्तर व्याप्ति और निमित्तोंके साथ बाह्य व्याप्ति स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार की है। इसलिए पूर्वोक्त प्रमाणोंके आधारसे ऐसा ही निर्णय करना चाहिए कि द्रव्य अन्वयी होनेसे जो नित्य है उसी प्रकार व्यतिरेकस्वभाववाला होनेसे प्रत्येक समयमें वह उत्पाद-व्ययस्वभाववाला भी है। अतएव प्रत्येक समयमें वह कार्यका उपादान भी है और कार्य भी है। पिछली पर्यायकी अपेक्षा जहाँ वह कार्य है अगली पर्यायके लिए वहाँ वह उपादान भी है और इस प्रकार सन्तानक्रमकी अपेक्षा प्रत्येक समयमें उसे (कार्य-कारणकी अपेक्षा) उभयरूप प्राप्त होनेके कारण निमित्त भी प्रत्येक समयमें उसी क्रमसे मिलते रहते हैं। कहीं उनकी प्राप्तिमें पुरुषका योग और रागभाव निमित्त पड़ता है और कहीं वे विस्रसा मिलते हैं। पर उस समयमें नियत उपादानके अनुसार होनेवाले नियत कार्योंके नियत निमित्त मिलते अवश्य हैं। इसलिए विविध लौकिक उदाहरणोंको उपस्थितकर जो अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार कार्य-कारणपरम्पराको बिठानेका प्रयत्न किया जाता है वह युक्ति-युक्त नहीं है और न आगमसंगत है। इसी तथ्यको लक्ष्यमें रखकर आचार्य अमृतचन्द्र समयसारकलशमें कहते हैं—

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजे-
त्तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

अर्थ—इस जगतमें मोही जीवोंका 'परद्रव्यको मैं करता हूँ' ऐसा पर द्रव्यके कर्तृत्वके महा अहंकाररूप दुर्निवार अज्ञान अन्धकार अनादि संसारसे चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो! परमार्थ नयका अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करनेसे यदि वह (मोह) एक बार भी नाशको प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्माको पुनः बन्धन कैसे हो सकता है।

—पृ० १५६, कलश ५५

आगमके अनुसार कार्य-कारणपरम्पराकी यह निश्चित स्थिति है। स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें

और भट्टाकालंकदेव तथा आचार्य विद्यानन्दीने उसकी अष्टशती तथा अष्टसहस्री टीकामें 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादि कथन उक्त तथ्यको ही ध्यानमें रखकर किया है, क्योंकि उक्त आचार्योंने 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' इत्यादि कथन उक्त कार्यकारणपरम्पराको ध्यानमें रखकर ही किया है। भगवान् कुन्दकुन्दने भी 'जीव-परिणामहेदुं' इत्यादि कथन द्वारा इसी कार्य–कारणपरम्पराको सूचित किया है। 'असंख्यातप्रदेशी जीवको जब जैसा शरीर मिलता है तब उसे उसरूप परिणमना पड़ता है' ऐसा जो कथन किया जाता है सो यहाँ भी उपादान और निमित्तोंकी उक्त प्रकारसे कार्य-कारणपरम्पराको स्वीकार कर लेने पर ही सम्यक् व्यवस्था बनती है, क्योंकि उपादानरूप जीवमें स्वयं परिणमनकी योग्यता है अतः शरीरको निमित्त कर स्वयं संकोच-विस्ताररूप परिणमता है। इस प्रकार उपादान (निश्चय) और निमित्तों (व्यवहार)का सुमेल होनेसे लोकमें जब जितने कार्य होते हैं उनकी पूर्वोक्त प्रकारसे सम्यक् व्यवस्था बन जाती है। भट्टाकलंकदेवने अपनी अष्टशतीमें 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि कारिका ली है सो वह भी इसी अभिप्रायसे ली है। पूरी कारिका इस प्रकार है—

तादृशी जायते बुद्धिः व्यवसायश्च तादृशः
सहायाः तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

जैसी होनहार होती है उसके अनुसार बुद्धि हो जाती है, पुरुषार्थ भी वैसा होने लगता है और सहायक कारण (निमित्त कारण) भी वैसे मिल जाते हैं।

तृतीय दौर

शंका ६

प्रश्न यह था–'उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं ?'

प्रतिशंका ३

इस प्रश्न का उत्तर लिखते हुए आपने निष्कर्षके रूपमें अपना मत प्रथम उत्तर पत्रकमें निम्न प्रकार प्रगट किया था—

'उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्याय निमित्तकारण होती है, परन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट रूपसे समझना चाहिये कि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायको आगममें जो निमित्तकरणरूपसे स्वीकार किया है सो वह वहाँ पर व्यवहारनयकी अपेक्षा ही स्वीकार किया है निश्चय-नयकी (पर्यायार्थिक निश्चनयकी) अपेक्षा नहीं।'

आपने जिस प्रक्रियाके साथ यह उत्तर लिखा था वह प्रक्रिया भी यद्यपि चर्चनीय थी, परन्तु हमने अपनी प्रतिशंका२में आवश्यक न होनेके कारण उस प्रक्रियापर विचार न करते हुए प्रकृत विषयको लेकर केवल प्रकृतोपयोगी रूपसे ही आपके उत्तर पर विचार किया था तथा अब यह प्रतिशंका भी उसी दृष्टिकोणको अपनाकर लिखी जा रही है।

आपने अपने प्रथम उत्तरमें यह तो स्वीकार कर लिया है कि विवक्षित वस्तुसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिमें विवक्षित अन्य वस्तु अपनी विवक्षित पर्यायके साथ निमित्तकारण होती है परन्तु इसके स्पष्टीकरणके रूपमें

आगे आपने जो यह लिखा है कि—'इस प्रकारकी निमित्तकारणता व्यवहारनयसे ही स्वीकार की जा सकती है निश्चयनयसे नहीं'—सो इस लेखसे सहमति प्रगट करते हुए भी आपसे हमारा कहना है कि व्यवहारनयसे निमित्तकारणताका जो आप 'कल्पनारोपित निमित्तकारणता' अर्थ कर लेते हैं यह अर्थ हमारे और आपके मध्य विवादका विषय बन जाता है।

आगे आपने अपने मतकी पुष्टिमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका निम्नलिखित कथन भी उद्धृत किया है—

कथमपि तन्निश्चयनयात् सर्वस्य विस्रसोत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेवोत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः"।

—अ० ५ सू० १६ पृ० ४१०

इसका जो अर्थ आपने किया है वह निम्न प्रकार है—

'किसी प्रकार सब द्रव्योंके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्यवस्था निश्चनयसे विस्रसा है, व्यवहारनयसे ही उत्पादिक सहेतुक प्रतित होते हैं।'

यद्यपि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त कथनसे भी हम पूर्णतः सहमत हैं, परन्तु इसमें 'निश्चय' शब्दका अर्थ 'वास्तविक' और 'व्यवहार' शब्दका अर्थ उपचार (कल्पनारोपित) करके आप जब उक्त कथनके आधार पर निमित्तको अकिंचित्कर सिद्ध करना चाहते हैं तो आपके इस अभिप्रायसे हम कदापि सहमत नहीं हो सकते हैं। कारण कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त कथनमें भी पठित 'व्यवहार' शब्दका अर्थ 'कल्पनारोपित' करना निराधार है। आगे इसी विषय पर विचार किया जा रहा है।

व्यवहार और निश्चय ये दोनों ही पृथक्-पृथक् स्थल पर प्रकरणानुसार परस्पर सापेक्ष विविध अर्थ युगलोंके बोधक शब्द हैं, इसलिये भिन्न-भिन्न स्थलपर प्रयुक्त किये गये इन शब्दोंसे प्रकरणके अनुसार परस्पर सापेक्ष भिन्न-भिन्न अर्थ युगल ही ग्रहण करना चाहिये। व्यवहार और निश्चय इन दोनों शब्दोंके विविध अर्थयुगलों और प्रत्येक अर्थयुगलकी परस्पर सापेक्षताके विषयमें हमारा दृष्टिकोण आपको प्रश्न नं० १७ की प्रतिशंका ३ में देखनेको मिलेगा। अतः कृपया वहाँ देखनेका कष्ट कीजियेगा।

व्यवहारनय और निश्चयनयके विषयमें हमारा कहना यह है कि ये दोनों ही नय वचनात्मक और ज्ञानात्मक दोनों प्रकारके हुआ करते हैं। उनमेंसे निश्चयरूप अर्थसापेक्ष व्यवहाररूप अर्थका प्रतिपादक वचन व्यवहारनय और व्यवहाररूप अर्थसापेक्ष निश्चयरूप अर्थका प्रतिपादक वचन निश्चयनय कहलाने योग्य है। इसी प्रकार निश्चयरूप अर्थसापेक्ष व्यवहाररूप अर्थका ज्ञापक ज्ञान व्यवहारनय और व्यवहाररूप अर्थसापेक्ष निश्चयरूप अर्थका ज्ञापक ज्ञान निश्चयनय कहलाने योग्य है। पहले दोनों वचननयके और दूसरे दोनों ज्ञाननयके भेद जानना चाहिये।

व्यवहाररूप अर्थ और निश्चयरूप अर्थ ये दोनों ही अपने आपमें पूर्ण अर्थ नहीं हैं। यदि इन दोनोंमें से प्रत्येकको पूर्ण अर्थ मान लिया जायगा तो इन दोनोंकी परस्पर सापेक्षता ही भंग हो जायगी, इसलिये ये दोनों ही पदार्थके अंश ही सिद्ध होते है, क्योंकि नय विकलादेश होनेसे वस्तुके एक अंशको ही ग्रहण करता है। इस प्रकार इनको विषय करनेवाले वचनों और ज्ञानोंको भी क्रमशः परार्थप्रमाणरूप श्रुत और स्वार्थप्रमाणरूप श्रुतके भेदरूपसे जैन आगममें स्वीकार किया गया है। अर्थात् जैनागममें पदार्थके परस्पर-सापेक्ष अंशभूत व्यवहार और निश्चयके प्रतिपादक वचनोंको परार्थ प्रमाणरूप श्रुतमें और पदार्थके परस्पर सापेक्ष अंशभूत व्यवहार और निश्चयके ज्ञापक ज्ञानोंको स्वार्थ प्रमाणरूप श्रुतमें अन्तर्भूत किया गया है।

स्वार्थ प्रमाणरूप श्रुतमें भी मति आदि स्वार्थप्रमाणोंकी तरह अंशांशिभाव नहीं बन सकता है, क्योंकि स्वार्थप्रमाण हमेशा ज्ञानरूप ही होता है और ज्ञान अखण्ड आत्माका अखण्ड गुण होनेके कारण अपने आपमें अखण्ड ही सिद्ध होता है, इसलिये मति आदि स्वार्थ प्रमाणोंकी तरह स्वार्थप्रमाणरूप श्रुतज्ञानमें भी यद्यपि व्यवहारनय और निश्चयनयका भेद सम्भव नहीं दिखाई देता है। परन्तु जब स्वार्थप्रमाणरूप श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति शब्द श्रवणपूर्वक ही हुआ करती है और शब्दव्यवहार तथा निश्चयरूप पदार्थधर्मोका परस्पर सापेक्षताके साथ पृथक् पृथक् प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं तो निश्चयरूप अर्थसापेक्ष व्यवहाररूप अर्थके प्रतिपादक शब्दका श्रवण करनेके अनन्तर श्रोताको जो पदार्थका ज्ञान होता है उसे व्यवहारनय तथा व्यवहाररूप अर्थसापेक्ष निश्चयरूप अर्थके प्रतिपादक शब्दका श्रवण करनेके अनन्तर श्रोताको जो पदार्थज्ञान होता है उसे निश्चयनय कहना असंगत नहीं है।

इतने विवेचनके साथ हमारा कहना यह है कि प्रकृतमें कार्यकारणभावका प्रकरण होनेके कारण निश्चय शब्दका अर्थ उपादानोपादेय भाव और व्यवहार शब्दका अर्थ निमित्तनैमित्तिकभाव ही ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार शब्दोंका प्रकरणके लिये उपयोगी अपना अपना अर्थ निश्चित हो जाने पर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके अ० ५ सू० १६ पृष्ठ ४१० के उल्लिखित कथनका जो अनुभव, तर्क और आगमसम्मत अर्थ हो सकता है वह निम्न प्रकार है :—

सब द्रव्योंके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्यवस्था निश्चयनयसे अर्थात् उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा विस्रसा (स्वभावसे) है, व्यवहारनयसे ही अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षा ही वे उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।

यहाँ पर 'उत्पादादिक निश्चयनयके अर्थात् उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा विस्रसा हैं' इस वाक्यका आशय यह है कि जो उत्पादादिक वस्तुके स्वपरप्रत्यय परिणमन होनेके कारण अपनी उत्पत्तिमें अन्य अनुकूल वस्तुके सहयोगकी स्वभावतः अपेक्षा रखते हैं वे इस तरह उस अन्य वस्तुके सहयोगसे उत्पन्न होते हुए भी वस्तुके अपने स्वभावके दायरेमें ही हुआ करते हैं, कारण कि एक वस्तुके गुण-धर्म अपने-अपने वस्तुत्वकी रक्षाके लिये प्रत्येक वस्तुमें पाये जानेवाले स्वभावकी प्रतिनियतताके कारण कभी भी अन्य वस्तुमें प्रविष्ट नहीं होते हैं। यही कारण है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें आचार्य विद्यानन्दीने सहकारी कारणकी कारणताको कालप्रत्यासत्तिके रूपमें ही प्रतिपादित किया है, द्रव्य प्रत्यासत्तिके रूपमें नहीं। अर्थात् जिस प्रकार उपादानभूत वस्तुके गुण-धर्मोंका कार्यमें स्वभावतः प्रवेश होनेके कारण उस उपादानभूत वस्तुमें कार्यके प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणताका सद्भाव स्वीकार किया गया है उस प्रकार निमित्तभूत वस्तुके गुण-धर्मोका कार्यमें प्रवेश सर्वदा असम्भव रहनेके कारण उस निमित्तभूत वस्तुमे कार्यके प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणताको अस्वीकृत करते हुए आचार्य विद्यानन्दीने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें कालसापेक्ष अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर कालप्रत्यासत्तिरूप कारणताको ही स्वीकार किया है।

तात्पर्य यह है कि कार्यकारणभावके प्रकरणमें दो प्रकारकी कारणताका विवेचन आगम ग्रन्थोंमें पाया जाता है—एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप और दूसरी कालप्रत्यासत्तिरूप। इनमेंसे जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणत होती है अर्थात् कार्यके प्रति उपादानकारण होती है उसमें कार्यके प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता पायी जाती है, क्योंकि वहाँ पर कारणरूप धर्म और कार्यरूप धर्म दोनों ही एक द्रव्यके आश्रयसे रहनेवाले धर्म हैं तथा जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणत न होकर कार्यरूप परिणत होनेवाली अन्य वस्तुको कार्यरूपसे परिणत

होनेमें सहायक होती है अर्थात् निमित्त कारण होती है उसमें कार्यके प्रति 'द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणताका तो अभाव ही पाया जाता है, क्योंकि वहाँ पर कार्यरूप धर्म तो अन्य वस्तुमें रहा करता है और कारणरूप धर्म अन्य वस्तुमें ही रहा करता है। तब ऐसी स्थितिमें उन कार्यभूत और कारणभूत दोनों वस्तुओंमें कालप्रत्यासत्तिके आधार पर ही कार्यकारणभाव स्वीकार किया जा सकता है, द्रव्याप्रत्यासत्तिके रूपमें नहीं। अर्थात् 'जिसके अनन्तर जो अवश्य ही उत्पन्न होता है और जिसके अभावमें जो अवश्य ही उत्पन्न नहीं होता है' ऐसा कालप्रत्यासत्तिरूप कारणताका लक्षण ही वहाँ घटित होता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता उपादानभूत वस्तुमें ही पायी जाती है, अतः वहाँ पर कार्यके साथ कार्यकारणभाव उपादानोपादेयभावके रूपमें पाया जाता है और कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता निमित्तभूत वस्तुमें रहा करती है, अतः वहाँ पर कार्यके साथ कार्यकारणभाव निमित्तनैमित्तिमभावके रूपमें ही पाया जाता है। इन दोनों प्रकारकी कारणताओं अथवा दोनों प्रकारके कार्यकारणभावोंका कथन जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—आचार्य विद्यानन्दीने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें निम्न वचनों द्वारा किया है :—

क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्ववचनात्। न चैवंविधः कार्यकारणभावः सिद्धांतविरुद्धः। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत् स्यात्, एकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्, कालप्रत्यासत्तिविशेषात्तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ १५१

अर्थ—'क्रमसे उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंमें एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप उपादानोपादेयभावका कथन किया गया है और इस प्रकारका उपादानोपादेयभावरूप यह कार्यकारणभाव सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है। परन्तु यह कार्यकारणभाव सहकारीकारणके साथ किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि यहाँ पर एकद्रव्यप्रत्यासत्तिका अभाव ही पाया जाता है, यदि यह प्रश्न किया जाय तो कहना चाहिये कि सहकारीकारणके साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता नहीं स्वीकार की गयी है, किन्तु कालप्रत्यासत्तिविशेषरूप कारणता ही वहाँ पर स्वीकार की गयी है जिसका आशय यह है कि जिसके अनन्तर जो अवश्य ही होता है वह उसका कारण होता है और उससे अन्य कार्य होता है'—क्योंकि ऐसा ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार कार्यमें चूँकि निमित्तभूत वस्तुके गुण-धर्मोका समावेश कभी न होकर उपादानभूत वस्तुके गुण-धर्मोका ही नियमसे समावेश होता है, अतः उत्पादादिक निश्चयनयसे अर्थात् उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा विस्रसा हैं—ऐसा कहना उपयुक्त ही है।

इसी प्रकार व्यवहारनयसे ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं इसका आशय भी उक्त कथनके अनुसार निमित्तभूत वस्तुके गुण-धर्मोका कार्यमें समावेश असंभव रहते हुए भी कार्यकी उत्पत्ति निमित्तके अभावमें नहीं हो सकनेके कारण यही होता है कि निमित्तनैमित्तिक भावकी अपेक्षा उत्पादादिक सहेतुक अर्थात् निमित्तकारणकी सहायतासे ही हुआ करते है। आगममें कार्यकारणभावको लेकर जितना वचन व्यवहार पाया जाता है अथवा लोकमें जितना वचनव्यवहार किया जाता है वह सब उपर्युक्त विवेचनके अनुसार ही किया गया है या किया जाता है। जैसे शिष्य पढ़ता है अथवा मिट्टी घटरूप परिणत होती है इन प्रयोगोंमें एकद्रव्यप्रत्यासत्तिरूप उपादानोपादेयभावपर लक्ष्य रक्खा गया है या रक्खा जाता है तथा अध्यापक पढ़ाता है अथवा कुम्हार मिट्टीको घटरूप परिणमाता है इन प्रयोगोंमें कालप्रत्यासत्तिरूप निमित्तनैमित्तकभावपर लक्ष्य रक्खा गया है या रक्खा जाता है।

इस तरह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अ० ५ सूत्र १६ पृ० ४१० में निबद्ध उक्त कथनका जो अर्थ हमने ऊपर किया है उसमें और आपके द्वारा किये गये उल्लिखित अर्थमें अन्तर स्पष्ट दिखाई देने लगता है अर्थात् जहाँ आपके द्वारा प्रमाणका अभाव रहते हुए भी व्यवहारका अर्थ उपचार करके निमित्तनैमित्तिकभावको कल्पनारोपित सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है वहाँ हमारे द्वारा व्यवहारका अर्थ प्रमाणसिद्ध निमित्तनैमित्तिक-भाव ही माना गया है, जिसे ऐसी हालतमें वास्तविक माननेके सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता है, क्योंकि तब निमित्तनैमित्तिकभावको कल्पनारोपित सिद्ध करनेके लिये व्यवहार शब्दके अलावा कोई दूसरा शब्द ही उक्त कथनमें नहीं मिलता है। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दीकी दृष्टिमें निमित्तनैमित्तिकभाव कल्पनारोपित सिद्ध न होकर वास्तविक ही सिद्ध होता है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्दीने निमित्तकारणकी वास्तविताको तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके पृष्ठ १५१ पर ऊपर निर्दिष्ट कथनके आगे स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादित कर दिया है। वे शब्द निम्न प्रकार हैं।—

तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः संबंधः संयोग-समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात् ॥

अर्थ—इस प्रकार व्यवहारनयका आश्रय लेनेसे कार्यकारणभाव दो पदार्थोंमें विद्यमान कालप्रत्यासत्ति-रूप ही होता है और वह संयोग-समवाय आदिकी तरह प्रतीतिसिद्ध होनेसे पारमार्थिक ही होता है, कल्पनारोपित नहीं, कारण कि यह सर्वथा निर्दोष है।

अब आपको ही विचार करना है कि जब आचार्य विद्यानन्दी स्वयं 'तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे' इत्यादि वचन द्वारा दो पदार्थोंमें विद्यमान कालप्रत्यासत्तिरूप निमित्तनैमित्तिकभावको वास्तविक स्वीकर कर रहे हैं तो इसको ध्यानमें रखकर ही उनके पूर्वोक्त दूसरे वचन 'कथमपि तन्निश्चयनयात्' इत्यादिका अर्थ करना होगा। ऐसी हालतमें उक्त निमित्तनैमित्तिकभावको कल्पनारोपित बतलानेवाला आपके द्वारा किया गया अर्थ संगत न होकर उसे वास्तविक कहनेवाला हमारे द्वारा किया गया अर्थ ही संगत होगा।

आचार्य विद्यानन्दीने पृष्ठ १५१ पर ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें आगे १४, १५ और १६ संख्याक वार्तिकोंका व्याख्यान करते हुए निम्नलिखित कथन किया है :—

ततः सकलकर्मविप्रमोक्षो मुक्तिरङ्गीकर्तव्या। सा बन्धपूर्विकेति तात्त्विको बन्धोऽभ्युपगन्तव्यः, तयोःससाधनत्वात्, अन्यथा कादाचित्कत्वायोगात्। साधनं तात्त्विकमभ्युपगंतव्यं न पुनरविद्याविलास-मात्रमिति।

अर्थ—इसलिये संपूर्ण कर्मोंके विनाशको ही मुक्ति मानना चाहिये। वह मुक्ति चूँकि बन्धपूर्वक ही सिद्ध होती है, अतः बन्धको भी तात्त्विक मानना चाहिये, क्योंकि मुक्ति और बन्ध दोनोंको ही साधनोंसे निष्पन्न हुआ स्वीकार किया गया है और क्योंकि मुक्ति तथा बन्ध दोनोंका साधनोंसे निष्पन्न होना न माननेपर उनमें अनादिनिधनताका प्रसंग उपस्थित हो जायगा, अतः साधनोंको भी तात्त्विक ही मानना चाहिये, केवल अविद्याका विलासमात्र अर्थात् कल्पनारोपितमात्र नहीं समझना चाहिये।

इस कथनके द्वारा आचार्य विद्यानन्दीने बन्ध, मुक्ति और इन दोनोंके बाह्य-साधनोंकी वास्तविकताका ही प्रतिपादन किया है। इनके अतिरिक्त हमने अपनी प्रथम प्रतिशंकामें अन्य बहुतसे आगमप्रमाणों एवं युक्तियों द्वारा निमित्तकारणकी वास्तविकताका समर्थन तथा कल्पनारोपितताका खण्डन विस्तारसे किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि निमित्तकारण भी उपादानकारणकी तरह वास्तविक ही होता है,

कल्पनारोपित नहीं। लेकिन यह बात दूसरी है कि उपादान कारणकी वास्तविकताको उपादानरूपसे अर्थात् एकद्रव्यप्रत्यासत्तिके रूपमें आश्रयरूपसे और निमित्तकारणकी वास्तविकताको निमित्तरूपसे अर्थात् पूर्वोक्त कालप्रत्यासत्तिविशेषके रूपमें सहायकरूपसे ही जानना चाहिये।

इतना स्पष्टीकरण करनेके अनन्तर अब हम आपके दूसरे उत्तर पत्र पर विचार करना प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यह बतला देना चाहते हैं कि आपने अपने द्वितीय उत्तर पत्रमें प्रथम उत्तर पत्रके आधार पर कार्यकारणभावके सिलसिलेमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि 'जब उपादान कार्यरूप परिणत होता है तब उसके अनुकूल विवक्षित अन्य द्रव्यकी पर्याय निमित्त होती है।' और इसका आप यह आशय ले लेना चाहते हैं कि उपादानकी कार्यरूप परिणति तो केवल उसके अपने ही बल पर हो जाया करती है। वहाँ पर निमित्तका रंचमात्र भी सहयोग अपेक्षित नहीं रहा करता है, लेकिन चूँकि निमित्त वहाँ पर हाजिर रहा करता है, अतः ऐसा बोल दिया जाता है कि उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्याय निमित्तकारण होती है। आगे आपने अपने इस सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके ऊपर उद्धृत प्रमाण—जिसे आपने प्रथम उत्तर पत्रमें निर्दिष्ट किया था—का उल्लेख करते हुए अपने उक्त सिद्धान्तकी पुष्टिमें उसे पुष्ट प्रमाण प्रतिपादित किया है, लेकिन जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकके 'कथमपि तन्निश्चयनयात्' इत्यादि कथनमें प्रकरणके अनुसार कौनसे नयार्थ विवक्षित हैं—इस पर आपका ध्यान नहीं पहुँच सकनेके कारण ही आप उससे अपना मनचाहा (उपादानकी कार्यपरिणतिमें निमित्तको अकिंचित्कर बतलानेवाला) अभिप्राय पुष्ट करनेका असफल दावा कर रहे हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकके उक्त कथनमें कौनसे नयार्थ गृहीत किये गये हैं? इसका जो स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके हैं—हमारा आपसे अनुरोध है कि उस पर आप तत्त्वजिज्ञासु बनकर गहरी दृष्टि डालनेका प्रयत्न कीजिये? इस तरह हमें विश्वास है कि उक्त कथनसे आप न केवल अपनी गलत अभिप्रायपुष्टिका दावा छोड़ देंगे बल्कि कार्यकारणभावके सिलसिलेमें निमित्तनैमित्तिकभावको अवास्तविक, उपचरित या कल्पनारोपित माननेके अपने सिद्धान्तको परिवर्तित करनेके लिये भी सहर्ष तैयार हो जावेंगे।

आपने अपने प्रथम उत्तर पत्रमें श्लोकवार्तिकके उक्त वचनसे अपना मनचाहा उक्त गलत अभिप्राय पुष्ट करनेमें एक बात और लिखी है कि 'यहाँ पर 'सहेतुकत्वप्रतीतेः पदमें 'प्रतीतेः' पद ध्यान देने योग्य है।

मालूम पड़ता है कि आप प्रतीति शब्दके प्रयोगके आधार पर ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त वचनसे यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहते हैं कि उत्पादादिक अपनी उत्पत्तिमें सहेतुक अर्थात् बाह्य साधन-सापेक्ष वास्तवमें तो नहीं होते हैं अर्थात् वे उत्पादादिक होते तो अपने स्वभावसे ही हैं फिर भी व्यवहारसे (उपचारसे) सहेतुक जैसे मालूम पड़ते हैं।

इस विषयमें हमारा कहना यह है कि अपना उपर्युक्त एक गलत अभिप्राय बना लेनेके अनन्तर उसकी पुष्टिके लिये यह दूसरी गलती आप करने जा रहे हैं। कारण कि श्लोकवार्तिकमें ही उल्लिखित अन्य प्रमाणोंसे जब आपका उक्त अभिप्राय गलत सिद्ध हो जाता है तो ऐसी हालतमें 'सहेतुकत्वप्रतीतेः' पदमें पठित 'प्रतीतेः' पदसे आप अपने उक्त अभिप्रायकी पुष्टि कदापि नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रतीति शब्दका प्रसिद्धार्थ 'ज्ञानकी निर्णयात्मक स्थिति' ही होता है, इसलिये उसका 'प्रतीत्याभास' अर्थ आपने कैसे कर लिया? इसका स्पष्टीकरण आपको अवश्य करना था जो आपने नहीं किया है। तीसरी बात यह है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका जो 'क्रमभुवोः पर्याययोः' इत्यादि उद्धरण हमने ऊपर दिया है उसके अन्तमें—

यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्।

यह वाक्य पाया जाता है, इसी प्रकार आगे 'तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे' इत्यादि वाक्यमें भी 'प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव' यह पद पाया जाता है। इन दोनों स्थलोंमें क्रमशः पठित प्रतीत और प्रतीति शब्दोंका अर्थ आपको भी प्रकरणानुसार निर्विवादरूपसे 'ज्ञानकी निर्णयात्मक स्थिति' स्वीकार करना अनिवार्य है, अतः ऐसी हालतमें 'सहेतुकत्वप्रतीतेः' पदमें पठित 'प्रतीतेः' पदका अर्थ विरुद्ध हेतुके अभावमें ज्ञानकी निर्णयात्मक स्थिति करना ही संगत होगा, प्रतीत्याभास नहीं।

आगे आपने अपने द्वितीय उत्तर पत्रमें कार्यके प्रति निमित्तभूत वस्तुकी वास्तविक कारणताकी आलोचना करते हुए यह भी लिखा है कि 'आगममें प्रमाणदृष्टिसे विचार करते हुए सर्वत्र कार्यकी उत्पत्ति उभय निमित्तसे बतलायी है। आगममें ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि उपादान (निश्चय) हेतुके अभावमें केवल निमित्तके बलसे कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है। पता नहीं, जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है—ऐसे कथनमें निमित्तकी प्रधानतासे कार्यकी उत्पत्ति मान लेने पर उपादानका क्या अर्थ किया जाता है।'

इस विषयमें सर्वप्रथम हमारा कहना यह है कि आगममें प्रमाणकी दृष्टिसे विचार करते हुए सर्वत्र कार्यकी उत्पत्ति उभयनिमित्तसे बतलायी है। आगममें ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि वास्तविक निमित्त (व्यवहार) हेतुके अभावमें केवल उपादानके बलसे प्रत्येक वस्तुमें आगम द्वारा स्वीकृत स्वपरसापेक्ष कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है फिर हमारी समझमें यह बात नहीं आरही है कि आप निमित्तको कार्यकी उत्पत्तिमें कल्पनारोपित कारण मानकर अकिंचित्कर क्यों और किस आधार पर मान रहे है? और यदि आप कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तको उपादानके सहयोगी रूपमें स्थान देना स्वीकार कर लेते है तो कार्यकारणभावके विषयमें विवादकी समाप्ति ही समझिये।

हमें इस बात पर भी आश्चर्य हो रहा है कि उपादान हेतुके अभावमें केवल निमित्तके बलसे कार्यकी उत्पत्तिको जब हम नहीं स्वीकार करते हैं तो इस गलत मान्यताको हमारे पक्षके ऊपर आप बलात् क्यों थोप रहे हैं? क्योंकि हमारी स्पष्ट घोषणा है और वह आपको मालूम भी है कि हमारी आगमसम्मत मान्यताके अनुसार उपादान शक्ति न हो तो निमित्त केवल अपने ही बलसे कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता है अर्थात् स्पष्ट मत यही है कि किसी भी वस्तुमें कार्यकी उत्पत्ति उसमें स्वभावतः पायी जानेवाली उपादान शक्तिका सद्भाव ही हो सकती है, निमित्तभूत वस्तु तो उस कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक रूपसे ही उपयोगी होती है, जिसका मतलब यह निकलता है कि वस्तुके कार्यमें उपादान शक्तिका सद्भाव रहते हुए भी जबतक निमित्त सामग्रीका सहयोग उसे प्राप्त नहीं होगा तबतक उससे स्वपरसापेक्ष परिणतिका होना असम्भव ही रहेगा और इसका भी मतलब यह निकलता है कि प्रत्येक वस्तुमें स्वभावरूपसे प्रतिनियत नाना उपादान शक्तियाँ एक साथ पायी जाती है, परन्तु उस वस्तुको उसकी जिस उपादान शक्तिके अनुकूल सहयोग प्रदान करनेवाली निमित्त सामग्री जब प्राप्त होगी उस निमित्त सामग्रीके सहयोगके आधारपर ही वह वस्तु उस समय अपनेमें विद्यमान उस उपादानशक्तिके अनुसार परिणमन करेगी। जैसे खानकी मिट्टीमें घड़ा, सकोरा आदि विविध निर्माणके अनुकूल प्रतिनियत उपादान शक्तियाँ स्वभावतः एक साथ विद्यमान हैं। ये सभी उपादान शक्तियाँ तबतक लुप्त पड़ी रहती हैं जबतक कि किसी भी उपादान शक्तिके विकासके अनुकूल सहयोग देनेवाली निमित्त सामग्रीकी प्राप्ति उसे नहीं हो जाती है अर्थात् वह मिट्टी घड़ा, सकोरा आदिके निर्माण योग्य अपनी

उपादान शक्तियोंके सद्भावमें भी केवल अनुकूल निमित्त सामग्रीके अभावके कारण ही घड़ा या सकोरा आदि रूपसे परिणत नहीं हो पाती है। इसलिये जब कुम्हार अपनी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और श्रमशक्तिके आधारपर खानसे उस मिट्टीको लाकर और दण्ड, चक्र आदि आवश्यक अन्य निमित्त सामग्रीका सहयोग लेकर अपने पुरुषार्थ द्वारा उस मिट्टीको घड़ा या सकोरा आदि जिस निर्माणके अनुकूल अनुप्राणित करता है उस समय उस मिट्टीसे उसकी अपनी योग्यतानुसार उस कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है।

इसके अतिरिक्त हम, आप और दूसरे सभी लोग विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिये उक्त कार्यके अनुकूल योग्यता रखनेवाली उपादानभूत वस्तुकी संप्राप्ति हो जानेपर भी प्रतिदिन और प्रतिक्षण तदनुकूल निमित्त सामग्रीके जुटानेमें परिश्रम किया करते हैं। क्या आपने कभी यह सोचा है या आप सोचनेके लिये तैयार हैं कि जब उपादान विवक्षित कार्यरूप परिणत होनेके लिये अपनी तैयारी कर लेगा तब वह कार्य अपने आप हो जायगा अथवा उस कार्यके अनुकूल निमित्त सामग्री नियमसे उपस्थित रहेगी या स्वयमेव प्राप्त हो जायगी और तब अपनी इस मान्यताके अनुसार ही आप क्या विवक्षित कार्यके करनेमें अथवा तदनुकूल निमित्त सामग्रीके जुटानेमें पुरुषार्थ करना छोड़ सकते हैं ? या फिर अपने इस अनुभवको सही मानते हैं कि किसी विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिका आप पहले अपने अन्तःकरणमें संकल्प करते हैं फिर अपनी ज्ञानशक्ति और श्रमशक्तिके अनुसार उस कार्यको सम्पन्न करनेके लिये तदनुकूल सामग्रीका सहयोग लेकर पुरुपार्थ करते हैं ? यह बात अपने उक्त विविध पहलुओंके साथ विचारके लिये आपके सामने उपस्थित है।

इतना ही नहीं, एक प्रश्न और आपसे हम पूछते हैं कि यदि आप कार्योत्पत्तिके विषयमें अपने उक्त सिद्धान्तकी सत्यतापर आस्था रखते हैं तो कार्य और उसकी साधनसामग्रीके विषयमें जो संकल्प, विकल्प और पुरुषार्थ आप किया करते हैं उन सबसे विरत होकर आप क्या अकर्मण्यताके साथ चुप होकर बैठनेके लिये तैयार हैं ? और यदि आप ऐसा करनेके लिये तैयार भी हो जावें तो क्या आपको विश्वास है कि आपका विवक्षित कार्य स्वतः ही समय आनेपर सम्पन्न हो जायगा ? तथा आपको यह भी क्या विश्वास है कि आप इस तरहकी प्रवृत्ति करनेपर लोकमें हँसीके पात्र नहीं होंगे ? यद्यपि आप कह सकते हैं कि लोक तो अज्ञानी हैं, तो यह बात हम भी मान सकते हैं कि उसके हँसनेकी आप चिन्ता नहीं करेंगे, परन्तु कम-से-कम कार्य-सम्पन्नता कैसे हो सकती है ? और वह होती है या नहीं, इत्यादि बातों पर तो आपको उस समय भी विचार करना ही होगा।

'उपादानके बलपर ही कार्य निष्पन्न होता है, निमित्त तो वहाँपर अकिंचित्कर ही रहा करता है'—अपनी इस मान्यताकी पुष्टि करते हुए आगे आपका लिखना यह है कि 'कार्यकी उत्पत्तिमें केवल इतना मान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि गेहूँसे ही गेहूँके अंकुर आदिकी उत्पत्ति होती है। प्रश्न यह है कि अपनी विवक्षित उपादानकी भूमिकाको प्राप्त हुए बिना केवल निमित्तके बलसे ही कोई गेहूँ अँकुरादि रूपसे परिणत होता है।'

यद्यपि आपका यह लिखना सही है कि गेहूँसे ही गेहूँकी उत्पत्ति होती है—केवल ऐसा मान लेना कार्योत्पत्तिके लिये पर्याप्त नहीं है और यह बात भी सही है कि उपादानकी विवक्षित भूमिकाको प्राप्त हो जानेपर ही गेहूँकी अंकुर रूपसे उत्पत्ति हो सकती है; परन्तु आपके इस कथनमें हम अनुभव, तर्क और आगम प्रमाणके आधारपर इतना और जोड़ देना चाहते हैं कि विवक्षित उपादानभूत वस्तुको विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिये उसकी योग्यतानुसार विवक्षित भूमिका तक पहुँचना निमित्तोंके सहयोगपर ही आवश्यकता-

नुसार निर्भर है—इस अनुभवपूर्ण स्थितिके आधार पर इस विषयमें हमारा दृष्टिकोण यह है और लोकमें प्रसिद्ध भी यह है कि कोई किसान बीजके लिये गेहूँकी आवश्यकता होनेपर उसकी खरीदी करनेके लिये बाजारमें जाता है और वह यह देखकर या समझकर कि अमुक गेहूँ अंकुररूपसे उत्पन्न होनेमें समर्थ है, उस गेहूँकी खरीदी कर लेता है। फिर वह किसान आगे कभी यह नहीं सोचता है कि खरीदा हुआ वह गेहूँ अंकुरादि रूपसे परिणत होनेकी अपनेमें विद्यमान योग्यताके अलावा किसी अन्य विलक्षण योग्यताको निश्चित समयपर अपने आप ग्रहण करके उपादानकी भूमिकामें पदार्पण करेगा और तब उससे अंकुरकी उत्पत्ति हो जायगी। उसके सामने तो जब उसने गेहूँको अंकुररूपसे उत्पन्न होनेके योग्य समझकर बाजारसे खरीद किया, तबसे केवल इतना ही संकल्प और विकल्प रहा करता है कि अंकुररूपसे उत्पन्न होनेके लिये यथायोग्य बाह्य साधन-सामग्रीके सहयोगसे उस गेहूँको अपने पुरुषार्थद्वारा उचित समयपर खेतमें बो दिया जावे। इस प्रकारके संकल्प और विकल्पके साथ एक ओर तो वह किसान उस गेहूँको खेतमें बोनेकी जितनी व्यवस्थायें आवश्यक हों उन्हें यथायोग्य तरीकों द्वारा सम्पन्न करता है तथा दूसरी ओर वह इस बातको भी ध्यानमें रखता है कि कहीं ऐसा न हो कि गेहूँ खर्च हो जावे या चोरी चला जावे अथवा ऐसी जगहपर न रक्खा जावे जहाँपर रखनेसे वह गेहूँ घुनकर या सड़कर अंकुररूपसे उत्पन्न होनेकी अपनी योग्यतासे वंचित हो जावे।

किसानकी संकल्प, विकल्प और पुरुषार्थकी यह प्रक्रिया तबतक चालू रहती है जब तक उस गेहूँको यथावसर वह खेतमें बो नहीं देता है। इसके बाद भी गेहूँके अंकुररूपसे परिणमित होनेकी समस्या उसके सामने बनी ही रहती है, अतः वह उस समय भी गेहूँके अंकुरोत्पत्तिके अनुकूल पानी आदि प्राकृतिक और अप्राकृतिक साधनोंकी आवश्यकता या अनावश्यकताके विकल्पोंमें तबतक पड़ा रहता है जबतक कि उस गेहूँका परिणमन अंकुररूपसे नहीं हो जाता है।

अब गेहूँसे अंकुरोत्पत्ति होनेके अनुकूल गेहूँकी प्रक्रियापर भी विचार कीजिये और गेहूँकी इस प्रक्रियापर जब विचार किया जाता है तो मालूम पड़ता है कि एक तरफ तो गेहूँसे अंकुरोत्पत्ति होनेके संकल्पपूर्वक किसान यथासंभव और यथायोग्य अपना तदनुकूल व्यापार चालू रखता है तथा दूसरी ओर किसानके उस व्यापारके सहयोगसे गेहूँमें भी यथासंभव विविध प्रकारकी परिणतियाँ सिलसिलेवार चालू हो जाती हैं जिन्हें गेहूँसे अंकुरोत्पत्तिके होनेमें उत्तरोत्तर क्रमसे आविर्भूत होनेवाली योग्यतायें भी कहा जा सकता है अर्थात् बाजारसे खरीदनेके बाद किसान उस गेहूँको सुरक्षाके लिहाजसे उचित समझकर जिस स्थानपर रखनेका पुरुषार्थ करता है गेहूँदेवताका किसानकी मर्जीके मुताबिक वहीं आसन जम जाता है। इसके अनन्तर किसान जब अनुकूल अवसर देखकर उस गेहूँको बोनेके लिये खेतपर ले जाना उपयुक्त समझता है या ले जानेका संकल्प करता है तो यथासम्भव जो भी साधन उस गेहूँको खेतपर ले जानेके लिए उस किसानको उस अवसर पर सुलभ रहते है, उन साधनों द्वारा एक ओर तो वह किसान उस गेहूँको खेतपर ले जानेरूप अपना पुरुषार्थ करता है और दूसरी ओर उस किसानके यथायोग्य अनुकूल उस पुरुषार्थके सहारेसे गेहूँदेवता भी खेतपर पहुँच जाते है। इस प्रक्रियामें भी किसान यदि गेहूँकी सुरक्षाके उपयुक्त साधन नहीं जुटाता है या नहीं जुटा पाता है तो उस सब गेहूँमेसे कुछ दाने तो मार्गमें ही गिर जाते हैं कुछ दानोंको नौकर आदि भी चुरा लेता है, इस तरह कभी होते होते जितना गेहूँ शेष रह जाता है उसे वह किसान यथासम्भव प्राप्त ट्रेक्टर या हल आदि साधनों द्वारा बोनेरूप पुरुषार्थ स्वयं करता है या नौकर आदिसे बोनेरूप पुरुषार्थं करवाता है और तब उस किसान या उसके उस नौकरके पुरुषार्थके सहयोगसे वे गेहूँदेवता खेतके अन्दर समा जाते है।

इस तरह गेहूँकी बुवाई हो जानेपर गेहूँके कोई-कोई दाने अपने अन्दर अंकुररूपसे उत्पन्न होनेकी स्वाभाविक योग्यताका अभाव होनेसे तथा कोई-कोई दाने उक्त प्रकारकी योग्यताका अपने अन्दर सद्भाव रखते हुए भी बाह्य जलादि साधनोंके अनुकूल सहयोगका अभाव होनेसे अंकुररूपसे उत्पन्न होनेकी अवस्थामे वंचित रह जाते हैं, शेष उक्त प्रकारकी योग्यता सम्पन्न गेहूँ यथायोग्य बाह्य साधनोंकी मिली हुई अनुकूल सहायताके अनुसार अर्थात् कोई-कोई दाने तो अपने अन्दर पायी जानेवाली उक्त स्वाभाविक योग्यताकी समानता और असमानताके आधारपर तथा कोई-कोई दानें बाह्य साधनोंकी सहायताकी समानता और असमानताके आधारपर समान तथा असमानरूपसे अंकुर बनकर प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार आपके प्रश्नका उत्तर यह है कि गेहूँ अंकुरोत्पत्ति पर्यन्त उत्तरोत्तर किसानके व्यापारका सहयोग पाकर अपनी परिणतियाँ करता ही अन्तमें अंकुर बन जाता है। स्पष्टीकरणके रूपमें यहाँपर इस दृष्टान्तमे विचारना यह है कि गेहूँमें अंकुरोत्पत्तिकी विद्यमान योग्यता तो उसकी स्वाभाविक निजी सम्पत्ति थी, उसे किसानने उस गेहूँमें उत्पन्न नहीं किया और न उसके अभावमें केवल किसानके अनुकूल पुरुषार्थ द्वारा ही वह गेहूँ अंकुर बना, किन्तु गेहूँमें विद्यमान उक्त प्रकारकी योग्यताके सद्भावमें बाह्य साधन सामग्रीके सहयोगसे अपनी ऊपर बतलायी गयी पूर्व-पूर्व अवस्थाओंमेंसे गुजरता हुआ ही वह गेहूँ अंकुर बन सका। इतना ही नहीं, अंकुर बननेसे पूर्व और दूसरे प्रकारकी बहुत-सी या बहुत प्रकारकी योग्यताएँ उस गेहूँमें थीं जो अनुकूल बाह्य साधन सामग्रीके अभावमें विकसित अर्थात् कार्यरूपसे परिणत होनेसे रह गयीं या अपने-आप उनका उस गेहूँमें से खात्मा हो गया। जैसे उस सभी गेहूँमें पिसकर रोटी बननेकी भी योग्यता थी, उसमें घुनने या सड़ने आदिकी भी योग्यताएँ थीं जो अनुकूल बाह्य साधन सामग्रीका सहयोग अप्राप्त रहनेके कारण या तो विकसित होनेसे रह गयीं अथवा उनका यथायोग्यरूपसे खात्मा हो गया और गेहूँमें बहुतसे दानें भिन्न-भिन्न रूपमें प्राप्त बाह्य साधन सामग्रीकी सहायताके अनुरूप या तो पिस गये, मार्गमें गिर गये, घुन गये या सड़ गये; इस तरह वे दाने अंकुररूपसे उत्पन्न होनेसे वंचित रह गये। गेहूँके जिन दानोंकी अंकुररूप पर्याय बनी वह क्रमसे बनी तथा उसके बननेमें किसानको सिलसिलेवार कितना और कितने प्रकारका पुरुषार्थ करना पड़ा, यह सब प्रकट है। जैसे किसान गेहूँको बाजारसे खरीदकर घर ले गया, उसने उसकी घुनने, सड़ने अथवा पिसने आदिसे रक्षा की, खेतपर उसे ले गया और अन्तमें बोनेका भी पुरुषार्थ किया तब गेहूँकी बुवाई हो सकी और तब बादमें वह अंकुरके रूपको धारण कर सका। इस अनुभवमें उतरनेवाली कार्यकारणभावकी पद्धतिकी अपेक्षा करके आपके द्वारा इस प्रकारका प्रतिपादन किया जाना कि—गेहूँ अपने विवक्षित उपादानकी भूमिकाको अपने आप प्राप्त करता हुआ ही अंकुरादिरूप परिणत होता है—बिल्कुल निराधार है।

इस विषयमें आगम प्रमाण भी देखिए—

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयन्ते, द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि ······ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावलक्षणो बाह्यः प्रत्ययः परप्रत्ययः, तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दतीति तत्समर्थः स्वश्च प्रत्ययः, तावुभौ संभूय भावनां उत्पादविगमयोः हेतू भवतः, नान्यतरापाये कुशूलस्थमापपच्यमानोदकस्थघोटकमापवत्।—राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र २

इसका भाव यह है कि स्व (उपादान) और पर कारण (निमित्तभूत अन्य पदार्थ) द्वारा होनेवाली उत्पाद-व्ययरूप पर्यायोंसे जो बहता है या उन पर्यायोंको जो बहाता है उसे द्रव्य कहते हैं······द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप बाह्य कारण परप्रत्यय है, उसके होते हुए भी स्वयं उस रूपसे अपरिणमनशील पदार्थ पर्यायान्तरको नहीं प्राप्त होता है। उस पर्यायान्तर रूपसे परिणत होनेमें समर्थ स्वप्रत्यय है। वे दोनों (स्व

और पर) प्रत्यय यानी उपादान और निमित्तकारण मिलकर पदार्थोंके उत्पाद और व्ययके हेतु होते हैं। उन दोनों कारणोंमेंसे किसी एक भी कारणके अभावमें उस पर्यायरूप उत्पाद-व्यय नहीं होते हैं। जिस प्रकार कि कोठीमें रक्खा उड़द जलादि बाह्य निमित्त सामग्रीके अभावमें नहीं पकता है और इसी तरह उबलते हुए पानीमें पड़ा हुआ घोटक (कोडरू) उड़द (पकनेकी उपादान शक्तिके अभावमें) नहीं पकता है।

इस प्रकरणमें एक अन्य दृष्टान्त घड़ेका भी ले लीजिए—खानमें बहुत-सी ऐसी मिट्टी पड़ी हुई है, जिसमें आगमके अविरोधपूर्वक हमारे दृष्टिकोणके अनुसार घड़ा, सकोरा आदि विविध प्रकारके निर्माणकी अनेक योग्यताएँ एक साथ ही विद्यमान हैं, कुम्हार भी हमारे समान ही अपना दृष्टिकोण रखते हुए खानमें पड़ी हुई उस मिट्टीमेंसे अपनी आवश्यकताके अनुसार कुछ मिट्टी बिना किसी भेदभावके घर ले आता है। इसके बाद उसके मनमें कभी यह कल्पना नहीं होती कि इस लायी हुई मिट्टीमेंसे अमुक मिट्टीसे तो घड़ा ही बनेगा और अमुक मिट्टीसे सकोरा ही बनेगा, वह तो इस प्रकारके विकल्पोंसे रहित होकर ही उस सम्पूर्ण मिट्टीको घड़ा, सकोरा आदि विविध प्रकारके आवश्यक एवं संभव सभी कार्योंके निर्माण योग्य समानरूपसे तैयार करता है और तैयार हो जाने पर वह कुम्हार अपनी आवश्यकता या आकांक्षाके अनुसार उस मिट्टीसे बिना किसी भेदभावके घड़ा, सकोरा आदि विविध प्रकारके कार्योंका निर्माण कभी भी अपनी सुविधानुसार कर डालता है। उसे ऐसा विकल्प भी कभी नहीं होता कि उस तैयार की गयी मिट्टीसे घड़ेका या सकोरा आदिका निर्माण जब होना होगा तब हो ही जायगा।

यह ठीक है कि मिट्टीमें घड़ा, सकोरा आदि बननेकी यदि योग्यता होगी तो ही उससे घड़ा, सकोरा आदि बनेंगे, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जिस मिट्टीमें घड़ा बननेकी योग्यता है उसमें सकोरा आदि बननेकी योग्यताका अभाव रहेगा। योग्यताएँ तो उस मिट्टीमें यथासंभव सभी प्रकारकी रहेंगी, लेकिन कार्य वही होगा जिसके लिये वह कुम्हार आवश्यकताके अनुसार अपनी आकांक्षा, ज्ञान और श्रमशक्तिके आधार पर अपना व्यापार चालू करेगा।

यह भी ठीक है कि यदि कुम्हार घड़ेके लिये अपना व्यापार चालू करता है तो घड़ा बननेसे पहले उस मिट्टीकी उस कुम्हारके व्यापारका अनुकूल सहयोग पाकर क्रमसे पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल पर्यायें अवश्य होंगी, यह कभी नहीं होगा कि पिण्डादि उक्त पर्यायोंके अभावमें ही अथवा इन पर्यायोंकी उत्पत्ति परिवर्तित क्रमसे होकर भी मिट्टी घड़ा बन जायगी। इस तरह इस अनुभवगम्य बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि यदि कुम्हार खानमें पड़ी हुई मिट्टीको अपने घर लानेरूप अपना व्यापार नहीं करेगा, तदनन्तर उसको घट निर्माणके अनुकूल तैयार नहीं करेगा और इसके भी अनन्तर वह उसकी क्रमसे होनेवाली पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल तथा घटरूप पर्यायोंके विकासमें अपने पुरुषार्थका अनुकूलरूपसे योगदान नहीं करेगा तो वह मिट्टी त्रिकालमें घड़ा नहीं बन सकेगी।

हमारी समझमें यह बात बिल्कुल नहीं आ रही है कि प्रत्यक्षदृष्ट, तर्कसंगत और आगमप्रसिद्ध एवं आपके द्वारा स्वयं प्रयुक्त की जानेवाली कार्यकारणभावकी हमारे द्वारा प्रतिपादित उक्त व्यवस्थाकी उपेक्षा करके प्रत्यक्षविरुद्ध, तर्कविरुद्ध, आगमविरुद्ध तथा अपनी स्वयंकी प्रवृत्तियोंके विरुद्ध कार्यकारणभावके प्रतिपादनमें आप क्यों संलग्न हो रहे हैं?

हमारे द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभावकी उक्त व्यवस्थाको प्रत्यक्षदृष्ट और आपके द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभावकी व्यवस्थाको प्रत्यक्षविरुद्ध इसलिये हम कह सकते हैं कि घड़ेका निर्माण कार्य कुम्हारके व्यापार-

पूर्वक मिट्टीमें होता हुआ देखा जाता है। हमारे द्वारा प्रतिपादित वह व्यवस्था तर्कसंगत और आपके द्वारा प्रतिपादित वह व्यवस्था तर्कविरुद्ध भी इसलिये है कि जब तक कुम्हारका व्यापार घड़ेके निर्माणके अनुरूप होता जाता है तब तक तो घड़ेका निर्माण कार्य भी होता ही जाता है लेकिन यदि कुम्हार अपने इस व्यापारको बन्द कर देता है तो घड़ेका निर्माण कार्य भी उसी क्षण बन्द हो जाता है—इस तरह घटनिर्माणके साथ कुम्हारके व्यापारका अन्वय-व्यतिरेक निर्णीत होता है। हमारे द्वारा प्रतिपादित और आपके द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभाव व्यवस्थाकी क्रमशः आगमप्रसिद्धता और आगमविरुद्धताके विषयमें भी यह बात कही जा सकती है कि हम ऊपर जो प्रमाण आगमके दे आये हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कार्यकारणव्यवस्थामें जितनी उपयोगिता उपादान कारणकी है उतनी ही उपयोगिता निमित्तकारणकी भी है, इसलिए जिस प्रकार उपादानोपादेयभाव वास्तविक है उसी प्रकार निमित्तनैमित्तिकभाव भी वास्तविक है। उपचरित अर्थात् कल्पनारोपित या अकिंचित्कर नहीं है। इसलिये हमारे द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभाव-व्यवस्था आगम प्रतिपादित है—ऐसा प्रत्यक्ष है।

यद्यपि आपने भी अपने द्वारा मान्य कार्यकारणव्यवस्थाके समर्थनमें आगमके प्रमाण दिये हैं, परन्तु हमें दुःखके साथ कहना पड़ता है कि उनका अर्थ भ्रमवश अथवा जानबूझकर आप गलत ही कर रहे हैं, जैसा कि हमने स्थान-स्थान पर सिद्ध किया है, सिद्ध करते जा रहे हैं और सिद्ध करते जावेंगे। इसलिये हमें कहना पड़ता है कि निमित्तनैमित्तिकभावकी कल्पनारोपितताकी सिद्धिके लिये आगममें एक भी प्रमाण उपलब्ध न होनेके कारण आपके द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभावव्यवस्था आगमविरुद्ध भी है। इसी प्रकार आपके द्वारा प्रतिपादित कार्यकारणभावकी व्यवस्था आपकी स्वयंकी प्रवृत्तियोंके भी विरुद्ध है—ऐसा हमें तो कमसे कम दिख ही रहा है, आपको स्वयं भी इसी तरहका भान होता है या नहीं, यह आप जानें, परन्तु हमारे द्वारा प्रतिपादित आगमव्यवस्था हमारी, आपकी और लोकमात्रकी प्रवृत्तियोंसे अविरुद्ध ही है ऐसा हम जानते हैं।

आगे आपने राजवार्तिकके कथनका प्रमाण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि 'जब कोई भी द्रव्य अपने विवक्षित कार्यके सन्मुख होता है तभी अनुकूल अन्य द्रव्योंकी पर्यायें उसकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र होती हैं।' राजवार्तिकका वह कथन निम्न प्रकार है—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटीभवति, अतः मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसानिध्याद् घटो भवति न दण्डादय इति दण्डादि निमित्तमात्रं भवति।—अ० १ सू० २०

इसका जो हिन्दी अनुवाद आपने किया है उसका विरोध न करते हुए भी हमें कहना पड़ता है कि राजवार्तिकका यह कथन आपके एकान्त पक्षका समर्थन करनेमें बिलकुल असमर्थ है।

आपका पक्ष जिसे आपने स्वयं ही अपने शब्दोंमें निबद्ध किया है—यह है कि 'न तो सब प्रकारकी मिट्टी ही घटका उपादान है और न ही पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूलादि पर्यायोंकी अवस्थारूपसे परिणत मिट्टी घटका उपादान है, किन्तु जो मिट्टी अनन्तर समयमें घट पर्यायरूपसे परिणत होनेवाली है मात्र वही मिट्टी घटका उपादान है।' आगे आपने लिखा है कि 'मिट्टीकी ऐसी अवस्थाके प्राप्त होने पर वह नियमसे घटका उपादान बनती है।'

इस कथनके आधार पर कार्यकारणभावके विषयमें आपका यह सिद्धान्त फलित होता है कि कार्योत्पत्तिक्षणसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु ही कार्यके प्रति उपादान होती है और जो वस्तु इस तरह उपादान बन जाती है उससे नियमसे कार्य उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार उस समय जो अनुकूल वस्तुएँ वहाँ पर हाजिर रहती है उनमें निमित्तताका व्यवहार तो होता है, परन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक वस्तुका अभाव अथवा कार्योत्पत्तिमें बाधा पहुँचानेवाली किसी भी वस्तुका सद्भाव उस समय वहाँ पर पाया जाना असंभव ही समझना चाहिये।

आपके इस मन्तव्यके विषयमें सर्व प्रथम तो हम यही सिद्ध करना चाहते हैं कि आपके द्वारा कार्यकारणभावव्यवस्थाके रूपमें ऊपर जो अपना अभिप्राय प्रगट किया गया है उसका समर्थन राजवार्तिकके उपर्युक्त कथनसे नहीं होता है, क्योंकि राजवार्तिकके उल्लिखित कथनसे तो केवल इतनी ही बात सिद्ध होती है कि यदि मिट्टीमें घटरूपसे परिणमन करनेकी योग्यता हो तो दण्ड, चक्र और कुम्हारका पुरुषार्थ आदि घट निर्माणमें मिट्टीके वास्तविक रूपमें सहायकमात्र हो सकते हैं और यदि मिट्टीमें घटरूपसे परिणत होनेकी योग्यता विद्यमान न हो तो निश्चित है कि दण्ड, चक्र और कुम्हारका पुरुषार्थ आदि उस मिट्टीको घट नहीं बना सकते हैं अर्थात् उक्त दण्ड, चक्र आदि मिट्टीमें घट निर्माणकी योग्यताको कदापि उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात राजवार्तिकके उक्त कथनसे यह सिद्ध होती है कि दण्डादि स्वयं कभी घटरूप परिणत नहीं होते हैं। इतना अवश्य है कि यदि दण्डादि अनुकूल निमित्त सामग्रीका सहयोग मिल जावे तो मिट्टी ही उनकी सहायतासे घटरूप परिणत होती है। इसका भी आशय यह है कि यदि मिट्टीके लिये उसके घटरूप परिणमनमें सहायता प्राप्त नहीं होगी तो मिट्टी अपने अन्दर योग्यता रखते हुए भी कदापि घटरूप परिणत नहीं हो सकेगी।

इस प्रकार राजवार्तिकके उपर्युक्त कथनसे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि मिट्टी जब घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें पहुँच जाती है तभी वह घटका उपादान बनती है और न यह निष्कर्ष ही निकाला जा सकता है कि उससे पहले जब तक वह खानमें पड़ी रहती है या कुम्हार उसे अपने घरपर ले आता है अथवा वही मिट्टी जब घट-निर्माणके अनुकूल उत्तरोत्तर पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल आदि अवस्थाओंको भी प्राप्त होती जाती है तो इन सब अवस्थाओंमेसे किसी भी अवस्थामें वह मिट्टी घटका उपादान नहीं मानी जा सकती है। इसी प्रकार राजवार्तिकके उक्त कथनसे यह भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है—कि मिट्टी जब घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें पहुँच जाती है तो उससे घटोत्पत्तिरूप कार्य नियमसे ही हो जाता है।

यदि कहा जाय कि राजवार्तिकके उक्त कथनमें 'यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये' यहाँपर 'आभिमुख्य' शब्द पड़ा हुआ है तथा आगे इसी कथनमें 'शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वात्' यहाँपर 'निरुत्सुकत्व' शब्द पड़ा हुआ है। ये दोनों ही शब्द इस बातका संकेत दे रहे हैं कि 'वस्तुकी जिस पर्यायके अनन्तर कार्य नियमसे निष्पन्न हो जावे उसे ही उपादान कारण कहना चाहिये और इस तरह ऐसा उपादानकारण घटकी सम्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायके अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय ही हो सकती है, क्योंकि यह पर्याय ही ऐसी पर्याय है जिसके अनन्तर समयमें कार्योत्पत्ति होनेमें न तो कोई कमी रह जायगी और न किसी प्रकारकी बाधा खड़ी होनेकी संभावना भी वहाँ रह जायगी, अतः उस अवसरपर कार्योत्पत्ति नियमसे होगी। इसके अतिरिक्त मिट्टीकी कोई

भी पर्याय घट-कार्यके प्रति उपादान नहीं कही जा सकती है। कारण कि उन पर्यायोंमें दूसरी पर्यायोंका व्यवधान कार्योत्पत्तिके लिये पड़ जाता है और जब कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायको ही उपादान संज्ञा प्राप्त होती है तो फिर कोई कारण नहीं कि उससे कार्य उत्पन्न न हो, क्योंकि अन्यथा उसकी उपादान संज्ञा ही व्यर्थ हो जायगी, इसलिये उस पर्यायके अनन्तर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति होती है यह मानना उचित है। दूसरी बात यह है कि यदि उस समय भी किसी सबबसे कार्योत्पत्ति रुक सकती है तो वस्तुके परिणामी स्वभावकी जैन संस्कृतिकी मान्यता ही समाप्त हो जायगी।'

आपका यदि यह अभिप्राय है तो इस विषयमें हमारा कहना यह है कि राजवार्तिकके उक्त कथनमें पठित 'आभिमुख्य' शब्द सामान्य रूपसे घट-निर्माणकी योग्यताके सद्भावका ही सूचक है। इसी तरह उसमें 'निरुत्सुकत्व' शब्द भी सामान्यरूपसे घट-निर्माणकी योग्यताके अभावका ही सूचक है। यही कारण है कि घटोत्पत्ति होनेकी योग्यताके अभावमें कार्योत्पत्तिके अभावकी सिद्धिके लिये राजवार्तिकके उक्त कथनमें 'शर्करादिप्रचितो मृत्पिंडः' पद द्वारा बालुका मिश्रित मिट्टीका उदाहरण श्रीमदकलंकदेवने दिया है। यदि उनकी दृष्टिमें यह बात होती कि उपादानकारणता तो केवल उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें ही होती है और उससे कार्य भी नियमसे हो जाता है तो फिर उन्हें (श्रीमदकलंकदेवको) घट-निर्माणको योग्यतारहित बालुकामिश्रित मिट्टीका उदाहरण न देकर कार्योत्पत्तिसे सान्तरपूर्ववर्ती द्वितीयादि क्षणोंकी पर्यायोंमें कथंचित् रहनेवाली घट-निर्माणकी योग्यतासंपन्न मिट्टीका ही उदाहरण देना चाहिये था, लेकिन चूँकि श्रीमदकलंकदेवने बालुकामिश्रित मिट्टीका ही उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें कि घट-निर्माणकी योग्यताका सर्वथा ही अभाव पाया जाता है तो इससे यही मानना होगा कि राजवार्तिकके उक्त कथनमें जो 'आभिमुख्य' शब्द पड़ा हुआ है उसका अर्थ घट-निर्माणकी सामान्य योग्यताका सद्भाव ही सही है। इसी प्रकार उसी कथनमें पड़े हुए 'निरुत्सुकत्व' शब्दका अर्थ घट-निर्माणकी सामान्य योग्यताका अभाव ही सही है। इस प्रकार जैसे आप उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें कार्यकी उपादानता स्वीकार करते है उसी प्रकार खानमें पड़ी अथवा खानसे कुम्हार द्वारा घर लायी गयी मिट्टीमें तथा कुम्हारके व्यापारका सहयोग पाकर निर्मित हुए मिट्टीके पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूलादिमें भी उपादानताका सद्भाव सिद्ध हो जाता है और यह बात तो हम पहले भी कह चुके हैं कि यदि मिट्टीमें खानकी अवस्थासे लेकर कुशूलपर्यन्त या इससे भी और आगे—जहाँतक कार्यकारणभावकी कल्पना की जा सके—की अवस्थाओंमें यदि घट-निर्माणकी उपादानकारणता नहीं रहती है तो फिर कुम्हारका घट-निर्माणके उद्देश्यसे मिट्टीका खानसे घर लाना तथा उसके पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूलादि पर्यायोंके निर्माणके अनुकूल व्यापार करना यह सब मूर्खताका ही कार्य समझा जायगा।

तात्पर्य यह है कि मिट्टीकी इन सब अवस्थाओंके निर्माणमें कुम्हार जो व्यापार करता है वह सब उससे (मिट्टीसे) घट-निर्माणको लक्ष्यमें रखकर बुद्धिपूर्वक ही करता है और प्रत्यक्षमें देखा भी जाता है कि खानसे कुम्हारके द्वारा लायी गयी मिट्टी ही पहले पिण्डका रूप धारण करती है, पिण्ड स्थासका रूप धारण करता है, स्थास कोशका रूप धारण करता है और कोश कुशूलका रूप धारण करते हुए अन्तमें उसका वह कुशूलरूप ही कुम्हार चक्र आदिकी सहायतासे घड़ेके रूपमें परिणत हो जाया करता है, इसलिये क्षणिक पर्यायोंके रूपमें घट-निर्माणरूप कार्यका विभाजन करके यदि घट-निर्माणकी अन्तिम पर्यायमें अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायको घटका उपादान कहा जा सकता है तो उसी घट-निर्माणको यदि पिण्ड, स्थास, कोश कुशूल और घटरूप स्थूल पर्यायोंमें विभाजित किया जाय तो उस हालतमें घटरूप स्थूल पर्यायसे अव्यवहित पूर्वमें रहनेवाली स्थूल

कुशूल पर्यायको घटका उपादान माननेमें कुछ आपत्ति नहीं आती है। इसी प्रकार घट-निर्माणको यदि पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घटरूप पर्यायोंमें विभाजित न करके इन सब पर्यायोंको ही केवल अखण्ड एक घट-निर्माण कार्य मान लिया जाय तो उस हालतमें मिट्टीकी ही तो घटरूप पर्याय बनती है, अतः तब मिट्टीको भी घटका उपादान कहना असंगत नहीं है।

जिस प्रकार काल द्रव्यकी क्षणवर्ती पर्याय समय कहलाती है और घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि भी कालकी यथासम्भव संख्यात और असंख्यात समयरूप पर्यायोंके अखण्ड पिण्डस्वरूप ही तो माने जा सकते हैं। इस तरह जैसे समयके बाद समय, इसके अनन्तर दिनके बाद दिन, इसके अनन्तर सप्ताहके बाद सप्ताह, इसके अनन्तर पक्षके बाद पक्ष, इसके अनन्तर मासके बाद मास और इसके भी अनन्तर वर्षके बाद वर्ष आदिका व्यवहार कालमें किया जाता है और वह सब समयके समान ही वास्तविक कहलाता है वैसे ही मिट्टीकी यथासम्भव असंख्यात क्षणिक पर्यायोंके समूहरूप पिण्ड पर्यायके निर्माणके बाद असंख्यात क्षणिक पर्यायोंके समूहरूप स्थास पर्यायका निर्माण, इस स्थास पर्यायके निर्माणके बाद असंख्यात क्षणिक पर्यायोंके समूहरूप कोश पर्यायका निर्माण, इस कोश पर्यायके निर्माणके बाद असंख्यात क्षणिक पर्यायोंके समूहरूप कुशूल पर्यायका निर्माण और इस कुशूल पर्यायके निर्माणके बाद असंख्यात क्षणिक पर्यायोंके समूहरूप घट पर्यायका निर्माण स्वीकार करके घट पर्यायकी अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप कुशूलको घट पर्यायका उपादान, कुशूल पर्यायकी अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप कोशको कुशूल पर्यायका उपादान, कोशकी अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप स्थासको कोष पर्यायका उपादान, स्थासकी अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप पिण्डको स्थास पर्यायका उपादान तथा पिण्डकी अव्यवहित पूर्व पर्यायरूप मिट्टीको पिण्ड पर्यायका उपादान मानना असंगत नहीं है। क्या आप क्षणिक पर्यायको ग्रहण करनेवाले ऋजुसूत्र नयको और उस पर्यायके आश्रयभूत कालकी पर्यायरूप क्षणको वास्तविक माननेको तैयार हैं? यदि हाँ, तो हमें प्रसन्नता होगी, और क्या क्षणिक पर्यायोंके उत्तरोत्तर वृद्धिगत समूहोंको ग्रहण करनेवाले व्यवहार, संग्रह तथा नैगम नयोंको तथा क्षणिक पर्यायोंके इन समूहोंके आश्रयभूत कालके घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि भेदोंको आप अवास्तविक ही मान लेना चाहते हैं? यदि हाँ, तो समय और समयके समूहोंमें तथा क्षणिक पर्यायों और इन पर्यायोंके समूहोंमें वास्तविकता और अवास्तविकताका यह वैषम्य कैसा? और यदि समय और तदाश्रित वस्तुकी क्षणिक पर्यायको भी व्यवहारनयका विषय होनेके कारण अवास्तविक अर्थात् उपचरित या कल्पनारोपित ही मान लेना चाहते हैं तो फिर आपके मतसे क्षणिक पर्यायोंके आधारपर उपादानोपादेयभावकी वास्तविकता कैसे संगत हो सकती है? इन सब बातोंपर आप निर्द्वन्द्व मस्तिष्कसे विचार कीजिए। इसी प्रकार व्यवहारनयकी विषयभूत यदि क्षणिक पर्यायों और उनके आश्रयभूत कालके अखण्ड क्षणोंको आप वास्तविक ही मानते हैं तो व्यवहारको फिर अवास्तविक, उपचरित या कल्पनारोपित कैसे माना जा सकता है? इसपर भी ध्यान दीजिए।

एक बात और भी विचारणीय है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, क्षायोपशमिक होनेके कारण किसी भी वस्तुकी समयवर्ती अखण्ड पर्यायको ग्रहण करनेमें सर्वथा असमर्थ ही रहा करते हैं। इन ज्ञानोंका विषय वस्तुकी कमसे-कम अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्यायोंका समूह ही एक पर्यायके रूपमें होता है, इस प्रकार इन ज्ञानोंकी अपेक्षा मिट्टी, पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घटमें उपादानोपादेयव्यवस्था असंगत नहीं मानी जा सकती है।

केवलज्ञान वस्तुकी समयवर्ती पर्यायको विभक्त करके जानता है ऐसा आप मानते हैं। लेकिन यहाँपर

यह प्रश्न तो आपके सामने खड़ा ही हुआ है कि व्यवहाररूप होनेके कारण वह पर्याय आपके मतसे अवास्तविक, उपचरित एवं कल्पनारोपित अतएव अवस्तुभूत है, इसलिए वह पर्याय आकाशकुसुम तथा खरविषाणके समान, केवलज्ञानका विषय कैसे हो सकती है ? और जब क्षणिक पर्यायको केवलज्ञानी जानता है तो उसकी अवास्तविकता समाप्त हो जानेके कारण व्यवहारविषयक आपका सिद्धान्त स्वयं खण्डित हो जाता है। फिर विचार तो कीजिये कि मिट्टी अपने-आप उपस्थित होनेवाले बाह्य कारणोंके सहयोगसे भी यदि प्रतिसमय अपना रूप बदलती है और उस मिट्टीकी उसरूप बदलाहटमें मति-श्रुतज्ञानियोंके लिए आगे चलकर जो विलक्षणताका भान होने लगता है—विलक्षणताका वह भान—उस रूप बदलाहटके कार्यकारणभावको खोजनेके लिए उनको (मति-श्रुतज्ञानियोंको) प्रेरित करता है। यहाँ पर रूप बदलाहटमें आनेवाली विलक्षणताका एक अनुभवपूर्ण उदाहरण यह दिया जा सकता है कि कोई एकदम जो क्रोधसे लोभादि कषायरूप व्यापार करने लगता है इसका कारण तो खोजना चाहिए कि परिवर्तनमें यह विलक्षणता एकदम कैसे आ गयी ? इसी तरह जीवकी मिथ्यात्व पर्यायसे एकदम सम्यक्त्व पर्याय कैसे हो गयी ? विचार करनेसे ज्ञात होता है कि ये सभी विलक्षणताएँ निमित्त कारणोंसे होती हैं। इस तरह यह तो हुई क्षणिक पर्यायोंकी बात, लेकिन जब हम स्थूल विलक्षणताओंपर विचार करते हैं तो मालूम पड़ता है कि वह मिट्टी जो समान और असमान पर्यायोंके रूपमें प्रति समय बदलती चली आ रही है वह यकायक पिण्डरूप स्थूल विलक्षणताको अपने-आप उन क्षणिक पर्यायोंके चालू परिवर्तनके बलपर कैसे प्राप्त हो जाती है ? केवल इतना कह देनेसे तो काम नहीं चल सकता है कि मिट्टीकी पिण्डरूप इस विलक्षण बदलाहटको इस रूपमें केवली भगवानने देखा है और जब कि हम इस विलक्षण बदलाहटको कुम्हारके व्यापार आदि साधनों द्वारा होती हुई देख रहे हैं तथा तर्कसे और आगमसे उसकी पुष्टि भी पा रहे हैं तो ऐसी स्थितिमें केवल इस प्रकारका प्रतिपादान करना कि मिट्टीकी अमुक समयपर पिण्डरूप पर्याय होना नियत था, केवली भगवानने पहलेसे ही ऐसा देख रखा है, उससे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय ही उसमें उपादान कारण है तथा इस प्रकारका प्रतिपादन करना कि निमित्त कारणकी उसमें कुछ उपयोगिता नहीं है आदि कहाँतक बुद्धिगम्य हो सकता है यह आप जानें।

इस प्रकार राजवार्तिकका 'यथा मृदः' इत्यादि कथन न केवल आपकी कार्यकारणभाव व्यवस्था सम्बन्धी मान्यताकी पुष्टि नहीं करता है, बल्कि मति-श्रुतज्ञानियोंके अनुभव, प्रत्यक्ष और तर्कसे तथा आगमके अन्य प्रमाणोंसे—जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है—उसका (आपकी कार्यकारणव्यवस्था सम्बन्धी मान्यताका) खण्डन होता है।

थोड़ा इस तरफ भी विचार कीजिये कि अव्यवहित उत्तर क्षणवर्ती पर्यायके प्रति अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायविशिष्ट वस्तुको जब आप उपादान कारण माननेके लिए तैयार है और यह भी मानते ही हैं कि उस अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायसे उस अव्यवहित उत्तर क्षणवर्ती पर्यायकी उत्पत्ति नियमसे होती ही है तो कार्य-कारणभावकी यह व्यवस्था तो पूर्व-पूर्वकी अनेक क्षणिक पर्यायोंके समूहरूप कुशूल, कोश, स्थास, पिण्ड और कुम्हार द्वारा खानसे लायी हुई अथवा अन्तमें खानमें पड़ी हुई मिट्टी तककी एकके पूर्व एकके रूपमें विभाजित सभी क्षणिक पर्यायोंमें भी लागू होगी। ऐसी स्थितिमें खानकी मिट्टीमें अथवा खानसे कुम्हार द्वारा लायी गयी मिट्टीमें तथा पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूलरूप मिट्टीकी अवस्थामें घटके अनुरूप नियमित कारणताका निषेध कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय यदि आपके मतमें नियमसे घटको उत्पन्न करनेवाली है तो उक्त कार्यरूप इस पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती इस कारणरूप पर्यायको इससे भी अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय नियमसे ही उत्पन्न करेगी, इस तरह कार्यकारणभावकी यह

पूर्व परंपरा नियमितपनेके आधारपर ही कुशूल, कोश, स्थास, पिण्ड और अन्तमें खानकी मिट्टीतक पहुँच जायगी। इस प्रकार आपको मान्य 'उपादान कारण वही है जिससे नियमसे कार्य उत्पन्न हो जावे' उपादान-कारणका यह लक्षण जिस प्रकार आपके मतसे घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें घटित होता है उसी प्रकार घट-कार्यकी अनुकूलताको प्राप्त मिट्टीकी उक्त सभी पर्यायोंमें भी आपके मतसे घटित हो जाता है। इस तरह आपके मतानुसार भी मिट्टीकी सामान्यरूप अवस्थाको तथा घट-निर्माणके उद्देश्यसे कुम्हार द्वारा निर्मित पिण्डादिरूप अवस्थाओंको घट-कार्यके प्रति उपादान कारण मान लेनेमें कोई बाधा नहीं रह जाती है। इतना ही नहीं, घट-निर्माणकी योग्यताको प्राप्त मिट्टीकी आदि अवस्थाको प्राप्त परमाणुरूप द्रव्योंमें अनादि कालसे ही यह व्यवस्था आपके मतानुसार स्वीकार करनी होगी, लेकिन इससे जो अव्यवस्था पैदा होगी, वह यह कि प्रत्येक परमाणुरूप द्रव्यमें परिणमनकी ही योग्यता तथा उनका परिणमन एक ही रूप स्वीकार करना होगा जो कि जैनदर्शनकी व्यवस्था तथा आगमके स्पष्ट विरुद्ध पड़ता है।

पंचास्तिकाय गाथा ७८ की आचार्य अमृतचन्द्रकी टीकामें लिखा है—

पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्य एक एव परमाणुः कारणम्।

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों धातुओंका एक ही परमाणु कारण होता है।

गाथामें इस बातको स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया गया है। इस तरह आपकी मान्यतामें आगमका विरोध स्पष्ट है।

इस अव्यवस्थाको नहीं होने देनेका यही एक उपाय है कि आप अपने द्वारा मान्य सदोष कार्यकारण-भाव व्यवस्थाको बदलकर हमारे द्वारा स्वीकृत आगमसम्मत व्यवस्थाको स्वीकार कर लें।

यदि कहा जाय कि जिस प्रकार घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायका उससे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायके साथ कार्यकारणभावका नियम बनता है वैसा नियम उस अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायसे पूर्वकी पर्यायोंके साथ घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायका नहीं बन सकता है तो इसपर हम आपसे पूछना चाहेंगे कि जब आपके मतसे क्रमनियमित पर्यायोंके मध्य अव्यवहित पूर्वोत्तर क्षणवर्ती पर्यायोंमें नियमित कार्यकारणभाव विद्यमान है तो आपके इस मतमें यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि जैसा कार्यकारण-भावका नियम घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायका उससे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायके साथ बनता है वैसा उससे पूर्ववर्ती पर्यायोंके साथ नहीं बन सकता है।

यदि फिर भी कहा जाय कि कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें ऐसी सामर्थ्य प्रगट हो जाती है कि उससे अनन्तर क्षणमें ही कार्य उत्पन्न हो जाता है।

तो इसपर भी यह प्रश्न उठ सकता है कि यह सामर्थ्य क्या है? और इसकी उत्पत्तिका कारण भी क्या है? यदि आप इसके उत्तरमें यह कहें कि कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें स्वभावरूपसे पाया जाने-वाला कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तीपना ही वह सामर्थ्य है जो अनन्तर समयमें नियमसे कार्यको पैदा कर देती है, तो यह मान्यता इसलिए गलत है कि कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें जो कार्याव्यवहित पूर्व क्षण-वर्तित्वरूप धर्म पाया जाता है वह स्वभावसे उत्पन्न हुआ नहीं है, किन्तु वह तो कार्यसापेक्ष धर्म है, अतः जब तक कार्य निष्पन्न नहीं हो जाता तब तक उस अव्यवहित पूर्व पर्यायमें कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तित्व रूप धर्मका व्यवहार हो ही नहीं सकता है, इसलिए यदि कहा जाय कि कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक अतीन्द्रिय

योग्यता ही सामर्थ्य शब्दका वाच्य है तो फिर हमारा कहना है कि इस प्रकारकी सामर्थ्य तो मिट्टीकी कुशूल, कोश, स्थास, पिण्डरूप पर्यायोंमें तथा इनके भी पहलेकी सामान्य मिट्टीरूप अवस्थामें भी पायी जाती है, इसलिए घट कार्यके प्रति इन सबको उपादान कारण मानना असंगत नहीं है।

अब यदि आप हमसे यह प्रश्न करें कि यदि सामान्य मिट्टी जो खानमें पड़ी हुई है अथवा जिसे कुम्हार अपने घरपर ले आया है उस मिट्टीमें तथा उसकी आगामी पिण्डादि अवस्थाओंमें यदि घट कार्यकी सामर्थ्य मान ली जाती है तो फिर इन सब अवस्थाओंमें भी मिट्टीसे सीधा घट बन जाना चाहिए।

तो इस प्रश्नका उत्तर यह है कि मिट्टीमें घट निर्माणकी योग्यता यद्यपि स्वभावसे ही है, परन्तु परमाणुओंका जो मिट्टीरूप परिणमन हुआ है वह केवल स्वभावसे न होकर किसी मिट्टीरूप स्कन्धके साथ मिश्रण होनेपर ही हुआ है अर्थात् जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार जिस प्रकार पुद्गल कर्म-नोकर्मके साथ विद्यमान मिश्रणके कारण आत्माकी संसाररूप मिश्रित अवस्था अनादिकालसे मानी गयी है उसी प्रकार जैन संस्कृतिमें पुद्गल द्रव्यको भी अनादिकालसे अणु और स्कन्ध इन दो भेदरूप स्वीकार किया गया है। इस प्रकार मिट्टीरूप स्कन्धकी स्थिति अनादिसिद्ध होती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह स्कन्ध नाना द्रव्योंके परस्पर मिश्रणसे ही बना हुआ है, अतएव मिट्टीमें पाया जानेवाला मृत्तिकात्व धर्म मिट्टीकी अपेक्षा स्वाभाविक होते हुए भी नाना द्रव्योंके मिश्रणसे उत्पन्न होनेके कारण कार्यधर्म ही कहा जायगा। उस अनादिकालीन मिट्टीरूप स्कन्धमें अन्य पुद्गल परमाणु भी जो आकरके मिल जाते हैं उनमें वह मृत्तिकात्व धर्म उत्पन्न हो जाता है तथा जो परमाणु उस मिट्टीमेंसे निकल जाते हैं उनका तब वह पूर्वमें सम्मिलित होनेसे उत्पन्न हुआ मृत्तिकात्व धर्म नष्ट हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि किसी भी स्कन्धरूपताके आधारपर पैदा होनेवाली पर्यायका रूप परमाणु द्रव्यमें स्वतःसिद्धरूपसे नहीं पाया जाता है। यह बात दूसरी है कि उसमें इस जातिकी स्वतःसिद्ध योग्यता पायी जाती है कि यदि दूसरे अणु द्रव्यों या स्कन्ध द्रव्योंके साथ किसी अणु द्रव्यका मिश्रण हो जाता है तो वह अणु उसरूप परिणाम जाता है। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि अणुरूप द्रव्यमें तो घटरूप कार्यकी उपादानता नहीं मानी जा सकती है, केवल मिट्टीरूप स्कन्धमें ही घटकी उपादानताका अस्तित्व सम्भव दिखाई देता है। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि घटकी उपादानताको प्राप्त यह मिट्टी अपने-आप तो अवश्य घटरूप परिणत नहीं होती है और कुम्हार द्वारा दण्ड, चक्र आदिकी सहायतासे घटानुकूल व्यापार करनेपर पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदिके क्रमसे अथवा इनकी क्षणिक पर्यायोंके क्रमसे अवश्य घटरूप परिणत हो जाती है। इस तरह इस अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर यह निश्चित हो जाता है कि घट कार्यके प्रति अपनी स्वाभाविक योग्यताके अनुसार उपादानताको प्राप्त मिट्टी कुम्हार आदि अनुकूल निमित्तोंके सहयोगसे ही उत्पन्न होनेवाली उक्त क्रमिक पर्यायोंके बिना घटरूप परिणत नहीं हो सकती है। इसके साथ ही यह भी देखनेमें आता है कि यदि मिट्टी अच्छी नहीं है तो चतुर कुम्हार उससे अच्छा सुन्दर घड़ा नहीं बना सकता है और मिट्टी अच्छी भी हो लेकिन यदि कुम्हार चतुर न हो अथवा उसके सहायक दण्ड, चक्र आदिमें कुछ गड़बड़ी हो तो भी घड़ा सुन्दर नहीं बन सकता है। अलावा इसके यह भी देखनेमें आता है कि घड़ा बनाते हुए कुम्हारके सामने कोई बाधा आ जाती है और तब उसे यदि अपना घड़ा बनानेरूप व्यापार बन्द कर देना पड़ता है तो उसके साथ उस घड़ेका बनना भी बन्द हो जाता है और कदाचित् यह भी देखनेमें आता है कि कोई दूसरा व्यक्ति आकर दण्डका प्रहार उस बनते हुए घड़ेपर कर देता है तो बनते-बनते भी घड़ा फूट जाता है फिर चाहे घट निर्माणकी अन्तिम क्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय ही वह क्यों न हो।

ऐसा भी देखनेमें आता है कि घटका उत्पत्तिक्रम चालू रहते हुए बीचकी किसी भी अवस्थामें किसी भी क्षण वह घट फूट भी जाता है, इसी प्रकार ऐसा भी देखनेमें आता है कि घटका निर्माण कार्य समाप्त हो जानेके बाद भी वह किसी भी क्षण फूट जाता है। अब आप जो यह मानते हैं कि घटकी संपन्न अन्तिम पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायसे नियमसे घटकी उत्पत्ति होती है तो इसका आशय यह हुआ कि आपकी मान्यताके अनुसार घटोत्पत्तिका कार्य चालू रहते हुए यदि कदाचित् किसी अवस्थामें उसका विनाश भी होना हो तो वह विनाश घटकी संपन्न अन्तिम पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायसे भी अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय तक ही हो सकेगा। इसी प्रकार घटका निर्माण कार्य समाप्त हो जानेके अनन्तर भी आपकी मान्यताके अनुसार घटके विनाशकी बराबर संभावना बनी रह सकती हैं, लेकिन घटका निर्माण कार्य चालू रहते हुए जब घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याय उपस्थित हो जायगी तो आपकी इस मान्यताके अनुसार कि 'घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायसे नियमसे घटकी उत्पत्ति होती है' उसके विनाशकी कतई संभावना नहीं रहेगी। लेकिन यह मान्यता आगमका स्पष्ट प्रमाण न होनेसे स्वीकार नहीं की जा सकती है। और यदि आप समझते हैं कि उसका विनाश तो घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें भी हो सकता है तो फिर इस तरह तो आपकी यह मान्यता समाप्त ही हो जायगी कि 'घटकी निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायके अनन्तर नियमसे घटकी उत्पत्ति होती है।' सबसे अधिक विचारणीय बात तो यह है कि खानमें पड़ी हुई मिट्टीसे लेकर घट निर्माणकी अन्तिम क्षणवर्ती पर्याय तककी प्रत्येक पर्यायकी अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायसे जब उस पर्यायकी उत्पत्ति नियमसे होने पर नियम आप मानते हैं तो किसी भी पर्यायकी अवस्थामें दण्डप्रहार आदिके द्वारा घटका विनाश नहीं होना चाहिये, लेकिन विनाश की संभावनाका अनुभव तो प्रत्येक व्यक्तिके लिये प्रत्येक वस्तुके प्रत्येक कार्यकी प्रत्येक अवस्थामें प्रत्येक क्षण होता ही रहता है।

आपकी जो यह मान्यता है कि कार्यसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें वस्तुके पहुँच जाने पर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति होगी, अन्यथा जैन संस्कृतिकी वस्तुके परिणमन स्वभावकी मान्यता ही समाप्त हो जायगी' सो यह भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि हमारे आगमसम्मत सिद्धान्तके अनुसार जिस वस्तुमें होनेवाले जिस कार्यके अनुकूल निमित्त जब जहाँ होंगे तब तहाँ उन निमित्तोके सहयोगसे उस वस्तुमें उस वस्तुकी उपादान शक्तिके अनुसार वह कार्य अवश्य ही होगा। इसका मतलब यह है कि वस्तुका परिणमन तो प्राकृतिक ढंगसे हमेशा होता ही रहता है, वह कभी बन्द नहीं होता। परन्तु उसमें विवक्षित परिणमन या तो उपादान शक्तिके अभावमें अथवा अनुकूल निमित्त सालग्रीके सहयोगके अभावमें और अथवा बाधक सामग्रीके सद्भावमें अवश्य नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उस समय उस वस्तुमें होनेवाले स्वप्रत्यय परिणमनका तो कोई विरोध करता ही नहीं है और न विरोध करना ही चाहिये, साथ ही उस समय विवक्षित परिणमनके अनुकूल अथवा प्रतिकूल जैसे निमित्तोंका सहयोग उस वस्तुको प्राप्त होता है उसके आधार पर वह वस्तु अपनी उपादान शक्तिके अनुसार अपने स्व-परप्रत्यय परिणमन करती ही है।

आगे आपने अपने इस मन्तव्यकी पुष्टिमें कि 'जब मिट्टी घट पर्यायके परिणमनके सन्मुख होती है तब दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्नकी निमित्तता स्वीकृत की गयी है, अन्य कालमें वे निमित्त नहीं होते' प्रमेयकमलमार्तण्डका भी प्रमाण उपस्थित किया है जो निम्न प्रकार है :—

किं ग्राहकप्रमाणाभावाच्छक्तेरभावः अतीन्द्रियत्वाद् वा? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः कार्योत्पत्त्यन्यथानुप-

पत्तिजनितानुमानस्यैव तद्ग्राहकत्वात् । ननु साम्ग्यधीनोत्पत्तिकत्वात् कार्याणां कथं तदन्यथानुपपत्तिः यतोऽनुमानात्तत्सिद्धिः स्यात् इत्यसमीचीनं यतो नास्माभिः सामग्र्याः कार्यकारित्वं प्रतिषिध्यते किन्तु प्रतिनियतायाः सामग्र्याः प्रतिनियतकार्यकारित्वं अतीन्द्रियशक्तिसद्भावमन्तरेणासंभाव्यमित्यसावभ्य-भ्युपगंतव्या ।

—प्रमेयकमल-मार्तण्ड २,२ पृ० १९७

इस उद्धरणसे और इसका जो हिन्दी अर्थ आपने किया है उससे हमारा कोई विरोध नहीं है । इस उद्धरणके आगे एक दूसरा उद्धरण भी प्रमेयकमलमार्तण्डका ही आपने दिया है जो निम्न प्रकार है—

यच्चोच्यते—शक्तिर्नित्या अनित्या वेत्यादि । तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ पर्यायशक्तौ वा प्रश्नः स्यात्, भावानां द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात् । तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव, अनादिनिधनस्वभावत्वाद् द्रव्यस्य । पर्याय-शक्तिस्त्वनित्यैव, सादिपर्यवसानत्वात् पर्यायाणाम् । न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वानुषंगः, द्रव्यशक्तेः केवलायाः कार्यकारित्वानभ्युपगमात् । पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः । तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा ।

—प्रमेय० २,२, पृष्ठ २०७

इसका भी जो हिन्दी अर्थ आपने किया है उससे और इस उद्धरणसे भी हमारा कोई विरोध नहीं है । चूंकि दोनों उद्धरणोंका हिन्दी अर्थ आपने किया है, अतः यहाँ पर नहीं लिखा जा रहा है । उसे आपके द्वितीय उत्तरमें ही देख लेना चाहिये ।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जब हमारे और आपके मध्य प्रमेयकमलमार्तण्डके उल्लिखित दोनों उद्धरणोंकी प्रमाणताको स्वीकार करनेमें विवाद नहीं है तथा उन दोनों ही उद्धरणोंका जो हिन्दी अर्थ आपने किया है उनसे भी हमें विरोध नहीं है तो फिर विवादका आधार क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि आपने उक्त दोनों उद्धरणोंका हिन्दी अर्थ ठीक करके भी उसका अभिप्राय ग्रहण करनेमें गलती कर दी है ।

उक्त दोनों उद्धरणोंमेंसे प्रथम उद्धरणका अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति साधन सामग्रीकी अधीनतामें ही हुआ करती है, परन्तु प्रत्येक प्रकारकी सामग्रीसे प्रत्येक प्रकारका कार्य उत्पन्न न होकर सामग्रीविशेषसे कार्यविशेषके उत्पन्न होनेका जो नियम लोकमें देखा जाता है इसके आधार पर ही अतीन्द्रिय शक्तिको स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है । तात्पर्य यह है कि घटकी उत्पत्ति मिट्टीसे ही होती है, पटके साधनभूत तंतुओंसे कदापि घटकी उत्पत्ति नहीं होती । इसी प्रकार मिट्टीसे घटके उत्पन्न होनेमें कुम्हारका व्यापार ही अपेक्षित होता है जुलाहेका व्यापार अपेक्षित नहीं होता यह जो नियम लोकमें देखा जाता है यह नियम उपादान और निमित्तभूत वस्तुओंमें अपने-अपने ढंगकी अतीन्द्रिय शक्तिको स्वीकार किये विना नहीं बन सकता है, अतः उपादानभूत वस्तुमें कार्य विशेषरूपसे परिणत होनेकी और निमित्तभूत वस्तुमें उस उपादानभूत वस्तुको उसकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहयोग देनेकी अपने-अपने ढंगकी पृथक्-पृथक् अतीन्द्रिय शक्तिका सद्भाव स्वीकार करना आवश्यक है ।

इसी प्रकार दूसरे उद्धरणका अभिप्राय यह है कि प्रतिनियत कार्यके प्रति प्रतिनियत वस्तु ही उपादान कारण होती है । जैसे घटरूप कार्यके प्रति मिट्टी ही उपादान कारण होती है यह तो ठीक है । परन्तु स्थूल

पर्यायोंके विभाजनकी अपेक्षा वह मिट्टी जब तक कुशूलरूप पर्यायको प्राप्त नहीं हो जाती है तब तक अथवा क्षणिक पर्यायोंके विभाजनकी अपेक्षा वह मिट्टी जब तक कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायरूपताको नहीं प्राप्त हो जाती है तब तक घट कार्यरूपसे परिणत नहीं हो सकती है। इस प्रकार मिट्टीमें पाया जानेवाला मृत्तिकात्वरूप वस्तु-धर्म उसकी (मिट्टीकी) घटरूप पर्यायकी उत्पत्तिमें यद्यपि कारण होता है परन्तु जब तक यह मृत्तिकात्वरूप वस्तु-धर्म कुशूल पर्यायरूपतासे अथवा कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूपतासे समन्वित नहीं हो जाता तब तक वह मिट्टी घट-कार्यरूपसे परिणत नहीं हो सकती है। चूँकि मिट्टीकी कुशूल पर्यायरूपता अथवा कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूपता निमित्तोंके सहयोगकी अपेक्षा रखती है, अतः मिट्टीको जिस समय अनुकूल निमित्तोंका सहयोग प्राप्त हो जाता है उस समयमें ही वह मिट्टी कुशलरूपता अथवा कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूपताको प्राप्त होती है इस तरह कार्यमें न तो सर्वदा उत्पत्तिका प्रसंग उपस्थित हो सकता है और न सहकारी कारणकी व्यर्थता ही सिद्ध होती है।

अब आप अपने गृहीत अभिप्रायके साथ दोनों उद्धरणोंके ऊपर लिखित अभिप्रायोंका मिलान करेंगे तो आपको अभिप्रायके ग्रहण करनेमें अपनी गलतीका पता सहज ही में लग जायगा।

आपने जो अभिप्राय ग्रहण किया है और जिसे हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं—यह है कि 'मिट्टी घट-पर्यायके परिणमनके सन्मुख होती है तब दण्ड, चक्र, और पौरुषेय प्रयत्नकी निमित्तता स्वीकृत की गयी है, अन्य कालमें वे निमित्त नहीं स्वीकार किये गये हैं।'

मालूम पड़ता है कि उक्त उद्धरणोंका यह अभिप्राय आपने दूसरे उद्धरणमें पठित 'तदैव' पदके आधारपर ही ग्रहण किया है, परन्तु आपको मालूम होना चाहिये कि उस उद्धरणमें 'तदैव' पदका अभिप्राय यही है कि 'मिट्टीको जिस समय निमित्तोंका सहयोग प्राप्त होता है उस समयमें ही वह मिट्टी कुशूल पर्याय-रूपता अथवा कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूपताको प्राप्त होती है।'

इस प्रकार हमारे द्वारा और आपके द्वारा गृहीत दोनों पर्यायोंमें जमीन-आसमानका अन्तर देखनेके लिये मिलता है, क्योंकि जहाँ आपके अभिप्रायके आधारपर निमित्तकी कार्यके प्रति व्यर्थता सिद्ध होती है वहाँ हमारे अभिप्रायके आधारपर निमित्तकी कार्यके प्रति सार्थकता ही सिद्ध होती है। अर्थात् आपका अभिप्राय जहाँ यह बतलाता है कि जब उपादान कार्यरूप परिणत होनेके लिये तैयार रहता है तब निमित्त हाजिर रहता है वहाँ हमारा अभिप्राय यह बतलाता है कि जब निमित्तोंका सहयोग उपादानकी कार्योत्पत्तिके लिये प्राप्त होता है उस समयमें ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे साइकलको आप चलाइये, उसपर बैठ जाइये और उसे चलाते जाइये, साइकल चलती जायगी और आपको भी वह अभिलषित स्थानपर पहुँचा देगी।

आपने जो यह लिखा है कि दण्ड, चक्र आदिमें निमित्तता उसी समय स्वीकार की गई है जब मिट्टी घट-पर्यायके परिणमनके सन्मुख होती है, अन्य कालमें वे निमित्त नहीं स्वीकार किये गये हैं। इस विषयमें हमारा कहना यह है कि कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिमें घटके प्रति निमित्त कारणताका अस्तित्व उपादानभूत वस्तुकी तरह नित्यशक्तिके रूपमें तो पहले भी पाया जाता है, क्योंकि कार्योत्पत्तिके लिये उपादानभूत वस्तुके संग्रहकी तरह निमित्तभूत वस्तुका भी लोकमें संग्रह किया जाता है। यह बात दूसरी है कि उपादान और निमित्त दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंका उपयोग कार्योत्पत्तिके अवसर पर ही हुआ करता है, इसलिये आपका वैसा लिखना भी गलत है।

बड़े खेदकी बात है कि आपने अपने पक्षके समर्थनमें जहाँ-जहाँ और जितने आगमके उद्धरण दिये हैं उनमें सर्वत्र इसी प्रकारकी गलतियाँ आपने की हैं। हमारी आपसे विनय है कि आगमके वचनोंका अभिप्राय बिल्कुल स्वाभाविक ढंगसे आगमके दूसरे वचनोंके साथ समन्वयात्मक पद्धतिको अपनाते हुए प्रकरण आदिको लक्ष्यमें रखकर वाक्यविन्यास, पदोंकी सार्थकता, ग्रन्थकर्ताकी विषय-मर्मज्ञता साहित्यिक ढंग और भाषा-पांडित्य आदि उपयोगी बातोंको लक्ष्यमें रखकर ही ग्रहण कीजिये, अन्यथा इस तरहकी प्रवृत्तिका परिणाम जैन-संस्कृतिके लिये आगे चलकर बड़ा भयानक होगा जिसके लिये यदि जीवित रहे तो हम और आप सभी पछतावेंगे। अस्तु।

आगे आपने लिखा है कि 'सहकारी कारण सापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारिणी मानी गयी है, केवल उदासीन या प्रेरक निमित्तोंके बलपर मात्र द्रव्यशक्तिसे ही द्रव्यमें कार्य नहीं होता' यह तो आपने ठीक लिखा है परन्तु इसके आगे आपने जो यह लिखा है कि 'यदि द्रव्यशक्तिको बाह्य-निमित्तोंके बलसे कार्यकारी मान लिया जाये तो चनेसे भी गेहूँकी उत्पत्ति होने लगे।'

इस विषयमें हमें यह कहना है कि पर्याय-शक्तिकी अपेक्षारहित केवल द्रव्यशक्तिको निमित्तोंके बलपर हम भी कार्यकारी नहीं मानते हैं, किन्तु हम आपके समान ऐसा भी नहीं मानते कि कार्य निमित्तकी अपेक्षारहित केवल विशिष्ट पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्तिमात्रसे ही उत्पन्न हो जाया करता है तथा ऐसा भी नहीं मानते कि सहकारी कारणकी सापेक्षताका अर्थ केवल इतना ही होता है कि सहकारी कारणकी उपस्थिति वहाँपर नियमसे रहा ही करती है, उसका वहाँपर कभी अभाव नहीं होता। हम तो ऐसा मानते हैं कि एक तो उस पर्यायशक्तिकी उत्पत्ति सहकारी कारणोंके सहयोगसे ही होती है, दूसरे पूर्व पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति निमित्तोंका वास्तविक सहयोग मिलनेपर ही उत्तर पर्यायरूप कार्यको उत्पन्न करती है और फिर उस उत्तर पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति भी यदि निमित्तोंका अनुकूल सहयोग मिल जावे तो उस उत्तर पर्यायसे भी उत्तर पर्यायको उत्पन्न कर देती है तथा यदि अनुकूल निमित्तोंका सहयोग प्राप्त नहीं होता तो वर्तमान पर्याय-शक्तिसे विशिष्ट द्रव्यशक्ति उस पर्यायसे उत्तर क्षणवर्ती विवक्षित पर्यायको उत्पन्न करनेमें सर्वथा ही असमर्थ रहेगी? फिर तो उससे उसी कार्यकी उत्पत्ति होगी जिसके अनुकूल उस समय निमित्त उपस्थित होंगे। इसलिये आपने जो प्रकृतमें चनेसे गेहूँकी उत्पत्तिके प्रसक्त होनेकी आपत्ति हमारे सामने उपस्थित की है उस आपत्तिका हमारे सामने उपस्थित करना कुछ अर्थ नहीं रखता है, क्योंकि अन्य अनेक शक्तियोंके रहते हुए भी चनेमें गेहूँके उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं है।

आगे आपने 'यदि द्रव्यशक्तिको बाह्य-निमित्तोंके बलसे कार्यकारी मान लिया जाये तो चनेसे भी गेहूँकी उत्पत्ति होने लगे' इस आपत्तिके उपस्थित करनेमें जो यह हेतु दिया है कि 'क्योंकि गेहूँ स्वयं द्रव्य नहीं है किन्तु पुद्गल द्रव्यकी एक पर्याय है, अतएव गेहूँ पर्याय विशिष्ट पुद्गल द्रव्य बाह्य-कारणसापेक्ष गेहूँके अंकुरादि कार्यरूपसे परिणत होता है। यदि विशिष्ट पर्यायरहित द्रव्य सामान्यसे निमित्तोंके बलपर गेहूँकी अंकुरादि पर्यायोंकी उत्पत्ति मान ली जाये तो जो पुद्गल चनारूप हैं वे पुद्गल होनेसे उनसे भी गेहूँरूप पर्यायोंकी उत्पत्ति होने लगेगी।'

इसमें हमारा कहना यह है कि आपने गेहूँ पर्यायविशिष्ट पुद्गल द्रव्यको बाह्य-कारणसापेक्ष होनेपर ही गेहूँके अंकुरादि कार्यरूपसे परिणत होना लिखा है, सो यह यदि आपने बुद्धिभ्रमसे न लिखकर बुद्धिपूर्वक ही लिखा है तो इससे तो कार्यके प्रति निमित्त कारणकी सार्थकताका ही समर्थन होता है। इस तरह आपके द्वारा स्वीकृत कार्यके प्रति निमित्त कारणताकी अकिंचित्करताका आपहीके द्वारा खण्डन हो जाता है, क्योंकि हम

भी तो यही कहते हैं कि गेहूँसे जो गेहूँकी अंकुरादिरूपसे पर्याय बनती है वह बाह्य निमित्तोंका सहयोग मिलनेपर ही बनती है। अर्थात् यदि बाह्य-निमित्तोंके सहयोगके अभावमें ही गेहूँसे उक्त अंकुरादिरूप पर्यायकी उत्पत्ति स्वीकार की जाती है तो फिर कोठीमें रखे हुए गेहूँसे भी निमित्तकी सहायताके विना उक्त अंकुरादिरूप पर्यायकी उत्पत्ति होने लगेगी। तात्पर्य यह है कि कोठीमें रखे हुए गेहूँमें हमारे समान आपने भी गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिकी योग्यता (उपादान शक्ति) को उक्त लेखद्वारा स्वीकार कर लिया है, क्योंकि उक्त लेखमें आपने यही तो लिखा है कि गेहूँ पर्याय विशिष्ट पुद्गल द्रव्य बाह्य कारण सापेक्ष गेहूँके अंकुर आदि कार्यरूप परिणत होता है। अब यदि कोठीमें रखे हुए उस गेहूँसे गेहूँका अंकुर उत्पन्न नहीं हो रहा है तो इसका कारण सिर्फ बाह्य-निमित्तोंके सहयोगका अभाव ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। इस प्रकार कार्यके प्रति जब निमित्त कारणकी आप ही सार्थकता सिद्ध कर देते हैं तो वह जैसे अकिंचित्कर नहीं रह जाता है वैसे ही वह कल्पनारोपित भी नहीं रहता है। हमारा प्रयास आपसे इतनी ही बात स्वीकृत करानेका है।

वैसे आपके इस मन्तव्यसे हम सहमत नहीं हो सकते हैं कि 'पुद्गलरूप द्रव्यशक्ति ही गेहूँरूप पर्याय विशिष्ट होकर गेहूँरूप पर्यायको उत्पन्न करती है—ऐसा कार्यकारणभाव यहाँपर स्वीकार किया गया है' किन्तु गेहूँ नामका पुद्गल द्रव्य अनुकूल निमित्तके सहयोगसे गेहूँरूप अंकुरोत्पत्तिके योग्य विशिष्ट पर्यायको प्राप्त होनेपर अनुकूल निमित्त सहयोगसे ही गेहूँरूप अंकुरोत्पत्ति अपनेमें कर लेता है ऐसा ही कार्यकारणभाव यहाँपर ग्रहण करना उचित है। अतः इस रूपसे भी चनेसे गेहूँकी उत्पत्तिके प्रसक्त होनेकी आपत्ति उपस्थित नहीं होती है।

यह जो आपने कहा है कि 'गेहूँ स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु पुद्गल द्रव्यकी एक पर्याय है' सो इसके विषयमें भी हमारा कहना यह है कि गेहूँ एक पुद्ल द्रव्यकी पर्याय नहीं है, किन्तु अनेक पुद्गल द्रव्य मिश्रित होकर एक गेहूँरूप स्कन्ध पर्यायरूपताको प्राप्त हुए हैं, इसलिए जिस तरह आत्मा कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलोंके साथ मिश्रित होकर दोनोंका एक पिण्ड बना हुआ है उसी प्रकार नाना अणुरूप पुद्गल द्रव्योंका भी परस्पर मिश्रण होकर एक गेहूँरूप पिण्ड बन गया है। आगममें यद्यपि पुद्गल स्कन्धोंको पुद्गल द्रव्यकी पर्याय भी कहा गया है परन्तु इसका आशय इतना ही है कि नाना अणुरूप द्रव्योंने मिलकर अपनी एक स्कन्ध पर्यायरूप स्थिति बना ली है। यदि आप गेहूँ आदि स्कन्धोंको पुद्गल द्रव्यकी पर्याय स्वीकार करते हैं तो यह हमारे लिए तो अनिष्ट नहीं है। परन्तु ऐसा माननेपर आपके सामने बन्धरूप संयोगकी वास्तविक स्थिति स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा, लेकिन श्री पं० फूलचन्दजी जैनने अपनी जैनतत्त्वमीमांसा पुस्तकमें संयोगको अवास्तविक ही स्वीकार किया है वह कथन निम्न प्रकार है—

'जीवकी संसार और मुक्त अवस्था है और वह वास्तविक है—इसमें सन्देह नहीं। पर इस आधारसे कर्म और आत्माके संश्लेष सम्बन्धको वास्तविक मानना उचित नहीं है। जीवका संसार उसकी पर्यायमें ही है और मुक्ति भी उसीकी पर्यायमें है। ये वास्तविक हैं और कर्म तथा आत्माका संश्लेष सम्बन्ध उपचरित है। स्वयं संश्लेष सम्बन्ध यह शब्द ही जीव और कर्मके पृथक्-पृथक् होनेका ख्यापन करता है।' —जैनतत्त्वमीमांसा विषयप्रवेश प्रकरण पृष्ठ १८

यहाँपर उन्होंने (पं० फूलचन्दजीने) संश्लेष सम्बन्धको उपचरित माना है और उपचरित शब्दका अर्थ आप सब कल्पनारोपित ही करते हैं।

अब उक्त कथनके अनुसार कार्यकारणभावका वास्तविक आधार क्या है? इसपर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है।

मिट्टी घटका कारण है—इस वाक्यका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि मिट्टीरूप पर्यायशक्ति विशिष्ट पुद्गलरूप द्रव्यशक्ति घटका कारण है, किन्तु उक्त वाक्यका यही अर्थ समझना चाहिये कि स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षा घटरूप कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती कुशूल पर्यायशक्तिसे विशिष्ट तथा क्षणिक पर्यायोंकी अपेक्षा घटरूप कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायशक्तिसे विशिष्ट मिट्टीरूप द्रव्यशक्ति घटका कारण है। इसी प्रकार गेहूँ गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिमें कारण है—इस वाक्यका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि गेहूँरूप पर्यायशक्ति विशिष्ट पुद्गलरूप द्रव्यशक्ति गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिमें कारण है, किन्तु उक्त वाक्यका यही अर्थ समझना चाहिये कि स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षा गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिरूप कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती खेतमें वपनरूप पर्यायशक्ति-विशिष्ट तथा क्षणिक पर्यायोंकी अपेक्षा गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिरूप कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायशक्ति विशिष्ट गेहूँरूप द्रव्यशक्ति ही गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिमें कारण है।

इसका कारण यह है कि घटरूप कार्यके उत्पन्न होनेमें मिट्टी पुद्गलद्रव्यकी पर्यायरूपसे कारण नहीं बन रही है, किन्तु स्वयं एक पौद्गलिक द्रव्यरूपसे ही बन रही है। इसी प्रकार गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिरूप कार्यके उत्पन्न होनेमें गेहूँ भी पुद्गल द्रव्यकी पर्यायरूपसे कारण नहीं बन रहा है, किन्तु स्वयं एक पौद्गलिक द्रव्यरूप से ही कारण बन रहा है। इस तरह घटकी उत्पत्तिमें मिट्टीमें विद्यमान पुद्गलत्व नामका द्रव्यांश द्रव्यशक्ति रूपसे कारण न होकर उस मिट्टीमें ही विद्यमान मृत्तिकात्व नामका द्रव्यांश ही द्रव्यशक्तिरूपसे कारण होता है और तब स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षा मिट्टीका घटरूप कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती कुशूलरूप पर्यायांश तथा क्षणिक पर्यायोंकी अपेक्षा उस मिट्टीका ही घटरूप कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूप पर्यायांश पर्यायशक्तिरूपसे कारण होता है। इसी प्रकार गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिमें गेहूँमें विद्यमान पुद्गलत्व नामका द्रव्यांश द्रव्यशक्तिरूपसे कारण न होकर उस गेहूँमें ही विद्यमान गेहूँपना (गोधूमत्व धर्म) नामका द्रव्यांश ही द्रव्यशक्तिरूपसे कारण होता है और तब स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षा गेहूँका गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिरूप कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती खेतमें वपन रूप पर्यायांश तथा क्षणिक पर्यायोंकी अपेक्षा उस गेहूँका ही गेहूँकी अंकुरोत्पत्तिरूप कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूप पर्यायांश पर्यायशक्तिरूपसे कारण होता है।

उपर्युक्त कथनसे जब यह बात सिद्ध हो जाती है कि हमारे मतानुसार घड़ेकी उत्पत्ति मिट्टीसे ही होती है और गेहूँके अंकुरकी उत्पत्ति गेहूँसे ही होती है तो चनेसे गेहूँके अंकुरकी उत्पत्तिकी प्रसक्ति होनेकी जो आपत्ति आपने हमारे समक्ष उपस्थित की है उसका निरसन अपने आप ही हो जाता है। इस प्रकार जो कार्यकारणभावकी व्यवस्था जैन संस्कृतिके अनुसार आगम प्रमाणोंके आधारपर बनती है उसका रूप निम्न तरहसे समझना चाहिए—

चूँकि मिट्टी आदि स्कन्धोंकी स्थिति परम्पराके रूपमें अनादिकालसे ही चली आ रही है और इसी तरह अनन्तकाल तक चली जानेवाली है और जब मिट्टी आदि स्कन्ध उल्लिखित कथनके आधारपर द्रव्य ही सिद्ध होते हैं तो उनमें रहनेवाले मृत्तिकात्व आदि द्रव्यांश भी नित्य ही सिद्ध होते हैं। मृत्तिकासे घटकी उत्पत्तिमें यह मृत्तिकात्व धर्म ही मिट्टीमें पायी जानेवाली नित्य उपादान शक्ति है। यह उपादान शक्ति खानमें पड़ी हुई मिट्टीमें भी पायी जाती है, लेकिन चूँकि खानमें पड़ी हुई उस मिट्टीसे खानमें पड़े-पड़े अपनेआप घटका बनना असम्भव है, अतः उक्त उपादान शक्तिकी जाँच करके कुम्हार खानमें पड़ी हुई उस मिट्टीको घड़ा

बनानेके उद्देश्यसे अपने घर ले आता है और यहींसे फिर कुम्हारके व्यापारके सहयोगसे उस मिट्टीकी घट निर्माणके अनुकूल स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर विकासरूप पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल आदि अवस्थाएँ तथा क्षणिक पर्यायोंकी अपेक्षा एक-एक क्षणकी एक-एक पर्यायके रूपमें उत्तरोत्तर विकासरूप अवस्थाएँ चालू हो जाती हैं। ये सब पिण्डादिरूप स्थूल अवस्थाएँ या क्षण-क्षणकी सूक्ष्म अवस्थाएँ एकके बाद एकके क्रमसे कुम्हारके क्रमिक व्यापारके अनुसार ही हुआ करती हैं, अतः इन्हें घटकी उत्पत्तिके अनुकूल उस मिट्टीको घटकी अनित्य उपादान शक्तिके रूपसे ही आगममें स्वीकार किया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्डके 'यच्चोच्यते' इत्यादि कथनका अभिप्राय यही है।

इस प्रकार घट निर्माणकी स्वाभाविक योग्यताको धारण करनेवाली खानकी मिट्टीमें घट निर्माणके उद्देश्यसे किये जानेवाले कुम्हारके दण्डादिसापेक्ष व्यापारके सहयोगसे घट निर्माणके अनुकूल पिण्डादि नाना क्षणवर्ती स्थूल पर्यायों अथवा क्षण-क्षणमें पर्याय मान सूक्ष्म पर्यायोंका उत्तरोत्तर विकासके रूपमें उत्तर पर्यायका उत्पाद तथा पूर्व पर्यायका विनाश होता हुआ अन्तमें घटका निर्माण हो जाता है और तब उस घटनिर्माण की समाप्तिके साथ ही कुम्हार अपना भी व्यापार समाप्त कर देता है। यही प्रक्रिया गेहूँसे गेहूँकी अंकुरोत्पत्ति-के विषयमें तथा सभी कार्योंके विषयमें भी लागू होती है।

तात्पर्य यह है कि मिट्टीसे घटके निर्माणमें कुशल कुम्हार सर्वप्रथम खानमें पड़ी हुई उस मिट्टीमें घट रूपसे परिणत होनेकी जिस योग्यताकी जाँच कर लेता है उस योग्यताका नाम ही मिट्टीमें विद्यमान घट निर्माणके लिये नित्य उपादान शक्ति है, क्योंकि यह स्वभावतः उस मिट्टीमें पायी जाती है। कुम्हार इस योग्यताको उसमें पैदा नहीं करता है, इसीको अभिमुखता, सन्मुखता, उत्सुकता आदि शब्दोंसे आगममें पुकारा गया है। खानमें पड़ी मिट्टीमें उक्त प्रकारकी योग्यता जाँच करनेके अनन्तर उस मिट्टीको घर लाकर कुम्हार उसमें स्वाभाविकरूपसे विद्यमान उस योग्यताके आधार पर दण्ड, चक्र आदि आवश्यक अनुकूल सामग्रीकी सहायतासे अपने व्यापार द्वारा उस मिट्टीसे निम्न क्रमपूर्वक घटका निर्माण कर देता है—

कुम्हारका वह व्यापार पहले तो उस मिट्टीको खानसे घर लानेरूप ही होता है, फिर वह उसे घट निर्माणके अनुकूल तैयार करनेमें अपना व्यापार करता है। इसके अनन्तर उस कुम्हारके व्यापारसे ही वह मिट्टी पिण्ड बन जाती है और फिर उसी कुम्हारके व्यापारके सहारेसे ही वह मिट्टी क्रमसे स्थास, कोश और कुशूल बनकर अन्तमें घट बन जाती है। इस प्रक्रियामें कुम्हारके व्यापारका सहयोग पाकर उस मिट्टीमें क्रमशः पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घटरूपसे उत्तरोत्तर जो परिवर्तन होते हैं मिट्टीमें होनेवाले इन परि-वर्तनोंमेंसे पूर्व-पूर्वके परिवर्तनको आगे-आगेके परिवर्तनके लिये योग्यता, अभिमुखता, सन्मुखता या उत्सुकता आदि नामोंसे पुकारी जानेवाली अनित्य उपादान शक्तिके रूपमें आगमद्वारा प्रतिपादित किया गया है। पूर्वका परिवर्तन हो जानेपर ही उत्तरका परिवर्तन होता है, अतः पूर्व परिवर्तनको उत्तर परिवर्तनके लिये उपादान कहा गया है और चूँकि ये सब परिवर्तन दण्डादि अनुकूल निमित्तोंके सहयोगसे होनेवाले कुम्हारके व्यापारके सहारे पर ही हुआ करते हैं तथा इनमें पूर्व परिवर्तनका रूप ही कुम्हारके व्यापार द्वारा बदलकर उत्तर परिवर्तनका रूप विकसित होता है, अतः इन्हें अनित्य माना गया है।

इसका मतलब यह हुआ कि खानमें पड़ी हुई मिट्टीमें जो मृत्तिकात्व धर्म पाया जाता है वह उसका निजी स्वभाव है और चूँकि उसके आधार पर ही घट निर्माणकी भूमिका प्रारम्भ होती है एवं घटका निर्माण हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता है, अतः उसे घट निर्माणकी नित्य उपादान शक्तिमें अन्तर्भूत करना चाहिये तथा इसके अनन्तर कुम्हारके व्यापारके सहारे पर क्रमसे जो जो परिवर्तन उस मिट्टीमें होते जाते हैं वे

सब परिवर्तन पूर्व पूर्व परिवर्तनके कार्य और उत्तर उत्तर परिवर्तनके लिये कारण हैं, अतः इन्हें घट निर्माणकी अनित्य उपादान शक्तिमें अन्तर्भूत करना चाहिए। किन्तु यहाँ पर इतना विशेष समझना चाहिये कि इन सब परिवर्तनोंमें अन्तिम परिवर्तन घट निर्माणकी सम्पन्नताको ही माना गया है। कारण कि कुम्हारके व्यापारका अन्तिम लक्ष्य वही रहता है, अतः उसका अन्तर्भाव केवल कार्योंमें ही होता है, कारणोंमें नहीं। यही कारण है कि उसकी निष्पन्नताके साथ ही कुम्हार अपना व्यापार भी बन्द कर देता है।

इन सब परिवर्तनोंको यहाँ पर जैसा पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घटरूप स्थूल परिवर्तनोंमें विभक्त किया गया है वैसा ही चाहो तो एक एक क्षणवर्ती परिवर्तनोंके रूपमें भी उन्हें विभक्त कर सकते हो, क्योंकि प्रश्न इस बातका नहीं है कि इन सब परिवर्तनोंका विभाजन पिण्डादि स्थूल पर्यायोंके रूपमें किया जाय अथवा क्षणिक पर्यायोंके रूपमें किया जाय ? किन्तु प्रश्न यह है कि ये सब परिवर्तन एकके बाद एक करके अपने आप होते चले जाते हैं या जैसे जैसे कुम्हारका व्यापार आगे होता जाता है वैसे वैसे ये परिवर्तन भी आगे बढ़ते जाते हैं ?

उक्त प्रश्नका जो समाधान अनुभव, तर्क और आगमप्रमाणोंके आधार पर हमने अपनी प्रतिशंका में किया है वह यह है कि उक्त सभी परिवर्तन कुम्हारके व्यापारके सहारे पर ही हुआ करते हैं, अपने आप नहीं। अतः उपादानगत योग्यताको लक्ष्यमें रखते हुए जब जैसे निमित्त मिलते हैं वैसा ही परिणमन वस्तुकी अपनी योग्यताके अनुसार हुआ करता है—यह मान्यता गलत नहीं है। इतना ही नहीं, कार्यके प्रति उभय कारणोंकी जो आगममें स्वीकृति की गयी है उसकी सार्थकता भी इसी ढंगसे हो सकती है, अन्यथा नहीं। यह सब पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

आपका कहना है कि 'मुख्य विवाद उपादानका है, क्योंकि उपादानकी कार्योत्पत्तिके लिये तैयारी हो जानेपर निमित्त मिलते ही हैं।' लेकिन हमारा कहना—जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है—यह है कि कार्योत्पत्तिके लिये उपादानकी तैयारी निमित्तोंके बलपर ही हुआ करती है।

यद्यपि केवल स्व-प्रत्ययताके आधारपर होनेवाली कार्य-विधिकी परंपरा धारा-प्रवाहरूपसे अनादि कालसे चली आ रही है और अनन्त कालतक वह चलती ही जायगी। षड्गुण हानि-वृद्धिरूपसे परिणमनकी परंपराका अन्तर्भाव इसी कार्य-विधिमें होता है। इसी प्रकार स्वपरप्रत्ययताके आधारपर होनेवाली कार्य-विधिकी बहुत-सी परंपरा भी ऐसी हो रही है जो अनादि कालसे धाराप्रवाहरूपसे चली आ रही है और अनन्त कालतक चलती ही जायगी। जैसे परिणमनशील वस्तुओंके निमित्तसे आकाश, धर्म, अधर्म तथा काल द्रव्योंके स्वभावोंमें जो परिणमन होता रहता है वह इसी कोटिमें आता है, क्योंकि वह स्वपरप्रत्यय होता हुआ अनादि कालसे धाराप्रवाहरूपसे चलता आ रहा है और अनन्त कालतक इसी रूपमें चलता ही जायगा। लोकके सामने समस्या इन दोनों प्रकारके परिणमनोंकी नहीं है, परन्तु स्वपरप्रत्ययताके आधारपर ही होनेवाली घटादि कार्यविधिकी परंपरा ऐसी नहीं है जो अनादि कालसे अनन्त कालतक धाराप्रवाहरूपसे चलने वाली हो, क्योंकि घटादि कार्यविधिकी परंपरा लोकमें और ही देखनेमें आती है। जैसे खानमें मिट्टी अनादि-कालसे पड़ी हुई चली आ रही हैं और यह निर्विवाद है कि अनादि कालसे अबतक खानमें पड़े रहते हुए उससे घटरूप पर्यायका निर्माण स्वतः अथवा स्व और परके सहयोगसे न तो हुआ, न कभी होनेवाला है। इसके विपरीत यह बात अवश्य देखनेमें आती है कि खानमें पड़ी हुई उस मिट्टीमेंसे कुछ मिट्टीको कुम्हार अपनी आवश्यकता और आकांक्षाके आधारपर बनानेके उद्देश्यसे यथावसर अपने घर लाता है और जब वह कुम्हार

घट-कार्यके निर्माणके लिये सहायतारूप अपना व्यापार देता है तब उस मिट्टीसे घट-कार्यका निर्माण भी होता हुआ देखा जाता है। घटका यह निर्माणरूप कार्य कुम्हारके व्यापारके सहारेपर होता हुआ तबतक चलता रहता है जबतक या तो घट-कार्यका निर्माण सम्पन्न नहीं हो जाता अथवा कुम्हारके व्यापारके सहारेपर ही तबतक होता हुआ देखनेमें आता है जबतक कि चालू निर्माण कार्यके मध्यमें दण्ड आदिके प्रहारसे वह फूट नहीं जाता है। निर्माण-कार्यके समाप्त हो जानेपर अथवा बीच ही में उसके नष्ट हो जानेपर उसमें दूसरे ही प्रकारकी कार्य-विधिकी परम्परा दूसरे निमित्तोंके सहयोगसे उसकी अपनी योग्यताके अनुसार चालू हो जाती है। यही कारण है कि इस प्रकार कार्यविधिकी परंपरामें परिवर्तन हो जानेके सबबसे पुरानी और जीर्ण-शीर्ण वस्तुएँ भी नवीनताका रूप लेकर सामने आती रहती हैं। अब यदि निमित्तका उपयोग इस कार्यविधिमें न माना जाय, केवल उपादानके अपने बलपर ही इसे स्वीकार कर लिया जाय तो ऐसी हालतमें उसमें कार्यसे कार्यान्तरका विभाग करना असंभव हो जायगा तथा कोई पुरानी वस्तु कभी और किसी भी हालतमें नवीनताको प्राप्त नहीं हो सकेगी।

आगे आपका कहना है कि 'ऐसा है नहीं कि निश्चय उपादान हो और निमित्त न मिलें' फिर आगे आप कहते हैं कि 'इसी बातको असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षा यों कहा जाता है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है।'

अपने इस कथनसे आप यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहते हैं कि यद्यपि उपादान स्वयं अपनी सामर्थ्यके आधारपर ही कार्य निष्पन्न कर लेता है, उसे अपनी कार्यनिष्पत्तिमें निमित्तोंका सहयोग लेनेकी आवश्यकता नहीं रहा करती है। परन्तु निश्चय उपादानके रहते हुए चूँकि वहाँपर निमित्त नियमसे उपस्थित रहा करते हैं, अतः वस्तुस्थिति वैसी न रहते हुए भी केवल बोलनेमें ऐसा आता है कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है।

विचार करनेपर मालूम पड़ता है कि निमित्तकी अकिंचित्करता और कल्पनारोपितताको सिद्ध करनेके लिये आपका यह प्रयास बिल्कुल व्यर्थ है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जा रहा है—

स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप कार्योंमें स्व अर्थात् उपादानके साथ साथ पर अर्थात् निमित्तके सहयोगकी आवश्यकता रहा करती है—इस बातको पूर्वमें अत्यन्त स्पष्टताके साथ बतला दिया गया है तथा इस विषयके समर्थनमें राजवार्तिकका निम्नलिखित प्रमाण भी देखने योग्य है जिसमें कार्यके प्रति निमित्तपनेके आधारपर धर्म और अधर्म द्रव्योंकी सिद्धि की गयी है—

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः ॥३९॥ इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टं, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलाल-दण्ड-चक्र-सूत्रोदक-कालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः, तथा पतत्त्रिप्रभृति द्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं चावाप्तुमलमिति तदुपग्रहकारणधर्माधर्मास्तिकायसिद्धिः।

—अध्याय ५ सूत्र १७ वार्तिक ३१

अर्थ—कार्यकी सिद्धि अनेक उपकरणों (कारणों) से होनेके कारण धर्म तथा अधर्म दोनों द्रव्योंका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। लोकमें भी यही बात देखनेमें आती है—जैसे जिस मिट्टीके पिण्डमें घटकार्य-परिणमनके योग्य स्वाभाविक सामर्थ्य विद्यमान है वह बाह्य कुम्हार, दण्ड, चक्र, सूत, जल, काल और

आकाशादि अनेक कारणोंकी सहायतासे ही घटरूप परिणत होता है। केवल मिट्टीका पिण्ड अकेला कुम्हार आदि बाह्य साधनोंके सहयोगके विना घटरूपसे परिणत होनेमें समर्थ नहीं होता है ! वैसे ही पक्षी आदि द्रव्य गति और स्थितिरूप परिणमनकी अपनेमें योग्यता रखते हुए भी बाह्य अनेक कारणोंके सहयोगके बिना गति और स्थितिरूप परिणमनको प्राप्त नहीं हो सकते हैं, इसलिये इनके सहायक कारणोंके रूपमें धर्म और अधर्म द्रव्योंका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

राजवार्तिकके इस उद्धरणसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि 'निमित्तोंका समागम उपादानकी कार्यरूपसे परिणत होनेकी तैयारी हो जानेपर हो ही जाता है'—ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता है, किन्तु यह तथा आगमके और दूसरे प्रमाण यही बात बतलाते हैं कि उपादानको जब निमित्तोंका सहयोग प्राप्त होगा तभी उपादानकी नित्य द्रव्यशक्ति विशिष्ट वस्तुकी जिस पर्यायशक्तिविशिष्टताको आप तैयारी शब्दसे ग्रहण करना चाहते हैं वह तैयारी होगी और तभी कार्य हो सकेगा।

आप कहते हैं कि उपादानसे कार्योत्पत्तिके अवसरपर निमित्त उपस्थित तो अवश्य रहते हैं परन्तु उनका सहयोग उपादानसे होनेवाली कार्योत्पत्तिमें बिलकुल नहीं होता है और इसीलिये आप कहते हैं कि 'उक्त अवसरपर रहनेवाली निमित्तोंकी नियमित उपस्थितिको असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षासे यों कहा जाता है कि 'जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है।'

इस कथनसे हम आपके अभिप्रायको यों समझे हैं कि आपकी दृष्टिमें असद्भूत व्यवहारनय वह कहलाता है जिसका प्रतिपाद्य अथवा ज्ञाप्य विषय या तो बिलकुल न हो और यदि हो तो वह असद्भूत अर्थात् असत्य हो।

परन्तु यह बात निश्चित ही जानना चाहिये कि ऐसा एक भी नय जैनागममें नहीं बतलाया गया है जिसका प्रतिपाद्य या ज्ञाप्य विषय या तो बिलकुल नहीं है और यदि है भी तो वह असद्भूत अर्थात् असत्य ही है, क्योंकि यदि किसी नयका कोई विषय ही निर्धारित नहीं है तो वह नय कैसा ? और यदि उसका कोई विषय निर्धारित है तो उसे अवस्तुभूत या असत्य कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि यदि अवस्तुभूत पदार्थको भी नयका विषय माना जायगा तो उस हालतमें आकाशके फूल तथा गधेके सींग भी नयका विषय होने लगेंगे। इसलिये असद्भूत व्यवहारनयके विषयको भी वास्तविक ही स्वीकार करना होगा। अतः विचारणीय बात यह है कि ऐसा कौन-सा वास्तविक पदार्थ है जो असद्भूतव्यवहारनयका विषय होता है।

यह बात पूर्वमें ही स्पष्ट की जा चुकी है कि प्रकृत प्रकरण कार्यकारणभावका है और चूंकि स्वपर-प्रत्यय परिणमनरूप कार्यमें दो तरहसे कार्यकारणभाव पाया जाता है—एक तो स्वप्रत्ययताको लेकर उपादानोपादेय-भावके आधारपर और दूसरा परप्रत्ययताको लेकर निमित्तनैमित्तिकभावके आधारपर। इस प्रकार स्वपर प्रत्ययपरिणमनरूप कार्य जहाँ उपादानोपादेयभावकी विवक्षासे उपादानभूत वस्तुके आश्रयसे उत्पन्न होनेके कारण उपादेय है वहाँपर वह निमित्तनैमित्तिकभावकी विवक्षासे निमित्तभूत वस्तुके सहयोगसे उत्पन्न होनेके कारण नैमित्तिक भी है। अतः स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप उस कार्यमें उपादानकी अपेक्षा उपादेयभाव तथा निमित्तकी अपेक्षा नैमित्तिकभाव ऐसे दो धर्म देखनेको मिल जाते हैं। इनमेंसे उपादेयभाव उसमें उपादानभूत वस्तुके आश्रित होनेके कारण जहाँ निश्चयरूप है वहाँ नैमित्तिकभाव उसमें निमित्तभूत-वस्तुके आश्रित न होनेके साथ-साथ उसकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण व्यवहाररूप है। इस प्रकार स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप कार्यमें निश्चय और व्यवहार दोनों धर्मोंका समावेश होनेके कारण वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कथंचित् अर्थात् अपने उक्त निश्चय स्वरूपकी अपेक्षा वचन तथा ज्ञानरूप निश्चयनयका विषय होता है और वही स्वपर-

प्रत्यय परिणमन कथंचित् अर्थात् अपने उक्त व्यवहारस्वरूपकी अपेक्षा वचन तथा ज्ञानरूप व्यवहारनयका विषय होता है।

यह बात भी हम पूर्वमें बतला चुके हैं कि निश्चयरूप अर्थ और व्यवहाररूप अर्थ ये दोनों ही पदार्थके अंश हैं यही कारण है कि ये दोनों अंश क्रमशः निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंके परस्पर सापेक्ष होकर ही विषय होते हैं अर्थात् जहाँ वस्तुके निश्चयरूप अर्थांशका प्रतिपादन वचनरूप निश्चयनय द्वारा किया जाता है वहाँपर वचनरूप व्यवहारनयद्वारा प्रतिपादित व्यवहाररूप अर्थांशका नियमसे आक्षेप होता है। इसी प्रकार जहाँ वस्तुके व्यवहाररूप अर्थांशका प्रतिपादन वचनरूप व्यवहारनयद्वारा किया जाता है वहाँपर वचनरूप निश्चयनयद्वारा प्रतिपादित निश्चयरूप अर्थांशका नियमसे आक्षेप होता है। यही प्रक्रिया ज्ञानरूप निश्चय और व्यवहार नयोंद्वारा ज्ञाप्य निश्चय और व्यवहाररूप अर्थांशोंका ज्ञान करनेके विषयमें भी लागू कर लेना चाहिये।

यदि एक अर्थांशके प्रतिपादन अथवा ज्ञानके साथ दूसरे अर्थांशका प्रतिपादन अथवा ज्ञान न हो तो ऐसी हालतमें सिर्फ एकका प्रतिपादक वचननय अथवा ज्ञापक ज्ञाननय दोनों ही गलत हो जावेंगे। यहाँपर स्पष्टीकरणके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि—वस्तुकी नित्यताका प्रतिपादन द्रव्यत्वरूपसे निश्चयनयात्मक वचनद्वारा तथा उसका ज्ञान भी द्रव्यत्वरूपसे निश्चय नयात्मक ज्ञानद्वारा यदि होता है तो इन्हें तभी सत्य माना जा सकता है जब कि पर्यायरूपसे उसकी अनित्यताका व्यवहारनयात्मक वचनद्वारा होनेवाला प्रतिपादन और व्यवहारनयात्मक ज्ञानद्वारा होनेवाला ज्ञान भी हमारे लक्ष्यमें हो। इसी प्रकार वस्तुकी अनित्यताका प्रतिपादन पर्यायरूपसे व्यवहारनयात्मक वचनद्वारा तथा उसका ज्ञान भी पर्यायरूपसे व्यवहारनयात्मक ज्ञानद्वारा यदि होता है तो इन्हें भी तभी सत्य माना जा सकता है जब कि द्रव्यत्वरूपसे उसकी नित्यताका निश्चयनयात्मक वचनद्वारा होनेवाला प्रतिपादन और निश्चयनयात्मक ज्ञानद्वारा होनेवाला ज्ञान भी हमारे लक्ष्यमें हो। ऐसा न होकर यदि अनित्यतासे निरपेक्ष केवल नित्यताका या नित्यतासे निरपेक्ष केवल अनित्यताका प्रतिपादन किसी वचनद्वारा हो रहा हो, इसी तरह अनित्यतासे निरपेक्ष केवल नित्यताका या नित्यतासे निरपेक्ष केवल अनित्यताका ज्ञान किसी ज्ञानद्वारा हो रहा हो तो इस प्रकारके वचन तथा ज्ञान दोनों ही नयात्मक नहीं रहेंगे, क्योंकि इनके विषयभूत नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों ही पदार्थके अंशके रूपमें नहीं किन्तु पूर्ण पदार्थके रूपमें ही वचनद्वारा प्रतिपादित होंगे और ज्ञानद्वारा ज्ञात होंगे। तब ऐसी हालतमें यदि उस नित्यतामें अभेदात्मकरूपसे अनित्यताका अथवा उस अनित्यतामें अभेदात्मकरूपसे ही नित्यताका अंश यदि समाया हुआ होगा तो उनके प्रतिपादक वचनों तथा उनके ज्ञापक ज्ञानोंको नयकोटिमें अन्तर्भूत न करके प्रमाणकोटिमें ही अन्तर्भूत करना होगा और यदि वस्तुमें नित्यताके द्वारा अनित्यताका अथवा अनित्यताके द्वारा नित्यताका सर्वथा लोप किया जा रहा होगा तो उस हालतमें उनके प्रतिपादक वचनों तथा ज्ञापक ज्ञानोंको प्रमाणाभासोंकी कोटिमें पटक देना होगा, क्योंकि पदार्थ न तो सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा अनित्य ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि जब वस्तु जैन-मान्यताके अनुसार कथंचित् अर्थात् निश्चय (द्रव्यत्व) रूपसे नित्य मानी गयी है तो इसका आशय यह भी है कि वह कथंचित् अर्थात् व्यवहार (पर्याय) रूपसे अनित्य भी है। इसी प्रकार जब वस्तु जैन-मान्यताके अनुसार कथंचित् अर्थात् व्यवहार (पर्याय) रूपसे अनित्य मानी गयी है तो इसका आशय यह भी है कि वह कथंचित् अर्थात् निश्चय (द्रव्यत्व) रूपसे नित्य भी है। इस प्रकार जैन मान्यताके अनुसार जब निश्चयनय वस्तुकी नित्यताको विषय करता है तो उसी समय

व्यवहारनयसे वस्तुकी अनित्यता भी गृहीत होना चाहिये तथा जब व्यवहारनय वस्तुकी अनित्यताको विषय करता है तो उसी समय निश्चयनयसे वस्तुकी नित्यता भी गृहीत होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता है तो सम्पूर्ण नयव्यवस्था ही गड़बड़ा जायगी।

प्रकृतमें इस विवेचनका उपयोग यह है कि यदि आप व्यवहारनयकी अपेक्षासे इस कथनको सही मान लेते हैं कि 'जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है' तो इसका आशय यही होता है कि आप निमित्तको कार्यके प्रति सहायक रूपसे वास्तविक कारण मानते हैं और जब आपकी दृष्टिमें भी निमित्तकारणकी वास्तविकता सिद्ध हो जाती हैं तो फिर आपका यह कथन गलत सिद्ध होता है कि 'जब-जब विवक्षित कार्यके योग्य पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति होती है तब-तब उस कार्यके अनुकूल निमित्त मिलते ही हैं।' फिर तो आपको यही स्वीकार करना होगा कि द्रव्यशक्ति विशिष्ट वस्तु अपनेमें निमित्तोंके सहयोगसे उत्पन्न पर्याय-शक्तिसे युक्त होती हुई आगेकी पर्यायशक्तिको निमित्तोंके सहयोगसे ही अपनेमें उत्पन्न करती है और जहाँपर पहुँचनेके बाद जिस विवक्षित पर्यायशक्ति उत्पत्तिके अनुकूल निमित्त नहीं मिल पाते हैं या विरोधी निमित्तोंका सहयोग मिल जाता है तो उस विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति वहाँपर न होकर जैसे निमित्तोंका योग मिलता है उसके अनुसार ही उस वस्तुकी पर्यायशक्तिका उस समय विकास होता है, क्योंकि वस्तुमें एक साथ अनेक पर्यायोंके विकासकी शक्तियाँ स्वाभाविकरूपसे विद्यमान रहा करती है जिनका विकास अपने-अपने अनुकूल निमित्त-कारणोंके आधारपर हुआ करता है।

इसलिये जिस प्रकार स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप कार्यमें उपादानोपादेयकी विवक्षासे उपादानभूत वस्तुके आश्रयसे उत्पन्न होनेके कारण अपने ढंगकी वास्तविकताको लिये हुए उपादेयतारूप धर्म विद्यमान रहता है उसी प्रकार निमित्तनैमित्तिकभावकी विवक्षासे निमित्तभूत वस्तुके सहयोगसे उत्पन्न होनेके कारण अपने ढंगकी वास्तविकताको लिये हुए नैमित्तिकतारूप धर्म भी विद्यमान रहता है।

यदि आप हमसे कहें कि स्वपरप्रत्ययरूप परिणमनमें पाया जानेवाला नैमित्तिकतारूप धर्म वास्तविक है तो फिर उसे असद्भूत व्यवहारनयका विषय नहीं कहना चाहिये, क्योंकि आगममें व्यवहारको भी जब सद्भूत और असद्भूत ऐसे दो भेदोंमें विभक्त किया गया है तो इसका फलितार्थ यही हो सकता है कि सद्भूत व्यवहारको भले ही वास्तविकताकी कोटिमें रख लिया जावे परन्तु असद्भूतव्यवहारको तो वास्तविकताकी कोटिमें रखना असंगत ही है। कारण कि 'असद्भूतव्यवहार' पदमें पठित 'असद्भूत' शब्द ही उसकी अवास्त-विकताको बतला रहा है।

इसके विषयमें हमारा कहना यह है कि स्वपरप्रत्यय परिणमनमें निमित्त कारणकी उपयोगिताको तो विस्तारसे सिद्ध किया जा चुका है अब केवल एक ही बात स्पष्ट करनेके लिये रह जाती है कि जब निमित्त-कारण वास्तविक है तो उसे असद्भूत व्यवहारकी कोटिमें क्यों रख दिया गया है?

इसका भी स्पष्टीकरण इस प्रकारसे करना चाहिये कि आगममें सत्ताको वस्तुका निज धर्म या स्वभाव अंगीकार किया गया है, इसलिये सद्भूत धर्म वही हो सकता है जो वस्तुका निज धर्म हो। इसके अनुसार कार्यकारणभावके प्रकरणमें वस्तुके परिणमनमें पाया जानेवाला उपादेयतारूप धर्म चूँकि वस्तुके अपने अन्दर ही उत्पन्न होता है अतः उसे तो सद्भूत ही कहना होगा और वस्तुके उसी परिणमनमें पाया जानेवाला नैमि-त्तिकतारूप धर्म वस्तुके अपने अन्दर उत्पन्न होकर भी सहायक अन्य वस्तुके सहारे पर ही वस्तुमें उत्पन्न होता है, अतः आगन्तुक होनेके कारण उसे असद्भूत कहना अयुक्त नहीं है।

एक बात और है कि यदि असद्भूत व्यवहारनयका विषय अवास्तविक अर्थात् कल्पनारोपित होकर अभावात्मक ही है तो फिर उसके (असद्भूत व्यवहारनयके) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय ऐसे दो भेद करना असंगत ही हो जायगा। कारण कि अभावात्मक वस्तुमें उपचरित और अनुपचरितका भेद होना असंभव ही है।

बृहद्द्रव्यसंग्रहमें असद्भूतव्यवहारनयके उक्त अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय और उपचरित असद्भूतव्यवहारनय दो भेद मानकर उनके अलग अलग उदाहरण देनेका आशय यही है कि बृहद्द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता की दृष्टिमें असद्भूतव्यवहारनयका विषय असद्भूत व्यवहार अभावात्मक वस्तु न होकर भावात्मक वस्तु ही है। दोनोंका अन्तर भी बिल्कुल स्पष्ट मालूम पड़ रहा है अर्थात् जीवमें पाया जानेवाला ज्ञानावरणादि आठ कर्मों तथा औदारिक आदि शरीरोंका कर्त्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है और उसमें (जीवमें) पाया जानेवाला घट-पटादि पदार्थोंका कर्त्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार है। इस भेदका कारण यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मों और औदारिक आदि शरीरोंका निर्माण जीव अपनेसे अपृथक् रूपमें ही किया करता है तथा घट-पटादिका निर्माण वह अपनेसे पृथक् रूपमें किया करता है।

यदि कहा जाय कि तत्त्वार्थसूत्रके सूत्र 'सद्द्रव्यलक्षणम्' (अ० ५ सू २९) के अनुसार सत्त्व वस्तुका निज स्वरूप होते हुए भी उसे तत्त्वार्थसूत्रके सूत्र' 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (अ० ५ सूत्र ३०) के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला स्वीकार किया गया है। इसका फलितार्थ यह है कि वस्तुमें परिणमन स्वभावसे ही हुआ करता है। उसमें निमित्तकारणके सहयोगकी आवश्यकताको स्वीकार करना अयुक्त ही है।

तो इस विषयमें हमारा कहना यह है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्रके अनुसार वस्तु परिणमनस्वभावाली है—यह तो ठीक है, परन्तु वह परिणमन स्वप्रत्ययके समान स्वपरप्रत्यय भी होता है इसका निषेध तो उक्त सूत्रसे होता नहीं है। यही कारण है कि वस्तुके स्वपरप्रत्यय परिणमनोंकी सत्ता आगममें स्वीकार की गयी है तथा जैन-तत्त्वमीमांसामें श्री पं० फूलचन्द्रजीने और प्रश्न नं० ११ में आपने भी वस्तुके स्वपरप्रत्यय परिणमनोंको स्वीकार किया है। अतः आपके द्वारा अपने प्रत्युत्तरमें यह लिखा जाना कि—

'जब प्रत्येक द्रव्य सद्रूप है और उसको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है तो ऐसी अवस्थामें उसके उत्पाद-व्ययको अन्य द्रव्यके कर्त्तृत्व पर छोड़ दिया जाय और यह मान लिया जाय कि अन्य द्रव्य जब चाहें उसमें किसी भी कार्यको उत्पन्न कर सकता है तो यह उसके स्वतंत्र सत् स्वभावपर आघात ही है।'—असंगत ही है। आपको परिणमनकी स्वपरप्रत्ययता भले ही विडम्बना प्रतीत होती हो, परन्तु यह व्यवस्था आगमके साथ-साथ प्रत्यक्षके और तर्कके भी प्रतिकूल नहीं है। यह बात पूर्वमें विस्तारपूर्वक सिद्ध की जा चुकी है।

आचार्योंने जो प्रत्येक कार्यमें अपने उपादानके साथ अन्तर्व्याप्ति और निमित्तोंके साथ बहिर्व्याप्ति स्वीकार की है उसका आशय यही है कि उपादान चूँकि कार्यरूप परिणत होता है, अतः उसके साथ कार्यकी अभिन्नता होनेके कारण वहाँ अन्तरंग व्याप्ति बतलायी गयी है और निमित्त चूँकि कार्यरूप परिणत नहीं होता, वह तो केवल कार्योत्पत्तिमें सहयोगी होता है इसलिये उसके साथ कार्यकी पृथक्ता बनी रहनेके कारण वहाँ बहिर्व्याप्ति स्वीकार की गयी है। पूर्वमें हम बतला भी चुके हैं कि उपादानकी कार्यके साथ एकद्रव्य-

प्रत्यासत्तिरूप कारणता पायी जाती है, इसलिये वहाँ अन्तर्व्याप्ति आगममें स्वीकार की गयी है और निमित्तकी कार्यके साथ कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता पायी जाती है इसलिये वहाँ वहिर्व्याप्ति आगममें स्वीकार की गयी है। अन्तर्व्याप्ति उपादानकी कार्यके साथ तन्मयताकी सूचना देती हैं, लेकिन बहिर्व्याप्ति निमित्तकी कार्यके साथ यद्यपि तन्मयताका निषेध करती है तो भी अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर उसके संयोगको कार्योत्पत्तिके लिये जब आवश्यक बतलाया गया है तो यही एक कारण है कि आचार्योंको निमित्तकी कार्यके साथ बहिर्व्याप्ति स्वीकार करनी पड़ी है। आप यही भी सोचिये कि उपादानकी महत्ता कार्यके प्रति तबतक रहा करती है जबतक कार्य विद्यमान रहता है, लेकिन निमित्तकी महत्ता तभीतक रहा करती है जबतक कार्य उत्पन्न नहीं हो जाता। कार्यके उत्पन्न हो जानेपर फिर निमित्तकी कुछ महत्ता नहीं रह जाती है। यही कारण है कि लोकमें उपादानका महत्त्व इस दृष्टिसे आँका जाता है कि कार्य कहाँतक स्थायी रह सकता हैं। लेकिन निमित्तका महत्त्व तबतक लोकमें आँका जाता है जबतक कार्य सुन्दरताके साथ उत्पन्न नहीं हो जाता। इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'अन्तर्व्याप्तिके आधारपर कार्यका उपादान ही केवल वास्तविक कारण है, बहिर्व्याप्तिके आधारपर कार्यका निमित्त वास्तविक कारण नहीं है—ऐसी मान्यता भ्रमपूर्ण ही है।'

आगे आपने लिखा है कि 'द्रव्य अन्वयी होनेके कारण जैसा नित्य है उसी प्रकार व्यतिरेकी स्वभाववाला होनेसे प्रत्येक समयमें वह उत्पाद-व्ययस्वभाववाला भी है, अतएव प्रत्येक समयमें वह कार्यका उपादान भी है और कार्य भी है। पिछली पर्यायकी अपेक्षा जहाँ वह कार्य है अगली पर्यायके लिये वहाँ वह उपादान भी है।'

सो ऐसा माननेमें हमारा कोई विरोध नहीं, हम भी ऐसा ही मानते हैं और वस्तुके स्वप्रत्यय परिणमनोंमें तो यही प्रक्रिया चालू रहती है, परन्तु वस्तुके जिन परिणमनोंमें जब विलक्षणताकी उद्भूति हो जाती है तब उन परिणमनोंमें उस विलक्षणताके आधार पर परिणमनोंका स्वतंत्र क्रम ही चालू हो जाता है। ऐसी वह विलक्षणता उनमें स्वतः नहीं होती है, वह तो तदनुकूल निमित्तोंके सहारे पर ही हुआ करती है। जैसे खानमें पड़ी हुई मिट्टीका प्रतिक्षण परिणमन हो रहा है और फिर वही मिट्टी कुम्हारके घर पर कुम्हारके तदनुकूल प्रयत्न करने पर आ जाती है तो यह जो क्षेत्र परिवर्तन इस मिट्टीका हुआ वह क्या खानमें पड़ी हुई उस मिट्टीकी क्षणिक पर्यायोंके क्रमसे हुआ? तथा उस मिट्टीका आगे चलकर कुम्हारके प्रयत्नसे ही जो पिण्ड बन गया और इसके भी आगे कुम्हारके ही प्रयत्नसे उस मिट्टीकी स्थास, कोश और कुशूलके क्रमसे घटपर्याय बनी अथवा कुम्हारने अपनी इच्छासे उसकी घटपर्याय न बनाकर सकोरा आदि दूसरी नाना प्रकारकी पर्यायें बना दीं और या किसीने आकर अपने दण्ड प्रहारसे विवक्षित पर्यायको नष्टकर दूसरी पर्यायमें उस मिट्टीको पहुँचा दिया तो ये सब विलक्षण विलक्षण पर्यायें क्या मिट्टीकी क्षणिक क्रमिक पर्यायोंके आधार पर ही बन गयीं अथवा उस पर्यायके अनुकूल निमित्तोंकी सहायतासे ही ये पर्यायें उत्पन्न हुईं। इन सब बातों पर पूर्वमें विस्तारसे प्रकाश डालकर हम प्रत्यक्ष, तर्क और आगमप्रमाणोंके आधार पर विस्तारपूर्वक यह भी बतला आये हैं कि मिट्टीमें विद्यमान घटरूप परिणमनकी योग्यताके आधार पर होते हुए भी यह सब करामात निमित्तोंकी है, इसलिये आपका यह लिखना ही कि—'संतानक्रमकी अपेक्षा प्रत्येक समयमें उसे (वस्तुको) उभयरूप (कार्य और कारणरूप) होनेके कारण निमित्त भी प्रत्येक समयमें उसी क्रमसे मिलते रहते हैं' केवल सम्यक् मान्यता नहीं है। इसे सम्यक् मान्यता तो तब कहा जा सकता है जब कि जो निमित्त मिलते हैं उन्हें, जैसा कि आपने स्वयं स्वीकार कर लिया है, चाहे वे पुरुषके योग और

रागभावसे प्राप्त हों अथवा चाहे विस्रसा प्राप्त हों, कार्योत्पत्तिमें उपयोगी स्वीकार कर लिया जावे, क्योंकि यदि कार्योत्पत्तिमें उनके उपयोगको स्वीकार नहीं किया जाता तो आपकी इस मान्यताका भी फिर कोई अर्थ नहीं रह जाता कि 'उस समयमें नियत उपादानके अनुसार होनेवाले नियत कार्योंके नियत निमित्त मिलते अवश्य हैं।' क्योंकि क्यों मिलते हैं? किस लिये मिलते हैं? या पुरुष उनके मिलानेका क्यों प्रयत्न करता है? इत्यादि समस्याएँ तो आपके सामने आपकी इस मान्यताको—कि उपादानसे ही कार्य उत्पन्न हो जाता है निमित्त तो वहाँ पर अकिंचित्कर ही बना रहता है—खण्डित करनेके लिये तैयार खड़ी हैं।

आगे आप फिर लिखते हैं कि 'विविध लौकिक उदाहरणोंको उपस्थित कर जो अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार कार्य-कारणपरंपराको बिठानेका प्रयत्न किया जाता है वह युक्तियुक्त नहीं है और न आगम-संगत है।'

इसके विषयमें हमारा कहना है कि उदाहरण लौकिक हों चाहें आगमिक हों, उनके विषयमें देखना तो यह है कि वे उदाहरण, अनुभव, तर्क तथा आगमप्रमाणोंके विरुद्ध तो नहीं है? यदि वे उदाहरण आपकी दृष्टिसे अनुभव, तर्क तथा आगम प्रमाणोंके विरुद्ध हैं तो उनकी इस प्रमाण विरुद्धताको दिखलाना आपका कर्त्तव्य था जब कि हम अनुभव, तर्क और आगमप्रमाणोंसे उन उदाहरणोंकी संगति पूर्वमें बतला चुके हैं।

आपने चित्तवृत्तिके अनुसार कार्यकारणपरंपराको बिठानेमें असंगति बतलानेके लिये भी आचार्य अमृतचन्द्रके समयसारकलशका 'आसंसारत एव धावति'—इत्यादि ५५ वां पद्य प्रमाण रूपसे उपस्थित किया है।

इसके विषयमें भी हमारा कहना यह है कि इससे निमित्तोंके साथ कार्यके वास्तविक कार्यकारणभाव-का निषेध नहीं होता है और न इस तरहके कार्यकारणभावके निषेध करनेकी आचार्य महाराजकी दृष्टि ही है। इस पद्यसे तो वे केवल इस बातका ही निषेध करना चाहते हैं कि लोकमें अधिकांश ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि प्राणी मोहकर्मके उदयके वशीभूत होकर अपने निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें अपने अन्दर अहंकार-का विकल्प पैदा करता रहता है जो मोहभाव होनेके कारण बन्धका कारण है, अतएव त्याज्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें अपनी निमित्तताका भान होना असत्य है। यदि अपने निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें अपनी निमित्तताका ज्ञान भी असत्य हो जाय तो फिर मनुष्य किसी कार्यके करनेमें प्रवृत्त भी कैसे होगा? कुम्हारको यदि समझमें आ जाय कि घड़ेका निर्माण खानमें पड़ी हुई मिट्टीसे अपनी क्रमवर्ती क्षणिक पर्यायोंके आधार पर स्वतः समय आने पर हो जायगा तो फिर उसमें तदनुकूल पुरुषार्थ करनेकी भावना ही जाग्रत क्यों होगी? इसी प्रकार एक शिक्षकको यदि यह समझमें आ जावे कि छात्र अपनी क्रमवर्ती क्षणिक पर्यायोंके आधार पर स्वतः ही समय आने पर पढ़ लेगा तो फिर उसे तदनुकूल पुरुषार्थ करनेकी भावना क्यों जाग्रत होगी? इस सब कथनका रहस्य यह है कि निमित्तोंके सहारे पर कार्य निष्पन्न होता है वह सिद्धान्त ठीक है, इसका जिसे ज्ञान होता है वह भी ठीक है और इस ज्ञानके अनुसार जो कार्योत्पत्तिके लिये तदनुकूल पुरुषार्थ करता है वह भी ठीक है। परन्तु कार्योत्पत्तिके लिये उपयोगी अपनी निमित्तताके आधार पर यदि कोई मनुष्य उक्त विषयमें अहंकारी बन जाता है तो आचार्य अमृतचन्द्रने उक्त कलश पद्य द्वारा यह दर्शाया है कि ऐसा अहंकार करना बुरा है और वह कर्मबन्धका कारण है। विवेकी सम्यग्दृष्टि पुरुष कार्यके प्रति अपना-निमित्तरूप वास्तविक ज्ञान और व्यापार करते हुए

भी वे कभी अहंकारी नहीं बनते हैं। किन्तु दूसरोंद्वारा किये गये उपकारके प्रति हमेशा कृतज्ञ ही रहा करते हैं। आचार्य विद्यानन्दीने अपने ग्रन्थ आप्तपरीक्षाके आदिमें मंगलाचरण करते हुए यही लिखा है कि 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति' अर्थात् साधु (सम्यग्दृष्टि) पुरुष अन्य द्वारा कृत उपकारको कभी नहीं भूलते हैं। इसे पंचास्तिकाय (रायचन्द्रग्रन्थमाला पृष्ठ ५ पर) श्रीजयसेनाचार्यने भी उद्धृत किया है।

आगे आप लिखते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें और भट्टाकलंकदेव तथा आचार्य विद्यानन्दीने अष्टशती और अष्टसहस्रीमें 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादि कथन उक्त (कार्य केवल उपादान कारणसे ही निष्पन्न हो जाया करता है निमित्त तो वहाँ केवल अपनी हाजिरी दिया करते हैं) तथ्यको ध्यानमें रखकर ही किया है, क्योंकि उक्त आचार्योंने 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' इत्यादि कथन उक्त कार्य-कारणपरंपराको ध्यानमें रखकर ही किया है।

आपके इस लेखमें आपके द्वारा यह माना जाना कि 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' यह कथन उक्त आचार्योंका है सो तो ठीक है, क्योंकि उपादान ही उत्तर पर्यायरूप परिणत होता है। परन्तु वह उत्तर पर्याय निमित्तसापेक्ष उत्पन्न नहीं होती है, ऐसा निर्णय तो उक्त वाक्यसे नहीं किया जा सकता है। और जब 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादि कारिकाकी टीका अष्टसहस्रीमें भी श्री स्वामी विद्यानन्दीने निमित्तोंकी उपयोगिताको स्पष्टरूपसे स्वीकार किया है तो 'कार्य केवल उपादानके बल पर ही उत्पन्न हो जाता है' इसकी सिद्धिके लिये 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादि इस कारिकाका और इसकी टीका अष्टशती तथा अष्टसहस्रीका प्रमाणरूपसे आपके द्वारा उपस्थित किया जाना गलत ही है। अष्टसहस्रीका वह कथन निम्न प्रकार है—

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः (अष्टशती)। न हि दोष एव आवरणमिति प्रतिपादने कारिकायां दोषावरणयोरिति द्विवचनमसमर्थम्। ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात् पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभावस्त्वाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते। तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च। स्वपरिणाम-हेतुकः स्वाज्ञानादिरित्ययुक्तं, तस्य कादाचित्कत्वविरोधाज्जीवत्वादिवत्। परपरिणामहेतुक एवेत्यपि न व्यवतिष्ठते, मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसंगात्। सर्वस्य कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च। तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणाम-हेतुकः, कार्यत्वात् माषपाकवत्।

अर्थ—आचार्य समन्तभद्रने कारिकामें 'दोषावरणयोः' ऐसा द्विवचन पदका प्रयोग किया है, इसलिये आवरणरूप पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंसे भिन्न ही अज्ञानादि दोषोंको जानना चाहिए। उन अज्ञानादि दोषोंकी उत्पत्तिका हेतु आवरण कर्म तथा जीवके अपने पूर्व परिणामको जानना चाहिये। अज्ञानादि दोष केवल जीवके स्वपरिणामनिमित्तक ही हैं—ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरहसे तो उन अज्ञानादि दोषोंमें जीवत्वस्वभावकी तरह अनादिनिधनताकी प्रसक्ति हो जायगी। इसलिये यदि परपरिणाम निमित्तक ही अज्ञानादि दोषोंको माना जाय, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरहसे मुक्त आत्माओंमें भी अज्ञानादि दोषोंकी आपत्तिका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति उपादान और सहकारी कारण सामग्रीसे ही देखी जाती है तथा प्रतीति भी ऐसी ही होती है, इसलिये जीवमें जो अज्ञानादि दोष उत्पन्न होते हैं वे स्व अर्थात् उपादान और पर अर्थात् सहकारी दोनों कारणोंके बल पर ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे कार्य हैं जिस तरहकी कार्य होनेकी वजहसे उड़दका पाक उपादान और निमित्त उभय कारणोंके बलपर होता हुआ देखा जाता है।

उड़दका दृष्टान्त ऊपर भी राजवार्तिकके एक उद्धरणमें दिया गया है।

भगवान् कुन्दकुन्दने जीवपरिणामहेदु'' इत्यादि कथन द्वारा उपादान और निमित्त इस प्रकार दोनों कारणोंके बलसे कार्योत्पत्तिको स्वीकार किया है, अतः उनके उस कथनसे आपके पक्षकी पुष्टि होना असंभव ही है। 'असंख्यातप्रदेशी जीवको जब जैसा शरीर मिलता है तब उसे उस रूप परिणमना पड़ता है'· आगमके इस कथनको स्वीकार करते हुए आपने आगे जो यह लिखा है कि 'यहाँ भी उपादान और निमित्तों-की उक्त प्रकारसे कार्यकारणपरंपराको स्वीकार कर लेने पर ही सम्यक् व्यवस्था बनती है।' इस कथनके समर्थनमें जो हेतुरूप कथन आपने अपने उत्तरमें किया है कि 'क्योंकि उपादानरूप जीवमें स्वयं परिणमनकी योग्यता है, अतः वह शरीरको निमित्तकर स्वयं संकोच-विस्ताररूप परिणमता है।' इसमें जीवके संकोच-विस्तार रूप परिणमनको उसकी अपनी तदनुकूल योग्यताके आधार पर स्वीकार करके भी उसमें आप यदि अन्वय तथा व्यतिरकके आधार पर शरीरकी सहकारिताको भी स्वीकार कर लेते है तो हमारे तथा आपके मध्य कार्य-कारणभावको लेकर कोई विवाद ही नहीं रह जाता है, परन्तु दुःख इस बातका है कि आगे अन्तमें आपने 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि पद्यका उल्लेख करके अपनी गलत मान्यताको ही पुष्ट करनेका प्रयत्न किया है। और जब आप इस पद्यको भट्टाकलंकदेवसे समर्थित कहते हैं तो हमारे आश्चर्यका फिर कोई ठिकाना ही नहीं रह जाता है। इन्हीं बातोंको हम आगे स्पष्ट कर रहे है। वह पद्य पूरा निम्न प्रकार है :—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

आपने इसका जो अर्थ किया है वह निम्न प्रकार है:—

जैसी होनहार होती है उसके अनुसार बुद्धि हो जाती है, पुरुषार्थ भी वैसा होने लगता है और सहा-यक कारण (निमित्तकारण) भी वैसे मिल जाते हैं।

स्वामी समन्तभद्रने जो आप्तमीमांसा लिखी है उसमें उन्होने तत्त्वव्यवस्थाको अनेकान्त और स्याद्-वादको दृष्टिमें रखकर ही स्थापित किया है। इस आप्त-मीमांसाके अष्टम परिच्छेदमे स्वामी समन्तभद्रने ८८ ८९, ९०, और ९१ वीं कारिकाओं द्वारा दैव और पुरुपार्थ दोनोंसे मिलकर अर्थसिद्धि हुआ करती है इस सिद्धान्तका विवेचन किया है।

प्रथम कारिकामें उन्होंने केवल दैवमात्रसे अर्थसिद्धि माननेवालोंके विपयमें जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि पुरुपार्थके बिना केवल दैवमात्रसे यदि अर्थसिद्धि स्वीकार की जाय तो दैवकी उत्पत्तिमें जो पुण्य और पापरूप आचरण (पुरुपार्थ) को कारण माना जाता है उसकी संगति किस प्रकार होगी ? यदि कहा जाय कि दैवकी उत्पत्ति उससे पूर्ववर्ती दैवसे मान लेनेपर पुरुपार्थसे दैवकी उत्पत्तिकी असंगतिका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा तो इस तरह दैवसे दैवान्तरकी उत्पत्ति परंपरा चालू रहनेके कारण मोक्षके अभावका ही प्रसंग उपस्थित हो जायगा तथा पुण्यरूप, पापरूप और धर्मरूप जीवका पुरुपार्थ निरर्थक ही हो जायगा।

द्वितीय कारिकामें उन्होंने केवल पुरुपार्थमात्रसे अर्थसिद्धि माननेवालोंके विपयमे जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि दैवके बिना केवल पुरुपार्थमात्रसे यदि अर्थसिद्धि स्वीकार की जाय तो पुरुपार्थकी उत्पत्तिमें जो दैवको कारण माना जाता है उसकी संगति किस प्रकार होगी ? यदि कहा जाय कि पुरुपार्थकी उत्पत्तिको भी पुरुपार्थसे मान लेनेपर दैवसे पुरुपार्थकी उत्पत्तिकी असंगतिका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा तो इस तरहसे फिर सभी प्राणियोंमें पुरुपार्थकी समान सार्थकताका प्रसंग उपस्थित हो जायगा जो कि अयुक्त होगा। कारण कि अनेक प्राणियों द्वारा समान पुरुपार्थ करने पर भी जो फल वैपम्य देखा जाता है वह दैवको अर्थसिद्धिमें कारण माने बिना संगत नहीं हो सकता है।

तृतीय कारिकामें उन्होंने दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे ही पृथक् पृथक् अर्थसिद्धि माननेवालोंके विषयमें जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि किसी अर्थसिद्धिमें दैवको और किसी अर्थसिद्धिमें पुरुषार्थको कारण माननेको संगति स्याद्वाद सिद्धान्तको स्वीकार किये विना संभव नहीं हो सकती है, अतः जो लोग स्याद्वाद सिद्धान्तके विरोधी हैं उनके मतसे किसी अर्थसिद्धिमें दैवको और किसी अर्थसिद्धिमें पुरुषार्थको कारण माना जाना संगत नहीं हो सकता है।

इसी तृतीय कारिकामें आगे उन्होंने दैव और पुरुषार्थ दोनों ही में युगपत् अर्थसिद्धिकी साधनता रहने के कारण अवक्तव्यताके ऐकान्तिक सिद्धान्त स्वीकार करनेवालोंके विषयमें जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि अवक्तव्यताके इस सिद्धान्तको अवक्तव्य शब्दसे प्रतिपादन करने पर स्ववचनविरोधरूप दोषका प्रसंग उपस्थित होता है।

इसके वाद अन्तमें चतुर्थ कारिका द्वारा उन्होंने दैव और पुरुषार्थ दोनोंकी पृथक् पृथक् रूपसे वक्तव्यता और अपृथक्रूपसे अवक्तव्यताके आधार पर सप्तभंगीका प्रदर्शन करते हुए जैन संस्कृति द्वारा मान्य परस्परसापेक्ष दैव और पुरुषार्थ उभयमें अर्थसिद्धिकी समान वलवाली साधनताका निष्ठापन किया है।

अष्टसहस्रीमें आप्तमीमांसाकी ८८ वीं कारिकाकी व्याख्या करते हुए अन्तमें आचार्य विद्यानन्दीने मोक्षकी सिद्धिको भी दैव और पुरुषार्थ दोनोंके सहयोगसे ही प्रतिपादित किया है। वह कथन निम्न प्रकार है:—

मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्'

अर्थ·······परम पुण्यका अतिशय तथा चारित्र विशेषरूप पुरुषार्थ दोनोंके सहयोगसे मुक्तिकी भी प्राप्ति हुआ करती है।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्रद्वारा प्रस्थापित तथा श्रीमद् भट्टाकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दी द्वारा दृढ़ताके साथ समर्थित जैन संस्कृतिमें मान्य अर्थसिद्धिकी उक्त दैव और पुरुषार्थ उभयनिष्ठ साधनताके प्रकाशमें श्रीमद् भट्टाकलंकदेवने आप्तमीमांसाकी कारिका ८९ की टीका करते हुए अष्टशतीमें 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि उल्लिखित पद्य उद्धृत किया है और भट्टाकलंकदेवके अभिप्रायको न समझकर उन्हीं का वल पाकर श्री पं० फूलचन्द्रजीने अपनी जैन-तत्त्वमीमांसा पुस्तकमें तथा आपने अपने प्रत्युत्तरमें कार्यकी सिद्धि केवल समर्थ उपादानसे ही हो जाया करती है, निमित्त वहाँ पर अकिंचित्कर ही रहा करते हैं इस सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये उक्त पद्य उद्धृत किया है।

इस पदको लेकर हमें यहाँ पर इन वातोंका विचार करना है कि यह पद्य जैन संस्कृतिकी मान्यताके विरुद्ध क्यों है और यदि विरुद्ध है तो फिर श्रीमदकलंकदेवने इसका उद्धरण अपने ग्रन्थ अष्टशतीमें किस आशयसे दिया है तथा जैन संस्कृतिमें मान्य कारण-व्यवस्थाके साथ उसका मेल वैठता है तो किस तरह वैठता है? इतना ही नहीं, इसके साथ हमें इस वातका भी विचार-करना है कि इसकी सहायतासे श्री पं० फूलचन्द्रजी और आप कारण व्यवस्था सम्वन्धी अपने पक्षकी पुष्टि करनेमें कहां तक सफल हो सके हैं।

यह तो निश्चित है कि 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि रूपमें ग्रथित उक्त पद्य आपके द्वारा प्रतिपादित उल्लिखित अर्थके आधार पर प्राणियोंकी अर्थसिद्धिके विषयमें जैन संस्कृतिद्वारा मान्य दैव और पुरुषार्थकी सम्मिलित कारणताका प्रतिरोध ही करता है। कारण कि उक्त पद्यके उक्त अर्थसे यही ध्वनित होता है कि प्राणियोंकी अर्थसिद्धि केवल भवितव्यताके अधीन है और यदि उस अर्थसिद्धिमें प्राणियोंकी वुद्धि, व्यवसाय

एवं अन्य सहायक कारणोंकी अपेक्षा होती भी हो तो वे बुद्धि, व्यवसाय आदि सभी कारण भी उक्त पद्यके उक्त अर्थके अनुसार भवितव्यताकी अधीनतामें ही प्राप्त हुआ करते हैं।

चूंकि उक्त व्यवस्था जैन संस्कृतिमें मान्य नहीं है, किन्तु जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार प्राणियोंके प्रत्येक अर्थकी सिद्धिमें दैव और पुरुषार्थ दोनों ही परस्परके सहयोगी बन कर समानरूपसे कारण हुआ करते हैं, अतः उक्त पद्यकी जैन संस्कृतिकी मान्यताके साथ विरोधकी स्थिति निर्विवाद हो जाती है। इससे यह बात भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जैन संस्कृतिकी मान्यताके विरुद्ध होनेके कारण इस पद्यको आपके द्वारा अपने पक्षकी पुष्टिमें प्रमाणरूपसे उपस्थित किया जाना अनुचित ही है।

श्रीमदकलंकदेवने उक्त पद्यका उद्धरण जो आप्तमीमांसाकी ८९ वीं कारिकाकी अष्टशतीमें दिया है उसमें उनका आशय इससे साक्षाद् अपने पक्षकी पुष्टिका न होकर केवल पुरुषार्थसे अर्थसिद्धि माननेवाले दर्शनके खण्डन करनेमात्रका ही है। यही कारण है कि उक्त पद्यको उन्होंने जैन संस्कृतिका अंश न मानकर केवल लोकोक्तिके रूपमें ही स्वीकार किया है। यह बात उनके (श्रीमदकलंकदेवके) द्वारा उक्त पद्यके पाठके अनन्तर पठित 'इति प्रसिद्धेः' वाक्यांश द्वारा ज्ञात हो जाती है!

तात्पर्य यह है कि श्रीमदकलंकदेव उन लोगोंसे जो दैवकी उपेक्षा करके केवल पौरुषमात्रसे प्राणियों-की अर्थसिद्धि मानते हैं—यह कहना चाहते हैं कि एक ओर तो तुम दैवके बिना केवल पुरुषार्थसे ही अर्थकी सिद्धि मान लेते हो और दूसरी ओर यह भी कहते हो कि अर्थसिद्धिमें कारणभूत बुद्धि व्यवसायादिकी उत्पत्ति या संप्राप्ति भवितव्यतासे ही हुआ करती है।

इस प्रकार बुद्धि-व्यवसायादिकी उत्पत्ति अथवा संप्राप्तिमें दैवकी कारणता प्राप्त हो जानेसे परस्पर विरोधी मान्यताओंको प्रश्रय प्राप्त हो जानेके कारण केवल पुरुषार्थसे ही अर्थसिद्धि हो जाती है यह मान्यता खण्डित हो जाती है।

एक बात और है कि उक्त पद्यका जो अर्थ आपने किया है वह स्वयं ही एक तरहसे आपकी इस मान्यताका विरोधी है कि 'कार्य केवल भवितव्यता (समर्थ उपादान) से ही निष्पन्न हो जाया करते हैं, निमित्त उसमें अकिंचित्कर हो रहा करते है।' क्योंकि उक्त पद्यार्थ हमें इस बातका संकेत देता है कि कोई भी कार्य भवितव्यता (उपादान शक्ति)के साथ साथ बुद्धि, व्यवसाय आदि कारणोंका सहयोग प्राप्त हो जानेपर ही निष्पन्न होता है। केवल इतनी विशेषता उससे अवश्य प्रगट होती है कि बुद्धि, व्यवसाय आदि सभी दूसरे कारण भवितव्यके अनुसार ही प्राप्त हुआ करते है। लेकिन इस तरहसे उसे बुद्धि, व्यवसाय आदिमें कारणता-का निषेधक नहीं कहा जा सकता है।

यदि कहा जाय कि उक्त पद्य जब उक्त प्रकारसे भवितव्यताके साथ साथ बुद्धि व्यवसाय आदिको भी कार्यके प्रति कारण बतला रहा है तो फिर उसे जैन संस्कृतिमें मान्य कारण व्यवस्थाका विरोधी कहना ही गलत है। तो इस विषयमें हमारा कहना यह है कि पद्यमें कार्यके प्रति भवितव्यताके साथ साथ कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदिका उल्लेख किया गया है, उनकी उत्पत्ति अथवा संप्राप्तिको उसी भवितव्यताकी दया पर छोड़ दिया गया है जो इस कार्यकी जननी है। बस, यही उसमें असंगति है और इस लिये वह जैन संस्कृतिकी मान्यताके विरुद्ध है, क्योंकि जिस भवितव्यतासे कार्यकी उत्पत्ति होती है उसी भवितव्यतासे उस कार्यमें कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदिकी उत्पत्ति अथवा संप्राप्तिको जैन संस्कृतिमें मान्य नहीं कहा गया है। कारण कि कार्यकी उत्पत्ति जिस भवितव्यतासे होती है उसी भवितव्यतासे कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदिकी

उत्पत्ति अथवा संप्राप्तिकी स्वीकृतिका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है अर्थात् जब वह भवितव्यता ही कार्योत्पत्तिके साथ साथ उसमें कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदिको भी जुटा देती है तो फिर अकेली भवितव्यता ही कार्यको उत्पन्न कर सकती है, अतः उसकी उत्पत्तिके लिये बुद्धि, व्यवसाय आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहना चाहिए।

यदि आप कहें कि इसीलिये ही कार्यकी उत्पत्ति आपके मतमें केवल उपादानसे स्वीकार की गयी है। तो इसपर हमारा कहना यह है कि उक्त पद्य भी जब भवितव्यताके साथ बुद्धि, व्यवसाय आदिकी उपयोगिताको कार्यसिद्धिमें स्वीकार कर रहा है तो इस पद्यको कार्य-कारणभावकी आपके लिये मान्य व्यवस्थाका समर्थक कैसे कहा जा सकता है ?

श्री पं० फूलचन्द्रजीने तो जैन तत्त्वमीमांसाके उपादान-निमित्तमीमांसा प्रकरणमें पृष्ठ ६७ पर पंडितप्रवर टोडरमलजीके मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार ३ पृष्ठ ८१ का उद्धरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि पद्यमें प्रतिपादित कारणव्यवस्थाको जैन संस्कृतिमें भी इसी ढंगसे स्वीकार किया गया है, क्योंकि पं० प्रवर टोडरमलजीने भी अपने कथनमें कार्यके प्रति कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदिको भवितव्यताकी अधीनता पर ही छोड़ दिया है। उनका वह कथन निम्न प्रकार है:—

जो इनकी सिद्धि होय तो कषाय उपशमनतें दुःख दूर होइ जाइ सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनके किये उपायनके आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातें अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नहीं, भवितव्यके आधीन है। जातें अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिये है। बहुरि काकतालीयन्याय करि भवितव्य ऐसी ही होय जैसा आपका प्रयोजन होइ तैसा ही उपाय होइ अर तातैं कार्यकी सिद्धि भी होइ जाइ तो तिस कार्य सम्बन्धी कोई कषायका उपशम होइ।

पं० फूलचन्द्रजीने पंडितप्रवर टोडरमलजीके इस कथनके विषयमें अपना मंतव्य भी वहीं पर लिख दिया है कि 'यह पं० प्रवर टोडरमलजीका कथन है—मालूम पड़ता है कि उन्होंने (पं० प्रवर टोडरमलजीने) 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि इस श्लोकको ध्यानमें रखकर ही यह कथन किया है, इसलिये इसे उक्त अर्थके समर्थनमें ही जानना चाहिये।'

इस विषयमें हमारा कहना यह है कि पं० फूलचन्द्रजी पं० प्रवर टोडरमलजीके उल्लिखित कथनसे जो उक्त अर्थ फलित कर रहे हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि हम बतला आये हैं कि जैन संस्कृतिमें केवल भवितव्यसे कार्य-सिद्धि न मानकर भवितव्य और पुरुषार्थ दोनोंके परस्पर सहयोगसे ही कार्यसिद्धि मानी गयी है। इसलिये जैन संस्कृतिके इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर ही पं० प्रवर टोडरमलजीके कथनका आशय निकालना चाहिये।

पुनश्च इसी मोक्षमार्गप्रकाशकमें पं० टोडरमलजीने भवितव्यता और पुरुषार्थका दूसरे ढंगसे निम्न प्रलार कथन किया है—

'काललब्धि या होनहार तो किछु वस्तु नाहीं। जिस काल विषें कार्य बने सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोइ होनहार। बहुरि जो कर्मका उपशमादिक है सो पुद्गलकी शक्ति है। ताका आत्मा कर्ता-हर्ता नाहीं। बहुरि पुरुषार्थ उद्यम करिए है सो यहु आत्मका कार्य है। तातै आत्माको पुरुषार्थ करि उद्यम करनेका उपदेश दीजिए है। तहाँ यह आत्मा जिस कारणते कार्यसिद्धि अवश्य होय, तिस

कारणरूप उद्यम करै, तहाँ तो अन्य कारण मिलें ही मिलें, अर कार्यकी सिद्धि ही होय। बहुरि जिस कारण से कार्यसिद्धि होय अथवा नाहीं भी होय, तिस कारणरूप उद्यम करे, तहाँ अन्य कारण मिले तो कार्य सिद्ध होय, न मिले तो सिद्ध न होय। सो जिनमत विषें जो मोक्षका उपाय कहा है, सो इसते मोक्ष होय ही होय। तातें जो जीव पुरुषार्थ करि जिनेश्वरके उपदेश अनुसार मोक्षका उपाय करे है ताके काललब्धि वा होनहार भी भया और कर्मका उपशमादि भया है, तो यहु ऐसा उपाय करे है तातै जो पुरुषार्थ करि मोक्षका उपाय करे है ताके सर्व कारण मिले ऐसा निश्चय करना अर वाके अवश्य मोक्षकी प्राप्ति हो है।

श्री पं० फूलचन्द्रजीने मोक्षमार्गप्रकाशकके जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनका अर्थ उपरोक्त वाक्योंको ध्यानमें रखकर करना चाहिये।

यह भी बात है कि पं० प्रवर टोडरमलजीके उक्त कथनसे यह तो प्रगट होता नहीं कि कार्यकी सिद्धि केवल भवितव्यसे ही हो जाती है, उसमे पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं रहता है। वे तो अपने उक्त कथनसे इतनी ही बात कहना चाहते हैं कि कितने ही उपाय करते जाओ, यदि भवितव्य अनुकूल नहीं है तो कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। लेकिन यह निष्कर्ष तो कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि यदि भवितव्य अनुकूल है तो विना पुरुषार्थके ही अर्थकी सिद्धि हो सकती है।

जैसे मिट्टीमें पट बननेकी योग्यता नहीं है तो जुलाहा आदि निमित्त सामग्रीका कितना ही योग क्यों न मिलाया जावे, उस मिट्टीसे पटका निर्माण असंभव ही रहेगा, लेकिन इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि मिट्टीमें घटनिर्माणकी योग्यता विद्यमान है तो कदाचित् कुम्भकार आदि निमित्त सामग्रीके सहयोगके विना ही घटका निर्माण हो जायगा। सत्य बात तो यह है कि एक ओर तो मिट्टीमें घटनिर्माणकी योग्यताके अभावमें जुलाहा आदि निमित्त सामग्रीका सहयोग मिट्टीसे पटनिर्माणमे सर्वदा असमर्थ ही रहेगा और दूसरी ओर उस मिट्टीसे घटका निर्माण भी तभी संभव होगा जब कि उसे कुम्भकार आदि निमित्त सामग्रीका अनुकूल सहयोग प्राप्त होगा और जब कुम्भकार आदि निमित्त सामग्रीका अनुकूल सहयोग प्राप्त नहीं होगा तब अन्य प्रकारकी अनुकूल निमित्त सामग्रीका सहयोग मिलनेके सबब तदनुकूल अन्य प्रकारके कार्योंकी निष्पत्ति होते हुए भी उस मिट्टीसे घटका निर्माण कदापि संभव नहीं होगा।

पं० प्रवर टोडरमलजीके उक्त कथनका यह भी अभिप्राय नहीं है कि अमुक मिट्टीसे चूंकि घटका निर्माण होना है, अतः उसकी प्रेरणासे कुम्भकार तदनुकूल व्यापार करता है, क्योंकि यह बात अनुभवके विरुद्ध है। लोकमें कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्यके करते समय यह अनुभव नहीं करता है कि अमुक वस्तुसे चूंकि अमुक कार्य निष्पन्न होना है, इसलिये मेरा व्यापार तदनुकूल हो रहा है। वह तो कार्योत्पत्तिके अवसर पर केवल इतना ही जानता है कि अमुक वस्तुसे चूंकि अमुक कार्य सम्पन्न हो सकता है और तब इस आधारपर वह प्रयोजनवश तदनुकूल व्यापार करने लगता है और यही कारण है कि वस्तुगत कार्य योग्यताका कदाचित् ठीक ठीक ज्ञान न हो सकनेके कारण अथवा स्वगत कार्य कर्तृत्वकी अकुशलताके कारण या दूसरी सहकारी सामग्रीके ठीक ठीक अनुकूलता न होने अथवा बाधक सामग्रीके उपस्थित हो जाने पर अनेकों बार व्यक्तिके हाथमें असफलता ही रह जाया करती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भवितव्यता हो और तदनुकूल उपाय किये जावें तो विवक्षित कार्य की सिद्धि नियमसे होगी तथा भवितव्यता हो लेकिन उपाय न किये जावें या प्रतिकूल उपाय किये जावें तो

कार्यकी सिद्धि नहीं होगी। इसी तरह कार्यकी सिद्धिके लिये उपाय तो किये जावें लेकिन तदनुकूल भवितव्यता नहीं है तो भी कार्यकी सिद्धि नहीं होगी। अलावा इसके यह भी विकल्प संभव है कि भवितव्यता हो, तदनुकूल उपाय भी किये जावें, लेकिन साथमें बाधक सामग्री भी वहाँ पर विद्यमान हो तो भी कार्यकी सिद्धि नहीं होगी।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पंडित फूलचन्द्रजी पं० प्रवर टोडरमलजीके कथनसे जो 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि पद्यका समर्थन कर लेना चाहते हैं वह ठीक नहीं है। यद्यपि पं० प्रवर टोडरमलजीने अपने उल्लिखित कथनमें यह अवश्य लिखा है कि—

'बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं भवितव्यके आधीन है' परन्तु इससे भी पं० फूलचन्द्रजीके इस अभिप्रायका समर्थन नहीं होता है कि 'जो भवितव्यता कार्यकी जनक है वही भवितव्यता उस कार्यमें कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय आदिकी भी जनक है।'

हमारे इस कथनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि पं० टोडरमलीके कथनमें सामान्यतया चेतनरूप और अचेतनरूप सभी तरहके कार्योंकी उपादान शक्तिको नहीं ग्रहण किया गया है, इसलिये ऐसी भवितव्यता जीवके पारिणामिक भावरूप भव्यत्व या अभव्यत्व हो सकते हैं अथवा कर्मके यथासंभव उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्राप्त कार्यसिद्धिके अनुकूल जीवकी योग्यता हो सकती है।

अब यहाँ पर ध्यान इस बात पर देना है कि मान लीजिये—किसी व्यक्तिमें धनी बननेकी योग्यता है लेकिन केवल योग्यताका सद्भाव होनेमात्रसे तो वह व्यक्ति धनी नहीं बन जायेगा। यही कारण है कि ऐसी मान्यता जैन संस्कृतिकी नहीं है, अतः जैन संस्कृतिकी मान्वताके अनुसार उस व्यक्तिको धनी बननेके लिये अपनी बुद्धिका तद्नुकूल उपयोग करना होगा, पुरुपार्थ भी उसी जातिका करना होगा और उसमें तदनुकूल अन्य सहकारी कारण भी अपेक्षित होंगे।

यह जो कहा जाता है कि उस व्यक्तिमें पायी जानेवाली धनी बननेकी योग्यता ही 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि पद्यके आशयके अनुसार बुद्धि, पुरुपार्थ तथा अन्य सहकारी साधन-सामग्रीको संगृहीत कर लेगी तो यह कथन अनुभवविरुद्ध होनेके कारण जैन संस्कृतिके विरुद्ध है—यह बात हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। इतना होने पर भी हम यह मानते हैं कि जैन संस्कृतिके अनुसार भी व्यक्तिमें बुद्धिका उद्भव तदनुकूल ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यता (भवितव्यता) का ही कार्य है और यही बात पुरुपार्थके विपयमें भी कही जा सकती है कि वह भी तदनुकूल कर्मके क्षयोपशमरूप भवितव्यताका ही कार्य है। इस लिये पं० प्रवर टोडरमलजीने जो यह लिखा है कि 'उपाय बनना अपने आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है'—वह न तो असंगत है और न जैन संस्कृतिके ही विरुद्ध है। कारण कि प्राणियोंकी अर्थसिद्धिमें जो भी बुद्धि, व्यवसाय (पुरुपार्थ) आदि उपाय अपेक्षित रहते हैं वे सब उपाय अपने अपने अनुकूल ज्ञानावरण आदिके क्षयोपशम आदि रूप भवितव्यताके ही कार्य हुआ करते हैं।

इस प्रकार यदि यही दृष्टि यदि 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि पद्यका अर्थ करनेमें अपना ली जावे तो फिर इसके साथ भी जैन संस्कृतिमें मान्य कारणव्यवस्थाका कोई विरोध नहीं रह जाता है।

अन्तमें थोड़ा इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि यदि बुद्धि, व्यवसाय आदि सभी कारण कलापकी जननी या संग्राहिका वही भवितव्यता है जो कार्यकी जननी होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा कार्य करनेका संकल्प भी उसी भवितव्यताके अनुकूल ही होना चाहिये। हमारी बुद्धि पर, हमारे

पुरुषार्थ पर और अन्य सहकारी साधन सामग्री पर तो उस भवितव्यताका आधिपत्य हो, केवल हमारे संकल्प पर उसका आधिपत्य न हो यह बात बहुत अटपटी मालूम पड़ती है। इस तरह मनुष्य चाहता तो कुछ है और हो कुछ जाता है यह स्थिति कदापि उत्पन्न नहीं होना चाहिये।

एक और भी अर्थ 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि पद्यका होता है वह यह है कि—जिस कार्यके अनुकूल वस्तुमें उपादान शक्ति हुआ करती है समझदार व्यक्ति उस वस्तुसे उसी कार्यको सम्पन्न करनेकी बुद्धि (भावना) किया करता है और वह पुरुषार्थ (व्यवसाय) भी तदनुकूल ही किया करता है तथा वह वहाँ पर तदनुकूल ही अन्य सहायक साधन सामग्रीको जुटाता है।

इस तरह उक्त पद्यका यदि यह अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो भी इसके साथ जैन संस्कृतिकी कारण व्यवस्थाका विरोध नहीं रह जाता है, लेकिन यह बात तो निश्चित समझना चाहिये कि 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि पद्यका कोई भी अर्थ क्यों न कर लिया जाय यदि वह अर्थ जैन संस्कृतिकी मान्यताके अनुकूल होगा तो उससे आपके 'भवितव्यतासे ही कार्यकी सिद्धि हो जाया करती है निमित्त वहाँ पर अकिंचित्कर ही रहा करते हैं' इस मतकी पुष्टि नहीं होगी और जैसा अर्थ आपने उक्त पद्यका किया है यदि उसे ही पद्यका सही अर्थ माना जाय तो जैन संस्कृतिकी मान्यताके विरुद्ध होनेके कारण उसका आपके द्वारा प्रमाणरूपसे उपयोग करना अनुचित माना जायगा।

कुछ विचारणीय बातें

जिस प्रकार स्त्री अपने गर्भाशयमें गर्भधारण करके संतान उत्पन्न करती है, परन्तु उस गर्भके धारण करनेके लिये पुरुषका निमित्त उसको अनिवार्य आवश्यक होता है। सती, विधवा और अवन्ध्या स्त्री इस कारण सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि उसको पुरुषका निमित्त नहीं मिलता।

उपादानके अन्दर अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं और जब जिस शक्तिके विकासके योग्य निमित्त मिल जाते हैं तब वह शक्ति विकासको प्राप्त हो जाती है। रसोइया परांतमें गेहूँका आटा माढ़ कर रक्खे हुए है। भोजन करनेवालेकी इच्छानुसार वह उसी आटेमेंसे कभी रोटी बनाता है, कभी पुड़ी बनाता है और कभी परायठा बनाता है। रसोइया इन सब चीजोंको बराबर आवश्यकतानुसार बदल-बदल कर बनाता चला जाता है। भोजन करनेवाले भोजन भी करते जाते हैं। उक्त रोटी, पुड़ी और परायठेके निमित्त यथायोग्य अलग-अलग भी हैं और एक भी हैं। यहाँ पर विचारणीय बात नाना शक्तियोंकी है कि जितना गेहूँ पीसा गया वह एक ही चक्कीसे पीसा गया और उस सम्पूर्ण आटेमें पिसे हुए गेहूँके प्रत्येक दानेका अंश समा गया और उस सभी आटेको पानी डालकर माढ़ दिया गया। इस तरह गेहूँके प्रत्येक दानेका अंश रोटीमें पहुँचा, पुड़ीमें पहुँचा और परायठेमें भी पहुंचा, इससे सिद्ध हुआ कि गेहूँके प्रत्येक दानेमें रोटी बननेकी शक्ति थी, पुड़ी बननेकी शक्ति थी, और परायठा बननेकी शक्ति थी। विकास उसकी उस शक्तिका हुआ जिसके विकासके लिये रसोइयाकी इच्छाशक्ति, बुद्धिशक्ति और श्रमशक्तिका योग प्राप्त हुआ।

आप लोगोंको तत्त्वचर्चामें आये प्रश्नोंका उत्तर लिखना है वह न तो केवल आत्माके द्वारा लिखा जा सकता है, क्योंकि आत्मा स्वयं अशरीरी है। उसके हाथ, पैर, आँख, अंग-उपांग नहीं हैं। इसी तरह प्रश्नोंका उत्तर लिखनेके लिये जहाँ आपको हाथ, आँख आदि शरीरके अवयवोंकी आवश्यकता है वहाँ उनके साथ प्रकाश, लेखनी, स्याही, कागज आदि बाह्य साधनोंकी भी आवश्यकता है। इनमेंसे आवश्यक किसी एक

साधनकी कमी रह जाय तो प्रश्नोंका उत्तर नहीं लिखा जा सकेगा। इसके सिवाय विघ्न करनेवाले प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव भी मिलना चाहिये, रात्रिमें लिखते समय बिजली फैल हो जावे, दीपक बुझ जावे, शरीरमें भयानक वेदना उत्पन्न हो जावे तो प्रश्नोंका उत्तर लिखना असंभव हो जायगा।

मनुष्य जब पैदल चलता है तो उसकी गति धीमी होती है, जब वह तांगे पर सवार होकर यात्रा करता है तब वह अपने लक्ष्य पर जल्दी पहुँच जाता है, जब वह साइकलसे जाता है तो तांगेकी अपेक्षा और भी शीघ्र अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है। दूरवर्ती नगरमें पहुँचनेके लिये वह रेलगाड़ीसे जाता है तब और शीघ्र पहुँच जाता है। यदि और भी शीघ्र पहुँचनेकी इच्छा होती है तो वह मोटर द्वारा सफर करता है और अत्यन्त शीघ्र पहुँचनेके लिये हवाई जहाजका भी उपयोग करता है। स्वर्गीय सम्राट् पंचमजार्ज सन् १९१२ में इंगलैंडसे दिल्ली आये थे तब हवाई जहाज नहीं थे, अतः समुद्री जहाजमें बैठ कर आये थे और एक मास में भारत पहुँचे थे। अभी २-३ वर्ष पहले जब उनकी पौत्री साम्राज्ञी एलजावेथ भारत आयीं तब वे एक ही दिनमें हवाई जहाज द्वारा इंगलैण्डसे भारत पहुँच गयी थीं। कुछ समय बाद जब अतिस्वन (सुपर सोनिक) विमान चालू हो जायेंगे तब लन्दनसे दिल्लीकी यात्रा ४-५ घंटे की रह जायगी। आज अमेरिका और रूस में चंद्रमा पर पहुंचनेकी होड़ लगी हुई हैं। उपादान अपने विकासमें निमित्तोंके कितने अधीन हैं इसका पता उपर्युक्त उदाहरणोंसे सहज ही में लग जाता है।

मुद्गरादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, विनष्टो घट उत्पन्नानि कपालानीति व्यवहारद्वयसद्भावात्—अष्टसहस्री पृष्ठ २०० कारिका ५३

अर्थ—मुद्गर आदिके व्यापारके अनन्तर घटका विनाश और कपालोंका उत्पाद होता हुआ देखा जाता है।

यहाँ पर इतना आशय लेना है कि मुद्गरकी घटके विनाश और कपालोंके उत्पादमें निमित्तता स्वीकार की गयी है। आगे अष्टसहस्री पृष्ठ २०० पर ही लिखा है :—

तस्मादयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्करः।

अर्थ—इसलिये घटविनाशका हेतुभूत मुद्गर भावात्मक पदार्थको अभावात्मक बना देता है तो इसे अकिंचित्कर कैसे कहा जा सकता है ?

इस कथनसे निमित्तकारणकी अकिंचित्करताका स्पष्ट खण्डन हो जाता है। इससे सम्बन्ध रखनेवाला बहुतसा विवेचन और आगमप्रमाण प्रश्न संख्या १, ५, ८, १०, ११, और १७ में भी मिलेंगे। अतः कृपया वहाँ पर देखनेका कष्ट कीजियेगा।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ६

मूल प्रश्न ६—उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित कारण सहायक होता है या नहीं ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

इस प्रश्नका पहली बार उत्तर देते हुए हमने तत्वार्थश्लोकवार्तिक अ. ५ सू० १६ पृ० ४१० के आधारसे यह स्पष्ट कर दिया था कि 'निश्चय नयसे प्रत्येक द्रव्यके उत्पादादिक विस्रसा होकर भी व्यवहार नयसे ही वे सहेतुक प्रतीत होते हैं। इस पर प्रतिशंका २ उपस्थित करते हुए अपर पक्षने कार्यमें योग्य द्रव्य-शक्तिको अन्तरंग कारण और बलाधानमें सहायकको बहिरंग कारण बतलाकर लिखा था कि—'जब जब शक्ति व्यक्तिरूपसे आती है तब तब निमित्तकी सहायतासे ही आती है।' इसी सिलसिलेमें अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए सिद्धान्तविरुद्ध अनेक बातें लिखकर और कुछ आगमप्रमाण उपस्थित कर उसके बाद लिखा था कि 'पदार्थमें क्रियाकी शक्ति है और वह रहेगी, किन्तु पदार्थ क्रिया तभी करेगा जब बहिरंग कारण मिलेंगे। जब तक बहिरंग कारण नहीं मिलेंगे वह क्रिया नहीं कर सकता, अर्थात् उसकी शक्ति व्यक्तिरूपमें नहीं आ सकती, जिसके द्वारा शक्ति व्यक्ति रूपमें आती है या जिसके बिना शक्ति व्यक्ति रूपमें नहीं आ सकती वही बहिरंग कारण या निमित्त कारण है या वही बलाधान निमित्त है।

आगे अपर पक्षने परमतमें प्रसिद्ध भरत मुनिके नाट्य-शास्त्रमें लिखे गये रसके लक्षणको प्रमाण रूपमें उपस्थित कर यह भी लिखा था कि 'इससे स्पष्ट है कि मानव हृदयमें विभिन्न प्रकारके रसोंकी उत्पत्ति ही बहिरंग साधनोंकी देन है।' आदि।

इस प्रकार अपर पक्षने अपनी उक्त प्रतिशंकामें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि जब भी कार्यके योग्य द्रव्यशक्ति कार्यरूप होती है तब वह बहिरंग साधनोंके द्वारा ही कार्यरूप परिणमती है, अन्यथा नहीं। अपर पक्षने इस प्रतिशंका द्वारा अपने पक्षके समर्थनमें वैदिक धर्मानुयायी भरतमुनिका एक ऐसा भी प्रमाण आगमरूपमें उपस्थित किया है जिसे आगम नहीं माना जा सकता। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष इस सीमाको माननेके लिये भी तैयार नहीं है कि इष्ट विषयकी पुष्टिमें मूल परम्पराके अनुरूप आचार्यों द्वारा निबद्ध किये गये शास्त्रोंके ही प्रमाण दिये जाँय। यही कारण है कि कहीं उसकी ओरसे लौकिक प्रमाण देकर अपने विषयकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया गया है और कहीं उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण बतलाकर अपने विषयको पुष्ट किया है। हम नहीं कह सकते कि अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनके लिये यह मार्ग क्यों अपनाया है, जब कि आगमसे प्रत्येक विषयका समुचित उत्तर प्राप्त किया जा सकता है।

हम अपना द्वितीय उत्तर लिखते समय इन सब बातोंमें तो नहीं गये। मात्र आगम प्रमाणोंके आधार से पुनः यह सिद्ध किया कि उपादान केवल द्रव्यशक्ति न होकर अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यका नाम उपादान है। वह किसीके द्वारा परिणमाया न जा कर स्वयं अपने कार्यको करता है और जब वह अपने कार्यको करता है तब अन्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। उस उत्तरमें हमने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आगममें बाह्य सामग्रीको निमित्त और कार्यकारी व्यवहार

नयकी अपेक्षा बतलाया गया है । और अंतमें भट्टाकलंकदेवके द्वारा प्रतिपादित 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि कारिका उपस्थित कर यह सिद्ध कर दिया है कि भवितव्यताके अनुसार बुद्धि होती है, वैसा ही प्रयत्न होता है और सहायक भी उसीके अनुरूप मिलते हैं ।

किन्तु जान पड़ता है कि अपर पक्ष आगमिक कार्य-कारणपद्धतिमें अपने पक्षका समर्थन नहीं समझता । उस पक्षका यह दृष्टिकोण पांचवें प्रश्न पर उपस्थित की गई प्रतिशंका ३ से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है । वहां उस पक्षने केवलज्ञानकी अपेक्षा आगम प्रतिपादित हमारे अभिप्रायको स्वीकार करके भी श्रुतज्ञानकी अपेक्षा विवादको नया मोड़ देते हुए लिखा है कि 'भगवान्के ज्ञानमें जिस कालमें जिस वस्तुका जैसा परिणमन झलका है वह उसी प्रकार होगा । प्रत्येक सम्यग्दृष्टिकी ऐसी ही श्रद्धा होती है । इसलिए केवलज्ञानके विषयके अनुसार तो सभी कार्य नियत क्रमसे ही होते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा भी ऐसी ही रखता है । किन्तु श्रुतज्ञानीके इतने मात्रसे सब समस्याऐं हल नहीं हो जातीं, इसलिए श्रुतज्ञानके विषयके अनुसार कुछ कार्य नियत क्रमसे भी होते हैं और कुछ कार्य अनियत क्रमसे भी होते हैं ऐसा अनेकान्त ही ठीक है ।'

अपर पक्ष द्वारा पाँचवें प्रश्नपर प्रतिशंका ३ जिस आधारपर उपस्थित की गई है उसका यह सार है । इससे अपर पक्षका ऐसा कहना मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तस्वरूप मात्र अपने माने हुए श्रुतज्ञानकी अपेक्षा ही मानना चाहता है, केवलज्ञानकी अपेक्षा नहीं । दूसरी बात यह भी मालूम होती है कि सभी द्रव्योंके सभी कार्य होते तो नियत क्रमसे ही हैं । यही कारण है केवलज्ञान उनको उसी रूपमें जानता है । परन्तु अपर पक्षके श्रुतज्ञानमें वे उस रूपमें नहीं झलकते । मात्र इसीलिए कुछ कार्य नियत-क्रमसे होते हुए प्रतीत होते हैं और कुछ कार्य अनियतक्रमसे होते हुए प्रतीत होते हैं । उक्त वक्तव्यमें अपर-पक्षने कौनसा श्रुतज्ञान लिया है—लौकिक श्रुतज्ञान या सम्यक् श्रद्धानुसारी सम्यक् श्रुतज्ञान ? इसका उसकी ओरसे उक्त प्रतिशंकामें यद्यपि कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है । किन्तु सम्यक् श्रद्धा विहीन जो श्रुतज्ञान होगा वह लौकिक ही होगा यह स्पष्ट है ।

जहाँ तक प्रकृत प्रतिशंकासे सम्बन्ध है सो उसमें भी अपर पक्षका वही दृष्टिकोण कार्य कर रहा है । इसे उपस्थित करते हुए अपर पक्षने पहले तो 'निमित्तकारणता व्यवहारनयसे है' इसे स्वीकार कर लिया है, किन्तु यहाँ व्यवहार शब्दका वाच्य क्या है इसमें उसे विवाद है । हम अपने पिछले उत्तरमें वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ८ का उद्धरण देकर प्रकृतमें व्यवहारका अर्थ असद्भूत व्यवहार है यह आगम प्रमाणके साथ बतला आये हैं, परन्तु अपर पक्ष यह कहकर कि हम व्यवहारका अर्थ कल्पनारोपित करते हैं, मुख्य विषयसे विचारकोंकी दृष्टि हटाना चाहता है ।

१. व्यवहारनय और उसका विषय

जैसा कि यहाँ की गई सूचनासे ज्ञात होता है, अपर पक्षने व्यवहार और निश्चय इन दोनों शब्दोंका पृथक् पृथक् स्थल पर प्रकरणानुसार क्या अर्थ इष्ट है इसका विचार प्रश्न १७ की प्रतिशंका ३में किया है सो इस विषयपर तो विशेष विचार हम यहीं करेंगे । मात्र प्रकृतमें प्रकरणानुसार उसकी ओरसे इस प्रतिशंकामें जो व्यवहारनय और निश्चयनयके लक्षण स्वीकार किए गए है वे यथार्थ न होकर कल्पनारोपित कैसे है इसका यहाँ सर्व-प्रथम विचार अवश्य कर लेना चाहते हैं । इससे प्रकृतमें व्यवहाररूप अर्थ और निश्चय रूप अर्थ क्या होना चाहिए इसका भी यथार्थ बोध हो जायेगा । अपर पक्षने व्यवहारनय और निश्चयनयका लक्षण करते हुए लिखा है—

निश्चयरूप अर्थसापेक्ष व्यवहाररूप अर्थका प्रतिपादक वचन व्यवहारनय और व्यवहाररूप अर्थसापेक्ष निश्चयरूप अर्थका प्रतिपादक वचन निश्चनय कहलाने योग्य है। इसी प्रकार निश्चयरूप अर्थसापेक्ष व्यवहाररूप धर्मका ज्ञापक ज्ञान व्यवहारनय और व्यवहाररूप अर्थसापेक्ष निश्चयरूप अर्थका ज्ञापक ज्ञान निश्चयनय कहलाने योग्य है। पहिले दोनों वचननयके और दूसरे दोनों ज्ञाननयके भेद जानना चाहिए।'

यह अपर पक्षद्वारा उपस्थित किये गये व्यवहारनय और निश्चयनयके लक्षण हैं। किन्तु इन लक्षणोंकी पुष्टिमें कोई आगमप्रमाण अपर पक्षने नहीं दिया है। इनका सांगोपांग विचार करते हुए सर्वप्रथम हम आचार्योंने व्यवहारपदका क्या अर्थ स्वीकार किया है इस बात पर दृष्टिपात करते हैं। आलापपद्धतिमें व्यवहारपदका अर्थ करते हुए लिखा है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः। गुणिगुणिनोः पर्याय-पर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारण-कारकिणोर्भेदः सद्भूव्यवहारस्यार्थः। द्रव्ये द्रव्योपचारः पर्याये पर्यायोपचारः गुणे गुणोपचारः, द्रव्ये गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः गुणे द्रव्योपचारः गुणे पयार्योपचारः पर्याये द्रव्योपचारः पर्याये गुणोपचार इति नवविधोऽसद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः।

अर्थ—अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र आरोप करना असद्भूतव्यवहार है। असद्भूत व्यवहारका नाम ही उपचार है। उपचारके बाद भी उपचारको जो करता है वह उपचरितासद्भूतव्यवहार है। गुण-गुणीका पर्याय-पर्यायीका, स्वभाव-स्वभाववान्का और कारक-कारकवान्का भेद सद्भूतव्यहारका अर्थ है। द्रव्यमें द्रव्यका उपचार, पर्यायमें पर्यायका उपचार, गुणमें गुणका उपचार, द्रव्यमें गुणका उपचार, द्रव्यमें पर्यायका उपचार, गुणमें द्रव्यका उपचार, गुणमें पर्यायका उपचार, पर्यायमें द्रव्यका उपचार और पर्यायमें गुणका उपचार इस तरह नौ प्रकारका असद्भूतव्यवहारका अर्थ जानना चाहिए।

यह आलापपद्धतिका वचन है। इसमें असद्भूतव्यवहाररूप अर्थ उपचरित असद्भूतव्यवहाररूप अर्थ और सद्भूतव्यवहाररूप अर्थ क्या है इसका स्पष्ट शब्दोंमें निर्देश किया गया है और साथमें यह भी बतला दिया गया है कि असद्भूतव्यवहारका नाम ही उपचार है। यहाँ सद्भूतव्यवहाररूप अर्थसे प्रयोजन नहीं है। इसलिए असद्भूतव्यवहाररूप अर्थको आगमप्रमाणके साथ स्पष्ट करते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

घीका घड़ा कहने पर भी घड़ा घीमय नहीं है, उसी प्रकार जीव वर्णादिमान् है ऐसा कहने पर भी जीव वर्णादिमान् नहीं है।

यहाँ घड़ेमें घी रखा है, अतएव घीका संयोग देखकर व्यवहारी जन उसे घीका घड़ा कहते हैं, यह असद्भूत व्यवहारका उदाहरण है। यदि कोई अज्ञानी जीव इतने मात्रसे घड़ेको मिट्टीका न समझकर उसे यथार्थरूपमें घीका ही समझने लगे तो उसकी ऐसी समझको मिथ्या ही कहा जायेगा।

घड़े तो बहुत प्रकारके होते हैं और उनमें नाना वस्तुएँ भरी रहती हैं। अतएव लोकमें अन्य वस्तुओंसे भरे हुए घड़ोंका वारण करनेके लिए विवक्षित वस्तुके आलंबनसे इस प्रकारका व्यवहार किया जाता है। जो व्यवहार उपचरित होनेपर भी सप्रयोजन होनेके कारण लोकमें ग्राह्य माना जाता है और लौकिक जनोंको परमार्थका ज्ञान करानेके लिए आगममें भी इसे स्वीकार किया गया है। स्पष्ट है कि यदि

ऐसे व्यवहारसे निश्चयका ज्ञान हो तो ही इस प्रकारका व्यवहार करना उपयोगी है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृत अध्याय एकमें कहा है—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१०२॥

जिससे निश्चयकी प्रसिद्धिके लिए वस्तुसे भिन्न कर्त्ता आदिक जाने जाते हैं वह व्यवहार है और उन कर्त्ता आदिककी वस्तुसे अभिन्न प्रतिपत्तिका नाम निश्चय है ॥१०२॥

यह आगमप्रमाण है। इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि जिससे निश्चयकी सिद्धि हो उसीका नाम व्यवहार है और इसी लिए उपचरित होने पर भी आगममें वह स्वीकार किया गया है। इस तथ्यको ध्यानमें रखकर जब हम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके ऊपर दृष्टिपात करते हैं तो हमें इस बातके समझनेमें देर नहीं लगती कि उपादान कारणसे भिन्न अन्य वस्तुमें किया गया निमित्त व्यवहार असद्भूत होनेके कारण उपचरित क्यों माना गया है! यहाँ जिस वस्तुमें निमित्त व्यवहार किया गया है वह अन्य द्रव्यके विवक्षित कार्यका यथार्थ कारण तो नहीं है फिर भी उसकी उस कार्यके उपादानकारणके साथ कालप्रत्यासत्तिरूप बाह्य व्याप्ति अवश्य है और इसी कारण उपादानमें रहनेवाला जो कारण धर्म, उसकी सिद्धि इसके द्वारा हो जाती है, इसीलिए इस बाह्य वस्तुमें भी निमित्त अर्थात् कारण धर्मका उपचार कर लिया जाता है। यही उपचार असद्भूत व्यवहारका अर्थ है और जो ज्ञान ऐसे अर्थको जानता है उस ज्ञानको असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। यह असद्भूत व्यवहारनयका तात्पर्य है।

यह तो प्रथम उपचार हुआ। अब यदि उपादानभूत वस्तुमें रहनेवाले कर्त्ता आदि धर्मोका निमित्त-रूपसे स्वीकृत अन्य वस्तुमें आरोप किया जाता है तो ऐसा एक उपचारके बाद भी पुनः उसी वस्तुमें किया गया उपचाररूप अर्थ उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय होगा। आचार्य कुन्दकुन्दने सामान्यतया समयसार गाथा १०५ में इसी उपचरित असद्भूत व्यवहारका निर्देश किया है, किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जीवका और कर्मोका निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धरूपसे पहलेसे ही संश्लेष सम्बन्ध चला आ रहा है, इसलिए जीवके राग-द्वेष आदि परिणामोंको निमित्तकर जो कर्मबन्ध होता है वहाँ जीवके परिणामोंमें कर्मोको करनेरूप कर्त्ताधर्मका उपचार ही मुख्य है। अतएव जीवने कर्मोको किया ऐसा कहना अनुपचरित असद्भूतव्यवहार ही होगा। समयसार गाथा १०५ में इसी अभिप्रायकी मुख्यतासे उपचार शब्दका प्रयोग हुआ है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ पर संश्लेष सम्बन्ध नहीं है वहाँ तो एक वस्तुके कर्त्ता आदि धर्मका दूसरी वस्तुमें आरोप करनेका नाम उपचरित असद्भूतव्यवहार है और जहाँ पर निमित्त-नैमित्तिकभावसे परस्पर संश्लेषसम्बन्ध है वहाँ पर एक वस्तुके कर्त्ता आदि धर्मका दूसरी वस्तुमें आरोप करनेका नाम अनुपचरित असद्भूतव्यवहार है। उक्त अर्थको स्पष्ट करते हुए वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा आठमें लिखा है—

मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्ननुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण वहिर्विषयघटपटादीनां च कर्त्ता भवति।

मन वचन और कायके व्यापारसे होनेवाली क्रियासे रहित ऐसा जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसकी

भावनासे रहित हुआ यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका आदि शब्दसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक तीन शरीर और आहार आदि छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल पिण्डरूप नोकर्मोंका तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा बाह्य विषय घट-पट आदिका कर्त्ता होता है।

यहाँ प्रश्न यह है कि जिसमें किसी दूसरी वस्तु या उसके गुण-धर्मका उपचार किया जाता है उसमें तदनुरूप कोई न कोई धर्म अवश्य होना चाहिए, अन्यथा उस वस्तुमें किसी दूसरी वस्तुका या उसके गुण-धर्मका उपचार करना नहीं बन सकता? उदाहरणार्थ उसी बालकमें सिंहका उपचार करके उसे सिंह कहा जा सकता है जिस बालकमें सिंहके समान किसी अंशमें क्रौर्य और शौर्य आदि गुण देखे जाते हैं? सो इसका समाधान यह है कि जिस वस्तुमें निमित्त व्यवहार किया जाता है या निमित्त मानकर कर्त्ता आदि व्यवहार किया जाता है उस वस्तुमें स्वयं उपादान होकर किये गये अपने कार्यकी अपेक्षा यथार्थ कारण धर्म भी पाया जाता है और यथार्थ कर्त्ता आदि धर्म भी पाये जाते हैं, इसलिए उसमें अन्य वस्तुके कार्यकी अपेक्षा कारण धर्म और कर्त्ता आदि धर्मोंका उपचार करनेमें कोई बाधा नहीं आती। यह वस्तुस्थिति है, इसको ध्यानमें रखकर ही प्रकृतमें व्यवहारका क्या अर्थ है इसका निर्णय करना चाहिए। जिसका विशेष विचार हमने पूर्वमें किया ही है।
—तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ५ वार्तिक २७

२. सम्यक् निश्चयनय और उसका विषय

यह तो सम्यक् व्यवहाररूप अर्थ और उसे ग्रहण करनेवाले सम्यक् नयका खुलासा है। अब प्रकृतमें निश्चयरूप अर्थ और उसको ग्रहण करनेवाले नयका खुलासा करते हैं—

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव होनेके कारण जैसे स्वभावसे ध्रौव्य है वैसे ही स्वभावसे उत्पाद-व्ययस्वभाववाली भी है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसामें स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

हे भगवन्! आपके मतमें सत् अपने सामान्य स्वभावकी अपेक्षा न तो उत्पन्न होता है और न अन्वय धर्मकी अपेक्षा व्ययको ही प्राप्त होता है। फिर भी उसका उत्पाद और व्यय होता है सो यह पर्यायकी अपेक्षा ही जानना चाहिए, इसलिए सत् एक ही वस्तुमें उत्पादादि तीनरूप है यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तुके स्वभावसे ध्रौव्य होकर भी उत्पाद-व्ययरूप सिद्ध होने पर यहाँ यह विचार करना है कि वह उत्पाद-व्यय स्वयंकृत है या परकृत है या उभयकृत है? परकृत तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि दोनोंकी एक सत्ता नहीं है। भिन्न सत्ता होकर भी उससे दूसरी वस्तुमें परिणमनरूप कार्य मानने पर परस्पर विरोध आता है, क्योंकि भिन्न सत्ता होनेके कारण उससे भिन्न पर सत्तामें कार्यका किया जाना नहीं बन सकता और अपनेसे भिन्न पर सत्तामें कार्य करना स्वीकार करनेपर दोनोंकी भिन्न सत्ता नहीं बन सकती। यही कारण है कि आचार्योंने सर्वत्र निश्चयसे एक द्रव्य या उसके गुणधर्मको दूसरे द्रव्य या उसके गुणधर्मके कार्यका वास्तविक कर्त्ता स्वीकार नहीं किया है। दूसरे द्रव्यका वह उत्पाद-व्यय उभयकृत भी नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी कार्य जब परकृत नहीं सिद्ध होता, ऐसी अवस्थामें वह उभयकृत तो सिद्ध हो ही नहीं सकता। अतएव परमार्थसे प्रत्येक कार्य स्वयंकृत ही होता है ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिये। इस

प्रकार प्रत्येक कार्यके स्वयंकृत सिद्ध होनेपर उसमें अपने-अपने कार्योकी अपेक्षा वास्तविक कारणधर्म और कर्त्ता आदि धर्मोकी भी सिद्धि हो जाती है। प्रत्येक द्रव्यमें कर्त्ता आदि धर्म वास्तविक हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० १ में लिखा है :—

पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्। जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रं वा ज्ञानम्। चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्। नन्वेवं स एव कर्त्ता स एव करणमित्यायातम्, तच्च विरुद्धम्? सत्यम्, स्वपरिणाम-परिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात्। यथा ग्निर्दहतीन्धनं दाहपरिणामेन। उक्तः कर्त्रादिसाधनभावः पर्याय-पर्यायिणोरेकानेकत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्तौ स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्यविवक्षोपपत्तेरेकस्मिन्नप्यर्थे न विरुध्यते, अग्नौ दहनादिक्रियायाः कर्त्रादिसाधनभाववत्।

जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखनामात्र दर्शन है। जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है या जाननामात्र ज्ञान है तथा जो आचरण करता है जिसके द्वारा आचरण किया जाता है या आचरण करनामात्र चारित्र है।

शंका—इस प्रकार वही कर्त्ता और वही करण यह प्राप्त हुआ और वह विरुद्ध है?

समाधान—सत्य है। स्वपरिणाम और परिणामीकी भेदविवक्षामें वैसा कथन किया गया है। जैसे अग्नि दाहपरिणामके द्वारा ईंधनको जलाती है।

पर्याय और पर्यायीमें एकत्व और अनेकत्वके प्रति अनेकान्त होनेपर स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यकी विवक्षा की जानेसे एक ही अर्थमें कहा गया कर्त्ता आदि साधनभाव विरोधको प्राप्त नहीं होता। जैसे अग्निमें दहनादि क्रियाकी अपेक्षा कर्त्तादि साधनभाव बन जाता है।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा १६ में कहा है :—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभू त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

इस प्रकार वह आत्मा स्वभावको प्राप्त सर्वज्ञ और सर्व लोकके अधिपतियोंद्वारा पूजित स्वयमेव होता हुआ स्वयंभू है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥१६॥

यद्यपि इस गाथामें मात्र एक निश्चय कर्त्ताका निर्देश है ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु गाथामें आया हुआ 'स्वयमेव' पद निश्चयरूप छहों कारकोंको सूचित करता है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेनने अपनी-अपनी टीकामें निश्चयरूप छहों कारकोंका निर्देश किया है। अपनी-अपनी टीकाके अन्तमें उक्त दोनों आचार्य क्रमशः लिखते हैं :—

१. अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते।

१. इसलिए निश्चयसे परके साथ आत्माका कारकरूप सम्बन्ध नहीं है, जिससे कि शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिए सामग्री ढूँढ़नेकी व्यग्रतासे जीव परतन्त्र होते हैं।

२. इत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वतः एव परिणममाणः सन्नयमात्मा परमात्मस्वभावकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यतो भिन्नकारकं नापेक्षते ततः स्वयंभूर्भवतीति भावार्थः।

२. इस प्रकार अभेद षट्कारकरूपसे स्वतः ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा परमात्मस्वभाव केवलज्ञानकी उत्पत्तिके प्रस्तावमें यतः भिन्न कारककी अपेक्षा नहीं करता, अतः स्वयंभू होता है।

उक्त दोनों आचार्योंके उक्त उल्लेखोंसे जहाँ यह ज्ञात होता है कि निश्चयसे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ किसी प्रकारका कारक सम्बन्ध नहीं है वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्यमें स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति कारकान्तर निरपेक्ष एकमात्र निश्चय षट्कारकोंके आलम्बनसे ही होती है। इससे यह भी फलित हो जाता है कि जहाँपर इस जीवके विकल्पमें परकी अपेक्षा होती है वहाँपर रागादि विभाव-पर्यायकी उत्पत्ति होती है।

साथ ही तथ्यरूपमें यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्य और उनके गुण तथा पर्यायोंका स्वरूप परस्पर सापेक्ष न होकर स्वतःसिद्ध होता है। मात्र इनका व्यवहार ही परस्पर सापेक्ष किया जाता है। यदि इनके स्वरूपको परस्पर सापेक्ष माना जाय तो इनमेंसे एकका भी अस्तित्व नहीं वन सकता। यहाँ जिस तथ्यका निर्देश द्रव्य, गुण और पर्यायको लक्ष्यमें रखकर किया है वही तथ्य कर्तृत्वादि धर्मोंके विषयमें भी जान लेना चाहिए।

यद्यपि पर्यायें स्वकालके सिवाय अन्य कालमें कथंचित् असत् होती हैं, इसलिए पर्यायार्थिक नयसे उनमें परस्पर व्यतिरेक दिखलानेके अभिप्रायवश उनकी उत्पत्तिमें कारकोंका व्यापार स्वीकार किया गया है यह ठीक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अपने-अपने कालमें उनका वह स्वरूप किसी अन्यसे जायमान हुआ है, क्योंकि उत्पादादि त्रिरूपमयता यह प्रत्येक द्रव्यका स्वतःसिद्ध स्वरूप है, अन्यथा वह द्रव्यका स्वरूप नहीं वन सकता।

इस प्रकार वस्तुके स्वरूप और उसमें रहनेवाले कर्त्ता आदि धर्मोंकी अपेक्षा विचार करनेपर प्रत्येक वस्तुका स्वरूप और कर्त्ता आदि धर्म निश्चयरूप प्रमाणित होते हैं और उनको जाननेवाला ज्ञान निश्चय नय संज्ञाको प्राप्त होता है। निश्चयनयके कथनमें अभेदकी मुख्यता है इतना यहाँ विशेष समझना चाहिए।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहाररूप अर्थ क्या है, तथा उन्हें ग्रहण करनेवाले नयोंका स्वरूप क्या है इस वातका प्रकृतमें हमने जो प्रमाण सहित विवेचन किया है, उसी विषयको स्पष्ट करते हुए पंडितप्रवर टोड़रमलजी अपने मोक्षमार्गप्रकाशकमें लिखते हैं—

तहाँ जिन आगम विषै निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। तिन विषै यथार्थका नाम निश्चय है, उपचारका नाम व्यवहार है।

—अधिकार ७ पृष्ठ २८७

व्यवहार अभूतार्थ है। सत्य स्वरूपकौ न निरूपै है। किसी अपेक्षा उपचारकरि अन्यथा निरूपै है। बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है सो भूतार्थ है, जैसा वस्तुका स्वरूप है तैसा निरूपै है।

—अधिकार ७ पृष्ठ ३६९

एक ही द्रव्यके भावकौ तिस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है। उपचारकरि तिस द्रव्यके भावकौ अन्य द्रव्यके भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है।

—अधिकार ७ पृष्ठ ३६९

३. निश्चयनयमें व्यवहाररूप अर्थकी सापेक्षताका निषेध

इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहारनय और उनके विषयोंका प्रकृतमें उपयोगी निरूपण करके तत्काल उनकी परस्पर सापेक्षता एवं निरपेक्षताके विषयमें विचार करते हैं। आप्तमीमांसा कारिका १०८ में प्रत्येक वस्तुको अनेकान्त स्वरूप न मानकर सर्वथा सद्रूप या सर्वथा असद्रूप, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य आदि

माननेपर उनको ग्रहण करनेवाला नयज्ञान मिथ्या कैसे है और कथञ्चित्‌रूप उन धर्मों द्वारा वस्तुको ग्रहण करनेवाला नयज्ञान समीचीन कैसे है इसका विचार किया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मवाली होनेपर भी जो नय दूसरे धर्मकी अपेक्षा किये बिना मात्र एक धर्मस्वरूप वस्तुको स्वीकार करता है वह नय मिथ्यानय माना गया है। और जो नय इतर धर्मसापेक्ष एक धर्म द्वारा वस्तुको ग्रहण करता है वह सम्यक् नय माना गया है। यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाशमें प्रकृतमें विचार करनेपर विदित होता है कि प्रत्येक वस्तुमें जो कर्त्ता आदि अनेक कारक धर्म हैं वे वस्तुमें द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभिन्न है, क्योंकि जो द्रव्यकी सत्ता है वही उन धर्मोंकी सत्ता है। अतएव अभेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करनेवाला जो नय है वह निश्चयनय है। तथा संज्ञा, प्रयोजन और लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद उपजाकर इन धर्मों द्वारा वस्तुको ग्रहण करनेवाला जो नय है वह सद्भूत व्यवहारनय है। इस प्रकार एक ही वस्तुमें कथञ्चित् अभेद तथा कथञ्चित् भेदकी विवक्षा होनेपर इन नयोंकी प्रवृत्ति होती है इसलिए ये दोनों ही नय सम्यक् नय हैं।

अब रहा असद्भूत व्यवहारनय सो उसका विषय मात्र उपचार है जो परको आलम्बनकर होता है, इसलिए उसकी अपेक्षा उक्त दोनों नयोंमें सापेक्षता किसी भी अवस्थामें नहीं बन सकती। यदि अपर पक्षने समयसारकी रचनाशैली पर थोड़ा भी ध्यान दिया होता तो उसने अपनी इसी प्रश्नकी प्रतिशंका ३ में जो निश्चयनय और व्यवहारनयके लक्षण स्वीकार किये हैं उन्हें वह भूलकर भी स्वीकार न करता। इसके लिए समयसार गाथा ८४ और ८५ पर दृष्टिपात कीजिए। समयसार गाथा ८४ में पहले आत्माको व्यवहारनयसे पुद्गल कर्मोका कर्त्ता और भोक्ता बतलाया गया है, किन्तु यह व्यवहार असद्भूत है, क्योंकि अज्ञानियोंका अनादि संसारसे ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है; इसलिए गाथा ८५ में दूषण देते हुए निश्चयनयका अवलम्बन लेकर उसका निषेध किया गया है। इसी प्रकार गाथा ९८ में व्यवहारनयसे घट, पट, रथ आदि द्रव्य तथा नाना प्रकारकी इन्द्रियाँ, कर्म और नोकर्म इत्यादि कार्योका कर्त्ता आत्माको बतलाकर गाथा ९९ में दूषण देते हुए उस असद्भूत व्यवहारका निषेध किया गया है। यद्यपि गाथा १०० में अज्ञानी आत्माके योग और उपयोगको घट, पट आदि कार्योंका उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा निमित्तकर्त्ता कहकर इसी बातको दृढ़ किया है, क्योंकि उसी गाथाकी टीकामें ऐसा लिखा है कि 'तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्त्ता स्यात्।' उसका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी अपनेको पर द्रव्यकी पर्यायका निमित्तकर्त्ता मानता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कर्मका यथार्थ कर्त्ता क्यों नहीं है एतद्विषयक सिद्धान्तका उद्घाटन करते हुए गाथा १०३ में आचार्य लिखते हैं—

> जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
> सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

जो द्रव्य अपने जिस द्रव्य स्वभावमें तथा गुणमें वर्तता है वह अन्य द्रव्यमें तथा गुणमें संक्रमित नहीं होता। इस प्रकार अन्यमें संक्रमित नहीं होता हुआ वह उस अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है अर्थात् कभी नहीं परिणमा सकता ॥ १०३ ॥

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको क्यों नहीं परिणमा सकता इसके कारणका निर्देश करते हुए इसी गाथाकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि प्रत्येक वस्तुस्थितिकी सीमा अचलित है, उसका भेदना अशक्य है। अतएव प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी सीमामें ही वर्तती है। कोई भी वस्तु अपनी-अपनी सीमाका उल्लंघनकर अन्य वस्तुमें प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको परिणमाता है यह

कथनमात्र है जो व्यवहार नयकी भाषाका अवलम्बन लेकर बोला जाता है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए स्वयं आचार्य महाराज गाथा १०७ में लिखते हैं—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७ ॥

आत्मा पुद्गल द्रव्यके परिणामको उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है ऐसा व्यवहारनय (असद्भूत व्यवहार नय)का वचन है ॥ १०७ ॥

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि एक द्रव्यकी पर्यायका दूसरा द्रव्य उत्पादक है इस प्रकार यहाँ किया गया यह उत्पादादिरूप व्यवहार उपचार कैसे है इसे राजा प्रजाका दृष्टान्त देकर गाथा १०८ तथा उसकी टीकामें ऐसा लिखा है कि 'तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्त्ता स्यात्' तथापि पर द्रव्यात्मक कर्मका कर्त्ता नहीं है। सो उसका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव अपनेको पर द्रव्यकी पर्यायका निमित्तकर्त्ता मानता है, किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है।

इस प्रकार उक्त कथनसे यह फलित हुआ कि अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'व्यवहाररूप अर्थ सापेक्ष निश्चयरूप अर्थको जाननेवाला ज्ञान निश्चयनय है।' सो उसका ऐसा लिखना यथार्थ नहीं है, किन्तु **जो ज्ञान एक ही द्रव्यके भावको उसीका जानता है और उपचाररूप अर्थका निषेध करता है वह निश्चयनय है,** क्योंकि प्रत्येक वस्तुका वस्तुत्व ही ऐसा होता है कि जो अपने स्वरूपका उपादान करता है और अन्यका अपोहन करता है। यदि प्रत्येक वस्तुमें इस प्रकारकी व्यवस्था करनेका गुण न हो तो उस वस्तुका वस्तुत्व ही नहीं बन सकता। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर युक्त्यनुशासन श्लोक ४२की टीकामें आचार्य विद्यानन्दि लिखते हैं—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनो वस्तुत्वस्य।

स्वरूपके उपादान और पररूपके अपोहनकी व्यवस्था करना ही वस्तुका वस्तुत्व है।

प्रत्येक द्रव्य भावाभावात्मक माना गया है। यह प्रत्येक वस्तुका स्वरूप है। यह उभयरूपता वस्तुमें है इसकी सिद्धि करनेके लिए ही यह कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भावरूप है और पर-चतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप है। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तुका स्वरूप भावरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा उसका स्वरूप अभावरूप है तो उसका ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है, क्योंकि कोई भी धर्म किसी भी वस्तुमें स्वरूपसे स्वतःसिद्ध होता है। हाँ, अपेक्षा विशेषका आलम्बन लेकर उन धर्मोंकी सिद्धि करना दूसरी बात है। आचार्य भट्टाकलंकदेव अष्टसहस्री पृष्ठ १९५में लिखते हैं—

अन्यस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्यं, स्वभावपरभावाभ्यां भावाभावव्यवस्थितेर्भावस्य।

किसी एकका अकेला होना उसमें दूसरेकी विकलता (रहितपना) है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ स्वभाव और परभावकी अपेक्षा भावाभावरूप व्यवस्थित है।

इससे स्पष्ट है कि निश्चय कथन स्वरूपनिष्ठ व्यवस्था करनेवाला होनेके कारण जहाँ अपने स्वरूपका प्रतिपादन करता है वहाँ वह अपनेसे भिन्न अन्यका निषेध भी करता है। भगवान् कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २७२ में इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर निश्चयनयको प्रतिषेधक और व्यवहारनयको प्रतिषेध्य बतलाया है। यद्यपि वहाँ उनके कथनमें इससे भी आगे जाकर मर्मकी बात कही गई है, किन्तु उस कथनमें यह भाव पूरी तरहसे निहित है, क्योंकि उस गाथा द्वारा जितना भी पराश्रित व्यवहार है उस सबका निषेध किया गया

है, इसलिए यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि **निश्चयनय व्यवहाररूप अर्थकी अपेक्षा किए बिना स्वतंत्र रूपसे अपने ही अर्थका कथन करता है।**

परन्तु उक्त प्रकारके व्यवहार नयके विषयमें स्थिति इससे कुछ भिन्न प्रकारकी है, क्योंकि जैसा कि हम पण्डितप्रवर आशाधरजीके अनगारधर्मामृतका 'कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः' इत्यादि श्लोकको उद्धृत कर आये हैं उससे यह बात बहुत ही अच्छी तरहसे ज्ञात हो जाती है कि जो व्यवहार निश्चयका ज्ञान कराता है वह व्यवहार ही आगममें स्वीकार किया गया है। अतएव **व्यवहारनय उपचरित अर्थको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण वह अनुपचरित अर्थकी प्रसिद्धि करता हुआ ही सार्थक है।** अन्यथा वह मिथ्यानय ही ठहरेगा, क्योंकि कोई भी नय व्यवहारसे भी तब तक सन्नय कहलानेका अधिकारी नहीं है जब तक वह परमार्थभूत अर्थकी प्रसिद्धि नहीं करता। यहाँ पर उपादान कारण और उसमें रहनेवाले कर्ता आदि धर्म ये परमार्थभूत अर्थ हैं और इनकी प्रसिद्धिका कारण होनेसे कालप्रत्यासत्तिवश बाह्य द्रव्यमें आरोपित किया गया निमित्त धर्म और कर्ता आदि धर्म ये अपरमार्थभूत अर्थ हैं। यतः ये कालप्रत्यासत्ति होनेसे परमार्थभूत अर्थकी प्रसिद्धि करते हैं, इसलिए इन्हें ग्रहण करनेवाला नय व्यवहारसे सम्यक् नय माना गया है।

इस प्रकार प्रकृतमें अपने प्रतिषेधक स्वभावके कारण व्यवहाररूप अर्थका निषेध करता हुआ ही निश्चयनय क्यों तो मात्र निश्चयरूप अर्थको ग्रहण करता है और प्रतिषेध्य स्वभाव होकर भी व्यवहारनय क्यों व्यवहारमें प्रयोजनीय माना गया है इसका यहाँ सांगोपांग विचार किया। इससे अपर पक्षके उस कथन का सुतरां निरास हो जाता है जिसका निर्देश हम पूर्वमें कर आये हैं। अर्थात् प्रकृतमें व्यवहारनय और निश्चयनयके जिन लक्षणों आदिका निर्देश अपर पक्षने किया है वे स्वमतिकल्पित होनेसे ठीक नहीं हैं यह पूर्वोक्त कथनसे सुस्पष्ट हो जाता है।

४. द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणताका निषेध

अपर पक्षने अपनी इसी प्रतिशंकामें उपादानमें द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणताका विधान करते हुए लिखा है—

'तात्पर्य यह है कि कार्यकारणभावके प्रकरणमें दो प्रकारकी कारणताका विवेचन आगम ग्रन्थोंमें पाया जाता है—एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप और दूसरी कालप्रत्यासत्तिरूप। इनमेंसे जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणत होती है अर्थात् कार्यके प्रति उपादान कारण होती है उसमें कार्यके प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता पाई जाती है, क्योंकि वहाँ पर कारणरूप धर्म और कार्यरूप धर्म दोनों ही एक द्रव्यके आश्रयसे रहनेवाले धर्म हैं।'

यह द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणताके विषयमें अपर पक्षका वक्तव्य है। अपर पक्षने इसी एक ही क्या समस्त प्रतिशंकाओंकी इमारत मात्र इसी एक मान्यता पर खड़ी की है। अपनी इसके पूर्वकी प्रतिशंकामें भी उसकी ओरसे द्रव्यशक्तिरूप उपादान कारणका निर्देश किया गया था। किन्तु वह सब कथन आगमविरुद्ध अतएव काल्पनिक कैसे है इसका विचार हम प्रतिशंका २ के उत्तरके समय ही कर आये हैं। फिर भी अपर पक्ष अपनी उसी मान्यताको दुहरानेमें ही प्रयत्नशील है इसका हमें आश्चर्य है। किन्तु उस पक्षकी इस एकान्त मान्यता पर पुनः सांगोपांग विचार करना आवश्यक समझकर यहाँ विचार किया जाता है।

जैन दर्शनमें प्रत्येक वस्तुको सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार किया गया है, क्योंकि जो वस्तु केवल सामान्यात्मक होगी या केवल विशेषरूप उसमें अर्थक्रियाका बनना असम्भव है। यही कारण है कि सभी

आचार्योंने प्रमाणदृष्टिसे केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिको उपादान कारण न मानकर अनन्तर पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यको उपादान कारण स्वीकार किया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६९ में लिखा है—

पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतेः, घटपरिणमनसमर्थपर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य घटोपादानत्ववत्।

पर्यायविशेषात्मक द्रव्यमें ही उपादानता प्रतीत होती है, घट परिणमनमें समर्थ पर्यायात्मक मिट्टी द्रव्यमें घटकी उपादानताके समान।

यह आगमवचन है। इसमें द्रव्य-प्रत्यासत्तिके समान पर्यायप्रत्यासत्तिमें भी उपादान कारणता स्वीकार की गई है, केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिमें नहीं। फिर नहीं मालूम कि अपर पक्ष केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिमें ही उपादान कारणता कैसे स्वीकार करता है, यदि उस पक्षका कहना हो कि जिस समय विवक्षित कार्य होता है, द्रव्यप्रत्यासत्ति तो उसी समयकी ली गई है, पर्यायप्रत्यासत्तिके लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इस पर हमारा कहना यह है कि प्रत्यासत्तिका अर्थ ही जब 'अति संनिकट होना' है ऐसी अवस्थामें पर्यायप्रत्यासत्तिका अर्थ ही विवक्षित कार्यको अनन्तर पूर्व पर्याय ही होगा, अन्य नहीं। और यही कारण है कि आगममें सर्वत्र अनन्तरपूर्व पर्याय युक्त द्रव्यको ही उपादान कारण कहा है। इस विषयका विशेष विचार अष्टसहस्री पृष्ठ २१० में विस्तारके साथ किया है। वहाँ लिखा है—

असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते।

असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और पूर्वाकार भावविशेषप्रत्यासत्ति ही उपादानपनेका कारण होकर अपने उपादेय परिणामके प्रति निश्चित होती है।

आगे इसी विषयको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे आचार्य विद्यानन्दने उक्त सिद्धान्तके समर्थनमें 'तदुक्तं' लिखकर दो श्लोक उद्धृत किये हैं। जो इस प्रकार हैं—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादनमिति स्मृतम्॥

जो द्रव्य तीनों कालोंमें अपने रूपको छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ पूर्वरूपसे और अपूर्वरूपसे वर्त रहा है वह उपादान कारण है ऐसा जानना चाहिए।

यहाँ पर द्रव्यको उपादान कहा गया है। उसके विशेषणोंपर ध्यान देनेसे विदित होता है कि द्रव्यका न तो केवल सामान्य अंश उपादान होता है और न केवल विशेष अंश उपादान होता है। किन्तु सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य ही उपादान होता है। द्रव्यके केवल सामान्य अंशको और केवल विशेष अंशको उपादान माननेमें जो आपत्तियाँ आती हैं उनका निर्देश स्वयं आचार्य विद्यानन्दने एक दूसरा श्लोक उद्धृत करके कर दिया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा॥

जो अपने स्वरूपको छोड़ता ही है वह (पर्याय) और जो अपने स्वरूपको सर्वथा नहीं छोड़ता वह (सामान्य) अर्थ (कार्य) का उपादान नहीं होता। जैसे क्षणिक और शाश्वत।

यद्यपि सर्वथा क्षणिक और सर्वथा शाश्वत कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु जो लोग पदार्थको सर्वथा क्षणिक मानते हैं उनके यहाँ जैसे सर्वथा क्षणिक पदार्थ कार्यका उपादान नहीं हो सकता और जो लोग पदार्थको सर्वथा शाश्वत् मानते हैं उनके यहाँ जैसे सर्वथा शाश्वत् पदार्थ कार्यका उपादान नहीं हो सकता उसी प्रकार द्रव्यका केवल सामान्य अंश कार्यका उपादान नहीं होता और न केवल विशेष अंश कार्यका उपादान होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार पूर्वोक्त समग्र कथनपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि केवल द्रव्यप्रत्यासत्ति और केवल पर्यायप्रत्यासत्ति उपादान कारणरूपसे स्वीकृत न होकर द्रव्य-पर्यायप्रत्यासत्तिको ही उपादानकारण आचार्योंने स्वीकार किया है। हम अपने पिछले उत्तरोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृष्ठ २०० से 'यच्चोच्यते-शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि।' इत्यादि वचन उद्वृत कर यह सिद्ध कर आये हैं तथापि अपर पक्षने पुनः उसी प्रश्नको उठाया है, इसलिए यहाँपर इस विषयका पुनः विचार किया गया है।

हम यह मानते हैं कि आगम ग्रन्थोंमें स्वतः परिणामसमर्थ द्रव्यको अनुग्रहाकांक्षी लिखा है और इस अपेक्षाको ध्यानमें रखकर व्यवहारनयसे सापेक्षताका भी उल्लेख किया गया है। निश्चय नयसे विचार करनेपर तो विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणामस्वभाव है और परनिरपेक्ष होकर परिणमता है। इससे यह निश्चय हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रत्येक समयका कार्य होता है तो स्वयं उसीके द्वारा ही होता है किन्तु जब वह कार्य होता है तब अन्य बाह्य जिस सामग्रीके साथ उसकी बाह्य व्याप्तिका नियम है उसमें असद्भूत व्यवहारनयसे कारण और कर्त्ता आदि धर्मोका उपचार किया जाता है। इस उपचारका जो प्रयोजन है उसका निर्देश हम पूर्वमें कई बार कर आये हैं। प्रतीक्षा कोई किसीकी नहीं करता, अन्तरंग-बहिरंग सामग्रीका विस्रसा या प्रयोगसे सहज ही योग मिलता रहता है। ऐसी ही परसापेक्षता जैनदर्शनमें स्वीकार की गई है। अधीनतारूप परसापेक्षता जैनदर्शनमें स्वीकृत नहीं है, क्योंकि अधीनतारूप परसापेक्षताके स्वीकार करनेपर वस्तुव्यवस्था ही नहीं बन सकती।

एक बात और है। और वह यह है कि जैन-शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर व्यवहारनयकी मुख्यतासे यह भी कथन उपलब्ध होता है कि बाह्य सामग्रीके अभावमें अकेला उपादानकारण अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है। जैसे तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ५ सूत्र १७ में व्याख्या करते हुए यह लिखा है—

नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः।

सो यह कथन निश्चय उपादानकी अपेक्षा न होकर व्यवहार उपादानको लक्ष्यमें रखकर ही किया गया है, क्योंकि उक्त उल्लेखमें दो बार उपादान कारणका निर्देश किया गया है। प्रथम बार तो मृत्पिण्डः घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः' इन शब्दों द्वारा किया गया है और दूसरी बार 'मृत्पिण्डः' मात्र इतना ही कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रथम बार निश्चय उपादानको सूचित कर यह बतलाया गया है कि विवक्षित कार्यके निश्चय उपादानके होने पर बाह्य सामग्री होती ही है तथा व्यवहार उपादानके कालमें विवक्षित कार्यकी बाह्य-आभ्यंतर सामग्री नियमसे नहीं होती। अतः प्रत्येक कार्यमें बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रता नियमसे होती है यह सिद्ध होता है। परमागममें जीव-पुद्गलोंकी गति-स्थितिके निमित्तरूपसे धर्म और अधर्मद्रव्यको स्वीकार करनेका यही कारण है। इसके विशेष खुलासाके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ ६८ का यह कथन अवलोकनीय है।

तत्र गृहीतोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणानामवश्यं कार्यवत्त्वाभावात्। समर्थस्य कार्यवत्त्वे नेति चेन्न, तस्येहाविवक्षितत्वात्। तद्विवक्षायां तु पूर्वस्य लाभे नोत्तरं भजनीयमुच्यते, स्वय-

मविरोधात् । इति दर्शनादीनां विरुद्धधर्माध्यासाविशेषेप्युपादानोपादेयभावादुत्तरं पूर्वास्तितानियतं, न तु पूर्व-मुत्तरास्तित्वगमकम् ।

इसलिए ही उपादानकी प्राप्तिसे उत्तरकी प्राप्ति नियत नहीं है, क्योंकि कारण नियमसे कार्यवाले नहीं होते ।

शंका—समर्थ कारण कार्यवाला होता ही है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसकी यहाँ पर विवक्षा नहीं है । उसकी विवक्षा होने पर तो पूर्वकी प्राप्ति होने पर उत्तर भजनीय नहीं कहा जाता, क्योंकि स्वयं अविरोध है । इस प्रकार दर्शना-दिकके विरुद्ध धर्माध्यानकी अविशेषता होने पर भी उपादान-उपादेयभाव होनेसे उत्तर पूर्वके अस्तित्व पर नियत है, परन्तु पूर्व उत्तरके अस्तित्वका गमक नहीं है ।

यह आगमवचन है । इसमें जहाँ व्यवहार उपादानकी चर्चा की है वहाँ निश्चय उपादानका भी निर्देश किया है । अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यका नाम ही निश्चय उपादान है । ऐसी अवस्थामें पहुँचनेके पूर्व जहाँ वह विवक्षित उपादेयका गमक नहीं होता वहाँ ऐसी अवस्थामें पहुँचने पर वह अपने उपादेयका नियमसे नियामक होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । उपादेय तो अपने उपादानका गमक होता ही है, उपादान भी अपने उपादेयका नियामक होता है ऐसा अभिप्राय यहाँ समझना चाहिए । यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६४ में उभयावधारणका निर्देश करते हुए यह वचन कहा है—

निश्चयनयात् तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनन्तरसमयनिर्वाणजननसमर्थानामेव सद्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः परेषां अनुकूलमार्गताव्यवस्थानात् । एतेन मोक्षस्यैव मार्गो मोक्षस्य मार्ग एवेत्युभयाव-वधारणमिष्टं प्रत्यायनीयम् ।

निश्चयनयसे तो उभयतः अवधारण करना इष्ट ही है, क्योंकि अनन्तर समयमें निर्वाणको उत्पन्न करनेमें समर्थ ही सम्यग्दर्शनादिकके मोक्षमार्गपनेकी उत्पत्ति होनेसे दूसरोंके अनुकूल मार्गपनेकी व्यवस्था होती है । इससे मोक्षका ही मार्ग है या मोक्षका मार्ग ही है इस प्रकार उभयतः अवधारण करना इष्ट है ऐसा निश्चय करना चाहिए ।

इस कथनसे चार बातोंका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है—

१. अनन्तर पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य नियमसे अपने कार्यका नियामक होता है और उससे जायमान कार्य उसका नियमसे गमक होता है । यह निश्चय उपादान-उपादेयकी व्यवस्था है ।

२. इसके पूर्व वह उस कार्यका व्यवहार उपादान कहलाता है । यह विवक्षित कार्यका नियामक नहीं होता, क्योंकि व्यवहारनयसे ऐसा कहा जाता है । जैसे मिट्टीको घटका उपादान कहना यह व्यवहारनयका वक्तव्य है । परन्तु उस मिट्टीसे, जिसे हमने घटका उपादान कहा है, घट बनेगा ही ऐसा निश्चय नहीं । यह द्रव्यशक्तिको लक्ष्यमें रखकर कहा गया है, घटकी अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको लक्ष्यमें रख कर नहीं ।

३. निश्चय उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होने पर कार्यकालमें तदनुकूल बाह्य सामग्रीका विस्रसा या प्रयोगसे योग मिलता ही है ।

४. व्यवहार उपादान कुछ विवक्षित कार्यका निश्चय उपादान नहीं होता, इसलिए वह प्रत्येक

समयमें जिस जिस कार्यका निश्चय उपादान होता जाता है उस उस कार्यको करता है और उस उस समयमें बाह्य सामग्री भी उस उस कार्यके अनुकूल मिलती है। और इस प्रकार क्रमसे उसके विवक्षित कार्यकी अपेक्षा निश्चय उपादानकी भूमिकामें आने पर वह नियमसे विवक्षित कार्यको जन्म देता है तथा प्रयोगसे या विस्रसा उसके अनुकूल बाह्य सामग्री भी उस कार्यके समय उपस्थित रहती है।

ये कार्य-कारणभावके अकाटच नियम हैं जिनका आगममें यत्र-तत्र विस्तारके साथ निर्देश किया गया है। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७१ का 'न हि द्रव्यादिसिद्धक्षणैः' इत्यादि कथन अवलोकन करने योग्य है। इस कथनमें व्यवहार उपादान और निश्चय उपादान इन दोनोंका सुस्पष्ट शब्दोंमें विवेचन किया गया है। यदि अपर पक्ष इस कथनके आधारसे पूरे जिनागमका परामर्श करनेका अनुग्रह करे तो उसे वस्तुस्थितिको समझनेमें कठिनाई न जाय।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपादान कारणको केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप न स्वीकार कर असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और अनन्तर पूर्व पर्यायरूप प्रतिविशिष्ट भावप्रत्यासत्ति इन दोनोंके समवायको ही उपादान कारणरूपसे स्वीकार किया है। यह निश्चय उपादानका स्वरूप है, अन्य नहीं। पूरे जिनागमका भी यही अभिप्राय है।

५. बाह्य सामग्री दूसरेके कार्यका यथार्थ कारण नहीं

अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकामें यह भी लिखा है कि 'क्या जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणत न होकर कार्यरूप परिणत होनेवाली अन्य वस्तुको कार्यरूपसे परिणत होनेमें सहायक होती है अर्थात् निमित्तकारण होती है उसमें कार्यके प्रति द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणताका तो अभाव ही पाया जाता है, क्योंकि वहाँ पर कार्यरूप धर्म तो अन्य वस्तुमें रहा करता है और कारणरूप धर्म अन्य वस्तुमें ही रहा करता है। तब ऐसी स्थितिमें उन कार्यभूत और कारणभूत दोनों वस्तुओंमें कालप्रत्यासत्तिके आधार पर ही कार्यकारणभाव स्वीकार किया जा सकता है, द्रव्यप्रत्यासत्तिके रूपमें नहीं। अर्थात् जिसके अनन्तर जो अवश्य ही उत्पन्न होता है और जिसके अभावमें जो अवश्य ही उत्पन्न नहीं होता है ऐसा कालप्रत्यासत्तिरूप कारणताका लक्षण ही वहाँ पर घटित होता है।' आदि।

यह अपर पक्षका वक्तव्य है। इसमें जो यह स्वीकार किया गया है कि एक द्रव्यके कार्यका कारण धर्म सहकारी सामग्रीमें ही रहा करता है सो यही यहाँ पर मुख्यरूपसे विचारणीय है। आचार्य विद्यानन्दिने बाह्य सामग्रीको कारण व्यवहारनयसे कहा है। वे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५ सू० १६ पृ० ४०९ में लिखते है—

धर्मादयः पुनराधेयास्तथाप्रतीतेः व्यवहारनयाश्रयणादिति।

परन्तु धर्मादिक द्रव्य आधेय है, क्योंकि व्यवहारनयसे वैसी प्रतीति होती है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका स्वामी व्यवहारनयसे है इस बातका निर्देश करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय १ सूत्र ७ में लिखा है—

व्यवहारनयवशात् सर्वेषाम्। ७। जीवादीनां सर्वेषां पदार्थानां व्यवहारनयवशाज्जीवः स्वामी।

व्यवहारनयसे सबका स्वामी है ॥७॥ जीवादि सब पदार्थोंका व्यवहारनयसे जीव स्वामी है।

आगे उसी सूत्रकी व्याख्यामें व्यवहारनयसे साधनका निर्देश करते हुए लिखा है—

औपशमिकादिभावसाधनश्च व्यवहारतः ।९। व्यवहारनयवशात् औपशमिकादिभावसाधनश्चेति व्यपदिश्यते । च शब्देन शुक्रशोणिताहारादिसाधनश्च ।

व्यवहारनयसे औपशमिक आदि भावसाधनवाला जीव है ।९। व्यवहारनयसे औपशमिक आदि भाव-साधनवाला जीव कहा जाता है। वार्तिकमें पठित 'च' शब्दसे शुक्र शोणित और आहारादि साधनवाला जीव है ऐसा यहाँ जानना चाहिए।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ आगममें अन्य द्रव्यको निमित्त, हेतु, आलम्बन, प्रत्यय, उदासीनकारण और प्रेरककारण कहा है वहाँ सर्वत्र यह कथन व्यवहारनय अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय या उपचारितासद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे ही किया गया है ऐसा यहाँ जानना चाहिए। इसका विशेष खुलासा हम इसी उत्तरमें पहले कर आये हैं। इसलिए एक-द्रव्यके कार्यका कारण धर्म दूसरे द्रव्यमें यथार्थरूपमें रहता हो यह तो कभी भी संभव नहीं है। आचार्य विद्यानन्दिने कार्यके साथ जो सहकारी कारणोंकी काल-प्रत्यासत्ति स्वीकार की है सो उसका आशय इतना ही है कि जिस बाह्य-सामग्रीमें प्रयोजन-विशेषको ध्यानमें रखकर कारण व्यवहार किया जाता है उसका उस कार्यके साथ एक कालमें होनेका नियम है। जैसे जब जीवके क्रोध परिणाम होता है उस समय क्रोध नामक द्रव्यकर्मका उदय नियमसे होता है। यही यहाँपर कालप्रत्यासत्ति जाननी चाहिये। ऐसी कालप्रत्यासत्ति सब द्रव्योंके सब कार्योंमें उस-उस कार्यकी बाह्य-सामग्रीके साथ नियमसे पाई जाती है। इसमें कहीं किसी प्रकारका व्यत्यय नहीं पड़ता और इसीलिए हरिवंशपुराण सर्ग २५ में यह वचन उपलब्ध होता है—

अभ्यन्तरस्य सानिध्ये हेतोः परिणतेर्वशात् ।
बाह्यो हेतुर्निमित्तं हि जगतोऽभ्युदये क्षये ॥६१॥

परिणतिके वशसे अभ्यन्तर हेतुकी निकटता होनेपर जगत्के अभ्युदय और क्षयमें बाह्य हेतु निमित्तमात्र है।

यह वस्तुस्थिति है। यदि बाह्य-सामग्रीमें अन्य द्रव्यके कार्यकी कारणता यथार्थ मानी जाती है तो उन दोनोंकी दो सत्ता न होकर एक सत्ता मानना अनिवार्य हो जावेगा, क्योंकि कोई द्रव्य और उसका गुण-धर्म अपनी सत्ताको छोड़कर दूसरे द्रव्य और उसके गुण-धर्मकी सत्तारूप त्रिकालमें नहीं होता, क्योंकि उन दोनोंका परस्परमें अत्यन्ताभाव है। इसी तथ्यको लक्ष्यमें रखकर आचार्य कुन्दकुन्दने व्यवहारनयसे घट-पट आदिका कर्त्ता आत्माको स्वीकार करके भी यह कथन समीचीन क्यों नहीं है इसका निर्देश करते हुए समयसार गाथा ९९ में लिखा है—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि वह आत्मा पर द्रव्योंको करे तो नियमसे वह परद्रव्योंके साथ तन्मय हो जाय। अतः तन्मय नहीं होता, इसलिए वह उनका कर्त्ता नहीं होता।

अपर पक्ष यहाँपर यह कह सकता है कि परद्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यका उपादान कर्त्ता भले ही न हो, निमित्तकर्त्ता तो होता ही है। सो यहाँपर प्रश्न यह है कि जिसे अपर पक्ष निमित्तकर्त्ताके रूपमें वास्तविक मानता है उसकी वह क्रिया स्वयं अपनेमें होती है या अपनी सत्ताको छोड़कर जिसका वह निमित्तकर्त्ता कहलाता है उसमें होती है। अपनी सत्ताको छोड़कर कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्यकी सत्तामें प्रवेश करके उसके

कार्यकी क्रियाको कर सकता है यह कथन तो अपर पक्षको भी मान्य नहीं होगा। अतएव यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि एकमात्र कालप्रत्यासत्तिको दृष्टिमें रखकर ही बाह्य-सामग्रीमे कारणताका उपचार किया गया है। अतएव बाह्य-सामग्रीमे जो निमित्त कारणता स्वीकार की गई है उसे वास्तविक न मानकर उपचरित ही मानना चाहिये।

जैसे कृत्तिकानक्षत्रका उदय अन्तर्मुहूर्त्तबाद शकटनक्षत्रके उदयका नियमसे ज्ञापक है, क्योंकि इन दोनोंके उदयमे ऐसा नियम पाया जाता है कि कृत्तिकानक्षत्रका उदय होनेपर अन्तर्मुहूर्त्तबाद नियमसे शकटनक्षत्रका उदय होगा वैसे ही विवक्षित कार्यके होनेमें जो सामग्री व्यवहारसे निमित्त होती है उन दोनोके एक कालमें होनेका नियम है। इसीका नाम कार्यकी कारणके साथ बाह्य व्याप्ति है और इसे ही कार्यके प्रति कारणकी अनुकूलता व समग्रता कहते हैं। अतएव बाह्य सामग्री दूसरे द्रव्यके कार्यका यथार्थ कारण न होनेपर भी वह उसका उपचरित कारण कहा गया है और इसी आधारपर उसका कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक भी बन जाता है, तब व्यवहारनयसे यह कहनेमें आता है कि उपादानकारण हो और बाह्य-सामग्री न हो तो कार्य नहीं होता। यहाँपर उपादान कारणका अर्थ व्यवहार उपादानकारण लेना चाहिए, निश्चय उपादान कारण नहीं। इस विषयका विशेष खुलासा हमने शंका पाँचके तृतीय उत्तरमे विस्तारसे किया है, इसलिए उसे वहाँसे जान लेना चाहिए। यहाँ शकट और कृत्तिकानक्षत्रका उदाहरण कार्यकारणभावकी दृष्टिसे नहीं दिया है, केवल क्रमका ज्ञान करानेके अभिप्रायसे दिया है।

६. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकके उल्लेखका तात्पर्य

अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ १५१ का एक उल्लेख उपस्थित कर हमारे कथनकी अप्रामाणिकता घोषित करते हुए अपने कथनको बड़ी संजीदगीके साथ प्रामाणिक घोषित करनेका प्रयत्न किया है, किन्तु उस पक्षने जिस उद्धरणको उपस्थित कर अपनी कल्पनाको प्रामाणिक घोषित किया है, उसी उद्धरणके बाद आये हुए इस वाक्यपर यदि वह दृष्टिपात करता तो सम्भव था कि वह अपने विचारोंको परिवर्तित करनेके लिए प्रस्तुत हो जाता। आचार्य विद्यानन्दिने द्विष्ठ कार्यकारणभावको व्यवहारनयसे यद्यपि पारमार्थिक बताकर कल्पनारोपितपनेका निषेध किया है, परन्तु वहींपर वे संग्रहनय और ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा उसे कल्पनामात्र भी प्रसिद्ध कर रहे हैं। सो क्यों? क्या दोका सम्बन्ध वास्तविक नहीं है जिससे संग्रहनय और ऋजुसूत्रनय उसे कल्पनामात्र बतलाकर उसका निषेध करते है। स्पष्ट है कि व्यवहारनयका अर्थ ही प्रकृतमें असद्भूत व्यवहारनय है और असद्भूतव्यवहारको आचार्योंने उपचार कहा ही है। इसके लिए आलापपद्धतिका प्रमाण हम पूर्वमे ही दे आये है। इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य-सामग्रीको अन्य द्रव्यके कार्यका निमित्त कहना उपचार है और उस कार्यको बाह्य-सामग्रीका नैमित्तिक कहना यह भी उपचार है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक भावके उपचरित सिद्ध होनेपर उपादान-उपादेय भाव ही वास्तविक ठहरता है, निमित्त-नैमित्तिकभाव नहीं। फिर भी आचार्य विद्यानन्दिने जो द्विष्ठ कार्यकारणभावको कल्पनारोपितपनेका निषेध करके पारमार्थिक कहा है सो उसका कारण अन्य है। बात यह है कि किसीका किसीमें उपचार धर्मविशेषको देखकर ही किया जाता है। जैसा कि हम तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय १ सूत्र ५ का उल्लेख दे करके बतला आये है कि जिस बालकमें सिंहके समान अंशतः क्रौर्य और शौर्य आदि गुण पाये जाते हैं उसीमें ही सिंहका उपचार कर 'माणवकोऽयं सिंहः—यह बालक सिंह है' यह कहा जाता है। उसी प्रकार जिस बाह्य-सामग्रीमे निमित्त व्यवहार किया जाता है उसमे भी उपादानके समान अपने कार्यके

कर्त्ता आदि कारण धर्मोंको देखकर और उपादानके कार्यके साथ उसकी अन्वय-व्यतिरेकरूप बाह्य व्याप्तिको देखकर यह व्यवहार किया जाता है कि यह सामग्री इस कार्यका कारण है। यहाँपर बाह्य-सामग्रीमें जो कारणताका व्यवहार किया गया है वह तो उपचरित ही है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसमें अपने उपादेयभूत कार्यकी जो कारणता पाई जाती है वह वास्तविक है और इसी प्रकार जिस कार्यकी वह बाह्य-सामग्री निमित्त कारण कही गई है वह कार्य भी अपने उपादानकी अपेक्षा वास्तविक ही है, कल्पनारोपित नहीं। चूँकि व्यवहार नय इन्हीं दोनोंको दूसरे रूपमें स्वीकार करता है, इसलिए यहाँपर आचार्य विद्यानन्दिने द्विष्ट सम्बन्धरूप कार्यकारणभावको व्यवहारसे कल्पनारोपित न कहकर वास्तविक कहा है। आचार्य विद्यानन्दिने ऐसे कार्यकारणभावको संग्रहनय और ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा जिन शब्दोंमें कल्पनामात्र बतलाया है उनके वे शब्द इस प्रकार हैं—

संग्रहर्जुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्सम्बन्धोऽन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वमविरुद्धं।

आशय यह है कि प्रत्येक उपादान-उपादेयके साथ प्रत्येक निमित्त-नैमित्तिककी एक तो कालप्रत्यासत्ति है जो कल्पनारोपित न होकर यथार्थ है।

दूसरे जिसमें निमित्तव्यवहार किया गया है उसमें अपने क्रियमाण कार्यकी अपेक्षा कारण, कर्त्ता आदि धर्म पाये जाते है और जिसमें नैमित्तिक व्यवहार किया गया है उसमें अपने उपादानकारणकी अपेक्षा कर्म-धर्म पाया जाता है। ये भी कल्पनारोपित न होकर वास्तविक हैं।

तीसरे जिस बाह्य-सामग्रीमें निमित्तकर्त्ता या निमित्तकारण धर्मका आरोप किया जाता है उसके सदृश प्रायः उपादेय-कार्य होता है जो कल्पनारोपित न होकर वास्तविक है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्दिने व्यवहारनयकी अपेक्षा भी द्विष्ट कार्यकारणभावको कल्पनारोपित न लिखकर वास्तविक लिखा है।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्त व्यवहारको और इसी प्रकार उपादानके कार्यरूप उपादेयमें किये गये नैमित्तिक व्यवहारको वास्तविक मान लिया जाय। अतएव तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकके उक्त उल्लेखमें जो अर्थ निहित है, उसे ध्यानमें रखकर ही यहाँ पर उसका अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त उल्लेखका क्या अभिप्राय है इसका यहाँ खुलासा किया।

७. उपचार पदके अर्थका स्पष्टीकरण

यहाँ पर अपर पक्षने उपचारका अर्थ निमित्त-नैमित्तिकभाव किया है और इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिकभावको यथार्थ मानकर हमें सलाह दी है कि हम भी उनकी इस मान्यताको स्वीकार कर लें, किन्तु जब हम आगममें कहाँ किस अर्थमें उपचार पदका प्रयोग हुआ है इस पर सम्यक् रूपसे दृष्टिपात करते हैं तो हमें कहना पड़ता है कि अपर पक्षकी हमें दी गई यह सलाह उचित नहीं है। इसके लिए हम अपर पक्षके सामने कुछ ऐसे प्रमाण रख देना चाहते हैं जिससे उसे इस बातके समझनेमें सहायता मिले कि जहाँ एक वस्तुके गुण-धर्मका दूसरी वस्तुमें आरोप किया जाता है वहाँ उपचारपदकी प्रवृत्ति होती है। इसके लिए कुछ प्रमाणोंपर दृष्टिपात कीजिए—

१. अतएव न मुख्याः स्वस्य प्रदेशा इति चेन्न, मुख्यकार्यकारणदर्शनात्। तेषामुपचरितत्वे तदयोगात्। न ह्युपचरितोऽग्निः पाकादावुपयुज्यमानो दृष्टस्तस्य मुख्यत्वप्रसंगात्।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४०३

२. ततः कालमा स्वतो वृत्तिरेवोपचारतो वर्तना, वृत्तिवर्तकयोर्विभागाभावान्मुख्यवर्तनानुपपत्तेः।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४१४

३. भूतादिव्यवहारोऽतः कालः स्यादुपचारतः।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४१९

४. द्रव्येष्वपि गुणास्तदुपचरिता एव भवन्तु विशेषाभावादित्ययुक्तं, क्वचिन्मुख्यगुणाभावे तदुपचारायोगात्।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४४०

५. अज्ञानरूपस्यापि प्रदीपादेः स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वोपलम्भात्तेन तस्याऽव्याप्तिरित्यप्ययुक्तम्, तस्योपचारात्तत्र साधकतमत्वव्यवहारात्।

—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ८

१. शंका—अतएव स्व के प्रदेश मुख्य नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मुख्य कार्य-कारण देखा जाता है। उनके उपचरित होने पर कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता। उपचरित अग्नि पाकादिकके उपयोगमें आती हुई नहीं देखी जाती, अन्यथा उसे मुख्य अग्निपनेका प्रसंग प्राप्त होता है।

२. इसलिए काल परमाणु स्वतः वृत्ति होनेके कारण उपचारसे वर्तना है, क्योंकि वृत्ति और वर्तकमें विभागका अभाव होनेसे मुख्य वर्तना नहीं बन सकती।

३. अतः भूतादि व्यवहार उपचारसे काल है।

४. शंका—द्रव्योंमें भी जो गुण हैं वे उपचरित ही रहे आवें, क्योंकि कोई विशेषता नहीं है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कहीं मुख्य गुणोंका अभाव होनेपर उनका उपचार नहीं बन सकता।

५. शंका—यद्यपि दीपक अज्ञानरूप है तो भी उसकी स्व–पर परिच्छित्तिमें साधकतमपनेकी उपलब्धि होनेसे उसके साथ उसकी अव्याप्ति प्राप्त होती है ?

समाधान—यह कहना अयुक्त है, क्योंकि उपचारसे उसमें साधकतमपनेका व्यवहार किया गया है।

ये आगमके कुछ प्रमाण हैं। जिनमें यह स्पष्ट रूपसे बतलाया गया है कि जो वास्तविक न होकर भी प्रयोजनादिको ध्यानमें रखकर दूसरी वस्तुके गुण-धर्मके नामपर व्यवहार पदवीको प्राप्त होता है उसकी आगममें उपचार संज्ञा रखी गई है। अतः आगममें असद्भूतव्यवहार और उपचार इन दोनों पदोंका एक ही अर्थ है। इनमें अर्थभेद नहीं है, इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ५६ की टीकामें व्यवहार नयका व्याख्यान करते हुए 'इह हि..........परभावं परस्य विदधाति।' इन शब्दों द्वारा व्यवहारनयके विषयमें स्पष्टीकरण किया है। पंडितप्रवर जयचन्दजीने व्यवहारनय उसको कहा है जो दूसरेके भावोंको दूसरोंके कहता है। उक्त गाथाकी टीकामें उनके शब्द हैं—

यहाँपर व्यवहारनय, पर्यायाश्रित होनेसे पुद्गलके संयोगवश अनादिकालसे प्रसिद्ध जिसकी बन्ध पर्याय है ऐसे जीवके कसूमके लाल रंगसे रंगे हुए सफेद वस्त्रकी तरह औपा-

धिक वर्णादि भावोंको आलम्बनकर प्रवर्तती है, इसलिए वह व्यवहारनय दूसरेके भावोंको दूसरोंके कहती है।'

इस प्रकार आगममें उपचार पदका क्या अर्थ लिया गया है, इसका यहाँ स्पष्टीकरण किया। हमें आशा है कि अपर पक्षने जो उपचारका अर्थ निमित्त-नैमित्तिक भाव किया है उसके स्थानमें वह 'अन्य वस्तुके गुणधर्मको दूसरी वस्तुमें आरोपित करना इसका नाम उपचार है' इसको ही उपचार पदका अर्थ स्वीकार करेगा। और इस प्रकार वह 'जो नय अन्य वस्तुके गुण-धर्मको अन्य वस्तुके कहता है या ग्रहण करता है वह व्यवहार असद्भूत व्यवहार नय है' इस अभिप्रायको भी स्वीकार करेगा।

८. बन्ध-मोक्ष व्यवस्था

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने आचार्य विद्यानन्दिके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें आये हुए १४, १५ और १६ संख्याक वार्तिकोंके आधारपर चर्चा करते हुए 'ततः सकलकर्मविप्रमोक्षो' इत्यादि उल्लेख उपस्थितकर जो बन्ध-मोक्षादि व्यवस्थाको वास्तविक माननेकी सूचना की है सो इस सम्बन्धमें निवेदन यह है कि आगममें द्रव्य और भावके भेदसे बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सबको दो दो प्रकारका बतलाया है। उनमेंसे भावबन्ध, भावसंवर, भावनिर्जरा और भावमोक्ष ये चारों स्वयं जीवकी अवस्था होनेसे या उस पर्याय विशिष्ट स्वयं जीव होनेसे ये स्वयं जीव ही हैं, ऐसा मानना यथार्थ ही है। इसका न तो हमने कहीं निषेध किया है और न निषेध किया ही जा सकता है। सम्भव है कि अपर पक्ष भी इस वस्तुस्थितिको स्वीकार करेगा। इतना अवश्य है कि जीवके राग-द्वेष आदि भावोंको निमित्तकर जो कार्मण वर्गणाओंमें कर्मरूप परिणाम होता है उसे आगममें द्रव्यबन्ध कहा है। इसी प्रकार द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यमोक्षका स्वरूप जान लेना चाहिए। सो इन्हें आगममें जहाँ जिस रूपमें निर्दिष्ट किया है उनको उस रूपमें जानना ही यथार्थ जानना है, किन्तु इसके स्थानमें यदि कोई श्रुतज्ञानी जीव जीवके राग-द्वेष आदि परिणामोंमें रुकनेको वास्तविक बन्ध न समझकर कार्मण वर्गणाओंके राग-द्वेष आदि परिणामोंको निमित्तकर हुए ज्ञानावरणादि कर्म परिणामको जीवका वास्तविक बन्ध समझनेकी चेष्टा करे तो उसे सच्चा श्रुतज्ञानी नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको उपचरित स्वीकार करनेसे बन्ध-मोक्षकी व्यवस्थामें बाधा आना सम्भव नहीं है, किन्तु इसके स्थानमें यदि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको वास्तविक मान लिया जाय तो अवश्य ही बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था भंग हो जायगी, क्योंकि वैसी अवस्थामें दो या दोसे अधिक द्रव्योंका संयोग वास्तविक सिद्ध हो जानेपर वे सब द्रव्य मिलकर एक हो जावेंगे। इसलिए नानात्वकी व्यवस्था न बन सकनेसे किसका बन्ध और किसका मोक्ष? यह सब व्यवस्था गड़बड़ा जावेगी। अतएव यदि अपर पक्ष आगमोक्त बन्ध-मोक्षकी व्यवस्थाको स्वीकार करना चाहता है तो उसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको भी आगमके अनुसार उपचरित स्वीकार कर लेना चाहिए। आचार्य विद्यानन्दि द्विष्ठ कार्य-कारणभावको निश्चयनयसे परमार्थभूत नहीं निर्दिष्ट कर रहे हैं। किन्तु वे व्यवहारनयसे ही उसे परमार्थभूत कह रहे हैं। सो आगममें जैसे नामसत्य, स्थापनासत्य, जनपदसत्य, सम्मतिसत्य आदिका निर्देश किया गया है और उस रूपमें इन्हें माननेमें बाधा भी नहीं आती है। यदि कोई सम्यग्ज्ञानी जीव उस रूपमें उन नामादि व्यवहारोंको जानकर कथन करता है तो उसका वह जानना या कथन करना मिथ्या नहीं माना जाता है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्ष ही बतलावे कि जो सम्यग्ज्ञानी जीव निमित्त-

नैमित्तिक व्यवहारको उपचरितरूपसे स्वीकार करता है उसका वैसा स्वीकार करना मिथ्या कैसे माना जायेगा ? अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि आगममें जिस वस्तुको जिस रूपमें स्वीकार किया गया है उसको उसी रूपमें ग्रहण करना यही सच्चा सम्यग्ज्ञान है और अन्यथा रूपसे ग्रहण करना यही मिथ्याज्ञान है।

आचार्य विद्यानन्दिने उक्त वार्तिकोंद्वारा क्षणिकैकान्त और नित्यैकान्तका निरास कर बन्ध-मोक्ष व्यवस्था कैसे बनती है और व्यवहारनयसे साध्य-साधनभावका क्या स्थान है इसका सम्यक्प्रकारसे विचार किया है सो इसे समझकर ही उसका निर्णय करना यही प्रत्येक सम्यग्ज्ञानी जीवका कर्तव्य है। इस विषयको स्पष्टरूपसे समझनेके लिए तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सूत्र २ का यह वचन पर्याप्त होगा—

स्व-परनिमित्तत्वादुत्पादस्येति चेत् ? न, उपकरणमात्रत्वात् ।११। स्यादेतत् स्व-परनिमित्त उत्पादो दृष्टः। यथा घटस्योत्पादो मृन्निमित्तो दण्डादिनिमित्तश्च। तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुत्पद्यते इति ? तन्न, किं कारणम् ? उपकरणमात्रत्वात्। उपकरणमात्रं हि बाह्यसाधनम्। किञ्च—

आत्मपरिणामादेव तद्रसघातात् ।१२। यदिदं दर्शनमोहाख्यं कर्म तदात्मगुणघाति, कुतश्चिदात्मपरिणामादेवोपक्षीणशक्तिकं सम्यक्त्वाख्यां लभते। अतो न तदात्मपरिणामस्य प्रधानं कारणम्, आत्मैव स्वशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यत इति तस्यैव मोक्षकारणत्वं युक्तम्।

प्रश्न—उत्पाद स्व-परनिमित्तक होता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि बाह्यसाधन उपकरणमात्र है ॥११॥

यदि कोई कहे कि उत्पाद स्व-परनिमित्तक देखा गया है। जैसे घटका उत्पाद मिट्टीनिमित्तक और दण्डादिनिमित्तक होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनका उत्पाद आत्मानिमित्तक और सम्यक्त्व पुद्गलनिमित्तक होता है। इसलिए सम्यक्त्व पुद्गलमें भी मोक्षकी कारणता बन जाती है, उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है सम्यक्त्व पुद्गल उपकरणमात्र है। बाह्य-साधन नियमसे उपकरणमात्र है।

आत्माके परिणामसे ही उसके रसका घात होता है ॥१२॥

जो यह दर्शनमोह नामका कर्म है वह आत्माके गुणका घाती है। अतएव किसी आत्म-परिणामको ही निमित्तकर उपक्षीण शक्तिवाला होकर वह सम्यक्त्व इस संज्ञाको प्राप्त होता है। इसलिए वह आत्माके परिणामका प्रधान हेतु नहीं है। आत्मा ही अपनी शक्तिसे दर्शनपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है, इसलिए उसीके मोक्षकी कारणता युक्त है।

इस प्रकार इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपनी शक्तिके बलसे उपादान होकर प्रत्येक समयमें अपनी नई पर्यायको उत्पन्न करता है और पुरानी पर्यायका ध्वंस करता है। हमने अपने प्रथम उत्तरमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके जिस उद्धरणका उल्लेखकर यह सिद्ध किया है कि निश्चयनयसे प्रत्येक द्रव्य स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाला होनेसे उसमें उत्पाद-व्ययकी व्यवस्था विस्रसा ही बनती है। और व्यवहारनयसे ही उसका उत्पाद-व्यय सहेतुक प्रतीत होता है, सो हमारा यह कथन तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखको दृष्टिमें रखते हुए साधु ही प्रतीत होता है। हम तो अपर पक्षसे ही यह आशा लगाये हुए हैं कि वह भी प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला न स्वीकार करके मात्र प्रतिनियत योग्यतावाला स्वीकार करके ही प्रतिनियत कार्यकी व्यवस्थाको मान्य करते हुए निमित्त-नैमित्तिक व्यवहारको उपचरित

स्वीकारकर लेगा आचार्य विद्यानन्दि अपनी अष्टसहस्री पृष्ठ ११२ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी स्वाभावान्तर निरपेक्षरूपसे जो व्यवस्था कर रहे हैं उस पर भी थोड़ा दृष्टिपात कीजिए। इससे वस्तुस्थितिको हृदयङ्गम करनेमें विशेष सहायता मिलेगी।

स्वयमुत्पित्सोरपि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि तदपेक्षणप्रसङ्गात्। एतेन स्थास्नोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तं, विस्रसा परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रयव्यवस्थानात्तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्।

यदि स्वयं उत्पन्न होनेवाला पदार्थ स्वभावान्तरकी अपेक्षा करे तो विनाश होनेवालेको भी स्वभावान्तरकी अपेक्षा करनेका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। इस कथनसे स्थानशील पदार्थ स्वभावान्तरकी अपेक्षा नहीं करता यह कह दिया गया है, क्योंकि विस्रसा परिणमन करनेवाले पदार्थोंमें कारणान्तर निरपेक्ष होकर उत्पादादित्रयकी व्यवस्था है। उनके विशेषमें ही हेतुका व्यापार स्वीकार किया गया है।

यह स्वामी विद्यानन्दिका वचन है। इससे हम यह बात अच्छी तरहसे जान लेते हैं कि प्रत्येक उत्पादमें जो बाह्य और आभ्यन्तर हेतुकी स्वीकृति है उसका अभिप्राय क्या है। उत्पाद स्वभावसे उत्पाद है, वह कथञ्चित् व्यय और ध्रौव्यरूप भी है। व्यय स्वभावसे व्यय है, वह कथञ्चित् उत्पाद और ध्रौव्य स्वरूप भी है। ध्रौव्य स्वरूपसे ध्रौव्य है, वह कथञ्चित् उत्पाद और व्यय स्वरूप भी है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी यह व्यवस्था स्वभावतः परनिरपेक्ष होकर स्वतःसिद्ध है। फिर भी जो हेतुका व्यापार स्वीकार किया गया है वह केवल एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें व्यतिरेक दिखलानेके लिए ही स्वीकार किया गया है। कथन थोड़ा सूक्ष्म और वस्तुस्पर्शी है। हमें भरोसा है कि अपर पक्ष इसके हार्दको हृदयङ्गम करेगा। इससे अपर पक्षको यह भी समझनेमें सहायता मिलेगी कि—'*येन कारणेन यत्कार्यं जायते तेनैव तत्कार्यं, न तु कारणान्तरेण*।'—जिस कारणसे अर्थात् उपादान कारणसे बाह्य सामग्रीको निमित्तकर जो कार्य उत्पन्न होता है उस कारणसे ही अर्थात् उपादान कारणसे ही बाह्य सामग्रीको निमित्तकर वह कार्य उत्पन्न होता है। कारणान्तरसे नहीं। अष्ट० स० टि० १४ पृ० ११२।

हमने अपने दूसरे उत्तरको लिखते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके एक उद्धरणमें आये हुए 'सहेतुकत्व प्रतीतेः' पदमें पठित 'प्रतीतेः' पदकी ओर अपर पक्षका ध्यान आकृष्ट किया था। किन्तु अपर पक्षने उसके अभिप्रायको ग्रहण न कर उस पर टिप्पणी करना ही उचित समझा है। हम आशा करते हैं कि वह पुनः उस ओर ध्यान देनेकी कृपा करेगा। इसके हार्दको समझनेके लिए हम समयसार गाथा ९८ की आत्मख्याति टीकामें आये हुए 'प्रतिभाति' पद की ओर अपर पक्षका पुनः ध्यान आकृष्ट करते हैं। इसकी टीकामें कहा गया है कि यह जीव अपने विकल्प और हस्तादि क्रियारूप व्यापार द्वारा घट आदि पर द्रव्य स्वरूप बाह्य कर्मको करता हुआ प्रतिभासित होता है, इसलिए यह उसका व्यामोह ही है।

स्पष्ट है कि परद्रव्यके किसी भी कार्यमें बाह्य सामग्री निश्चयकी प्रतीतिका हेतु होनेसे व्यवहार कारणरूपसे ही स्वीकार की गई है। यही पूरे जिनागमका सार है। इससे बन्ध-मोक्षव्यवस्था जिनागममें किस रूपमें स्वीकार की गई है इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

९. जगतका प्रत्येक परिणमन क्रमानुपाती है

अपर पक्षने हमारे पिछले इस कथनपर टिप्पणी की है, जिसमें हमने बतलाया था कि अपर पक्षकी मान्यता ऐसी प्रतीत होती है कि 'जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है।' हमारा यह वक्तव्य

अपर पक्षको बहुत खला है। और इसलिए उसपर उसने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है। किन्तु इससे हमारे उस कथनकी सार्थकतामें अणुमात्र भी फरक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब अपर पक्ष प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला मानकर निमित्तोंके बलसे कार्यकी उत्पत्ति होनेका विधान करता है ऐसी अवस्थामें एक तो उसे वही मानना होगा कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है, क्योंकि उपादान अनेक योग्यतावाला होनेसे उससे क्या कार्य उत्पन्न हो इसमें उसका वस्तुतः कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रह जाता। कार्यरूपमें जो कुछ भी फल सामने आता है उसे निमित्तका ही परिणाम समझना चाहिए। यदि अपर पक्ष कहे कि 'उपादान भले ही अनेक योग्यतावाला रहा आवे, परन्तु प्रत्येक कार्यका निमित्त सुनिश्चित है, इसीलिए उसके बलसे प्रत्येक समयमें सुनिश्चित कार्यकी ही उत्पत्ति होती है' इसलिए 'जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है, जो यह आरोप हमारे (अपर पक्षके) ऊपर किया जाता है वह ठीक नहीं है। सो अपर पक्षका उक्त दोपसे बचनेके लिए यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक समयके कार्यके सुनिश्चित निमित्तोंके स्वीकारकर लेने पर निमित्तोंके आधारपर एकान्त नियतिको माननेका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। जिस दोपसे वह अपनेको बचा नहीं सकता। वह पक्ष आगमके बलका नाम लेकर घोपणा चाहे जो करे, लेखनी उसकी है। किन्तु जबतक वह प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत उपादानको नहीं स्वीकार कर लेता, तबतक वह अपनेको उक्त दोपोंसे नहीं बचा सकता। स्वपरसापेक्ष कार्य होता है, इस कथनमें जैसे कार्य सुनिश्चित है, वैसे ही उसकी सामग्री भी सुनिश्चित मान लेनी चाहिए। **यह वस्तु स्वभाव है कि प्रत्येक कार्यमें बाह्य और आभ्यन्तर सुनिश्चित सामग्रीकी समग्रता रहती ही है।**

अपर पक्षने पुनः मिट्टीको उदाहरण रूपमें उपस्थितकर उससे जायमान कार्योंकी मीमांसा की है। वह बाह्य सामग्रीके व्यापारको तो प्रत्यक्ष देखता है, इसलिए उस आधारपर कार्यकी व्यवस्था करना चाहता है। किन्तु कौन मिट्टी किस कालमें किस प्रकारके परिणमनकी योग्यतावाली है इसे अपने इन्द्रिय प्रत्यक्षसे नहीं जानता। इसलिए उसमें नाना तर्कणाएँ लगाता है।

यह तो सुनिश्चित है कि इस जगतका परिणमन अनादिकालसे होता हुआ चला आ रहा है। एक द्रव्यमें अबतक जितने भी परिणमन हुए हैं उतने ही परिणमन अन्य सब द्रव्योंमें भी हुए है। इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो न तो किसी द्रव्यमें कम परिणमन हुए हैं और न अधिक ही। और इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यके अब तक जितने परिणमन हुए हैं उतने बार ही उन परिणमनोंकी निमित्तभूत बाह्य आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रता भी मिली है। इसमें भी न न्यूनता हुई है और न अधिकता ही। यह जगतके परिणमनका क्रम है। भविष्यमें भी यह क्रम इसी प्रकार चालू रहेगा। उसमें भी न कमी होगी और न अधिकता ही। इस प्रकार जब हम इस क्रमको दृष्टिपथमें रखकर विचार करने लगते हैं तो यह स्पष्ट होनेमें देरी नहीं लगती कि वर्तमान समयमें जिस किसी भी द्रव्यका जो उपादान-उपादेय योग और निमित्त-नैमित्तिक योग चल रहा है वह पूर्वोक्त विधिसे क्रमानुपाती ही है। हाँ, यदि यह होता कि कोई द्रव्य कभी परिणमन करे और कभी न करे तो अवश्य ही कार्य-कारण आदिकी सब व्यवस्थामें अनियतपनेका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता, किन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ नियतक्रमसे ही परिणमन करते हुए चले आरहे हैं, अतएव प्रत्येक समयमें प्रत्येक कार्यको सुनिश्चित निमित्त नैमित्तिक व्यवस्थाके समान उपादान-उपादेय व्यवस्था भी सुनिश्चित ही प्राप्त होती है। आगममें निमित्त-नैमित्तिक दृष्टिसे इसका विचार तो बहुत ही कम किया है। मात्र उपादान-उपादेय दृष्टिसे इसका विचार

विशेषरूपसे किया गया है। प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक परिणमन कैसे क्रमानुपाती है इसका निर्देश करते हुए अष्टसहस्री पृ० १०० में लिखा है—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोऽनन्तरात्मा। न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसंगः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्। 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः' इति वक्ष्यमाणत्वात्। प्रागभावतत्प्रागभावादेस्तु पूर्व-पूर्वपरिणामस्य सन्तत्यानादेर्विवक्षितकार्यरूपत्वाभावात्। न च तत्रास्येतरेतराभावः परिकल्प्यते, येन तत्पक्षोपक्षिप्तदूषणावतारः स्यात्। नाप्येवं प्रागभावस्यानादित्वविरोधः, प्रागभाव-तत्प्रागभावादेः प्रागभावसन्तानस्यानादित्वोपगमात्। न चात्र सन्तानिभ्यस्तत्त्वान्यत्वपक्षयोः सन्तानो दूषणार्हः, पूर्व-पूर्वप्रागभावात्मकभावक्षणानामेवापरामृष्टभेदानां सन्तानत्वाभिप्रायात्। सन्तानिक्षणापेक्षया तु प्रागभावस्यानादित्वाभावेऽपि न दोषः, तथा ऋजुसूत्रनयस्येष्टत्वात्। तथास्मिन् पक्षे पूर्वपर्यायाः सर्वेऽप्यनादिसन्ततयो घटस्य प्रागभाव इति वचनेऽपि न प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसंगः, येन तस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसन्ततेरप्यनादित्वादापद्यते, घटात्पूर्वक्षणानामशेषाणामपि तत्प्रागभावरूपाणामभावे घटोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रागनन्तरक्षणानिवृत्तौ तदन्यतमक्षणानिवृत्ताविव सकलतत्प्रागभावनिवृत्त्यसिद्धेर्घटोत्पत्तिप्रसंगाभावात्। आदि।

ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा तो प्रागभाव कार्यका पूर्व अनन्तर परिणामस्वरूप उपादान ही है। और उसके प्रागभाव होने पर उसमे पूर्व अनादि परिणाम सन्ततिमें कार्यके सद्भावका प्रसंग आता है सो भी बात नहीं है, क्योंकि प्रागभावका विनाश कार्यरूपता है ऐसा स्वीकार किया है। 'कार्यका उत्पाद ही व्यय है, एक हेतुक होने से' ऐसा आगे कहेंगे भी। प्रागभाव, उसका प्रागभाव इस प्रकार पूर्व-पूर्व परिणाम सन्ततिके अनादि होनेसे उसमें विवक्षित कार्यरूपताका अभाव है। उसमें इतरेतराभावकी कल्पना करना ठीक नहीं, जिससे कि उसके पक्षमें दिये गये दूषणोंका अवतार होवे। और इस प्रकार प्रागभावको अनादि होनेका भी विरोध नहीं है, क्योंकि प्रागभाव, उसका प्रागभाव आदि इस प्रकार प्रागभावकी सन्तानका अनादिपना स्वीकार किया है। और यहाँ पर सन्तानियोंसे सन्तान भिन्न है कि अभिन्न है इस प्रकार दो पक्ष उपस्थित होनेपर सन्तान दूषणके योग्य भी नहीं है, क्योंकि भेदोंको न स्पर्श करते हुए पूर्व-पूर्व प्रागभावस्वरूप भावक्षणोंमें ही सन्तानपनेका अभिप्राय है। सन्तानी क्षणकी अपेक्षासे तो प्रागभावके अनादिपनेके अभावमें भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा वैसा इष्ट है। तथा इस पक्षमें अनादि सन्ततिरूप सभी पूर्व पर्याय घटका प्रागभाव है ऐसा वचन होनेपर भी जिस प्रकार प्राक् अनन्तर पर्यायकी निवृत्ति होने पर घटकी उत्पत्ति होती है उस प्रकार उससे पूर्व पर्यायोंकी निवृत्ति होनेपर भी घटकी उत्पत्तिका प्रसंग नहीं उपस्थित होता, जिससे कि पूर्व पर्यायोंकी निवृत्तिरूप सन्ततिके अनादि होनेसे घटको भी अनादिता प्राप्त हो जाय, क्योंकि घटसे उसके प्रागभावरूप जितने भी पूर्व क्षण है उन सभीके अभाव होनेपर घटकी उत्पत्ति स्वीकार की है, कारण कि जिस प्रकार उनमेंसे किसी एक क्षणकी निवृत्ति नहीं हुई तो उस (घट)के समस्त प्रागभावोंकी निवृत्ति सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार प्राक् अनन्तर क्षणकी निवृत्ति नहीं होने पर घटकी उत्पत्तिका प्रसंग नहीं उपस्थित होता।

यह पूरे कार्य-कारणभाव पर प्रकाश डालनेवाला अष्टसहस्रीका वचन है। इस द्वारा यह स्पष्ट बतलाया गया है कि मिट्टी द्रव्यकी पर्यायसन्ततिमें घटकी उत्पत्तिका जो स्वकाल है उसी कालमें घटकी उत्पत्ति होती है, अन्य कालमें नहीं। यदि कोई प्रजापति घटोत्पत्तिके अनुकूल क्रिया करते हुए रुक जाता है तो उसका वह रुकना अकस्मात् न समझ कर अपनी पर्याय सन्ततिमें क्रमानुपाती ही समझना चाहिए। और उस समयसे

मिट्टीके पिण्डमें घटोत्पत्तिके अनुरूप परिणाम न होकर अन्य परिणाम होता है सो उसे भी उक्त आगम प्रमाणके प्रकाशमें क्रमानुपाती ही समझना चाहिए। यह वस्तुव्यवस्था है, किन्तु इसे न स्वीकार कर अपर-पक्ष अपनी मानसिक कल्पनाओंके आधार पर जो नाना विकल्प करता है सो यह उसका वस्तुव्यवस्थामें हस्तक्षेप ही कहा जायगा। किसी भी द्रव्यका कोई भी कार्य परके ऊपर अवलम्बित नहीं है। आचार्य अकलंकदेवके शब्दोंमें बाह्य सामग्री तो उपकरणमात्र है। यदि एक समयमें अनेक उपादानशक्तियाँ आगममें स्वीकार की गई होतीं और जिसके अनुरूप परका सहयोग मिलता उसका विकास आगम स्वीकार करता तो भले ही परके सहयोगके अभावमें उपादान शक्तियाँ लुप्त पड़ी रहतीं और वे परके सहयोगकी प्रतीक्षा करती रहतीं, किन्तु आगममें तो जितना कार्य होता है मात्र उतना ही निश्चय उपादानकारण स्वीकार किया गया है, अतएव उपादान शक्तियोंके न तो लुप्त पड़े रहनेका प्रश्न उपस्थित होता है और न ही उनके परकी प्रतीक्षा करते रहनेका ही प्रश्न उपस्थित होता है। कोई मिट्टी यदि घड़ा नहीं बनती तो उसके घड़ारूप परिणमनेका स्वकाल नहीं आया, इसलिए वह घड़ा नहीं बनती, परके कारण नहीं, क्योंकि घटोत्पत्तिमें पर तो निमित्तमात्र है। मिट्टीको लानेवाला कुम्भकार कौन? उसकी क्रियावती शक्तिका विपाक काल आने पर ही उसका स्थानान्तरण होता है, उसमें पर तो उपकरणमात्र है। सर्वार्थसिद्धिके देवोंमें क्रियावती शक्ति भी है, वैसा कर्मोदय भी है, फिर भी उनका सातवें नरक तक गमन नहीं होता। क्यों? क्योंकि उनके क्रियावती शक्तिका वैसा विपाक त्रिकालमें नहीं है। जिसे अपर पक्ष पुरुषार्थ कहता है वह प्रकृतमें प्राणीकी इहचेष्टाको छोड़कर और क्या वस्तु है इसका वह स्वयं विचार करे। सो क्या उसके सब कार्य इहचेष्टा पर निर्भर हैं? यदि नहीं तो वह अन्य द्रव्यके कार्यमें हस्तक्षेपके विकल्पमें ही कार्य-कारणभावकी प्रतिष्ठाका स्वप्न क्यों देखता है? **किसीके भी बलका प्रयोग अपनेमें होता है, परमें नहीं।**

यह तो हमारी आपकी और हमारे-आपके समान दूसरे जनोंकी समझ भर है कि हम सब किसी भी वस्तुका योग मिलने पर उसमें सम्भव द्रव्यशक्तियोंको लक्ष्यमें रख कर उसे विवक्षित कार्यका निश्चय उपादान मान लेते हैं। पर क्या, हमारे माननेमात्रसे वह विवक्षित कार्यका निश्चय उपादान हो जाता है। यदि ऐसा होने लगे तो किसीको भी निराश न होना पड़े।

यह सुनिश्चित सत्य है कि जब **निश्चय उपादान अपने कार्यके सन्मुख होता है तो कार्य होता ही है।** प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक समयमें इसी सिद्धान्तके आधार पर कार्य होता आ रहा है, हो रहा है और होता रहेगा। जब अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें मिथ्यादृष्टि जीव पहुँचता है तो वह नियमसे अगले समयमें सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करता है। वही जीव यदि सम्यक्त्व और संयमके अनुरूप अधःकरणादि परिणाम कर अनिवृत्तिकरणके अन्तमें पहुँचता है तो नियमसे अगले समयमें सम्यक्त्व और अप्रमत्तभावको उत्पन्न करता है। यह प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है कि जब वह निश्चय उपादानकी भूमिकामें आता है तो अगले समयमें अपने अनुरूप कार्यको नियमसे उत्पन्न करता है। और क्रमानुपाती नियमके अनुसार अन्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। ऐसी अनादि वस्तुव्यवस्था है। हमारे संकल्प-विकल्प हमारे अज्ञानका फल हैं। उसके रहते हुए संकल्प-विकल्प ही तो होंगे, अपर पक्ष सम्भवतः इसे भूल जाता है। यह राग-द्वेषरूप परिणतिका फल है जो अज्ञानकी भूमिकामें नियमसे होती है, इसलिए सब द्रव्योंमें प्रत्येक समयमें होनेवाले कार्योंकी कसौटी व्यक्तिके संकल्प-विकल्पको बनानेका प्रयत्न न करें इतना ही हमारा आपसे निवेदन है। प्रत्येक कार्य अन्तः बहिः सामग्रीके सद्भावमें होता है यह हम पहले ही लिख आये हैं, इसलिए 'समय आने पर विवक्षित कार्य स्वतः सम्पन्न हो जायगा' यह लिखना उचित नहीं है। प्रत्येक मनुष्य कार्य-

सम्पन्नताके विषयमें प्रत्येक कार्यके होनेके जो प्राकृतिक नियम हैं उनको ध्यानमें रख कर ही विचार करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसके विचार करने पर और बाह्य उठाधरी करने पर जिस कार्यके विषयमें उसने विचार किया है वह कार्य हो ही जाता है, क्योंकि जो भी कार्य होता है वह बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें ही होता है। विकल्प और योग ये उस व्यक्तिके कार्य हैं। सो वे भी अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होते हैं। कभी भी कोई विकल्प और कोई योगक्रिया हो जाय ऐसा नहीं है। वे भी क्रमानुपाती ही होते है। उपादान स्वयं वह वस्तु है जो परिणमन करके अपने कार्यको उत्पन्न करता है। उसमें बाह्य सामग्री प्रवेश करके क्रिया करनेमें असमर्थ है, अतएव निश्चयसे बाह्य सामग्री पर द्रव्यका कार्य करनेमें अकिंचित्कर ही है। कार्यके साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक दिखलानेके लिए ही उसे व्यवहारसे पर द्रव्यके कार्यका करनेवाला स्वीकार किया है यह बात दूसरी है।

अपर पक्षने गेहूँको उदाहरण बनाकर कार्य-कारणपरम्पराकी जिस प्रक्रियाका निर्देश किया है वह प्रत्येक कार्यमें बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रताको ही सूचित करता है। कार्यमें बाह्य सामग्रीकी समग्रता नहीं होती यह तो हमारा कहना है नहीं। हम ही क्या, आगम ही जब इस बातको सूचित करता है कि प्रत्येक कार्यमें बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रता होती है। ऐसी अवस्थामें जो प्रत्येक कार्यमें उभय सामग्रीकी समग्रताका निर्देश किया है उसका आशय क्या है, विचार इस बातका होना चाहिए, किन्तु अपर पक्ष इस मूल बातको भूलकर या तो स्वयं दूसरी बातोंको सिद्ध करनेमे उलझ जाता है या फिर हमें मुख्य प्रश्नको अनिर्णीत रखनेके अभिप्रायसे दूसरी बातोंमें उलझा देना चाहता है। सो उसकी इस पद्धतिको श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। आगममें बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारकी सामग्रीमें कारणताका निर्देश किया गया है यह सच है। परन्तु वहाँ किसमें किस प्रकारकी कारणताका निर्देश किया गया है इस बातपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि बाह्य सामग्रीमे जो कारणताका निर्देश किया गया है वह केवल कार्यके साथ उसकी अन्वय-व्यतिरेकरूप बाह्य व्याप्तिको दिखलाकर उसके द्वारा जिसके साथ उस (कार्य) की आभ्यन्तर व्याप्ति है उसका ज्ञान करानेके लिए ही किया गया है और 'यदनन्तरं यद्भवति तत्तत्सहकारिकारणम्' यह वचन भी इसी अभिप्रायसे लिखा गया है। जब कि आगमका यह वचन है कि कोई भी द्रव्य एक साथ दो क्रियाएँ नहीं कर सकता और साथ ही जब कि आगमका यह भी वचन है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टयको छोड़कर अन्य द्रव्यके स्वचतुष्टयरूप नहीं परिणमता। ऐसी अवस्थामें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यका कारण है या कर्ता, करण और अधिकरण आदि हैं यह कथन उपचरित ही तो ठहरेगा। इसे वास्तविक कैसे कहा जा सकता है इसका अपर पक्ष स्वयं ही विचार करे।

एक ओर तो अपर पक्ष इस तथ्यको स्वीकार कर लेता है कि 'गेहूँ अंकुरका तभी उपादान है जब वह गेंहूँरूप अंकुरको उत्पन्न करनेके सन्मुख होता है' और दूसरी ओर वह यह भी लिखनेसे नहीं चूकता कि 'कोई-कोई दाने उक्त प्रकारकी योग्यताका अपने अन्दर सद्भाव रखते हुए भी बाह्य जलादि साधनोंके अनुकूल सहयोगका अभाव होनेसे अंकुररूपसे उत्पन्न होनेकी अवस्थासे वंचित रह जाते हैं।' आदि। सो अपर पक्षका ऐसा परस्पर विरुद्ध कथन इस बातको सूचित करता है कि अपर पक्ष वस्तुतः आगममें प्रतिपादित निश्चय उपादानके लक्षणको स्वीकार नहीं करना चाहता। यह बात अपर पक्ष अच्छी तरहसे जानता है कि आगममें केवल योग्यताको ही उपादान कारणरूपसे न स्वीकार कर कार्यकी अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यको उपादान कारणरूपसे स्वीकार किया गया है। अतएव केवल योग्यताके आधारपर जो भी आपत्तियाँ अपर पक्ष उपस्थित करता है वे सब प्रकृत विचारणामें दोषाधायक नहीं मानी जा सकतीं। हाँ, अपर पक्ष यदि कोई ऐसा आगम

प्रमाण उपस्थित कर सके जिससे यह सिद्ध हो कि जिस कार्यका जो उपादान कारण है उसके उस कार्यके संन्मुख होनेपर भी बाह्य सामग्रीके अभावमें वह कार्य नहीं हुआ तब तो यह माना जा सकता है कि उस उपादानमें उस कार्यके करनेकी योग्यता भी थी और वह उपादान अपने कार्यको करनेके लिए उद्यत भी था पर बाह्य सामग्रीका अभाव होनेसे वह कार्य नहीं हुआ। अन्यथा अपर पक्ष अपनी कल्पनाओंका चाहे जैसा ताना वाना बुनता रहे, उससे कार्य-कारणकी जो आगमिक परम्परा निर्दिष्ट की गई है उसपर आँच आनेवाली नहीं।

अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू०२ के कुछ प्रमाण दिये हैं जिनके द्वारा उत्पाद-व्ययकी सिद्धि स्व-परप्रत्ययकी गई है। सो वे प्रमाण हमें ही क्या सबको मान्य होंगे। उनकी प्रमाणिकताका न तो हमने कहीं निषेध ही किया है और न निषेध किया ही जा सकता है, क्योंकि वहाँ निश्चय पक्षके साथ व्यवहार पक्षका स्वीकार करनेकी विवक्षावश उक्त प्रकारसे निर्देश किया गया है। जैसे अनुभवमें आता है, तर्कसे भी सिद्ध होता है और आगम भी कहता है कि प्रत्येक कार्य बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होता है वैसे ही यह भी अनुभवमें आता है, तर्कसे भी सिद्ध होता है और आगम तो कहता ही है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपनी अपनी क्रिया स्वतन्त्ररूपसे करता है, अपनी अपनी क्रियाके करनेमें कोई किसीके आधीन नहीं। व्याकरण शास्त्रमें 'स्वतन्त्रः कर्ता' यह वचन भी इसी अभिप्रायसे लिखा गया है। जैनदर्शनका तो यह हार्द है ही। अन्यथा मोक्षविधि नहीं बन सकती। इसी प्रकार यह भी अनुभवमें आता है, तर्कसे भी सिद्ध होता है और जिनागम कहता ही है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप न तो परिणमता है और न दूसरे द्रव्यको परिणमाता है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्ष ही यह निर्णय करे कि इन दोनोंमें किसे परमार्थभूत माना जाय दोनों—मिलकर एक कार्य करते है इसे या प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है इसे। अरिहन्त होनेके पूर्व बारहवें गुणस्थानमें क्षीणकषाय जीवके शरीरमें अवस्थित सब निगोदिया और त्रस जीवोंका अभाव हो जाता है, इसके पहले नहीं। सो अपर पक्षके मतानुसार उन जीवोंके अभावका प्रेरक निमित्त कर्ता क्षीणकषाय जीवको ही मानना पड़ेगा, क्योंकि जीवके क्षीणकषाय होनेपर ही उनका अभाव होता है, अन्यथा नहीं। ऐसा नियम भी है कि 'यदनन्तरं यद्भवति तत्तत्सहकारिकारणम्' इसीप्रकार साधुके ईर्यापथ पूर्वक गमन करते हुए उनके पगको निमित्तकर जीव-वध होनेपर भी यही आपत्ति प्राप्त होती है। इतना ही क्यों, अरिहन्तोंके अरिहन्त अवस्थाकी प्राप्तिका सहकारी करण सात धातुओंसे रहित शरीर आदिको भी मानना पड़ेगा। जो जीव अन्तःकृतकेवली होते हैं सो उनके लिए भी यही कहा जायगा कि उपसर्गादिकके कारण वे केवली हुए हैं, क्योंकि अपर पक्षके मतानुसार उपादान तो अनेक योग्यतावाला होता है। इनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूपसे परिणत हो यह बाह्य सामग्री पर ही अवलम्बित है यही नियम सिद्ध होनेके लिए भी लागू होगा। यहाँ अपर पक्ष यह तो कह नहीं सकता कि कहींपर उपादान एक योग्यतावाला होता है और कहीं पर अनेक योग्यतावाला होता है, क्योंकि नियम नियम है। वह कहींके लिए एक हो और कहींके लिए दूसरा ऐसा नहीं हो सकता। मिट्टीसे घट बननेके लिए या गेंहूँसे अंकुर उगनेके लिए कार्य-कारणके जो नियम अपर पक्ष मानता है वे ही नियम उसे सब कार्योंमें स्वीकार करने होंगे।

अपर पक्ष कुम्हारके व्यापारपूर्वक मिट्टीमें घटको उत्पन्न हुआ देखकर यदि मिट्टीको घटका स्वयं कर्त्ता नहीं स्वीकार करना चाहता तो उसे गमन करते हुए साधुके गमनरूप व्यापारपूर्वक किसी जन्तुके मरणका कर्त्ता स्वयं उस जन्तुको नहीं मानना होगा, जैसे घटकी उत्पत्ति कुम्भकारके व्यापारपूर्वक प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार जन्तुका मरण साधुके गमनरूप व्यापारपूर्वक दृष्टिगोचर हुआ है। अतएव जिस प्रकार घटका कर्त्ता कुम्भकार माना जाता है उसी प्रकार जीवबधको करनेवाला साधु ही माना जाना चाहिए,

क्योंकि दोनों जगह न्याय समान है। और यह कहा नहीं जा सकता कि साधुके पगसे जीवका वध हो नहीं सकता। क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है उसका अपलाप करना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षको अप्रमाण नहीं माना जा सकता यह अपर पक्षका कथन है।

यदि अपर पक्ष कहे कि साधुके चित्तमें जीववधका अभिप्राय न होनेके कारण वह जीववधका करनेवाला नहीं माना जा सकता तो उसके इस कथनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि अभिप्रायमें करनेका विकल्प होनेके कारण ही कुम्हारको घटका कर्त्ता कहा गया है। वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता नहीं होता। सो ठीक ही है। आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा १४४ की टीकामें लिखा भी है—

विकल्पकः परं कर्त्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

विकल्प करनेवाला ही केवल कर्त्ता है और विकल्प ही केवल कर्म है, (अन्य कोई कर्त्ता-कर्म नहीं है।) जो जीव विकल्पसहित है उसका कर्त्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता।

यह आगमवचन है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि संसारी जीवके पर द्रव्यमें कार्य करनेका विकल्प केवल रागके कारण होता है। वह उसका वास्तविक कर्त्ता नहीं हो सकता और यही कारण है कि आगममें सर्वत्र बाह्य सामग्रीमें कारण व्यवहारको उपचरित ही कहा गया है। और इसीलिए एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ निश्चयसे कर्तृ-कर्मभावका निषेध किया गया है। इसी तथ्यको सरल शब्दोंमें व्यक्त करते हुए आचार्य जयसेन समयसार गाथा ७६ की टीकामें लिखते हैं—

तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति।

इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ निश्चयसे कर्त्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं है।

अतएव उन्हीं जयसेन आचार्यके समयसार गाथा ८२ की टीकामें आये हुए वचनोंके अनुसार यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूपसे अपने कार्यका कर्त्ता है। बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। आचार्य श्रीका वह वचन इस प्रकार है।

यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च।

यथा—यद्यपि समीर निमित्त है तो भी निश्चयनयसे समुद्र ही कल्लोलोंको करता है और कल्लोलरूप परिणमता है।

आचार्य विद्यानन्दिने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ५५ में

'नापि सहकारिकारणमुपादानसमयसमकालत्वाभावात्।'

यह वचन लिखकर यह प्रसिद्ध किया है कि प्रत्येक उपादानके कालमें ही उसके परिणमनके सम्मुख होनेपर उसकी सहकारी सामग्री होती है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यकी अपने नियत उपादानके साथ अन्तर्व्याप्ति और नियत बाह्य सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्ति होनेके कारण जगतका प्रत्येक परिणमन क्रमानुपाती ही होता है। तभी तो आचार्य विद्यानन्दिका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७६ में प्रतिपादित यह वचन मुमुक्षु जनोंके हृदयमें श्रद्धाका विषय बना हुआ है—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात् ।

आसन्न भव्य जीवोंको ही दर्शनमोहका प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, अन्य जीवोंको नहीं, क्योंकि नियत कालको छोड़कर अन्य कालमें कारणोंका मिलना सम्भव नहीं है ।

१०. परिणामाभिमुख्य पदका अर्थ

इसी प्रसङ्गमें अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिकका 'यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये' इत्यादि वचनमें आये हुए 'परिणामाभिमुख्य' पदका अर्थ करते हुए लिखा है कि—

'यदि मिट्टीमें घटरूपसे परिणमन करनेकी योग्यता हो तो दण्ड, चक्र और कुम्भारका पुरुषार्थ आदि घट निर्माणमें मिट्टीके वास्तविक रूपमें सहायकमात्र हो सकते हैं और यदि मिट्टीमें घटरूपसे परिणमन होनेकी योग्यता विद्यमान न हो तो निश्चित है कि दण्ड, चक्र और कुम्भारका पुरुषार्थ आदि उस मिट्टीको घट नहीं बना सकते है अर्थात् उक्त दण्ड, चक्र आदि मिट्टीमें घट निर्माणकी योग्यताको कदापि उत्पन्न नहीं कर सकते हैं ।' आदि,

आगे इसी विषयको स्पष्ट करते हुए अपर पक्षने लिखा है कि—राजवार्तिकके उक्त कथनमें पठित 'आभिमुख्य' शब्द सामान्य रूपसे घट निर्माणकी योग्यताके सद्भावका ही सूचक है । इसी तरह उसमें पठित 'निरुत्सुकत्व' शब्द भी सामान्यरूपसे घट निर्माणकी योग्यताके अभावका ही सूचक है । यही कारण है कि घटोत्पत्ति होनेकी योग्यताके अभावमें कार्योत्पत्तिके अभावकी सिद्धिके लिए राजवार्तिकके उक्त कथनमें 'शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः' पद द्वारा बालुका मिश्रत मिट्टीका उदाहरण श्रीमदकलंकदेवने दिया है । यदि उनकी दृष्टिमें यह बात होती कि उपादानकारणता तो केवल उत्तरक्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहितपूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें ही होती है और उससे कार्य भी नियमसे हो जाता है तो फिर उन्हें (श्रीमदकलंकदेवको) घट निर्माणकी योग्यता रहित बालुकामिश्रित मिट्टीका उदाहरण न देकर कार्योत्पत्तिसे सान्तरपूर्ववर्ती द्वितीयादि क्षणोंकी पर्यायोंमें कथंचित् रहनेवाली घटनिर्माणकी योग्यतासम्पन्न मिट्टीका ही उदाहरण देना चाहिए था । लेकिन चूंकि श्रीमदकलंकदेवने बालुकामिश्रित मिट्टीका ही उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें कि घट निर्माणकी योग्यताका सर्वथा ही अभाव पाया जाता है । सो इससे यही मानना होगा कि राजवार्तिक के उक्त कथनमें जो 'आभिमुख्य' शब्द पड़ा है उसका अर्थ घट निर्माणकी सामान्य योग्यताका सद्भाव ही सही है । इसी प्रकार उसी कथनमें पड़े हुए 'निरुत्सुकत्व' शब्दका अर्थ घट निर्माणकी सामान्य योग्यताका अभाव ही सही है ।' आदि

ये अपर पक्ष द्वारा प्रस्तुत की गई प्रतिशंकाके दो अंश हैं । इनमें अपर पक्षने 'परिणामाभिमुख्य' पदका अर्थ योग्यता किया है जबकि इस पदका अर्थ **परिणाम अर्थात् पर्यायकी सन्मुखता होता है** । इस पदके पूर्व **'अन्तः घटभवन'** पद भी आया हुआ है जिसका अर्थ **'भीतरसे घटके होने रूप'** होता है । इससे स्पष्ट विदित होता है कि आचार्य भट्टालंकदेवने उक्त पदका अर्थ भीतरसे घट पर्यायकी सन्मुखता किया है । पता नहीं कि अपर पक्षने 'परिणामाभिमुख्य' पदका अर्थ योग्यता कैसे किया है । इस सम्बन्धमें अपर पक्षका कहना है कि यदि भट्टाकलंकदेवको 'परिणामाभिमुख्य' पदका अर्थ पर्यायकी सन्मुखता इष्ट होता तो वे तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त कथनमें 'शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्ड,' उदाहरण उपस्थित न कर घटसे पूर्ववर्ती सान्तरपर्यायोंका निर्देश करते, किन्तु अपर पक्ष यहाँ इस बातको भूल जाता है कि भट्टाकलंकदेवने यह उल्लेख ही बाह्य सामग्रीमें निमित्तमात्रताको सूचित करनेके लिए लिपिबद्ध किया है । घटकी जो पूर्ववर्ती सान्तर

पर्यायें हैं उनके होनेमें कुम्भकार आदिकी निमित्तता तो है ही और वे घटके प्रागभावरूप हैं। अतएव आचार्य महाराज कुम्भकारादिमें निमित्तमात्रताको सिद्ध करनेके लिए अन्योन्याभावको ध्यानमें रखकर उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। बालुकाबहुल मिट्टीका पिण्ड यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे घटरूप होनेकी योग्यता रखता है, क्योंकि जैसा दूसरा मिट्टीका पिण्ड है वैसा ही यह भी मिट्टीका पिण्ड है, परन्तु बालुकाबहुल मिट्टीके पिण्डमें घट होनेकी पर्यायरूप योग्यता नहीं है और यही कारण है कि भट्टाकलंकदेवने बाह्य सामग्रीमें स्पष्टरूपसे निमित्तमात्रताको सूचित करनेके लिए बालुकाबहुल मिट्टीके पिण्डको उदाहरण बनाया है। वे इस उदाहरण-द्वारा यह सिद्ध कर रहे हैं कि यदि उपादानगत योग्यताके रहने पर केवल बाह्य सामग्रीके बलसे घटादि कार्यों की उत्पत्ति मानी जाय तो बालुकाबहुल मिट्टीमें भी बाह्य सामग्रीके बलसे घटकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक कार्यमें बाह्य सामग्री निमित्तमात्र है। स्पष्ट है कि इस उल्लेख द्वारा आचार्य महाराज यही सूचित कर रहे हैं कि जब प्रत्येक द्रव्य किसी विवक्षित कार्यको अनन्तर पूर्व पर्यायकी भूमिकामें आता है तभी वह उस कार्यका उपादान बनता है। व्यवहारनयसे बाह्य सामग्रीमें कारणता स्वीकार की जाय यह दूसरी बात है, परन्तु निश्चयनयसे तो स्वयं मिट्टी भीतरसे घट भवनके सन्मुख होकर घटरूपसे परिणमती है। यदि पर्यायार्थिक निश्चयनयसे विचार किया जाय तो स्वयं घट अपने अवयवोंसे निष्पन्न होता है, अन्य किसीसे नहीं यह सुनिश्चित है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय १ सूत्र ३३ में ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा विवेचन करते हुए लिखते हैं—

कुम्भपर्यायसमये च स्वावयवेभ्यः एव निर्वृत्तेः।

और घट पर्यायके समयमें घट अपने अवयवोंसे ही निवृत्त होता है।

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने उपादानकारणका विचार करते हुए जो अन्तमें मिट्टीको घटका उपादान-कारण बतलाया है और साथ ही कालको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत करके जो घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदिको वास्तविक सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है सो इस सम्बन्धमें निवेदन यह है कि आगममें व्यवहार कथन और निश्चय कथन इस तरह दोनों प्रकारसे विवेचन दृष्टिगोचर होता है। उनमेंसे जो निश्चय कथन है वह यथार्थ है और जो व्यवहार कथन है वह उपचरित है। मिट्टीको घटका उपादान कहा जाय। इतना ही क्यों ? यदि कोई पुद्गलको घटका उपादान कहना चाहता है तो इसमें हमें आपत्ति नहीं। किन्तु जब उपचरित और अनुपचरितकी दृष्टिसे विचार किया जाता है तब निश्चयसे घटके अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त मिट्टी ही घटका उपादान कारण होगी, अन्य नहीं। हाँ, यदि व्यवहारनयका अवलम्बन लेकर योग्यताको दृष्टिसे विचार किया जाता है तो मिट्टी तो घटका उपादान कहलायेगी ही और वह मिट्टी भी घटका उपादान कहलायेगी जो बालुकाबहुल है। इतना ही क्यों, वे सब पुद्गल घटके उपादान कहलायेंगे जो घटकी योग्यता-से सम्पन्न हैं।

यही बात कालके विषयमें भी जान लेनी चाहिए। समय यह कालकी पर्याय है। जैसे जीवकी एक समयकी पर्याय क्रोध या क्षमारूप होती है वैसे ही समय भी कालकी एक पर्याय है। यह वास्तविक है, किन्तु उसके बाद जो निमिष, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह और पक्ष आदिका व्यवहार होता है वह उपचरित है। यह इसीसे स्पष्ट है कि भारतीय परम्परामें कोई पक्ष १४ दिनका होता है और कोई पक्ष १६ दिनका भी। इसी प्रकार लगभग ढाई वर्ष निकल जानेके बाद अधिकमास आता है और कभी-कभी क्षयमास भी आता है। पश्चिमीय सभ्यतामें प्रत्येक चौथे वर्षका फरवरी २९ दिनका होता है। अब राष्ट्रीय पञ्चाङ्गकी व्यवस्था बनी है। उसके अनुसार कालगणनाकी कोई सरल पद्धति सोची गई है। सो ये सब स्वयं वास्तविक तो नहीं

हैं, मात्र लोकव्यवहारके लिए इन सबको स्वीकृति मिली हुई है। इसीका नाम उपचरित है। अपर पक्ष यदि इन सब तथ्योंपर दृष्टिपात करनेकी कृपा करे तो उसे विवाद करनेका अवसर ही न मिले। एक समय पर्यायका व्यय होने पर दूसरी समय पर्यायका उत्पाद होता है और दूसरी समय पर्यायके व्ययके बाद तीसरी समयपर्यायका उत्पाद होता है। प्रथम समयमें कालकी जो समयपर्याय होती है वह दूसरे समयमें नहीं रहती और दूसरे समय की तीसरे समयमें नहीं रहती। प्रत्येक समयकी ये समय पर्यायें यथार्थ हैं। मात्र प्रत्येक समयका ज्ञान करानेके लिए पंचास्तिकाय गाथा २५ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकामें यह कहा गया है कि—'परमाणुप्रचलनायत्तः समयः—परमाणुके गमनके आश्रित समय है सो इसका अर्थ यह नहीं कि वह परमाणुके गमनके आधीन होकर उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि एक परमाणुको एक प्रदेश परसे दूसरे प्रदेश पर मन्दगतिसे जानेमें जितना काल लगता है, एक समयका उतना परिमाण है और इसी आधार पर इसे व्यवहारकाल कहा है। जो कालकी एक पर्याय होनेसे सद्भूतव्यवहाररूप ही है। किन्तु दो समयसे लेकर अन्य जितनी कालकी गणना है वह काल द्रव्यमें वर्तमान अर्थात् पर्यायरूपसे सद्भूत न होने पर भी लोकमें व्यवहार पदवीको प्राप्त है, इसलिए वह असद्भूतव्यवहार ही है।

अपर पक्षने क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका प्रश्न उठाकर यह लिखा है कि 'वस्तुकी समयवर्ती अखंड पर्यायको ग्रहण करनेमें सर्वथा असमर्थ ही रहा करते है। इन ज्ञानोंका विषय वस्तुकी कमसे कम अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्यायोंका समूह ही एक पर्यायके रूपमें होता है इस प्रकार इन ज्ञानोंकी अपेक्षा मिट्टी, पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल और घटमें उपादानोपादेय व्यवस्था असंगत नहीं मानी जा सकती है।' सो इस सम्बन्ध में यही निवेदन है कि यह जो अन्तर्मुहूर्तवर्ती नाना पर्यायोंका समूह कहा गया है वह क्या एक समयमें होता है या उत्पाद व्ययके क्रमसे अन्तर्मुहूर्त तक नाना पर्याय होकर अन्तमें हम पर्यायोंका समूह ऐसा व्यवहार करते हैं, इसलिए यह व्यवहार तो असद्भूत ही है। हाँ, केवलज्ञान प्रत्येक वस्तुकी जो समयवर्ती एक-एक पर्यायको पृथक्-पृथक् रूपसे जानता है सो वहाँ पर प्रत्येक पर्याय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा निश्चयरूप होकर भी परम पारिणामिक भावको ग्रहण करनेवाले निश्चयनयकी अपेक्षा सद्भूत व्यवहाररूप कही गई है। क्या इसे हमने कहीं अवास्तविक, उपचरित एवं कल्पनारोपित अतएव अवस्तुभूत कहा है या लिखा है, जिससे कि यह आकाशकुसुम या खरविषाणके समान अवस्तु होकर केवलज्ञानका विषय न बन सके। केवलज्ञानमें जो जिस कालमें जिस रूपमें अवस्थित है, रहे हैं, या रहेंगे वे सब पदार्थ युगपत् झलकते हैं। वे यह अच्छी तरहसे जानते है कि इतने परमाणु अपने परिणमन द्वारा परणमते हुए स्कंध पदवीको प्राप्त हुए हैं। केवलज्ञानकी महिमा क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी अपेक्षा बहुत बड़ी है। यह आगमानुसारी हमारा मत है कि जिस प्रकार द्रव्य स्वयं सत् है, गुण भी स्वयं सत् हैं उसी प्रकार प्रत्येक समयमें होनेवाली पर्यायें भी स्वयं सत् हैं। यदि अपर पक्ष स्वयं इस बातका विचार करे कि हम किसको सद्भूत मानते हैं और किसको असद्भूत तो उसकी ओरसे ऐसा आरोपात्मक कथन न होता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपनेमें, अपने लिये, अपने द्वारा, अपने बलसे अपनी पूर्व पर्यायसे निवृत्त होकर उत्तर पर्यायको जन्म देता है। मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी जीवोंको यदि प्रत्येक समयकी इन पर्यायोंका ज्ञान नहीं होता है तो इतने मात्रसे उनका असद्भाव नहीं माना जा सकता। यदि उन्हें अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त बाद पर्यायोंकी विलक्षणताका ज्ञान होता है तो इतने मात्रसे प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तके भीतर प्रत्येक समयकी पर्यायमें जो विलक्षणता आती है वह कार्यकारणपद्धतिसे आनेके कारण वे उनके सद्भावको अस्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु वे श्रुतके बलसे यही निर्णय करते हैं कि यह हमारे ज्ञानका दोष है कि हम प्रत्येक सययमें होनेवाली पर्याय एवं उसके कारणकलापको नहीं जान पाते। प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीव आगम और लोक

सम्मत पद्धतिसे यह जानकर कि किस उपादानसे कैसा बाह्य संयोग मिलने पर क्या कार्य होता है उसके उपक्रममें लगता अवश्य है। परन्तु उस कालमें उस उपादानभूत वस्तुसे वही कार्य होगा, यह नहीं कहा जा सकता। यहाँ उपादान शब्दका प्रयोग व्यवहार नयसे किया गया है। हमें दुख है कि अपर पक्ष स्वभावरूप और विभावरूप सभी पर्यायोंकी उत्पत्ति केवल निमित्तकारणोंसे माननेकी चेष्टा करता है। तभी तो उसकी ओरसे स्वभाव पर्यायरूप सम्यक्त्वकी उत्पत्ति निमित्त कारणोंसे होती हुई लिखी गई है। परन्तु चाहे स्वभावपर्याय हो या विभावपर्याय उसकी उत्पत्ति स्वयं अपनेसे ही होती है, उसमें बाह्य सामग्री निमित्त हो यह दूसरी बात है। हम नहीं कहते कि केवली भगवानने देखा है मात्र इसीलिए मिट्टीमें उससे विलक्षण पिण्ड पर्यायकी उत्पत्ति हुई है। वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। उसमें स्वयं जो प्रत्येक समयमें पर्याय होती है उसे भी वह जानता और देखता है और अन्य द्रव्योंमें जो प्रत्येक समयमें पर्यायें होती है उन्हें भी वह मात्र जानता और देखता है। जब यह अकाट्य नियम है कि मिट्टी कब किसको निमित्तकर पिण्डरूप पर्याय बनेगी, तब वह उसी समय अपनी सुनिश्चित बाह्य सामग्रीको निमित्तकर पिण्डरूप बनती है। यही आगमसम्मत पद्धति है। भारतवर्षमें अनेक लौकिक दर्शन प्रसिद्ध है। उनमेंसे कोई (बौद्ध) असत्से सतकी उत्पत्ति मानते हैं, कोई (ब्रह्मवादी) एक सत्से मिथ्या जगतकी उत्पत्ति मानते हैं, कोई (न्याय-वैशेषिक) सत्से उसमें असत् कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं, और कोई (सांख्य) सत्से सत् कार्यकी उत्पत्ति मानते है। इस प्रकार एकान्तका आग्रह करनेवाले ये विविध मान्यतावाले दर्शन है। किन्तु इन सबने इस तथ्यको एक स्वरसे स्वीकार किया है कि अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पदार्थ उपादान या समवायी कारण कहलाता है। इसलिए प्रकृतमें जो तत्वार्थवार्तिकका 'यथा मृदः' इत्यादि वचन अपर पक्षने उद्धृत किया है सो उसका वही आशय समझना चाहिए जो हमारा अभिप्राय है, क्योंकि स्वयं आचार्य अकलंकदेव इसी ग्रन्थके अध्याय १ सूत्र २ में सम्यग्दर्शनकी चर्चा करते हुए लिखते है—

स्वपरनिमित उत्पादो दृष्टो यथा घटस्योत्पादो मृन्निमित्तो दण्डादिनिमित्तश्च, तथा सम्यग्दर्शनोत्पाद आत्मनिमित्तः सम्यक्त्वपुद्गलनिमित्तश्च, तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुपपद्यते इति ? तन्न, किं कारणं ? उपकरणमात्रत्वात्। उपकरणमात्रं बाह्यसाधनम्।

स्व-परनिमित्तक उत्पाद देखा गया है, जैसे घटका उत्पाद मिट्टीनिमित्तक और दण्डादिनिमित्तक होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनका उत्पाद आत्मनिमित्तक और सम्यक्त्व पुद्गलनिमित्तक होता है। इस लिए उसमें भी मोक्षकारणता बन जाती है ? यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व पुद्गल उपकरणमात्र है। बाह्य साधन नियमसे उपकरणमात्र है।

यह आचार्यवचन है जो उसी आशयकी पुष्टि करता है जिसका निर्देश उन्होंने 'यथा मृदः' इत्यादि वचनमें किया है।

११. उपादानका सुनिश्चित लक्षण यथार्थ है

अब हम प्रतिशंकाके उस अंशपर विचार करते हैं जिसमें अपर पक्षने उपादानके सुनिश्चित लक्षणको सदोष बतलानेके अभिप्रायसे प्रतिशंकाको मूर्तरूप दिया है। अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यका नाम उपादान है इस लक्षणका सभी आचार्योंने निर्देश किया है, किन्तु इस लक्षणके आधारसे अव्यवहित पूर्व-पूर्व पर्यायमें उपादानता बनती जानेसे अपर पक्ष उसे सदोष मानता है। उसका कहना है कि 'जो मिट्टी परमाणुओंसे बनी है उन परमाणुओंमें एकरूपता स्वीकार करनेसे आगमविरोध उपस्थित हो जायेगा।' किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर भी आगमविरोध नहीं आता, क्योंकि आगममें प्रागभावका प्रागभाव इस प्रकार प्रागभाव

अनादि सान्त स्वीकार किया है। पूरा उद्धरण पहले ही दे आये हैं। अतएव उसे यहाँ नहीं दे रहे हैं। किन्तु अपर पक्षने उपादानकी अपेक्षा इस प्रश्नको यहाँ उपस्थित किया है, इसलिए आवश्यक समझकर उसका आशयमात्र यहाँ दे रहे हैं। उसमें बतलाया है कि—

कार्यके पूर्व अनन्तर परिणामस्वरूप उपादानको ही प्रागभाव कहते हैं। ऐसा प्रश्न होनेपर कि अनन्तर पूर्व परिणाम स्वरूप उपादानको प्रागभाव मान लेनेसे उसके पूर्व कार्यके सद्भावका प्रसंग उपस्थित होता है। समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि प्रागभावका विनाश ही कार्य है। अतएव उसके पहिले कार्यका सद्भाव नहीं स्वीकार किया है। तो उसके पहले इस कार्यकी अपेक्षा क्या स्थिति रहती है इस प्रश्नका समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि प्रागभाव, उसका प्रागभाव इस प्रकार पूर्व-पूर्व परिणाम सन्ततिके अनादि होनेसे इसमें विवक्षित कार्यरूपताका अभाव ही है। अन्तमें निष्कर्षको फलित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि इन सब प्रागभावोंकी सन्ततिमें से जब तक अन्तिम प्रागभावका अभाव नहीं हो जाता तबतक विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि अन्तिम प्रागभावका अभाव होने पर ही विवक्षित कार्य होता है।

सम्भवतः कोई यह शंका करे कि ऐसा माननेपर प्रत्येक परमाणुको भूतादि चतुष्टयरूप कैसे स्वीकार किया गया है सो उस प्रश्नका समाधान यह है कि यह प्रागभाव सन्तति अनादि होनेसे बहुत बड़ी है, अतएव उसके मध्यमें कभी किसी परमाणुको जलस्वरूप बननेका, कभी उसी परमाणुको वायुरूप बननेका और कभी उसी परमाणुको अग्निरूप बननेका भी अवसर आना सम्भव है, इसको कौन वारण कर सकता है। इससे न तो उसकी प्रागभाव सन्ततिमें ही बाधा आती है और न ही वर्तमानमें जो उसका पृथ्वीरूप दिखलाई देता है इसमें ही बाधा आती है। परमाणुकी क्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें ये सब अवस्थायें सम्भव हैं। अथवा वर्तमान कालके पूर्व उक्त चारों प्रकारकी अवस्थाओंमेंसे किसी परमाणुको मात्र पृथ्वीरूप, किसी परमाणुकी मात्र पृथ्वी और जलरूप, किसी परमाणुकी मात्र पृथ्वी, जल और अग्निरूप तथा किसी परमाणुकी पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अवस्थायें होना भी सम्भव है। कोई एक नियम नहीं। जिसकी जब जैसी उपादान योग्यताएँ रही होंगी तब उनका अतीत कालमें वैसा परिणमन हुआ होगा। जो परिणमन हुआ होगा वह नियतक्रमसे ही हुआ होगा। अल्पज्ञानी जीव अनादि कालसे लेकर अबतक किसका क्या परिणमन हुआ होगा इसे भले ही न जान सके, परन्तु इतनेमात्रसे उस परमाणुके नियतक्रमसे होनेवाले परिणमनमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतएव अपर पक्षकी ओरसे पंचास्तिकाय गाथा ७८ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाको आधार बनाकर जो उपादानके उक्त लक्षणको सदोष बतलाया गया है वह ठीक नहीं है। आचार्य महाराज अपनी उक्त टीकामें परमाणुकी परिणमनसम्बन्धी इस विचित्रताका निर्देश करते हुए स्वयं लिखते हैं—

ततः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्यैक एव परमाणुः कारणं परिणामवशात्। विचित्रो हि परमाणोः परिणामगुणः क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वेन विचित्रां परिणतिमादधाति।

इसलिए पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप चार धातुओंका परिणामके कारण एक ही परमाणु कारण है, क्योंकि परमाणुका विचित्र परिणामगुण कहीं किसी गुणकी व्यक्ताव्यक्तता द्वारा विचित्र परिणतिको धारण करता है।

यह वही आगम प्रमाण है जिसे अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें समझकर निर्दिष्ट किया है। किन्तु जैसा कि हम पूर्वमें बतला आये हैं उससे एक परमाणुके कालभेदसे पृथ्वी आदि अनेक अवस्थारूप परिणमन

करने पर भी उपादानके अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यरूप लक्षणके स्वीकार करनेमें कोई बाधा नहीं उपस्थित होती।

अपर पक्षकी ओरसे यहाँपर अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें उपादानकारणतारूप सामर्थ्यको लेकर जो यह पृच्छा की गई है कि 'उक्त पर्यायमें उक्त प्रकारकी सामर्थ्यके उत्पन्न होनेका कारण क्या है' और फिर उसे कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तित्वरूप धर्म बतलाकर यह लिखा है कि 'वह तो कार्य सापेक्ष धर्म है, अतः जब तक कार्य निष्पन्न नहीं हो जाता तब तक उस अव्यवहित पूर्व पर्यायमें कार्याव्यवहित पूर्व क्षणवर्तित्वरूप धर्म हो नहीं सकता है, इसलिए यदि कहा जाय कि कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक अतीन्द्रिय योग्यता ही सामर्थ्य शब्दका वाच्य है तो फिर हमारा कहना है कि इस प्रकारकी सामर्थ्य तो मिट्टीकी कुशूल, कोश, स्थास, पिण्डरूप पर्यायोंमें तथा इनके भी पहलेकी सामान्य मिट्टीरूप अवस्थामें भी पायी जाती है, इसलिए घट कार्यके प्रति इन सबको उपादान कारण मानना असंगत नहीं है।' आदि।

सो इस प्रश्नका समाधान यह है कि ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें उपादानकारणतारूप स्वरूप स्वतःसिद्ध है। यह इसका कार्य है और यह इसका उपादान कारण है ऐसा व्यवहार मात्र परस्परसापेक्ष है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र अपनी आप्तमीमांसामें लिखते हैं—

धर्म-धर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारक-ज्ञापकांगवत् ॥७५॥

धर्म और धर्मीका अविनाभाव परस्पर सापेक्षरूपसे सिद्ध होता है, स्वरूप नहीं, क्योंकि वह कारकांग और ज्ञापकांगके समान नियमसे स्वतःसिद्ध है ॥७५॥

इस प्रकार अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायमें उपादान कारणतारूप स्वरूपके स्वतःसिद्ध हो जाने पर उससे पूर्व-पूर्ववर्ती पर्यायोंमें वह कारणरूप धर्म आगममें किस रूपमें स्वीकार किया गया है इसका विचार करना है। आगममें इसका विचार करते हुए बतलाया है कि अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य निश्चय उपादानकारण है। समर्थ उपादान कारण इसीका दूसरा नाम है। तथा इससे पूर्व-पूर्ववर्ती पर्याय युक्त द्रव्य व्यवहार उपादानकारण है। असमर्थ उपादान कारण इसका दूसरा नाम है। इसकी पुष्टि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ ७१ के *'न हि द्व्यादिसिद्धक्षणैः'* इत्यादि वचनसे भली प्रकार हो जाती है। इसमें व्यवहार उपादानका स्वरूप बतलाते हुए उसे असमर्थ उपादान कारण कहा गया है और निश्चय उपादानका स्वरूप बतलाते हुए उसे समर्थ उपादान कारण कहा गया है। आचार्य महाराज इसी उल्लेख द्वारा इस बातको स्पष्टरूपसे सूचन करते है कि जो समर्थ उपादान कारण होता है वह नियमसे अपने कार्यको जन्म देता है। किन्तु जो असमर्थ उपादान कारण होता है उससे समर्थ उपादानजन्य कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव इस कथनसे यह सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकारकी उपादानता अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्यमें होती है उस प्रकारकी उपादानता इसके पूर्व उस द्रव्यमें कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिए सभी आचार्योंने निश्चय उपादान कारणका एक मात्र यही लक्षण स्वीकार किया है जो युक्तियुक्त है।

१२. परमाणुमें योग्यता आदिका विचार

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने दो या दो से अधिक परमाणुओंके संयोगसे बनी हुई स्कन्धरूप पर्यायकी चर्चा करते हुए लिखा है कि 'वह स्कन्ध नाना द्रव्योंके परस्पर मिश्रणसे ही बना हुआ है। अतएव मिट्टीमें

पाया जानेवाला मृतिकात्व धर्म मिट्टीकी अपेक्षा स्वाभाविक होते हुए भी नाना द्रव्योंके मिश्रणसे उत्पन्न होनेके कारण कार्य ही कहा जायेगा ।'

यह अपर पक्षके वक्तव्यका अंश है । इसमें अपर पक्षने मृतिकात्व धर्म मिट्टीकी अपेक्षा स्वाभाविक वतलाकर भी उसे नाना द्रव्योंके मिश्रणसे उत्पन्न होनेके कारण एक मात्र कार्यधर्म कहा है, किन्तु अपर पक्षका यह कथन आगमविरुद्ध होनेसे भ्रामक ही है, क्योंकि प्रत्येक परमाणुमें यदि स्कन्ध योग्यता और मिट्टीरूप परिणमनेकी योग्यता स्वाभाविक न मानी जाय और केवल उसे संयोग जन्य माना जाय तो कोई भी परमाणु अपनी स्वाभाविक योग्यताके अभावमें स्कन्धरूप या मिट्टीरूप त्रिकालमें नहीं परिणम सकता ।

तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ५ सूत्र १ में यह प्रश्न उठाया गया है कि परमाणु पूरण-गलन स्वभाववाला न होनेके कारण उसे पुद्गल नहीं कहा जा सकता । आचार्य अकलंकदेवने इस प्रश्नका समाधान करते हुए लिखा है कि—पहले या भविष्यमें वह पूरण-गलनरूप पर्यायको प्राप्त हुआ था या होगा, इसलिए शक्तिकी अपेक्षा परमाणुको पुद्गल कहनेमें कोई बाधा नहीं आती । वह उल्लेख इस प्रकार है—

अथवा गुण उपचारकल्पनम् पूरणगलनयोः भावित्वात् भूतत्वाच्च शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोपचारः ।

यह तो परमाणु को पुद्गल क्यों कहा गया इसका विचार है । आगे इस वातका विचार करना है कि परमाणुमें मिट्टीरूप शक्ति होनेके कारण मिट्टीमें मिट्टीरूप धर्म पाया जाता है या केवल नाना पुद्गलोंके मिश्रणसे उसमें वह धर्म उत्पन्न होता है । आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकायकी टीकामें शब्दकी अपेक्षा इसका विचार करते हुए लिखते हैं —

एवमयमुक्तगुणवृत्तिः परमाणुः शब्दस्कंधपरिणतिशक्तिस्वभावात् शब्दकारणम् ।

ऐसा यह उक्त गुणवाला परमाणु शब्द स्कन्धरूपसे परिणत होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला होनेसे शब्दका कारण है ।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि जिस प्रकार परमाणु शब्दरूप परिणमनकी शक्तिसे युक्त होता है उसी प्रकार इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह मिट्टीरूप परिणमनकी शक्तिसे भी युक्त होता है । अतएव मिट्टीमें पाया जानेवाला मृतिकात्व धर्म नाना स्कन्धोंके परस्पर मिश्रणसे ही उत्पन्न होता है ऐसे एकान्तको न स्वीकार करके उसे शक्तिकी अपेक्षा नित्य ही मानना चाहिए । साथ ही उसे जो एकान्तसे कार्यधर्म कहा गया है वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि कोई भी द्रव्य किसी अवस्थामें न तो केवल कार्य ही स्वीकार किया गया है और न केवल कारण ही । अपने पूर्व पर्यायकी अपेक्षा जो कार्य होता है, अपनी उत्तर पर्यायकी अपेक्षा वह कारण भी होता है ।

इस दृष्टिसे विचार करने पर यह भी विदित हो जाता है कि पुद्गलोंकी स्कन्ध अवस्थामें जो जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे सव शक्तिरूपसे परमाणुमें विद्यमान है । यह प्रत्येक परमाणुका स्वतःसिद्ध स्वरूप है । अपर पक्षके वक्तव्यके पढ़नेसे विदित होता है कि वह प्रत्येक परमाणुमें ऐसी योग्यता तो मानता है कि एक परमाणु दूसरे परमाणु या स्कन्धके साथ संयोगको प्राप्त होकर उसरूप परिणम जाता है । किन्तु जिस जातिके स्कन्ध रूप वह परमाणु परिणमा उस प्रकारकी शक्ति वह परमाणुमें स्वीकार नहीं करता इसका हमें आश्चर्य है । परमाणुमें घटरूप कार्यकी व्यवहार उपादानताका भी निषेध वह इसी अभिप्रायसे करता है । जो शक्ति मूल द्रव्यमें न हो वह उसके उत्तर कार्योंमें उत्पन्न हो जाय, यह सम्भव तो नहीं है, परन्तु अपर पक्ष अपनी कल्पना में इसे मूर्तरूप देनेके लिए अवश्य ही सन्नद्ध है ।

जहाँ वाह्य दृष्टिवालेको प्रत्यक्षमें ऐसा भासित होता है कि मिट्टी अपने आप घटरूप नहीं परिणम रही है वहाँ भेद दृष्टिवालेको यह भासित होता है कि कुम्हारकी क्रिया कुम्हारमें हो रही है और मिट्टीकी क्रिया मिट्टीमें हो रही है। यदि मिट्टीकी क्रियामें कुम्हारकी क्रिया निमित्त है तो कुम्हारकी उस समय होनेवाली क्रिया में मिट्टी भी निमित्त है। अपर पक्ष कह सकता है कि कुम्हार अपनी हस्तादि क्रियाको मिट्टीके अभावमें भी कर सकता है, इसलिए कुम्हार स्वयं अपनी क्रिया कर रहा है, मिट्टी उसमें निमित्त नहीं है। किन्तु बात ऐसी तो नहीं है, क्योंकि जैसी क्रिया मिट्टीके संयोगमें उसकी होती है वैसी अन्य कालमें दिखलाई नहीं देती। फिर भी यदि विचारके लिए इसे स्वीकार कर लिया जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उसका वाह्य कारण कौन ? यदि केवल कर्मोदयको उसका वाह्य कारण माना जाता है तो कर्मोदय भी एक कार्य है उसके वाह्य कारणका भी अनुसंधान करना होगा। किन्तु वहाँ अन्य कोई कारण तो दिखलाई देता नहीं सिवाय मिट्टीके, इसलिए यही मानना होगा कि उस समय मिट्टीमें जो क्रिया हो रही है उसे निमित्तकर कर्मोदय हुआ और कर्मोदयको निमित्तकर कुम्भकारकी वाह्य क्रिया हुई और अन्तमें कुम्भकारको निमित्तकर मिट्टीमें क्रिया हुई। इस प्रकार परस्पराश्रयता प्राप्त होनेसे अंतमें यही मानना उचित है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रियाका स्वयं कर्त्ता है। अन्य द्रव्य तो उसमें निमित्तमात्र है। इसप्रकार प्रत्येक कार्यके साथ वाह्याभ्यन्तर सामग्रीका अन्वय-व्यतिरेक वन जानेके कारण कार्य-कारण परम्परा सुव्यवस्थित वन जाती है।

यह हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति योग्य उपादान और योग्य वाह्य सामग्रीके संयोगका विकल्प करता है, कदाचित् योगक्रिया भी उसके तदनुकूल होती है। परन्तु इन दोनोंके करने पर भी जैसी वह चाहता है वैसी वाह्याभ्यन्तर सामग्री विवक्षित कार्यके लिए मिलती ही है ऐसा कोई नियम नहीं। कदाचित् मिलती है और कदाचित् नहीं भी मिलती है। यदि मिल भी गई तो जैसा वह चाहता है वैसा कार्य होता है इसका भी कोई नियम नहीं। कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं भी होता है। सो क्यों? इसके उत्तरकी यदि छानवीन की जाय तो अन्तमें यही स्वीकार करना पड़ता है कि जिस वस्तुका जिस कालमें जिसको निमित्त कर, जो परिणमन होना होगा, वह अवश्य होगा। जिसे हम करनेवाला कहते हैं और करानेवाला कहते हैं वह तो अपने अपने विकल्प और योगक्रियाका ही धनी है। यदि अपर पक्ष इस निर्णय पर पहुँच जाय तो प्रकृतमें उसने घट कार्यको विवक्षितकर जितने भी विकल्प प्रस्तुत किये हैं उनकी निस्सारता समझनेमें उसे देर न लगे।

अपर पक्ष आगमसम्मत कार्यकारणभावको ठीक न समझकर अपने द्वारा कल्पित किये गये कार्य-कारणभावके सिद्धान्तको आगमसम्मत बतलाता अवश्य है, परन्तु प्रत्येक निश्चय उपादानमें अनेक योग्यताएँ होती है उसमेंसे जिस योग्यताके अनुकूल वाह्य सामग्री प्राप्त होती है या मिलायी जाती है उसके अनुसार उस समय कार्य होता है। न तो यह सिद्धान्त हमें कहीं आगममें दृष्टिगोचर हुआ और न ही यह सिद्धान्त हीं आगममें दृष्टिगोचर हुआ कि—यदि अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायके उपस्थित होने पर कारणान्तरोंकी विकलता हो या बाधक सामग्री उपस्थित हो या दोनों उपस्थित हों तो कार्य नहीं होगा। हमने आगमकी बहुत छान-बीन की, किन्तु हमें यह सिद्धान्त भी दृष्टिगोचर न हो सका कि—प्रत्येक द्रव्यमें ऐसे भी परिणमन होते है जो स्वप्रत्यय ही होते हैं, उनमें कालादि द्रव्योंकी भी निमित्तता नहीं है। अपर पक्ष इन सब सिद्धान्तोंको आगम सम्मत मानता है। किन्तु इनकी पुष्टिमें अभी तक वह कोई विधायक आगम उपस्थित करनेमें असमर्थ रहा। जहाँ स्वप्रत्ययकी प्रधानतासे विचार किया गया है उसे एकान्तसे उस पक्षने स्वप्रत्यय स्वीकार कर लिया और जहाँ अन्य प्रकारसे विचार किया गया है वहाँ उसे उस प्रकारसे स्वीकार कर लिया। यह उसके विचार करनेकी पद्धति है। पूरे जिनागममें एकरूपता उपस्थित हो इसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं है।

वह प्रमेयकमलमार्तण्डके 'किं ग्राहकप्रमाणाभावात्' तथा 'यच्चोच्यते' इन दोनों प्रमाणोंको स्वीकार हो सकता है, किन्तु उन प्रमाणों द्वारा जो तथ्य प्रगट किये गये हैं उन्हें निष्कर्षरूपमें स्वीकार नहीं करना चाहता। जब यह नियम है कि प्रत्येक कार्यमें बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रता होती ही है, उसमें अपवाद नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक कार्यके सम्मुख द्रव्यके होने पर 'यदि बाह्य सामग्री न हो या बाधक कारण उपस्थित हो जायँ इत्यादि प्रश्नोंको अवकाश ही कहाँ रहता। आचार्योंने इन बातोंकी चर्चा की अवश्य है, पर वह बुद्धिद्वारा सुनिश्चित किया गया कारण ही कार्यके अनुमान ज्ञानमें हेतु हो सकता है इस बातको ध्यानमें रखकर ही की है। उक्त दोनों प्रमाणोंमें तो उक्त बातोंकी चर्चा ही नहीं है। जब प्रत्येक कार्य विशिष्ट पर्याययुक्त विशिष्ट द्रव्यके होने पर अपनी प्रतिनियत बाह्य-सामग्रीको निमित्तकर होता है तो आगममें कोई दूसरी बात कही गई है और लोकमें कोई दूसरी बात देखी जाती है ऐसा न होकर वस्तुस्थिति यह है कि प्रतिनियत कालमें ही प्रतिनियत कार्य होता है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके द्वितीय उद्धरणमें यही तथ्य प्रकाशमें लाया गया है। आचार्य विद्यानन्दी अष्टसहस्री पृष्ठ १११ में लिखते हैं—

तथा कारणकार्यपरिणामयोः कालप्रत्यासत्तेरसत्त्वेऽनभिमतकालयोरिवाभिमतकालयोरपि कार्यकारण-भावासत्त्वादुभयोर्निरुपाख्यतापत्तिः।

उसी प्रकार कारण परिणाम और कार्य परिणाममें कालप्रत्यासत्तिके नहीं होनेपर जैसे अनभिमत कालभावी दो पर्यायोंमें कार्यकारणभावका अभाव है उसी प्रकार अभिमत कालभावी दो पर्यायोंमें भी कार्य–कारणभावका अभाव होनेसे दोनोंका अभाव प्राप्त होता है।

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार अपर पक्ष जब निमित्त मिलते हैं तब कार्य होता है यह लिखकर विवक्षित कालमें ही विवक्षित कार्य होता है इसका निषेध करता है वैसा आगमका अभिप्राय नहीं है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके द्वितीय उद्धरणमें 'तदैव' पद इसी तथ्यको सूचित करता है, क्योंकि उपादानके अपने कार्यरूप व्यापारके समय बाह्य सामग्रीका योग रहनेका एकान्त नियम रहनेके कारण उक्त उल्लेखमें उक्त पद्धतिसे उस तथ्यको प्रकाशमें लाया गया है।

हमने उन दोनों उद्धरणोंका जो आशय है वही लिया है। हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि हमारे और आपके अभिप्रायमें जमीन आसमानका अन्तर है। जहाँ हमारा यह अभिप्राय है कि प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य समर्थ उपादान कारण होकर अपने प्रतिनियत कार्यको नियमसे जन्म देता है और उसके होनेमें प्रतिनियत बाह्य सामग्रीका योग नियमसे मिलता है वहाँ आपका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए उसे जैसी बाह्य सामग्रीका सानिध्य मिलता है वैसा कार्य होता है। उस उपादानसे कौन कार्य हो यह बाह्य सामग्रीपर अवलम्बित है। घुमा फिराकर अनेक प्रकारसे आप अपने अभिप्रायको लिपिबद्ध कर रहे हैं पर उन सबका आशय पूर्वोक्त ही है। अपने आशयके अनुरूप उसकी पुष्टिमें स्पष्ट प्रमाण न मिल सकनेके कारण ही अपर पक्षको यह प्रयास करना पड़ रहा है। इस प्रकार हमारे और आपके कथनमें जो भेद है वह स्पष्ट है।

आगे अपर पक्षने हमें लक्ष्यकर लिखा है कि 'दण्ड, चक्र, आदिमें निमित्तता उसी समय स्वीकार की गई है जब मिट्टी घट पर्यायके परिणमनके सन्मुख होती है, अन्यकालमें वे निमित्त नहीं स्वीकार किए गये हैं। इस विषयमें हमारा कहना यह है कि कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिमें घटके प्रति निमित्त कारणताका अस्तित्व उपादानताभूत वस्तुकी तरह नित्य शक्तिके रूपसे तो पहले ही पाया जाता है, क्योंकि कार्योत्पत्तिके

लिए उपादानभूत वस्तुके संग्रहकी तरह निमित्तभूत वस्तुका भी लोकमें संग्रह किया जाता है।' किन्तु अपर पक्षका यह लिखना कल्पनामात्र है, क्योंकि कुम्हार सदा कुम्हार नहीं बना रहता, इसी प्रकार दण्डादिक वस्तुएँ भी सदा ही उस पर्यायरूपसे नहीं रहती हैं। उपादान-उपादेयभाव एक द्रव्यमें स्वीकार किया गया है, इसलिए उसमें द्रव्यार्थिक नयसे पहले भी उपादानता शक्तिरूपमें स्वीकार की गई है, किन्तु यह स्थिति बाह्य सामग्रीकी नहीं है। यही कारण है कि तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय १ सूत्र ३३में जब कुम्हार शिविका आदि पर्यायों-के होनेमें निमित्त हो रहा है तब उसे कुम्हार कहनेका निषेध करते हुए लिखा है—

कुम्भकाराभावः शिविकादिपर्यायकरणे तदभिधानाभावात्। कुम्भपर्यायसमये च स्वावयवेभ्य एव निर्वृत्तेः।

कुम्भकारका अभाव है, क्योंकि शिविका आदि पर्यायोंके करते समय उसे कुम्हार शब्दसे नहीं कहा जा सकता। और कुम्भपर्यायके समयमें अपने अवयवोंसे ही वह (कुंभ) निर्वृत्त हुआ है।

इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी वस्तुमें अन्य द्रव्यके कार्य करनेरूप निमित्त कारणता नामका धर्म नित्य शक्तिरूपसे नहीं पाया जाता। यह केवल व्यवहारमात्र है। यदि अपर पक्ष घटनिर्माणके पहले भी कुम्हार शब्दका प्रयोग करना चाहता है तो भले करे, हम भी ऐसा प्रयोग करते हैं। परन्तु वह लोकपरिपाटीमात्र है। जयधवला पुस्तक ७ पृष्ठ ३१३ में इसी आशयको स्पष्ट करते हुए लिखा भी है—

पाचओ भुंजइ त्ति णिव्वावारावत्थाए वि किरियाणिमित्तववएसुवलंभादो।

जैसे पाचक (रसोइया) भोजन करता है, यहाँ पाचनक्रियाके अभावमें भी क्रियानिमित्तक पाचक शब्द उपलब्ध होता है।

हमें आशा है कि अपर पक्ष उक्त उल्लेखोंके प्रकाशमें बाह्य वस्तुमें निमित्त व्यवहारको यथार्थ न मानकर उसे उपचरित स्वीकार कर लेगा।

यहाँ अपर पक्षने बड़ी संजीदगीके साथ खेद व्यक्त करते हुए जो यह लिखा है कि 'आगमके वचनों-का अभिप्राय बिल्कुल स्वाभाविक ढंगसे आगमके दूसरे वचनोंके साथ समन्वयात्मक पद्धतिको अपनाते हुए प्रकरण आदिको लक्ष्यमें रखकर वाक्यविन्यास, पदोंकी सार्थकता, ग्रन्थकर्ताकी विषयमर्मज्ञता, साहित्यिक ढंग और भाषापाण्डित्य आदि उपयोगी बातोंको लक्ष्यमें रखकर ही ग्रहण कीजिए, अन्यथा इस तरहकी प्रवृत्तिका परिणाम जैन संस्कृतिके लिये आगे चलकर बड़ा भयानक होगा जिसके लिए यदि जीवित रहे तो हम और आप सभी पछतावेंगे।

किन्तु इन शब्दोंमें तो नहीं, सुस्पष्ट और मधुर शब्दोंमें इस विषयमें हम अपर पक्षसे यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि आवेशमें न आकर वह अपने शब्दों पर स्वयं ध्यान दे। यदि उसके मनमें सचमुचमें समन्वयकी भावना है तो उसे निश्चय और व्यवहारके जो लक्षण आगममें स्वीकार किये गये हैं उन्हें ध्यानमें रखकर प्रतिनियत कार्यका प्रतिनियत उपादान स्वीकार करके कार्य-कारणभावकी संगति बिठला लेनी चाहिए, इससे उत्तम और दूसरा समन्वयका मार्ग क्या हो सकता है। यह आगमानुमोदित मार्ग है। केवलज्ञानके विषयसे श्रुतज्ञानके विषयको भिन्न बतलाकर लौकिक मान्यताओंको आगमरूपसे स्वीकार करानेका अभिप्राय रखना यह कोई समन्वयका मार्ग नहीं है।

आगे अपर पक्षने हमारे कथनको स्वीकार करते हुए अन्तमें जो यह लिखा है कि 'किन्तु हम आपके समान ऐसा भी नहीं मानते कि कार्य निमित्तकी अपेक्षा रहित केवल विशिष्ट पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति मात्रसे ही उत्पन्न हो जाया करता है तथा ऐसा भी नहीं मानते कि सहकारी कारणकी सापेक्षताका अर्थ केवल इतना ही होता है कि सहकारी कारणको उपस्थिति वहाँ पर नियमसे रहा करती है, उसका वहाँ कभी अभाव नहीं होता। हम तो ऐसा मानते हैं कि एक तो उस पर्यायशक्तिकी उत्पत्ति सहकारी कारणोंके सहयोगसे ही होती है, दूसरे पूर्व पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति निमित्तोंका वास्तविक सहयोग मिलने पर ही उत्तर पर्यायरूप कार्यको उत्पन्न करती है और फिर उस उत्तर पर्यायशक्तिविशिष्ट द्रव्यशक्ति भी यदि निमित्तोंका अनुकूल सहयोग मिल जावे तो उस उत्तर पर्यायसे भी उत्तर पर्यायको उत्पन्न कर देती है तथा यदि अनुकूल निमित्तोंका सहयोग प्राप्त नहीं होता तो वर्तमान पर्यायशक्तिसे विशिष्ट द्रव्यशक्ति उस पर्यायसे उत्तर क्षणवर्ती विवक्षित पर्यायको उत्पन्न करनेमें सर्वदा ही असमर्थ रहेगी। फिर तो उससे उसी कार्यकी उत्पत्ति होगी जिसके अनुकूल उस समय निमित्त उपस्थित होंगे।' आदि।

वह अपर पक्षका कार्य-कारणभावके विषयमें वक्तव्य है। बौद्धदर्शन विधिकी सिद्धिमें स्वभावहेतु और कार्यहेतु इन दोको ही स्वीकार करता है, कारणहेतुको गमक नहीं मानता। उसका कहना है कि कारणका कार्यके साथ अविनाभाव न होनेके कारण वह उसकी सिद्धिका हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि जितने भी कारण होते हैं वे नियमसे कार्यवाले होते ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं है। जिसकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध है ऐसा कारण तो कार्यका नियमसे गमक होगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सामर्थ्य अतीन्द्रिय होती है, इसलिए उससे किस कार्यको जन्म मिलेगा इसका ज्ञान करना अशक्य है। यह बौद्धदर्शनका वक्तव्य है। इसीके उत्तरस्वरूप आचार्य माणिक्यनन्दिने अपने परीक्षामुख अ० ३ में 'रसादेकसामग्र्यनुमानेन' इत्यादि ५६ संख्याक सूत्र लिपिबद्ध कर यह कहा है कि ऐसा कारणरूप हेतु अपने कार्यका गमक होता ही है जो अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला हो तथा कारणान्तरोंकी विकलतासे रहित हो। इसकी टीका करते हुए लघु अनन्तवीर्य लिखते हैं—

न ह्यनुकूलमात्रमन्त्यक्षणप्राप्तं वा कारणं लिङ्गमिष्यते येन मणिमन्त्रादिना सामर्थ्यप्रतिबन्धात्कारणान्तरवैकल्येन वा कार्यव्यभिचारित्वं स्यात्, द्वितीयक्षणे कार्यप्रत्यक्षीकरणे नानुमानानर्थक्यं वा; कार्याविनाभावितया निश्चितस्य विशिष्टकारणस्य छत्रादेर्लिंगत्वेनांगीकरणात्। यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरावैकल्यं निश्चीयते तस्यैव लिंगत्वं नान्यस्येति नोक्तदोषः।

हम अनुकूलमात्र (लक्षणवाले) कारणको या अन्त्यक्षणप्राप्त (लक्षणवाले) कारणको लिंग अर्थात् साध्यकी सिद्धिमें हेतु नहीं कहते जिससे कि मणि-मन्त्रादिकके द्वारा सामर्थ्यका प्रतिबन्ध होनेसे अथवा कारणान्तरोंकी विकलता होनेसे वह (विवक्षित) हेतु कार्य (विवक्षित कार्य) के साथ व्यभिचारीपनेको प्राप्त हो अथवा द्वितीय क्षणमें कार्यके प्रत्यक्ष करनेसे अनुमानकी व्यर्थता हो, क्योंकि हमने कार्यके साथ अविनाभावरूपसे निश्चित विशिष्ट कारणरूप छत्रादिकको लिंगरूपसे (अनुमानज्ञानमें हेतुरूपसे) स्वीकार किया है। जिसमें सामर्थ्यका अप्रतिबन्ध और कारणान्तरोंका अवैकल्य निर्णीत होता है उसीके लिंगपना (अनुमानज्ञानमें हेतुपना) है, अन्यके नहीं, इसलिए प्रकृतमें उक्त दोषका प्रसंग नहीं प्राप्त होता।

लोकमें और आगममें प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंके साथ अनुमानज्ञान भी प्रमाणरूपसे स्वीकार किया गया है। इसमें जिस वस्तुका ज्ञान किया जाता है वह परोक्ष होती है और जिसको हेतु बना कर ज्ञान किया जाता है वह वस्तु इन्द्रियप्रत्यक्ष होती है। ऐसी स्थितिमें यदि हमें इस मिट्टीसे अगले समयमें क्या कार्य होगा

इसका ज्ञान करना है तो हमें सर्व प्रथम साधनभूत बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके ऊपर दृष्टिपात करना होगा, इसके बिना इस उपादानसे अगले समयमें क्या कार्य होगा यह अनुमान नहीं कर सकते। इसी तथ्यको आचार्यने उक्त टीकावचन द्वारा स्पष्ट किया है। बाह्य सामग्री द्वारा परोक्षभूत कार्यका निर्णय करनेके लिए उनका कहना है कि वहाँ पर एक तो वही बाह्य सामग्री होनी चाहिए जिससे परोक्षभूत निश्चित कार्यकी सूचना मिले, उससे विरुद्ध कार्यको सूचित करनेवाली बाह्य सामग्री वहाँ पर नहीं होनी चाहिए। दूसरे वहाँ पर उपस्थित बाह्य सामग्रीसे परोक्षभूत जिस कार्यकी सूचना मिलती हो उसमें कमी नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार तो कारणको हेतु बना परोक्षभूत कार्यका अनुमान करनेवाला व्यक्ति सम्यक् प्रकारसे बाह्य सामग्रीका विचार करले। और इसी प्रकार वह जिस आभ्यन्तर सामग्रीको परोक्षभूत कार्यकी अन्त्यक्षणप्राप्त आभ्यन्तर सामग्री समझ रहा है उसका भी विचार कर ले। यहाँ ऐसा न हो कि है तो वह अन्य कार्यकी अन्त्यक्षणप्राप्त सामग्री और अपनी बुद्धिसे वह समझ बैठा है उससे भिन्न दूसरे कार्यकी अन्त्यक्षणप्राप्त सामग्री। इस प्रकार बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीके आधार पर परोक्षभूत कार्यका अनुमान करनेवाला व्यक्ति यदि परोक्षभूत कार्यकी अविनाभूत बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको ठीक तरहसे जान सका तो निश्चित समझिए कि ऐसी सामग्रीको हेतु बनाकर परोक्षभूत तदनुरूप जिस कार्यका अनुमान किया जायगा वह यथार्थ ही ठहरेगा।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि प्रत्येक कार्यकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री सुनिश्चित है। वह प्रत्येक समयमें युगपत् प्राप्त होती रहती है, उसके प्राप्त होनेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। यही कारण है कि प्रत्येक समयमें अपनी-अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुरूप कार्यकी उत्पत्ति होती रहती है। बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको हेतु बनाकर परोक्षभूत कार्यका अनुमान करते समय वहाँ पर उपस्थित हुई सब प्रकारकी सामग्रीके आधार पर निर्णय करनेकी दिशामें प्रयत्न करना अन्य बात है और वहाँ पर उपस्थित हुई सब प्रकारकी सामग्रीमेंसे परोक्षभूत कार्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाली सामग्रीको जानकर उसके आधार पर अगले समयमें नियमसे उत्पन्न होनेवाले कार्यका अनुमान कर लेना अन्य बात है। वस्तुतः उक्त टीकावचनमें कार्य-कारणभावका विचार नहीं किया गया है। वहाँ तो परोक्षभूत कार्यका अनुमान करते समय जिस बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको हेतु बनाया जाय उसका विचार कितनी गहराईसे करना चाहिए मात्र इसका विचार किया गया है। तभी तो आचार्यने निष्कर्षरूपमें यह वचन लिखा है—कार्याविनाभावितया निश्चितस्य विशिष्टकारणस्य छत्रादेर्लिंगत्वेनांगीकरणात्। तात्पर्य यह है कि जिस कारणका जिस कार्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, यतः उससे उसी कार्यकी उत्पत्ति होगी अतः ऐसा सुनिश्चित कारण ही परोक्षभूत कार्यका अनुमान करानेमें साधन बन सकता है, अन्य नहीं यह उक्त समग्र कथनका तात्पर्य है।

अपर पक्ष अनुमान प्रकरणकी इस मीमांसाको कार्य-कारणभावकी मीमांसामें कैसे ले गया और उस आधार पर उसने असंगत अनेक तर्कणाऐं उपस्थित कर उसे जटिल कैसे बना दिया इसका हमें आश्चर्य है। कार्य-कारणका विचार करना अन्य बात है और विवक्षित कार्यका अनुमान करते समय किस स्थितिमें कौन कारण हेतु हो सकता है इसे समझना अन्य बात है। इससे कार्य-कारणभावकी नियत शृंखलामें कहाँ बाधा उपस्थित होती है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। अनुमान करनेकी दृष्टिसे कोई कार्य अपनी विवक्षामें हो और बाह्याभ्यन्तर सामग्री दूसरे कार्यकी उपस्थित हो, फिर भी हम उससे भिन्न किसी दूसरी सामग्रीको देखकर विवक्षित कार्यका अनुमान करें तो हमारा अनुमान ज्ञान ही असत्य सिद्ध होगा, इससे नियत कार्य-कारणपरंपरामें आँच आनेवाली नहीं। स्पष्ट है कि उक्त टीकाको ख्यालमें रख कर यहाँ पर अपर पक्षने कार्य कारणभावके सम्बन्धमें जो कुछ भी लिखा है वह केवल भ्रम उत्पन्न करनेका एक प्रयासमात्र ही है।

हमने अपने पिछले उत्तरमें लिखा है कि 'गेहूँ पर्यायविशिष्ट पुद्गल द्रव्य बाह्यकारण सापेक्ष गेहूँके अंकुरादि कार्यरूपसे परिणत होता है।' इस पर अपर पक्षका कहना है कि 'यह यदि बुद्धिभ्रमसे न लिख कर बुद्धिपूर्वक ही लिखा है तो इससे तो कार्यके प्रति निमित्तकारणकी सार्थकताका ही समर्थन होता है।' आदि।

किन्तु हम यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारे उक्त वाक्यके आधारसे अपर पक्षने यहाँ पर जो कुछ भी अभिप्राय व्यक्त किया है वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि हमने उक्त वचन मात्र द्रव्ययोग्यताको उपादान माननेवाले अपर पक्षके इस मतका निरसन करनेके अभिप्रायसे ही लिखा है। यदि अपर पक्ष उक्त वचनके आधारसे यह फलित करना चाहता है जैसा कि उसकी ओरसे फलित किया गया है कि गेहूँ पर्याय विशिष्ट सभी पुद्गल द्रव्य अंकुरसे लेकर आगेके कार्योंके उपादान हैं तो उसके द्वारा उक्त वाक्यके आधारसे ऐसा फलित किया जाना भ्रमपूर्ण है, क्योंकि यहाँ पर 'अंकुरादि' पदमें आया हुआ 'आदि' पद प्रकारवाची है। इसलिए इससे यह फलित होता है कि जो गेहूँ जिस समय जिस पर्यायके सन्मुख होता है उस समय वह उसका उपादान होता है, अन्यका नहीं। आगमका भी यही अभिप्राय है और इसी अभिप्रायको ध्यानमें रख कर उक्त वचन लिखा गया है। कोठेमें रखा हुआ गेहूँ इसलिए अंकुरको उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि उस समय वह अंकुरका उपादान न होकर अन्य कार्यका उपादान है। वस्तुतः बाह्य सामग्री अंकुरको उत्पन्न करनेमें अकिंचित्कर है।

अब रही बाह्य कारण सापेक्षताको बात सो इस वचन द्वारा मात्र व्यवहार (उपचरित) पक्षको स्वीकार किया गया है। जिस समय गेहूँ अंकुरको उत्पन्न करता है उस समय उसके बाह्य उपकरण कैसे होते हैं यह बात उक्त वचन द्वारा स्पष्ट की गई है, क्योंकि बाह्य सामग्री उपकरणमात्र है ऐसा आचार्योंका भी अभिप्राय है। उपकरणमात्रं हि बाह्यसाधनम् (तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० २)। बाह्य सामग्री उपादानकी क्रिया करके उसमें उसके कार्यको उत्पन्न कर देता है ऐसा यदि अपर पक्ष सहायकका अर्थ करता है तो वह आगम, तर्क और अनुभव सबके विरुद्ध है, क्योंकि एक द्रव्य अपनी सत्ताको लाँघकर दूसरे द्रव्यकी सत्तामें प्रवेश करे यह सर्वथा असम्भव है।

अपर पक्षने 'पुद्गलरूप द्रव्यशक्ति ही गेहूँरूप पर्याय विशिष्ट होकर गेहूँरूप पर्यायको उत्पन्न करती है।' इसे हमारी मान्यता बतलाकर उसका खण्डन करते हुए अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनी चाही है। किन्तु वह सब कथन पूर्वोक्त कथनके प्रकाशमें सुतरां खण्डित हो जाता है, क्योंकि एक द्रव्यका कार्य दूसरे द्रव्यके सहयोगसे होता है यह उपचार वचन है जो केवल दोनोंकी कालप्रत्यासत्तिको सूचित करता है। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्दने व्यवहारनयसे आत्मा पुद्गल कर्मको करता है इस कथनको सदोष बतलाते हुए समयसार गाथा ८५ में उसका निरसन किया है।

हमने अपने पिछले उत्तरमें लिखा है कि 'गेहूँ पुद्गल द्रव्यकी एक पर्याय है।' किन्तु अपर पक्षने इसे भी अपनी टीकाका विषय बनाया है। हम उसके उत्तरस्वरूप इतना ही संकेत कर देना चाहते हैं कि गेहूँ एक पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है ऐसा न तो हमने लिखा है और न है ही। आगमके अनुसार वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक पुद्गल परमाणुमें स्कन्धरूप होनेको योग्यता है, इसलिए वे 'द्वयधिकादिगुणानां तु' सिद्धान्तके अनुसार स्कन्धरूप परिणम कर गेहूँरूप व्यंजनपर्यायपनेको स्वयं प्राप्त होते हैं।

अपर पक्षने यहाँपर किसी बहाने संयोगकी चरचा करते हुए तथा अपनी दृष्टिसे कार्य-कारणभावके वास्तविक आधारको बतलाते हुए अन्तमें यह निष्कर्ष फलित किया है कि 'घटरूप कार्यके उत्पन्न करनेमें

मिट्टी पुद्गल द्रव्यकी पर्यायरूपसे कारण नहीं बन रही है, किन्तु स्वयं एक पौद्गलिक द्रव्यरूपसे ही बन रही है' आदि।

यहाँपर अपर पक्षने अपने उक्त अभिप्रायको ध्यानमें रखकर जो कुछ भी लिखा है वह केवल द्रव्ययोग्यताको उपादान माननेपर आनेवाली आपत्तिका वारण करनेके लिए लिखा है। हमारी तरफसे यह आपत्ति उपस्थित की गई थी कि 'यदि उपादानका अर्थ द्रव्ययोग्यता करके बाह्य-सामग्रीके बलपर प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति मानी जाती है तो चनासे गेहूँकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए।' स्पष्ट है कि अपर पक्ष अपने प्रस्तुत कथनद्वारा उसी आपत्तिका परिहार करनेकी चेष्टा कर रहा है और अपने इसी अभिप्रायकी पुष्टिके लिए उसके द्वारा मिट्टी आदि स्कन्धोंको अवस्थित मानकर अनादि-अनन्त सिद्ध करके नित्य भी सिद्ध किया गया है। किन्तु अपर पक्षका है यह सब कथन भ्रमोत्पादक ही। कारण कि एक तो मिट्टी आदि पुद्गल स्कन्ध न तो सर्वदा एक समान बने रहते हैं, उनमें प्रति समय अगणित नये परमाणुओंका संघात और पुराने परमाणुओंका भेद होता रहता है। दूसरे उनमें जो मिट्टी आदिरूपसे अन्वय प्रतिभासित होता है उसका मुख्य कारण सदृश परिणाम ही है, अन्वय धर्म नहीं। तीसरे जो स्कन्ध वर्तमानमें मिट्टी आदिरूप है वही स्कन्ध अपने संघात और भेदस्वभावके कारण जलादिरूप भी परिणम जाता है। यह अनुभवमें आता है कि जो गेहूँ वर्त्तमानमें गेहूँरूपसे प्रति समय परिणम रहा है वही मनुष्यादिद्वारा भुक्त होनेके बाद खात बनकर चना आदिरूपसे भी परिणम जाता है, इसलिए मिट्टी आदि स्कन्धको नित्य मानकर उपादानका अर्थ मात्र द्रव्ययोग्यता करके अपने पक्षका समर्थन करना ठीक नहीं है। चाहे परमाणुरूप पुद्गल हों या उनकी स्कन्ध पर्यायरूप मिट्टी आदि, उनसे उत्तरकालमें जो भी कार्य होता है वह असाधारण द्रव्ययोग्यता और प्रतिविशिष्ट पर्याययोग्यता इन दोनोंके योगमें ही होता है और इसी आधारपर उनके प्रत्येक समयके कार्यमें विभाजन होता जाता है। खानमें पड़ी हुई मिट्टी दूसरे समयमें या अन्तर्मुहूर्त आदि कालतक अन्य किसी परिणामरूप हुए बिना मात्र घटपर्याय को ही उत्पन्न करे तब तो यह कहना शोभा देता है कि 'मिट्टी पुद्गल द्रव्यकी पर्यायरूपसे कारण नहीं बन रही है, किन्तु स्वयं एक पौद्गलिक द्रव्यरूपसे ही बन रही है।' मिट्टी स्वयं पुद्गल द्रव्य नहीं है, किन्तु अनन्त पुद्गल द्रव्योंकी स्कन्धरूप एक पर्याय है, अतः वह प्रतिसमय सदृश परिणामद्वारा प्रतिविशिष्ट पर्याय होकर ही उत्तर कार्यकी उत्पत्तिमें कारण बनती है और यही कारण है कि उससे जायमान उत्तर कार्योंमें मिट्टी व्यवहार गौण होता जाता है। साथ ही जैसे पुद्गलसे जायमान सब कार्योंमें पुद्गलका अन्वय देखा जाता है उस प्रकार मिट्टीसे परिणाम प्रत्ययवश जायमान सब कार्योंमें मिट्टीका अन्वय नहीं देखा जाता। पुद्गल अन्य किसी परिणामको नहीं उत्पन्न करता है, क्योंकि उससे जो भी पर्याय होती है वह पुद्गलरूप ही होती है, किन्तु यह स्थिति मिट्टीकी नहीं है। यही कारण है कि मिट्टी आदिको स्वतन्त्र द्रव्य न स्वीकार कर पुद्गलोंकी मात्र स्कन्धरूप पर्याय स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि मिट्टीको जो घटकी उत्पत्तिमें कारण कहा गया है वह प्रत्येक समयके सदृश परिणामवश ही कारण कहा गया है, अन्वय धर्मके कारण नहीं। सदृश परिणाममें अन्वय धर्मका व्यवहार करना यह उपचार है। प्रयोजनवश आचार्योंने भी ऐसे व्यवहारको स्वीकार कर कथन किया है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु वहाँपर उनकी दृष्टि इसद्वारा द्रव्यशक्तिका ज्ञान कराना मात्र रही है। उस परसे अपने गलत अभिप्रायको फलित करना उचित नहीं है। स्कन्धोंमें पुद्गल यह व्यवहार है इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकायमें लिखते हैं—

> बादर-सुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।
> ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥७६॥

वादर और सूक्ष्मरूपसे परिणत स्कन्धोंको पुद्गल कहना यह व्यवहार हैं। वे छः प्रकारके हैं जिनसे तीन लोक निष्पन्न है ॥७६॥

यह आचार्य वचन है। इससे स्पष्ट है कि पुद्गलोंके पर्यायरूप विवक्षित स्कन्धको पुद्गल कहना यह कथन जब कि व्यवहार है ऐसी अवस्थामें मिट्टीको पौद्गलिक द्रव्य मानकर मिट्टीरूप द्रव्ययोग्यताको घटोत्पत्तिमें कारण कहना व्यवहार कथन तो ठहरेगा ही। यहाँ सर्वप्रथम मिट्टीमें पुद्गलका व्यवहार कर मिट्टीको सर्वथा पुद्गल स्वीकार किया गया है और फिर इस आधारपर मिट्टीमें विद्यमान मृत्तिकात्वरूप पर्यायधर्मको द्रव्ययोग्यतारूपसे नित्य मानकर घटकार्यमें द्रव्ययोग्यताको कारण कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि अपर पक्षका यह समस्त कथन व्यवहार नयकी मुख्यतासे ही किया गया है, अतएव यहाँपर अपर पक्षने जितना भी विवेचन किया है वह सब व्यवहार कथन ही है, यथार्थ कथन नहीं ऐसा जानना चाहिये।

अपर पक्षने यहाँ पर यह भी लिखा है कि 'खानसे लेकर घट बनने तक मिट्टीकी सब अवस्थाएँ कुम्भकारके व्यापारके अनुसार ही हुआ करती हैं' किन्तु यहाँ पर प्रश्न यह है कि मिट्टीको उन अवस्थाओंको उत्पन्न कौन करता है—कुम्भकार या स्वयं मिट्टी ? यदि कुम्भकार मिट्टीकी उन पर्यायोंको उत्पन्न करता है यह कहा जाय तो परिणामीसे परिणाम अभिन्न होनेके कारण मिट्टीकी सब अवस्थाओंमें और कुम्भकारमें अभेद प्राप्त होता है। यदि मिट्टी स्वयं कर्ता होकर अपनी पर्यायोंको उत्पन्न करती है यह कहा जाय तो कुम्भकारके व्यापारके सहयोगसे खानसे लेकर घट बनने तकके मिट्टीके सब कार्य होते हैं इसका क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट होना चाहिए। क्या उक्त कथनका यह तात्पर्य है कि कुम्भकारके व्यापारके अभावमें मिट्टीके उक्त कार्य नहीं होते या कुम्भकारके व्यापारके द्वारा मिट्टीके उक्त कार्य होते हैं ये दो प्रश्न हैं ? इनमेंसे प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि कुम्भकारका व्यापार कुम्भकारमें होता है और मिट्टीका व्यापार मिट्टीमें होता है, एकके व्यापारमें दूसरेके व्यापारका सर्वथा अभाव है। इस दृष्टिसे यदि यह कहा जाय कि खानसे लेकर घट बनने तक मिट्टीने जितने भी कार्य किये हैं वे सब निश्चयसे परनिरपेक्ष ही किये हैं तो इसमें कोई अत्युक्ति न होकर यथार्थता ही है। कुम्भकार भले ही मिट्टीमें कार्य करनेका विकल्प करे और अपना योगव्यापार करे। मिट्टीको तो उसकी खबर भी नहीं। वह तो मात्र अपने-अपने कालमें होनेवाले व्यापारमें रत रहती है, क्योंकि प्रत्येक समयमें अपना व्यापार करना यह उसका स्वभाव है। ऐसा नियम है कि कोई किसीके स्वभावको बना नहीं सकता।

यदि कहा जाय कि मिट्टीको भले ही खबर न हो, कुम्भकारको तो खबर है कि मेरे द्वारा अमुक प्रकारका व्यापार करनेपर मिट्टीको अमुक प्रकारसे परिणमना ही पड़ेगा। तो इसपर प्रश्न यह है कि कुम्भकार कभी भी किसी भी प्रकारसे उसे परिणमा सकता है या उसके अमुक प्रकारसे परिणमनेका काल आनेपर वह उसे उस प्रकारसे परिणमाता है ? प्रथम पक्षके स्वीकार करने पर तो सभी द्रव्योंके सभी परिणमन न केवल पराधीन प्राप्त होते हैं, अपि तु उनके परिणमनेका कोई क्रम नियत करना भी कठिन हो जाता है। इतना ही क्यों ? यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें किसी भी समय किसी भी प्रकारके परिणामको उत्पन्न कर सकता है तो वह उस दूसरे द्रव्यको अपनेरूप बना ले अर्थात् जड़को चेतन बना ले ऐसा स्वीकार करनेमें बाधा ही क्या रह जाती है इसका अपर पक्ष विचार करे।

यदि अपर पक्ष कहे कि जड़को चेतन बनाना दूसरी बात है और दूसरे द्रव्यमें किसी भी समय किसी भी प्रकारके परिणामको उत्पन्न कर देना दूसरी बात है। तो इसपर हमारा कहना यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें

जो पर्याय उत्पन्न होती है वह द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न होनेके कारण द्रव्य ही तो है, इसलिए जब कि दूसरा द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कभी भी और किसी भी परिणामको उत्पन्न कर सकता है तो उसे नये द्रव्यके उत्पन्न करनेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

इसपर यदि अपर पक्ष कहे कि जिस द्रव्यमें जिस कालमें जो परिणाम होना होता है उस कालमें वही परिणाम होता है इसमें सन्देह नहीं पर उसे उत्पन्न करती है सहकारी सामग्री ही, क्योंकि वह स्वयं उत्पन्न होनेमें सर्वथा असमर्थ है। तो इसपर हमारा कहना यह है कि वह सहकारी सामग्री दूसरे द्रव्यमें उस परिणामको कैसे उत्पन्न करती है, उसके भीतर घुसकर उसे उत्पन्न करती है या बाहर रहकर ही उसे उत्पन्न कर देती है? भीतर घुसना तो सम्भव नहीं, क्योंकि एक द्रव्यके स्वचतुष्टयका दूसरे द्रव्यके स्वचतुष्टयमें त्रैकालिक अत्यन्ताभाव है। सहकारी सामग्री बाहर रहकर दूसरे द्रव्यमें कार्य कर देती है यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सहकारी सामग्री जब कि दूसरे द्रव्यसे सर्वथा पृथक् बनी रहती है तो फिर वह उसमें उसका कार्य कैसे कर सकती है अर्थात् नहीं कर सकती। इसलिए प्रकृतमें अपर पक्षको यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि जड़ या चेतन प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य करनेमें स्वयं समर्थ है, इसलिए जिस कार्यका जो काल है उस कालमें वही कर्ता बन कर अपनेमें उसे उत्पन्न करता है। अन्यके द्वारा कार्य होता है या अन्य दूसरे-को उत्पन्न करता है, ग्रहण करता है, छोड़ता है या परिणमाता है यह सब व्यवहारकथन है। आगममें यह कथन प्रयोजनवश किया गया है और प्रयोजन है इष्टार्थका ज्ञान कराना, क्योंकि जिसे सहकारी सामग्री कहते हैं उसके कार्यके साथ उपादानके कार्यको अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्य बाह्य व्याप्ति है अर्थात् दोनोंके एक कालमें होनेका नियम है, इसलिए इसे कल्पनारोपित नहीं कहा जा सकता। यदि उपचरित कथनको अपर पक्षके मतानुसार कल्पनारोपित अर्थात् चंडूखानेकी गप मान ली जाय तो जगत्का समस्त व्यवहार नहीं बन सकेगा। फिर तो श्री जिन मन्दिरमें जा कर देवपूजा करना भी कल्पनारोपित मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रतिमामें स्थापना तो अपर पक्षके मतानुसार कल्पनारोपित ठहरी, फिर उसके आलम्बनसे पूजा कैसी? यदि कोई किसीको पत्र लिखे तो लिख नहीं सकता है, क्योंकि व्यवहारके लिए जो उसका नाम रखा गया है वह तो कल्पना-रोपित है। ऐसी अवस्थामें नाम लेकर किसीको पत्र लिखना व्यर्थ ही ठहरेगा। अपर पक्षको उपचरित कथनको कल्पनारोपित लिखते समय थोड़ा जगतके इन समस्त व्यवहारोंका विचार करना चाहिए। इतना तो हम निश्चयपूर्वक लिख सकते हैं कि अपर पक्षने यहाँ पर कुम्भकार और मिट्टीको आलम्बन बनाकर जो कार्य-कारणभावका रूपक उपस्थित किया है वह मात्र एकान्तरूप प्ररूपणा होनेसे कल्पनारोपित अवश्य है। परन्तु जिनागममें निश्चय-व्यवहारका पृथक्करण कर जो प्ररूपणा की गई है वह किसी भी अवस्थामें कल्पनारोपित नहीं है। अतः कोई भी कार्य किसी दूसरेके सहारे पर नहीं होता है ऐसा निश्चय यहाँ करना चाहिए। दूसरेके सहारेका कथन करना मात्र व्यवहार है जो उपचरित होनेसे यथार्थ पदवीको नहीं प्राप्त हो सकता।

प्रत्येक द्रव्य स्वयं सत् है और द्रव्यका लक्षण है गुण-पर्यायवाला, इसलिए द्रव्यके स्वयं सत् सिद्ध होनेपर गुण और पर्याय भी स्वयं सत् सिद्ध होते हैं। यतः पर्याय व्यतिरेकी स्वभाववाला है, अतः जिस पर्याय का जो स्वकाल है उस कालमें उसे परनिरपेक्ष स्वयं सत् ही जानना चाहिए, अन्यथा द्रव्य और गुणोंका अस्तित्व ही नहीं बन सकता। इसलिए अपर पक्षका यह लिखना कि 'कार्योत्पत्तिके लिए उपादानकी तैयारी निमित्तोंके बल पर ही हुआ करती है।' आगमविरुद्ध ही समझना चाहिए। वस्तुतः कोई किसीकी तैयारी नहीं करता, एक द्रव्यमें जिसके बाद जो होता है उसे उपादानकारण कहते हैं और होनेवालेको कार्य कहते

है तथा उस कार्यकी जिसके साथ वाह्य व्याप्ति होती है उसे सहकारी कारण कहते हैं और होनेवालेको कार्य कहते हैं। भेद विवक्षामें प्रथम कथन सद्भूत व्यवहारनयका विषय है और दूसरा कथन असद्भूत व्यवहारनयका विषय है।

अपर पक्षने कार्योंका विभाजन करते हुए उसे तीन प्रकारका बतलाया है—षड्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणमनको स्वप्रत्यय परिणमन। इस परिणमनमें अपर पक्ष मात्र निश्चय पक्षको ही स्वीकार करता है, व्यवहार पक्षको नहीं स्वीकार करता, यतः यह एकान्तकथन है, इसलिए इसे आगमसम्मत नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रकारके कार्योंमें वह धर्मादि चार द्रव्योंके परिणमनोंका अन्तर्भाव करता है। इन्हें वह स्व-पर प्रत्यय परिणमन लिखकर उनका नियत क्रमसे होना मानता है। किन्तु जब कि वह घटादि कार्योंका अनियत क्रमसे होना मानता है और उनकी निमित्तता इन द्रव्योंके परिणमनोंमें स्वीकार करता है तो न तो इनका नियत क्रमसे होना ही बन सकता है और न ही ये परिणमन स्व-परप्रत्यय होनेके कारण स्वभावपर्याय संज्ञाको ही प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि आगममें 'स्व-परप्रत्यय' पदमें 'पर' शब्द ऐसी निमित्तव्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीके अर्थमें आता है जो विभावपर्यायके होनेमें निमित्त है। अतएव धर्मादि द्रव्योंके परिणमनोंको स्व-परप्रत्यय लिखना आगम परम्पराके विरुद्ध होनेसे इस कथनको भी आगमसम्मत नहीं माना जा सकता।

तीसरे प्रकारके कार्योंमें वह घटादि कार्योंकी परिगणना करता है। किन्तु ये सब कार्य अपने-अपने कार्यकालमें प्राप्त होनेवाले प्रायोगिक और वैस्रसिक निमित्तोंको प्राप्तकर स्वयं होते रहते हैं। न तो उपादानकारण कार्योंकी प्रागभावरूप अवस्थाको छोड़कर अन्य कालमें बनता है और न ही बाह्य सामग्री भी अन्य कालमें निमित्त व्यवहार पदवीको प्राप्त होती है। इन दोनोंके एक साथ होनेका सहज योग है, इसलिए जिस कालमें घटादिरूप जो कार्य होता है वह अपने-अपने कालका उल्लंघन कभी नहीं करता। 'व्यतिरेकिणः पर्यायाः' इस नियमके अनुसार अपनी-अपनी सीमाके भीतर सभी पर्यायोंमें व्यतिरेकीपना आगममें स्वीकार किया गया है। केवल विभावपर्यायोंमें ही व्यतिरेकीपना होता हो ऐसा आगमका अभिप्राय नहीं है। अतएव इन्द्रियगोचर पूर्व पर्यायोंकी अपेक्षा उत्तर पर्यायोंमें यदि कुछ विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है तो उसे उस द्रव्यका ही कार्य समझना चाहिए, बाह्य सामग्रीका कार्य नहीं। स्पष्ट है कि प्रकृतमें अपर पक्षने इस सम्बन्धमें जो कुछ भी लिखा है वह आगमका आशय न होनेसे इसे भी आगमसम्मत नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्धमें विशेष विचार पूर्वमें किया ही है।

आगे अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १७ वार्तिक ३१ के आधारसे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'निमित्तोंका समागम उपादानकी कार्यरूपसे परिणत होनेकी तैयारी हो जाने पर हो ही जाता है ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता है, किन्तु यह तथा आगमके और दूसरे प्रमाण यही बतलाते हैं कि उपादानको जब निमित्तोंका सहयोग प्राप्त होगा तभी उपादानकी नित्य द्रव्यशक्ति विशिष्ट वस्तुको जिस पर्यायशक्ति विशिष्टताको आप तैयारी शब्दसे ग्रहण करना चाहते है वह तैयारी होगी और तभी कार्य हो सकेगा।'

यह अपर पक्षका वक्तव्य है। इसे ध्यानमें रखकर हम उस प्रमाणकी छानबीन कर लेना चाहते हैं। तत्त्वार्थवार्तिकका उक्त प्रकरण धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धिका है। प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है इसकी सिद्धिके उपाय दो हैं—अभ्यन्तर साधन और बाह्य साधन। अभ्यन्तर साधन प्रत्येक द्रव्यका स्वलक्षण—आत्मभूत साधन हुआ करता है और बाह्य साधन परलक्षण—अनात्मभूत साधन हुआ करता है। प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपना कार्य करे और उसका आत्मभूत साधन उस समय न हो यह आगमज्ञ किसी

भी विवेकीकी समझमें आने योग्य बात नहीं है। जिसे यहाँ पर प्रत्येक द्रव्यमें प्रति समय कार्यका साधनभूत स्वलक्षण कहा है उसका प्रत्येक समयमें होना ही उसकी तैयारी है। इसके सिवा किसी भी विवक्षित कार्यकी अपेक्षा अन्य जितनी तैयारी कही जाती है वह विकल्पका विषय है। यह तो प्रत्येक द्रव्यके स्वलक्षणभूत अन्तरंग साधनकी मीमांसा है। बाह्य साधनके विषयमें यह मीमांसा है कि प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक समयमें अपने-अपने कार्यके सन्मुख होने पर उसका अनात्मभूत लक्षणरूप बाह्य साधन नियमसे होता है। आभ्यन्तर साधन हो और बाह्य साधन न हो यह भी नहीं है, तथा अन्तरंग साधन हो और कार्य न हो यह भी नहीं है। प्रत्येक समयमें अन्तरंग-बहिरंग साधनोंकी युति नियमसे होती है और इनसे जिस कार्यके होनेकी सूचना मिलती है वह कार्य भी नियमसे होता है।

अपर पक्षका कहना है कि 'उपादानकी अपने कार्यके अनुकूल तैयारी होने पर भी यदि निमित्तोंका सहयोग नहीं मिलता तो कार्य नहीं होता।' किन्तु उसका यह कथन विवक्षाकी अपेक्षा है या प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक समयमें होनेवाले परिणामकी अपेक्षा है इसका उस पक्षकी ओरसे कोई खुलासा नहीं किया गया है। यदि विवक्षाकी अपेक्षा उक्त कथन है तो यह मान्यताकी बात हुई, इसका प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक समयमें होनेवाले क्रियालक्षण या भावलक्षण परिणामसे कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरा व्यक्ति चाहता है कि इस शक्करका लड्डू बने। इसके लिए वह अपने विकल्पोंके अनुसार उपाय योजना भी करता है, बाह्य परिकर भी उसकी इच्छानुसार प्रवर्तन करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु उस शक्करको यदि किसी कालावधिके मध्य लड्डू रूप नहीं परिणमना है तो उसकी इच्छा उत्पन्न होकर भी विलीन हो जाती है। इच्छा किसी कार्यके होनेमें निमित्त अवश्य है, किन्तु द्रव्यमें होनेवाले परिणामके साथ यदि उसका मेल बैठ जाय तो ही निमित्त है, अन्यथा नहीं। इसलिए विवक्षाके आधार पर यह सोचना कि 'उपादानकी अपने कार्यके अनुकूल तैयारी होने पर भी यदि निमित्तोंका सहयोग नहीं मिलता तो कार्य नहीं होता।' कोरी कल्पना है।

यदि प्रत्येक द्रव्यमें प्रत्येक समयमें होनेवाले परिणामकी अपेक्षा अपर पक्षका उक्त कथन हो तो उसे आगमका ऐसा प्रमाण उपस्थित करना चाहिए था जो अपर पक्षके उक्त अभिप्रायकी पुष्टिमें सहायक होता। किन्तु आगमकी रचना अपर पक्षके उक्त प्रकारके विकल्पोंकी पुष्टिके लिए नहीं हुई है, वह तो प्रत्येक द्रव्यके स्वरूप उद्घाटन और कार्य-कारणभावके सुनिश्चित लक्षणोंके निरूपणमें चरितार्थ है। यह आगम ही है कि अनन्तर पूर्वोत्तर दो क्षणोंमें ही कारण-कार्यभाव देखा जाता है (प्रमेयरत्नमाला ३, ५७)। यतः प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य करता ही है, उसे उस समय अपना कार्य करनेके लिए बाह्य-सामग्रीकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, क्योंकि उसके अनुकूल बाह्य-सामग्रीका उपस्थित रहना अवश्यंभावी है, इसलिए प्रत्येक द्रव्यमें प्रत्येक समयमें होनेवाले परिणामको ध्यानमें रखकर अपर पक्षका यह सोचना कि 'उपादानकी अपने कार्यके अनुकूल तैयारी होनेपर भी यदि निमित्तोंका सहयोग नहीं मिलता तो कार्य नहीं होता।' कल्पनामात्र है।

अपर पक्ष तत्त्वार्थवार्तिकके (अ० ५ सू० १७ वा० ३१) उक्त उल्लेखसे जिस आशयको फलित करनेकी कल्पना करता है वह उक्त उल्लेखका अभिप्राय नहीं है। उस द्वारा तो मात्र बाह्य साधनकी पुष्टि की गई है, क्योंकि जब यह आगम है कि प्रत्येक कार्यमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक कार्यमें आभ्यन्तर साधनके समान बाह्य साधनको स्वीकार करना भी आवश्यक हो जाता है। आचार्य समन्तभद्रने मोक्षमार्गके लिए यद्यपि आभ्यन्तर साधनको पर्याप्त कहा है (स्वयंभूस्तो०

का० ५९)पर वह उपयोगमें किसका आलम्बन लेना मोक्षमार्गीके लिए अत्यावश्यक है इस अपेक्षासे कहा है। आचार्यने निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका परिहार वहाँपर भी नहीं किया है। विवक्षामें प्रयोजनवश एकको गौण करना और दूसरेको मुख्य करना अन्य बात है और एकके द्वारा सिद्धि मानकर दूसरेका निषेध करना अन्य बात है। बाह्य दृष्टिवाले मिथ्यादृष्टि जीव सदा बाह्य साधनोंका अवलम्बन लिए रहते हैं और उनसे लौकिक तथा पारमार्थिक कार्योकी सिद्धि मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि बाह्य आलम्बन तो संसार परिभ्रमणका कारण है, मोक्षमार्गीके लिए वह स्वभावानुकूल आत्मपुरुषार्थ जागृत करनेमें सहायक नहीं। यदि वह यथार्थमें अपने जीवनमें मोक्षमार्ग या मोक्षकी प्रसिद्धि करना चाहता है तो उसे अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावका अवलम्बन लेना ही पर्याप्त है। उसे बाह्य साधनोंकी उठाधरीके विकल्पसे बचना ही होगा, तभी उसमें मोक्षकार्यकी प्रसिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखके आधारसे अपर पक्षने जो आशय फलित किया है वह अपर पक्षकी कोरी मनकी कल्पना है। जब प्रत्येक कार्यके बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकारके साधन हैं तो प्रत्येक कार्यमें उन्हें स्वीकार करना लाजिमी हो जाता है। यही तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखका आशय है। प्रसंगसंगत होनेसे हम यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणमन मात्र स्वप्रत्यय होता है यह कथन यद्यपि आगम-विरुद्ध है फिर भी इस आगम-विरुद्ध कथनके उत्थापनके कार्यका साहस जैसे अपर पक्ष कर सकता है और इस प्रकार बाह्य साधन सामग्रीके विना ही वह केवल उपादानके बलसे घोषणा करता हुआ तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखका उल्लंघन करता हुआ भी नहीं डरता, सचमुचमें वैसा साहस करना हमारे बूतेके बाहर है। हमें निश्चय पक्षके समान व्यवहार पक्षका पूरा ध्यान है और इसलिए हम निश्चय और व्यवहार पक्षका वही अर्थ करते हैं जो आगमको इष्ट है, कल्पनाके ताना-बाना बुनना हमारा कार्य नहीं।

१३. असद्भूतव्यवहारनयका स्पष्टीकरण

इसी प्रसंगसे अपर पक्षने असद्भूत व्यवहारनयका भी विचार किया है। उसका कहना है कि 'नय वही हो सकता है जिसका विषय सद्भूत हो। असद्भूत अर्थको ग्रहण करनेवाला नय ही नहीं हो सकता। यदि नय असद्भूत अर्थको भी विषय करता है तो उसके द्वारा आकाशकुसुम या गधेके सींगका भी ग्रहण होना चाहिए। यतः कोई भी नय आकाशकुसुम या गधेके सींगको नहीं ग्रहण करता अतः प्रत्येक नय सद्भूत अर्थको ही विषय करता है इसे स्वीकार कर लेना चाहिए।' अपने इस विषयकी पुष्टिमें उस पक्षको ओरसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य कथंचित् नित्य है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा द्रव्य कथंचित् अनित्य है यह उदाहरण उपस्थित किया गया है। किन्तु अपर पक्ष इस बातको भूल जाता है कि प्रत्येक द्रव्यमें रहनेवाले नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म जहाँ सद्भूत हैं वहाँ दो द्रव्योंके आश्रयसे प्रयोजनवश स्वीकार किये गये निमित्तत्व और नैमित्तिकत्व धर्म सद्भूत नहीं हैं, क्योंकि एक द्रव्यके धर्मको दूसरे द्रव्यमें सत्स्वरूप स्वीकार करनेपर उसमें दूसरे द्रव्यकी सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है और इस प्रकार दो द्रव्योंमें एकता प्राप्त हो जाती है जिसे स्वीकार करना तर्क, आगम और अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है। यही कारण है कि आगममें असद्भूत व्यवहारका लक्षण करते हुए लिखा है कि अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोप करना असद्भूत व्यवहार है। उपचार भी इसीका दूसरा नाम है। आलापपद्धतिमें 'असद्भूत व्यवहारनय भिन्न वस्तुको विषय करता है।' यह लक्षण भी इसी अभिप्रायसे किया गया है। आलाप-

पद्धतिके पूर्वोक्त कथनमें और इस कथनमें कोई अन्तर नहीं है, दोनोंका आशय एक ही है। एक द्रव्यके धर्मका दूसरे द्रव्यमें निराधार और निष्प्रयोजन आरोप करना असद्भूत व्यवहारनयाभास है और साधार सप्रयोजन आरोप करना समीचीन नय है। आकाशमें वृक्षके फूलका या गधेके सिरमें गाय आदिके सींगका आरोप करना एक तो निष्प्रयोजन है। दूसरे आकाशमें फूलके सदृश और गधेके सिरमें सींगके सदृश कोई धर्म भी नहीं पाया जाता, इसलिए आकाशमें फूलका और गधेके सिरमें सींगका आरोप करना किसी भी अवस्थामें सम्भव नहीं है। जहाँ यह ठीक है वहाँ घटादि कार्योंमें कुम्भकारादिके नैमित्तिकत्व धर्मका और कुम्भकारादिमें घटादिके निमित्तत्व धर्मका समारोप करना भी ठीक है, क्योंकि एक द्रव्यकी जिस परिणतिके साथ दूसरे द्रव्यकी जिस परिणतिका नियमसे एक साथ होनेका योग है उसकी सूचना उससे हो जाती है। इसीको कालप्रत्यासत्ति कहते हैं। साथ ही प्रत्येक द्रव्यमें अपना-अपना निमित्तत्व (कारणत्व) और नैमित्तिकत्व (कार्यत्व) धर्म भी पाया जाता है, यही कारण है कि आगममें असद्भूत व्यवहार नयके विषयको उपचरित बतलाया गया है। ये सब तथ्य अपर पक्षके लिए अनवगत हों ऐसी बात नहीं है, फिर नहीं मालूम कि वह क्यों ऐसे मार्गका अनुसरण कर रहा है जिससे आगमके अर्थका विपर्यास होना सम्भव है।

बृहद्द्रव्यसंग्रहमें असद्भूत व्यवहारनयके उपचरित और अपनुचरित ये दो भेद किये गये है इसमें सन्देह नहीं, पर वहाँ इसके इन दो भेदोंके करनेका कारण क्या है यह भी उस उल्लेखसे स्पष्ट हो जाता है। वहाँ परस्पर अवगाहरूप संश्लेष सम्बन्धको दिखलानेके लिए असद्भूत व्यवहारके पूर्व विशेषणरूपमें अनुपचरित शब्दका प्रयोग हुआ है और जहाँ इस प्रकारका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध न होते हुए भी प्रयोजनवश कर्ता-कर्म आदि धर्मोका (एक दूसरेमें) समारोप किया गया है वहाँ असद्भूत व्यवहारके पूर्व विशेषणरूपमें उपचरित शब्दका प्रयोग हुआ है। इसी तथ्यको दूसरे रूपमें आलापपद्धतिमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारः, यथा देवदत्तस्य धनम्। संश्लेषसहित-वस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारः, यथा जीवस्य शरीरमिति।

उनमेंसे संश्लेषरहित वस्तुओंके सम्बन्धको विषय करनेवाला उपचरित असद्भूतव्यवहार है, जैसे देवदत्तका धन। तथा संश्लेषसहित वस्तुओंके सम्बन्धको विषय करनेवाला अनुपचरित असद्भूतव्यवहार है, जैसे जीवका शरीर।

यहाँ न तो देवदत्तका धनमें रागभावको छोड़कर अन्य कोई मेरापन है और न ही जीवका शरीरमें रागभावको छोड़कर अन्य कोई मेरापन है। जैसे धन पुद्गलद्रव्यका परिणाम है वैसे ही शरीर भी पुद्गल द्रव्यका परिणाम है। जीव तो चेतन द्रव्य है ही, देवदत्त नामवाला जीव भी चेतन द्रव्य है। अतएव इनका पुद्गल द्रव्यस्वरूप धन या शरीरके साथ वास्तविक क्या सम्बन्ध हो सकता है ? अर्थात् कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। फिर भी देवदत्त धनको और जीव शरीरको मेरा मानता है सो उसका एकमात्र कारण रागभाव ही है। अतएव देवदत्त और जीवका सच्चा संयोग रागभावरूप ही है, धन और शरीररूप नहीं। धन और शरीरका संयोग कहना उपचरित है तथा रागभावरूप संयोग कहना यथार्थ है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए मूलाचार प्रथम भाग गाथा ४८ की टीकामें लिखा है—

अनात्मनीनस्यात्मभावः संयोगः।

अनात्मीय वस्तुओंमें आत्मभाव होना संयोग है।

इससे स्पष्ट है कि जीवमें द्रव्यकर्म और शरीरका कर्तृत्व असद्भूत व्यवहाररूप अर्थात् उपचरित ही है, क्योंकि असद्भूत व्यवहार और उपचार इन दोनोंका एक ही आशय है। फिर भी इनमें एक क्षेत्रावगाह-रूप संश्लेषका ज्ञान करानेके लिए यहाँपर विशेषणरूपमें अनुपचरित शब्दका प्रयोग हुआ है। किन्तु कुम्भकार और घटमें एक क्षेत्रावगाहरूप भी संश्लेषसम्बन्ध नहीं है, इसलिए कुम्भकारमें घटके कर्तृत्वको उपचरितासद्-भूतव्यवहाररूप अर्थात् उपचरितोपचाररूप बतलाया है। बृहद्द्रव्यसंग्रहका आशय स्पष्ट है। समयसार आत्मख्याति गाथा ५६ की टीका, नयचक्रसंग्रह तथा आलापपद्धतिके कथनके प्रकाशमें बृहद्द्रव्यसंग्रहके उक्त उल्लेखको पढ़नेपर अपर पक्षको भी यह आशय स्पष्ट हो जायगा ऐसा हमें विश्वास है। हाँ यदि वह उक्त आगम प्रमाणोंको लक्ष्यमें लिये बिना अपने मनसे बृहद्द्रव्यसंग्रहके उक्त उल्लेखका दूसरा अर्थ करता है जैसा कि उसकी ओरसे प्रस्तुत प्रतिशंकामें किया गया है तो उसका कोई चारा नहीं। हर अवस्थामें हम तो वही अर्थ करेंगे जिसे समग्र आगम एक स्वरसे स्वीकार करता है। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसामें लिखते हैं—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

ऐसा कौन है जो स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा सभी पदार्थोंको सत्स्वरूप ही नहीं मानता और पर-रूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा असत्स्वरूप ही नहीं मानता, क्योंकि ऐसा स्वीकार नहीं करने पर तत्त्वकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती ॥१५॥

इससे स्पष्ट है पृथक्भूत घटका कारणधर्म कुम्भकारमें नास्तिरूप ही है और इसी प्रकार कुम्भकारका कार्यधर्म घटमें नास्तिरूप ही है। निश्चयसे (यथार्थमें) न कुम्भकार घटका कर्ता है और न घट कुम्भकारका कर्म है। समयसार आदि परमागम इसी सत्यका उद्घाटन करता है। धन्य है वह जिनवाणी और धन्य हैं वे महापुरुष जिन्होंने इस परम सत्यका उद्घाटनकर जड़-चेतन प्रत्येक द्रव्यकी स्वतन्त्रता और परिपूर्णताका मार्ग प्रशस्त किया है। यह वस्तुस्थिति है। इसे हृदयसे स्वीकार करके जो व्यवहार पक्षको जाननेके इच्छुक हैं उन्हें व्यवहार पक्षका आशय और प्रयोजन समझनेमें देर नहीं लगती। उपचरित अर्थको कल्पनारोपित कह कर उड़ाना अन्य बात है और अधिकतर लोकव्यवहार उपचरित अर्थके आलम्बनसे चलता है इसे स्वीकार कर वस्तुस्थितिको हृदयंगम कर लेना अन्य बात है।

अपर पक्षका कहना है कि 'ज्ञानावरणादि कर्मों और औदारिक आदि शरीरोंका निर्माण जीव अपनेसे अपृथक्रूपमें ही किया करता है तथा घट-पटादिका निर्माण वह अपनेसे पृथक्रूपमें किया करता है।' किन्तु अपर पक्षका ऐसा लिखना कैसे असंगत है इसके लिए समयसार कलशके इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥१९४॥

जैसे पर पदार्थोंका भोगना आत्माका स्वभाव नहीं है उसी प्रकार पर पदार्थोंका निर्माण करना भी आत्माका स्वभाव नहीं है। वह अज्ञानसे ही कर्ता है, अज्ञानका अभाव होनेपर अकर्ता है ॥१९४॥

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब तक यह जीव अज्ञानी है तब तक तो उसे कर्म, नोकर्म और घटादि पदार्थोंका कर्ता (निर्माण करनेवाला) मानना चाहिए। समाधान यह है कि अज्ञानसे भी वह द्रव्यकर्मादि पदार्थोंका निर्माण नहीं कर सकता। यहाँ उसे जो कर्ता कहा गया है वह अपने विकल्पोंका ही

कर्ता कहा गया है, द्रव्यकर्म, नोकर्म और घटादि पदार्थोंका नहीं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार कलशमें लिखा है—

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृ-कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

विकल्प करनेवाला जीव ही केवल कर्ता है और विकल्प ही केवल कर्म (कार्य) है। जो जीव विकल्प सहित है उसका कर्ता-कर्मपना कभी नष्ट नहीं होता ॥९५॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात्।

अपने विकल्प और व्यापाररूप योग तथा उपयोग (रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणाम) को कदाचित् अज्ञानसे करनेके कारण उनका आत्मा भी कर्ता रहो तथापि पर द्रव्यस्वरूप कर्म, नोकर्म और घट-पटादि कार्योंका वह त्रिकालमें निर्माण करनेवाला नहीं हो सकता।

इस प्रकार आचार्य वचन तो यह है कि यह जीव द्रव्यकर्म, नोकर्म और घट-पटादि पदार्थोंका त्रिकालमें निर्माण नहीं कर सकता और अपर पक्ष कहता ही नहीं लिखता भी है कि 'यह जीव अपनेसे अपृथक्रूपमें द्रव्यकर्मो और औदारिकादि शरीरोंका तथा पृथक्रूपमें घट-पटादिका निर्माण किया करता है।' ऐसी अवस्थामें सहज ही यह प्रश्न उठता है कि इनमेंसे किसे प्रमाण माना जाय आचार्योंके पूर्वोक्त कथनको या अपर पक्षके कथनको ? पाठक विचार करें।

अपर पक्ष कहेगा कि आचार्योंने उक्त वचनों द्वारा द्रव्यकर्म, नोकर्म और घट-पटादि पदार्थोंका आत्मा निश्चय कर्ता है ऐसा माननेका निषेध किया है, निमित्तकर्ता माननेका नहीं ? समाधान यह है कि आगममें द्रव्यकर्मादिका निमित्तकर्ता अज्ञानसे जो आत्माको कहा है वह किस नयकी अपेक्षा कहा है इस तथ्यका विचार करने पर विदित होता है कि जहाँ जहाँ इस प्रकारका कथन किया गया है वह असद्भूत-व्यवहारनयकी अपेक्षा ही किया गया है और असद्भूत व्यवहारका अर्थ है एक द्रव्यके गुण-धर्मको दूसरे द्रव्य पर आरोपित करना। उपचार भी इसीका नाम है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ जहाँ एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका निमित्त कर्ता, प्रेरक कर्ता, परिणमानेवाला आदि शब्दों द्वारा कहा गया है वह मात्र उपचार नयका आश्रय लेकर ही कहा गया है। बृहद्द्रव्यसंग्रहके उक्त उल्लेखका भी यही आशय है। अतएव अपर पक्षके इस कथनको कि 'ज्ञानावरणादि कर्मो और औदारिकादि शरीरोंका निर्माण जीव अपनेसे अपृथक्रूपमें ही किया करता है तथा घट-पटादिका निर्माण वह अपनेसे पृथक्रूपमें किया करता है।' यथार्थ न मानकर हमारे इस कथनको कि 'जब प्रत्येक द्रव्य सद्रूप है और उसको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाला माना गया है तो ऐसी अवस्थामें उसके उत्पाद-व्ययको तत्त्वतः स्वयंकृत मान लेना ही श्रेयस्कर है। फिर भी इसके विरुद्ध उसे अन्य द्रव्यके कर्तृत्व पर छोड़ दिया जाय और यह मान लिया जाय कि अन्य द्रव्य जब चाहे उसमें किसी भी कार्यको उत्पन्न कर सकता है तो यह उसके स्वतन्त्र स्वभाव पर आघात ही है।

आगे अपर पक्षने उपादानकी कार्यके साथ अन्तर्व्याप्ति और निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी कार्यके साथ बाह्य व्याप्तिकी चरचा करके उपादानको कार्यके प्रति एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता स्वीकार की है। किन्तु जब कि अपर पक्ष अपनी प्रतिशंकामें यह स्वीकार करता है कि 'ज्ञानावरणादि

कर्मोका और औदारिकादि शरीरोंका निर्माण जीव अपनेसे अपृथक् रूपमें ही किया करता है ।' ऐसी अवस्थामें उसका यह लिखना कि 'आचार्योंने···प्रत्येक कार्यमें अपने·········निमित्तोंके साथ बाह्य व्याप्ति स्वीकार की है ।' कहाँ तक संगत कहा जा सकता है । क्या इस प्रकार परस्पर विरुद्ध कथन करते हुए वह पक्ष स्वयं अपनेको आगमविरुद्ध कथकके रूपमें अनुभव नहीं करता इसका उस पक्षको स्वयं विचार करना चाहिए । साथ ही उसे आगमका ऐसा प्रमाण भी देना था जहाँ उपादानकी अपने कार्यके प्रति एक द्रव्य-प्रत्यासत्तिरूप कारणता बतलाई गई हो । किन्तु न तो ऐसा कोई आगम ही है । और न ऐसा ही है कि कार्यके प्रति उपादानकी अन्तर्व्याप्तिका जैसा अर्थ और निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका जैसा अर्थ वह पक्ष करता है वह भी आगममें स्वीकार किया गया है । जीव और पुद्गल अपने परलक्षी क्रिया-परिणामके कारण जब परसे सम्पृक्तकी भूमिकामें विद्यमान रहता है तब अपने क्रिया-परिणामके कालमें परका नियमसे क्या क्रिया-परिणाम होता है यह घोषित करना ही बाह्य व्याप्तिरूप अन्वय-व्यतिरेकका प्रयोजन है । यही कारण है कि आचार्योंने प्रत्येक कार्यके प्रति परमें निमित्तताको कालप्रत्यासत्तिके रूपमें स्वीकार किया है । परको प्रत्येक कार्यके प्रति उपकारी, सहायक, निमित्तकर्ता, परिणमानेवाला आदि शब्दोंसे जो कुछ भी कहा गया है वह सब इसी अभिप्रायसे कहा गया है । यदि स्वभावपर्याय और विभावपर्यायमें कोई अन्तर है तो इतना ही कि स्वभावपर्याय परलक्षी परिणमन नहीं है, जब कि विभावपर्याय परलक्षी परिणमन है । इस प्रकार इस विवेचनसे स्पष्ट है कि प्रकृतमें अन्तर्व्याप्ति और बाह्य व्याप्ति आदिकी चरचा करते हुए अपर पक्षने जो कुछ लिखा है वह यथार्थ नहीं है ।

हमने लिखा था कि 'द्रव्य अन्वयी होनेके कारण जैसा नित्य है उसी प्रकार व्यतिरेकी स्वभाववाला होनेसे प्रत्येक समयमें वह उत्पाद-व्यय स्वभाववाला भी है, अतएव प्रत्येक समयमें वह कार्यका उपादान भी है और कार्य भी । पिछली पर्यायकी अपेक्षा जहाँ वह कार्य है अगली पर्यायके लिए वहाँ वह उपादान भी है ।'

इस पर अपर पक्ष कहता है कि 'हम भी ऐसा मानते हैं ।' किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि यदि वह ऐसा मानता होता तो वह पक्ष उपादानमें मात्र एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणताको स्वीकार न कर एक द्रव्य-भावप्रत्यासत्तिरूप कारणताको स्वीकार कर लेता, क्योंकि आचार्योंने भी एक द्रव्य-भावप्रत्यासत्तिरूपताको ही उपादान कारण सर्वत्र स्वीकार किया है । आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६८ पर लिखते हैं—

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनम्, तदुपादानम्, विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः । पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत् ।

दर्शन परिणामसे परिणत आत्मा नियमसे दर्शन है, वह उपादान है, क्योंकि उससे विशिष्ट ज्ञानपरिणामकी उत्पत्ति होती है । जैसे कूर्मरोमादि असत् होनेसे उपादान नहीं हो सकते उसी प्रकार निरन्वय पर्यायमात्र और जीवादि द्रव्यमात्र किसी भी प्रकार उपादान नहीं हो सकते ।

यह समर्थ उपादानका स्वरूप है । यदि वह इस स्वरूपको हृदयसे स्वीकार कर ले तो ही उसकी ओरसे हमारे पूर्वोक्त कथनका स्वीकार कहा जायगा और ऐसी अवस्थामें उसकी ओरसे यहाँ पर जो कुछ भी कल्पनावश लिखा गया है उसे वह पक्ष स्वयं बदल देगा । तब वह पक्ष इस तथ्यको हृदयसे स्वीकार कर लेगा कि 'प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्यमें न तो केवल एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूपसे उपादानता है और न ही केवल भावप्रत्यासत्तिरूपसे उपादानता है । किन्तु एक द्रव्य-भावप्रत्यासत्तिमें उपादानकारणता होनेसे जिस समय जो

द्रव्य उभयरूपसे उपादान बन कर जिस कार्यके सन्मुख होता है उस समय उसमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका सहज योग मिलता ही है।'

अपर पक्ष पूछता है कि 'यह जो क्षेत्र परिवर्तन इस मिट्टीका हुआ वह क्या खानमें पड़ी हुई उस मिट्टीकी क्षणिक पर्यायोंके क्रमसे हुआ।' समाधान यह है कि जीव और पुद्गलमें दो प्रकारकी शक्ति आगम स्वीकार करता है—एक क्रियावती शक्ति और दूसरी भाववती शक्ति। यही कारण है कि इन दोनों द्रव्योंमें यथासम्भव दो प्रकारका भाव स्वीकार किया गया है—एक परिस्पन्दात्मक और दूसरा अपरिस्पन्दात्मक। उनमेंसे परिस्पन्दात्मक भावको क्रिया कहते हैं और अपरिस्पन्दात्मक भावको परिणाम कहते हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० २२ वार्तिक २१ में लिखा है—

द्रव्यस्य हि भावो द्विविधः—परिस्पन्दात्मकः अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते इतरः परिणामः।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ३९८ में भी क्रियाका यही लक्षण करते हुए लिखा है—

द्रव्यस्य हि देशान्तरप्राप्तिहेतुः पर्यायः क्रिया, न सर्वः।

इस प्रकार भावके दो प्रकारके सिद्ध हो जाने पर यहाँ पर गति और स्थितिका विचार करना है। इसका लक्षण बतलाते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० १७ में कहा है—

देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः।

जो देशान्तरकी प्राप्तिमें हेतु है उसका नाम गति है।

उक्त सूत्रकी व्याख्याके प्रसंगसे तत्त्वार्थवार्तिकमें गतिका लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः।१। द्रव्यस्य बाह्यान्तरहेतुसन्निधाने सति परिणममानस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिरित्युच्यते।

द्रव्यके देशान्तरमें प्राप्तिके हेतुभूत परिणामका नाम गति है।१। बाह्य और अभ्यन्तर हेतुके सन्निधान होने पर परिणमन करते हुए द्रव्यके देशान्तरमें प्राप्तिके हेतुभूत परिणामको गति कहा जाता है।

गतिके विषयमें विचार करते हुए हमें क्रियाके स्वरूप पर विस्तारसे दृष्टिपात करना होगा। इस सम्बन्धमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५ सू० २२ में लिखा है—

परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः संप्रतीयते।
क्रिया देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदकृत् ॥३९॥

गत्यादि भेदको करनेवाली देशान्तर प्राप्तिमें हेतुभूत जो परिस्पन्दात्मक द्रव्यपर्याय है उसे क्रिया जानना चाहिए ॥३९॥

यह परिस्पन्दात्मक क्रिया जीवों और पुद्गलों दो द्रव्योंमें ही होती है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचनसारमें लिखा है—

पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्म-नोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥१२९॥

पुद्गल तो क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाववाले होनेसे परिस्पन्दके द्वारा, पृथक् अवस्थित पुद्गल संघातरूपसे और संघातरूप पुद्गल पुनः भेदरूपसे उत्पन्न होते हैं, ठहरते हैं और नष्ट होते हैं। तथा जीव भी क्रियावाले होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाववाले होनेसे परिस्पन्दके द्वारा नवीन कर्म और नोकर्मसे भिन्न जीव उनके साथ मिलनेसे तथा उनके साथ मिले हुए जीव पुनः भिन्न होनेसे वे उत्पन्न होते हैं, ठहरते हैं और नष्ट होते हैं ॥१२९॥

इन प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि पुद्गलों और जीवोंकी जो परिस्पन्दलक्षण क्रिया होती है, गति भी उसीका विशेष है। इसलिए यहाँ भी जो प्रति समय परिस्पन्दरूप परिणाम होता है उसका बाह्य हेतु काल है तथा उसके क्षेत्रसे क्षेत्रान्तररूप होनेमें बाह्य हेतु धर्मद्रव्य है।

इस प्रकार उक्त विवेचनसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि जीवों और पुद्गलोंमें जो भी क्रियालक्षण परिणाम और भावलक्षण परिणाम होता है वह सब क्षणिक पर्यायोंके क्रमसे ही होता है। इन्हीं दोनों प्रकारके परिणामोंके कारण दो परमाणु मिलकर द्वचणुक बनते हैं। अनन्त परमाणुओंके स्कन्ध बननेका भी यही तरीका है। मिट्टी उसका अपवाद नहीं। अपनी क्रियालक्षण या भावलक्षण पर्याय सन्ततिमें वह जिस समय क्षेत्रान्तरित होनेरूप या पिण्ड, स्थासादि बननेरूप कार्यका उपादान होती है उस समय वह अपने परिणमनेके अनुरूप प्रायोगिक या वैस्रसिक बाह्य निमित्तोंको प्राप्त कर स्वयं परिणमती रहती है।

बुद्धिदोषवश यदि कोई मिट्टी आदिकी प्रति समय होनेवाली इस आन्तरिक क्रियालक्षण और भावलक्षण उपादान योग्यताको न जानकर केवल बाह्य सामग्रीके आधारसे उसमें होनेवाले कार्योंकी सिद्धि करता है तो वह वस्तुतः एकान्तसे व्यवहार पक्षका आग्रही होनेसे कार्य-कारणपरम्पराके प्रति अनभिज्ञ ही कहा जायगा। स्पष्ट है कि मिट्टीका खेतसे कुम्भकारको निमित्त कर क्षेत्रान्तरित होना, जलादिको निमित्त कर पिण्डरूप परिणमना, कुम्भकार, चक्र, चीवरादिको निमित्तकर स्थासादिरूप परिणमते हुए घटरूप बनना या दण्डादिको निमित्त कर अनेक भागोंमें विभक्त होना आदिरूप जिस समय जो भी क्रियालक्षण या भावलक्षण परिणाम होता है वह उस उस समयके उपादानके अनुसार ही होता है और उस उस समय निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री भी उस उस परिणामके अनुकूल मिलती है। किसी भी द्रव्यमें ऐसा एक भी परिणाम नहीं होता जो प्रतिसमय होनेवाले परिणामक्रमके अन्तर्गत न आता हो। **एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें किसी प्रकारकी करामात कर सके ऐसा तो त्रिकालमें सम्भव नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें करामात करता है यह कहना तो अतिदूरकी बात है ऐसी करामात तो एक ही द्रव्य भिन्न समयमें स्थित होकर उससे भिन्न समयके कार्यकी अपेक्षा स्वयं अपनेमें नहीं कर सकता।** उत्पादादि त्रिलक्षण वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है, उसमें चारा किसका। प्रत्येक उत्पाद-व्ययलक्षण परिणाम अपने-अपने कालमें होता है इसके लिए प्रवचनसार गाथा ९९ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका द्रष्टव्य है। वहाँ लिखा है—

तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूप-पूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूति-संहार-ध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति।

उसी प्रकार वे परिणाम अपने कालमें स्व-रूपसे उत्पन्न और पूर्व-रूपसे विनष्ट होनेके कारण तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिसे सूत्रित एक प्रवाहपनेकी अपेक्षा अनुत्पन्न-अविनष्ट होनेके कारण उत्पत्ति, संहार और ध्रौव्यस्वरूपको धारण करते हैं।

इस उल्लेखमें आया हुआ 'स्वावसरे' पद ध्यान देने योग्य है। जब कि द्रव्य-पर्यायात्मक प्रत्येक उपादान अपने प्रतिनियत कार्यका सूचक है और उसकी उत्पत्तिमें प्रतिनियत बाह्यसामग्रीका ही योग मिलता है, ऐसी अवस्थामें प्रत्येक कार्य प्रतिनियत कालमें ही होता है यही उक्त वचनसे सुनिश्चित ज्ञात होता है। आगमसे तो इसमें सन्देह करनेके लिए कोई गुंजाइश रहती नहीं, तर्क और अनुभवसे भी यही सिद्ध होता है। विशेष स्पष्टीकरण पूर्वमें विस्तारसे किया है।

अपर पक्ष प्रत्येक कार्यके प्रति बाह्य सामग्रीका उपयोग जानना चाहता है सो उसका यह उपयोग तो त्रिकालमें नहीं हो सकता कि वह अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यके कार्यको स्वयं कर्ता बनकर उत्पन्न करे। हाँ उसका इतना उपयोग अवश्य है कि उससे हमें दूसरे द्रव्यमें उस समय होनेवाले कार्यकी सूचना अवश्य मिल जाती है। इससे हम यह जान सकते हैं कि इस समय इस प्रकारका उपादान होकर इस द्रव्यने अपना यह कार्य किया है। कोई भी अल्पज्ञानी रागी मनुष्य जितने रूपमें इस व्यवस्थाको जानता है उतने रूपमें वह बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको विकल्प और योगक्रियारूपसे जुटानेका प्रयत्न अवश्य करता है। बाह्याभ्यन्तर सामग्रीका उसके विकल्प और योगक्रियाके अनुरूप योग मिलना और न मिलना उसके हाथमें नहीं है। इच्छानुसार बाह्याभ्यन्तर सामग्रीका योग मिल गया तो रागवश अपनी सफलता मानता है, अन्यथा खेदखिन्न होता है। वह जानता है कि अमुक कुम्भकार अच्छा घड़ा बनाता है। उसकी प्रार्थनाको कुम्भकार स्वीकार भी कर लेता है। वह वैसी योजना भी करता है, फिर भी उसको इच्छानुसार घड़ा नहीं बनता या बनता ही नहीं। क्यों? इसलिए नहीं कि बाह्य सामग्री नहीं थी। बल्कि इसलिए कि मिट्टीकी उस समय घटरूप परिणमनेकी द्रव्य-पर्यायरूप उपादान योग्यता ही नहीं थी। कुम्भकार विचारा या अन्य बाह्यसामग्री उसमें क्या कर सकते थे। इसीको कहते हैं उपादानके कार्यमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्यसामग्रीका अकिंचित्करपना। ऐसी अवस्थामें अपर पक्ष ही बतलावे कि अपर पक्षने अपनी कल्पनासे जो समस्याएँ खड़ी की हैं वे हमारे निश्चयनयसे किये गये इस कथनका कि 'उपादानसे ही कार्य उत्पन्न हो जाता है निमित्त तो वहाँपर अकिंचित्कर ही बना रहता है।' खण्डन करती हैं या मण्डन। विचार कर देखा जाय तो अपर पक्षने जो समस्याएँ खड़ी की हैं उनसे हमारे उक्त कथनका मण्डन ही होता है, खण्डन नहीं।

हमने अपने पिछले उत्तरमें लिखा था कि 'लौकिक उदाहरणोंको उपस्थित कर अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार कार्यकारणपरम्पराको बिठलाना उचित नहीं है।' तथा इसी प्रसंगमें हमने समयसारकलशका 'आसंसारत एव धावति' इत्यादि कलश भी उपस्थित किया था।

इसपर अपर पक्षका कहना है कि 'लोकमें अधिकांश ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि प्राणी मोहकर्मके उदयके वशीभूत होकर अपने निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें अपने अन्दर अहंकारका विकल्प पैदा करता रहता है जो मोहभाव होनेके कारण बन्धका कारण है, अतएव त्याज्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें अपनी निमित्तताका ज्ञान होना असत्य है। यदि अपने निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें अपनी निमित्तताका ज्ञान भी असत्य हो जाय तो फिर मनुष्य किसी कार्यके करनेमें प्रवृत्त भी कैसे होगा? कुम्हारको यदि समझमें आ जाय कि घड़ेका निर्माण खानमें पड़ी हुई मिट्टीसे अपनी क्रमवर्ती क्षणिक पर्यायोंके आधारपर स्वतः समय आनेपर हो जायगा तो फिर उसमें तदनुकूल पुरुषार्थ करनेकी भावना ही जागृत क्यों होगी?' आदि।

समाधान यह है कि किस कार्यमें कौन निमित्त है इसका ज्ञान होना अन्य बात है और उपादानको मात्र द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप स्वीकार करके जब जैसे बाह्य निमित्त मिलते हैं तब उनके अनुसार कार्य होता है

ऐसा मानना अन्य बात है। कोई भी समझदार कुम्भकार घटनिर्माणका विकल्प भी करता है तदनुकूल व्यापार भी करता है और इसके लिए घटके योग्य मिट्टीका परिग्रह भी करता है। तदनुकूल आगेके व्यापारमें भी जुटता है पर उसे यह ज्ञान होता है कि यह मिट्टी घटपर्यायसे परिणत होनेवाली होगी तो ही होगी, मैं तो निमित्तमात्र हूँ और घटकार्यमें तब निमित्तमात्र हूँ जब मिट्टी स्वयं घटकार्यके सन्मुख हो। मिट्टीके संग्रहमें निमित्त होते समय, उसे अपने घरतक क्षेत्रान्तरित होनेमें निमित्त होते समय तथा जल और मिट्टीके संयोग आदिमें निमित्त होते समय जो मेरे मनमें घट बनानेका विकल्प है और उस विकल्पको ध्यानमें रखकर जो मैं अपनेको वर्तमानमें घट बनानेका निर्माता कहता हूँ वह केवल भावी नैगमनयकी अपेक्षा असद्भूत व्यवहार वचन ही कहता हूँ। इस प्रकार जिसे भूतार्थका ज्ञान है वही अनेक असत् विकल्पोंसे अपनी रक्षा कर सकता हैं, अन्य नहीं और वह ही अनेक असत् विकल्पोंको निमित्त कर होनेवाले बन्धनसे अपनी रक्षा कर सकता है, अन्य नहीं। मिट्टी ही स्वयं घट बनती है, अन्य नहीं। पर वह किस अवस्थामें घट बनती है इसे विवेकी अच्छी तरह जानते हैं। विवेकी यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि घटपर्यायके सन्मुख हुई मिट्टी ही घटका उपादान हैं, खानमें पड़ी हुई मिट्टी नहीं। यदि कोई कुम्भकार खानमें पड़ी हुई मिट्टीको वर्तमानमें घटका उपादान समझ ले तो अपनी ऐसी खोटी समझके लिए स्वयं पश्चात्ताप करना पड़ेगा या वह निर्णय कर ले कि इसे मेरी इच्छानुसार परिणमना पड़ेगा तो भी उसे कदाचित् पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

कोई मूढ़ छात्र अध्यापकके मुखसे पाठ सुने, उनकी सेवा करे, 'न हि कृतमुपकारं' इत्यादि वचनका अक्षरशः पालन करे, परन्तु स्वयं अभ्यास न करे तो वह मूढ़ ही बना रहेगा, स्वयं विद्वान् न बन सकेगा। अध्यापक तो तब निमित्तमात्र है जब वह छात्र अपनी मूढ़ताको छोड़ कर स्वयं अभ्यासके सन्मुख होता है। इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए।

कुम्भकारादि तब निमित्तमात्र हैं जब मिट्टी स्वयं अपने उत्तरोत्तर होनेवाले परिणामों द्वारा स्वयं घट परिणामके सन्मुख होकर घटरूप परिणमती है। अपर पक्षने जितने उदाहरण दिये हैं वे सब लौकिक इसलिए हैं, क्योंकि वह पक्ष अपनी रुचिसे उपादानको एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप लिखकर उसे आगम सिद्ध करना चाहता है और उसे आधार बनाकर कार्यकारणभावकी व्यवस्था बनाना चाहता है। स्पष्ट है कि अपर पक्षने 'आ संसारत एव' इत्यादि कलशके आधार पर जो विचार प्रस्तुत किये है वे कार्य-कारणभावकी यथार्थ व्यवस्थाको स्पर्श नहीं करते, अतः त्याज्य हैं। यद्यपि उक्त कलशका आशय अन्तस्तमका उच्छेद करनेवाला होनेसे अतिगूढ़ है, परन्तु यहाँपर हमने प्रकृतमें प्रयोजनीय मात्र इतना आशय लिया है। उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करने पर तो 'मैं इस कार्यमें निमित्त हूँ' यह विकल्प भी बन्धका कर्ता होनेसे हेय है। यह जीव भूतार्थके परिग्रहद्वारा स्वयं ज्ञानघन होकर बन्धनसे मुक्त हो जाय तब तो कहना होगा कि इसने आत्मनिधिका ही साक्षात्कार कर लिया। वहाँ इस विकल्पको स्थान कहाँ। अस्तु,

हमने अपने पिछले उत्तरमें 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' का आशय स्पष्ट किया था। अपर पक्षका कहना है कि 'वह उत्तर पर्याय निमित्तसापेक्ष उत्पन्न नहीं होती ऐसा निर्णय तो उक्त वाक्यसे नहीं किया जा सकता है।' अपने इसी कथनकी पुष्टिमें अपर पक्षने 'वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः' (अष्ट० पृ० ५१) इत्यादि वचन भी उद्धृत किया हैं।

यद्यपि अपर पक्षने इस वचनको अपने पक्षमें समझ कर उपस्थित किया है, परन्तु इससे यथार्थ पर प्रकाश पड़नेमें बड़ी सहायता मिलती है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि इसमें एक द्रव्यप्रत्यासत्तिको उपादान

न कहकर अपने पूर्व (अनन्तर पूर्व) परिणामको उपादान कहा गया है। यहाँ पर 'पूर्वस्वपरिणाम' पदसे जहाँ असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्तिका ज्ञान हो जाता है वहाँ समनन्तर पूर्व पर्यायप्रत्यासत्तिका भी ग्रहण हो जाता है। ऐसी अवस्थामें 'प्रत्येक समयमें उस-उस पर्याय युक्त द्रव्य अगले समयका उपादान होता है और जिसका वह उपादान होता है उससे अगले समयमें उसी कार्यको जन्म देता है तथा कार्यकालमें बाह्य सामग्री भी उसीके अनुकूल मिलती है' इस तथ्यकी पुष्टि होकर प्रत्येक कार्यका स्वकाल निश्चित हो जाता है। अपर पक्ष यदि इस तथ्यको स्वीकार कर ले तो प्रत्येक कार्यमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका क्या स्थान है इसका निर्णय करनेमें आसानी जाय।

आगममें 'बाह्य दण्डादिसापेक्ष मिट्टी ही स्वयं' ऐसा कथन आता है। इस परसे अपर पक्षका ख्याल है कि उपादानको निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी तबतक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जबतक वह प्राप्त न हो जाय। किन्तु देखना यह है कि आगममें 'बाह्य दण्डादिसापेक्ष' यह या इसी प्रकारके अन्य वचन किस दृष्टिसे लिखे गये हैं। क्या कोई भी वस्तु अपना कार्य करते समय सहकारी मानकर अन्य बाह्य सामग्रीकी प्रतीक्षा करती है या यह नयवचन है? जो मात्र इस बातको सूचित करता है कि अमुक प्रकारके कार्यमें अमुक प्रकारकी आभ्यन्तर उपाधिके साथ अमुक प्रकारकी बाह्य उपाधि नियमसे होती है। आगम (पंचास्तिकाय गा० १००) में व्यवहारकालको 'परिणामभव' कहा है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

तत्र व्यवहारकालो निश्चयकालपर्यायरूपोऽपि जीव-पुद्गलानां परिणामेनावच्छिद्यमानत्वात्तत्परिणामभव इत्युपगीयते। जीव-पुद्गलानां परिणामस्तु बहिरंगनिमित्तभूतद्रव्यकालसद्भावे सति सम्भूतत्वाद् द्रव्यकालसम्भूत इत्यभिधीयते। तत्रेदं तात्पर्यम्—व्यवहारकालो जीव-पुद्गलपरिणामेन निश्चीयते, निश्चयकालस्तु तत्परिणामान्यथानुपपत्त्येति।

वहाँ व्यवहारकाल निश्चय कालकी पर्यायस्वरूप हो कर भी जीवों और पुद्गलोंके परिणामसे ज्ञात होनेके कारण 'वह जीवों और पुद्गलोंके परिणामसे उत्पन्न होता है' ऐसा कहा जाता है। तथा जीवों और पुद्गलोंका परिणाम तो बहिरंग निमित्तभूत द्रव्यकालके सद्भावमें उत्पन्न होनेके कारण 'द्रव्यकालसे उत्पन्न हुआ है' ऐसा कहा जाता है।

पंचास्तिकाय गाथा २३ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र इसी विषयको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

यस्तु निश्चयकालपर्यायरूपो व्यवहारकालः स जीव-पुद्गलपरिणामेनाभिव्यज्यमानत्वात्तदायत्त एवाभिगम्यत एवेति।

और जो निश्चयकालकी पर्यायरूप व्यवहारकाल है वह जीव-पुद्गलोंके परिणामसे अभिव्यज्यमान होनेके कारण उस (जीव-पुद्गलोंके परिणाम) के अधीन ही है ऐसा ज्ञात होता ही है।

अब देखना यह है कि यहाँ पर जो व्यवहारकालको जीव-पुद्गलोंके परिणामसे उत्पन्न होनेवाला या उनके परिणामके अधीन कहा गया है वह एक समयमात्र व्यवहारकाल कितना है इस बातका ज्ञान करनेके अभिप्रायसे कहा गया है या यथार्थमें व्यवहारकालकी उत्पत्ति जीव-पुद्गलोंके परिणामसे होती है यह जतानेके लिये कहा गया है। दूसरा पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि स्वयं आचार्यने पूर्वोक्त उल्लेख द्वारा उसका निषेध किया है। प्रथम पक्षके स्वीकार करने पर यही सिद्ध होता है कि किस कार्यके होनेमें कौन बाह्य वस्तु निमित्त व्यवहारको प्राप्त होती है या जिस समय जो भी कार्य होता है उसका ज्ञान बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिके

द्वारा होनेके कारण उनके साथ कार्यके अन्वय-व्यतिरेकका ज्ञान करनेके लिए व्यवहारनयसे आगममें 'उभय-निमित्तसापेक्ष' या 'बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष' इत्यादि कथन किया गया है।

किसी भी कार्यमें अन्य किसीकी अपेक्षा रहती हो ऐसा तो वस्तुका स्वरूप ही नहीं है, वह तो स्वतःसिद्ध होता है। उदाहरणके लिए सदसत्स्वरूप वस्तुको लीजिए। वस्तुका यह स्वरूप है जो नियमसे परनिरपेक्ष है। फिर भी वस्तुमें अस्तित्व धर्मकी सिद्धि स्वचतुष्टयकी अपेक्षा की जाती है और नास्तित्व धर्मकी सिद्धि पर चतुष्टयकी अपेक्षा की जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व धर्म स्वचतुष्टयकी अपेक्षा रहता है और नास्तित्व धर्म परचतुष्टयकी अपेक्षा रहता है। यदि ऐसा माना जाय तो सदसत्स्वरूप वस्तु ही नहीं बनेगी। अतः प्रत्येक वस्तुको सदसत्स्वरूप परनिरपेक्ष स्वतःसिद्ध मानना चाहिए। यही कथन परमार्थ सत्य है, अन्य सब व्यवहार है। उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए।

यही कारण है कि कर्ता, कर्म और क्रिया इन तीनोंमें वस्तुपनेसे अभेद सूचित करके परमागमने इस परमार्थ सत्यका उद्घाटन किया है कि जिस समय वस्तु जिसरूप परिणमती है वह तन्मय होती है। इसे निश्चय कथन कहनेका यही कारण है। किन्तु समयभेदसे किस समय प्रत्येक वस्तु किस रूप परिणमती है इसकी सिद्धिका उपाय क्या यह बतलानेके लिए आगममें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिके आधारसे उसकी सिद्धि की गई है और यह कहा गया है कि जिस बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिके साथ जिस कार्य द्रव्यका अन्वय-व्यतिरेक मिले उसे उसका कारण कहना चाहिए। और इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर आगममें यह वचन उपलब्ध होता है कि—'यदनन्तरं यद्भवति तत्तत्कारणमितरत्कार्यम्।' स्पष्ट है कि कार्यकी सिद्धिकी विवक्षामें 'उभयनिमित्तसापेक्ष' इत्यादि वचन प्रयोजनवान् है, स्वरूपके उद्घाटनमें नहीं। निश्चयनय वचन स्वरूपका उद्घाटन करता है, इसलिए यथार्थ है और व्यवहारनय वचन स्वरूपका उद्घाटन न करके उसका कर्ता परको कहता है, इसलिए उपचरित है। इसमें भेदविवक्षामें सद्भूत व्यवहार वचनका तथा सर्वथा भेद-विवक्षामें असद्भूत व्यवहार वचनका दोनोंका परिग्रह हो जाता है। यह सापेक्ष कथनका थोड़ेमें खुलासा है। इसे स्पष्टरूपसे समझनेके लिए अपर पक्ष आप्तमीमांसा कारिका ७५ और उसपर लिखी गई अष्टशती तथा अष्टसहस्री टीका पर दृष्टिपात करेगा ऐसा हमें विश्वास है।

आचार्य कुन्दकुन्दने 'जीवपरिणामहेदु' यह वचन इसलिए नहीं लिखा है कि जीवके परिणाम कर्मको उत्पन्न करते हैं और कर्म जीवके परिणामोंको उत्पन्न करते हैं। किन्तु किस जीवके परिणामके साथ कर्मकी और किस कर्मपरिणामके साथ जीवपरिणामके होनेकी बाह्य व्याप्ति है, मात्र इसकी सिद्धि इन वचन द्वारा की गई है और तभी यथार्थताका ज्ञान कराते हुए अगली गाथामें यह लिख दिया है कि कर्म जीवपरिणामको उत्पन्न नहीं करता और जीव कर्मपरिणामको उत्पन्न नहीं करता। जो जिसकी सिद्धिका हेतु है उसमें निमित्त व्यवहार करना अन्य बात है और उसे उसका यथार्थ कर्ता मान बैठना अन्य बात है। यह तो महा-मिथ्यात्व है।

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने लिखा है कि—'असंख्यातप्रदेशी जीवको जब जैसा शरीर मिलता है तब उसे उसरूप परिणमना पड़ता है।' और साथ ही इसे आगम कथन बतला कर यह भी लिख दिया है कि 'इसे हम स्वीकार करते है।' इसका हमें आश्चर्य है। वास्तवमें यह हमारा कथन नहीं है। किन्तु अपर पक्षकी उस मान्यताका संक्षिप्त उल्लेख है जिसका निर्देश अपर पक्षने इसी प्रश्नके द्वितीय दौरके समय अपनी प्रति-शंकामें किया है जो इस प्रकार है—'तीसरी बात यह है कि असंख्यातप्रदेशी जीव शरीर परिमाणके छोटे

बड़े होनेसे आकारमें छोटा-बड़ा बन जाता है। यदि जीवको शरीरके प्रभावसे रहित माना जायगा तब यह बात भी नहीं बन सकेगी और इस प्रकार आगमका विरोध होगा।'

अपर पक्षने यहाँ पर अन्य जितना कुछ लिखा है उसमें ऐसी कोई नई बात नहीं जिस पर विशेष ध्यान दिया जाय। अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर शरीरादि बाह्य सामग्रीका कार्यके प्रति क्या स्थान है इसका विस्तारके साथ खुलासा हमने किया ही है। अपर पक्ष यदि आगमको हृदयंगम करके विवाद समाप्त कर ले तो उसका हम स्वागत ही करेंगे। निमित्त व्यवहारके योग्य पर द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यमें यत्किंचित् भी सहकारिता करता है ऐसी मान्यता ही मिथ्या है। आगमकी ऐसी ही आज्ञा है कि—

एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव, मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशन्ती स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते।

—समयसार गा० ३७२ आ० अमृतचन्द्रकृत टीका

ऐसा होने पर मिट्टी अपने स्वभावको उल्लंघन नहीं करती, इसलिए कुम्हार घटका उत्पादक ही नहीं है, मिट्टी ही कुम्हारके स्वभावको स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव कुम्भरूपसे उत्पन्न होती है।

यदि अपर पक्ष 'जब कुम्हार घट बनानेका विकल्प कर रहा था तथा उसके अनुकूल व्यापार कर रहा था उस समय मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमी इतना ही सहकारिताका अर्थ करता है तो बात दूसरी है। आचार्योंने इसे ही कालप्रत्यासत्ति शब्द द्वारा स्वीकार किया है।

अपर पक्षने 'तादृशी जायते बुद्धिः' इस वचनकी पेटभर आलोचना करते हुए इसे जैन संस्कृतिकी मान्यताके विरुद्ध घोषित किया है, इसे उस पक्षका अतिसाहस ही कहा जायगा। इस सम्बन्धमें उस पक्षका कहना है कि—'पद्यमें कार्यके प्रति भवितव्यताके साथ-साथ कारणभूत जिन बुद्धि व्यवसाय आदिका उल्लेख किया गया है उनकी उत्पत्ति अथवा सम्प्राप्तिको उसी भवितव्यताकी दया पर छोड़ दिया गया है जो इस कार्यकी जननी है। बस। यही उसमें असंगति है और इसलिए वह जैन संस्कृतिकी मान्यताके विरुद्ध है।'

इस सम्बन्धमें हम अपर पक्षसे अधिक क्या कहें, इतना ही कहना चाहते हैं कि वह पक्ष व्यामोहमें पड़कर यदि ऐसी गैरजिम्मेदारीकी टीका न करता तो यह जैन संस्कृतिकी सबसे बड़ी सेवा होती। इसे जैन परम्पराके आधारस्तम्भ भगवान् अकलंकदेवने एकान्त पुरुषवादका निषेध करनेके प्रसंगसे उद्धृत किया है इसे नहीं भूलना चाहिए। और जब उन जैसे समर्थ आचार्यने इसे उद्धृत किया है तो इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें इसमें जैन मान्यताके समग्र बीज दृष्टिगत हुए होंगे। प्रत्येक कार्यके प्रति जितने भी कारण स्वीकार किये गये है उनमें भवितव्यता या योग्यता मुख्य है, क्योंकि वह कार्यको उत्पन्न करनेके लिए द्रव्यगत आन्तरिक शक्ति है। इसी तथ्यको स्वामी समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३३॥

हेतुद्वयसे उत्पन्न हुआ कार्य जिसकी पहिचान है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है। फिर भी मैं करता हूँ ऐसे अहंकारसे पीड़ित यह प्राणी सब सहकारी कारणोंको मिलाकर भी कार्योंके सम्पन्न करनेमें अनीश्वर-असमर्थ है यह आपने ठीक ही कहा है ॥३३॥

आचार्य समन्तभद्रने इसमें 'तादृशी जायते' इस श्लोकके समान 'भवितव्यता'पर ही जोर दिया है। और देखिए—

तत्रापि हि कारणं कार्येणानुपक्रियमाणं यावत् प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २३७

उसमें भी कारण कार्यसे अनुपक्रियमाण होता हुआ जब तक वह प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है तब तक सबको उत्पन्न क्यों नहीं करता ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

इसमें भी 'तादृशी जायते' इत्यादि श्लोकके समान भवितव्यता पर ही बल दिया गया है। और देखिए—

चतुरंगबलं कालः पुत्रा मित्राणि पौरुषम्।
कार्यकृत्तावदेवात्र यावद्दैवबलं परम्॥
दैवे तु विकले काल-पौरुषादिर्निरर्थकः।
इति यत्कथ्यते विद्भिस्तत्तथ्यमिति नान्यथा॥

इस लोकमें जब तक दैव (भवितव्यता) का उत्कृष्ट बल है तभी तक चतुरंग सेना, काल, पुत्र, मित्र और पौरुष ये कार्यकृत हैं। दैवके अभावमें काल और पौरुष आदि सब निरर्थक हैं ऐसा जो विद्वान् जन कहते हैं वह यथार्थ है, अन्यथा नहीं है।

—हरिवंशपुराण सर्ग ५२, श्लो० ७१-७२।

इसी हरिवंशपुराणमें और देखिए—

दिव्येन दह्यमानायां दहनेन तदा पुरि।
नूनं क्वापि गता देवा दुर्वारा भवितव्यता॥

उस समय द्वारिकापुरीके दिव्य अग्निसे जलते समय निश्चयसे देव कहीं भी चले गये। भवितव्यता दुर्निवार है॥ सर्ग ७७, ६१॥

देखिये इसमें भवितव्यताको दुर्निवार कहा गया है। क्या अपर पक्ष यह बतलानेकी कृपा करेगा कि भट्टाकलंकदेवने 'तादृशी जायते' इत्यादि श्लोकको उद्धृत कर उस द्वारा हरिवंशपुराणके इस कथनसे अन्य नई क्या बात कही है? जिससे कि अपर पक्षको वह श्लोक अत्यधिक खटका! वास्तवमें देखा जाय तो उस श्लोकमें जैन मान्यताका सार भरा हुआ है। उस द्वारा पुरुषार्थ तथा अन्य साधन सामग्रीको अस्वीकार नहीं किया गया है। ये सब भवितव्यताके अनुसार मिलते हैं यही तथ्य उस द्वारा घोषित किया गया है। किन्तु अपर पक्षको यही इष्ट नहीं है, क्योंकि वह केवल बाह्य साधन सामग्रीके बलपर ही कार्यकी उत्पत्तिको स्वीकार कराना चाहता है, इसके लिए उसकी ओरसे उपादानके स्वरूप पर भी प्रबल प्रहार किया गया है। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा भट्टाकलंकदेव जैसे समर्थ आचार्य द्वारा स्वीकृत उक्त श्लोकको यदि जैन संस्कृतिके विरुद्ध घोषित किया जाय तो इसमें अनहोनी ऐसी कोई बात नहीं।

स्वामी समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें 'दैव' और 'पुरुषार्थरूप' अदृष्ट और दृष्ट सामग्रीके आधारसे अर्थसिद्धिमें अनेकान्तगर्भ स्याद्वाद की स्थापना की इसमें सन्देह नहीं। पर इसका 'तादृशी जायते'

इत्यादि श्लोकके कथनके साथ विरोध कहाँ है यह हमारी समझमें नहीं आया। यदि आप्तमीमांसाके कथनका उक्त श्लोकके कथनके साथ विरोध है ऐसा माना जाय तो स्वयंभूस्तोत्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा हरिवंशपुराणके जो प्रमाण हम अभी दे आये हैं उनके कथनके साथ भी आप्तमीमांसाके उक्त कथनका विरोध मानना पड़ेगा। क्या अपर पक्ष इसे स्वीकार करेगा ? वह इसे स्वीकार करे या न करे। किन्तु उस पक्षके इस आचरणसे जो स्थिति उत्पन्न हो गई है उसका स्पष्टीकरण करना अपना कर्तव्य समझकर यहाँ हमने उसे स्पष्ट किया है।

अपर पक्षकी ओरसे यहाँपर जो ८८, ८९, ९० और ९१ इन चार कारिकाओंका आशय दिया गया है उसमेंसे किसी कारिकाके आशयमें यद्यपि विप्रतिपत्ति हो सकती है पर उसकी हम यहाँ विशेष चरचा नहीं करेंगे। यहाँ इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि अपर पक्षने जो 'मोक्षस्यापि' इत्यादि वचनको उद्धृत कर उस द्वारा जो मोक्षकी उभयकारणताका निर्देश किया है सो उस वचनमें वह उभयरूप कारणता उपचरित और अनुपचरित इन दोनों दृष्टियोंको ध्यानमें रखकर ही वर्णित की गई है। ऐसी उभयरूप कारणताका निषेध न तो हमने कहीं किया ही है और न हो सकता है। चाहे अनन्त अगुरुलघु गुणोंका षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप कार्य हो या अन्य कोई कार्य हो, यह उभयरूप कारणता यथायोग्य सबमें पाई जाती है।

अपर पक्षने 'तादृशी जायते' इत्यादि श्लोकपर इन बातोंको आधार बनाकर अपनी प्रतिशंकाका कलेवर पुष्ट किया है—

१. 'यह पद्य जैन संस्कृतिकी मान्यताके विरुद्ध क्यों है ?

२. और यदि विरुद्ध है तो फिर श्री अकलंकदेवने इसका उद्धरण अपने ग्रन्थ अष्टशतीमें किस आशयसे दिया है ?

३. तथा जैन संस्कृतिमें मान्य कारणव्यवस्थाके साथ उसका मेल बैठता है तो किस तरह बैठता है ?

४. इतना ही नहीं, इसके साथ हमें इस बातका भी विचार करना है कि इसकी सहायतासे श्री पं० फूलचन्द्रजी और आप कारणव्यवस्थासम्बन्धी अपने पक्षकी पुष्टि करनेमें कहाँतक सफल हो सके हैं ?'

१. प्रथम प्रश्नकी व्याख्या करते हुए अपर पक्षका कहना है कि 'उक्त पद्य उसका हमने जो अर्थ किया है उसके आधारपर प्राणियोंकी अर्थसिद्धिके विषयमें जैन संस्कृति द्वारा मान्य दैव और पुरुषार्थकी सम्मिलित कारणताका प्रतिरोध ही करता है।'

समाधान यह है कि उक्त पद्यमें मात्र प्रत्येक कार्यकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री किस आधारपर मिलती है इतना ही विचार किया गया है, अतः उससे गौण-मुख्यभावसे अर्थसिद्धिमें दैव और पुरुषार्थको एक साथ स्वीकार करनेमें कोई बाधा नहीं आती, अतः यह जैनदर्शन (जिसे अपर पक्ष जैन संस्कृति कहता है उस) का पोषक ही है। इसका अर्थ भी इसी आशयसे किया गया है। स्पष्ट है कि उक्त श्लोकमें जो अर्थ सन्निविष्ट है उसका जैनदर्शनके साथ निर्विवादरूपसे अविरोध ही सिद्ध होता है। अतः उसे प्रमाणरूपमें उपस्थित करना सर्वथा उचित है।

२. दूसरे प्रश्नकी व्याख्या करते हुए अपर पक्षका कहना है कि 'उक्त पद्य साक्षात् अपने पक्षकी पुष्टि करता है इस आशयसे भट्टाकलंकदेवने उसे उपस्थित न कर केवल पुरुषार्थसे अर्थसिद्धि माननेवाले दर्शनका खण्डन करनेके अभिप्रायसे उसे उपस्थित किया है।'

समाधान यह है कि एकान्त पुरुषार्थवादके निरसनके लिए आचार्यने उसे प्रमाणरूपमें उपस्थित किया है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु वे मात्र उसे लोकोक्ति मानते रहे इस बातका उनके समग्र कथनसे समर्थन नहीं होता। उन्होंने तो उसे मान्य रखा ही। 'इति प्रसिद्धेः' लिखकर आचार्य विद्यानन्दिने भी उसकी प्रामाणिकतापर अपनी मुहर लगा दी। यह प्राचीन किसी जैनाचार्यका ही वचन है, लोकोक्ति नहीं यह उसकी रचनासे ही सिद्ध होता है। कार्यका नियामक उपादान ही होता है, बाह्य सामग्री नहीं ऐसा स्वामी समन्तभद्रका भी अभिप्राय है। वह केन्द्र है। उसीके आधारपर कार्य-कारणभावका पूरा चक्र घूमता है।

उक्त श्लोकमें बुद्धि व्यवसायादिकी उत्पत्ति विवक्षित भवितव्यतासे होती है यह नहीं कहा है, बल्कि यह कहा है कि जैसी भवितव्यता होती है वैसी बुद्धि हो जाती है, पुरुषार्थ भी उसीके अनुकूल होता है और बाह्य साधनसामग्री भी उसीके अनुकूल मिलती है। अपर पक्षको उक्त श्लोकमें प्रयुक्त हुए शब्दोंको ध्यानमें रखकर ही उसकी व्याख्या करनी चाहिये। अपनी इच्छानुसार कुछ भी अर्थ करके उसे उक्त श्लोकका अर्थ बतलाना यह विद्वत्सम्मत मार्ग नहीं कहा जा सकता। प्रतिनियत कार्यकी भवितव्यता एक वस्तु है और उसके साथ उस कार्यकी अन्य साधन सामग्री दूसरी वस्तु है। सब अपने अपने प्रतिनियत कारणोंसे उत्पन्न होकर भी उनका प्रतिनियत भवितव्यताके साथ ऐसा सहज योग बनता है जिससे प्रत्येक समयमें प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्ति ही हुआ करती है यही उक्त श्लोकका आशय है।

समर्थ उपादान प्रतिनियत कार्यकी अपेक्षा प्रतिनियत पर्याययुक्त द्रव्य है। वह स्वयं कर्ता बनकर तन्मय होकर परिणमता है। बाह्य सामग्रीका व्यापार उससे सर्वथा भिन्न अपनेमें ही हुआ करता है, इसलिए निश्चयनयसे हमारा यह लिखना सर्वथा उचित ही है कि 'कार्य केवल भवितव्यता (समर्थ उपादान) से ही निष्पन्न हो जाया करते है, निमित्त उसमें अकिंचित्कर ही रहा करते है।' जैसे उक्त श्लोक भवितव्यताके साथ बुद्धि आदि अन्य साधन सामग्रीकी सूचना देता है वैसे हमारे द्वारा उल्लिखित उक्त वाक्य भी अन्य साधन सामग्रीकी सूचना स्पष्टतः दे रहा है। पूरे वाक्यपर दृष्टिपात कीजिए। भवितव्यताके सिवाय अन्य सामग्रीमें व्यवहारसे निमित्तता स्वीकार करके ही वह वाक्य लिखा गया है। जैसे वह श्लोक अन्य बाह्य सामग्रीमें व्यवहारसे कारणताका निषेध नहीं करता, वैसे हम भी नहीं कर रहे हैं। हमारा और उक्त श्लोकका आशय एक ही है।

अपर पक्षने भवितव्यताके अनुसार सब साधन सामग्री मिलती है इसकी बड़ी कड़ी आलोचना की है। उसे इस बातसे बड़ा सन्ताप है कि उक्त श्लोकने अन्य समस्त साधन सामग्रीको भवितव्यताकी दयापर छोड़ दिया है। किन्तु अपर पक्षको ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुव्यवस्था ही ऐसी है, इसमें न उक्त श्लोकका दोष है और न उसके रचयिताका ही। विवक्षित समयमें यदि किसीकी बुद्धि पढ़नेकी होती है तो प्रश्न होता है कि उसी समय वैसी बुद्धि क्यों हुई ? अपर पक्ष कहेगा कि बाह्य-अभ्यन्तर सामग्रीके कारण। इसपर पुनः प्रश्न होता है कि उसी समय ऐसी बाह्याभ्यन्तर सामग्री क्यों मिली ? अपर पक्ष कहेगा कि प्रयत्न करनेसे। इसपर पुनः प्रश्न होता है कि उसका वैसा प्रयत्न बाह्यान्तर सामग्रीके अनुसार हुआ या इसके बिना ही गया ? इसपर अपर पक्ष यही तो कहेगा कि उस समय वैसा प्रयत्न स्वयं नहीं हो गया किन्तु बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार हुआ। इसपर प्रश्न होता है कि उस बाह्याभ्यन्तर सामग्रीमें विवक्षित कार्यकी तथा अन्य साधन सामग्रीके वैसे परिणमनेकी भवितव्यता सम्मिलित है या नहीं ? अपर पक्ष इसका निषेध तो कर नहीं सकता। इसपर अपर पक्ष कहेगा कि भवितव्यताका अर्थ द्रव्यप्रत्यासत्ति है और वह अनेक योग्यतावाली होती है, इसलिए कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह अन्य साधनसामग्रीपर अवलम्बित है। इसपर

पुनः प्रश्न होता है कि अन्य जितनी साधन सामग्री है वह भी प्रत्येक-प्रत्येक समयमें अनेक योग्यतावाली है, इसलिए उनमेंसे कौन योग्यता कार्यमें सहकारी बने इसे भी तो किसी दूसरी साधनसामग्रीपर अवलम्बित मानना चाहिए ? इसपर अपर पक्ष कहेगा कि अन्य साधनसामग्रीमें तो प्रतिनियत पर्याययोग्यतासे युक्त द्रव्य ही कारण होता है । तो इसपर आगमके अनुसार हमारा कहना है कि जैसे आप प्रतिनियत पर्याययोग्यतासे युक्त द्रव्यको अन्य सामग्रीके रूपमें कारण मानते हो वैसे हो प्रत्येक कार्यमें प्रतिनियत पर्याययोग्यतासे युक्त असाधारण द्रव्यको कारण मानो । इस प्रकार इतने विवेचनसे स्पष्ट है कि उक्त श्लोकमें जो भवितव्यताके अनुसार अन्य साधन सामग्रीका मिलना लिखा है वह यथार्थ ही लिखा है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पण्डितप्रवर टोडरमल्लजीने मोक्षमार्गप्रकाशकमें जो कुछ लिखा है उसका आशय वही है जो उक्त श्लोकका है । तथा पं० फूलचन्द्रने भी जैनतत्त्वमीमांसामें उसीका अनुसरण किया है । जैनदर्शनका सार भी यही है । अपर पक्षने जैनसंस्कृति किसे कहा यह तो हम जानते नहीं, वह जाने । परन्तु जिसे वह पक्ष जैनसंस्कृति मानता है उसका अभिप्राय भी कोई दूसरा नहीं हो सकता, अन्यथा उसे जैनसंस्कृति कहना परिहास-मात्र होगा।

अपर पक्षने पण्डितप्रवर टोडरमलजीके एक दूसरे उल्लेखको उपस्थित कर लिखा है कि 'उन्होंने भवितव्यता और पुरुषार्थका दूसरे ढंगसे अर्थ किया है ।' किन्तु यह बात नहीं है । जैसा कि अपर पक्षके इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है—'वे तो अपने उक्त कथनसे इतनी ही बात कहना चाहते हैं कि कितने ही उपाय करते जाओ, यदि भवितव्य अनुकूल नहीं है तो कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है ।'

यहाँ अपर पक्षने भवितव्यको कार्यकारी स्वीकार कर लिया इसकी हमें प्रसन्नता है । साथ ही उस पक्षको इतना और स्वीकार कर लेना चाहिए कि इस भवितव्यताका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है—एक मात्र द्रव्ययोग्यताके अर्थमें और दूसरे द्रव्य-पर्याययोग्यताके अर्थमें । द्रव्ययोग्यताका नाम ही व्यवहार उपादान है और द्रव्य-पर्याययोग्यताका नाम ही समर्थ या निश्चय उपादान है । मिट्टीमें पट बननेकी द्रव्ययोग्यता तो है, किन्तु उसी अवस्थारूप परिणमते हुए उसमें पर्याययोग्यता नहीं आती, इसलिए जुलाहा मिट्टीसे पट बननेमें व्यवहार हेतु नहीं हो पाता । और यदि उसी मिट्टीमें प्रतिनियत उत्तर कालमें घटरूप होनेकी पर्याययोग्यता आनेवाली है तो वह अपने प्रतिनियत कालमें कुम्भकार आदिको निमित्त कर नियमसे घटरूप स्वयं परिणम जायगी । पण्डितप्रवर टोडरमलजीके उक्त कथनका यही आशय है । पण्डितजीने वह कथन मोक्षमार्गकी दृष्टिसे लिखा है पर प्रतिनियत योग्यताको भुलाया नहीं है । इस परसे यहाँ पर अपर पक्षने जो भी टीका की है वह कैसे व्यर्थ है यह सुतरां ज्ञात हो जाता है । उस पक्षका जितना कुछ भी लिखना है वह मात्र व्यवहार योग्यताको लक्ष्यमें रख कर ही लिखना है अथवा अन्य कार्यके समर्थ उपादानको उससे विरुद्ध अन्य कार्यका कल्पित कर लिखना है । ऐसी अवस्थामें कोई भी बतलावे कि उसके इस कथनको कार्य-कारणभावकी सम्यक् विवेचना कैसे कहा जा सकता है । वह पक्ष उपादानकी अपेक्षा तो व्यवहार उपादानको सामने रखता है या विवक्षित कार्यके विरुद्ध दूसरे कार्यके उपादानको सामने रखता है और फिर बाह्य सामग्रीके आधार पर इच्छानुसार विवेचना करना प्रारम्भ कर देता है । यही उसके विवेचनकी शैली है जो अपरमार्थभूत होनेसे कार्य-कारणभावका सम्यक् निर्णय करनेमें उसके लिए स्वयं बाधक सिद्ध होती है ।

चूंकि भवितव्यता परोक्ष होती है, इसलिए निर्णय करनेमें गलती होती है और इसलिए व्यक्तिका प्रयत्न विवक्षित कार्यकी सिद्धिमें व्यवहार हेतु नहीं बन पाता । इसके विरुद्ध भवतिव्यताके अनुसार जिस समय जो कार्य होना होता है उसमें उसका प्रयत्न व्यवहार हेतु बन जाता है । प्रत्येक व्यक्तिका अनुभव भी

यही कहता है। अपर पक्षने यहाँ पर जो टीका की है उससे भी यही सिद्ध होता है, अतएव 'तादृशी जायते' इत्यादि श्लोक द्वारा जिस मान्य सिद्धान्तकी घोषणा की गई है और जिसे पण्डितप्रवर टोडरमलजीने अपने मोक्षमार्गप्रकाशकमें अपने शब्दोंमें स्वीकार किया है वही सिद्धान्त परमार्थ सत्यका उद्घाटन करनेवाला है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इसी सिद्धान्तका समर्थन करते हुए पण्डितजी क्या लिखते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

सो इनकी सिद्धि होय तो कषाय उपशमनेतैं दुःख दूर होइ जाइ सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनके किये उपायनिके आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातैं अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातैं अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिए। —पृ० ८१ अ० ३।

इससे पण्डितप्रवर टोडरमलजीके समग्र कथनका क्या आशय है यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। साथ ही इससे अपर पक्षने प्रकृतमें जो टीका की है वह भी व्यर्थ सिद्ध हो जाती है। इतना ही क्यों, उस पक्षने अपने विवेचनके आधारसे जो निष्कर्ष फलित किया है वह भी व्यर्थ सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अपर पक्ष समर्थ उपादानके अनुकूल बाह्य सामग्री नहीं मिलती इसकी पुष्टिमें अभी तक एक भी आगमप्रमाण उपस्थित करनेमें सर्वथा असमर्थ रहा।

अपर पक्षने लिखा है कि 'पं० प्रवर टोडरमलजीके कथनमें सामान्यतया चेतनरूप सभी तरहके कार्योंकी उपादान शक्तिको नहीं ग्रहण किया गया है, इसलिए ऐसी भवितव्यता जीवके पारिणामिक भावरूप भव्यत्व या अभव्यत्व हो सकते हैं अथवा कर्मके यथासम्भव उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्राप्त कार्यसिद्धिके अनुकूल जीवकी योग्यता हो सकती है।' और इस प्रकार अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'पं० फूलचन्दजी पं० प्रवर टोडरमलजीके कथनसे जो 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि पद्यका समर्थन कर लेना चाहते हैं वह ठीक नहीं है।'

किन्तु ऐसी टीका करते हुए क्या अपर पक्ष यह बतला सकता है कि चेतनरूप पदार्थोंके लिए कार्य-कारणभावके नियम अन्य हैं और अचेतनरूप पदार्थोंके लिए कार्य-कारणभावके नियम अन्य हैं? अर्थात् नहीं बतला सकता, क्योंकि समर्थ उपादानका सभी शास्त्रकारोंने जो लक्षण किया है वह जीव-अजीव सबकी दृष्टिसे ही किया गया है और इसी प्रकार बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा जो व्यवहार हेतुओंके वैस्रसिक और प्रायोगिक ये दो भेद आगममें बतलाये हैं वे जीव-अजीव सभीके कार्योंकी दृष्टिसे ही किये गये हैं। इसके लिए अपर पक्ष श्लोकवार्तिक अ० ५ सू० २२ पर दृष्टिपात करनेकी कृपा करे। इससे स्पष्ट है कि पं० प्रवर टोडरमलजीने जिस भवितव्यताका निर्देश किया है वह सब द्रव्योंके सब कार्यों पर लागू होता है और उस आधारसे हमने 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि श्लोकका जो अर्थ किया है और उस परसे जो निष्कर्ष फलित किया है वह भी यथार्थ है। भवितव्यता जिस कार्यकी हो उसीको जन्म देती है और उसके साथ, व्यवहार हेतुरूप जो सामग्री होती है वह भी, नियमसे मिलती है।

अपर पक्षने लिखा है—'मान लीजिए—किसी व्यक्तिमें धनी बननेकी योग्यता है, लेकिन केवल योग्यताका सद्भाव होनेमात्रसे तो वह व्यक्ति धनी नहीं बन जायगा।' आदि। इसका समाधान यह है कि जिस व्यक्तिमें जितने कालमें धनी बननेकी योग्यता होगी वह उतने कालमें नियमसे धनी बन जायगा। उस कालके मध्य अन्त तक उसे वैसी साधन सामग्री भी मिलेगी और उसका तदनुकूल व्यापार भी होगा। जैसे जो तद्भवमोक्षगामी जीव होता है वह मनुष्य पर्यायको समाप्त कर नियमसे मुक्त होता है। तथा जन्मसे

लेकर अन्त तक प्रति समय उसे अन्तरंग-बहिरंग सामग्री भी वैसी मिलती जाती है और प्रयत्न भी उसीके अनुरूप होता रहता है। प्रत्येक कार्यके स्वकालका अपना स्थान है, उसमें फेर-फार होना सम्भव नहीं है। अपने विकल्पोंको पुष्ट करनेके लिए वचनोंका प्रयोग किसी भी प्रकारसे भले ही किया जाय, किन्तु वस्तुस्थिति यही है। यह समग्र जैनदर्शनका आशय है। जैन संस्कृति उसके बाहर नहीं है। पं० प्रवर टोडरमल्लजीके कथनका भी यही आशय है और है यही आशय 'तादृशी जायते बुद्धिः' इसका भी। जब कि अपर पक्षके कथनानुसार क्या बुद्धि, क्या व्यवसाय आदि सभी कार्य भवितव्यतानुसार होते हैं तो जैनदर्शनके हार्दको प्रकाशित करनेवाले उस श्लोकने ही अपर पक्षका क्या बिगाड़ा है जिस कारण उसे अपर पक्षका कोपभाजन होना पड़ा है। व्यक्ति जो संकल्प करता है वह उस (संकल्प) की भवितव्यतानुसार करता है। वहाँ भी भवितव्यता ही उसकी जननी है। ऐसा तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म या स्थूलातिस्थूल ऐसा एक भी कार्य नहीं जो भवितव्यताको उल्लंघन कर होता हो। भवितव्यताका क्या पुरुषार्थ, क्या अन्य कुछ, सब पर आधिपत्य है। पृथक्-पृथक् विचार करने पर प्रत्येक कार्यकी भवितव्यता भिन्न-भिन्न है। पर उन सबमें ऐसा सुमेल है जिससे नियत समय पर प्रत्येक कार्य होता रहता है, विरोधाभास उपस्थित नहीं होता।

अपर पक्षने 'तादृशी जायते बुद्धिः' का एक यह अर्थ दिया है—'जिस कार्यके अनुकूल वस्तुमें उपादान शक्ति हुआ करती है समझदार व्यक्ति उस वस्तुमें उसी कार्यको सम्पन्न करनेकी बुद्धि (भावना) किया करता है और वह पुरुषार्थ (व्यवसाय) भी तदनुकूल ही किया करता है, तथा वह वहाँ पर तदनुकूल ही अन्य सहायक साधनसामग्रीको जुटाता है।

यहाँ पहले तो यह देखना है कि इस वस्तुमें इस कार्यके अनुकूल उपादान शक्ति है इसे वह समझदार व्यक्ति जानता कैसे है, क्योंकि शक्ति तो परोक्ष है। कदाचित् काकतालीय न्यायसे जैसा उसने विचार किया वैसी ही उत्तर कालमें उसमें द्रव्य-पर्यायरूप उपादान शक्ति हुई और भावनानुसार कार्य हो गया तो बात दूसरी है, अन्यथा उस वस्तुमें उस समझदार व्यक्तिको निमित्त कर जो-जो कार्य हुआ वह सब उस वस्तुमें अवस्थित भवितव्यतानुसार ही कहा जायगा या नहीं? यदि कहो कि भवितव्यतानुसार ही कहा जायगा तो फिर 'तादृशी जायते बुद्धिः' इस श्लोकके तात्पर्यसे विरोध क्यों? यदि कहो कि उस वस्तुमें जो-जो कार्य हुआ वह उस वस्तुमें अवस्थित भवितव्यतानुसार नहीं कहा जायगा तो फिर यह कहना चाहिए कि चनेसे भी गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है। अब रही सहायक सामग्रीको जुटानेकी बात सो यहाँ भी यही विचार करना है कि वह सहायक सामग्री अपनी भवितव्यतानुसार ही परिणमती है कि उस समझदार व्यक्तिके प्रयत्नानुसार? वह सामग्री अपनी भवितव्यतानुसार परिणमे इसका तो नियम है, समझदार व्यक्तिकी इच्छानुसार परिणमे इसका नियम नहीं है। अतः 'जुटाना' यह कहना भी कथनमात्र ही है। अतएव अपर पक्षने उस पद्यका जो उक्त अर्थ किया है वह तर्कसंगत नहीं है और न आगमसंगत ही है।

उक्त पद्यमें बुद्धि, व्यवसाय और सहायक सामग्रीका उल्लेख हुआ है। इसका आशय इतना ही है कि भवितव्यतानुसार कार्य होनेमें जहाँ ये सब होते हैं वहाँ वे सब कार्यके प्रति व्यवहारसे अनुकूल ही होते हैं। इस पद्यमें समस्त बाह्य सामग्रीका संकलन कर दिया गया है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि सभी कार्योंमें व्यक्तिकी बुद्धि और व्यवसाय व्यवहार हेतु हैं ही। जहाँ इनकी व्यवहारहेतुता है वहाँ भवितव्यतानुसार ही है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार समग्र कथनपर दृष्टिपात करनेसे यही निश्चित होता है कि निश्चयनयसे सभी कार्य अपने-अपने उपादानके अनुसार ही होते हैं। वही स्वयं कर्ता बनकर इन्हें अपनेसे अभिन्न उत्पन्न करता है।

बाह्य सामग्री उसकी उत्पत्तिमें सहायक है यह कथन व्यवहारमात्र है। हमने इस दृष्टिको सामने रखकर ही उक्त पद्यका अर्थ किया है, इसलिए वह तो संगत है ही। यदि दृष्टिको गौण भी कर विचार किया जाय तो उस पद्यके शब्द ही स्वयं इस अर्थको प्रकाशित कर देते हैं, क्योंकि सत्यार्थको ध्यानमें रखकर ही इस पद्यकी रचना हुई है।

१४. कुछ विचारणीय बातोंके क्रमशः उत्तर

१. स्त्रीका रज और पुरुषका वीर्य शरीरका उपादान है और उसे निमित्त कर जीव गर्भमें आता है। इस प्रकार इन दोनोंमें निमित्त-नैमित्तिकता बनती है। अपने-अपने कार्यके प्रत्येक उपादान हैं, एक-दूसरेके लिए निमित्त हैं। माताका गर्भाशय इनके लिए निमित्त है। इस प्रकार गर्भमें भ्रूणकी वृद्धि होती है। अन्तमें वह निसृत होता है, उसमें माताका उचित अवयव निमित्त होता है। माताके द्वारा भुक्त भोजन भी योग्य परिपाकके बाद इसमें यथायोग्य उपादान-निमित्त बनता है। वन्ध्या स्त्रीको पुरुषका निमित्त तो मिलता है, इसे अस्वीकार नहीं करना चाहिये। सन्तानके उत्पन्न न होनेका अन्य कारण है। विधवा स्त्रीमें द्रव्य-पर्याय-योग्यता न होनेसे वह ऐसे कार्यके लिए किसी भी रूपमें निमित्त नहीं बनती। इस सम्बन्धमें अधिक लिखना उचित नहीं है।

२. समर्थ उपादान असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और प्रतिविशिष्ट पर्यायप्रत्यासत्तिरूप ही होता है। इसलिए उपादानमें अनन्त शक्तियाँ होती हैं यह लिखना ठीक नहीं। इसलिए किसी शक्तिके क्रमसे विकासका प्रश्न ही नहीं उठता।

भोजनकी सामग्री भवितव्यतानुसार परिणमती है, पुरुषकी इच्छानुसार नहीं। वह तो उसमें निमित्त-मात्र है। वह सामग्री सर्वथा एक भी नहीं। उसे एक कहना यह व्यवहार है। अतएव जिसे जिसरूप बनना होता है उसे वैसे बाह्य निमित्तोंका योग मिलता है। जो रसोईया या इच्छा रोटीमें निमित्त है वही रसोइया या इच्छा पुड़ीमें निमित्त नहीं है। इसी प्रकार जो आटा पुड़ी बनता है वही आटा रोटी नहीं बनता। यहाँ तो स्पष्टतः स्कन्धभेद है। अतः सब कार्य अपनी-अपनी भवितव्यतानुसार हो रहे हैं और उसी आधार पर निमित्त-नैमित्तिकयोग मिल रहा है। यदि पुड़ी बननेमें निमित्त होनेवाले रसोइया और उसकी इच्छाको तथा रोटी बननेमें निमित्त होनेवाले रसोइया और उसकी इच्छाको सर्वथा एक मान लिया जाय तो उनको निमित्त कर बनी पुड़ी और रोटीमें भेद नहीं बन सकेगा। और इसी प्रकार पुड़ी और रोटीके आटेको सर्वथा एक मान लिया जाय तो भी पुड़ी और रोटीमें भेद नहीं बन सकेगा। स्पष्ट है कि जिस प्रकार पुड़ी और रोटीका उपादान पृथक्-पृथक् है, इसलिए उनसे पृथक्-पृथक् दो कार्य निष्पन्न हुए हैं। उसी प्रकार उनकी निमित्तभूत बाह्य सामग्री भी पृथक्-पृथक् है। 'कारणानुविधायि ही कार्यम्' ऐसा आगमवचन भी है।

३. कोई भी कार्य अनेक कारणसाध्य होता है। उसमें उपादान स्वयं कार्यरूप परिणमता है। वह उसका मुख्य-निश्चय कर्ता है और बाह्य सामग्री उसमें मात्र निमित्त है। प्रत्येक उपादान किस अवस्थामें किस रूप परिणमता है इसका नियम है। इसी नियमको ध्यानमें रखकर प्रत्येक कार्यमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता स्वीकार की गई है। इच्छा, प्रकाश, कागज और लेखनी इनका परिणाम (पर्याय) अपनेमें होती है, स्याहीमें नहीं। स्याही शब्दरूप आकार बननेमें उपादान है, अन्य सब व्यवहार हेतु हैं। इससे स्पष्ट है कि इच्छा, प्रकाश, कागज और लेखनीने शब्दरूप आकार ग्रहण नहीं किया। स्याहीने स्वयं परिणम कर वह आकार धारण किया। यदि इच्छा आदि स्याहीसे तन्मय हो जावें तो ये उसे परिणमावे, सो होता नहीं, अतः ये स्याही-

को परिणमाते भी नहीं। ये स्याहीको शब्दरूप परिणमाते हैं यह उपचार कथन है। वस्तुस्थिति यह है कि स्याही स्वयं स्वकालमें इन इच्छा आदिको निमित्तकर शब्दरूप परिणम जाती है। कोई भी द्रव्य स्वसहाय होकर ही परिणमन करता है, परसे यदि दूसरे द्रव्यका परिणाम मान लिया जाय तो वह किसी भी द्रव्यका स्वभाव नहीं ठहरेगा और स्वभावके अभावमें स्वभाववान्का अभाव हो जानेसे द्रव्यके लोपका प्रसंग उपस्थित हो जायगा जो अपर पक्षको भी इष्ट नहीं होगा, अतः निश्चयसे प्रत्येक कार्य स्वसहाय होता है यही निश्चय करना ही श्रेयस्कर है। विजलीके अभावमें यदि स्याही शब्दरूप नहीं परिणम रही है तो उस समय उसमें शब्दरूप परिणमनकी समर्थ उपादानता न होनेसे ही वह शब्दरूप नहीं परिणम रही है इसे विजलीका अभाव ही सिद्ध कर देता है। 'विवक्षितस्वकार्यकरणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णम्' विवक्षित अपने कार्यके करनेमें अन्त्यक्षणके प्राप्तपनेका नाम ही सम्पूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि स्याही जिस समय लिखित शब्दरूप परिणमती है उसके अनन्तर पूर्व समयमें ही वह उसकी समर्थ उपादान है और जो जिसका समर्थ उपादान होता है वह उसे नियमसे उत्पन्न-करता है ऐसा एकान्त नियम है—समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्त्वमेवेति (त० श्लो० पृ० ६८)। जैसे अयोगि-केवलीके अन्तिम समयमें समग्र रत्नत्रयरूपसे परिणत आत्मा मोक्षकार्यका समर्थ उपादान है, इसलिए वह उसे नियमसे उत्पन्न करता है। और उसकी वाह्य सामग्री भी उसके अनुकूल रहती है उसी प्रकार यहाँ भी ऐसा समझना चाहिए कि जब जब स्याही शब्दरूप परिणामकी समर्थ उपादान बनती है तब तब वह नियमसे कागज पर शब्दरूप परिणमन करती है और वाह्य सामग्री भी तदनुकूल उपस्थित रहती है। यह सहज योग है जिसे कोई टाल नहीं सकता, अन्यथा किसी भी द्रव्यका स्वाश्रित परिणमन ही सिद्ध नहीं किया जा सकता और उसके अभावमें अपने पुरुषार्थ द्वारा मुक्तिकी चर्चा करना ही व्यर्थ हो जायगा। अतएव विजलीके वुझने पर या शरीरमें भयानक वेदना होने पर यदि स्याहीका परिणमन प्रश्नोंका उत्तर लिखनेरूप नहीं होता तो निश्चय-नयसे उस समय स्याही उस कार्यका समर्थ उपादान नहीं है, इसलिए ही वह कार्य नहीं होता यह वस्तुके स्व-रूपका उद्घाटन करनेवाला होनेसे यथार्थ कथन है और विजलीका अभाव होनेसे या शरीरमें भयानक वेदना होनेसे प्रश्नोंका उत्तर लिखना असम्भव हो गया ऐसा कहना उसी अवस्थामें व्यवहार पक्ष माना जा सकता है जब कि वह निश्चय पक्षकी सिद्धि करनेवाला हो, अन्यथा वह वस्तुके स्वरूपको ढकनेवाला होनेसे अयथार्थपनेकी ही शोभा बढ़ावेगा। किसी व्यक्तिके वाह्य चारित्र हो और अन्तरंग चारित्र न हो यह तो है पर अन्तरंग चारित्र हो और वाह्य चारित्र न हो यह नहीं होता। इससे सिद्ध है कि सर्वत्र अपना कार्य समर्थ उपादान ही करता है, वाह्य सामग्री तो निमित्तमात्र है।

४. कोई कीटाणु जब मरकर शरीरके एक भागसे दूसरे भागमें ऋजुगतिसे उत्पन्न होता है तो उसे एक समय लगता है, वही कीटाणु उसी शरीरके दूसरे भागमें यदि विग्रहगतिसे उत्पन्न होता है तो उसे दो समय लगते हैं। किन्तु वही कीटाणु यदि मनुष्य होनेके बाद मरकर ऋजुगतिसे सातवें नरकमें जन्म लेता है तो एक समयमें छह राजुकी दूरी पार कर लेता है। और अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी उसी एक समयमें सात राजुकी दूरी पार कर लेते हैं। यहाँ न तांगा है, न साइकिल और न है मोटरकार, रेलगाड़ी, हवाई जहाज और अतिस्वन विमान ही। कोई अंतरंग कारण होना चाहिए। जिससे गतिमें यह विचित्रता आती है। परमाणुके विषयमें तो आगममें यहाँ तक लिखा है कि मन्दगतिसे गमन करनेवाला परमाणु एक समयमें आकाशके एक प्रदेशको ही लांघ पाता है जब कि वही परमाणु तीव्रगतिसे गमन करके एक समयमें लोकाकाशके चौदह राजु क्षेत्रको पार कर जाता है अर्थात् स्पर्श कर लेता है। वहाँ न तो ताँगा है, न मोटरकार है, न रेलगाड़ी है और न ही अतिशीघ्र गमन करनेवाला अन्य वाहन ही है। यहाँ तक कि कर्म और नोकर्मका संयोग भी नहीं है। फिर

ऐसा क्यों होता है ? इस पर अपर पक्षने कभी दृष्टिपात किया । अपर पक्ष कहेगा कि धर्म द्रव्य तो है, किन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि एक तो वह आश्रय हेतु है, निमित्त कर्ता नहीं । दूसरे अपर पक्ष यह स्वीकार ही नहीं करता कि ये धर्मादिक चार द्रव्य प्रतिविशिष्ट (प्रतिनियत) पर्यायरूपसे ही प्रतिविशिष्ट (प्रतिनियत) कार्यके लिए आश्रय हेतु होते हैं । ऐसी स्थितिमें अन्य कोई हेतु तो होना चाहिए जिसके कारण परमाणुकी गतिमें यह विचित्रता देखी जाती है । स्पष्ट है कि यहाँ अन्य जो भी कारण है उसीका नाम क्रियावती शक्ति है । उसका जिस समय जैसा परिणमन होता है उसके अनुसार ही प्राणियों और पुद्गलोंकी गति और आगति हुआ करती है । बाह्य साधन तो उपकरणमात्र हैं जो इस तथ्यको सिद्ध करते हैं कि इस समय इस जीव या पुद्गलकी क्रियावती शक्तिका परिणाम किस रूपमें हो रहा है । जैसे कोई मनुष्य बाजारमें भड़कीले कपड़े पहिन कर जाता है तो वे उत्कट रागमें निमित्त होकर भी यह सिद्ध करते हैं कि इस समय इसके कपड़ोंके प्रति उत्कट राग है ।

उसी बाह्य वस्तुमें निमित्त व्यवहार होता है जो निश्चयकी सिद्धि करे यही परमागमका अभिप्राय है । इससे प्रत्येक द्रव्यकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है और संसारी प्राणीको आगममें जो परतन्त्र बतलाया है उसका क्या अभिप्राय है यह भी समझमें आ जाता है । कर्म और नोकर्म किसीको परतन्त्र नहीं बनाते । परतन्त्र बननेमें अपराधी स्वयं यह जीव ही है । उपयोग परिणामवाला यह जीव जब शुभ या अशुभ जिस भावमें उपयुक्त होता है तब उसने वस्तुतः शुभ या अशुभ भावकी ही परतन्त्रता स्वीकार की है, कर्म और नोकर्मकी नहीं । किन्तु ऐसा नियम है कि शुभ या अशुभभाव परलक्षी परिणाम हैं, इसलिए जिसके लक्ष्यसे ये परिणाम उत्पन्न होते हैं व्यवहारसे उनकी अपेक्षा यह जीव परतन्त्र कहा जाता है । जैसे किसी मनुष्यकी अपनी स्त्रीमें अधिक आसक्ति देखकर अपर पक्ष उस मनुष्यको ही यह उपदेश देगा कि तुम्हें स्त्रीविषयक आसक्ति छोड़नी चाहिए । यदि यह मान लिया जाय कि स्त्री उसे परतन्त्र बनाती है तो उस मनुष्यको उपदेश देनेसे लाभ ही क्या ? तब तो स्त्रीको ऐसा उपदेश दिया जाना चाहिए कि तू इस मनुष्यको परतन्त्र क्यों बनाती है, इसे परतन्त्र बनाना छोड़ दे । इससे स्पष्ट है कि परमें राग करे या न करे इसमें प्रत्येक प्राणीको स्वतंत्रता है । यदि परको लक्ष्य कर राग करता है तो परतंत्र होता है, अन्यथा नहीं । अब विचार कीजिए कि रागका कर्तृत्व जीवमें रहा कि कर्म और नोकर्ममें । राग कर्मस्वभाववाला है और उसका फल सुख-दुख है, इसलिए ये भी कर्मस्वभाववाले हैं । इसमें नोकर्मका भी अन्तर्भाव हो जाता है । जब यह जीव उन रूपसे चेतता है तब यह कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका कर्ता होता है । यह कर्तृत्व स्वयं उसने अपने अज्ञानसे स्वीकार किया है, कर्म और नोकर्मने बलात् स्वीकार नहीं कराया है । ऐसी परिणतिमें वे तभी निमित्त हैं जब वह इसरूप स्वयं परिणमता है, अन्यथा नहीं । इससे सिद्ध है कि जिस समय जैसी क्रियावती शक्तिका परिणमन होता है उस समय स्वयं कर्ता होकर यह जीव उस प्रकारकी गति करता है, तांगा, सायकिल, मोटरकार, हवाई जहाज या अतिस्वन विमान तो निमित्तमात्र हैं ।

अपर पक्षने यहाँ पर अष्टसहस्री पृ० २०० का उल्लेख अपने पक्षके समर्थनकी दृष्टिसे उपस्थित किया है । किन्तु वह पक्ष इस उल्लेखके प्रकाशमें अष्टसहस्री कारिका १० पृ० ९७ के इस उल्लेख पर भी दृष्टिपात करनेकी कृपा करे—

कार्याद्प्रागनन्तरपर्यायस्तस्य प्रागभावः । तस्यैव प्रध्वंसः कार्यं घटादिः ।

कार्यसे अनन्तर पूर्व पर्याय उसका प्रागभाव है तथा उसीका प्रध्वंस घटादि कार्य हैं ।

यहाँ जो प्रागभावका लक्षण किया है वही समर्थ उपादानका भी लक्षण है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वहीं पृ० १०० में लिखा है—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोऽनन्तरात्मा। न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसंगः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्।

ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा तो पूर्व अनन्तररूप कार्यका उपादान-परिणाम ही प्रागभाव है। और उसके ऐसा होने पर पूर्व अनादि परिणाम सन्ततिमें कार्यके सद्भावका प्रसंग हो जायगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि प्रागभावका विनाश ही कार्यरूप स्वीकार किया है।

यह आगम वचन है जो स्वाश्रित कथन होनेसे यथार्थ पदवीको प्राप्त है। अपर पक्षने जो उद्धरण उपस्थित किया है वह पराश्रित कथन होनेसे व्यवहार पदवीको प्राप्त है। इन दोनों कथनोंको एक साथ मिलाकर अवलोकन करने पर अपने आप यह फलित हो जाता है कि **निश्चय—समर्थ उपादानके कालमें ही उसका व्यवहार हेतु हुआ करता है।** इन दोनोंके प्रत्येक समयमें होनेका ऐसा सहज योग हुआ करता है। जहाँ यह सहज योग प्रायोगिक होता है वहाँ मात्र यह प्राणी ऐसा विकल्प करता है कि मैंने इन साधनों-को जुटाया। यही उसके विचारकी अपार्थता है। यदि वह इसका त्याग कर दे तो उसे ऐसा भास होनेमें देर न लगे कि अपने परिणामस्वभावके कारण इनका यह परिणाम हुआ है, मैं तो उसमें निमित्तमात्र हूँ।

अपर पक्षने इसी आगमके पृ० २०० का 'तस्मादयं' इत्यादि उद्धरण उपस्थित किया है। उसमें विनाशका हेतु अकिंचित्कर है इस बातका निषेध किया गया है। यह तो अवलोकन करनेसे ही विदित हो जाता है कि यह प्रकरण बौद्धदर्शनके 'विनाश निर्हेतुक होता है' इस एकान्त मतका खण्डन करनेके अभि-प्रायसे लिखा गया है। उसका कहना है कि प्रत्येक क्षण विनश्वरशील होनेसे स्वयं नष्ट हो जाता है, इसलिए उसे सहेतुक मानना उचित नहीं है। किन्तु उसका उत्पाद स्वयं नहीं होता, उसकी उत्पत्ति कारणान्तरोंसे होती है। इसके लिए उस दर्शनने चार प्रत्यय (कारण) स्वीकार किये हैं—समनन्तर प्रत्यय जो उत्तर क्षणकी उत्पत्तिके कालमें असत् है, इसलिए वह दर्शन असत् से सत्की उत्पत्ति मानता है। किन्तु पूर्व क्षणके विनाश होने पर उत्तर क्षणकी नियमसे उत्पत्ति होती है, इसलिए उस दर्शनने उसे कारणरूपसे स्वीकार किया है। इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि उस दर्शनमें वस्तुतः उपादानरूप कोई पदार्थ नहीं है। फिर प्रत्येक क्षणका उत्पाद होता कैसे है ? जैसे प्रत्येक क्षणका विनाश होना उसका स्वभाव है वैसे उत्पाद होना उसका स्वभाव तो है नहीं, अतः उसकी उत्पत्ति सहेतुक होनी चाहिए। यही कारण है कि उस दर्शनने समनन्तर प्रत्ययके समान उत्पादके अन्य तीन कारण और स्वीकार किये हैं। वे हैं—आलम्बनप्रत्यय, सहकारीप्रत्यय और अधिपतिप्रत्यय। इस आधार पर उस दर्शनका कहना है कि जैसे उत्पाद सहेतुक होता है वैसे विनाश सहेतुक नहीं होता। अपने इस अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए वह कहता है कि हेतु (मुद्गरादिके व्यापार) से कारण क्षण (समनन्तर प्रत्यय)का कुछ नहीं होता, वह स्वयं ही नष्ट होता है। इस पर आचार्यका कहना है कि कारणसे कार्यका भी कुछ नहीं होता, वह भी स्वयं ही उत्पन्न होता है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए और ऐसी अवस्थामें जैसे आप (बौद्ध) विनाशको निर्हेतुक मानते हो उसी प्रकार उत्पादको भी निर्हेतुक स्वीकार कर लेना चाहिए। यतः बौद्धदर्शन उत्पादको निर्हेतुक माननेके लिये तैयार नहीं, इसलिए इस परसे आचार्यने उसे यह स्वीकार करनेके लिये बाध्य किया है कि 'तस्मादयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्करः।'—इसलिए यह विनाशका हेतु भावको अभावरूप करता है तो यह अकिंचित्कर कैसे हो सकता है ?

यह उस कथनका आशय है जिसे यहाँ अपर पक्षने अपने अभिप्रायकी पुष्टिमें उपस्थित किया है। बौद्धदर्शन प्रत्येक क्षणकी उत्पत्ति परसे मानता है और उसका विनाश निर्हेतुक मानता है, इसलिए यहाँ उत्पत्तिके समान विनाशको भी परसे सहेतुक सिद्ध किया गया है। किन्तु यह स्थिति जैनदर्शनकी नहीं है, क्योंकि यह दर्शन प्रत्येक द्रव्यको न केवल उत्पादरूप स्वीकार करता है, न केवल व्ययरूप स्वीकार करता है और न केवल ध्रौव्यरूप ही स्वीकार करता है। किन्तु ये तीनों वस्तुके अंश हैं और प्रत्येक द्रव्य इन तीन रूप है, अतः जहाँ यह ध्रौव्यस्वभाव सिद्ध होती है वहाँ वह उत्पाद-व्ययस्वभाव भी सिद्ध होती है, अतः निश्चयसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी व्यवस्था विस्रसा है, इस दर्शनमें यही मानना ही परमार्थ सत्य है। अन्य सब व्यवहार है।

प्रथम दौर

: १ :

नमः श्री वीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ७

केवली भगवानकी सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे ? यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?

समाधान १

आगममें निश्चय व्यवहार नयसे केवली भगवान्‌के केवलज्ञानके स्वरूपका निर्देश करते हुए श्री नियमसारजीमें लिखा है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

अर्थ—व्यवहार नयसे केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं, निश्चय नयसे केवलज्ञानी आत्माको जानता और देखता है ॥ १५९ ॥

इसपर यह शंका होती है कि जब कि आगममें केवली जिनका तीन लोक और त्रिकालवर्ती द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक सब पदार्थोंका जानना व्यवहारसे माना गया है, निश्चयसे तो वे मात्र अपनी आत्माको ही जानते हैं। ऐसी अवस्थामें केवली जिनकी सर्वज्ञता असद्भूत ही ठहरती है। अतएव मात्र यही कहना उपयुक्त होगा कि वस्तुतः सर्वज्ञ अपनी आत्माके सिवाय अन्य किसीको नहीं जानते ? यह एक शंका है जिसपर यहाँ संक्षेपमें विचार करना है। प्रश्न यह है कि केवली जिनकी सर्वज्ञता पराश्रित है या स्वाश्रित ? यदि वह मात्र पराश्रित है तो उसे असद्भूत ही माननी होगी। और यदि वह स्वाश्रित भी है तो यहाँ यह देखना होगा कि श्री नियमसारजीकी उक्त गाथामें जो यह कहा है कि केवली जिन निश्चयसे अपनी आत्माको जानते है उसका क्या तात्पर्य है ?

यह तो सुनिश्चित सत्य है कि जो धर्म लोकमें पाया जाता है उसीका एक द्रव्यके आश्रयसे दूसरे द्रव्यपर आरोप किया जा सकता है। जिस धर्मका सर्वथा अभाव होता है उसका किसी पर आरोप करना भी नहीं बनता। उदाहरणार्थ लोकमें वन्ध्यासुत या आकाशकुसुम नहीं पाये जाते, अतः उनका किसी पर आरोप भी नहीं किया जा सकता। अतएव सर्वज्ञता नामका धर्म कहींपर होना चाहिये तभी उसका परकी अपेक्षा आरोप करना संगत ठहरता है अन्यथा यह 'व्यवहार' ही नहीं बन सकता कि केवली जिन सबको जानते हैं। इसलिये प्रकृतमें यह तो मानना ही होगा कि सर्वज्ञता नामका धर्म कहीं न कहीं अवश्य रहता

है। इस प्रकार जब हम इस धर्मके अस्तित्वके विषयमें विचार करते हैं तो मालूम होता है कि नियमसारमें निश्चयसे जिसे आत्मज्ञता कहा है उसमें सर्वज्ञता नामका धर्म समाया हुआ ही है। केवली जिनमें जो सर्वज्ञता है उसे मात्र परके आश्रयसे स्वीकार करनेपर तो वह असद्भूत ही ठहरती है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु प्रकृतमें ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मामें एक सर्वज्ञत्व नामकी शक्ति है जिसके आश्रयसे केवली जिनमें सर्वज्ञता स्वाश्रित स्वीकार की गई है। तात्पर्य यह है कि केवली जिन स्वभावसे तो सर्वज्ञ हैं ही इसमें संदेह नहीं। फिर भी यदि सकल ज्ञेयोंकी अपेक्षा कथन किया जाता है तो भी व्यवहारसे उनमें वह घटित होती है यह नियमसारकी उक्त गाथाका तात्पर्य है।

श्री समयसारजीके परिशिष्टमें सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व शक्तियोंके सद्भावको स्वीकार करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र लिखते हैं—

विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः। विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।

अर्थ—समस्त विश्वके सामान्यभावको देखनेरूपसे परिणत आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्व शक्ति है। तथा समस्त विश्वके विशेष भावोंको जाननेरूपसे परिणत आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति है।

इस प्रकार उक्त कथनसे यह सिद्ध होगया कि केवली जिनमें जो सर्वज्ञता स्वीकार की गई है वह जिस प्रकार परकी अपेक्षा घटित होती है उसी प्रकार वह स्वभावकी अपेक्षा भी बन जाती है उसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। यही कारण है कि परमात्मप्रकाशकी टीकामें उसका विचार करते हुए उसे अनेक प्रमाणोंके माध्यमसे केवली जिनमें स्वीकार किया गया है। परमात्मप्रकाशकी टीकाका वह कथन इस प्रकार है—

आत्मा कर्मविवर्जितः सन् केवलज्ञानेन करणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन। तथाहि—अयमात्मा व्यवहारेण केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोऽपि निश्चयनयेन स्वात्मानं जानाति, तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत् सर्वगतो भवति न च प्रदेशापेक्षयेति। कश्चिदाह—यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं, न च निश्चयनयेनेति। परिहारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति, तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात्। यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत् तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुख-दुःख-राग-द्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद् दूषणं प्राप्नोतीति। अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तदेवोपादेयस्यानन्तसुखस्याभिन्नत्वादुपादेयमित्यभिप्रायः ॥५२॥

अर्थ—हे जीव आत्मा कर्मोंसे मुक्त होकर करणभूत केवलज्ञानके द्वारा जिस कारणसे लोकालोकको जानते है इस कारण वे सर्वगत कहे जाते हैं। यथा—यह आत्मा व्यवहारसे केवलज्ञानके द्वारा लोकालोकको जानता है तथा देहमें स्थित होकर भी निश्चयनयसे अपने आत्माको जानता है, इस कारण व्यवहारनयसे ज्ञानकी अपेक्षा रूपविषयमें दृष्टिके समान सर्वगत हैं, प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं। कोई कहता है कि यदि व्यवहारसे लोकालोकको जानता है तो व्यवहारसे सर्वज्ञता बनी, निश्चयनयसे नहीं ? आगे इस शंकाका समाधान करते हैं—केवली जिन जिस प्रकार अपने आत्माको तन्मय होकर जानते है उस प्रकार पर द्रव्यको तन्मय होकर नहीं जानते, इस कारण व्यववहार कहा जाता है, परिज्ञानका अभाव होनेसे व्यवहार नहीं कहा गया है।

यदि निश्चयनयसे स्वद्रव्यको जाननेके समान तन्मय होकर परद्रव्यको जानें तो परकीय सुख-दुःख, राग-द्वेषके परिज्ञान होनेपर वे सुखी-दुखी, रागी-द्वेषी हो जाँय यह महान् दूषण प्राप्त होता है। यहाँपर एकमात्र जिस ज्ञानकी अपेक्षा केवली जिनको व्यापक कहते हैं मात्र वही ज्ञान उपादेयभूत अनन्तसुखसे अभिन्न होनेके कारण उपादेय है यह अभिप्राय है।

●

द्वितीय दौर

: १ :

शंका ७

प्रश्न यह था—

केवली भगवान्‌की सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे? यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ?

प्रतिशंका २

इसके उत्तरमें आपने नियमसार गाथा १५९ के अनुसार बतलाया है कि केवली भगवान् सब पदार्थोंको व्यवहारनयसे जानते हैं, अतः इनकी यह सर्वज्ञता असद्भूत है ऐसा आपने प्रतिपादित किया है और असद्भूत शब्दका अर्थ आपने 'आरोपित' किया है।,

फिर आप लिखते हैं कि चूँकि लोकमें जो धर्म पाया जावे उसीका आरोप दूसरे द्रव्य पर होता है, इसलिये आपने पूर्वोक्त गाथा १५९ में निश्चयनयसे प्रतिपादित आत्मज्ञतामें सर्वज्ञताका सद्भाव स्वीकार किया है।

इस प्रकार आप केवली भगवान्‌में सर्वज्ञताको आत्मज्ञताकी अपेक्षा वास्तविक मानकर उसी सर्वज्ञता-को उन्हीं केवली भगवान्‌में सकल ज्ञेयोंकी अपेक्षा आरोपित कर लेते हैं, आपके इस कथनमें दो बातें विचार-णीय हो जाती हैं—

(१) आत्मज्ञताकी अपेक्षा सर्वज्ञताका क्या रूप है?

(२) उन्हीं केवली भगवान्‌में सकल ज्ञेयोंकी अपेक्षासे आरोपित सर्वज्ञता आपने स्वीकृत की है उसकी संगति किस प्रकार हो सकती है?

ये दो प्रश्न हमारे खड़े ही रहते हैं।

पुनश्च आपने जो निश्चयसे सर्वज्ञता स्थापित करनेके लिये श्री अमृतचन्द्र सूरिके प्रमाणका उल्लेख करते हुए समयसारके अनुसार जीवमें सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व नामकी दो शक्तियाँ स्वीकृत की है जो स्वाश्रित होनेसे निश्चयनयकी अपेक्षा आत्माकी सर्वज्ञताकी घोषणा करती हैं। यह और दूसरा नियमसारके मतका आपने उल्लेख किया है। इस प्रकारके निरूपणसे हमें अध्यात्मवादियोंके दो मत प्राप्त हो जाते हैं। एक तो

नियमसार ग्रन्थकी मूल गाथा और उसकी व्याख्या करनेवाले श्री पद्मप्रभमलधारी देवकी मान्यताके अनुसार सर्वज्ञता आरोपित होनेसे आरोपित सर्वज्ञतता समर्थित होती है और दूसरे श्री अमृतचन्द्र सूरिके व्याख्याना-नुसार निश्चयनयसे स्वाश्रित सर्वज्ञता समर्थित होती है, इसका समन्वय करनेके लिये जो आपने आत्मज्ञतामें सर्वज्ञताका अन्तर्भाव करते हुए आत्मज्ञमें व्यवहारनयके विषयभूत सर्वज्ञताका आरोप बतलाया है वह हमें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

विशेष विचार यह भी उत्पन्न होता है कि जब वास्तविक सर्वज्ञताका समर्थन करनेके लिये श्री अमृतचन्द्र सूरिने स्वाश्रित दो शक्तियाँ निरूपित की हैं जिन्हें चेतनानुगामी पर्याय शक्तियाँ कहा जा सकता है और उनके द्वारा सत्य सर्वज्ञताका साधन किया है। उसीके अनुसार अन्य चेतन व जड़ पदार्थोंमें जो कि कार्य-कारणभावके रूपमें प्राप्त होते हैं उनमें भी ऐसी ही जन्यत्व या जनकत्वादिरूप शक्तियाँ यदि मानी जावें तो वे भी स्वाश्रित पर्याय शक्तियाँ क्यों नहीं मानी जा सकेंगी, क्योंकि अनन्त धर्मात्मक वस्तुमें 'अनन्तशक्तित्वाद् भावानाम्' इस सिद्धान्तके अनुसार उनके माननेमें कोई विरोध नहीं रह जाता।

इस प्रकार आप उपस्थित समस्याओंके विषयमें ठीक-ठीक प्रकाश डालेंगे।

मूलशंका—केवली भगवान्‌की सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे? यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ?

प्रतिशंका २ का समाधान

इस प्रश्नके उत्तरमें नियमसार तथा अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमें निश्चय-व्यवहारसे केवली जिनमें सर्वज्ञता और आत्मज्ञताकी स्थिति क्या है यह स्पष्ट किया गया था। फिर भी प्रतिशंका २ द्वारा उसी प्रश्नको पुनः विवादका विषय बनाकर दो अन्य प्रश्न उपस्थित किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) आत्मज्ञताकी अपेक्षा सर्वज्ञताका क्या रूप है?

(२) उन्हीं केवली भगवानमें सकल ज्ञेयोंकी अपेक्षासे आरोपित सर्वज्ञता आपने स्वीकृत की है उसकी संगति किस प्रकार हो सकती है?

ये दो प्रश्न हैं। इनका समाधान इस प्रकार है—

(१) पदार्थ तीन प्रकारके हैं—शब्दरूप, अर्थरूप और ज्ञानरूप। उदाहरणार्थ 'घट' यह शब्द घट शब्दरूप पदार्थ है। जलधारण करनेमें समर्थ 'घट' अर्थरूप घट पदार्थ है और 'घटाकार ज्ञान' घट ज्ञानरूप घट पदार्थ है। इस प्रकार घट पदार्थके समान सर्व पदार्थ भी तीन प्रकारके हैं। सर्व प्रथम निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर जब आत्मज्ञ केवली जिन केवलज्ञानके द्वारा ज्ञेयरूपसे अपने आत्माको जानते हैं तब दर्पणके समान ज्ञेयाकाररूप परिणमन स्वभावसे युक्त और तद्रूप परिणत अपनी ज्ञानपर्यायको भी अपनेसे अभिन्न रूपसे जानते हैं, इसलिए वे केवली जिन आत्मज्ञ होनेके साथ-साथ स्वरूपसे सर्वज्ञ हैं। यही स्वाश्रित सर्वज्ञता है। इस प्रकार विश्लेषण करनेपर यह स्पष्ट रूपसे प्रतिभासित होता है कि जो आत्मज्ञता है वही सर्वज्ञता है। निश्चयनयकी अपेक्षा आत्मज्ञ कहो या (स्वाश्रित) सर्वज्ञ कहो दोनोंका अर्थ एक है।

इसी आशयको ध्यानमें रखकर श्री अमितगति आचार्यने सामायिकपाठमें कहा है—

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तं ।

आत्माके अवलोकन करनेपर जिसमें (आत्मामें) वह समस्त विश्व पृथक्-पृथक् स्पष्टरूपसे प्रतिभासित होता है।

प्रकृतमें उपयोगी श्री प्रवचनसारजीका यह उल्लेख द्रष्टव्य है—

अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखित-निखात-कीलिति-मज्जित-समावर्तित-प्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं.... ।

—गा० २००—टीका

अर्थ:—अब, एक ज्ञायक भावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्रको—मानो वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों, इस प्रकार— एक क्षणमें ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है........।

प्रतिशंकाके प्रारम्भमें हमारे मतके रूपमें जो यह लिखा गया है कि 'केवली भगवान् सब पदार्थोंको व्यवहारनयसे जानते हैं, अतः उनकी यह सर्वज्ञता असद्भूत है ऐसा आपने प्रतिपादन किया है और असद्भूत शब्दका अर्थ आरोपित किया है' सो इस सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि हमने स्वयं शंका प्रस्तुत करते हुए शंकाके रूपमें यह लिखा है कि 'यदि वह मात्र पराश्रित है तो उसे असद्भूत मानना पड़ेगा।' जब कि हमने उसे (सर्वज्ञताको) स्वाश्रित सिद्ध किया है तब ऐसी स्थितिमें सर्वज्ञमें सर्वज्ञता सद्भूत ही है, उसे असद्भूत किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता। ऐसा ही आगम है और यही हमारा अभिप्राय है।

(२) इस प्रकार स्वरूपसे सर्वज्ञताके सम्यक् प्रकारसे घटित हो जानेपर जिस समय त्रिलोक और त्रिकालवर्ति बाह्यमें अवस्थित समस्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है तब उनमें यह सर्वज्ञता परकी अपेक्षा आरोपित की जानेके कारण उपचरित सद्भूत व्यवहारसे सर्वज्ञता कहलाती है। जिसप्रकार दीपक स्वरूपसे प्रकाशक धर्मके कारण प्रकाशक है घटादि पदार्थोंके कारण नहीं है उसी प्रकार केवली जिन स्वरूपसे सर्वज्ञ हैं पर पदार्थोंके कारण नहीं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रतिशंकामें उल्लिखित दो प्रश्नोंका सम्यक् निर्णय करनेके बाद प्रतिशंकामें अध्यात्मवादियोंके जो फलित रूपमें दो मतोंका उल्लेख किया गया है उसका आशय हमारी समझमें नहीं आया, क्योंकि अमृतचन्द्र सूरिका कोई स्वतन्त्र मत हो और नियमसारका स्वतन्त्र, ऐसा नहीं है। हमें तो यह पढ़कर बहुत आश्चर्य हुआ। वस्तुतः ज्ञानके लिए आगममें प्रायः सर्वत्र दर्पणका दृष्टान्त दिया गया है और उस द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बित करनेकी शक्ति स्वभावसे है उसी प्रकार ज्ञानका ज्ञेयाकाररूप परिणमन करना उसका अपना स्वभाव है। किन्तु जब इसका परकी अपेक्षा प्रतिपादन किया जाता है। जैसे यह कहना कि दर्पणमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब दूसरेके कारण पड़ा है तब वह व्यवहार कहलाता है। इसी प्रकार ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन करना उसका अपना स्वभाव है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयोंके कारण हुआ है तब वह व्यवहार कहलाता है, क्योंकि ऐसे कथनमें वस्तुकी स्वभावभूत योग्यताको गौणकर उसका पराश्रित कथन किया गया है, इसलिए वह व्यवहार

है। अध्यात्मके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला जितना भी आगम साहित्य उपलब्ध होता है उसमें तो एकरूपता ही है। किन्तु यह भी निर्णीत है कि चारों अनुयोगोंके आगम साहित्यमें एकरूपता है। यहाँ यह निवेदन है कि जहाँ ठीक तरहसे आशय समझमें न आवे वहाँ आगमके आशयको स्पष्ट समझनेका प्रयत्न होना चाहिए। प्रमाणभूत आगमको मतके रूपमें प्रस्तुत करना उपयोगी नहीं है।

अब रही जन्य-जनकत्व शक्तिकी बात सो प्रत्येक द्रव्यमें स्वाश्रित जन्यत्व और जनकत्व शक्तियाँ है। छह निश्चय कारकोंमें निश्चय कर्ता-कर्म शक्तिका उल्लेख हुआ है वह इसी अभिप्रायसे हुआ है। इतना अवश्य है कि विवक्षित द्रव्यकी जन्य-जनकत्वशक्ति उसीमें पाई जाती है तथा अन्य द्रव्योंकी भी अपने अपनेमें पाई जाती है। एक द्रव्यमें जन्यशक्ति हो और उसकी जनकशक्ति किसी दूसरे द्रव्यमें हो ऐसी व्यवस्था वस्तुस्वरूपके प्रतिकूल है ऐसा आगमका अभिप्राय है।

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ७

मूल प्रश्न—'केवली भगवान्‌की सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे ? यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?'

प्रतिशंका ३

इसका उत्तर तथा प्रत्युत्तर देते हुए आपने इस प्रकार कहा है—

१. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भयवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

अर्थ—व्यवहारनयसे केवली भगवान् सबको जानते हैं और देखते हैं, निश्चयनयसे केवलज्ञानी नियमसे आत्माको जानते और देखते हैं।

२. सर्वज्ञता नामका एक धर्म है जो कहींपर होना चाहिए तभी परकी अपेक्षा आरोप करना ठहरता है।
३. आत्मज्ञतामें सर्वज्ञताका धर्म समाया हुआ है।
४. केवली जिनमें जो सर्वज्ञता है उसे मात्र परके आश्रयसे स्वीकार करने पर तो वह असद्भूत ही ठहरती है इसमें संदेह नहीं।
५. श्री समयसारके परिशिष्टमें सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व शक्तिको स्वीकार किया है जिससे स्वभावकी अपेक्षा सर्वज्ञता बन जाती है।

६. परमात्मप्रकाशकी टीकाको उद्धृत करके लिखा है 'केवली जिन जिस प्रकार अपनी आत्माको तन्मय होकर जानते हैं उस प्रकार पर-द्रव्यको तन्मय होकर नहीं जानते। इस कारण व्यवहार कहा जाता है, पर-ज्ञानका अभाव होनेसे व्यवहार नहीं कहा गया है।

७. श्री अमितगति आचार्यके सामायिकपाठका श्लोक तथा प्रवचनसार गाथा २०० की टीका उद्धृत करते हुए कहा है कि 'एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे समस्त द्रव्यमात्रको एक क्षणमें प्रत्यक्ष करता है, मानों वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों इत्यादि।

८. स्वरूपसे सर्वज्ञता घटित हो जानेपर जिस समय समस्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है तब उनमें यह सर्वज्ञता परकी अपेक्षा आरोपितकी जानेके कारण उपचरित सद्भूत व्यवहार से सर्वज्ञता कहलाती है।

९. जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बित करनेकी योग्यता स्वभावसे है उसी प्रकार ज्ञानका ज्ञेयाकार-रूप परिणमन करना उसका स्वभाव है।

१०. ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयोंके कारण हुआ है तब वह व्यवहार कहलाता है, क्योंकि ऐसे कथनमें वस्तुकी स्वभावभूत योग्यताको गौणकर उसका पराश्रित कथन किया गया है।

अब इन दश विषयोंके सम्बन्धमें विचार किया जाता है—

१—आपने स्वयं सोलहवें प्रश्नके उत्तरमें लिखा है—

'यह तो निर्विवाद सत्य है कि ज्ञायकभाव स्वपरप्रकाशक है। स्वप्रकाशककी अपेक्षासे आत्मज्ञ और परप्रकाशककी अपेक्षा सर्वज्ञ है। ज्ञायक कहनेसे ही ज्ञेयोंकी ध्वनि आ जाती है। आत्माको ज्ञायक कहना सद्भूत व्यवहार है और परज्ञेयोंकी अपेक्षा ज्ञायक कहना यह उपचरित सद्भूत व्यवहार है।

'सर्वज्ञ' शब्द दो शब्दोंसे मिलकर बना है (१) सर्व और (२) ज्ञ। 'सर्व' का अर्थ समस्त और 'ज्ञ' का अर्थ जाननेवाला है। इस तरह सर्वं जानातीति सर्वज्ञः इस व्युत्पत्तिके अनुसार सबको जाननेवाला सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ शब्द स्वयं परसापेक्षका द्योतक है परनिरपेक्षका द्योतक नहीं है। इसीलिये श्री कुन्दकुन्द भगवानने नियमसार गाथा १५९ में कहा है कि 'व्यवहारनयसे केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं। निश्चय-नयकी अपेक्षा केवलज्ञानी नियमसे आत्माको जानते और देखते हैं।' निश्चयनयकी अपेक्षा केवलज्ञानी परको नहीं जानते······गाथामें पड़े हुए नियम शब्दसे यह स्पष्ट कर दिया है।

२—चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जानेसे आत्मामें क्षायिकज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इस क्षायिक ज्ञानमें निश्चयनयसे 'आत्मज्ञ' नामका धर्म है और व्यवहारनयसे 'सर्वज्ञ' नामका धर्म है। इस प्रकार सर्वज्ञ नामका धर्म अवश्य है किन्तु यह धर्म, परसापेक्ष है, जैसे घटका ज्ञान, पटका ज्ञान आदि। व्यव-हारनयकी अपेक्षासे केवली जिनमें सर्वज्ञता नामका धर्म वास्तविक है अतः केवलीमें सर्वज्ञताके आरोप अर्थात् मिथ्या कल्पनाकी कोई आवश्यकता नहीं है। समयसार गाथा ३६२ की टीकामें श्री जयसेनाचार्यने कहा भी है—

ननु सौगतोऽपि ब्रूते—व्यवहारेण सर्वज्ञः तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहार-माह्सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा तथा व्यवहाररूपेण व्यवहारो न सत्य इति। जैनमते पुनः व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति।

अर्थ—प्रश्न—बौद्ध भी तो व्यवहारसे सर्वज्ञ कहते हैं, उनको दूषण क्यों दिया जाता है ?

समाधान—बौद्धमतमें जिस प्रकार निश्चयकी अपेक्षा व्यवहार झूठ है उसी प्रकार व्यवहाररूपसे व्यवहार सत्य नहीं है, किन्तु जैन मतमें व्यवहारनय यद्यपि निश्चयकी अपेक्षा झूठ है तथापि व्यवहाररूपसे सत्य है।

इसलिये सर्वज्ञत्व धर्म आत्मामें व्यवहारनयसे होने पर भी सत्य है, आरोपित अर्थात् मिथ्या कल्पना नहीं है। किसी एक वस्तुके धर्मको किसी नियमित अपेक्षाके आधार पर दूसरी वस्तुमें कहना आरोपित कहलाता है, किन्तु उसी वस्तुके धर्मको उसी वस्तुमें कहना आरोपित नहीं कहा जा सकता है। जब सर्वज्ञता शक्ति आत्माकी है तब उसका आत्मामें कथन करना आरोपित कैसे कहला सकता है ? उस शक्तिका स्वरूप ही जब परको जानना है तब परकी अपेक्षा तो उसमें आवेगी ही। परको जाननेका नाम ही परज्ञता है। यहाँ पर हमारा प्रश्न सर्वज्ञत्व शक्तिकी अपेक्षासे नहीं है क्योंकि वह तो निगोदिया जीवमें भी है। किन्तु सर्वज्ञतारूप उस परिणतिसे है, वह परिणति सर्व पर वस्तुके आश्रयसे ही मानी जा सकती है। अतएव पर (सर्वज्ञेय) आश्रित होनेसे व्यवहारनयका विषय हो जाता है। जैसे जीवमें विभावरूप परिणमन करनेकी अनादि पारिणामिक शक्ति है। यह शक्ति कर्मोंसे उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि निमित्तकारण शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। इस शक्तिका विभावरूप परिणमन बाह्य निमित्त पाकर ही होता है। आपके सिद्धान्तानुसार यदि विभाव परिणमनको इस शक्तिकी अपेक्षासे देखा जाय तो यह भी स्वाश्रित होनेसे निश्चयका विषय बन जायगा। किन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि समयसार गाथा ५६ में 'रागादि विभावको जीवके हैं' ऐसा व्यवहारनयसे कहा है।

३—केवली जिनमें आत्मज्ञता और सर्वज्ञता ये दोनों धर्म भिन्न भिन्न नयोंकी अपेक्षासे हैं अर्थात् आत्मज्ञता निश्चयनयकी अपेक्षासे है और सर्वज्ञता व्यवहारनयकी अपेक्षासे है अथवा आत्मज्ञता स्वअपेक्षासे है और सर्वज्ञता पर अपेक्षासे है। अतः आत्मज्ञतामें सर्वज्ञता धर्म नहीं समा सकता है, किन्तु ये दोनों धर्म दो नयोंकी अपेक्षासे भिन्न भिन्न होते हुए भी केवली जिनमें एक साथ रह सकते हैं।

४—सर्वज्ञता यद्यपि पर-सापेक्ष है तथापि वह असद्भूत नहीं है, किन्तु यथार्थ है। जो धर्म पर-सापेक्ष है उसे परसापेक्ष कहना तो सत्य है, वह असद्भूत कैसे हो सकता है ? परसापेक्ष होनेसे असद्भूत व्यवहार नयका विषय होते हुए भी असत्यार्थ नहीं है। असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण इस प्रकार है—

भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।—आलापपद्धति

अर्थ—जो भिन्न वस्तुको विषय करे वह असद्भूत व्यवहारनय है।

निश्चयनयका विषय दो भिन्न वस्तु नहीं है, अतः निश्चयनयकी अपेक्षा सर्वज्ञता नहीं है। किसी भी आगममें निश्चयनयकी अपेक्षा सर्वज्ञता स्वीकृत नहीं की गई है। समयसार गाथा २७२ की टीकामें भी श्री अमृतसूरिने कहा है—

आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो व्यवहारनयः।

अर्थ—निश्चय नय आत्मा (स्व) के आश्रित है और व्यवहार नय परके आश्रित है।

जयधवल पुस्तक १ पृष्ठ २३ पर कहा है—

आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद् वा केवलमसहायम्।

अर्थ—केवलज्ञान आत्मा और पदार्थ (ज्ञेय) से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिककी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये वह केवल-असहाय है। अर्थात् केवलज्ञान आत्मा और पदार्थकी अपेक्षा रखता है।

इस तरह चूंकि सर्वज्ञतामें पदार्थविषयताकी अपेक्षा है, अतः वह पराश्रित होनेसे व्यवहारनयसे है। इसी कारण प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने कहा–'णाणं णेयपमाणमुद्दिट्ठं' अर्थात् ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। यद्यपि निश्चयसे उसमें अनन्तानन्त लोकालोकको जाननेकी शक्ति है। (राजवार्तिक १। २९) अर्थात् ऐसे अनंतानंत लोकालोक हों तो उन्हें भी जान सकता है, किन्तु सर्वज्ञताकी अपेक्षा व्यवहारनयकी दृष्टिमें वह ज्ञान, ज्ञेय प्रमाण है।

५—समयसार परिशिष्टमें आत्माकी ४८ शक्तियोंका कथन है। उनमेंसे कुछ शक्तियाँ परापेक्षित भी हैं। जैसे परकी अपेक्षा रखनेवाली अकार्यकारणत्व शक्ति व अकर्तृत्व शक्ति, क्योंकि, अन्यसे न करने योग्य और अन्यका कारण नहीं ऐसी अकार्यकारण शक्ति है और ज्ञातापने मात्रसे भिन्न परिणामके करनेका अभावस्वरूप अकर्तृत्व नामकी शक्ति है। इसी प्रकार सर्व पर ज्ञेयोंकी अपेक्षा रखनेवाली सर्वदर्शित्व व सर्वज्ञत्व नामकी शक्तियाँ हैं। सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वमें जो 'सर्व' शब्द है वह स्वयं ही सर्व पर पदार्थोंकी अपेक्षाका द्योतक है।

श्री कुन्दकुन्द भगवानने समयसारमें स्वभावसे सर्वज्ञता मानते हुए भी सर्वज्ञताको व्यवहार नयका ही विषय कहा है—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाण-दंसण-चरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वतव्वं से समासेण ॥३६०॥
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सएण भावेण ॥३६१॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणा-दंसण-चरित्ते ॥३६५॥

अर्थ—जैसे सेटिका (कली, खड़िया मिट्टी) तो परकी नहीं है, सेटिका तो स्वयं सेटिका है, उसी प्रकार आत्मा पर द्रव्यका ज्ञायक नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्रमें निश्चयनयका कथन है। संक्षेपसे व्यवहारनयका कथन सुनो। जैसे सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्य दीवाल आदिको सफेद करती है, उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभावसे परद्रव्यको जानता है। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्रके विषयमें व्यवहारनयका निर्णय कहा।

गाथाकी व्याख्यामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने स्पष्ट लिखा है—

तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेयं वस्तु व्यवहारेण जानाति।

अर्थ—खड़ियाके दृष्टान्तसे आत्मा पर द्रव्य घट आदि ज्ञेय वस्तुको व्यवहारनयसे जानता है।

'स्वभावसे पर द्रव्यको जानना भी व्यवहार नयका विषय है' ऐसा श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने उपर्युक्त गाथाओंमें तथा नियमसार गाथा १५९में स्पष्ट कहा है। भगवान् कुन्दकुन्दके वाक्योंका विरोध करते हुए आप सर्वज्ञताको निश्चयनयसे कहनेका क्यों प्रयत्न कर रहे हैं? क्या आप ऐसा इसलिये कहते हैं कि

व्यवहारनयको सत्यार्थ मानना आपको इष्ट नहीं है ? जिसको कि श्री अमृतचन्द सूरिने अपनी व्याख्यामें परमार्थ स्वीकार किया है ।

६—परमात्मप्रकाशकी टीकाको उद्धृत करते हुए जो आपने यह लिखा है कि 'केवली जिन जिस प्रकार अपनी आत्माको तन्मय होकर जानते हैं उस प्रकार पर द्रव्यको तन्मय होकर नहीं जानते, इस कारण व्यवहार है, परज्ञानका अभाव होनेसे व्यवहार नहीं कहा गया ।' इससे भी सर्वज्ञता निश्चयनयका विषय नहीं ठहरता । पर पदार्थके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है । अपितु ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध है, अतः दो द्रव्योंके सम्बन्ध होनेसे वह व्यवहार नयका ही विषय ठहरता है । इस प्रकार आपके प्रमाणके द्वारा ही आपका मत खण्डित हो जाता है अर्थात् श्री परमात्मप्रकाशसे भी सर्वज्ञता निश्चयनयका विषय सिद्ध नहीं होती, किन्तु व्यवहार नयका ही विषय सिद्ध होती है ।

७—श्री अमितगति आचार्यके सामायिकपाठ तथा प्रवचनसार गाथा २०० की टीकाको उद्धृत करते हुए आपने जो लिखा है कि 'एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे सर्वज्ञ समस्त द्रव्यमात्रको एक क्षणमें प्रत्यक्ष करता है, मानो वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों इत्यादि ।' संभवतः इन वाक्यों द्वारा आप यह कहना चाहते हैं कि दर्पणकी तरह ज्ञान भी ज्ञेयाकाररूप परिणम जाता है, सो आपका यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि दर्पण मूर्तिक है जिसकी स्वच्छता मूर्तिक द्रव्यके आकार व वर्णरूप परिणम जाती है, किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है । वह मूर्तिकपदार्थोंके आकाररूप कैसे परिणम सकता है ? ज्ञान ज्ञेयोंको जानता है यह बतलानेके लिये दर्पणका दृष्टान्त मात्र दिया गया है । ज्ञान ज्ञेयाकाररूप नहीं परिणमता है इसका युक्ति सहित स्पष्ट उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्डमें किया गया है जो इस प्रकार है—

विषयाकारधारित्वं च बुद्धेरनुपपन्नम्, मूर्तस्यामूर्ते प्रतिबिम्बासंभवात् । तथाहि न विषयाकारधारिणी बुद्धिरमूर्तत्वादाकाशवत्, यत्तु विषयाकारधारि तन्मूर्तं यथा दर्पणादि ।

अर्थ—ज्ञानको विषयाकार धारण करनेवाला मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि घट पट आदि ज्ञेय-भूत मूर्त पदार्थका अमूर्तिक ज्ञानमें प्रतिबिम्ब होना असम्भव है । ज्ञान ज्ञेयाकारको धारण करनेवाला नहीं है, क्योंकि वह अमूर्त है जैसे आकाश । जो जो ज्ञेयाकार (ज्ञेयोंके प्रतिबिम्ब) को धारण करनेवाला होता है वह मूर्त होता है जैसे दर्पण जलादि । ज्ञान अमूर्त है, क्योंकि अमूर्त आत्माका गुण है । जिसप्रकार आकाशमें किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब नहीं बनता, क्योंकि वह स्वभावसे अमूर्त है, उसी प्रकार आत्मा भी अमूर्त है, अतः उसमें भी पर पदार्थोंके आकारका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता ।

ऐसी ही विवेचना मूलाराधना और प्रमेयरत्नमालामें भी है ।

यद्यपि ज्ञानको साकार कहा है परन्तु वहाँ आकारका अर्थ प्रतिबिम्ब न होकर अर्थविकल्प लिया है । कहा भी है—कम्मकत्तागारो आगारो तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो त्ति ।

—जयधवल पृ० ३३८

अर्थात् कर्म-कर्तृत्वको आकार कहते हैं और उस आकारसे सहित उपयोग साकार उपयोग कहलाता है ।

यहाँ प्रमेयरत्नमालाके 'ज्ञानविषयभूतं वस्तु कर्मेत्यभिधीयते' इस उल्लेखके अनुसार कर्मका अर्थ ज्ञेय लेना चाहिए, उसका विकल्प ज्ञानमें आता है, अतः ज्ञानको साकार कहते हैं । यदि कहीं पर ज्ञानमें ज्ञेयोंके प्रतिबिम्ब अथवा ज्ञानकी ज्ञेयाकार परिणति कही गई है तो उसका वहाँ इतना ही प्रयोजन है कि जिस प्रकार

प्रतिविम्ब ज्यों का ज्यों पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयोंको ज्योंका त्यों यथार्थ जानता है। इस जाननेका नाम ही ज्ञेयाकार परिणति है। यदि यह मान लिया जावे कि ज्ञानमें ज्ञेयोंके प्रतिविम्ब पड़ने पर ही ज्ञान ज्ञेयों को जानता है तो ज्ञान रस गन्ध, स्पर्शको तथा अमूर्तिक पदार्थोंको नहीं जान सकेगा, क्योंकि इनका प्रतिविम्ब नहीं पड़ता है और न ज्ञान रसादिरूप परिणम सकता है। प्रतिविम्ब या छाया तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, ज्ञानकी नहीं। अतः अमितगति सामायिकपाठ तथा प्रवचनसार गाथा २०० की टीकासे भी यह सिद्ध नहीं होता कि केवली जिन निश्चयनयकी अपेक्षा सर्वज्ञ हैं।

आपने पदार्थ तीन प्रकारके लिखे—१ शब्दरूप २ अर्थरूप ३ ज्ञानरूप। इनमेंसे शब्दरूप पदार्थ 'घट' शब्द, और ज्ञानरूप पदार्थ जैसे घटको जाननारूप घटज्ञान, ये दोनों पदार्थ पराश्रित होनेसे व्यवहारके विषय हैं। जैसे घटमें जलधारण हो सकता है वैसे घट शब्द या घटज्ञानमें जलधारण नहीं हो सकता। अन्न से पेट भर सकता है—भूख मिट सकती है, किन्तु अन्न शब्दसे या अन्नके ज्ञानमात्रसे पेट नहीं भर सकता, अतः शब्द व ज्ञानको पदार्थ व्यवहारसे कहा गया है।

८—आपने कहा है 'स्वरूपसे सर्वज्ञता घटित हो जानेपर जिस समय समस्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है तब उनमें यह सर्वज्ञता परकी अपेक्षा आरोपितकी जानेके कारण उपचरित सद्भूत व्यवहारसे सर्वज्ञता कहलाती है।'

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जब केवली जिन सर्वज्ञ हैं तो उनमें वही धर्म आरोपित नहीं हो सकता, अतः आपका उपर्युक्त कथन आपके द्वारा ही बाधित हो रहा है। फिर स्वरूपसे सर्वज्ञता घटित भी नहीं होती, आत्मज्ञता ही घटित होती है। परपदार्थों और ज्ञानमें परस्पर ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है। यद्यपि ज्ञान ज्ञेयोंको अपने स्वभावसे जानता है तथापि ज्ञेयोंके साथ ज्ञायकका सम्बन्ध व्यवहारनयसे ही है। समयसार पृष्ठ ४४८ पर गाथा ३६१ की टीकामें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने कहा भी है—

चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते।

अर्थ—ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि पर द्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्योंको अपने स्वभावरूप परिणमित न करता हुआ पुद्गलादि परद्रव्य जिसमें निमित्त है ऐसे अपने ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभावके द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्योंको अपने स्वभावसे जानता है ऐसा व्यवहार किया जाता है।

आलापपद्धतिमें श्री देवसेनाचार्यने कहा—

स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः। स द्वेधा—कर्मज-स्वाभाविकभेदात्। यथा जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं यथा सिद्धानां परज्ञता परदर्शकत्वं च।

अर्थ—स्वभावका अन्यत्र उपचार सो उपचरित स्वभाव है। वह उपचरित स्वभाव, कर्मजनित और स्वभाविकके भेदसे दो प्रकारका है, जैसे जीवके मूर्तपना तथा अचेतनपना स्वभाव है, यह कर्मजनित उपचरित है। और सिद्धोंके परको जानना (सर्वज्ञता) और परको देखना (सर्वदर्शिता) यह स्वाभाविक उपचरित है।

इस प्रकार श्री देवसेनाचार्यने भी सर्वज्ञताको उपचरितनयसे ही बतलाया है। यदि उपचरितनयको

न माना जावे और अनुपचरितनयका एकान्त पक्ष ग्रहण किया जाय तो परज्ञता (सर्वज्ञता) से विरोध आ जायगा। इस ही को आलापपद्धतिमें इन शब्दों द्वारा कहा है—

उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता संभवति नियमितपक्षत्वात्। तथात्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात्।

अर्थ—उपचरित एकान्त पक्षमें नियमित पक्ष होनेसे आत्माके आत्मज्ञता सम्भव नहीं होती है। उसी प्रकार अनुपचरित एकान्त पक्षमें भी आत्माके परज्ञता (सर्वज्ञता) का विरोध हो जायगा।

प्रवचनसार गाथा ३२ की टीकामें जयसेनाचार्यने कहा है—

व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्वं निरवशेषम्।

अर्थ—व्यवहारनयसे वे भगवान् समस्तको सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावोंके द्वारा देखते तथा जानते हैं।

इसी प्रकार गाथा ३८ की टीकामें भी यही कहा है—

परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेण परिच्छिनत्ति।

अर्थ—व्यवहारसे परद्रव्य और पर्यायोंको जानते हैं।

जाणगभावो जाणदि अप्पाणं जाण णिच्छयणयेण।
परदव्वं ववहारा मइसुइओहिमणकेवलाधारं ॥३२९॥

—नयचक्रसंग्रह पृ० ११९ माणिकचन्द्रग्रंथमाला

अर्थ—ज्ञायक भाव मति श्रुत अवधि मनपर्यय केवलज्ञानके आधारसे निश्चयनयकी अपेक्षा आत्माको जानता है और परद्रव्यको व्यवहारनयसे जानता है।

उपर्युक्त आगम प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि केवली जिनमें सर्वज्ञता व्यवहारनयसे है, निश्चयनयसे नहीं है। ज्ञानगुणकी अपेक्षा आत्मा ज्ञायक है। निश्चयनयसे आत्मा ज्ञानगुणके द्वारा स्वरूपको अर्थात् स्वको जानता है और व्यवहारनयसे आत्मा उस ही ज्ञानगुण स्वभावके द्वारा परद्रव्यों अर्थात् सर्व ज्ञेयोंको जानता है। स्वमें परका अत्यन्ताभाव है और परमें स्वका अत्यन्ताभाव है। 'स्व' पररूप नहीं परिणमता और 'पर' स्वरूप (आत्मरूप) नहीं परिणमता।

९—इसका कथन ऊपर नं० ३ में किया जा चुका है।

१०—आपने लिखा है कि 'ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयोंके कारण हुआ है तब वह व्यवहार कहलाता है, क्योंकि ऐसे कथनमें वस्तुकी स्वभावभूत योग्यताको गौणकर उसका पराश्रित कथन किया गया है।' सो आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान ज्ञेयाकाररूप परिणमन नहीं करता। जैसा कि नं० ७ के विचारमें ऊपर कहा जा चुका है। ज्ञेयोंके जाननेको ही ज्ञानका ज्ञेयाकाररूप परिणमन कहा जाता है। रस गन्ध शीत उष्ण हलका भारी नरम कठोर आदि मूर्तिक गुण तथा धर्मादि अमूर्तिक द्रव्योंके गुणोंका कोई आकार न होनेसे उन ज्ञेयोंके आकाररूप ज्ञान नहीं परिणमता, किन्तु जानता है, क्योंकि जानना ज्ञानका स्वभाव है। ज्ञान अपने स्वभावसे सर्व ज्ञेयोंको जानता है इस कथनमें स्वभाव गौण नहीं है तथापि ज्ञेय परद्रव्य हैं, अतः यह कथन व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। ज्ञान ज्ञेयोंको अपने स्वभावसे जानता अवश्य है, किन्तु आत्माके प्रदेश या ज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद ज्ञेयोंके आकाररूप नहीं परिणमन करते। ऐसा ही श्री कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचनसारमें कहा है—

णाणी णाणसहावो अत्था णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

अर्थ—आत्मा ज्ञानस्वभाव हैं और पदार्थ आत्माके ज्ञेयस्वरूप है, जैसे कि रूप नेत्रोंका ज्ञेय स्वरूप होता है, परन्तु वे एक दूसरेमें नहीं वर्तते।

इस प्रकार व्यवहारनयसे सर्वज्ञता सिद्ध हो जानेपर वह सत्यार्थ है, क्योंकि प्रत्येक नय अपने विषयका ज्ञान करानेमें सत्य है, असत्य नहीं है। कहा भी है—

ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो ववहाराणुसारिसिस्साणं पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं।

—जयधवल पु० १ पृष्ठ ८

अर्थ—यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहारका अनुसरण करनेवाले शिष्योंकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो व्यवहारनय बहुत जीवोंका अनुग्रह करनेवाला है उसीका आश्रय करना चाहिये ऐसा मनमें निश्चय करके गौतम स्थविरने चौबीस अनुयोगद्वारोंके आदिमें मंगल किया है।

यहाँ सन्मतितर्ककी निम्नांकित गाथा दृष्टव्य है—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥१२८॥

अर्थ—ये सभी नय अपने अपने विषयके कथन करनेमें समीचीन हैं और दूसरे नयोंके निराकरण करनेमें मूढ़ हैं। अनेकान्तके ज्ञाता पुरुष यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है इस प्रकारका विभाग नहीं करते।

यही गाथा जयधवला पुस्तक १ पृष्ठ २५७ पर निम्नांकित वाक्योंके साथ उद्‌धृत की गई है—

न चैकान्तेन नया मिथ्यादृष्टय एव, परपक्षानिराकरिष्णूनां सपक्ष (स्वपक्ष) सत्त्वावधारणे व्यापृतानां स्यात्सम्यग्दृष्टित्वदर्शनात्।

अर्थ—नय एकान्तसे मिथ्यादृष्टि ही है ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो नय परपक्षका निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्षके अस्तित्वका निश्चय करनेमें व्यापार करते हैं उनमें कथंचित् समीचीनता पायी जाती है।

उक्त गाथाका विशेषार्थ लिखते हुए श्री पं० फूलचन्द्रजीने लिखा है—

'हर एक नयकी मर्यादा अपने अपने विषयके प्रतिपादन करनेतक सीमित है। इस मर्यादामें जबतक वे नय रहते हैं तबतक वे सच्चे हैं और इस मर्यादाको भंग करके जब वे नय अपने प्रतिपक्षी नयके कथनका निराकरण करने लगते हैं—तब वे मिथ्या हो जाते हैं। इसलिये हर एक नयकी मर्यादाको जाननेवाला और उनका समन्वय करनेवाला अनेकान्तज्ञ पुरुष दोनों नयोंके विषयको जानता हुआ एक नय सत्य ही है और दूसरा नय असत्य ही है ऐसा विभाग नहीं करता। किन्तु किसी एक नयका विषय उस नयके प्रतिपक्षी दूसरे नयके विषयके साथ ही सच्चा है ऐसा निश्चय करता है।

नोट—निश्चयनय और व्यवहारनयका स्वरूप समझनेके लिये अन्य प्रश्नों पर भी दृष्टि डालिये।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका ७

मूल प्रश्न ७—केवली भगवान्‌की सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे। यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

केवली जिन निश्चयसे आत्मज्ञ हैं और व्यवहारसे सर्वज्ञ हैं इसका स्पष्टीकरण प्रथम और द्वितीय उत्तरमें करते हुए पिछली प्रतिशंकामें उठाये गये दो प्रश्नोंका सम्यक् प्रकारसे विचार पिछले उत्तरमें कर आये हैं।

तत्काल प्रस्तुत प्रतिशंकाके आधारसे विचार करना है। इसमें १० मुद्दे उपस्थित कर उनके आधारसे प्रतिशंकाको स्वरूप प्रदान किया गया है।

१. प्रथम मुद्दा उपस्थित करते हुए १६वें प्रश्नके उत्तरमें हमारे द्वारा दिये गये वक्तव्यका अंश बतला कर ये वचन उपस्थित किये गये हैं—

'यह तो निर्विवाद सत्य है कि ज्ञायकभाव स्व-परप्रकाशक है। स्व-प्रकाशककी अपेक्षासे आत्मज्ञ और परप्रकाशककी अपेक्षा सर्वज्ञ है। ज्ञायक कहनेसे ही ज्ञेयोंकी ध्वनि आ जाती है। आत्माको ज्ञायक कहना सद्भूत व्यवहार है और पर ज्ञेयोंकी अपेक्षा ज्ञायक कहना यह उपचरित सद्भूत व्यवहार है।

अब हमारे उस कथनको पढ़िए जिसे बदलकर अपर पक्षने उक्त रूप प्रदान किया है—

'अब यह देखना है कि जो यहाँ आत्माको ज्ञायकरूप कहा है सो वह परकी अपेक्षा ज्ञायक कहा है कि स्वरूपसे ज्ञायक है। यदि एकान्तसे यह माना जाता है कि वह परकी अपेक्षा ज्ञायक है तो ज्ञायकभाव आत्माका स्वरूप सिद्ध न होनेसे ज्ञायकस्वरूप आत्माका सर्वथा अभाव प्राप्त होता है। यह तो है कि ज्ञायकभाव स्व-परप्रकाशक होनेसे परको जानता अवश्य है। पर वह परकी अपेक्षा मात्र ज्ञायक न होनेसे स्वरूपसे ज्ञायक है। फिर भी उसे ज्ञायक कहनेसे उसमें ज्ञेयकी ध्वनि आ जाती है, इसलिए उसपर ज्ञेयकी विवक्षा लागू पड़ जानेसे उसे उपचरित कहा है। इस प्रकार आत्माको ज्ञायक कहना यह सद्भूत व्यवहार है और उसे ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञायक ऐसा कहना यह उपचरित है। इस प्रकार जब ज्ञेयकी अपेक्षा ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ज्ञायक है तब वह उपचरित सद्भूतव्यवहारनयका विषय होता है।'

इस प्रकार ये दो रूप (एक हमारे वक्तव्यका मूल रूप और दूसरा अपर पक्षद्वारा उसका अपनी प्रस्तुत प्रतिशंकामें परिवर्तन करके हमारा वक्तव्य बतलाकर उपस्थित किया गया रूप) सामने हैं।

अपर पक्षने हमारे मूल वक्तव्यको परिवर्तितकर क्यों उपस्थित किया इसका कारण है। बात यह है कि उसे निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष होते हैं यह बतलाना इष्ट है। किन्तु हमारे उक्त वक्तव्यसे उस पक्षके इस अभिप्रायकी पुष्टि नहीं होती। और साथ ही वह पक्ष यह भी बतलाना चाहता है कि ऐसा हम (उत्तर पक्ष) भी मानते हैं। यही कारण है कि उस पक्षने हमारे उक्त कथनको बदलकर उसे उक्त रूप प्रदान कर दिया। इससे उस पक्षके दो अभिप्राय सिद्ध हो गये—एक तो उस वक्तव्यद्वारा उसे

जो कहना था वह कह दिया और दूसरे वह उस पक्षका कहना न कहलाकर हमारा (उत्तर पक्ष) का कहना कहलाने लगा।

हम उसके द्वारा किये गये ऐसे प्रयास पर विशेष टीका-टिप्पणी तो नहीं करेंगे। किन्तु उस पक्ष द्वारा ऐसा गलत मार्ग अपनाया जाना ठीक नहीं इतना अवश्य कहेंगे।

उस पक्षने अपने इस अभिप्रायको सिद्ध करनेके लिए 'सर्वज्ञ' शब्दकी व्युत्पत्तिका भी सहारा लिया है। उसका कहना है कि 'सर्वज्ञ शब्द स्वयं परसापेक्षका द्योतक है परनिरपेक्षका द्योतक नहीं है। इसीलिए श्री कुन्दकुन्द भगवान्‌ने नियमसार गाथा १५९ में कहा है कि व्यवहारनयसे केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं। निश्चयनयकी अपेक्षा केवलज्ञानी नियमसे आत्माको जानते और देखते हैं। निश्चयनयकी अपेक्षा केवलज्ञानी परको नहीं जानते······गाथामें पड़े हुए नियम शब्दसे यह स्पष्ट कर दिया है।'

किन्तु अपर पक्षका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि सकल द्रव्यों और उनकी पर्यायोंका साक्षात् करना (प्रत्यक्ष जानना) यह केवलज्ञान या केवलज्ञानीका स्वरूप है। अष्टसहस्री पृ० १३२ में लिखा है—

सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्य-पर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपम्।

सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंका साक्षात् करना यह सकल प्रत्यक्षका स्वरूप है।

भगवान् कुन्दकुन्दने 'आत्मज्ञ' शब्द द्वारा इसी स्वरूपका कथन किया है, क्योंकि केवलज्ञानी (आत्मा) का प्रत्येक समयमें इसी प्रकार जानने-देखनेरूप दूसरेकी (प्रमेयोंकी) अपेक्षा किये विना स्वयं परिणमन होता है। अतएव केवली जिन निश्चयनयसे आत्मा (स्व) को जानते देखते है यह सिद्ध हुआ। यहाँपर 'अप्पाणं' पद स्व-प्रकाशक स्वरूपका सूचक है यतः केवलज्ञानी अपने स्वरूपको जानता-देखता है अतः स्व-परस्वरूप सकल प्रमेयोंको स्वयं जानता देखता है। यह निश्चयनयके कथनका तात्पर्य सिद्ध होता है। तीन लोक और त्रिकाल-वर्ती जितने प्रमेय हैं उनको जानने-देखनेरूप केवलज्ञान और केवलदर्शनका स्वयं परिणमन होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

यह निश्चयनयका वक्तव्य है। अब व्यवहारनयके वक्तव्यपर विचार कीजिए। इसे तो अपर पक्षको भी स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक वस्तुका स्वरूप स्वतःसिद्ध होता है। यदि प्रत्येक वस्तुके स्वरूपकी सिद्धि भी परसापेक्ष मानी जाय तो दोनों नहीं बनेंगे, अर्थात् दोनोंका अभाव हो जायगा। यतः दोनोंका अभाव मानना अपर पक्षको भी इष्ट नहीं होगा, अतः प्रत्येक वस्तुके स्वरूपको स्वतःसिद्ध मान लेना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार प्रमाण और प्रमेयका स्वरूप स्वतःसिद्ध होनेपर भी उनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, क्योंकि प्रमाणके निश्चयपूर्वक प्रमेयका निश्चय होता है और प्रमेयके निश्चयपूर्वक प्रमाणका निश्चय होता है, अतएव परसापेक्ष ऐसे व्यवहारको ध्यानमें रखकर जब कथन किया जाता है तब यह कहा जाता है कि व्यवहारनयसे केवली जिन सबको जानते-देखते हैं।

दोनों नयोंके कथनका आशय एक ही है। यदि इनके कथनमें अन्तर है तो इतना ही कि निश्चयनय स्वरूपकी अपेक्षा जिस बातको कहता है, व्यवहारनय परसापेक्ष होकर उसी बातको कहता है, इसलिए निश्चयनयका कथन यथार्थ है, क्योंकि परनिरपेक्ष जो वस्तुका स्वरूप है वही उसके द्वारा कहा गया है। किन्तु व्यवहारनयका कथन उपचरित है, क्योंकि परसापेक्ष वस्तुका स्वरूप तो नहीं है, लेकिन परसापेक्षरूपसे उसकी सिद्धि की गई है।

अतएव अपर पक्षका न तो 'स्वप्रकाशककी अपेक्षासे आत्मज्ञ और परप्रकाशक की अपेक्षा सर्वज्ञ है।' यही कहना आगमानुकूल है और न 'सर्वज्ञ शब्द स्वयं परसापेक्षका द्योतक है परनिरपेक्षका द्योतक नहीं है।' इत्यादि लिखना ही आगमानुकूल है।

हमारा यह लिखना यथार्थ क्यों है इसके लिए आप्तमीमांसा कारिका ७३ और ७५ पर तथा उनकी अष्टसहस्री टीकापर दृष्टिपात कीजिए।

२. अपर पक्षने अपने दूसरे मुद्देमें भी अपने प्रथम मुद्देके कथनको ही दुहराया है कोई नई बात नहीं कही है। अपर पक्षका कहना है कि 'उस क्षायिक ज्ञानमें निश्चयनयसे आत्मज्ञ नामका धर्म है और व्यवहारनयसे सर्वज्ञ नामका धर्म है। इस प्रकार सर्वज्ञ नामका धर्म अवश्य है किन्तु यह धर्म परसापेक्ष है जैसे घटका ज्ञान, पटका ज्ञान आदि। व्यवहारनयकी अपेक्षासे केवली जिनमें सर्वज्ञता नामका धर्म वास्तविक है अतः केवलीमें सर्वज्ञताके आरोप अर्थात् मिथ्या कल्पनाकी कोई आवश्यकता नहीं है।' आदि।

यह अपर पक्षके वक्तव्यका कुछ अंश है। इसपर विचार करनेके पहले व्यवहारनयके मुख्य दो भेदोंके स्वरूपपर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। व्यवहारनयके मुख्य भेद दो हैं—असद्भूतव्यवहारनय और सद्भूत-व्यवहारनय। अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोप करना यह असद्भूत व्यवहारनय है। तथा गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी आदिका भेद दिखलाना सद्भूत व्यवहार है।

—आलापपद्धति

स्व-परको जानना ज्ञानका स्वरूप है। यहाँ अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र आरोप नहीं किया गया है, इसलिए तो यह असद्भूत व्यवहारनयका विषय नहीं है। तथा यहाँ स्वरूप कथन किया जा रहा है, कुछ गुण-गुणी आदिका भेद नहीं दिखलाया जा रहा है, इसलिए यह सद्भूत व्यवहारनयका भी विषय नहीं है। ऐसी अवस्थामें वह तीसरा कौनसा व्यवहारनय है जिसकी अपेक्षा अपर पक्ष क्षायिक ज्ञानमें सर्वज्ञ नाम-का धर्म स्वीकार करता है और फिर सर्वज्ञमें वह धर्म अस्तिरूप होकर भी उसे परसापेक्ष बतलाता है। किसी वस्तुका कोई धर्म उसका स्वरूप हो और फिर उसे परसापेक्ष कहा जाय यह बड़ी विचित्र कल्पना है।

अपर पक्षने अपने अभिप्रायकी पुष्टिमें 'घटका ज्ञान, पटका ज्ञान' यह उदाहरण उपस्थित किया है। किन्तु घटज्ञानके कालमें स्व-परको जाननेरूप जो परिणाम हुआ वह ज्ञानका स्वरूप है और स्वतःसिद्ध है। वह घटके रहने पर भी होता है और घटके न रहने पर भी होता है, अन्यथा केवलज्ञान तथा स्मृत्यादि ज्ञानोंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। इतना अवश्य है कि घट-पटमें और ज्ञानमें जो ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार होता है वह परस्परकी अपेक्षासे ही सिद्ध होता है। यही कारण है कि हमने भेद विवक्षामें आत्माको ज्ञायक कहना इसे सद्भूत व्यवहारनयका विषय बतलाकर ज्ञेयकी अपेक्षा उसे ज्ञायक कहना इसे उपचरित बतलाया है।

अपर पक्षने समयसार गा० ३६२ की जयसेनाचार्यकृत टीकाके 'ननु सौगतोऽपि' इत्यादि अंशको उप-स्थित कर लिखा है कि 'सर्वज्ञत्व धर्म आत्मामें व्यवहारनयसे होने पर भी सत्य है, आरोपित अर्थात् मिथ्या कल्पना नहीं है।' सो इस सम्बन्धमें इतना ही कहना है कि सर्वज्ञता यह केवलज्ञानका स्वरूप है। अपर पक्ष जिस व्यवहारनयसे उसे केवलज्ञानका धर्म बतलाता है वह व्यवहारनय उस पक्षकी अपनी कल्पनामात्र है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि वह पक्ष सर्वज्ञताको कल्पनामें सत्य मानता है, वास्तवमें सत्य नहीं मानता। यदि वह पक्ष सर्वज्ञताको वास्तवमें सत्य मानता है तो वह ऐसा क्यों लिखता है कि सर्वज्ञत्व धर्म आत्मामें व्यवहारनयसे है। तब तो उस पक्षकी ओरसे हमारे ही समान यही लिखा जाना चाहिए कि आत्मामें सर्वज्ञत्व

धर्म यथार्थमें है। सर्वज्ञता यथार्थ कैसे है और सर्वज्ञतामें आत्मज्ञता तथा आत्मज्ञतामें सर्वज्ञता कैसे अन्तर्निहित है इसका स्पष्टीकरण हम पिछले उत्तरोंमें विशेषरूपसे कर आये हैं।

अपर पक्षने लिखा है कि 'जब सर्वज्ञता शक्ति आत्माकी है तब उसका आत्मामें कथन करना आरोपित कैसे कहला सकता है? उस शक्तिका स्वरूप ही जब परको जानना है तब परकी अपेक्षा तो उसमें आवेगी ही। परको जाननेका नाम ही परज्ञता है।'

समाधान यह है कि सर्वज्ञत्व शक्ति आत्माकी है। उसे आरोपित न तो हमने लिखा ही है और न वह आरोपित है ही। उस शक्तिका स्वरूप केवल परको जाननेका न होकर सबको जाननेका है। यदि जिनदेव उसद्वारा केवल परको जानें तो उस शक्तिमें परज्ञता बने। किन्तु उसद्वारा वे सबको जानते हैं, इसलिए वह सर्वज्ञतारूप ही सिद्ध होती है।

अपर पक्षका कहना है कि यहाँपर हमारा प्रश्न सर्वज्ञत्वशक्तिकी अपेक्षासे नहीं है, क्योंकि वह तो निगोदिया जीवमें भी है। किन्तु सर्वज्ञतारूप उस परिणतिसे है, वह परिणति सर्व पर वस्तुके आश्रयसे ही मानी जा सकती है। अतएव पर (सर्व ज्ञेय) आश्रित होनेसे व्यवहारनयका विषय हो जाता है।' आदि।

समाधान यह है कि निगोदिया आदि सब जीवोंमें जो सर्वज्ञत्व शक्ति है उसकी परिणति ही तो सर्वज्ञता है। यह परिणति स्व-परप्रत्यय न होकर स्वप्रत्यय होती है, जो अपने परिणामस्वभावके कारण प्रत्येक समयमें त्रिकालवर्ती और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंको युगपत् जाननेमें समर्थ है। अतएव सर्व पर वस्तुके आश्रयसे इसे स्वीकार करना तो आगमविरुद्ध है ही। किसी भी ज्ञान परिणतिको ज्ञेयके आश्रयसे मानना आगमविरुद्ध है। परीक्षामुख अ० २ सू० ६ में कहा भी है—अर्थ और आलोक ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण नहीं हैं, क्योंकि वे परिच्छेद्य हैं। जैसे कि अन्धकार। अतएव हम जो यह भाव व्यक्त कर आये हैं कि 'आत्माको ज्ञायक कहनेसे उसमें ज्ञेयकी ध्वनि आ जाती है, इसलिए उसपर ज्ञेयकी विवक्षा लागू पड़ जाती है यही उपचार है' वह यथार्थ है। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि सर्वज्ञताका विषय स्व-पर ज्ञेयरूप समस्त द्रव्यजात है, केवल पर पदार्थ नहीं। अपर पक्ष यदि यह जानले कि जिसे निश्चय दृष्टिमें (स्वरूपरमणताकी दृष्टिमें) आत्मज्ञ कहा है उसे ही परसापेक्ष विवक्षामें सर्वज्ञ कहा है तो नियमसारकी उक्त गाथाका क्या तात्पर्य है यह हृदयंगम करनेमें आसानी जाय।

समयसारमें पर्यायार्थिकनयके विषयको गौणकर विवेचन किया गया है, क्योंकि वहाँ रागादिभावोंसे भिन्न आत्माकी प्रतीति कराना मुख्य है। इसलिए ही वहाँ गाथा ५६ में रागादिको व्यवहारनयसे जीवका बतलाया गया है, किन्तु जब रागादिरूप परिणमना यह जीवका ही अपराध है, कर्मका नहीं यह ज्ञान कराना मुख्य हुआ तब इसका ज्ञान करानेके लिए कर्ता-कर्म अधिकारमें निश्चयसे उनका कर्ता जीवको ही कहा गया है। गा० १०२। सर्वत्र विवक्षा देखनी चाहिए।

अतएव अपर पक्षने समयसार गाथा ५६ को ध्यानमें रखकर जो यह लिखा है कि 'आपके सिद्धान्तानुसार यदि विभाव परिणमनको इस शक्तिकी अपेक्षासे देखा जाय तो यह भी स्वाश्रित होनेसे निश्चयनयका विषय बन जायगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि समयसार गाथा ५६ में रागादि विभावको जीवके हैं ऐसा व्यवहारनयसे कहा है।' सो उस पक्षका ऐसा लिखना ठीक नहीं है।

३–६. तीसरे मुद्देमें पिछले कथनको ही दुहराया गया है। अपर पक्ष आत्मज्ञता और सर्वज्ञता ऐसे दो धर्म मानता है। किन्तु इस सम्बन्धमें विशद विवेचन पहले ही कर आये हैं, उससे स्पष्ट हो जायगा कि आत्मज्ञ

और सर्वज्ञके कथनमें विवक्षाभेद ही है, अन्य कोई भेद नहीं। अतएव प्रकृतमें आत्मज्ञ और सर्वज्ञ इन दोनोंका एक ही तात्पर्य है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

४. किसी भी वस्तुमें कोई भी धर्म परसापेक्ष नहीं होता। हाँ धर्म धर्मी आदिका व्यवहार अवश्य ही परस्परसापेक्ष होता है। यहाँ पर अपर पक्षने असद्भूत व्यवहारका लक्षण आलापपद्धतिसे दिया है। उसका आशय और उसी आलापपद्धतिके 'अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्य' इत्यादि कथनका आशय एक ही है। आगे समयसार गा० २७२ की आत्मख्याति टीकाके आधारसे निश्चयनय और व्यवहारनयका लक्षण दिया है। किन्तु प्रकृतमें इन सबके आधारसे चरचा करनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

अपर पक्षने जयधवला पु० १ पृ० २३ के आधारसे यह सिद्ध करना चाहा है कि 'केवलज्ञान आत्मा और पदार्थकी अपेक्षा रखता है।'

समाधान यह है कि ज्ञान ज्ञेयके कारण है या ज्ञेय ज्ञानके कारण है ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे अभेद विवक्षामें निश्चयनयसे और भेद विवक्षामें उपचरित सद्भूत व्यवहारनयसे जीव और ज्ञानमें परस्पर कार्य-कारण भाव बन जाता है वैसे अन्यत्र ज्ञेय और ज्ञानमें उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे भी कार्यकारणभाव नहीं बनता। इन दोनोंपर यदि कोई व्यवहार लागू पड़ता है तो ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार ही लागू पड़ता है, अतएव जयधवला पु० १ पृ० २३ के उक्त उद्धरणका यह अर्थ करना चाहिए कि केवलज्ञान आत्मसहाय होकर उत्पन्न होता है और परसहाय (परसापेक्ष) होकर उसमें ज्ञापक व्यवहार होता है। इसके सिवा इसका अन्य अर्थ फलित करना आगमानुकूल नहीं है। पर्यायार्थिकनयसे देखा जाय तो केवलज्ञान स्वकालमें स्वयं उत्पन्न होता है, वह अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। हाँ, आत्मा और केवलज्ञानमें धर्म-धर्मी व्यवहार अवश्य ही परस्पर सापेक्ष होता है। इस अपेक्षासे उक्त उद्धरणका यह अर्थ होगा कि केवलज्ञानमें धर्म व्यवहार आत्मसापेक्ष होता है। आचार्य संक्षेपमें वस्तुका निर्देश करते हैं। उसका आशय क्या यह नयविवक्षासे ही समझा जा सकता है।

अपर पक्षने लिखा है कि 'इस तरह चूँकि सर्वज्ञतामें पदार्थविषयताकी अपेक्षा है, अतः वह पराश्रित होनेसे व्यवहारनयसे है।' आदि।

समाधान यह है कि सर्वज्ञतामें पदार्थविषयताकी अपेक्षा नहीं होती। सर्वज्ञता और विषयभूत पदार्थोंमें ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहार अवश्य किया जाता है। प्रवचनसार गाथा २३ में 'णाणं णेयपमाणमुद्दिट्ठं' इस वचन-द्वारा प्रत्येक समयमें केवलज्ञान परिणाम किसरूप होता है इसका स्वरूपनिर्देश किया गया है। उस केवलज्ञान परिणामके होनेमें ज्ञेयकी अपेक्षा बनी रहती है यह नहीं कहा गया है। जैसे प्रत्येक समयमें ज्ञेय स्वयं है। वह केवलज्ञानके कारण वैसा नहीं है। उसी प्रकार प्रत्येक समयमें केवलज्ञानपरिणाम भी स्वयं है। वह ज्ञेयके कारण वैसा नहीं है। जब कि अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिक १। २९ के आधारसे केवलज्ञानमें अनन्तानन्त लोकालोकको जाननेकी शक्ति निश्चयनयसे स्वीकार करली है तो परिणामीसे केवलज्ञान परिणाम अभिन्न होनेके कारण जिस कालमें आत्मा जिसरूप परिणमता है वह तन्मय होकर ही परिणमता है इस नियमके अनुसार सर्वज्ञता आत्मामें निश्चयसे है अर्थात् उस कालमें वह उसका स्वरूप है ऐसा मान लेनेमें अपर पक्ष क्यों हिचकिचाता है। अपर पक्ष सर्वज्ञताको एक ओर तो स्वरूप भी मानता है और दूसरी ओर उसे व्यवहार-नयसे बतलाता है इसे क्या कहा जाय? हम तो इसे तत्त्वकी विडम्बना ही कह सकते हैं।

५. समयसार परिशिष्टमें ४८ तो नहीं ४७ शक्तियोंका निर्देश अवश्य है। उनमेंसे अपर पक्षने अकार्य-कारणत्व शक्ति और अकर्तृत्व शक्तिको परापेक्ष बतलाया है। इसी प्रकार सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्तियोंको

भी परापेक्ष लिखा है। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस शक्तिका जैसा परिणाम (स्वरूप) होता है उसका ही वहाँ निर्देश किया गया है। किसीकी सिद्धिमें परकी अपेक्षा लगाना अन्य बात है। यह व्यवहार है जो यथार्थका ज्ञान करा देता है। पर किसीका स्वरूप परापेक्ष नहीं हुआ करता इसका विशेष विचार पहले ही कर आये हैं।

समयसार गाथा ३५६ और ३६० आदिमें जो निश्चयनय और व्यवहारनयके कथनका निर्देश है उसका आशय इतना ही है कि आत्मा निश्चयसे ज्ञायक है। प्रत्येक समयमें उसमें जो लोकालोकको जानने-देखनेरूप परिणाम होता है वह स्वभावसे होता है, परकी अपेक्षा करके नहीं होता। जैसे भित्ती है, इसलिए सेटिका सफेदरूप परिणम रही है ऐसा नहीं है, किन्तु वह स्वभावसे ही प्रत्येक समयमें भित्तीकी अपेक्षा किये विना सफेदरूप परिणमती रहती है। उसी प्रकार समस्त ज्ञेय है, इसलिए लोकालोकको जानने-देखनेरूप ज्ञान-दर्शन परिणाम होता है ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा प्रत्येक समयमें समस्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा किये विना स्वभावसे ही सकल ज्ञेयोंको जानने-देखनेरूप परिणमता है। यह निश्चयनयका वक्तव्य है। फिर भी ज्ञाप्य-ज्ञापक व्यवहारको ध्यानमें रखकर परसापेक्ष कथन किया जाता है। इसलिए व्यवहारनयसे सर्वज्ञता है ऐसा एकान्त न करके आत्मज्ञता और सर्वज्ञता ये कथनके दो पहलू हैं ऐसा समझना चाहिए। समयसारकी उक्त गाथाओंका तथा उसकी टीकाका यही आशय है।

जो घटादिको जाननेरूप स्वयं ज्ञानपरिणाम हुआ उसीको आचार्य अमृतचन्द्रने घटादिको व्यवहारसे जानना कहा है। वह घटादिको जाननेरूप ज्ञानपरिणाम स्वभावसे हुआ है, घटादिके कारण नहीं हुआ है। फिर भी ज्ञाप्य-ज्ञापकव्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, इसीको व्यवहारसे घटादिका जानना कहते हैं।

व्यवहारनय और उसका विषय क्या है इसका भेदों सहित निर्देश आलापपद्धति और नयचक्रादिसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें सुस्पष्ट किया है, उससे आगममें उसे किस रूपमें स्वीकार किया गया है और निश्चयनयसे उसमें क्या भेद है यह स्पष्ट हो जायगा।

६. अपर पक्षने परमात्मप्रकाश टीकाका जो आशय लिया है उस सम्बन्धमें इतना लिखना ही पर्याप्त है कि सर्वज्ञता केवलज्ञानका परनिरपेक्ष स्वरूप है वह ज्ञेयोंसे नहीं आई है। अतएव हमारे 'केवली जिन जिस-प्रकार अपने आत्माको तन्मय होकर जानते हैं उस प्रकार पर द्रव्यको तन्मय होकर नहीं जानते।' इस वाक्यका यह अर्थ हुआ कि केवलीका तन्मय होकर जो ज्ञानपरिणाम हुआ उसमें स्व-परका जानना आगया। अतएव सर्वज्ञताको यदि हम आत्मज्ञतासे भिन्न नहीं कहते तो यथार्थ ही कहते हैं। अपर पक्ष एक ज्ञानपरि-णामको दो कहता है। एक ज्ञानपरिणामको आत्मज्ञ कहकर उसे निश्चयनयका विषय बतलाता है, और दूसरेको सर्वज्ञ कहकर उसे व्यवहारनयका विषय बतलाता है इसका हमें आश्चर्य है, क्योंकि वे दो नहीं हैं, विवक्षाभेदसे कथन दो हैं इसे अपर पक्ष स्वीकार ही नहीं करना चाहता और व्यवहारनयके विषयको परमार्थ सिद्ध करनेके फेरमें पड़कर सर्वज्ञताको ही एकान्तसे व्यवहारनयका विषय बना देना चाहता है। किन्तु किसी भी वस्तुमें कोई भी धर्म परसापेक्ष नहीं होता। अतएव परमात्मप्रकाशकी टीकाके आधारसे हम जो कुछ लिख आये हैं वह यथार्थ लिख आये हैं। उसमें ज्ञानस्वरूपका निर्देश करनेके साथ ज्ञानपरिणाम परसे न उत्पन्न होकर भी उसमें परके जाननेरूप व्यवहार कैसे होता है यह स्पष्ट किया गया है।

७. अपर पक्षने सामायिकपाठ और प्रवचनसार गाथा २०० की टीकाके आधारसे हमारे कथनका 'सम्भवतः' पद लिखकर जो आशय फलित करना चाहा है वह फलित न किया जाता तो ठीक होता, क्योंकि

ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमता है ऐसा जब हम मानते ही नहीं तब सम्भावनामें उसकी चरचा करना ही व्यर्थ है। फिर भी ज्ञान परिणामको समझानेके लिए ज्ञानको साकार कहा ही जाता है—साकारं ज्ञानम्। किन्तु समझदार उसका वही आशय लेता है जो अभिप्रेत होता है। इसका कोई भी समझदार यह आशय नहीं लेता कि ज्ञेयको जानते समय ज्ञान घटाकार हो जाता है। तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय ज्ञान होता है यह सिद्धान्त बौद्धोंका है, जैनोंका नहीं। जब अपर पक्ष सर्वज्ञताको परसापेक्ष यथार्थ मानता है तब अवश्य ही यह शंका होती है कि क्या यह पक्ष ज्ञेयोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानना चाहता है जिसका कि आचार्योंने दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोंमें दृढ़तासे खण्डन किया है।

अपर पक्षने पदार्थके तीन भेदोंमेंसे 'घट' शब्द और 'घटज्ञान' इन दोनोंको पराश्रित माना है जो ठीक नहीं, क्योंकि घट शब्दरूप परिणत शब्दवर्गणाएँ घट शब्दरूप स्वरूपसे हैं, घट पदार्थके कारण नहीं। इन दोनोंमें वाच्य-वाचक व्यवहार अवश्य ही परस्पर सापेक्ष होता है। इसी प्रकार ज्ञानका घटज्ञानरूप परिणाम स्वतःसिद्ध है, घटपदार्थके कारण ज्ञानका वैसा परिणाम नहीं हुआ है। हाँ, घटज्ञान और घटमें ज्ञाप्य-ज्ञापकव्यवहार अवश्य ही परस्पर सापेक्ष है। अपर पक्षका कहना है कि····'घटशब्द या घटज्ञानमें जलधारण नहीं हो सकता।······अतः शब्द व ज्ञानको पदार्थ व्यवहारसे कहा गया है।' समाधान यह है कि घट शब्द और घटज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं? यदि अपर पक्ष कहे कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है तो फिर उन्हें आकाशकुसुमके समान असत्स्वरूप ही मानना पड़ेगा। अपर पक्ष उन्हें आकाशकुसुमके समान असत्स्वरूप तो मानेगा ही नहीं, इसलिए वह कहेगा कि उनकी ऐसे ही स्वतन्त्र सत्ता है जैसे घट पदार्थकी तो फिर उन्हें घटपदार्थके समान परमार्थस्वरूप मान लेनेमें अपर पक्षको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि वे घटपदार्थका कार्य नहीं कर सकते तो न कर सकें, उनका जो भी कार्य है उसे तो वे करते ही हैं। इसलिए वे घटपदार्थके समान परमार्थस्वरूप ही हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अन्यथा घटपदार्थको भी घटशब्द और घटज्ञानका कार्य न कर सकनेके कारण व्यवहारसे पदार्थ स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार कोई भी पदार्थ परमार्थस्वरूप नहीं सिद्ध होगा। किन्तु यह ठीक नहीं, इसलिए लोकमें जितने भी पदार्थ हैं वे सभीके सभी स्वरूपसे परमार्थस्वरूप हैं ऐसा समझना चाहिए।

८. हमने जो यह लिखा है कि 'स्वरूपसे सर्वज्ञता घटित हो जाने पर जिस समय समस्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है तब उनमें यह सर्वज्ञता परकी अपेक्षा आरोपित की जानेके कारण उपचरित सद्भूतव्यवहारसे सर्वज्ञता कहलाती है।' इसका आशय यह है कि वे स्वरूपसे सर्वज्ञ हैं, क्योंकि सकल पदार्थ साक्षात्करणरूपसे परिणमना यह केवलीका स्वरूप है। किन्तु व्यवहार पराश्रित होता है, इस वचनके अनुसार जब इस सर्वज्ञताको ज्ञेयोंकी अपेक्षा कहा जाता है तब वह कथन व्यवहार हो जाता है! केवलीका जो स्वरूप है वह परकी अपेक्षा कहा गया यही कथन व्यवहार है, सर्वज्ञता स्वयं व्यवहार नहीं है। परकी अपेक्षा लगाकर कथन करना व्यवहार है। ज्ञेय स्वरूपसे ज्ञेय हैं, ज्ञायक स्वरूपसे ज्ञायक हैं। मात्र इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है, इसलिए ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध व्यवहारसे कहा गया है। परमार्थसे इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है। अपर पक्षने समयसार गाथा ३६१ की टीकाका जो उद्धरण दिया है उसीसे व्यवहार क्या है यह स्पष्ट हो जाता है। अपर पक्ष सर्वज्ञताको ही व्यवहारनयसे कहना चाहता है जो केवली जिनका स्वरूप है और यथार्थ है। जब कि परकी अपेक्षा लगा कर उसका कथन करना यह व्यवहार है। उक्त टीकामें यही भाव व्यक्त किया गया है। अपर पक्षने जो आलापपद्धतिका उद्धरण दिया है उसमें परज्ञता और परदर्शिताको स्वाभाविक उपचरित बतलाया है। इसका अर्थ यही हुआ कि सर्वज्ञता और सर्व-

दर्शिता सिद्धोंका स्वभाव है, किन्तु जब उसे परकी अपेक्षा लगाकर कहा जाता है तब वह व्यवहार हो जाता है।

आत्मज्ञता और परज्ञता दो धर्म नहीं, विवक्षाभेदसे दो कथन हैं। स्वकी अपेक्षा जो आत्मज्ञता कहलाती है उसे ही परकी अपेक्षा परज्ञता कहते हैं। ऐसा निर्णय करने पर ही एकान्तका परिहार हो सकता है। अन्यथा आलापपद्धतिमें जिस एकान्तका निर्देश किया है उस दोषसे वह पक्ष अपनेको बचा नहीं सकता। हमें विश्वास है कि इतने स्पष्टीकरणके बाद अपर पक्ष अपने इस कथनको लौटा लेगा कि 'उस क्षायिक ज्ञानमें निश्चयनयसे आत्मज्ञ नामका धर्म है और व्यवहार नयसे सर्वज्ञनामका धर्म है। इस प्रकार सर्वज्ञ नामका धर्म अवश्य है किन्तु वह परसापेक्ष है।' आदि। यदि वह पक्ष इस कथनको लौटा ले और यह स्वीकार कर ले कि जिसे स्वकी अपेक्षा आत्मज्ञ कहते हैं वही परकी अपेक्षा परज्ञ कहलाता है तो निश्चय-व्यवहारनयके कथनकी सुसंगति बैठ जाय और एकान्तका परिहार होकर केवली जिनमें सर्वज्ञता यथार्थ सिद्ध हो जाय।

अपर पक्षने यहाँ प्रवचनसार गाथा ३२ तथा ३८ और नयचक्रादिसंग्रह पृ० ११९ के जो उद्धरण दिये हैं वे सब परसापेक्ष कथनको ही व्यवहार नयका विषय सिद्ध कर रहे हैं, सर्वज्ञता व्यवहारनयसे है यह नहीं बतला रहे हैं।

यहाँ पर अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'स्वमें परका और परमें स्वका अत्यन्ताभाव है।' इसे पढ़कर हमें प्रसन्नता हुई। यह अकाट्य नियम है जो ज्ञेय-ज्ञायकभाव और कार्य-कारणभाव सबपर लागू होता है। इसका आशय यह है कि ज्ञेय ज्ञानको उत्पन्न करता नहीं, फिर भी ज्ञेयकी अपेक्षा किये विना ज्ञानका ऐसा परिणाम होता है जिसमें ज्ञेय ज्ञात हो जाते हैं। इसी प्रकार कुम्भकार मिट्टीमें कुछ भी व्यापार करता नहीं, फिर भी कुम्भकारके व्यापारकी अपेक्षा किये विना मिट्टी स्वयं ऐसा परिणाम करती है कि घट बन जाता है। जिसने इस निश्चय पक्षको ठीक तरहसे समझा है वही एकका दूसरेमें अत्यन्ताभावको समझ सकता है और तभी व्यवहार पक्ष क्या है यह भी ध्यानमें आता है।

१०. हमने लिखा था कि 'ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयोंके कारण हुआ है तब वह व्यवहार कहलाता है, क्योंकि ऐसे कथनमें वस्तुकी स्वभावभूत योग्यताको गौणकर उसका पराश्रित कथन किया गया है।'

इस वचनमें यद्यपि टीका लायक कोई बात तो नहीं है। फिर भी अपर पक्षने सर्व प्रथम 'ज्ञेयाकार परिणमन' इस पदको अपनी शंकाका विषय बनाया है। जब कि अपर पक्ष यह जानता है कि आगममें ज्ञेयको जाननेके अर्थमें ऐसा प्रयोग होता है। यथा—अथवा चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ—ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ६। एवमात्माऽर्थाश्चान्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः। प्रवचनसार गा० २८ सूरकृति टीका।

इतनेपर भी जब कि इसकी चरचा नं० ७ में की जा चुकी थी तो पुनः इस चरचाको उठाना कहाँ तक उपयुक्त है इसका वह स्वयं विचार करे।

हमने लिखा है कि 'ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन ज्ञेयोंके कारण हुआ है तब वह व्यवहार कथन है।' आदि। सो यह उचित ही लिखा है, क्योंकि ज्ञेयोंके कारण आत्माज्ञेयोंको जानता है ऐसी जो धारणा बनी हुई है उसका परिहार करना इसका मुख्य प्रयोजन है। ज्ञानमें सब ज्ञात होते हैं यह व्यवहार नहीं है, यह तो ज्ञानपरिणामका स्वरूपाख्यान है। जबतक इसमें परकी अपेक्षा नहीं लगाई जायगी तबतक इसे व्यवहार कथन मानना उचित नहीं है। भगवान् सबको जानते हैं, इसलिए उन्हें सर्वगत कहना एक तो यह व्यवहार है और

दूसरे ज्ञानमें सर्व पदार्थ ज्ञात होते हैं, इसलिए सकल ज्ञेयोंको तद्गत कहना एक यह व्यवहार है। व्यवहार पराश्रित होता है, इसलिए जबतक पराश्रितपना नहीं दिखलाया जायगा तबतक कोई भी कथन व्यवहार कथन नहीं बनेगा। स्पष्ट है कि सर्वज्ञता केवलज्ञानीका स्वरूप है वह पराश्रित नहीं वर्तता, अतएव वह आत्मज्ञतारूप ही है, क्योंकि केवलीका प्रत्येक समयमें जो ज्ञानपरिणाम होता है वह अपनेमें अपने द्वारा ही होता है। परन्तु जब उसे अन्य ज्ञेय सापेक्ष कहा जाता है तब उसका आशय होता है—केवली जिन व्यवहारनयसे सबको जानते देखते हैं।

इस पूरी प्रतिशंकाको पढ़नेसे हम तो केवल यह आशय समझे हैं कि जैसे बने वैसे व्यवहारनयको परमार्थरूप सिद्ध किया जाय। तभी तो अपर पक्षने क्षायिक ज्ञानमें आत्मज्ञ और सर्वज्ञ नामके दो धर्म स्वीकार किये और सर्वज्ञ धर्मका अस्तित्व परसापेक्ष बतलाकर सर्वज्ञताको व्यवहारनयका विषय बतलाया। ये दो धर्म क्षायिक ज्ञानमें हैं और उनमेंसे सर्वज्ञ नामका धर्म व्यवहारनयसे है इसे सिद्ध करनेके लिए उन्हें आगमप्रमाण देनेकी भी आवश्यकता नहीं ज्ञात हुई। यदि कोई पूछे कि अपर पक्षने ऐसा क्यों किया तो उसका उत्तर है कि जैसे बने वैसे व्यवहारनयको परमार्थरूप सिद्ध किया जाय। किन्तु व्यवहारनयका कोई विषय ही नहीं है, वह केवल कल्पनामात्र है ऐसा तो हमारी ओरसे कहा ही नहीं गया और न ऐसा है ही। ऐसी अवस्थामें उसकी पुष्टिमें पुनः पुनः 'ण च ववहारणओ चप्पलओ' आदि प्रमाणोंको देनेकी अपर पक्षको आवश्यकता ही क्यों हुई इसका निर्णय वह स्वयं करे।

इस प्रकार प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि प्रत्येक आत्मामें जो सर्वज्ञत्व नामकी शक्ति है उसकी अपेक्षा केवलीमें सर्वज्ञता स्वाश्रित है और स्वाश्रितपनेकी अपेक्षा इसीको आत्मज्ञता कहते हैं। इसलिए केवली जिन निश्चयनयसे आत्मज्ञ हैं यह सिद्ध होता है और जब इसीका परसापेक्ष कथन किया जाता है तब 'पराश्रितो व्यवहारः' इस नियमके अनुसार यह सिद्ध होता है कि केवली जिन व्यवहारनयसे सबको जानते-देखते हैं।

●

प्रथम दौर

: १ :

शंका ८

दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीआत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं। यदि है तो कौन सम्बन्ध है ? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवानकी आत्माके सम्बन्धसे ?

समाधान १

उत्तर—दिव्यध्वनिके स्वरूपका निर्णय करते समय सर्व प्रथम विचारणीय यह है कि उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए प्रवचनसारमें कहा है—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥४४॥

अर्थ—उन अरिहन्त भगवन्तोंके उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश स्त्रियोंके मायाचारके समान स्वाभाविक ही होता है ॥४४॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनावगुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्विका एव दृश्यन्ते, अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति ॥४४॥

अर्थ—जैसे स्त्रियोंके प्रयत्नके विना भी उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे स्वभावभूत ही मायाके ढक्कनसे ढका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है उसी प्रकार केवली भगवानके विना ही प्रयत्नके उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मदेशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं और यह बादलके दृष्टान्तसे अविरुद्ध है। जैसे बादलके आकाररूपसे परिणत हुए पुद्गलोंका गमन स्थिरता गर्जन और जलवृष्टि पुरुष प्रयत्नके विना भी देखी जाती हैं उसी प्रकार केवली भगवानका खड़े रहना आदि अबुद्धिपूर्वक ही देखा जाता है। इसलिये यह स्थानादिक मोहोदयपूर्वक न होनेसे क्रियाविशेष होनेपर भी केवली भगवानके क्रियाफलभूत बन्धके साधन नहीं होते ॥४४॥

तात्पर्य यह है कि केवली जिनके मोहका अभाव होनेके कारण इच्छाका अभाव है और इच्छाका अभाव होनेसे बुद्धिपूर्वक प्रयत्नका भी अभाव है। फिर भी चार अघाति कर्मोंके उदयका सद्भाव होनेसे उनके स्थान,

आसन और विहाररूप काययोगसम्बन्धी क्रियाएँ तथा निश्चय-व्यवहारके धर्मोपदेशको लिए हुए दिव्यध्वनि-रूप वचनयोगसम्बन्धी क्रिया सहज ही होती है। अतएव दिव्यध्वनिका तीर्थंकर प्रकृति आदिके उदयके साथ असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुख्यतासे वहाँ पर स्वीकार किया गया है। कारण कि तीर्थंकर प्रकृति आदिका उदय स्वतन्त्र द्रव्यकी अवस्था है और दिव्यध्वनि स्वतन्त्र द्रव्यकी अवस्था है। और दो या दो से अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें जो सम्बन्ध होता है वह असद्भूत ही होता है।

अब रही दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकताकी बात सो व्यवहार निश्चयमोक्षमार्ग छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नौ पदार्थ और सात तत्त्व आदिके यथार्थ निरूपणकी उसकी सहज योग्यता होनेसे उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है। परन्तु व्यवहार नयकी अपेक्षा विचार करने पर वह पराश्रित कही जाती है। उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र समयसार गाथा ४१५ की टीकामें कहते हैं—

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदम्।

तात्पर्य यह है कि यह शास्त्र विश्वका प्रकाशक होनेसे विश्व समयस्वरूप समयसारभूत भगवान् आत्माका प्रतिपादन करता है, इसलिये जो स्वयं शब्दब्रह्मके समान है।

इसी तथ्यको वे पुनः इन शब्दोंमें स्वीकार करते हैं—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥२७८॥

अर्थ—जिसने अपनी शक्तिसे वस्तुतत्त्वको भली भाँति कहा है ऐसे शब्दोंने इस समयकी व्याख्या की है, स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र सूरिका कुछ भी कर्तव्य नहीं है ॥२७८॥

●

द्वितीय दौर

: २ :

शंका ८

प्रश्न यह था—दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवली आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो कौन सम्बन्ध है? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्‌की आत्माके सम्बन्धसे?

प्रतिशंका २

उक्त प्रश्नके निम्नलिखित खण्ड हैं—

(१) दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवली आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं?

(२) दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवली आत्माके साथ कौन सम्बन्ध है ?
(३) दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीके साथ सम्बन्ध सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?
(४) दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ?
(५) दिव्यध्वनि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्‌की आत्माके सम्बन्धसे ?

इनमें खण्ड नं० १, २ और ३ का आपने उत्तर नहीं दिया। अन्य खण्डोंका उत्तर देते हुए यद्यपि आपने दिव्यध्वनिको प्रमाण माना है लेकिन उसे स्वाश्रित प्रमाण माना है। यह संभव नहीं है, क्योंकि शब्द जड़ पुद्‌गलकी पर्याय होनेसे न तो प्रमाणरूप हो सकते हैं और न अप्रमाणरूप ही। शब्दोंकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता वक्ताके ही आश्रित हुआ करती हैं। जैसा कि धवल पुस्तक १ पृष्ठ ७२ पर कहा गया है—

वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्।

अर्थ—वचनोंकी प्रमाणता वक्ताकी प्रमाणतासे होती है।

समन्तभद्र स्वामीने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें शास्त्रका लक्षण करते समय उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिये सर्वप्रथम उसे 'आप्तोपज्ञ' होना बतलाया है। इसी प्रकार आचार्य माणिक्यनन्दीने भी आगमका लक्षण करते समय उसे 'आप्तवचनादिनिबन्धन' होना प्रकट किया है।

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ ९॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

—परीक्षामुख अ० २, सू० ९४

समन्तभद्रस्वामीने देवागमस्तोत्रकी ७८वीं कारिकामें आगमसाधित वस्तुका लक्षण लिखते हुए उसके वक्ताको आप्त होना आवश्यक माना है। कारिका इस प्रकार है—

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितम्॥७८॥

अर्थ—वक्ताके अनाप्त होने पर जो वस्तु हेतुसे साध्य है वह हेतुसाधित है और वक्ताके आप्त होने पर उसके वचनसे जो साध्य है वह आगमसाधित है।

इसी देवागमस्तोत्रकी ६वीं कारिकामें भगवान् महावीरकी निर्दोषता प्रमाणित करनेके लिये समन्तभद्र स्वामीने युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी वक्तृत्वको हेतुरूपसे उपस्थित किया है। कारिका यह है—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥६॥

अर्थ—हे भगवन्! आप निर्दोष हैं, क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी हैं। आपके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी इसलिये हैं कि आपका शासन प्रमाणसे बाधित नहीं है।

आपने निमित्त कारणकी उपेक्षाकर दिव्यध्वनिको मात्र स्वभावसिद्ध सूचित किया है वह विचारणीय

है, क्योंकि आगममें उसे केवलीका कार्य स्वीकृत किया है। इसके लिए धवल पुस्तक १ पृष्ठ ३६८ पर वीरसेनाचार्यके निम्नाङ्कित वचन द्रष्टव्य हैं—

तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वम् ? इति चेत् न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्।

अर्थ—यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब केवलीके मनका अभाव है तब उसके कार्यरूप वचनका सद्भाव कैसे माना जा सकता है ? यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि वचन ज्ञानका कार्य है।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें श्री स्वामी समन्तभद्रने भी यही बात कही है—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ॥ ८ ॥ (पूर्वार्ध)

अर्थ—केवलज्ञानी आप्त वीतराग होता हुआ भी आत्मप्रयोजनके विना भव्यप्राणियोंके हितका उपदेश देता है।

इस कथनसे यह अभिप्राय निकलता है कि दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता वस्तुतः केवलज्ञान अथवा केवलज्ञानीके आश्रित है, स्वाश्रित नहीं।

आपने वचनवर्गणाकी स्वाश्रित प्रमाणता सिद्ध करनेके लिये जो समयसारकी अन्तिम ४१५ गाथाकी श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत टीकाके वाक्यांश तथा अन्तिम कलश पद्यको उपस्थित किया है उससे वचनवर्गणाकी स्वाश्रित प्रमाणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि एक तो उपर्युक्त प्रमाणोंके अनुसार जैनागममें वचनकी स्वाश्रित प्रमाणता नहीं स्वीकृत की गई है। दूसरी बात यह है कि अन्तिम कलशसे श्री अमृतचन्द्रसूरिने समयसारकी टीका समाप्त करते हुए अपनी लघुता प्रकट की है व अपनी टीकामें समयसारका माहात्म्य प्रकट किया है, सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं किया है ? श्री अमृतचन्द्रसूरिने स्वरचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय तथा तत्त्वार्थसार आदिमें भी इसी पद्धतिको अपनाया है।

आपने जो तीर्थंकर प्रकृतिके उदय और दिव्यध्वनिका असद्भूतव्यवहार नयसे निमित्त-नैमित्तिकसम्वन्ध प्रतिपादित किया है वह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दिव्यध्वनि सामान्य केवलीको भी खिरती है तथा हमारा प्रश्न भी सामान्य रूपसे केवलज्ञान व केवलज्ञानी आत्माके साथ दिव्यध्वनिके सम्बन्धविषयक है।

आपने धर्मदेशना (दिव्यध्वनि)को प्रवचनसार गाथा ४४ के आधारपर जो केवलीका स्वभावभूत प्रवर्तन वतलाया है वह दिव्यध्वनिकी स्वाश्रित प्रमाणताका विघातक है, क्योंकि उस गाथा तथा उसकी अमृतचन्द्रसूरिकृत टीकासे दिव्यध्वनि केवली भगवान्की ही क्रिया सिद्ध होती है। इस गाथामें स्वभावभूतका अर्थ विना इच्छासे है। इस वातकी पुष्टि श्री समन्तभद्राचार्य विरचित स्वयंभूस्तोत्रके निम्न लिखित पद्यसे भी होती है—

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ॥ ७५ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ विना इच्छाके ही हुआ करती हैं।

इस तरह आपका कथन प्रमाणसंगत नहीं कहा जा सकता है।

अन्तमें हमारा निवेदन है कि आप हमारे उल्लिखित प्रश्नके तीन खण्डोंका उत्तर अवश्य देंगे।

'दो या दो से अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें जो सम्बन्ध है वह असद्भूत ही होता है' यह आपने लिखा है, इसमें असद्भूत पदसे आपका आशय क्या झूठसे है या अन्य किसी अर्थ से ? इसका भी अवश्य स्पष्टीकरण करेंगे।

❀

शंका ८

मूल प्रश्न—दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीकी आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो कौन सम्बन्ध है ? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्‌की आत्माके सम्बन्धसे ?

प्रतिशंका २ का समाधान

इसके उत्तरस्वरूप आचार्यवर्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रसूरिके आगमप्रमाण देकर मीमांसा की गई थी। साथ ही उस आधारसे यह बतलाया गया था कि उनकी दिव्यध्वनि स्वाभाविक होती है। प्रवचनसारकी ४४ नं० की गाथामें 'णियदओ' शब्द आया है, उसका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रने 'स्वाभाविक' किया है। आचार्य कुन्दकुन्दने तो स्त्रियोंकी मायाके समान उसे स्वाभाविकी बतलाया है। साथ ही अमृतचन्द्रसूरिने अपनी टीकामें मेघका दृष्टान्त देकर यहाँ 'स्वाभाविक' पदका क्या अर्थ है यह और भी स्पष्ट कर दिया है। लोकमें पुरुष प्रयत्नके विना अन्य जितने कार्य होते हैं उनको जिनागममें 'विस्रसा' कार्य स्वीकार किया गया है।—देखो समयसार गाथा ४०६, सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० २४।

यह तो सुविदित सत्य है कि केवली भगवान्‌के राग द्वेष और मोहका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण परम वीतराग निश्चयचारित्र प्रगट हुआ है। इसलिये इच्छाके अभावमें प्रयत्नके विना ही उनके धर्मोपदेश आदिकी क्रिया होती है। इतना स्पष्टीकरण करनेके बाद भी इस सम्बन्धमें मूल प्रश्नके खण्ड पाड़कर पुनः विशेष जाननेकी जिज्ञासा की गई है। प्रतिशंकाके अनुसार उक्त प्रश्नके विभाग इस प्रकार हैं—

१. दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवली आत्माके साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं ?

२. दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवली आत्माके साथ कौन सम्बन्ध है ?

३. दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीके साथ सम्बन्ध सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?

४. दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ?

५. दिव्यध्वनि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्‌की आत्माके सम्बन्धसे ?

यहाँ इन शंकाओंका समाधान करनेके पूर्व प्रकृतमें उपयोगी कतिपय आवश्यक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(अ) आत्मा व्याप्य-व्यापक भावसे तन्मयताका प्रसंग आनेके कारण पर द्रव्योंकी पर्यायोंका कर्ता नहीं है।

(आ) सामान्य आत्मा निमित्त-नैमित्तिकभावसे परद्रव्योंकी पर्यायोंका कर्ता नहीं है। अन्यथा नित्य निमित्तकर्तृत्वका प्रसंग आता है।

(इ) अज्ञानी जीवके योग और उपयोग (रागभाव) पर द्रव्योंकी पर्यायोंके निमित्तकर्ता हैं।

(ई) आत्मा अज्ञानभावसे योग और उपयोगका कर्ता है। तथापि पर द्रव्योंकी पर्यायोंका कर्ता कदाचित् भी नहीं है।

(उ) आत्मा ज्ञानभावसे परद्रव्योंकी पर्यायोंका निमित्तकर्ता भी नहीं है।

ये मूल सिद्धान्त हैं जिनका श्री समयसारजीकी ९९ और १०० नं० की गाथा और उनकी टीकामें स्पष्टीकरण किया है। इसलिये प्रतिशंकारूपसे उपस्थित किये गये पूर्वोक्त प्रश्नोंपर विचार करते समय इन सिद्धान्तोंको ध्यानमें लेनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। साथ ही यह नियम भी है कि अरिहन्त जिनकी दिव्यध्वनि के समय ओष्ठ, तालु आदिका व्यापार भी नहीं होता। कहा भी है—

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठोदयं
नो वांछाकलितं न दोषमलिनं नोच्छ्वासरुद्धक्रमम्।
शान्त्यमर्षं विमैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः
तन्नः सर्वविदो विनष्टविपदः पायादपूर्वं वचः॥

इस श्लोकमें आये हुये 'न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठोदयं' ये दोनों पद ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि दिव्यध्वनि अ, आ आदि स्वरवर्णों तथा क, ख आदि व्यंजनवर्णोंसे रहित होती है और दिव्यध्वनिके समय ओठ आदिका व्यापार भी नहीं होता। इसके साथ एक बात और है और वह यह कि उनकी औदयिकी क्रियाको प्रवचनसारजीमें क्षायिकी बतलाया है। स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचनसार गाथा ४५ में कहा है—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा॥४५॥

अरहन्त भगवान पुण्यफलवाले है और उनकी क्रिया औदयिकी है, मोहादिसे रहित है, इसलिये वह क्षायिकी मानी गई है॥४५॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति। क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतिया किलौदयिक्येव। अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्धाभिषिक्त-स्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरंजकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासा-दयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायि-क्येव कथं हि नाम नानुमन्येत। अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय॥४५॥

अर्थ—अरहन्त भगवान् जिनके वास्तवमें पुण्यरूपी कल्पवृक्षके समस्त फल भलीभांति परिपक्व हुए हैं ऐसे ही हैं और उनकी जो भी क्रिया है वह सब उस (पुण्य) के उदयके प्रभावसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिकी ही है। किन्तु ऐसी होने पर भी वह सदा औदयिकी क्रिया महामोह राजाकी समस्त सेनाके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होती है, इसलिये मोह, राग, द्वेषरूपी उपरंजकोंका अभाव होनेसे चैतन्यके विकारका कारण नहीं होती, इसलिये कार्यभूत बन्धकी अकारभूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिये? (अवश्य माननी चाहिये।) और जब क्षायिकी ही माने तब कर्मविपाक (कर्मोदय) भी उनके (अरहन्तोंके) स्वभाव विघातका कारण नहीं होता। (यह निश्चित होता है)॥४५॥

इस प्रकार इन प्रमाणोंके प्रकाशमें ज्ञानीके ज्ञान-भावकी दृष्टिसे विचार करनेपर विदित होता है कि ज्ञानी मात्र ज्ञानभावका कर्त्ता है, वह परभावका निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। श्री समयसारकलशमें कहा है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावाः भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते॥६७॥

अर्थ—ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानसे रचित होते हैं और अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानसे रचित होते हैं ॥६७॥

स्पष्ट है कि अरिहन्त भट्टारक केवली जिनके केवलज्ञानकी दृष्टिसे विचार करने पर तो यही विदित होता है कि केवलज्ञानमें जिस प्रकार अन्य अनन्त पदार्थ ज्ञेयरूपसे प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार दिव्य-ध्वनिरूपसे परिणत होनेवाली भाषावर्गणाऐं भी प्रतिबिम्बित होती हैं। इसलिये केवलज्ञानकी दिव्यध्वनिके प्रवर्तनमें वही स्थिति रहती है जो अन्य पदार्थोंके परिणमनमें रहती है अर्थात् केवलीका उपयोग दिव्यध्वनिके प्रवर्तनके लिये उपयुक्त होता हो ऐसा नहीं है। इसी प्रकार दिव्यध्वनिके लिये शरीरकी क्रिया द्वारा वाचनिक प्रवृत्ति होना भी सम्भव नहीं है। फिर भी दिव्यध्वनिका प्रवर्तन तो होता ही है और अरिहन्त भट्टारकके तीर्थंकरप्रकृतिके उदयके साथ चार अघाति कर्मोंका उदय तथा योगप्रवृत्ति भी पाई जाती है। अतः इस दृष्टि-से विचार करने पर यही निर्णीत होता है कि—

(१-२) केवली जिनके साथ दिव्यध्वनिका योग अपेक्षासे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ऐसा प्रवचनसार गाथा ४५ की टीकामें लिखा है।

(३) केवली और दिव्यध्वनि भिन्न-भिन्न चेतन और जड़ द्रव्य हैं, इसलिये उनका जो व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध दिखलाया गया है वह उपचरित सत्य है।

(४) केवलीके सत्य और अनुभय ये दो वचनयोग होते हैं इसी प्रकार दिव्यध्वनि भी सत्य और अनु-भयरूप होती है, क्योंकि उसके द्वारा सत्यार्थ और अनुभयरूप अर्थका प्रकाशन होता है।

(५) दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता और स्वाश्रितताको ठीक तरहसे जाननेके लिये जयधवला पुस्तक १का यह प्रमाण पर्याप्त है। वहाँ कहा है—

शब्दो अर्थस्य निःसम्बन्धस्य कथं वाचक इति चेत्? प्रमाणमर्थस्य निःसम्बन्धस्य कथं ग्राहकमिति समानमेतत्। प्रमाणार्थयोर्जन्य-जनकलक्षणः प्रतिबन्धोऽस्तीति चेत् न, वस्तुसामर्थ्यस्यन्यतः समुत्पत्ति-विरोधात्।

अत्रोपयोगी श्लोकः—

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रमाणमिति गृह्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥९२॥

प्रमाणार्थयोः स्वभावत एव ग्राह्यग्राहकभावश्चेत्, तर्हि शब्दार्थयोः स्वभावत एव वाच्यवाचक-भावः किमिति नेष्यते, अविशेषात्? यदि स्वभावतो वाच्यवाचकभावः किमिति पुरुषव्यापारमपेक्षते चेत्? प्रमाणेन स्वभावतोऽर्थसम्बन्धेन किमितीन्द्रियमालोको वा अपेक्ष्यत इतिसमानमेतत्। शब्दार्थसम्बन्धः कृत्रिमत्वाद्वा पुरुषव्यापारमपेक्षते।

—जयधवला पु० १, पृ० २३९।

शंका—शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो वह अर्थका वाचक कैसे हो सकता है?

समाधान—प्रमाणका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो वह अर्थका ग्राहक कैसे हो सकता है यह भी समान है। अर्थात् प्रमाण और अर्थका कोई सम्बन्ध न होने पर भी जैसे वह अर्थका ग्रहण कर लेता है वैसे ही शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध न रहनेपर भी शब्द अर्थका वाचक हो जाय, इसमें क्या आपत्ति है।

शंका—प्रमाण और अर्थमें जन्य-जनकलक्षण सम्बन्ध पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्तुकी शक्तिकी अन्यसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। यहाँ इस विषयमें उपयोगी श्लोक देते हैं—

सब प्रमाणोंमें स्वतः प्रमाणता स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि जो शक्ति पदार्थमें स्वतः विद्यमान नहीं है वह अन्यके द्वारा नहीं की जा सकती है ॥९२॥

यदि प्रमाण और अर्थमें स्वभावसे ही ग्राह्यग्राहकभावसम्बन्ध स्वीकार किया जाता है तो शब्द और अर्थमें स्वभावसे ही वाच्य-वाचकभावसम्बन्ध क्यों नहीं मान लिया जाता है, क्योंकि जो आक्षेप और समाधान शब्द और अर्थके सम्बन्धके विषयमें किये जाते हैं वे सब प्रमाण और अर्थके सम्बन्धके विषयमें भी लागू होते हैं, दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है।

शंका—शब्द और अर्थमें यदि स्वभावसे ही वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है तो फिर वह पुरुषव्यापार-की अपेक्षा क्यों करता है ?

समाधान—प्रमाण यदि स्वभावसे ही अर्थसे सम्बद्ध है तो फिर वह इन्द्रिय-व्यापार या आलोककी अपेक्षा क्यों करता है ? इस प्रकार शब्द और प्रमाण दोनोंमें शंका और समाधान समान है। फिर भी यदि प्रमाणको स्वभावसे ही पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला माना जाता है तो शब्दको भी स्वभावसे ही अर्थका वाचक मानना चाहिये।

अथवा शब्द और पदार्थका सम्बन्ध कृत्रिम है, इसलिये वह पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा रखता है—

इस प्रकार जयधवलाके इस उल्लेखसे निश्चित होता है कि वास्तवमें दिव्यध्वनिकी प्रमाणता स्वाश्रित है, क्योंकि यदि उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित नहीं मानी जाती है तो वह अन्यसे उत्पन्न नहीं की जा सकती। फिर भी असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करने पर जैसा कि हम पूर्वमें लिख आये हैं वह तीर्थंकर आदि प्रकृतियोंके उदयके निमित्तसे होनेसे पराश्रित भी कही गई है। यहाँ पर तीर्थंकर प्रकृतिके साथ आदि पदका उल्लेख अन्य केवलियोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। तथा योगकी अपेक्षा सर्वज्ञदेवकी भी उसमें निमित्तता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरिने समयसारके अन्तमें शब्दागमके स्वरूपको बतानेवाले जो वचन लिखे हैं उसमें केवल अपनी लघुता ही नहीं दिखलाई है, किन्तु शब्दकी स्वाश्रित प्रमाणताको मुख्यकर ही वह वचन लिखा गया है। जैसा कि जयधवलाके पूर्वोक्त प्रमाणसे स्पष्ट है। इसी प्रकार 'अप्तोपज्ञ' 'आप्तवचनादिनिबन्धनं' 'आप्ते वक्तरि' 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' शब्दोंका प्रयोग पूर्वोक्त अभिप्रायसे ही किया गया है। इसी प्रकार समयसार गाथा ४१५की टीकामें शब्दब्रह्मकी स्वतः प्रमाणता एक सिद्धान्तके रूपमें प्रतिपादित है, न कि लघुताप्रकाशनके रूपमें।

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ८

दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीकी आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो कौन सम्बन्ध है ? वह सत्यार्थ या असत्यार्थ ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्‌की आत्माके सम्बन्धसे ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें आपने दिव्यध्वनिकी उत्पत्तिके विषयमें बहुत कुछ विवेचन किया जब कि दिव्यध्वनिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रश्न नहीं था। उसके पश्चात् दिव्यध्वनिकी स्वाश्रित प्रामाणिकता बतलाकर अपना उत्तर समाप्त कर दिया। दिव्यध्वनिका केवलज्ञान या केवलीकी आत्मासे सम्बन्धविषयक प्रश्नोंको आपने छुआ तक नहीं। चुनाचें हमने अपने प्रत्युत्तरमें मूल प्रश्नके निम्न पाँच खण्ड करके आपसे पुन: उन प्रथम तीन खण्डोंके उत्तर देनेको जोर दिया जिनको आपने अपने प्रथम उत्तरमें ओझल कर दिया था और दिव्यध्वनि जड़ होनेके कारण उसकी स्वाश्रित प्रामाणिकताका मण्डन करते हुए आर्षग्रन्थोंके प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया था कि दिव्यध्वनिके वक्ता केवलज्ञानी हैं और वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंकी प्रमाणता होती है तथा दिव्यध्वनि केवलज्ञानका कार्य है।

मूल प्रश्नके खण्ड

१—दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीकी आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं ?
२—दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवली आत्माके साथ कौन सम्बन्ध है ?
३—दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीके साथ सम्बन्ध सत्यार्थ है या असत्यार्थ ?
४—दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक।
५—दिव्यध्वनि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवानकी आत्माके सम्बन्धसे ?

आपने अपने द्वितीय उत्तरमें भी प्रश्नके प्रथम तीन खण्डोंका जो उत्तर दिया है उसमें केवली जिन और दिव्यध्वनिके सम्बन्धको गोलमाल शब्दोंमें बतलानेका तो प्रयत्न किया गया है, किन्तु केवलज्ञान व केवलीकी आत्माका दिव्यध्वनिसे क्या सम्बन्ध है इस विषयमें एक भी शब्द नहीं लिखा। इससे ज्ञात होता है कि आप प्रश्नके प्रथम तीन खण्डोंका उत्तर देना नहीं चाहते, क्योंकि इनका यथार्थ उत्तर देनेमें आपकी मान्यता खण्डित हो जाती है। आपने हमारे इन आर्षग्रन्थोंके प्रमाणोंमेंसे कुछ प्रमाणोंको तो सर्वथा ओझल कर दिया। हमने नाना आर्षग्रन्थोंके प्रमाण देकर यह सिद्ध किया था कि दिव्यध्वनिकी प्रमाणता वक्ताकी प्रमाणतासे है और केवलज्ञानका कार्य है, अत: दिव्यध्वनिमें पराश्रित प्रमाणता है। मात्र चार प्रमाणोंके

एक दो शब्दोंको लिखकर मात्र यह लिखा है—'इसी प्रकार 'आप्तोपज्ञ' 'आप्तवचनादिनिबंधनं' 'आप्ते वक्तरि' युक्तिशास्त्राविरोधवाक् 'का प्रयोग पूर्वोक्त प्रकारसे ही किया गया है।' इन चार प्रमाणोंका इन गोलमाल शब्दों द्वारा मात्र उल्लेख किया गया है, उत्तर कुछ नहीं दिया गया। इस प्रकार प्रश्नके खण्ड नं० ४ व ५ के विषयमें भी हमारे प्रमाणोंका उत्तर न देकर अपनी पूर्व मान्यताको ही पकड़े रहे। प्रथम उत्तरमें आपने लिखा था 'दो या दोसे अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें जो सम्बन्ध होता है वह असद्भूत ही होता है।' हमने पूछा था कि 'असद्भूत'से आपका क्या आशय है? किन्तु आपने इस विषयमें एक अक्षर भी नहीं लिखा।

आपने अपने द्वितीय उत्तरमें आगमविरुद्ध तथा अपनी मान्यताके विरुद्ध दो द्रव्यों तथा उनकी पर्यायोंमें परस्पर कर्ता-कर्मके कुछ सिद्धान्त लिख दिये हैं जो कि अप्रासंगिक है, क्योंकि कर्ता-कर्मसम्बन्धी मूल प्रश्न ही नहीं है। आपने प्रश्न नं० १ के प्रथम उत्तरमें यद्यपि निमित्तकर्ताको स्वीकार करनेसे इन्कार कर दिया, किन्तु द्वितीय उत्तरमें हेतुकर्ता अर्थात् निमितकर्ताको स्वीकार कर लिया है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थके आधारपर कालद्रव्यको भी हेतुकर्ता स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, आपने प्रथम तथा द्वितीय उत्तरमें निम्न शब्दोंके द्वारा जीवको जड़ द्रव्यका कर्ता स्वीकार कर लिया है। फिर भी आप इस प्रश्नके उत्तरमें हेतुकर्ताको स्वीकार नहीं कर रहे हैं। इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें आपने लिखा है—'इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं।' 'आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी समयसार गाथा ४१५ की टीकामें कहते हैं' इस वाक्यमें कर्ता तो आचार्य अमृतचन्द्र हैं जो चेतन पदार्थ और कर्म जड़रूप वाक्य हैं जो कि उनके द्वारा लिखे गये हैं और जिनको आपने प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया। आपने जो यह लिखा है—'आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं या कहते हैं' मात्र इसलिये लिखा है कि आपके द्वारा उद्धृत किये गये वाक्योंमें श्री अमृतचन्द्र आचार्यकी प्रमाणतासे प्रमाणता आ जावे, अन्यथा आपको इन पदोंके लिखनेकी कोई आवश्यकता न थी। इसी प्रकार आपने द्वितीय उत्तरमें निम्न पदोंका प्रयोग किया है—'आचार्यवर्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रसूरिके आगमप्रमाण देकर मीमांसा की गई थी। उसका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रने स्वाभाविक किया है। आचार्य कुन्दकुन्दने तो स्त्रियोंको मायाके समान बतलाया है। साथ ही अमृतचन्द्रसूरिने अपनी टीकामें मेघका दृष्टान्त देकर यहाँ स्वाभाविक पदका क्या अर्थ है यह और भी स्पष्ट कर दिया है।' 'प्रयत्नके बिना ही उनके धर्मोपदेश आदिकी क्रिया होती है।' 'कहा भी है।' 'श्री अमृतचन्द्रसूरिने समयसारके अन्तमें शब्दागमके स्वरूपको बतानेवाले जो वचन लिखे हैं।' इन सब वाक्योंमें शब्द पद वाक्य जड़रूप पदार्थोंका कर्ता चेतनद्रव्य आचार्य महाराज हैं। इस प्रकार चेतनद्रव्य और जड़ पदार्थमें कर्ता-कर्मसम्बन्ध आपके वचनों ही द्वारा सिद्ध हो जाता है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने समयसारकी प्रथम गाथामें 'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली-भणियं' इन वाक्यों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि इस समयप्राभृतके मूल कर्ता अर्थात् कहनेवाले श्री केवली तथा श्रुत-केवली है और उत्तर ग्रन्थकर्ता मैं (कुन्दकुन्द आचार्य) हूँ।

गाथा ५ में 'दाएहं अप्पणो सविहवेण' इन शब्दों द्वारा यह बतलाया गया है कि 'आत्माके विभव द्वारा दिखलाता हूँ।' श्री अमृतचन्द्राचार्यने 'आत्मविभव' पदका इस प्रकार विवेचन किया है—'इस लोकमें प्रगट समस्त वस्तुओंको प्रकाश करनेवाला और स्यात्पदसे चिह्नित जो शब्दब्रह्म (अरहंतका परमागम) उसकी उपासना करि जिस विभवका जन्म हुआ है। समस्त विपक्ष (अन्यवादियोंकर ग्रहण की गई सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष) उनके निराकरणमें समर्थ जो अतिनिस्तुष निर्बाधयुक्ति उसके अवलंबनसे जिस विभव-का जन्म है, निर्मल विज्ञान जो आत्मा उसमें अन्तर्निमग्न परम गुरु सर्वज्ञदेव अपर गुरु गणधरादिकसे लेकर

हमारे गुरुपर्यन्त उनकर प्रसादरूपसे दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्वका अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्योंके अनुसार उपदेश उससे जिस विभवका जन्म है, निरन्तर क्षरता आस्वादमें आया और सुन्दर जो आनन्द उससे मिला हुआ जो प्रचुरसंवेदनस्वरूप स्वसंवेदन उस कर जिसका जन्म है ऐसा जिस तिस प्रकारसे मेरे ज्ञानका विभव है उस समस्त विभवसे दिखलाता हूँ। इस प्रकारके ज्ञानके द्वारा श्री कुन्दकुन्द भगवानने इस समयसार ग्रन्थकी रचना की है, इसीलिये यह समयसार ग्रन्थ शब्दब्रह्म है, इसीलिये यह समयसार ग्रन्थ प्रामाणिक है। अक्षरों, शब्दों या वाक्योंके स्वयं मिल जानेसे यदि इस ग्रन्थकी रचना हुई होती तो या मात्र काययोगसे (जो कि विचारी पर्याय है) ज्ञान विना इस समयसार ग्रन्थकी रचना हुई होती तो यह ग्रन्थ प्रमाणकोटिको प्राप्त न होता, इसीलिये अर्थात् ग्रन्थकी प्रमाणता सिद्ध करनेके लिये श्री अमृतचन्द्राचार्यने टीकामें स्पष्ट कर दिया कि इस ग्रन्थकी रचना श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने अपने ज्ञानके द्वारा की है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने भी प्रथम गाथामें यह स्पष्ट कर दिया कि मैं अपनी तरफसे कुछ नहीं कहता। किन्तु मैं भी वह ही कहूँगा जो केवली या श्रुतकेवलीने कहा है।

इसी प्रकार गाथा ४५, ४६, ७० आदि गाथाओंमें भी 'जिणा विंति, वण्णिदो जिणवरेहिं, भणिदो खलु सव्वदरसीहिं' इत्यादि पदोंके द्वारा यह बतलाया गया है कि यह जो कुछ भी मैं (कुन्दकुन्द आचार्य) कह रहा हूँ वह जिनेन्द्र भगवानने कहा है।

इसी प्रकार प्रवचनसार गाथा ४२, ८६, ८७, ८८, आदि तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी कहा है।

फिर इस कथनके विरुद्ध अर्थात् श्री कुन्दकुन्द आचार्यके (मैं समयसारको कहता हूँ। केवल श्रुत-केवलीने कहा है, जिनेन्द्रने कहा है।) इन वाक्योंके विरुद्ध तथा अपने (प्रथम गाथाकी टीकामें 'परि-भाषण करूँगा' तथा गाथा पांचकी टीकामें 'ज्ञानविभवसे दिखलाता हूँ') इन वाक्योंके विरुद्ध टीकाके अन्तमें यह कैसे लिखते कि इस ग्रन्थ या टीकाकी स्वयं रचना हो गई।

समयसार गाथा ४१५ की टीकामें इस समयसारकी महिमा बतलानेके लिये तथा पदार्थ और शब्दका वाच्य-वाचकसम्बन्ध दिखलानेके लिये यह लिखा है—'कैसा यह शास्त्र ? समयसारभूत भगवान् परमात्माके प्रकाशनेवाला होनेसे जिसको विश्व-समय कहते हैं उसके प्रकाशसे आप स्वयं शब्दब्रह्म सरीखा है।' —समयसार रायचन्द ग्रंथमाला पृ० ५४१।

कलश २७८ में मात्र अपनी निरभिमानता दिखलानेके लिये यह कहा है कि 'इस टीकामें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है।' श्री पं० जयचन्दजीने भी इस कलश २१८ के भावार्थमें कहा—'ऐसा कहनेसे उद्धत-पनेका त्याग पाता है।' इन सब उल्लेखोंको देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है—

जब हम जैन सिद्धान्तसम्मत पद और वाक्यके लक्षणोंको देखते है तो पुरुषप्रयत्नके बिना वे बनते ही नहीं है तब अमृतचन्द सूरि महाराजके गम्भीर और सुललित पद वाक्य भी उनके ज्ञान प्रकर्षके विना कैसे बन सकते हैं जिनसे कि परम ब्रह्म-तत्त्व प्रतिपादक इस अध्यात्मशास्त्रकी रचना हुई है। अतः उनका वह उल्लेख मात्र अपना लाघव बतलानेके लिये है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य स्वयं कलश ३ में कहते हैं कि जो इस समयसारकी व्याख्या (कथनी) से मेरी अनुभूति-अनुभवनरूप परिणति उसकी परम विशुद्धि समस्त रागादि विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता हो। यह मेरी परिणति ऐसी है कि परपरिणतिका कारण जो मोह नाम कर्म उसका अनुभाव उदयरूप विपाक उससे जो अनुभाव्य—रागादिक परिणामोंकी व्याप्ति है उस कर निरंतर कल्मापित मैली

है। और मैं ऐसा कि द्रव्यदृष्टिकर तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ।—समयसार रायचन्द ग्रन्थमाला पृ० ४–५।

दिव्यध्वनिकी स्वाश्रित प्रमाणताके लिये जो जयधवल पु० १ पृ० २३९ के वाक्य उद्धृत किये गये हैं उनमें तो दिव्यध्वनि या केवलीका नाममात्रको भी कथन नहीं है। उसमें तो मात्र प्रमाण और पदार्थका ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध तथा शब्द और पदार्थोंमें वाच्य-वाचकसंबंध दिखलाया गया है। इसके साथ यह स्पष्ट कर दिया है कि 'शब्द और पदार्थकी अर्थप्रतिपादकता कृत्रिम है, इसलिये वह पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा रखती है। अर्थात् शब्द ऐसा नहीं कहते कि हमारा यह अर्थ है या नहीं है, किन्तु पुरुषोंके द्वारा ही शब्दोंका अर्थ संकेत किया जाता है। इसीलिये लौकिक या आगम शब्दोंकी सहज योग्यता पुरुषोंके द्वारा संकेतके आधीन ही पदार्थका प्रकाशक मानना चाहिये, विना संकेतके शब्द पदार्थका प्रतिपादक नहीं होता।—प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४३१। व्याख्याताके विना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक नहीं है, इसलिए उसका वाच्यवाचकभाव व्याख्याताके आधीन है। –धवल पु० १ पृ० १९६।

जब शब्दोंके द्वारा पदार्थोंकी प्रकाशकता ही पुरुषव्यापारकी अपेक्षा रखता है तो उनमें स्वाश्रित प्रामाणिकता कैसे हो सकती है, अर्थात् शब्दोंमें स्वाश्रित प्रामाणिकता नहीं है। इस प्रकार आपका दिव्यध्वनिको स्वाश्रित प्रमाण कहना आगमविरुद्ध है। उसमें केवलज्ञानकी प्रमाणतासे ही प्रमाणता आई है, क्योंकि वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंमें प्रमाणता आती है ऐसा न्याय है।

–धवल पु० १ पृ० १९६, जयधवल पु० १ पृ० ८८।

असत्य वचन दो कारणोंसे बोला जाता है। प्रथम तो राग द्वेषके कारण असत्य बोला जाता है, क्योंकि जिससे राग है उसको लाभ पहुँचानेके कारण असत्य भाषण हो सकता है। अथवा जिससे द्वेष है उसको हानि पहुँचानेके लिये असत्य वचनोंका प्रयोग होता है। दूसरे अज्ञानताके वश असत्य वचन बोला जा सकता है, किन्तु केवली भगवान्‌के ये दोनों कारण नहीं हैं, अतः उनके दिव्यध्वनिरूप वचन प्रमाण हैं। कहा भी है—

रागाद् वा द्वेषाद् वा मोहाद् वा वाक्यमुच्यते अनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥
आगमो ह्याप्तवचनमाप्तो दोषक्षयं विदुः।
त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद् हेत्वसम्भवात्॥

–धवल पु० ३ पृ० १२

अर्थ—राग, द्वेष अथवा मोहसे असत्य वचन बोला जाता है, परन्तु जिसके ये रागादि दोष नहीं रहते उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण भी नहीं पाया जाता। आप्तवचनोंको आगम जानना चाहिये। जिसने जन्म-जरादि अठारह दोषोंका नाश कर दिया है उसे आप्त जानना चाहिये। इस प्रकार जो त्यक्त दोष होता है वह असत्य वचन नहीं बोलता है, क्योंकि उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण ही संभव नहीं।

रागादिका अभाव भी भगवान् महावीरमें असत्य भाषणके अभावको प्रकट करता है, क्योंकि कारणके अभावमें कार्यके अस्तित्वका विरोध है। और असत्य भाषणका अभाव भी आगमकी प्रमाणताका ज्ञापक है। –धवल पु० ९ पृ १०८।

बीज पदोंका जो प्ररूपक है वह अर्थकर्ता कहलाता है। न्यकी प्रमाणताको वतलानेके लिये कर्ताकी प्ररूपणा की जाती है। –धवल पु० ९ पृ० १२७।

दिव्यध्वनिमें मात्र योग ही कारण नहीं है, किन्तु केवलज्ञान भी निमितकारण है। इसीलिये दिव्य-ध्वनिरूप वचन केवलज्ञानका कार्य है 'तस्य ज्ञानकार्यत्वात्'। –धवल पु० १ पृ० ३६८।

केवलज्ञानके निमित्तसे उत्पन्न हुए पद और वाक्य प्रमाण हैं। –जयधवल पु० १ पृ० ४४

श्री वर्द्धमान भट्टारक द्वारा उपदिष्ट होनेसे द्रव्यआगम (दिव्यध्वनि) प्रमाण है। –जयधवल पु० १ पृ० ७२ व ८३।

जिनेन्द्र भगवान्के मुखसे निकला हुआ वचन अप्रमाण नहीं हो सकता।—जयधवल पु० ५ पृ० ३४०।

जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं होते। –जयधवल पु० ७ पृ० १२७।

असत्य वोलनेके कारणोंसे रहित जिनेन्द्रके मुखकमलसे निकले हुए ये वचन हैं, इसलिये इन्हें अप्रमाण नहीं माना जा सकता। –धवल पु० ३ पृ० २६।

जिसने सम्पूर्ण भावकर्म और घातिया द्रव्यकर्मको दूरकर देनेसे सम्पूर्ण वस्तुविषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है वही आगमका व्याख्याता हो सकता है। –धवल पु० १ पृ० १९६।

जो केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्रायः अतीन्द्रिय पदार्थोंको विपय करनेवाला है, अचिन्त्यस्वभावी और युक्तिके विपयसे परे है उसका नाम आगम है। –धवल पु ६ पृ० १५१।

'सर्वज्ञ-वचनं तावदागमः' सर्वज्ञके वचन आगम है। –समयसार गाथा ४४ टीका।

समणमुहुग्गदमट्ठं चतुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमियं सुणह वोच्छमि ॥२॥ –पंचास्तिकाय

अर्थ—यह मैं कुन्दकुन्द आचार्य इस पंचास्तिकायरूप सययसारको कहूँगा। इसको तुम सुनो। श्रमण कहिये सर्वज्ञ वीतरागदेवके मुखसे उत्पन्न हुए पदार्थसमूह सहित वचन तिनको मस्तकसे प्रणाम करके कहूँगा, क्योंकि सर्वज्ञके वचन ही प्रमाणभूत है। इस कारण इनके ही आगमको नमस्कार करना योग्य है। और इनका ही कथन योग्य है। वह आगम चार गतियोंका निवारण करनेवाला है तथा मोक्षफल करि सहित है।

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।

–प्रवचनसार गाथा ३४

अर्थ—पुद्गलद्रव्यस्वरूप वचनोंसे जो जिन भगवान्का उपदेश किया हुआ है वह द्रव्यश्रुत है।

जो आत्मा क्षुधा तृपा आदि—अठारह दोपोंसे रहित है वह ही आप्त कहलाता है तथा उसी आप्तके वचन प्रमाण हैं। –वसुनन्दिश्रावकाचार गाथा ८०९।

साक्षात् विश्वतत्त्वज्ञाताके विना साक्षात् निर्वाध मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं बन सकता। –आप्तपरीक्षा पृ० २६१

आप्तवचनादिनिवन्धनमर्थज्ञानमागमः ३,९४॥—परीक्षामुख

अर्थ—आप्तके वचन आदिसे होनेवाले अर्थज्ञानको आगम कहते हैं।

वक्ताकी प्रमाणतासे वचनमें प्रमाणता आती है। इस न्यायके अनुसार अप्रमाणभूत पुरुषोंके द्वारा व्याख्यान किया गया आगम अप्रमाणताको कैसे प्राप्त नहीं होगा? अवश्य प्राप्त होगा।—धवल पु० १ पृ० १९६

यदि मात्र योगको ही वचनोंकी प्रामाणिकताका कारण माना जाये तो रागी द्वेषी पुरुषके वचनोंको भी प्रमाणताका प्रसंग आजावेगा, किन्तु ऐसा है नहीं।

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्। ६,५१ —परीक्षामुख

अर्थ—रागी द्वेषी और अज्ञानी मनुष्यके वचनोंसे उत्पन्न हुए आगमको आगमाभास कहते हैं।

इस प्रकार इन आगमप्रमाणोंसे सिद्ध हो जाता है कि वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिमें प्रामाणिकता केवलज्ञानके निमित्तसे ही है, क्योंकि उनका केवलज्ञान प्रमाण है।

समयसार गाथा ९९ और १००का जो तात्पर्य आपने लिखा वह ठीक नहीं है। गाथा ९९ तो व्याप्य-व्यापक अपेक्षा कर्ता-कर्मका कथन करती है। गाथा नं० १०० की टीकामें पं० जयचन्दजीने लिखा है—यहाँ तात्पर्य ऐसा है कि द्रव्यदृष्टि कर तो कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्यका कर्ता नहीं है, परन्तु पर्याय-दृष्टिकरि किसी द्रव्यका पर्याय किसी अन्य द्रव्यको निमित्त होता है। इस अपेक्षासे अन्यके परिणाम अन्यके परिणामके निमित्तकर्ता कहे जाते हैं। परन्तु परमार्थसे द्रव्य अपने परिणामका कर्ता है, अन्यके परिणामका अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है ऐसा जानना ॥ १०० ॥

आपके पाँच निष्कर्ष अनुसार तो यह चर्चा ही नहीं चल सकती, क्योंकि जो प्रश्न-प्रतिप्रश्न व उत्तर प्रत्युत्तर आदि लिखित रूपसे चल रहे हैं परमार्थसे तो उनका कर्ता पुद्गल द्रव्य है। आपके निष्कर्षके अनुसार व्याप्य-व्यापकभावसे तन्मयताका प्रसंग आनेके कारण कोई भी आत्मा इन लिखित प्रश्नों-उत्तरों तथा प्रतिप्रश्नों-प्रत्युत्तरों आदिका कर्ता नहीं है। आपके निष्कर्षके अनुसार सामान्य आत्मा भी निमित्त-नैमितिक-भावसे इन प्रश्नोत्तरों प्रतिप्रश्न-प्रत्युत्तररूप पुद्गल द्रव्यपर्यायोंका कर्ता नहीं है, अन्यथा नित्यकर्तृत्वका प्रसंग आ जायेगा। आपके निष्कर्षके अनुसार अज्ञानी जीवके योग और उपयोग पर द्रव्योंकी पर्यायोंके निमित्त-कर्ता हैं, किन्तु आप अपनेको अज्ञानी स्वीकार करनेको तैयार नहीं है, अतः आपके योग और उपयोग भी उत्तर-प्रतिउत्तररूप पुद्गल द्रव्यकी पर्यायोंके निमित्तकर्ता भी नहीं है। आपके निष्कर्ष (ई) के अनुसार आत्मा अज्ञानभावसे योग और उपयोगका कर्ता है तथापि पर द्रव्योंकी पर्यायोंका कर्ता कदाचित् भी नहीं है। किन्तु आप अपनेमें अज्ञानभाव स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं, इसलिये आप अपनी पर्यायस्वरूप योग और उपयोगके भी कर्ता नहीं है। उत्तर प्रतिउत्तररूप पुद्गल पर द्रव्यकी पर्यायोंके कर्ता तो कदाचित् भी नहीं है। आपके निष्कर्ष (उ) के अनुसार आत्मा अज्ञानभावसे परद्रव्योंकी पर्यायोंका निमित्तकर्ता नहीं है अर्थात् आप इन उत्तर प्रतिउत्तरके निमित्तकर्ता भी नहीं हैं। आपकी उपर्युक्त मान्यता अनुसार जब आपका इन उत्तर प्रतिउत्तरसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा, मात्र पुद्गलके साथ इन उत्तर-प्रत्युत्तरका सम्बन्ध रह गया तो इन उत्तर-प्रत्युत्तरके आधारसे आपके साथ चर्चा चल नहीं सकती, और पुद्गल जड़ है, उसके साथ चर्चाका कोई प्रसंग ही नहीं। इस प्रकार एक निमित्तकर्ताको स्वीकार न करनेसे सब विप्लव हो जायगा और कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी।

प्रवचनसार गाथा ४४ व ४५ का जो आपने प्रमाण दिया है उससे तो यह सिद्ध होता है कि अर्हंत भगवान्‌के रागद्वेप, मोहका अभाव हो गया, अतः उनकी जितनी भी क्रिया हैं वे बिना इच्छाके हैं, कर्मबन्ध-की कारण नहीं और पूर्व कर्म उदयमें आकर ज्ञेयको प्राप्त हो जाते हैं। इसमें दिव्यध्वनिकी प्रमाणता या अप्रमाणताका प्रसंग ही नहीं। । समयसार गाथा ६७ का भी कोई सम्बन्ध इस प्रश्नसे नहीं है। केवलज्ञानमें पदार्थ प्रतिबिम्बित नहीं होते, क्योंकि प्रतिबिम्ब या छाया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है (देखो प्रश्न नं० ७ पर हमारा दूसरा उत्तर), केवलज्ञान पदार्थोंको जानता अवश्य है।

जो श्लोक आपने उद्धृत किया है उसमें तो सर्वज्ञके. वचनोंकी 'सर्वात्महिते, 'शान्त्यं, 'विभैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः, विनष्टविपदः, 'पायात् सर्वविदः अपूर्वं वचः' इन विशेषणों द्वारा स्तुति की है अर्थात् 'सर्व आत्माओंका हित करनेवाली, शान्तिरूप, पशुओंके कानोंके द्वारा सुने जाते हैं, जिससे विपद विनष्ट हो जाती है ऐसे सर्वज्ञ भगवान्के अपूर्व वचन हमारी रक्षा करो। आगे आपने लिखा है कि 'सब प्रमाणोंमें स्वतः प्रमाणता स्वतः स्वीकार करनी चाहिये।' किन्तु जिस श्लोकके आधार पर यह लिखा गया है वह श्लोक ज्ञानसे संबंधित है, क्योंकि यह श्लोक ज्ञान-ज्ञेयके प्रकरणमें आया हैं। इस श्लोकका दिव्यध्वनिसे कोई संबंध नहीं है।

आपने लिखा है 'यदि दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता स्वाश्रित नहीं मानी जाती है तो वह अन्यसे उत्पन्न नहीं की जा सकती।' यदि आप हमारे पूर्व उत्तरमें दिये गये 'वचनोंकी प्रमाणता वक्ताकी प्रमाणतासे होती है' इस आर्ष वचनपर ध्यान देते तो आपको यह कठिनाई न पड़ती।

आगे आप लिखते हैं कि 'असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करने पर वह तीर्थंकर आदि प्रकृतियोंके उदयके निमित्तसे होनेसे दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता पराश्रित भी है।' तीर्थंकर आदि प्रकृतियोंके उदयसे तो समवशरण गंधकुटिकी रचना होती है। किसी भी प्रकृतिके उदयसे तो औदयिक भाव होगा या पर द्रव्यका संयोग होगा, किन्तु प्रामाणिकता तो नहीं आ सकती। यदि कर्मोदयसे प्रामाणिकता होती हो तो सिद्धोंमें जहाँ किसी भी कर्मका उदय नहीं प्रामाणिकताके अभावका प्रसंग आजायेगा। सो आपका यह लिखना 'तीर्थंकर आदि प्रकृतिके उदयसे दिव्यध्वनिमें प्रमाणता पराश्रित है' ठीक नहीं है।

आपने लिखा कि 'योगकी अपेक्षा दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकतामें सर्वज्ञदेवकी भी निमित्तता है' सो यह सयुक्तिक प्रतिपादन नहीं है, क्योंकि वचनकी प्रामाणिकतामें ज्ञानकी प्रकर्षता ही कारण मानी गई है। अन्यथा अज्ञानी मनुष्यके वचनोंमें भी प्रामाणिकताका प्रसंग आ जायगा, क्योंकि वाग्योग तो उसके भी विद्यमान है। फलतः जब आप योगके माध्यमसे सर्वज्ञदेवको निमित्त माननेके लिये तैयार हो गये हैं तब केवलज्ञानको ही दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकताका कारण स्वीकार करना आगमसंगत है। सर्वार्थसिद्धिमें पूज्यपाद स्वामीने श्रुतकी प्रमाणताको बतलाते हुए वक्ताको ही कारण माना है—

त्रयो वक्तारः—सर्वज्ञस्तीर्थंकरः इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात् प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमंगपूर्वलक्षणम्। तत्प्रमाणं तत्प्रामाण्यात्। आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।

—सर्वार्थसिद्धि पं० फूलचन्द्रजी द्वारा संपादित संस्करण पृष्ठ १२३

अर्थ—वक्ता तीन प्रकारके है—सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली तथा श्रुतकेवली और आरातीय। इनमेंसे परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञानरूपी विभूतिसे युक्त हैं। इस कारण उन्होंने अर्थरूपसे आगमका उपदेश दिया। ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं, इसलिये प्रमाण हैं। इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धिके अतिशयरूप ऋद्धिसे युक्त गणधर श्रुतकेवलियोंने अर्थरूप आगमका स्मरणकर अंग और पूर्व ग्रन्थोंकी रचना की। सर्वज्ञदेवकी प्रमाणतासे ये भी प्रमाण हैं। तथा आरातीय आचार्योंने कालदोषसे जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे शिष्योंका उपकार करनेके लिये दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे।

जिस प्रकार क्षीरसागरका जल घटमें भर लिया जाता है उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी अर्थरूपसे वे ही हैं, इसलिये प्रमाण हैं।

●

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

शंका ८

मूल प्रश्न ८—दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीकी आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो कौन सम्बन्ध है? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्की आत्माके सम्बन्धसे?

प्रतिशंका ३ का समाधान

इस मूल प्रश्नका हम आगम और आगमको अनुसरण करनेवाली युक्तिपूर्वक पिछले दो उत्तरोंमें सांगोपांग विचार कर आये हैं। साथ ही प्रतिशंका २ में निर्दिष्ट तथ्यों पर भी विस्तारके साथ प्रकाश डाल आये हैं। हमने अपने पिछले उत्तरोंमें मूल प्रश्नको लक्ष्यमें रखकर जो कुछ लिखा है उसका सार यह है—

(१) केवली जिनकी दिव्यध्वनि निश्चयसे स्वाश्रित प्रमाणरूप है, व्यवहारसे पराश्रित प्रमाणरूप कही गई है।

(२) दिव्यध्वनिके प्रवर्तनमें वचनयोग तथा तीर्थंकर प्रकृतिके उदय आदि निमित्त हैं, इस अपेक्षासे केवली जिनके साथ भी दिव्यध्वनिका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बन जाता है।

(३) यतः दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्ता-कर्मसम्बन्ध असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा ही घटित होता है, इसलिए वह परमार्थ सत्य न होकर व्यवहारसे सत्य माना गया है। उपचरित सत्य इसीका दूसरा नाम है।

इस स्पष्टीकरणसे मूल प्रश्नके पाँचों उपप्रश्नोंका समाधान हो जाता है। साथ ही आगममें कौन वचन किस नयकी दृष्टिमें रखकर लिखा गया है यह भी सम्यक् प्रकार ज्ञात हो जाता है। फिर भी अपर पक्ष पर द्रव्यकी किसी भी विवक्षित पर्यायमें निमित्तकी अपेक्षा किये गये कर्तृत्व व्यवहारको परमार्थभूत माननेके कारण न तो स्वाश्रित प्रमाणताको स्वीकार करता है, न निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको उपचरित मानना चाहता है और न ही कार्यके प्रति उपादानकी अन्तर्व्याप्तिके साथ निमित्तोंकी बाह्य व्याप्तिके सुमेलको स्वीकार करना चाहता है। उस पक्षका यदि कोई आग्रह प्रतीत होता है तो एक मात्र यही कि जिस किसी प्रकार कार्यके प्रति निमित्तोंमें परमार्थभूत कर्तृत्व सिद्ध होना चाहिये। इसके लिए यदि आगमसम्मत उपादानके स्वरूपमें फेर-फार करना पड़े तो वह अपने तर्कोंके बल पर उसे भी करनेके लिए तैयार है। इसमें वह आगमकी हानि नहीं मानता। यही कारण है कि उस पक्षकी ओरसे प्रतिशंका ३ में पुनः उन्हीं ५ प्रश्नोंको उपस्थितकर प्रतिशंका २ में निर्दिष्ट तर्कोंकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया गया है। अतः हम प्रतिशंका २ और ३ को लक्ष्यमें रखकर उन्हीं बातोंपर नये सिरेसे आगमप्रमाणके अनुसार प्रकाश डालनेका पुनः प्रयत्न करेंगे।

१. केवली जिनके साथ दिव्यध्वनिका सम्बन्ध

जब हम केवली भगवान् या केवलज्ञानके साथ दिव्यध्वनिका क्या सम्बन्ध है और वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ इस प्रश्न पर विचार करने लगते हैं तब हमें दिव्यध्वनिके उत्पत्ति पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि दिव्यध्वनि पौद्गलिक भाषा वर्गणाओंकी व्यञ्जन पर्याय है, इसलिए उपादानकी दृष्टिसे भाषा वर्गणाएँ ही दिव्यध्वनिरूप परिणमती है। इस प्रकार भाषावर्गणा और दिव्यध्वनि इन दोनोंमें उपादान-उपादेयसम्बन्ध है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका विचार दिव्यध्वनिकी उत्पत्ति पक्षको लक्ष्यमें रखकर ही किया जा सकता है। अपर पक्ष केवली भगवान् और केवलज्ञानके साथ दिव्यध्वनिका क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न तो उपस्थित करता है, किन्तु जब इस प्रश्नको ध्यानमें रखकर सम्बन्धको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे दिव्यध्वनिकी उत्पत्तिके ऊपर विचार किया गया तो वह अपनी मान्यताको कमजोर होता हुआ देखकर उसे छिपानेके लिए प्रतिशंका ३ में लिखता है—

'आपने अपने द्वितीय उत्तरमें आगमविरुद्ध तथा अपनी मान्यताके विरुद्ध दो द्रव्यों तथा उनकी पर्यायोंमें परस्पर कर्त्ता-कर्मके कुछ सिद्धान्त लिख दिये हैं, जो कि अप्रासंगिक हैं, क्योंकि कर्त्ता-कर्मसम्बन्धी मूल प्रश्न ही नहीं है।' इत्यादि।

ऐसा लिखनेके पूर्व अपर पक्षने हमारे उत्तरको गोलमाल बतलाया है सो इसका विचार तो उसे स्वयं करना है कि हमारा उत्तर गोलमाल है या उसका ऐसा लिखना गोलमाल है। एक ओर तो वह 'शास्ता शास्ति सतो हितम्' इत्यादि प्रमाण उपस्थित कर जिनदेवका वाणीके साथ कर्त्ता-कर्मसम्बन्ध बतलानेका उपक्रम करता है और दूसरी ओर तथ्यरूपसे कर्त्ता-कर्मसम्बन्ध आदि पर प्रकाश डालनेवाले तर्कसंगत प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं तो उसकी ओरसे यह कहा जाता है कि प्रकृतमें 'कर्त्ता-कर्मसम्बन्धी मूल प्रश्न ही नहीं है।' यदि यहाँ अपर पक्षका प्रश्न कर्त्ता-कर्मसम्बन्धी नहीं था और वह उक्त प्रश्न द्वारा कोई दूसरा सम्बन्ध जानना चाहता था तो उसे प्रतिशंका ३ में हमें लक्ष्य कर यह वाक्य नहीं लिखना चाहिए था कि 'फिर भी आप इस प्रश्नके उत्तरमें हेतुकर्ताको स्वीकार नहीं कर रहे हैं।' स्पष्ट है कि अपर पक्षके मनमें दिव्यध्वनि कर्म और भगवान् तीर्थंकर हेतुकर्ता (प्रेरककर्ता) यही भाव समाया हुआ है तथा प्रश्न भी इसी आशयसे किया गया होना चाहिए।

साधारणतः हेतुकर्ता शब्द आगममें ३ अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है—

(१) एक तो वर्तनाको कालका लक्षण बतलाकर सर्वार्थसिद्धि आदि आगममें कालको हेतुकर्ता कहा है। यद्यपि काल उदासीन निमित्त है पर इस अर्थमें भी हेतुकर्ता शब्दका प्रयोग होता है यह इस प्रसंगमें स्पष्ट किया गया है।

(२) दूसरे जो क्रियावान् द्रव्य अपनी क्रिया द्वारा अपर द्रव्यकी क्रियामें निमित्त होते हैं उनके लिए भी पंचास्तिकाय गाथा ८८ आदि आगममें हेतुकर्ता शब्दका प्रयोग हुआ है।

तथा (३) तीसरे जो सजीवधारी प्राणी अपने विकल्प और योग द्वारा पर द्रव्यके कार्यमें निमित्त होते हैं उनके लिए भी हेतुकर्ता शब्दका प्रयोग समयसार गाथा १०० आदि आगममें किया गया है।

इस प्रकार ३ अर्थोंमें हेतुकर्ता शब्दका प्रयोग आगममें दृष्टिगोचर होता है। उनमेंसे किस अर्थमें अपर पक्ष केवली जिनको दिव्यध्वनिके होनेमें हेतुकर्ता स्वीकार करता है इसका स्वयं उसकी ओरसे किसी प्रकारका स्पष्टीकरण नहीं किया गया यह आश्चर्य की बात है। आगममें सब प्रकारके प्रमाण हैं और वे भिन्न-भिन्न

अभिप्रायसे लिखे गये हैं, परन्तु उन सबको एक जगह उपस्थित कर देने मात्रसे वस्तुका निर्णय नहीं हो सकता। यहाँ तो यह विचार करना है कि केवलीका दिव्यध्वनिके साथ योगके माध्यमसे सम्बन्ध है या तीर्थंकर प्रकृति आदिके माध्यमसे सम्बन्ध है या केवलज्ञानके माध्यमसे सम्बन्ध है। मूल प्रश्नमें केवलज्ञान अथवा केवलीकी आत्मासे दिव्यध्वनिका कोई सम्बन्ध है ? यह प्रश्न पूछा गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपर पक्ष केवलज्ञान और केवलीकी आत्मा इन दोनोंको एकरूपसे स्वीकार करके उनके साथ दिव्यध्वनिका सम्बन्ध जानना चाहता है। अब यदि प्रकृतमें हेतुकर्ता शब्दका अर्थ विकल्प और योग किया जाता है तो इस प्रकारका हेतुकर्तारूप सम्बन्ध केवलज्ञानके साथ दिव्यध्वनिका नहीं बन सकता, क्योंकि केवलीके योगका सद्भाव होने पर भी विकल्पका सर्वथा अभाव है, इसलिए योग और विकल्परूप निमित्तके अर्थमें यहाँ केवली-को हेतुकर्ता कहना न तो अपर पक्षको ही मान्य होगा और न प्रकृतमें यह अर्थ लिया ही गया है।

कदाचित् कहा जाय कि योगकी अपेक्षा केवलीको दिव्यध्वनिका हेतुकर्ता कहनेमें क्या हानि है सो इस सम्बन्धमें हमारा निवेदन यह है कि आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसार गाथा ४५में केवलीके गमन, स्थिति और दिव्यध्वनि आदि क्रियाओंके प्रवर्तनको जो स्वाभाविक कहा है सो वहाँ उनके कहनेका यही अभिप्राय होना चाहिए कि यद्यपि दिव्यध्वनिके प्रवर्तनमें वचनयोगकी प्रमुखरूपसे निमित्तता है फिर भी वचनयोगको विकल्पके अभावमें हेतुकर्ता कहना उचित नहीं है। उसके कई कारण हैं। यथा—

(१) केवली भगवान् केवलज्ञानसे सदा उपयुक्त होते हैं। उनके उपयोगमें जिस प्रकार अन्य समस्त त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं उसी प्रकार दिव्यध्वनि भी प्रतिभासित होती है। दिव्य-ध्वनिके प्रवर्तनके लिए वे अलगसे उपयुक्त नहीं होते। अतएव केवलज्ञान दिव्यध्वनिके प्रवर्तनका साक्षात् निमित्त नहीं है। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ६ सूत्र १ में वचनयोगको क्षयनिमित्तक मानने पर जो आपत्ति आती है उसका विचार करते हुए अन्तमें यही फलित किया है कि चूँकि केवलीकी आत्मा क्रियाशील है, अतएव उनके ३ प्रकारकी वर्गणाओंके आलम्बनकी अपेक्षा प्रदेश परिस्पन्दरूप योग होता है। यह शंका इसलिए उठी कि ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय अयोगकेवली और सिद्धोंके भी पाया जाता है। ऐसी अवस्थामें यदि क्षयको वचन-योगका प्रमुख निमित्त माना जाता है तो अयोगकेवली और सिद्धोंके भी वचनयोग होना चाहिये। किन्तु उनके वचनयोग नहीं होता, इससे स्पष्ट विदित होता है कि वचनयोगका प्रमुख कारण क्षय नहीं है, किन्तु वचन वर्गणाओंका आलम्बन ही वचनयोगका प्रमुख कारण है। तत्त्वार्थवार्तिकका वह पूरा उल्लेख इस प्रकार है—

यदि क्षयोपशमलब्धिरभ्यन्तरहेतुः, क्षये कथम् ? क्षयेऽपि हि सयोगकेवलिनः त्रिविधो योगः इष्यते। अथ क्षयनिमित्तोऽपि योगः कल्प्यते, अयोगकेवलिनां सिद्धानां च योगः प्राप्नोति ! नैष दोषः, क्रियापरिणामिन आत्मनस्त्रिविधवर्गणालम्बनापेक्षः प्रदेशपरिस्पंदः सयोगकेवलिनो योगविधिर्विधीयते, तदालम्बनाभावात् उत्तरेषां योगविधिर्नास्ति।

यह उल्लेख अपनेमें बहुत स्पष्ट है। इसमें जिस प्रकार योगप्रवृत्तिका प्रमुख कारण ३ प्रकारकी वर्गणाओंके आलम्बनको बतलाया है उसी प्रकार दिव्यध्वनिका प्रमुख कारण भाषावर्गणाओंका आलम्बन ही हो सकता है, अन्य नहीं। यही कारण है कि हमने अपने प्रथम और द्वितीय उत्तरमें योगके ऊपर विशेष जोर दिया था और साथमें यह भी लिखा था कि योगकी अपेक्षा केवली या केवलज्ञानको निमित्त माननेमें कोई हानि नहीं है। दिव्यध्वनिका खिरना केवली जिनके वचनयोग क्रियाको निमित्त कर होता है और वचनयोग वचनवर्गणाओंके अवलंबन पर निर्भर है। ऐसा केवली जिनके साथ दिव्यध्वनिका निमित्त-नैमित्तिक

सम्बन्ध माना गया है । फिर भी विकल्पके अभावमें वचनयोगको भी हेतुकर्त्ता कहना उचित नहीं है, क्योंकि वचनयोगको हेतुकर्त्ता मान लेने पर जब-जब वचनयोग हो तब-तब दिव्यध्वनि होनी ही चाहिए, अन्यथा वचनयोगके साथ दिव्यध्वनिकी बाह्य व्याप्ति नहीं बन सकती । स्पष्ट है कि दिव्यध्वनि अपने कालमें होती है और वचनयोग उसका मुख्य निमित्त है, साथ ही भव्य जीवोंका पुण्योदय, तीर्थंकर प्रकृतिका उदय आदि भी दिव्यध्वनिके निमित्त हैं । ऐसा अपूर्व योग जिनदेवके केवलज्ञान विभूतिसे सम्पन्न होने पर ही मिलता है, इसलिए दिव्यध्वनिके होनेमें जिनदेवको भी निमित्त कहा जाता है । पर इसका अर्थ यह नहीं कि जिनदेव स्वयं अन्य अल्पज्ञोंके समान दिव्यध्वनिको प्रगट करनेके लिए व्यापारवान् होते हैं । श्री गोम्मटसार जीवकाण्डमें लिखा है—

मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्मि ।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्हि ॥ २२८ ॥

मनसहित छद्मस्थ जीवोंके वचन मनपूर्वक देखे जाते हैं, इसलिए इन्द्रियज्ञानसे रहित सयोगकेवलीके उपचारसे मन कहा है ॥ २२८ ॥

इस वचनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि केवली जिनके दिव्यध्वनिके लिए दत्तावधान हुए विना ही अपने कालमें वचनयोग आदिको निमित्त कर दिव्यध्वनि प्रकट होती है । पं० प्रवर दौलतरामजी 'सकलज्ञेय-ज्ञायक–' आदि स्तुति द्वारा उक्त तथ्यको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

भवि भागनि-वचिजोगे वसाय ।
तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नसाय ॥

(२) दूसरा कारण यह है कि केवली जिनके दो प्रकारका ही वचनयोग होता है—सत्य वचनयोग और अनुभय वचनयोग । इसी प्रकार दिव्यध्वनि भी तदनुसार सत्य और अनुभयके भेदसे दो प्रकारकी होती है । इससे स्पष्ट विदित होता है कि दिव्यध्वनिका प्रमुख निमित्त योगको ही स्वीकार किया है । यदि केवलज्ञान दिव्यध्वनिका प्रमुख निमित्त होता तो जिस प्रकार केवलज्ञान एकमात्र सत्यरूप स्वीकार किया गया है उसी प्रकार दिव्यध्वनि भी केवलज्ञानके समान एक ही प्रकारकी होती, किन्तु ऐसा नहीं है । इससे ज्ञात होता है कि केवली जिनका वचनयोग ही दिव्यध्वनिके खिरनेमें प्रमुख निमित्त है ।

२. दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता

मूल प्रश्नमें प्रमुखरूपसे दूसरा चर्चनीय विषय दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकताके विषयमें ऊहापोह करना है । अपर पक्षने अपनी प्रतिशंका २ और प्रतिशंका ३ में दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता वक्ताकी प्रामाणिकताके आधार पर स्थापित की है । साथ ही शब्दों, पदों और वाक्योंको कृत्रिम बतलाते हुए लिखा है कि 'शब्द और पदार्थकी अर्थ प्रतिपादकता कृत्रिम हैं, इसलिए वह पुरुषके व्यापारको अपेक्षा रखती है । अर्थात् शब्द ऐसा नहीं कहते कि हमारा यह अर्थ है या नहीं है, किन्तु पुरुषोंके द्वारा ही शब्दोंका अर्थसंकेत किया जाता है । इसीलिए लौकिक या आगम शब्दोंकी सहज योग्यता पुरुषोंके द्वारा संकेतके आधीन ही पदार्थका प्रकाशक मानना चाहिये, विना संकेतके शब्द पदार्थका प्रतिपादक नहीं होता । –प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४३१ । व्याख्याताके विना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक नहीं है, इसलिए उसका वाच्य-वाचकभाव व्याख्याताके आधीन है । –धवल पु० १ पृ० १९६ । जब शब्दोंके द्वारा पदार्थोंकी प्रकाशकता ही पुरुष व्यापारकी अपेक्षा

रखता है तो उनमें स्वाश्रित प्रामाणिकता कैसे हो सकती है, अर्थात् शब्दोंमें स्वाश्रित प्रामाणिकता नहीं है। इस प्रकार आपका दिव्यध्वनिको स्वाश्रित प्रमाण कहना आगमविरुद्ध है। उसमें केवलज्ञानकी प्रमाणतासे ही प्रमाणता आई है, क्योंकि वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंमें प्रमाणता आती है ऐसा न्याय है।' —धवल १ पृ० १९६, जयधवल १ पृ० ८८।'

शब्दकी प्रामाणिकता पराश्रित कैसे है इस बातको बतलानेवाला यह अपर पक्षका वक्तव्य है। इस वक्तव्य द्वारा इन बातों पर प्रकाश डाला गया है—

(१) पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा रखनेके कारण शब्दोंमें पदार्थोंकी अर्थप्रतिपादकता कृत्रिम है।

(२) शब्दोंके द्वारा पदार्थोंकी प्रकाशकता पुरुषव्यापारकी अपेक्षा रखता है, इसलिए उनमें स्वाश्रित प्रामाणिकता नहीं हो सकती।

(३) दिव्यध्वनिमें केवलज्ञानकी प्रमाणतासे प्रमाणता आई है, इसलिए दिव्यध्वनिको स्वाश्रित प्रमाण कहना आगमविरुद्ध है।

(४) लौकिक या आगम शब्दोंकी सहज योग्यता पुरुषोंके द्वारा संकेतके आधीन ही पदार्थका प्रकाशक मानना चाहिये।

अब इन बातों पर क्रमशः विचार करते हैं—

: १ :

आगममें २३ प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। उनमें भाषा वर्गणाका स्वतंत्ररूपसे उल्लेख किया गया है। तत, वितत आदि रूपसे अनक्षरात्मक या अक्षरात्मक जितने भी शब्द सुननेमें आते हैं उन सब शब्दोंकी उत्पत्ति एकमात्र भाषा वर्गणाओंसे होती है। यह नहीं हो सकता कि कोई भी पुरुष अपने तालु आदिके व्यापार द्वारा ऐसी पुद्गल वर्गणाओंको भी शब्दरूप परिणमा सके जो भाषावर्गणारूप नहीं हैं। पुरुषोंके तालु आदि व्यापारसे भाषावर्गणाओंकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु जो भाषावर्गणाएँ स्वयं उपादान होकर शब्दरूप परिणत होती हैं उनमें पुरुषोंके तालु आदिका व्यापार निमित्तमात्र है, क्योंकि बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें कार्यकी उत्पत्ति होती है यह कार्यकारणभावको प्रगट करनेवाला अकाट्य सिद्धान्त है, जो कि भाषा वर्गणाओंके शब्दरूप कार्यके होनेमें भी लागू होता है, क्योंकि कोई भी कार्य इस सिद्धान्तको उलंघन कर होता हो ऐसा नहीं है। ऐसी अवस्थामें जब विवक्षित शब्दोंकी उत्पत्ति ही केवल पुरुष व्यापारसे नहीं होती तो उनमें पदार्थोंकी अर्थप्रतिपादकता केवल पुरुषव्यापारसे आती हो यह त्रिकालमें सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति निश्चय पक्षका उलङ्घन कर केवल व्यवहार पक्षके एकान्तका ही परिग्रह करता है वही ऐसा कह सकता है कि 'शब्द और पदार्थकी अर्थप्रतिपादकता कृत्रिम है, इसलिए वह पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा रखती है।' अन्य व्यक्ति नहीं। उपादानरूप शब्दवर्गणाओंमें विवक्षित अर्थप्रतिपादनकी योग्यता न हो और कोई पुरुष अपने व्यापार द्वारा वैसी अर्थप्रतिपादन क्षमता उत्पन्न करदे यह कभी भी नहीं हो सकता। भगवान् पुष्पदन्त भूतवलि शब्दगत इस सहज योग्यताका प्रतिपादन करते हुए धवला पु० १४ पृ० ५५० में लिखते हैं—

सच्चभासाए मोसभासाए सच्चमोसभासाए असच्चमोसभासाए जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्चभासत्ताए मोसभासत्ताए सच्चमोसभासत्ताए असच्चमोसभासत्ताए परिणामेदूण णिस्सारंति जीवा ताणि भासादव्ववग्गणा णाम ॥७४४॥

सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा और असत्यमोषभाषाके जिन द्रव्योंको ग्रहणकर सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा और असत्यमोषभाषारूपसे परिणमाकर जीव उन्हें निकालते हैं, उन द्रव्योंकी भाषा-द्रव्यवर्गणा संज्ञा है ॥७४४॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वीरसेन आचार्य अपनी धवला टीकामें उक्त सूत्रकी व्याख्याके प्रसंगसे लिखते हैं—

भासादव्ववग्गणा सच्च-मोस-सच्चमोस-असच्चमोसभेदेण चउव्विहा। एवं चउव्विहत्तं कुदो णव्वदे ? चउव्विहभासाकज्जण्णहाणुववत्तीदो। चउव्विहभासाणं पाओग्गाणि जाणि दव्वाणि ताणि घेत्तूण सच्च-मोस-सच्चमोस-असच्चमोसभासाणं सरूवेण तालुवादिवावारेण परिणमाविय जीवा मुहादो णिस्सारेंति ताणि दव्वाणि भासादव्ववग्गणा णाम।

भाषा द्रव्यवर्गणा सत्य, मोष, सत्यमोष और असत्यमोषके भेदसे ४ प्रकारकी है।

शंका—यह ४ प्रकारकी है ऐसा किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान—उसका ४ प्रकारका भाषारूप कार्य अन्यथा बन नहीं सकता है, इससे जाना जाता है कि वह ४ प्रकारकी है।

४ प्रकारकी भाषाके योग्य जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहणकर तालु आदिके व्यापार द्वारा सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा और असत्यमोषभाषारूपसे परिणमाकर जीव मुखसे निकालते हैं, अतएव उन द्रव्योंकी भाषा-द्रव्यवर्गणा संज्ञा है ॥७४४॥

यह आगमप्रमाण है। इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि जो भाषा सत्यरूप परिणमती है, जो भाषा असत्यरूप परिणमती है, जो भाषा उभयरूप परिणमती है और जो भाषा अनुभयरूप परिणमती है उसका उस उस प्रकारका परिणमन न तो पुरुषके तालु आदिके व्यापारसे उत्पन्न किया जा सकता है और न ही पुरुषकी इच्छा अथवा ज्ञानविशेषसे उत्पन्न किया जा सकता है। किन्तु जिस कालमें सत्यादिरूप जिस प्रकारकी भाषा उत्पन्न होती है उस कालमें वह सत्यादि भाषावर्गणागत अपने अपने उपादानके अनुसार ही उत्पन्न होती है। मात्र उत्पत्तिके समय यथासम्भव पुरुषका तालु आदिका व्यापार तथा अन्य भव्य जीवोंका पुण्योदय आदि निमित्त अवश्य हैं। इनका अनादिकालसे ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक योग चला आ रहा है। अतएव शब्दोंमें पदार्थोंकी अर्थप्रतिपादकता उनकी सहज योग्यताका सुफल है, अन्य तो उसमें निमित्तमात्र है ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिये। इसी तथ्यको ध्यानमें रखते हुए आचार्य माणिक्यनंदिने अपने परीक्षामुख नामक न्यायग्रंथमें लिखा है—

सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयः वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥ —अ० ३ सूत्र १०० ॥

सहजयोग्यताके सद्भावमें संकेतके वशसे शब्दादिक वस्तुप्रतिपत्तिके कारण हैं ॥ —अ० ३ सूत्र १००॥

जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञापक और ज्ञाप्य शक्ति सहज पाई जाती है, वह किसी पुरुषका कार्य नहीं है, उसी प्रकार अर्थ (वस्तु) और शब्दोंमें प्रतिपाद्य और प्रतिपादक शक्ति सहज होती है, वह किसी पुरुषके तालु आदिके व्यापारसे जायमान नहीं है, अतएव शब्दोंमें सहज ही प्रतिपादकता पाई जाती है और उसीसे विवक्षित शब्द द्वारा प्रतिपाद्यभूत विवक्षित पदार्थका प्रतिपादन किया जाता है। शब्दों द्वारा पदार्थोंके प्रतिपादनरूप कार्योंमें यद्यपि पुरुषके तालु आदिका व्यापार अवश्य ही निमित्त है, परन्तु उपादानके अभावमें

पुरुषके तालु आदि व्यापार द्वारा अर्थप्रतिपादकतारूप शब्दकार्यकी उत्पत्ति होती हो यह कभी भी संभव नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

प्रत्येक शब्द स्वभावसे अपने प्रतिनियत अर्थका ही प्रतिपादन करता है ऐसा नियम है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० १३६ में लिखा है—

निष्पर्यायं भावाभावाभिधानं नाञ्जसैव विषयीकरोति शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, सर्वस्य पदस्यैकार्थ-विषयत्वप्रसिद्धेः। सदिति पदस्यासदविषयत्वात् असदिति पदस्य च सदविषयत्वात्, अन्यथा तदन्यतरप्रयोग संशयात्। गौरिति पदस्यापि दिशाद्यनेकार्थविषयतया प्रसिद्धस्य तत्त्वतोऽनेकत्वात् सादृश्योपचारादेव तस्यैकत्वेन व्यवहरणात्, अन्यथा सर्वस्यैकशब्दवाच्यतापत्तेः प्रत्येकमप्यनेकशब्दप्रयोगवैफल्यात्। यथैव हि-शब्दभेदाद् ध्रुवोऽर्थभेदस्तथार्थभेदादपि शब्दभेदः सिद्ध एव, अन्यथा वाच्यवाचकनियमे व्यवहारविलोपात्।

वचन क्रमके बिना भाव और अभावको नियमसे विषय नहीं करता, क्योंकि इस प्रकारकी शब्दकी शक्ति स्वभावसे है, सभी पद एक अर्थको विषय करनेरूपसे ही प्रसिद्ध हैं। कारण कि सत् इस पदका असत् अविषय है और असत् इस पदका सत् अविषय है, अन्यथा उनमेंसे किसी एकका प्रयोग करने पर संशय होना अवश्यंभावी है। यद्यपि 'गौ' यह पद दिशादि अनेक अर्थोंको विषय करनेवाला प्रसिद्ध है, परन्तु वास्तवमें 'गौ' ये पद अनेक ही हैं, सादृश्यका उपचार करनेसे ही उस पदका एकरूपसे व्यवहार होता है, अन्यथा सभी पदार्थोंको एक शब्दके वाच्य होनेकी आपत्ति आती है। साथ ही प्रत्येक पदार्थके लिए पृथक्-पृथक् एक-एक शब्दका प्रयोग करना निष्फल ठहरता है। जिस प्रकार शब्दभेदके कारण नियमसे अर्थभेद है उसी प्रकार अर्थभेदके कारण शब्दभेद भी है यह सिद्ध होता है। अन्यथा वाच्यवाचकनियम व्यवहारका लोप प्राप्त होता है।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वहीं पृ० १३७ में लिखा है—

तथा शब्दस्यापि सकृदेकस्मिन्नेवार्थे प्रतिपादनशक्तिर्न पुनरनेकस्मिन्, संकेतस्य तच्छक्त्यपेक्षया तत्र प्रवृत्तेः। सेनावनादिशब्दस्यापि नानेकत्रार्थे प्रवृत्तिः, करितुरगरथपदातिप्रत्यासत्तिविशेषस्यैकस्य सेना-शब्देनाभिधानात्।

उसी प्रकार शब्दकी भी एक बार एक ही अर्थमें प्रतिपादनशक्ति है, अनेक अर्थमें नहीं, क्योंकि संकेत उस शक्तिकी अपेक्षासे ही उसमें प्रवृत्त होता है। सेना और वन आदि शब्दकी भी अनेक अर्थमें प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि सेना शब्दके द्वारा हाथी घोड़ा, रथ और पदातिसंबंधी एक प्रत्यासत्तिविशेष ही कही जाती है।

इससे स्पष्ट है कि प्रतिनियत शब्द स्वभावसे ही अपने प्रतिनियत अर्थका प्रतिपादन करता है।

हम अपने दूसरे उत्तरके अंतमें यह स्पष्ट कर आये हैं कि 'वास्तवमें दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है, क्योंकि यदि उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित नहीं मानी जाती है तो वह अन्यसे उत्पन्न नहीं की जा सकती। फिर भी असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करने पर उसे निमित्तोंकी अपेक्षा पराश्रित कहा गया है।' किन्तु अपर पक्षको हमारा यह कथन मान्य नहीं है। उसका कहना है कि 'शब्दोंके द्वारा पदार्थोंकी प्रकाशकता पुरुषव्यापारकी अपेक्षा रखता है, इसलिए उनमें स्वाश्रित प्रामाणिकता नहीं हो सकती। यह अपर पक्षके कथनका सार है। इससे ऐसा विदित होता है कि अपर पक्ष शब्दगत सहज योग्यताको स्वीकार नहीं करना चाहता जो कि आगममें प्रतिपादित है। साथ ही इससे यह भी फलित होता है कि जो उपादान जिस

कार्यरूप परिणमता है उसमें उस कार्यरूप होनेकी योग्यता ही नहीं होती, मात्र निमित्तोंके व्यापारद्वारा उपादानमें उस प्रकारका कार्य हो जाता है। यदि अपर पक्षका शब्दोंमें स्वाश्रित प्रामाणिकताके निषेध करनेका यही तात्पर्य हो तो कहना होगा कि उपादान नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। जहाँ जो कार्य उत्पन्न होता है मात्र निमित्तोंके बलसे होता है। किन्तु आगम ऐसे मन्तव्यको स्वीकार नहीं करता, क्योंकि आगमका अभिप्राय है कि जिस समय जिस तालु आदिके व्यापार आदिको निमित्तकर जो शब्द उत्पन्न होता है उसका यदि उपादान उसरूप हो तभी उस प्रकारके शब्दकी उत्पत्ति हो सकती है और उसीमें पुरुषके तालु आदिका व्यापार आदि निमित्त होता है। आगममें सत्यादिरूप चार प्रकारकी पृथक्-पृथक् वर्गणाओंको स्वीकार करनेका यही तात्पर्य है। यद्यपि अनेक स्थलों पर आगममें वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंको प्रमाणता स्वीकार की गई है, यह हम भली भाँति जानते हैं। परन्तु उसका इतना ही आशय है कि रागी-द्वेषी आदिरूप यदि वक्ता हो तो वह समीचीन प्रामाणिक भाषाकी उत्पत्तिका निमित्त त्रिकालमें नहीं हो सकता। समीचीन प्रामाणिक भाषाकी उत्पत्तिमें उसी प्रकारका ही निमित्त होगा, अन्य प्रकारका नहीं। अतएव अनेकान्तको प्रमाण माननेवाले महानुभावोंको ऐसा ही निश्चय करना चाहिए कि उपादानकी अपेक्षा शब्दोंमें स्वाश्रित प्रमाणता होती है और निमित्तोंकी अपेक्षा उनमें पराश्रित प्रामाणिकताका व्यवहार किया जाता है।

: ३ :

'दिव्यध्वनिमें केवलज्ञानकी प्रमाणतासे प्रमाणता आई है, इसलिए दिव्यध्वनिको स्वाश्रित प्रमाण कहना आगमविरुद्ध है।' यह जो अपर पक्षका कथन है उसका समाधान पिछले वक्तव्यसे हो जाता है, क्योंकि जिस उपादानसे जिस प्रकारका कार्य उत्पन्न होता है उसमें उस प्रकारकी योग्यताको स्वीकार किये बिना उस प्रकारका कार्य नहीं हो सकता। निमित्त भी उसी कार्यके अनुकूल होता है। तभी उसमें निमित्तव्यवहारकी सार्थकता है। जैसे कुम्भकी उत्पत्तिके अनुकूल कुम्भकारका व्यापार होता है और कुम्भकारके व्यापारके अनुरूप मिट्टीमें उपादान योग्यता होती है उसी प्रकार प्रकृतमें दिव्यध्वनिकी उत्पत्तिके अनुकूल केवली जिनका वचनयोग व केवलज्ञान आदि होते हैं तथा इनके अनुरूप शब्दवर्गणाओंमें उपादानयोग्यता होती है। इसलिए दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता अपने उपादानकी अपेक्षा स्वाश्रित है और निमित्तकी अपेक्षा वह पराश्रित मानी गई है। अतएव दिव्यध्वनिको स्वाश्रित प्रमाणताको आगमविरुद्ध कहना आगमकी अवहेलना ही है। यह हम पूर्वमें ही बतला आये हैं कि सत्यभाषाका उपादान सत्यभाषावर्गणा ही होता है और अनुभय भाषाका उपादान अनुभय भाषावर्गणा ही है। अतएव केवली जिनके दिव्यध्वनिके होनेमें सत्य और अनुभय भाषाओंका ही योग मिलता है, इसलिए केवली जिनके वचनयोग आदिको निमित्त कर उसी प्रकारकी दिव्यध्वनि होती है, अन्य प्रकारकी नहीं।

: ४ :

अपर पक्षका यह भी कहना है कि 'लौकिक या आगम शब्दोंकी सहज योग्यता पुरुषोंके द्वारा संकेतके आधीन ही पदार्थका प्रकाशक मानना चाहिए।' किन्तु उस पक्षके इस कथन पर भी बारीकीसे विचार किया जाता है तो इसमें अणुमात्र भी यथार्थता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि एक ओर शब्दोंमें सहज योग्यता स्वीकार की जाए और दूसरी ओर उसे एकान्तसे पुरुषोंके द्वारा संकेतके आधीन मानी जाय यह परस्पर विरुद्ध है। इसे तो शब्दोंकी सहज योग्यताकी विडम्बना ही माननी चाहिए। जब कि पूर्वाचार्योंने सत्यादिके भेदसे भाषा-

वर्गणाएँ ही पृथक्-पृथक् मानी हैं। ऐसी अवस्थामें उनसे उत्पन्न हुए शब्दोंमें केवल पुरुषों द्वारा किये गये संकेतके आधीन ही पदार्थोंकी प्रकाशकता बनती हो ऐसा नहीं है। दिव्यध्वनिकी यह विशेषता है कि भाषा-वर्गणाके आधारसे उत्पन्न हुए शब्द वाच्यरूप जिस जिस अर्थके वाचक होते हैं उसी उसी अर्थका वे प्रतिपादन करते हैं। उनका प्रतिपादन पुरुषोंकी इच्छा पर अवलंबित नहीं है। यही कारण है कि आगममें जितने भी शब्दोंका प्रयोग हुआ है वे आर्हत प्रवचनके समान संतानकी अपेक्षा अनादिनिधन माने गये हैं। ऐसा नहीं है कि भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनिमें 'जीव' शब्दका प्रयोग अन्य अर्थमें हुआ है और भगवान् आदिनाथकी दिव्यध्वनिमें उसका प्रयोग किसी दूसरे अर्थमें हुआ होगा। आगमकी प्रमाणता भी इसी पर निर्भर है, वक्ताओंकी इच्छाओं पर नहीं। इसीका नाम शब्दोंकी सहज योग्यता है। प्रामाणिक वक्ता इसी आधार पर उन उन शब्दोंका प्रयोग करता है। भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ५ सूत्र १ में लिखते हैं—

धर्मादयः संज्ञाः सामयिक्यः ।१६। धर्मादयः संज्ञाः सामयिक्यो दृष्टव्याः। आर्हते हि प्रवचनेऽनादिनिधने अर्हदादिभिः यथाकालमभिव्यक्तज्ञानदर्शनातिशयप्रकाशैरवद्योतितार्थसारे रूढा एताः संज्ञा ज्ञेयाः।

धर्मादिक संज्ञाएँ सामयिक हैं ।१६। धर्मादिक संज्ञाएँ सामयिक जाननी चाहिए। अर्हन्तादिकके द्वारा उस उस कालमें प्रगट हुए ज्ञान-दर्शनातिशयरूप प्रकाशके द्वारा जिसमें पदार्थसार प्रकाशित किया गया है ऐसे अनादिनिधन आर्हतप्रवचनमें ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल आदि संज्ञाएँ रूढ़ जाननी चाहिए।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४२९ में बतलाया है—

शब्दस्यानादिपरम्परातोऽर्थमात्रे प्रसिद्धसम्बन्धत्वात्, तेनागतसम्बन्धस्य घटादिशब्दस्य संकेत-करणात्।

शब्दका अनादि परम्परासे अर्थमात्रमें सम्बन्ध प्रसिद्ध है, इसलिए तत्तत् अर्थके साथ सम्बन्धको जानकर ही घटादि शब्दका प्रयोग किया जाता है।

दूसरे शब्दोंमें इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४३१ में बतलाया है—

यत्नतो हि शब्दोऽर्थवत्त्वेतरस्वभावतया परीक्षितोऽर्थं न व्यभिचरति इति।

यत्नपूर्वक अर्थवत्त्व और इतर स्वभावरूपसे परीक्षित हुआ शब्द अर्थके प्रति व्यभिचरित नहीं होता।

अतएव प्रतिशंका ३ में एकान्तसे यह लिखना कि 'शब्द अपने अर्थको तो कहता नहीं, किस अर्थमें उसका प्रयोग किया जाय यह वक्ताकी इच्छा पर अवलम्बित है', ठीक नहीं है, क्योंकि जैसा कि पूर्वोक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है, अनादि कालसे उस उस शब्दका प्रयोग जो जो उसका वाच्य है उस उस अर्थमें होता आ रहा है; अतएव एक ओर तो शब्दमें ऐसी उपादान योग्यता होती है कि वह विवक्षित अर्थका ही प्रतिपादन करे और दूसरी ओर प्रामाणिक वक्ता भी कौन शब्द अनादिकालसे किस अर्थका प्रतिपादन करता आ रहा है इस बातको जानकर उसी अर्थमें उस शब्दका प्रयोग करता है। इस प्रकार अनादिकालसे शब्दोंमें जहाँ स्वाश्रित प्रमाणता चली आ रही है वहाँ वह निमित्तोंकी अपेक्षा पराश्रित भी घटित की जाती है।

यद्यपि लोकमें सदृशपनेकी अपेक्षा एक ही शब्दका प्रयोग सम्प्रदायभेदसे भिन्न-भिन्न अर्थमें होता हुआ देखा जाता है, इसलिए अपर पक्षकी ओरसे यह आपत्ति उपस्थित की जा सकती है कि यदि शब्दोंका

प्रयोग केवल वक्ताओंकी इच्छा पर अवलम्बित न होता तो सम्प्रदायभेदसे शब्दोंके अर्थमें अन्तर नहीं पड़ना चाहिए था ? समाधान यह है कि ऐसे स्थलों पर गलत शब्दोंके प्रयोगमें उन उन सम्प्रदायवालोंके अज्ञानको प्रमुख कारण मानना चाहिए। अतएव पूर्वोक्त कथनसे यही फलित होता है कि लौकिक और आगमिक शब्दोंकी सहज योग्यता पुरुषोंके द्वारा किये गये संकेतके आधीन न होकर अपने अपने उपादानके अनुसार होती है और इसी आधार पर लोकमें तथा आगममें प्रत्येक शब्द पदार्थका प्रकाशक स्वीकार किया गया है। हम पहले परीक्षामुखका 'सहजयोग्यता' इत्यादि सूत्र उद्धृत कर आये हैं सो उस द्वारा भी यही प्रसिद्ध किया गया है कि प्रत्येक शब्दमें उपादानरूपसे जो सहज योग्यता होती है उसके अनुसार होनेवाले संकेतमें वक्ता निमित्त है और इस प्रकार प्रत्येक शब्द अर्थप्रतिपत्तिका हेतु है। विविध भाषाओंके सम्मिलित शब्द-कोषों तथा एक भाषाके एकार्थक नाना शब्दोंको या नानार्थक एक शब्दको बतलानेवाले कोषोंकी सार्थ-कता भी इसीमें है। स्पष्ट है कि अपने उपादानकी अपेक्षा शब्दोंमें स्वाश्रित प्रमाणता स्वीकार करके ही उनमें निमित्तोंकी अपेक्षा पराश्रित प्रमाणता आगममें स्वीकार की गई है।

३. आगमप्रमाणोंका स्पष्टीकरण

इस प्रकार शब्दोंमें प्रामाणिकता किस अपेक्षासे स्वाश्रित सिद्ध होती है और किस अपेक्षासे वह परा-श्रित मानी गई है इसका सप्रमाण स्पष्टीकरण करनेके बाद अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनके लिये आगमके जिन प्रमाणोंको उद्धृत किया है वे कहाँ किस अभिप्रायसे दिये गये हैं इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—

: १ :

मीमांसादर्शन प्रत्येक वर्णको सर्वथा नित्य और व्यापक मानकर तथा ताल्वादि व्यापारसे उनकी अभि-व्यक्ति स्वीकार करके भी उन्हें कार्यरूपसे अनित्य स्वीकार नहीं करता। प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४०१ में मीमांसादर्शनके इस मतका निरास करनेके अभिप्रायसे ही यह कहा गया है कि 'शब्द ऐसा नहीं कहते कि हमारा यह अर्थ है या नहीं है, किन्तु पुरुषोंके द्वारा ही शब्दोंका अर्थ संकेत किया जाता है!' अतएव इस उद्धरणको उपस्थित कर एकान्तसे शब्दोंको पुरुषों द्वारा किये गये संकेतोंके आधीन मानना ठीक नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। फिर तो केवली जिनकी दिव्यध्वनि द्वारा जो अर्थ प्ररूपणा होती है उसे प्रत्येक श्रोता अपने अपने संकेतके अनुसार ही समझेगा, अतएव सबको एकार्थकी प्रतिपत्ति नहीं बन सकेगी। केवली जिनकी वाणीमें आया कि 'जीव है' इसे सुनकर एक श्रोता अपने द्वारा कल्पित संकेतके अनुसार समझेगा कि भगवान्‌का उपदेश है कि 'जीव नहीं है।' दूसरा उसीको सुनकर अपने द्वारा कल्पित संकेतके अनुसार समझेगा कि भगवान्‌का उपदेश है कि 'पुद्गल है।' और इस प्रकार वचनोंकी प्रमाणता सिद्ध न होनेसे आगमकी प्रमाणता भी नहीं बनेगी। अतएव प्रकृतमें यही मानना उचित है कि शब्दका अनादि परम्परासे अर्थमात्रमें वाच्यवाचकसम्बन्ध है, अतएव अर्थके साथ अवगत सम्बन्धवाले घटादि शब्दका संकेत किया जाता है। (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४२९)

: २ :

मीमांसक दर्शन सर्वज्ञकी सत्ता स्वीकार नहीं करता, फिर भी वेदार्थकी यथार्थता और उसका यथार्थ प्रतिपादन मान लेता है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर सर्वज्ञकी सत्ता स्वीकार करानेके अभिप्रायसे धवला पु० १ पृ० १९६ में निमित्तकी अपेक्षा यह कहा गया है कि 'वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंमें प्रमाणता आती है।'

इसलिए इस उल्लेख परसे दिव्यध्वनिकी स्वाश्रित प्रमाणताका निषेध नहीं होता, क्योंकि कार्य-कारण सिद्धान्तके अनुसार जैसा उपादान होता है, निमित्त भी उसीके अनुकूल होते हैं। इसलिए असर्वज्ञवादीको यही कहा जायगा कि 'वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंमें प्रमाणतासे आती है।' पर इसे एकान्त मानना ठीक नहीं है, अतएव इस प्रमाणसे भी दिव्यध्वनिकी स्वाश्रित प्रमाणता आगमविरुद्ध घोषित नहीं की जा सकती।

: ३ :

जयधवला पुस्तक १ पृ० ८८ द्वारा पूर्व-पूर्व प्रमाणता स्थापित कर अन्तमें सर्वज्ञकी प्रमाणता स्वीकार की गई है, क्योंकि अल्पज्ञ जनोंके लिए कौन शब्द अपनी सहज योग्यता और तदनुसार अनादि परम्परासे आये हुए संकेतके अनुसार किस अर्थका प्रतिपादन करता है यह सर्वज्ञकी प्रमाणता स्वीकार करनेसे ही ज्ञात हो सकता है। अतएव इस वचनसे भी दिव्यध्वनिकी स्वाश्रित प्रमाणताका निरास नहीं किया जा सकता।

: ४ :

कार्यके प्रति निमित्त और उपादानकी समव्याप्ति होती है और इसे ही कार्यके प्रति बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता कहते हैं। अतएव जैसे उपादानकी अपेक्षा यह कथन किया जाता है कि सत्य-भाषावर्गणारूप उपादानके अभावमें सत्यभाषाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार (ध० पु० ९ पृ० १०८) निमित्तकी अपेक्षा भी यह कहा जाता है कि 'रागादिका अभाव भी भगवान् महावीरमें असत्य भाषणके अभावको प्रगट करता है, क्योंकि कारणके अभावमें कार्यके अस्तित्वका विरोध है।' अतएव इस वचनसे भी दिव्यध्वनिकी स्वाश्रित प्रमाणताका निरास नहीं किया जा सकता। यही बात धवल पु० ३ पृ० १२ व २६, जयधवल पु० १ पृ० ४४, पृ० ७२ व ८२ तथा पु० ७ पृ० १२७ से भी समर्थित होती है।

: ५ :

धवल पुस्तक १ पृ० ३६८ में दिव्यध्वनिको जो ज्ञानका कार्य कहा है सो यह कथन भी निमित्तकी अपेक्षासे ही किया है, क्योंकि केवली जिनके सत्य और अनुभय वचनयोगके होनेका नियम है, अतएव इस अपेक्षासे दिव्यध्वनि केवली जिन तथा केवलज्ञानका भी कार्य कहा जाता है इसमें कोई विरोध नहीं है। राजवार्तिकका प्रमाण उपस्थितकर इस विषयका विशेष विचार पूर्वमें ही कर आये हैं। श्री गोम्मटसार जीव-काण्डका पूर्वोक्त प्रमाण भी उक्त तथ्यके समर्थनके लिए पर्याप्त है।

: ६ :

आगममें अर्थकर्ताके रूपमें तीर्थंकर जिन तथा ग्रन्थकर्ताके रूपमें गणधरदेव और आरातीय आचार्यों-को बतलाया है। सर्वार्थसिद्धि पृ० १२३ में वक्ताके रूपमें सर्वज्ञ तीर्थंकर, सामान्य केवली तथा श्रुतकेवली और आरातीय आचार्योंको बतलाया है। प्रतिशंका ३ में उक्त तथ्यको पुष्ट करनेवाले कुछ आगमप्रमाण भी दिये गये हैं। इसलिए इस विषय पर भी विशद प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

(१) जो सम्यग्दृष्टि जीव दुःखित संसारी प्राणियोंको देखकर उनके उद्धारकी भावनासे ओतप्रोत होते हैं उनके ही तीर्थंकर जैसी सातिशय पुण्यप्रकृतिका बंध होता है। अनन्तर जब वे अपने अन्तिम भवमें गुणस्थानक्रमसे ४ घातिया कर्मोंका नाशकर साक्षात् वीतराग सर्वज्ञ पदको प्राप्त करते हैं तब उनके भव्य जीवोंको परम आह्लाद करनेवाली दिव्यध्वनिका प्रवर्तन होता है। यहाँ विचारणीय यह है कि कार्य-

कारण परम्पराके अनुसार तीर्थंकर जिनको दिव्यध्वनिके प्रवर्तनमें प्रायोगिक निमित्त कहा जाय या विस्रसा निमित्त माना जाय। सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र २४ में २ प्रकारके बन्धका निर्देश करते हुए लिखा है—

बन्धो द्विविधो वैस्रसिकः प्रायोगिकश्च। पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिकः। तद्यथा—स्निग्धरूक्षत्व-गुणनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः। पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रायोगिकः अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति द्विधा भिन्नः। तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः। जीवाजीवविषयः कर्म-नोकर्मबन्धः।

बन्धके दो भेद है—वैस्रसिक और प्रायोगिक। जिसमें पुरुषका प्रयोग अपेक्षित नहीं है वह वैस्रसिक बन्ध है। जैसे स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे होनेवाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदिका विषयभूत बन्ध वैस्रसिक बन्ध है। और जो बन्ध पुरुषके प्रयोगके निमित्तसे होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। इसके दो भेद हैं—अजीवसम्बन्धी और जीवाजीवसम्बन्धी। लाख और लकड़ी आदिका अजीवसम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है। तथा कर्म और नोकर्मका जो जीवसे बन्ध होता है वह जीवाजीवसम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है।'

सर्वार्थसिद्धिके इस उद्धरणमें यद्यपि बन्धके दो भेदोंका निर्देश किया गया है तथापि इस परसे दो प्रकारके निमित्तोंका सम्यक् ज्ञान होनेमें सहायता मिलती है। वे दो प्रकारके निमित्त हैं—विस्रसा निमित्त और प्रायोगिक निमित्त। जिन कार्योंके होनेमें पुरुषका योग और विकल्प इन दोनोंकी निमित्तता स्वीकार की गई है वे प्रायोगिक कार्य कहलाते हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकारका विकल्प और योग दोनों निमित्त हैं। इसलिए कुम्भ प्रायोगिक कार्य कहा जायगा। तथा विकल्प और योग प्रायोगिक निमित्त कहलायेंगे। यह तो प्रायोगिक निमित्तोंका विचार है। इनसे भिन्न निमित्तोंको विस्रसा निमित्त कहेंगे। तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सूत्र २४ में विस्रसा शब्दके अर्थ पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

विस्रसा विधिविपर्यये निपातः।८। पौरुषेयपरिणामापेक्षो विधिः, तद्विपर्यये विस्रसाशब्दो निपातो दृष्टव्यः।

यहाँ विधिरूप अर्थसे विपर्यय अर्थमें विस्रसा शब्द आया है जो निपातनात् सिद्ध है।८। प्रकृतमें पौरुषेय परिणामसापेक्ष विधि है, उससे विपरीत अर्थमें विस्रसा शब्द जानना चाहिए। जो विस्रसा शब्द निपातनात् सिद्ध है।

समयसार गाथा ४०६ की आचार्य जयसेनकृत टीकामें प्रायोगिक और वैस्रसिक शब्दोंके अर्थका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

प्रायोगिकः कर्मसंयोगजनितः। वैस्रसिकः स्वभावजः।

कर्मके संयोगसे उत्पन्न हुआ गुण प्रायोगिक कहलाता है। तथा स्वभावसे उत्पन्न हुआ गुण वैस्रसिक कहलाता है।

समयसार गाथा १०० पर दृष्टिपात करने पर जिन योग और विकल्पको उत्पादक हेतु या कर्ता निमित्त कहा गया है उसीको प्रायोगिक संज्ञा है। और तद् इतर शब्दोंकी वैस्रसिक संज्ञा है। इस दृष्टिसे जब इस बातका विचार किया जाता है कि तीर्थंकर जिन दिव्यध्वनिके प्रवर्तनमें क्या प्रायोगिक निमित्त हैं तो विदित होता है कि उनके रागका सर्वथा अभाव होनेके कारण उन्हें प्रायोगिक निमित्त कहना उपयुक्त न होगा। माना कि उनके कर्मनिमित्तक योगका सद्भाव पाया जाता है और उनके तीर्थंकर प्रकृति तथा

शरीरादिक नामकर्मका उदय भी विद्यमान है, परन्तु उनके मनका (भावमनका) अभाव होनेके कारण जिस प्रकारकी वचन प्रवृत्ति अन्य अस्मदादि साधारण जीवोंके उपलब्ध होती है उस प्रकारकी वचनप्रवृत्ति उनके नहीं पाई जानेके कारण उन्हें दिव्यध्वनिके प्रवर्तनमें अस्मदादि जनोंके समान हेतुकर्ता कहना उचित न होगा। अतएव यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार कषायके अभावमें केवली जिनके योगकी अपेक्षा शुक्ल लेश्याका उपचार किया गया है या जिस प्रकार मनोपयोगके अभावमें केवली जिनके सूक्ष्मकाययोगके कालमें सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान उपचारसे माना गया है। उसी प्रकार जो योगक्रिया कषायके साथ अनुरंजित होकर प्रायोगिक हेतुकर्ता व्यपदेशको प्राप्त होती थी वही योगक्रिया दिव्यध्वनिके प्रवर्तनमें हेतु है। इस अपेक्षा तीर्थंकर जिनको सर्वत्र आगममें अर्थकर्ता कहा गया है। यतः इस प्रकारकी विशिष्ट योगक्रिया केवलज्ञानके सद्भावमें ही होती है। इस अपेक्षासे दिव्यध्वनि केवलज्ञानका कार्य भी आगममें कहा गया है। आगममें अनेक नयोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारसे प्रतिपादन किया गया है। श्रुतधरोंका कर्तव्य है कि जहाँ जिस विवक्षासे जो कथन किया गया हो उसे समझकर उसका व्याख्यान करें। इससे पूरे आगममें कैसे एक वाक्यता है, इसे समझनेमें सहायता मिलती है। सामान्य केवलियोंको जहाँ भी कर्ता या व्याख्याता कहा गया है वहाँ उसे इसी न्यायसे जान लेना चाहिए।

(२) आरातीय आचार्योंको ग्रन्थकर्ता या व्याख्याता किस अपेक्षा कहा गया है इसका स्पष्टीकरण यद्यपि पूर्वमें किये गये प्रायोगिक शब्दके स्पष्टीकरणसे हो जाता है तथापि यहाँ इनके विषयमें दो प्रकारसे विचार करना इष्ट है—एक ज्ञानभावकी अपेक्षा और दूसरे रागपरिणतिकी अपेक्षा। ज्ञानभावकी अपेक्षा विचार करने पर जितनी भी स्वभावपरिणति जीवके होती है उसमें पर द्रव्यके कार्यके प्रति अणुमात्र भी निमित्तता घटित नहीं की जा सकती। अतएव इस अपेक्षासे उन्हें ग्रन्थकर्ता या व्याख्याता कहना सम्भव नहीं है। इस अपेक्षासे तो स्वयं शब्दवर्गणाएँ अपने परिणमनरूप शक्तिके कारण शब्द, पद, वाक्यरूप परिणमन करती हुई ग्रन्थविस्तार या प्रवचनविस्तारकी हेतु होती हैं। उसमें ज्ञानीका ज्ञानभाव रंचमात्र भी कारण नहीं है। अन्यथा अयोगकेवली और सिद्धोंको भी वचनप्रवृत्तिमें हेतु माननेका प्रसंग आएगा। यह निश्चयनयका वक्तव्य है। व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करने पर तो जब जब ज्ञानी सविकल्प अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब तब उनके चित्तमें भव्य जीवोंको उपदेश देनेका भी विचार आता है और ग्रन्थरचनाकी भी इच्छा जाग्रत होती है। यद्यपि इस अवस्थामें भी वे स्वयं ऐसे रागके प्रति हेयबुद्धि ही रखते हैं उसे उपादेय नहीं मानते, फिर भी रागपूर्वक जो जो कार्य होना चाहिए वह होता अवश्य है। इसलिए इस अपेक्षासे वे उपेक्षा बुद्धिपूर्वक ग्रन्थ रचनाके हेतुकर्ता और व्याख्याता भी कहे गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द प्रभृति महर्षियोंने यदि कहीं 'वोच्छामि' आदि शब्दोंका प्रयोग अपने ग्रन्थोंमें किया है तो वह इसी अभिप्रायसे किया है इससे अपर पक्षका जो यह कहना है कि आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारगाथा ४१५ की आत्मख्याति टीका और अन्तिम कलशमें वचनकी स्वाश्रित प्रमाणता न बतलाकर मात्र उक्त उल्लेख द्वारा अपनी लघुता प्रगट की है सो उस पक्षका यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि यथार्थरूपसे विचार करने पर समयसार और उसकी आत्मख्याति टीकाकी जो रचना हुई है वह शब्दोंकी अपनी तद्रूप परिणमनशक्तिका ही फल है, आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द तो उसमें राग और योगकी अपेक्षा निमित्तमात्र हैं।

हमने अपने दूसरे उत्तरमें समयसार गाथा ९९ और १०० के आधारसे जिन पाँच सिद्धान्तोंकी विवेचना की थी उन पर अपर पक्षने जिस टोनमें टीका की है वह उपेक्षणीय ही है। फिर भी यहाँ हम जिन पाँच सिद्धान्तोंका दूसरे उत्तरमें निर्देश कर आये हैं उनका सांगोपांग विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं—

(१) समयसार गाथा ९८ में व्यवहारसे जिस कर्तृत्वका विधान किया है वह व्यवहारी जनोंका व्यामोह मात्र क्यों है इसका स्पष्टीकरण गाथा ९९ में करते हुए बतलाया है 'यदि आत्मा परद्रव्योंको करे तो वह उनके साथ नियमसे तन्मय हो जाए। परन्तु तन्मय नहीं होता इस कारण वह उनका कर्ता नहीं है।' इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें यथार्थ कर्तृत्वका सर्वथा अभाव है। इस परसे यह सिद्धान्त फलित हुआ—

'आत्मा व्याप्य-व्यापकभावसे तन्मयताका प्रसंग आनेके कारण परद्रव्योंकी पर्यायोंका कर्ता नहीं है।'

इस सिद्धान्तमें आत्मा पदसे उपादानरूप आत्माका ग्रहण किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि निश्चयसे न सही, व्यवहारसे तो एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता माननेमें आपत्ति नहीं है। समाधान यह है कि व्यवहारसे निमित्तपनेका ज्ञान करानेके लिए एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायका उपचारसे कर्ता कहा जाता है। इस कार्यका निश्चय कर्ता कौन है यह ज्ञान कराना इसका प्रयोजन है।

(२) गाथा १०० में जीव परद्रव्यकी पर्यायोंका निमित्तनैमित्तिकभावसे भी कर्ता नहीं है, यह प्रतिपादन किया गया है। ऐसा प्रतिपादन करते हुए प्रकृतमें जीवपदसे द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत आत्मा लिया गया है, क्योंकि यदि ऐसे जीवको परद्रव्योंकी पर्यायोंका निमित्त-नैमित्तिकभावसे भी कर्ता मान लिया जाय तो इसके सदाकाल एकरूप अवस्थित रहनेके कारण सदा ही निमित्तरूपसे कर्ता बननेका प्रसंग आयगा। किन्तु कोई भी द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत द्रव्य परद्रव्यकी पर्यायकी उत्पत्तिमें व्यवहारहेतु नहीं होता ऐसा एकान्त नियम है। अतएव इस परसे यह सिद्धान्त फलित हुआ कि—

सामान्य आत्मा निमित्तनैमित्तिकभावसे परद्रव्योंकी पर्यायोंका कर्ता नहीं है। अन्यथा नित्य निमित्तिकर्तृत्वका प्रसंग आता है।

(३) ज्ञानी जीवके रागादिकका स्वामित्व नहीं है। इसलिए वह रागादिकके स्वामित्वके अभावमें परद्रव्योंकी पर्यायोंका निमित्त कर्ता नहीं बनता। साथ ही वह यह भी जानता है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रति समय परिणमन करना उसका स्वभाव है, उसमें फेर-फार करना किसीके आधीन नहीं। अन्य द्रव्य तो उस उस परिणमनमें निमित्तमात्र है। इसलिए इसपरसे यह सिद्धान्त फलित हुआ कि—

अज्ञानी जीवके योग और उपयोग (विकल्प) परद्रव्योंकी पर्यायोंके व्यवहारसे निमित्त कर्ता हैं।

(४) ज्ञान भावके साथ अज्ञान भावके होनेका विरोध है। इस परसे यह सिद्धान्त फलित हुआ कि—

आत्मा अज्ञान भावसे योग और उपयोगका कर्ता है, तथापि परद्रव्योंकी पर्यायोंका कर्ता कदाचित् भी नहीं है।

(५) ज्ञानभाव कहो या स्वभाव पर्याय दोनोंका एक ही तात्पर्य है। इस परसे यह सिद्धान्त फलित हुआ कि आत्मा ज्ञानभावसे परद्रव्योंकी पर्यायोंका भी निमित्तकर्ता नहीं है।

ये ५ जिनागमके सारभूत सिद्धान्त हैं। इनके आधारसे हमारा उपहास किया जा सकता है, किन्तु

ये अमिट हैं। उपहास करनेमात्रसे इनको अप्रमाण नहीं ठहराया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि विकल्प और योगका स्वामित्व स्वीकार कर हमारे मनमें चर्चा करनेका यदि उत्साह हुआ होगा तो ऐसी अवस्थामें अपर पक्षके द्वारा हमें अज्ञानी प्रसिद्ध करना सत्यका ही उद्घाटन कहलायगा। और यदि मोक्षमार्गकी प्रसिद्धिके सदभिप्रायवश ज्ञानभावके प्रति आदर रखते हुए चर्चासम्बन्धी यह कार्य हुआ होगा तो अन्यके द्वारा हमें अज्ञानी कहे जाने पर भी, हम अज्ञानी नहीं बन जावेंगे। यह तो अपनी अपनी परिणति है उसे वह स्वयं जान सकता है या विशेष ज्ञानी। विज्ञेषु किमधिकम्।

प्रथम दौर

: १ :

शंका १

सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसीसे बँधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है तो उसके बंधनोंसे छूटनेका उपाय क्या है ?

समाधान १

सांसारिक जीव सद्भूतव्यवहारस्वरूप अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अपने अज्ञानरूप राग, द्वेष और मोह आदि अशुद्धभावोंसे बद्ध है।

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्प-निर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः। तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोह-राग-द्वेषैरुप-रक्तात्मस्वभावत्वान्नील-पीत-रक्तोपाश्रयप्रत्ययनील–पीत-रक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद् बन्धो भवति ॥१७४॥

–प्रवचनसार गा० १७५

अर्थ—प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभास-स्वरूप है। उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंको प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है वह काला, पीला और लाल आश्रय जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और ललाईके द्वारा उपरक्तस्वभाववाले स्फटिक मणिकी भाँति–पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेषके द्वारा उपरक्त (विकारी) आत्मस्वभाववाला होनेसे स्वयं अकेला ही बन्धरूप है, क्योंकि मोह, राग, द्वेषादि भाव इसका द्वितीय है ॥१७४॥

असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों तथा औदारिक शरीरादि नोकर्मके साथ बद्ध है।

यत्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबंधः। यस्तु जीव-स्यौपाधिकमोह-राग-द्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः। यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्पर-परिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः ॥१७७॥

–प्रवचनसार गाथा १७७ टीका

अर्थ—प्रथम तो यहाँ, कर्मोंका जो स्निग्धता-रूक्षतारूप स्पर्श विशेषोंके साथ एकत्वपरिणाम है सो केवल पुद्गलबन्ध है; और जीवका औपाधिक मोह, राग, द्वेषरूप पर्यायोंके साथ जो एकत्व परिणाम है सो केवल जीवबंध है; और जीव तथा कर्म पुद्गलके परस्पर परिणामके निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबंध है अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक-दूसरेके परिणाममें निमित्तमात्र होवें ऐसा जो (विशिष्ट प्रकारका) उनका एकक्षेत्रावगाह संबंध है सो वह पुद्गलजीवात्मक बंध है।

तथा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा परम पारिणामिक भावस्वरूप शुद्ध जीवके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होनेसे वह सकल दोषोंसे विमुक्त है। श्री नियमसारजीकी गाथा ४५ की टीकामें कहा भी है—

शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवास्तिकायस्य द्रव्य-भावनोकर्माभावात् सकलदोषनिर्मुक्तः।

अर्थ पूर्वमें दिया ही है।

इस प्रकार सांसारिक जीव किस अपेक्षा बद्ध है और किस अपेक्षासे मुक्त (अबद्ध) है, आगमसे इसका सम्यक् निर्णय हो जानेपर वह किससे बँधा हुआ है; और किसीसे बँधा हुआ होनेके कारण वह परतन्त्र किस प्रकार है इसका सम्यक् निर्णय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करते हैं तो वह अज्ञानरूप अपने अशुद्धभावोंसे वास्तवमें बद्ध है। उसे यदि बद्धताका अभाव करना है तो अपनी इसी बद्धताका अभाव करना है। उसका अभाव होनेसे जो असद्भूतव्यवहाररूप बद्धता कही गई है उसका अभाव स्वयमेव नियमसे हो जाता है, क्योंकि अशुद्ध निश्चय और व्यवहारके भावाभावके सहगामी होनेका सर्वत्र यही नियम है।

अतएव संसारी आत्मामें यदि परतन्त्रताकी अपेक्षा विचार किया जाता है तो वह अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अपने अज्ञान भावसे बद्ध होनेके कारण वास्तवमें परतन्त्र है और असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षा विचार किया जाता है तो उसमें उपचरितरूपसे कर्म और नोकर्मकी अपेक्षा भी परतन्त्रता घटित होती है।

इस प्रकार संसारी आत्मा किस अपेक्षा किस प्रकार बँधा है इसका सम्यक् निर्णय हो जाने पर उसके बंधनोंसे छूटनेके उपाय क्या हैं ? इसका सम्यक् निर्णय करनेमें देर नहीं लगती।

आगममें सर्वत्र यह तो बतलाया है कि यदि संसारी आत्मा अपने बद्ध पर्यायरूप राग, द्वेष और मोह आदि अज्ञान भावोंका अभाव करनेके लिये अंतरंग पुरुषार्थ नहीं करता है और केवल जिसे आगममें उपचारसे व्यवहारधर्म कहा है उसीमें प्रयत्नशील रहता है तो उसके द्रव्यकर्मोंकी निर्जरा न होनेके समान है। इसी आशयको ध्यानमें रखकर श्री छहढालामें जो यह कहा है कि—

कोटि जनम तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते॥

वह यथार्थ ही कहा है।

यह कथन केवल पं० प्रवर दौलतरामजीने ही किया हो ऐसा नहीं है, किन्तु प्राचीन परमागममें भी इसका सम्यक् निरूपण हुआ है। आचार्यवर्य अमृतचन्द्र इसी आशयको व्यक्त करते हुए समयसारजीके कलशमें कहते हैं—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२३९॥

अर्थ—तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो राग-द्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किञ्चित् मात्र भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने स्वभावसे ही होती हुई अन्तरंगमें अत्यन्त प्रगट प्रकाशित होती है ॥२३९॥

अतएव संसारी आत्माको द्रव्य-भावरूप उभय-बंधनोंसे छूटनेका उपाय करते समय निश्चय-व्यवहार उभयरूप धर्मका आश्रय लेनेकी आवश्यकता है। उसमें भी नियम यह है कि जब यह आत्मा अपने परम निश्चल परमात्मरूप ज्ञायकभावका आश्रय लेकर सम्यक् पुरुषार्थ करता है तब उसके अन्तरंगमें निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जितनी जितनी विशुद्धि प्रगट होती जाती है उसीके अनुपातमें उसके बाह्यमें द्रव्यकर्मका अभाव होता हुआ व्यवहार धर्मकी भी प्राप्ति होती जाती है। यह ऐसा विषय नहीं है, जिन्हें करणानुयोग का सम्यग्ज्ञान है, उनकी विवेकशालिनी दृष्टिसे ओझल हो। यही कारण है कि आचार्यवर्य अमृतचन्द्र समयसार कलशमें सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ताः यस्मिन्नपदमपदं तद्धि बुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

अर्थ—हे अविवेकी प्राणियो! अनादि संसारसे लेकर पर्याय पर्यायमें ये रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पदमें सो रहे हैं वह पद (स्थान) अपद है, अपद है (तुम्हारा पद नहीं है) ऐसा तुम अनुभव करो। इस ओर आओ, इस ओर आओ। तुम्हारा पद यह है, तुम्हारा पद यह है जहाँ शुद्ध अतिशय शुद्ध चैतन्यधातु निजरसकी अतिशयताके कारण स्थायिभावत्वको प्राप्त है अर्थात् स्थिर है, अविनाशी है ॥ १३८ ॥

●

द्वितीय दौर

: २ :

शंका ९

हमारा प्रश्न था कि—सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसीसे बँधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धनसे छूटनेका उपाय क्या है?

प्रतिशंका २

इस प्रश्नके उत्तरमें आपने संसारी जीवको परतन्त्र तो माना है, किन्तु किस 'पर' (पदार्थ) के 'तन्त्र' (अधीन) संसारी आत्मा है उस 'पर' का स्पष्ट उल्लेख आपके उत्तरमें नहीं आया।

बन्धका विवेचन करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें लिखा है—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मण-वयण-कायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदि-राग-दोस-मोहजुदो ॥१४८॥

अर्थ—मन-वचन-कायके हलन, चलनसे उत्पन्न हुआ आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दरूप योग होता है। उस योगसे जो कार्मण वर्गणाओंका संसारी जीवको ग्रहण होता है वह वन्ध है। वह कर्मवन्ध जीवके राग, द्वेप, मोह आदि भावोंके निमित्तसे होता है।

श्री अमृतचन्द्र सूरिने इस गाथाकी टीकामें लिखा है—

वन्धस्तु कर्मपुद्गलानां विशिष्टशक्तिपरिणामेनावस्थानम्। तदत्र पुद्गलानां ग्रहणहेतुत्वाद् वहिरङ्गकारणं योगः। विशिष्टशक्तिस्थितिहेतुत्वादन्तरङ्गकारणं जीवभाव एवेति।

अर्थ—कर्मपुद्गलोंका विशिष्ट शक्तिरूप (जीवको विकारी वनानेरूप) परिणमनसे आत्मप्रदेशोंमें अवस्थित होना वन्ध है।……यहाँ पर कार्मणपुद्गलोंके ग्रहण करनेका वहिरङ्ग कारण योग है। स्थिति तथा अनुभागका कारणभूत अन्तरङ्ग कारण जीवका कषायरूप भाव है।

राग द्वेप मोह परिणाम जीवकी विकारी पर्याय है जिसके साथ जीवका व्याप्य-व्यापकसंवंध है। रागादिरूप पर्यायके साथ जीवका वंध्य-वंधक संवंध नहीं हो सकता। अतः मोह राग द्वेप आदि पर्यायका जीवके साथ वंध कहना अयुक्त है। मोह राग द्वेप परिणाम वंधके कारण हैं। कारणमें कार्यका उपचार करके आगममें इनको भाववंध कहा है।

इस तरह पंचास्तिकाय गाथा १४८ में द्रव्यवंध और भाववंध पर समुचित प्रकाश डाला है। तदनुसार द्रव्मकर्म (मोहनीयादिकर्म) से भावकर्म (द्रव्यकर्मका निमित्त कारणभूत राग द्वेप आदि) होता है और भावकर्मसे द्रव्यकर्म होता है। इस तरह द्रव्यकर्म भावकर्मकी परम्परा संसारी जीवके चलती रहती है और इसीको संसारचक्र कहते हैं।

श्री अमृतचन्द्रसूरिने इसी विषयपर पञ्चास्तिकाय ग्रन्थकी १२८–१२९–१३०वीं गाथाकी व्याख्या करते हुए अच्छा प्रकाश डाला है—

इह हि संसारिणो जीवादनादिवन्धनोपाधिवशेन स्निग्धः परिणामो भवति। परिणामात्पुनः पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म। कर्मणो नरकादिगतिषु गतिः। गत्यधिगमनाद्देहः। देहादिन्द्रियाणि। इन्द्रियेभ्यो विषयग्रहणं। विषयग्रहणाद्रागद्वेषौ। राग-द्वेषाभ्यां पुनः स्निग्धः परिणामः। परिणात्पुनः पुद्गल–परिणामात्मकं कर्म। कर्मणः पुननरकादिगतिषु गतिः। तदत्र पुद्गलपरिणामनिमित्तो जीवपरिणामो जीवपरिणामनिमित्तश्च पुद्गलपरिणामः।

अर्थ—संसारी जीव अनादि कालसे मोहनीय कर्म–उपाधिसे स्निग्ध (रागादि रूप) होता है। उस स्निग्ध परिणामसे पुद्गल परिणामात्मक द्रव्यकर्म उत्पन्न होता है, द्रव्यकर्मके उदयसे नरक आदि गतियोंमें गमन होता है, गतिके कारण तदनुरूप शरीर मिलता है, शरीरसे इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियोसे विषयोंका ग्रहण होता है, विषयसेवनसे रागद्वेप होते हैं, रागद्वेपसे आत्माके परिणाम स्निग्ध होते हैं, उस स्निग्ध परिणामसे पौद्गलिक कर्मवन्ध होता है।………इस तरह संसारमें पुद्गल कर्मके निमित्तसे जीवके रागद्वेपादि परिणाम होते हैं और जीवके रागद्वेपादि परिणामसे पुद्गल कर्मपरिणमन होता है।

मोहनीय आदि द्रव्यकर्म, राग द्वेप आदि आत्माके विकारी भावोंके प्रेरक निमित्त कारण हैं और राग द्वेप आदि आत्माके विकृतभाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्मवन्धके प्रेरक निमित्त कारण हैं।

जव आत्माके प्रवल पुरुषार्थसे द्रव्यकर्मो–मोहनीय आदिका क्षय होता है तव विकारका निमित्तकारण

हट जानेसे आत्माके राग-द्वेष आदि नैमित्तिक विकारभाव दूर हो जाते हैं। उस दशामें आत्माकी परतन्त्रता भी दूर हो जाती है।

तदनुसार आपने जो बन्ध और मुक्तिके विषयमें लिखा है कि—

'वह (संसारी आत्मा) अज्ञानरूप अपने अशुद्धभावोंसे बद्ध है। उसे (संसारी जीवको) यदि बद्धताका अभाव करना है तो अपनी उसी बद्धताका (अज्ञान आदिका) अभाव करना है। उसका अभाव होनेसे जो असद्भूत व्यवहाररूप बद्धता कही गयी है उसका अभाव स्वयमेव नियमसे हो जाता है।'

आपका यह बद्धताके अभावका क्रम विचारणीय है, क्योंकि समयसारमें—

सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिवद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि त्ति णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिवद्धं कषायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

इन तीन गाथाओं द्वारा सम्यक्त्वका, ज्ञानका और चारित्रका प्रतिबन्धक कारण क्रमसे मिथ्यात्व मोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म बतलाया है। उन प्रतिबन्धक निमित्तकारणोंरूप द्रव्यकर्मोंके प्रभावसे आत्मा मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी होता है।

इसके अनुसार यह बात सिद्ध होती है कि मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयमरूप जीवके विकृतभाव दर्शनमोहनीय आदि द्रव्यकर्मरूप प्रतिबन्धक कारणोंके द्वारा होते हैं।

अतः कार्य-कारणभावके नियमानुसार जब प्रतिबन्धक निमित्त कारण दूर होते हैं तब ही आत्माके सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र गुण प्रकट होते हैं। जैसे कि रात्रि या काली आँधी, प्रबल घनपटल आदि प्रतिबन्धक कारणोंके दूर हट जाने पर ही सूर्यका प्रकाश होता है। आसाममें लगातार १५-१५ दिन तक वर्षा होते रहनेसे १५-१५ दिन तक सूर्य बादलोंसे बाहर दिखाई नहीं देता।

इस कारण आपका यह लिखना कि पहले अज्ञानादिका नाश होता है तदनंतर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका नाश अपने आप हो जाता है विचारणीय है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने पञ्चास्तिकायमें इसके विरुद्ध लिखा है—

कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ॥१५१॥

गाथार्थ—द्रव्यकर्मोंके अभावसे आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है तथा इन्द्रियातीत-अव्याबाध अनन्त सुख प्राप्त करता है।

इस गाथाकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—

ततः कर्माभावे स हि भगवान् सर्वज्ञः सर्वदर्शी व्युपरतेन्द्रियव्यापारोऽव्याबाधानन्तसुखश्च नित्यमेवावतिष्ठते।

टीकार्थ—इसलिये द्रव्यकर्मोंका अभाव हो जाने पर वह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अतीन्द्रिय अव्याबाध अनन्त सुखी सदा रहता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि तत्त्वार्थसार ग्रन्थमें लिखते हैं—

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम् ॥१-३१॥

अर्थ—घातिकर्मोंका क्षय हो जानेपर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

श्री वीरसेनाचार्य धवल सिद्धान्त ग्रन्थमें लिखते हैं—

तिरोहितस्य रत्नाभोगस्य स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भात्।

—पुस्तक १ पृष्ठ ५२

अर्थ—तिरोहित अर्थात् कर्म पटलोंके कारण पर्यायरूपसे अप्रकट रत्न (सम्यग्ज्ञान आदि) समूहका अपने आवरण कर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भाव पाया जाता है अर्थात् जैसे जैसे कर्म पटलोंका अभाव होता जाता है वैसे-वैसे ही अप्रकट रत्नसमूह प्रकट होता जाता है।

इन आर्षग्रन्थोंके वाक्योंसे यह बात प्रमाणित होती है कि द्रव्यकर्मोंका क्षय हो जानेपर ही आत्माके केवलज्ञानादि गुण प्रकट होते हैं।

इसलिये आपकी यह बात सिद्धान्त-अनुसार विपरीत क्रम है कि पहले भावकर्म यानी राग द्वेष मोह अज्ञान आदिका नाश होता है तदनंतर मोहनीय आदि द्रव्यकर्मोंका नाश होता है।

सिद्धान्तविरुद्ध इस विपरीत कार्यकारण मान्यताका सुधार अपेक्षित है।

आपने जो यह लिखा है कि 'आगममें सर्वत्र यह तो बतलाया है कि यदि संसारी आत्मा अपने बद्ध पर्यायरूप राग द्वेष मोह आदि अज्ञान भावोंका अभाव करनेके लिये अन्तरङ्ग पुरुषार्थ नहीं करता है और केवल जिसे आगममें उपचारसे व्यवहारधर्म कहा है उसीमें प्रयत्नशील रहता है तो उसके द्रव्यकर्मोंकी निर्जरा न होनेके समान है। इसी आशयको ध्यानमें रखकर श्री छहढालामें जो यह कहा है कि—

कोटि जन्म तप तपे, ज्ञान विन कर्म झरैं जे।
ज्ञानीके छिन माहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥

आत्मशुद्धिकी प्रक्रियामें आपकी यह मान्यता मेल नहीं खाती, क्योंकि आगमानुसार व्यवहारधर्मकी प्रगति ही निश्चयधर्मकी उपलब्धि कराती है। श्री कुंदकुंद आचार्यने आत्मशुद्धिके लिये द्रव्यप्रतिक्रमण (भूतकालमें जिन जड़ चेतन पदार्थोंके निमित्तसे राग ममता आदि रूप दोप लगा हो उन पदार्थोंका त्याग) और द्रव्य प्रत्याख्यान (भविष्य कालमें होनेवाले राग द्वेष आदिके विषयभूत जड़ चेतनरूप पर पदार्थोंका त्याग) पूर्वक भावप्रतिक्रमण और भावप्रत्याख्यानके क्रम पर प्रकाश डालते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्यने समयसारमें लिखा है—

अप्पडिकमणं दुविहं अप्पच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८३॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८४॥
जाव अपडिक्कमणं अपच्चक्खाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥

अर्थ—अप्रतिक्रमण (जड़-चेतन पदार्थोंसे भूतकालीन राग-द्वेष आदिका न छोड़ना) तथा अप्रत्याख्यान (जड़-चेतन पदार्थोंके साथ होनेवाले भविष्यकालीन राग-द्वेषादि भावोंका न छोड़ना) द्रव्य और भावके भेदसे

दो-दो प्रकारके हैं। उन दोनों (द्रव्य तथा भावरूप अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान) के त्याग देनेरूप इस उपदेश द्वारा आत्मा अकारक बतलाया गया है। जब तक आत्मा द्रव्य-भावरूपसे अप्रतिकमण और अप्रत्याख्यान करता है तब तक वह राग-द्वेष आदिका कर्ता है, ऐसा समझना चाहिये। इसकी टीकामें श्री अमृतचन्द्रसूरिने लिखा है वह भी देखने योग्य है—

ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु, तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा। तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च ········ यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्तत्कर्तैव स्यात्। यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च यदा....... साक्षादकर्तैव स्यात्।

अर्थ—इसलिये परद्रव्य (अन्य जड़ चेतन पदार्थ) ही आत्मामें राग द्वेषादि भाव उत्पन्न करनेके कारण हैं। यदि ऐसा न हो तो आत्मा रागादिभावोंका अकर्ता ही हो जावे। फिर भी जब तक आत्मा राग-द्वेषादिके निमित्तभूत पर पदार्थोंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नहीं करता है तब तक वह नैमित्तिकभूत राग द्वेष आदि भावोंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नहीं कर सकता। जब तक वह अपने उन नैमित्तक भावोंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नहीं करता है तब तक उन रागद्वेषादि भावोंका कर्ता ही है। जब आत्मा निमित्तभूत परपदार्थोंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करता है तब ही नैमित्तिकभूत (पर पदार्थोंके निमित्तसे होनेवाले) राग द्वेपादि भावों-का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करता है। जब भाव प्रतिक्रमण भाव प्रत्याख्यान करता है तब ही वह आत्मा राग-द्वेपादिका अकर्ता हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द तथा श्री अमृतचन्द्रसूरिके इस कथनसे दो बातें सिद्ध होती हैं :—

(१) राग द्वेष आदि विकृत परिणामोंसे मुक्ति पानेके लिये प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आदि व्यवहारधर्म अति आवश्यक है।

(२) भावशुद्धिके लिये पहले पर पदार्थोंका त्याग करना परम आवश्यक है।

आपने जो अपने अभिप्राय की पुष्टिके लिये छहढालाकी चौथी ढालका पद्यांश (कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान विन कर्म झरैं जे। ज्ञानीके छिन माहिं त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते) उपस्थित किया है, वह आपके अभिप्राय के विरुद्ध जाता है, क्योंकि उससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'सिर्फ ज्ञान द्वारा ही कर्मनिर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है। आप पद्यके अन्तिम अंश पर ध्यान दें। वहाँ कर्मनिर्जराके लिये ज्ञानके साथ गुप्तिरूप व्यवहार चारित्रको भी अनिवार्य आवश्यक रखा है। अतः यदि उस पद्यका अभिप्राय केवल ज्ञानद्वारा ही कर्मनिर्जरा माना जायगा तो ग्रन्थकार श्री पं० दौलतरामजीका इस पद्यसंबंधी अभिप्रायका घात होगा। उन्होंने तो व्यवहार धर्मको भी महत्त्व देते हुये इसी चौथी ढालमें श्रावकके १२ व्रतोंका तथा छठी ढालमें मुनिचर्याके २८ मूलगुणोंरूप व्यवहारधर्म या व्यवहारचारित्रका पठनीय एवं मननीय सुन्दर विवेचन किया है। अतः यह पद्य आपके अभिप्रायके विरुद्ध है।

ज्ञान सफल कब होता है

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें भेदविज्ञानकी सफलता पर प्रकाश डालते हुये लिखा है—

णादूण आसवाणं असुचित्तं विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

अर्थ—आस्रवकी अशुचिता (अपवित्रता), विपरीतता तथा दुःखकारणता जानकर भव्य जीव उनकी निवृत्ति (निवारण) करता है।

इसकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—

किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं किं वाऽज्ञानं ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं, किमास्रवेषु निवृत्तं ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः। इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः।

अर्थ—यदि आत्मा और कर्म आस्रवमें भेदज्ञान है तो वह ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप ? यदि अज्ञानरूप है तो वह आत्मा और आस्रवके अभेदज्ञानसे कुछ विशेष नहीं ठहरता। यदि वह ज्ञानरूप है तो क्या वह भेदज्ञान आस्रवों (आस्रवके कारणों)में प्रवृत्त है या निवृत्त है ? यदि आस्रवोंमें प्रवृत्त है (आस्रवके कारणभूत विषय भोगोंमें लगा हुआ है) तो वह भेदज्ञानरूप नहीं, अभेदज्ञानसे उसमें कुछ विशेषता नहीं (अर्थात् व्यर्थ है।) यदि वह ज्ञान आस्रवोंसे निवृत्त है तो उस ज्ञानसे ही कर्मबन्धका निरोध हो जायगा। (कर्म आस्रवके कारणभूत) विषयभोगों-असंयमसे निवृत्त होकर संयम सहित ज्ञानसे कर्मबन्ध रुक जायगा। जो भेदविज्ञान आस्रवोंसे (कर्म आस्रवोंके कारणोंसे) निवृत्त नहीं होता वह भेदज्ञान ही नहीं है।

इसका आशय यही है कि ज्ञानकी सफलता केवल तत्त्व जाननेमें ही नहीं है, अपि तु आस्रवके कारणभूत पापक्रिया तथा विषयभोगों आदिसे निवृत्त होकर व्यवहारधर्म आचरण करनेसे है।

संवर और कर्मनिर्जरा किस तरह

भेदविज्ञानका उद्देश आत्माको कर्म-आस्रव तथा कर्मबन्धसे छुड़ाकर कर्मोंका संवर और कर्मनिर्जरा करनेका है जिससे क्रमशः आत्मशुद्धि होते हुए मोक्ष प्राप्त हो सके। अतः तत्त्वज्ञानके साथ व्यवहारचारित्र भी जब आचरणमें आता है तब ही कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा हुआ करती है। अकेला ज्ञान मुक्तिका या संवर निर्जराका कारण त्रिकालमें भी नहीं है। श्री कुन्दकुन्द आचार्यने प्रवचनसार गाथा ७ में कहा है—चारित्तं खलु धम्मो····अर्थात् चारित्र वास्तवमें धर्म है। तथा च मोक्षपाहुड़ गाथा ५७ में कहा है—

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं॥

अर्थ—जहाँ ज्ञान तो चारित्र-रहित है, तप दर्शन (सम्यक्त्व) रहित है, आवश्यक आदि क्रिया रहित लिंग जो भेष है उसमें सुख कहाँ है।

संस्कृत भाषामें आद्य सैद्धान्तिक सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य तत्त्वार्थसूत्रमें कहते हैं—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः॥ ९-२॥

अर्थ—वह कर्मसंवर गुप्ति समिति, क्षमादि धर्म, अनित्यादि भावना, परीषहजय और सामायिक आदि चारित्रसे होता है।

तपसा निर्जरा च॥ ९-३॥

अर्थ—अन्तरंग बहिरंग तपसे कर्मोंकी निर्जरा (अविपाक निर्जरा) होती है।

इन दोनों सूत्रोंसे भी प्रमाणित होता है कि व्यवहारचारित्र कर्मसंवर और कर्मनिर्जराका कारण है।

अनंतवार मुनिव्रत धार

श्री पं० दौलतरामजीने अपने छहढाला ग्रन्थकी चौथी ढालमें लिखा है—

मुनिव्रत धारि अनन्तवार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान विना सुख लेश न पायो॥

अर्थ—इस जीवने अनन्तों वार मुनिव्रत धारण करके नौवें ग्रैवेयिक तकका अहमिन्द्र पद पा लिया, परन्तु भेदविज्ञानके विना उसे (अतीन्द्रिय) सुखका लेशमात्र भी नहीं मिल सका।

इसमें दो बातें ध्वनित हो रही हैं—(१) तो यह कि ज्ञानकी सफलता कोरे तत्त्वज्ञानसे नहीं है, ज्ञानकी सफलता भेदविज्ञान (सम्यग्ज्ञान) से है। (२) भेदविज्ञानकी सफलता अथवा चारित्रकी सफलता भेदविज्ञानके साथ है।

अणुव्रत महाव्रत आदि व्यवहार चारित्र प्रत्येक दशामें सफल है। यदि कोई मनुष्य अभव्य है, मिथ्या-दृष्टि (द्रव्यलिंगी) है या दूरातिदूर भव्य है तो वह भी मुनिचर्या द्वारा अहमिन्द्र पद पा सकता है। इससे अधिक उन्नत पद पानेकी उसमें योग्यता नहीं है। अतः ऐसे अभव्य आदि मुनियोंके उद्देश्यसे श्री पं० दौलतरामजी ने यह पद्य लिखा है।

दूसरे—इस पद्यसे यह बात भी प्रमाणित होती है कि मुक्तिके लिये भी अन्तरंग कारण (भव्यत्व सम्यक्त्वरूप उपादानकारण) तथा श्रावकधर्म मुनिधर्मरूप व्यवहार चारित्ररूप बहिरंगनिमित्त कारणकी अनिवार्य आवश्यकता है। यदि उन दोनों कारणोंमेंसे एक भी कारणकी कमी होगी तो मुक्ति न मिल सकेगी।

श्री कुन्दकुन्द आचार्यने व्यवहारचारित्रका कितनी दृढ़तासे समर्थन किया है। देखिये—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥ २३॥

—सूत्रपपाहुड

अर्थ—जिनशासनके अनुसार यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारी असंयमी हो तो वह आत्मसिद्धि नहीं पा सकता।

धुव सिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि॥६०॥

—मोक्षपाउड

अर्थ—तीर्थंकरको उसी भवसे नियमसे मुक्ति होती है। तीर्थङ्करको सम्यक्त्वके साथ तीन ज्ञान जन्मसे तथा मुनिदीक्षा लेते समय मनःपर्ययज्ञान भी हो जाता है। इस तरह चार ज्ञानधारी होकर भी वे मुक्त होने के लिये तपश्चरण करते हैं ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुषको तपश्चरण अवश्य करना चाहिये।

आपने अपने लेखके अन्तमें जो समयसार कलशके दो पद्य दिये हैं वे श्री अमृतचन्द्र सूरिने निश्चय-नयकी दृष्टिसे लिखे हैं। किन्तु उन्होंने इन पद्योंसे शुद्ध आत्मतत्त्व प्राप्त करनेके लिये व्यवहारचारित्रका निषेध नहीं किया है। इसका प्रमाण उनका विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ है, जिसमें कि सूरिने अहिंसा धर्मका तथा श्रावकधर्मका सुन्दर विवेचन किया है। इसके सिवाय आध्यात्मिक आचार्य श्री कुन्दकुन्द तथा

अमृतचन्द्रसूरि आजन्म मुनिचारित्रका आचरण करते रहे—यह वार्ता इस बातका प्रमाण है कि वे व्यवहार-चारित्रको आत्मशुद्धिके लिये अनिवार्य आवश्यक समझते थे।

मुनिचारित्रके विना धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान नहीं होते। सिद्धान्तकी यह बात भी व्यवहारचारित्र-को अनिवार्य आवश्यकताको प्रमाणित करती है।

विकारका कारण

द्रव्यमें निष्कारण विभाव (विकार) नहीं होता है। विकार परनिमित्तक हुआ करता है, जैसे कि जलके शीतल स्वभावमें उष्णतारूप विकार अग्निके निमित्तसे होता है इसी बातको श्री विद्यानन्दस्वामीने अष्टसहस्री ग्रन्थमें पत्र ५१ पर लिखा है—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

इस कारिकाकी व्याख्या करते हुए—

दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्याददर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकारचारित्रमोहस्य,·········

इत्यादि लिखा है, जिसका अर्थ यह है कि जीवके अज्ञानदोष ज्ञानावरणकर्मके उदय होने पर होता है, दर्शनावरणकर्मके उदयसे अदर्शन, दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यात्व, चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे अनेक प्रकारका क्रोध, मान, राग-द्वेष आदि अचारित्र भाव होते हैं।

इसके अनुसार आत्माके विकारी भाव ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंके निमित्तसे ही होते हैं। इसी बातकी पुष्टि श्री विद्यानन्दस्वामीने आप्तपरीक्षामें भी की है।

न चायं भावबन्धो द्रव्यबन्धमन्तरेण भवति, मुक्तस्यापि तत्प्रसङ्गात्। —पृष्ठ ५

अर्थ—यह भावबन्ध (रागद्वेष अज्ञान आदि) द्रव्यबंध (ज्ञानावरण आदि कर्मके) बिना नहीं होता है; क्योंकि यदि बिना द्रव्यबंधके भावबन्ध हो तो मुक्त जीवोंके भी राग द्वेष आदि भावबन्धके होनेका प्रसंग आजायगा।

श्री विद्यानन्दस्वामीने भावबन्ध और द्रव्यबंधके विषयमें स्पष्टीकरण करते हुए आप्तपरीक्षाकी 'भावकर्माणि' आदि ११४ वीं कारिकाकी व्याख्यामें लिखा है—

तानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवत्। क्रोधादिभिर्व्यभिचार इति चेत् न, तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वरूपत्वात्। पारतन्त्र्यं हि जीवस्य क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम्।

अर्थ—वे पौद्गलिक द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) आत्माकी परतन्त्रताके निमित्त कारण हैं जैसे कि मनुष्यके पैरोंमें पड़ी बेड़ी मनुष्यकी परन्त्रताका कारण है।

शंका—क्रोधादि आत्माके भाव (भावकर्म) भी आत्माके बंधके कारण हैं, इसलिये उनके साथ व्यभिचार आता है?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आत्माके क्रोधादि भाव स्वयं परतन्त्रतास्वरूप है, इसलिये आत्माके वे भाव स्वयं परतन्त्ररूप हैं, आत्माकी परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं॥ —पृष्ठ १४६

आचार्य महाराजने उपर्युक्त विवानसे यह बात स्पष्ट कर दी है कि आत्माके राग द्वेष आदि भाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्मके निमित्तसे हुआ करते हैं, बिना उन द्रव्यकर्मोंके निमित्तके कभी नहीं होते। इसलिये द्रव्यकर्म आत्माके रागादि भावकर्मोंके उत्पन्न होनेके निमित्त कारण हैं।

राग द्वेष आदि परिणामोंके निमित्तसे मोहनीय आदि द्रव्यकर्मोंका बंध हुआ करता है, इस कारण उन राग द्वेष आदि आत्माके विकारी भावोंको भावबंध कहा गया है। तदनुसार द्रव्यबंधके निमित्तसे भावबंध और भावबंधके निमित्तसे द्रव्यबंध हुआ करता है।

इनमेंसे द्रव्यबंध पर पदार्थ हैं और भावबंध आत्माका अपना विकारी भाव है, अतः वह आत्मस्वरूप है। इसलिये आत्माकी परतंत्रताका कारण परद्रव्यरूप द्रव्यकर्म ही मुख्यतासे होता है और परद्रव्य होनेके कारण वास्तवमें आत्माके साथ बंध उन ज्ञानावरण आदि कार्मण द्रव्यका हुआ करता है।

●

नमः श्रीवीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ९

मूल शंका—सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसीसे बँधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धनसे छूटने का उपाय क्या है?

प्रतिशंका २ का समाधान

इस प्रश्नका उत्तर व्यवहारनय और निश्चयनयकी अपेक्षा पूर्वमें दे आये हैं। इसका आशय यह है—एक द्रव्यके गुण धर्मको अन्य द्रव्यका कहना यह असद्भूत व्यवहारनय है और स्वाश्रित कथन करना यह निश्चयनय है। इस प्रकार संक्षेपमें ये इन दोनों नयोंके लक्षण हैं। अतएव निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करने पर आत्मा स्वयं अपने अपराधके कारण बद्ध है, अन्य किसीने बलात् बाँध रखा हो और उसके कारण वह बँध रहा हो ऐसा नहीं है। परन्तु असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा उसके उस अपराधको ज्ञानावरणादि कर्मोंपर आरोपितकर यह कहा जाता है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंके कारण वह बद्ध है। यह वस्तुस्थिति है। इसका सम्यक् निर्णय अनेक प्रमाणोंके साथ पिछले उत्तरमें किया गया था। किन्तु प्रतिशंका २ को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि सांसारिक जीव बद्ध क्यों है इसका मुख्य कारण ज्ञानावरणादि कर्मोंको समझा जा रहा है। प्रतिशंका २ में यह तो स्वीकार कर लिया है कि 'जब आत्माके प्रबल पुरुषार्थसे द्रव्यकर्मों मोहनीय आदिका क्षय होता है तब विकारका निमित्त कारण हट जानेसे आत्माके राग-द्वेष आदि नैमित्तिक विकार भाव दूर हो जाते हैं।' पर इसके साथ दूसरे स्थलपर उसी प्रतिशंकामें यह भी लिखा है कि 'मोहनीय आदि द्रव्यकर्म, राग द्वेष आदि आत्माके विभाव भावोंके प्रेरक निमित्त कारण हैं और राग द्वेष आदि आत्माके विकृत भाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्मबन्धके प्रेरक निमित्त कारण हैं।' इस प्रकार ये परस्पर विरुद्ध विचार एक ही लेखमें प्रगट

किये गये हैं । प्रेरक निमित्तका अर्थ यदि निमित्त कर्ता या निमित्त करण करके उसका अर्थ 'विशेष निमित्त' किया जाता है तब तो कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि कर्मोंका उदय-उदीरणा आत्माके राग द्वेष आदि कार्यके विशेष निमित्त हैं और आत्माके राग-द्वेष आदि विभाव भाव ज्ञानावरणादि कर्म परिणामके विशेष निमित्त हैं। पर अभी तक प्रतिशंकासे हम जो तात्पर्य समझ सके हैं उससे यही ज्ञात होता है कि जो निमित्त बलात् कार्यके स्वकालको छोड़कर आगे-पीछे पर द्रव्यमें कार्य उत्पन्न करता है वह प्रेरक निमित्त है । यदि प्रतिशंकामें किये गये विवेचनका यही अभिप्राय हो तो कहना होगा कि आत्माको प्रबल पुरुषार्थ करनेका कभी अवसर ही नहीं मिल सकेगा । कारण कि प्रत्येक समयमें जिस प्रकार कर्मोदय-उदीरणा हैं, उसी प्रकार राग-द्वेष परिणाम भी हैं, अतः कर्म आत्माको बलात् परतन्त्र रखेगा और राग-द्वेष परिणाम बलात् कर्मबन्ध कराता रहेगा । इस प्रकार प्रतिसमय आत्माको कर्मोंके अधीन होकर परिणमना पड़ेगा और नये-नये कर्मोंको राग-द्वेषके अधीन होकर बँधना पड़ेगा । ऐसी अवस्थामें यह आत्मा त्रिकालमें बन्धनसे छूटनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ कभी नहीं कर सकेगा और प्रबल पुरुषार्थके अभावमें मुक्तिकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी । तब तो जितने भी संसारी जीव हैं वे सब मुक्तिके अभावमें संसारी ही बने रहेंगे । आगममें 'प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः' इत्यादि वचन पढ़कर प्रेरक कारण स्वीकार करना अन्य बात है पर उसका जिनागममें क्या अर्थ इष्ट है इसे समझकर सम्यक् निर्णय पर पहुँचना अन्य बात है ।

यह तो शास्त्रके अभ्यासी सभी विद्वान् जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे परिणामी नित्य है । जिस प्रकार द्रव्यकी अपेक्षा नित्यता उसका स्वभाव है उसी प्रकार उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करना भी उसका स्वभाव है । जब कि उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करना उसका स्वभाव है, ऐसी अवस्थामें उसे अन्य कोई परिणमावे तभी वह परिणमन करे ऐसा नहीं है । इसका विशेष विचार श्री समयसारजीमें सुस्पष्टरूपसे किया गया है । विचार करते हुए वहाँ लिखा है—

यह पुद्गल द्रव्य जीवमें स्वयं नहीं बँधा और कर्मभावसे स्वयं नहीं परिणमता । यदि ऐसा माना जाये तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है । और कार्मण वर्गणाऐं कर्मभावसे नहीं परिणमती होनेसे संसारका अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है । जीव पुद्गलद्रव्योंको कर्मभावसे परिणमाता है ऐसा माना जाये तो यह प्रश्न होता है कि स्वयं नहीं परणमती हुई उन वर्गणाओंको चेतन आत्मा कैसे परिणमा सकता है । अथवा यदि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभावसे परिणमन करता है ऐसा माना जाये तो जीव कर्मको अर्थात् पुद्गलद्रव्यको कर्मरूप परिणमाता है यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है, इसलिये जैसे नियमसे कर्मरूप (कर्ताके कार्यरूपसे) परिणमन करनेवाला पुद्गल द्रव्य कर्म ही है इसी प्रकार ज्ञानावरणदिरूप परिणमन करनेवाला कार्मण पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है ऐसा जानो ।११६ से १२० ।

तथापि आगममें 'करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, ग्रहण करता है, त्यागता है, बाँधता है, प्रेरता है' इत्यादि प्रयोग उपलब्ध होते हैं । स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने बन्धाधिकारमें बन्धरूप अवस्थामें बन्धको प्राप्त जीवद्रव्यकी संसाररूप पर्याय कर्म और नोकर्मको निमित्तकर ही होती है इस तथ्यको समझानेके लिये 'जह फलिहमणी सुद्धो' (२७८-२७९) इत्यादि दो गाथाएँ लिखते हुए 'परिणमाता है' जैसे शब्दोंका प्रयोग किया है । इस परसे बहुतसे मनीषी उन दोनों गाथाओंका आश्रय लेकर 'परिणमाता' है इस पदको ध्यानमें रखकर यह अर्थ फलित करते हैं कि प्रेरक निमित्तोंकी सामर्थ्यसे दूसरे द्रव्यका विवक्षित कार्य स्वकालको छोड़कर आगे-पीछे भी किया जा सकता है । वे प्रेरक निमित्तोंकी सार्थकता इसीमें मानते हैं । किन्तु उनका उन गाथाओंके आधारसे ऐसा अर्थ फलित करना क्यों तथ्ययुक्त नहीं है यह हम स्वयं भगवान्

कुन्दकुन्दके शब्दोंमें ही बतला देना चाहते हैं। वे कर्त्ता-कर्म अधिकारमें इसी बोलका स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं लिखते हैं—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७॥

अर्थ—आत्मा पुद्गल-द्रव्यको उत्पन्न करता है, करता है, बांधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है यह व्यवहारनयका कथन है।

इस गाथाकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्य-व्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः।

अर्थ—यह आत्मा वास्तवमें व्याप्य-व्यापकभावके अभावके कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप पुद्गल-द्रव्यात्मक कर्मको ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, न उसे करता है और न बांधता है, फिर भी व्याप्य-व्यापक भावका अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गल-द्रव्यात्मक कर्मको आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बांधता है इत्यादिरूप जो विकल्प होता है वह वास्तवमें उपचार है।

इससे विदित होता है कि जिनागममें 'परिणमाता है' इत्यादि प्रयोगोंका दूसरे मनीषी प्रेरक कारण मान कर जो अर्थ करते हैं वह नहीं लिया गया है। भगवान् कुन्दकुन्दके समान आचार्य विद्यानन्दि भी इसी अर्थको स्पष्ट करते हुए श्लोकवार्तिकमें लिखते हैं—

ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता व्यवहारनयाश्रया प्रतिपत्तव्या, बाधकाभावादिति। निश्चयनयात्र तेषामाधाराधेयता युक्ता, व्योमवद्धर्मादीनामपि स्वरूपेऽवस्थानात्। अन्यस्यान्यत्र स्थितौ स्वरूपसंकरप्रसंगात्। स्वयं स्थानोरन्येन स्थितिकरणमनर्थकम्, स्वयमस्थानोः स्थितिकरणमसंम्भाव्यं शशविषाणवत्। शक्तिरूपेण स्वयं स्थानशीलस्यान्येन व्यक्तिरूपतया स्थितिः क्रियत इति चेत् तस्यापि व्यक्तिरूपा स्थितिः तत्स्वभावस्य वा क्रियते (अतत्स्वभावस्य वा)। न च तावत् तत्स्वभावस्य, वैयर्थ्यर्थात् करणव्यापारस्य। नाप्यतत्स्वभावस्य, खपुष्पवत्करणानुत्पत्तेः। कथमेवं उत्पत्ति-विनाशयोः कारणम् ? कस्यचित् तत्स्वभावस्यातत्स्वभास्य वा केनचित् तत्करणे स्थितिपक्षोक्तदोषानुषंगादिति चेत् ? न, कथमपि तन्निश्चयनयात् सर्वस्य विस्रसोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेव उत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः।

श्लोकवार्तिक ५, १६, पृ० ४१०—

अर्थ—इसलिये यह अच्छा कहा कि लोकाकाश और धर्मादि द्रव्योंका आधाराधेयभाव व्यवहारनयसे जानना चाहिये, क्योंकि इसका बाधकप्रमाण नहीं है। निश्चयनयसे उनमें आधाराधेयभाव नहीं है, क्योंकि आकाशकी तरह धर्मादि द्रव्योंका भी स्वरूपमें अवस्थान है। तथा अन्य द्रव्यकी अन्य द्रव्यमें स्थिति मानने पर स्वरूपसंकरदोष प्राप्त होता है। स्वयं स्वरूपस्थित पदार्थका दूसरेसे स्थितिकरण होता है ऐसा मानना

निरर्थक है, क्योंकि स्वयं स्वरूपमें अस्थित पदार्थका दूसरेके द्वारा स्थितिकरण ऐसे ही नहीं बनता जैसे शश-विषाणका दूसरेके द्वारा स्थितिकरण नहीं बनता।

स्वयं शक्तिरूपसे स्थानशील पदार्थकी अन्य पदार्थ व्यक्ति (प्रगट-पर्याय) रूप स्थिति करता है। यदि ऐसा माना जाय तो प्रश्न है कि वह दूसरा पदार्थ तत्स्वभाववाले दूसरे पदार्थकी व्यक्तिरूप स्थिति करता है या अतत्स्वभाववाले पदार्थकी। तत्स्वभाववालेकी तो कर नहीं सकता, क्यों कि ऐसा मानने पर करण-व्यापारकी व्यर्थता होती है। अतत्स्वभाववालेकी भी नहीं कर सकता, क्यों कि आकाशकुसुम जैसे नहीं किया जा सकता उसी प्रकार अतत्स्वभाववाले पदार्थकी स्थिति करना भी नहीं बनता। यदि ऐसा है तो दूसरा पदार्थ उत्पत्ति और विनाशका कारण कैसे होता है ? क्योंकि तत्स्वभाववाले या अतत्स्वभाववाले किसी पदार्थका किसी दूसरेके द्वारा करना मानने पर स्थितिपक्षमें जो दोष दे आये है वे सब प्राप्त हो जायेंगे। नहीं, क्यों कि किसी भी प्रकारसे निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करने पर सम्पूर्ण पदार्थोंका विस्रसा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्यवस्था है। व्यवहारनयकी अपेक्षासे विचार करने पर ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार इन प्रमाणोंसे यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि एक द्रव्यकी विवक्षित पर्याय दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायमें अणुमात्र भी हेर-फेर नहीं कर सकती। केवल कार्यजननक्षम योग्यता तथा निमित्त-उपादानकी समव्याप्तिका ज्ञान न होनेके कारण ही यह विकल्प होता है कि अमुकने अमुक किया, वह न होता तो वह कार्य ही उत्पन्न नहीं हो सकता था, किन्तु पूर्वोक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य अपनी उपादान शक्तिके बल पर ही होता है। इसी अर्थको स्पष्ट करते हुए षट्खण्डागम जीवस्थानचूलिका पृ० १६४ में भी कहा है—

कुदो ? पयडिविसेसादो। ण च सव्वाइं कज्जाइं एयंतेण वज्झत्थमवेक्खिय चे उप्पज्जंति, सालिबीजादो जवंकुरस्स वि उप्पत्तिप्पसंगा। ण च तारिसाइं सव्वाइं तिसु वि कालेसु कहिं वि अत्थि, जेसिं बलेण सालि-बीजस्स जवंकुरुप्पायणसत्ती होज्ज, अणवत्थापसंगादो। तम्हा कम्हि वि अंतरंगकारणादो चेव कज्जुप्पत्ती होदि त्ति णिच्छओ कायव्वो।

अर्थ—क्योंकि प्रकृतिविशेष होनेसे सूत्रोक्त इन प्रकृतियोंका यह स्थितिबन्ध होता है। सभी कार्य एकान्तसे बाह्य अर्थकी अपेक्षा करके नहीं उत्पन्न होते हैं, अन्यथा शालिधान्यके बीजसे जौके अंकुरकी भी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु उस प्रकारके द्रव्य तीनों ही कालोंमें किसी भी क्षेत्रमें नहीं हैं कि जिनके बलसे शालिधान्यके बीजको जौके अंकुररूपसे उत्पन्न करनेकी शक्ति हो सके। यदि ऐसा होने लगे तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा, इसलिये **कहीं पर भी अर्थात् सर्वत्र अन्तरंग कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा निश्चय करना चाहिये।**

यहाँ भिन्न टाईपके वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। इस द्वारा दृढ़तापूर्वक आचार्य वीरसेनने यह स्पष्ट कर दिया है कि सर्वत्र कार्यकी उत्पत्ति मात्र अन्तरंग कारणसे ही होती है। मात्र जिस अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायकी उसके (कार्यके) साथ बाह्य व्याप्ति होती है उसमें निमित्तताका व्यवहार किया जाता है।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेन वेदनाभावविधानाद्यनुयोगद्वारोंमें कहते हैं—

तत्थ वि पहाणमंतरगं कारणं, तम्हि उक्कस्से संते बहिरंगकारणे थोवे वि बहुअणुभागघाददंसणादो, अंतरंगकारणे थोवे संते बहिरंगकारणे बहुए संते वि बहुअणुभागघादाणुवलंभादो।

—धवला पु० ११ पृ० ३६।

अर्थ—उसमें भी अन्तरंगकारण प्रधान है, क्योंकि उसके उत्कृष्ट होनेपर वहिरंग कारणके स्तोक रहने पर भी बहुत अनुभागघात देखा जाता है। तथा अन्तरंग कारणके स्तोक होने पर वहिरंग कारणके बहुत होते हुए भी बहुत अनुभागघात नहीं उपलब्ध होता।

यह जिनागमका तात्पर्य है, जिससे वस्तुस्वभाव पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। पूर्वमें प्रश्न नं० ६ एवं उसकी प्रतिशंकाओंके उत्तर स्वरूप लिखे गये लेखोंमें हमने जिनागमके इसी तात्पर्यको ध्यानमें रखकर निश्चयनय और व्यवहारनयकी अपेक्षा उत्तर दिया था। किन्तु हमें देखकर आश्चर्य हुआ कि निश्चयनय और व्यवहारनयकी अपेक्षासे जिनागममें जो सम्यक् व्यवस्था की गई है उसे गौण कर और व्यवहारनयके विषयको मुख्यकर (निश्चयरूप) मानकर इस प्रतिशंका द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि कर्मोंने बलात् जीवको बांध रखा है। अपने अभिप्रायकी पुष्टिमें अन्य व्यवहारनयके सूचक प्रमाणोंके साथ समयसारकी 'सम्मत्तपडिणिवद्धं' इत्यादि तीन गाथाएँ उपस्थित कर उनमें आये हुए 'मिच्छत्त', अण्णाणं, और कसाय' पदोंका अर्थ प्रतिशंकामें मिथ्यात्व द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणीय द्रव्यकर्म और चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म किया है किन्तु यहाँ पर इन पदोंका अर्थ मुख्यरूपसे मिथ्यात्वभाव, अज्ञानभाव और कषायभाव लिये गये हैं। इनके निमित्तरूप कर्मोंका यदि ग्रहण हुआ है तो गौणरूपसे ही। पण्डितप्रवर राजमलजीने इन तीन गाथाओंकी टीकामें आये हुए 'सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि कर्म' (१०९) इस कलशका अर्थ करते हुए 'कर्म' शब्दका अर्थ मुख्यरूपसे जीवके भाव ही किया है। उसकी टीकाका वचन इस प्रकार है—

……इसौं छे जो कोई जीव तेने, तत् इदं कहतां सोई कर्म जो उपर ही कह्यो थो, समस्तं अपि कहतां जावंत छै शुभ क्रियारूप अशुभ क्रियारूप अन्तर्जल्परूप वहिर्जल्परूप इत्यादि। करतूतीं रूप कर्म कहतां क्रिया अथवा ज्ञानावरणादि पुद्गलकौ पिंड अशुद्ध रागादि जीवके परिणाम इसौ कर्म……—समयसारकलश टीका पृ० १११ (सूरत वीर सं० २४५७)

यद्यपि निमित्तोंका सम्यक् ज्ञान करानेके लिये आगममें कर्मोंकी मुख्यतासे व्यवहारनय प्रधान कथन वहुलतासे हुआ है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इस जीवके संसारका कारण इसका अपना अपराध ही है ऐसा ज्ञान हुए विना उसकी अज्ञान, मोह, राग, द्वेषमें अरुचि होकर स्वभावका पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसलिये प्रत्येक संसारी जीवको निमित्तोंके विकल्पसे निवृत्त होकर यही निर्णय करना कार्यकारी है—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥

—समयसार कलश

अर्थ—इस आत्मामें जो रागद्वेषरूप दोषोंकी उत्पत्ति होती है उसमें परद्रव्यका कोई भी दोष नहीं है, वहां तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलता है—इस प्रकार विदित हो और अज्ञान अस्त हो जाये, मैं तो ज्ञान हूँ।

आगे चलकर इस प्रतिशंकामें अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया गया है कि द्रव्यअप्रतिक्रमण और द्रव्य-अप्रत्याख्यानका त्याग पहिले होता है। तथा भाव-अप्रतिक्रमण और भाव-अप्रत्याख्यानका त्याग बादमें होता

है। इस वातको प्रमाणित करनेके लिये समयसारजी गाथा २८३-२८४-२८५ के उल्लेख दिये गये हैं। तथा अमृतचन्द्रसूरिजीकी टीका भी दी है। टीकासे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि—

(१) रागद्वेष आदि विकृत परिणामोंसे मुक्ति पानेके लिये प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आदि व्यवहारधर्म अतिआवश्यक है।

(२) भावशुद्धिके लिये पहिले पर पदार्थोंका त्याग करना परम आवश्यक है।

दोनों निष्कर्ष संख्यामें दो होकर भी एक ही भाव व्यक्त करते हैं। वे इस तात्पर्यको प्रकट करते हैं कि द्रव्यप्रतिक्रमण और द्रव्यप्रत्याख्यान अर्थात् व्यवहारधर्म या व्यवहारचारित्र या द्रव्यचारित्र मुख्य है।

पर वात ऐसी नहीं है। अमृतचन्द्र सूरिने इसी टीकामें द्रव्यत्यागके साथ ही भाव-त्याग जब तक नहीं होता तब तक जीवको रागादिका कर्त्ता बताकर भावत्यागकी मुख्यताको ही स्वीकार किया है। जिससे यह सूचित होता है कि भावप्रतिक्रमण और भावप्रत्याख्यानके साथ जो द्रव्यप्रतिक्रमण और द्रव्य-प्रत्याख्यान होता है वही जिनागममें मान्य है। टीकाके ये शब्द ध्यान देनेयोग्य हैं।

यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च, यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात्।

अर्थ—जब वह निमित्तभूत द्रव्यका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिकभूत भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, और जब इन भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

—समयसार गाथा २८३-२८४ टीका

प्रतिशंकामें 'व्यवहारचारित्र प्रत्येक दशामें सफल है' इस प्रतिज्ञा वाक्यके साथ जो तर्क दिए गये हैं वे सम्यक् नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि, अभव्य और दूरातिदूर भव्य जीव भी मुनिचर्या (व्यवहारचारित्र) के द्वारा अहमिन्द्र पद पा सकता है, जो मोक्षमार्गकी दृष्टिसे मिथ्यादर्शनका सहभावी होनेके कारण मिथ्याचारित्रका ही नाम पाता है। व्यवहार-चारित्राभास तो उसे कह सकते है पर व्यवहारचारित्र नहीं।

जहाँ व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्रमें साधक-साध्यपना बताया है वहाँ सम्यग्दर्शन पूर्वक व्यवहार चारित्रको व्यवहारसे साधक ही बताया गया है, मिथ्याचारित्रको नहीं। अतः निश्चयचारित्रके साथ बाह्य चारित्रको ही व्यवहारचारित्र कहते हैं, वहाँ निश्चयचारित्र ही मुख्य है, क्योंकि वह आत्माका वीतराग भाव है।

सर्वार्थसिद्धि (अ० ७, सू० १९) में पूज्यपादस्वामीने यही व्यक्त किया है। वहाँ प्रश्न किया है कि ऐसा होने पर शून्यागार आदिमें वसनेवाला मुनि अगारी और किसी कारण घर छोड़कर वनमें वसने-वाला व्यक्ति अनगार माना जायगा। वहाँ आचार्य उत्तर देते हैं कि—

नैष दोषः, भावागारस्य विवक्षितत्वात्।

अर्थात् अगार पदसे भावागार ही अर्थ लिया गया है। आगे लिखा है कि—

वने वसन्नपि च गृहे वसन्नपि तदभावदनगार इति च भवति।

भावागारका त्याग अर्थात् जब अगारके प्रति रागभाव न रहे तब वह घरमें बैठा हो, या वनमें वसता हो 'अनगार' कहा जायगा।

इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि जिनागममें सर्वत्र भावचारित्र या निश्चयचारित्रकी ही प्रधानता है, क्योंकि वह मोक्षका साक्षात् हेतु है। उसके होने पर साथमें गुणस्थानपरिपाटीके अनुसार व्यवहारचारित्र होता ही है, उसका निषेध नहीं है। परन्तु ज्ञानीकी सदा स्वरूपरमणकी दृष्टि बनी रहती है, इसलिये मोक्षमार्गमें उसकी मुख्यता है। मोक्षमार्गका तात्पर्य ही यह है। इस प्रतिशंकामें प्रसंगवश इसी प्रकारकी सम्बन्धित और भी अनेक चर्चाएँ आई हैं, परन्तु उन सबका समाधान उक्त कथनसे हो जाता है, अतः यहाँ और विस्तार नहीं किया गया है।

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ९

मूल प्रश्न—सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है ? और किसीसे बंधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है तो छूटनेका उपाय क्या है ?

प्रतिशंका ३

इस मूल प्रश्नके निम्न ४ खण्ड हो सकते हैं :—

(अ) संसारी जीव बद्ध है या मुक्त ?

(आ) यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है ?

(इ) बंधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं ?

(ई) यदि वह बद्ध है तो छूटनेका उपाय क्या है ?

(अ) संसारी जीव बद्ध है या मुक्त ? इस प्रश्नके सम्बन्धमें आपने अपने प्रथम उत्तरमें यह लिखा था कि 'शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा परम-पारिणामिक भावस्वरूप शुद्ध जीवके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मका अभाव होनेसे वह सकल दोषोंसे विमुक्त है।' इसके प्रमाणमें नियमसार गाथा ४५की टीकाका वाक्य दिया गया। इसका उपर्युक्त प्रश्नसे सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि परम पारिणामिक भावस्वरूप शुद्ध जीव तीनों कर्मों व सकल दोषोंसे विमुक्त (रहित) है। इसमें न बद्धका कथन है और न मुक्त (बंधपूर्वक मुक्त) का कथन है। 'यदि मुक्तसे अबद्धका अभिप्राय लिया जावे तो मात्र अबद्धका उत्तर हुआ, किन्तु फिर भी बद्धके विषयमें तो कोई उत्तर नहीं दिया गया। दूसरे उत्तरमें भी इसके विषयमें कुछ नहीं लिखा गया। आपके इस लिखनेसे यह जीव शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे विमुक्त (अबद्ध) है' यह भी सिद्ध हो जाता है

कि व्यवहार नयसे यह संसारी जीव बद्ध है जैसा कि श्री अमृतचन्द्र सूरिने कलश २५ में कहा है कि 'एकस्य बद्धो न तथा परस्य' अर्थात् 'यह जीव व्यवहारनयसे बंधा है, निश्चय नयसे बंधा हुआ नहीं है।' यह हमको भी इष्ट है।

(आ) यदि बंधा हुआ है तो किससे बंधा हुआ है ?

इसके प्रथम उत्तरमें आपने कहा था कि 'यह जीव सद्भूत व्यवहारनयसे अपने रागादि भावोंसे बंधा हुआ है। असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मो तथा औदारिक शरीर आदि नोकर्मोके साथ बद्ध है। इसके पश्चात् प्रसंगके बिना पुद्गलबंधादिका कथन किया। फिर कहा 'अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा जीव अज्ञानरूप अशुद्ध भावोंसे वास्तवसे बद्ध है।' इसपर हमने यह लिखा था कि रागादिक तो कर्मोदयजनित व्यवहारनयसे आत्माके विकारी भाव हैं, जो बंधके कारण होनेसे भावबंध कहे जाते हैं, उनसे जीवका कथंचित् व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध तो है, क्योंकि विकारी पर्याय है। किन्तु स्वपर्यायके साथ बंध्य-बंधकभाव कदापि नहीं हो सकता। इसका आपने कोई उत्तर नहीं दिया। इसका अर्थ है कि वह आपको स्वीकृत है।

(इ) बंधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं ?

आपने प्रथम उत्तरमें कहा था 'संसारी आत्मा अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अपने अज्ञान भावसे बद्ध होनेके कारण वास्तवमें परतन्त्र है और असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा उपचरितरूपसे कर्म और नोकर्मकी अपेक्षा भी परतन्त्रता घटित होती है।' इसके सम्बन्धमें हमने आप्तपरीक्षा कारिका ११४ की टीकाका प्रमाण देते हुए यह सिद्ध किया था कि आत्मा पौद्गलिक द्रव्यकर्मोके कारण परतंत्र हो रहा है और रागादि भाव परतन्त्रता स्वरूप हैं, इसलिये आत्माके भाव स्वयं परतन्त्ररूप हैं, आत्माकी परतन्त्रताके निमित्त नहीं हैं। इसका भी आपने कोई उत्तर नहीं दिया। इसका अर्थ है कि यह भी स्वीकार है।

मूल प्रश्नके इन तीनों खण्डोंके प्रश्नोत्तरोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीन खण्डोंके विषयमें हममें और आपमें कोई मतभेद नहीं है।

अद्भूतव्यवहारनयका लक्षण प्रथम उत्तरमें है।

आपने इसी प्रश्नके अपने द्वितीय उत्तरमें सर्व प्रथम असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण इस प्रकार किया है—'एक द्रव्यके गुण-धर्मको अन्य द्रव्यका कहना यह अद्भूत व्यवहारनय है।' किन्तु प्रथम उत्तरमें यह कहा था—'असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मो तथा औदारिक शरीरादि नोकर्मके साथ बँधा है।' अर्थात् दो भिन्न वस्तुओंका परस्पर सम्बन्ध असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। इसी लक्षणको आपने आठवें प्रश्नके प्रथम उत्तरमें इन शब्दों द्वारा लिखा है—'दो या दोसे अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें जो सम्बन्ध होता है वह असद्भूत ही है।' इस प्रकार आपके द्वारा एक ही प्रश्नके दो उत्तरोंमें असद्भूत व्यवहारनयके दो लक्षण कहे गये हैं। किन्तु यहाँ पर बंधका प्रकरण है और बंध दो भिन्न वस्तुओंमें होता है। अतः इस प्रश्नमें 'भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः' 'अर्थात् भिन्न वस्तु जिसका विषय हो वह असद्भूत व्यवहारनय है', यह लक्षण उपयोगी है। दूसरे यह लक्षण आध्यात्मिक दृष्टिसे है और 'स्वाश्रितो निश्चयः' यह लक्षण भी आध्यात्मिक दृष्टिसे है। अतः दोनों लक्षण अध्यात्मदृष्टिवाले लेने चाहिये। जब निश्चयका लक्षण अध्यात्मनयकी अपेक्षासे ग्रहण किया जा रहा है तो व्यवहारनयका लक्षण भी अध्यात्मनय-वाला लेना चाहिये।

चौथे खण्डमें यह प्रश्न शेष रह गया कि छूटनेका उपाय क्या है ? इसका उत्तर भी बहुत सरल था कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र' छूटनेका उपाय है। किन्तु यह उत्तर न देकर प्रथम उत्तरमें यह लिखकर कि व्यवहारधर्मसे जीव छूट नहीं सकता, व्यवहारधर्मका सर्वथा निषेध करना प्रारम्भ कर दिया। आपका ऐसा करना अप्रासंगिक था, क्योंकि निश्चय व व्यवहारधर्मसम्बन्धी स्वतंत्र प्रश्न नं० ४ है। फिर भी हमको इस पर लिखना पड़ा। अब द्वितीय उत्तरमें आपने निश्चय-व्यवहारधर्मके साथ-साथ प्रेरकनिमित्त तथा नियतिके नवीन प्रसंग उपस्थित कर दिये। यद्यपि निमित्तके लिये स्वतंत्र प्रश्न नं० ६ तथा नियतिके लिये स्वतंत्र प्रश्न नं० ५ हैं। फिर भी उत्तरोंमें अप्रासंगिक कथनोंसे चर्चा जटिल बन जाती है और उलझन पैदा हो जाती है।

यह तो सुनिश्चित है कि व्यवहारधर्म साधन और निश्चयधर्म साध्य है। श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थोंमें तथा श्री अमृतचन्द्रसूरि व श्री जयसेन आचार्यने श्री समयसार, श्री प्रवचनसार व श्री पंचास्तिकायकी टीकाओंमें तथा श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें, श्री ब्रह्मदेवसूरिने बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकामें तथा अन्य आचार्योंने भी भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें यह कथन किया है कि व्यवहारधर्म तीर्थ या स्वर्णपाषाण है और निश्चयधर्म तीर्थफल अथवा स्वर्ण है। इसका विस्तार-पूर्वक विवेचन प्रश्न नं० ४ के प्रपत्र २में हो चुका है जिसमें बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीकाका प्रमाण देते हुए यह भी बतलाया गया है—जो निश्चय-व्यवहारको साध्य-साधकभावसे मानता है वह सम्यग्दृष्टि है अर्थात् जो निश्चय-व्यवहारको साध्य-साधकभावसे नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है। इस सम्बन्धमें सर्व प्रमाण प्रश्न नं० ४ में दिये जा चुके हैं। उनको पुनः लिखकर उत्तरका कलेवर बढ़ानेसे कुछ लाभ नहीं है। मात्र एक प्राचीन गाथा दी जाती है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एएण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

—समयसार गाथा १२ की टीका

अर्थ—हे भव्य जीवो ! यदि तुम जिन मतका प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनोंको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ (साधन)का नाश हो जायगा, निश्चयके बिना तत्त्व (साध्य)का नाश हो जायगा।

इतना स्पष्ट आगम होने पर भी आप लिखते हैं—'निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जितनी विशुद्धि प्रगट होती जाती है उसके अनुपातमें उसके बाह्यमें द्रव्यकर्मका अभाव होता हुआ व्यवहारधर्मकी भी प्राप्ति होती जाती है।' आपका यह लिखना आगमविरुद्ध है। प्रथम तो द्रव्य कर्मोदयके अभावमें अन्तरंग विशुद्धता प्रगट होती है, क्योंकि मलिनताका कारण द्रव्यकर्मोदय है और कारणके अभावमें कार्यका भी अभाव हो जाता है। जैसे दीपकके अभावमें प्रकाशका भी अभाव हो जाता है इसी प्रकार द्रव्यकर्मोदयके अभावमें मलिनताका अभाव हो जानेसे विशुद्धता प्रगट हो जाती है। जिस प्रकार प्रकाशका अभाव दीपकके अभावका ज्ञापक तो है, क्योंकि दीपक और प्रकाशमें अविनाभाविसम्बन्ध है, किन्तु कारण नहीं है उसी प्रकार अन्तरंग विशुद्धता कर्मोदयके अभावका ज्ञापक तो है, किन्तु प्रकट कारण नहीं है। जैसे-जैसे कर्मपटलोंका अभाव होता जाता है वैसे-वैसे ही अप्रकट सम्यग्दर्शनादि रत्नसमूह होता जाता है (धवल १ पृ० ४२) प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका क्या क्रम है, जिनको इसका ज्ञान है वे भलिभाँति जानते हैं

कि मिथ्यात्वोदयमें अनिवृत्तिकरण कालमें प्रथम स्थितिके और द्वितीय स्थितिके मध्यके दर्शमोहनीय निषेकोंका अभाव हो जानेसे अन्तरायाममें दर्शनमोहनीयका द्रव्य नहीं रहता और द्वितीय स्थितिके दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम हो जानेसे प्रथम स्थितिकालके समाप्त होनेपर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, क्योंकि वहाँ पर दर्शनमोहनीयका अभाव पहले ही हो चुका था (लब्धिसार)। दूसरे उपर्युक्त गाथाके विरुद्ध निश्चय रत्नत्रयको साधन और व्यवहार रत्नत्रयको साध्य बतलाया है। आप आगमविरुद्ध कार्यकारणभावको विलोमरूपसे कहते हैं यही मतभेदका कारण है।

दूसरे उत्तरमें 'निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर जीव स्वयं अपने अपराधके कारण बद्ध है, अन्य किसीने बलात् बाँध रखा है और उसके कारण वह बँध रहा हो ऐसा नहीं है।' आपका ऐसा कथन आगम-विरुद्ध है, क्योंकि निश्चयनयकी दृष्टिमें आत्मा बद्ध नहीं है। जैसा कि समयसार गाथा १४१ की टीकामें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने कहा है—'जीव और पुद्गलकर्मको एक बन्ध पर्यायपनेसे देखनेपर उनमें अत्यन्त भिन्नताका अभाव है, इसलिये जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट है, ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है। जीवको तथा पुद्गलको अनेक द्रव्यपनेसे देखनेपर उनमें अत्यन्त भिन्नता है, इसलिये जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है, यह निश्चयनयका पक्ष है।' इसीको कर्ता कर्माधिकार कलश नं० २५ में इन शब्दोंमें कहा है—'एकस्य बद्धो न तथा परस्य' अर्थात् व्यवहारनयकी अपेक्षा आत्मा बद्ध है, निश्चयनयकी अपेक्षा आत्मा बद्ध नहीं है। क्योंकि निश्चयनयका विषय दो द्रव्योंका या दो द्रव्योंकी पर्यायोंका सम्बन्ध नहीं है और अकेले जीवके बंधकी उपपत्ति नहीं बनती; जैसा कहा भी है—'स्वयं एकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः। —समयसार गाथा १३ टीका

आप लिखते हैं—असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा उसके उस अपराधको ज्ञानावरणादि कर्मोंपर आरोपित कर यह कहा जाता है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंके कारण वह बद्ध है।' असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बद्ध है यह बात सत्यार्थ है, किन्तु आपने इस सत्य सरल कथनको तरोड़-मरोड़कर आरोपित आदि शब्दोंके प्रयोग द्वारा असत्य तथा जटिल बनानेका प्रयास किया है जो शोभनीक नहीं है। व्यवहार और निश्चय दो नय हैं और भगवान्‌का उपदेश भी इन दो नयों द्वारा हुआ है। दोनों ही नयोंका विषय अपनी-अपनी नयकी दृष्टिसे सत्यार्थ है। किन्तु एक नयकी दृष्टिमें दूसरे नयका विषय न होनेसे उस दूसरे नयके विषयको अभूतार्थ कहा जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरे नयका विषय आकाशके पुष्पके समान सर्वथा असत्यार्थ है। इसी बातको श्री अमृतचन्द्र सूरि समयसार गाथा १४ में इन शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं—अनादि कालसे बँधे हुए आत्माका, पुद्गलकर्मोंसे बंधने-स्पर्शित होनेरूप अवस्थासे अनुभव करनेपर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि पुद्गलसे किंचित् मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।' अर्थात् जीवकी एक ही बंध अवस्थाको व्यवहार और निश्चय दो भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे देखने पर सत्यार्थ और असत्यार्थ दिखाई देती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहारनय असत्यार्थ है या व्यवहार नयका विषय सर्वथा असत्यार्थ है। 'जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बद्ध है' जब यह व्यवहारनयकी दृष्टिसे सत्यार्थ है तो उसमें जो आरोपादि शब्दों का प्रयोग हुआ है वह विपरीत मान्यताके कारण हुआ है। श्री श्लोकवार्तिक पृ० १५१ पर भी कहा है—

तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोग-समवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिकः एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।

अर्थात् व्यवहारनयसे दो पदार्थोंमें रहनेवाला कार्य-कारणभाव परमार्थ है, काल्पनिक नहीं तथा सर्वथा निर्दोष है।

अन्य प्रश्नोंके उत्तरमें आपने भी व्यवहारनयके विषयको सत्यार्थ माना है।

'मोहनीय आदि द्रव्यकर्मोंका क्षय होता है तब विकारका निमित्त कारण हट जानेसे आत्माके राग-द्वेष आदि नैमितिकभाव दूर हो जाते हैं, व 'कर्म, रागद्वेष आदि आत्माके विभावभावोंके प्रेरक निमित्तकारण हैं और रागद्वेष आदि आत्माके विकृत भाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्मके प्रेरक निमित्त कारण हैं।' इन दोनों कथनोंको आप परस्पर विरुद्ध बतलाते हैं। किन्तु इन दोनों कथनोंमें कोई विरुद्धता नहीं है। जिस प्रकारका जितने अनुभागको लिये घातिया कर्मोंका उदय होता है उसके अनुरूप आत्माके परिणाम अवश्य होते हैं। इसका सविस्तर कथन प्रथम प्रश्नके द्वितीय प्रपत्रमें हम कर चुके हैं। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती क्षपक-श्रेणीवाले जीवके परिणाम बहुत विशुद्ध होते हैं और उदयागत मोहनीय कर्मोंकी शक्ति अतिसूक्ष्म होती है, किन्तु उस सूक्ष्म लोभके अनुरूप आत्माके परिणाम होते हैं उदयागत घातिया कर्मोंके अनुरूप आत्माके परि-णाम होते हैं, इसलिये कर्मोंको प्रेरक कारण कहा है। सहकारी कारणोंके सम्बन्ध सहित राग-द्वेषरूप आत्मापरिणामसे कर्मबंध होता है अतः आत्मपरिणाम कर्मबंधके कारण हैं। कहा भी है—

प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्यत कर्मणा।
एतयोः प्रेरको नान्यो नौ-नाविकसमानयोः ॥ १०६ ॥

—उपासकध्ययन पृ० २९ ज्ञानपीठ बनारस अथवा यशस्तिलकचम्पू

अर्थ—जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीवको प्रेरित करता है। इन दोनोंका सम्बन्ध नौका और नाविकके समान है। कोई तीसरा इन दोनोंका प्रेरक नहीं।

क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि।
नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्यं वह्निसंश्रयम् ॥ २४७ ॥ —उपासकाध्ययन

अर्थ—आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेशका कारण है। जैसे जल स्वयं गर्म नहीं होता, किन्तु आगके सम्बन्धसे उसमें गर्मी आ जाती है।

कर्मोदय क्लेश (रागद्वेष मोह) का कारण है। कर्मोंका क्षय हो जानेपर अर्थात् कारणका अभाव हो जाने पर रागद्वेषादि कार्यका भी अभाव हो जाता है। मोक्षशास्त्र अध्याय १० प्रथम सूत्रमें भी इसी प्रकार कहा है। जब दोनों कथन आगमानुकूल हैं तब उनमें परस्पर विरोध आपको कैसे दृष्टिगोचर हो गया।

जिस निमित्तके अनुरूप कार्य हो वह प्रेरक निमित्त है। न मालूम आपको यह कैसे ज्ञात हो गया कि जो निमित्त बलात् कार्यके स्वकालको छोड़कर आगे-पीछे पर द्रव्यमें उत्पन्न करता हो वह प्रेरक निमित्त है।'

स्वकालका अर्थ परिणमन है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावसे प्रतिक्षण परिणमन करता रहता है। यह लक्षण सब द्रव्योंमें घटित हो जाता है, इसलिये यह उनका स्वकाल है। इसी प्रकार श्रीमान् पं० फूल-चन्द्रजीने भी पंचाध्यायी पृ० ६५ के विशेषार्थमें कहा है—

स्वकालका अर्थ ग्रहण होनेसे उसका अर्थ परिणमन लिया गया है। जितने भी पदार्थ हैं वे यद्यपि सदा ही परिणमनशील हैं तथापि इस परिणमनकी धारामें एकरूपता बनी रहती है, जीवका अजीव हो जाय, या अजीवका जीव हो जाय ऐसा कभी नहीं होता।

स्वकालके इस लक्षण द्वारा आगे पीछेका प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे आप भी जानते हैं और प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आता है कि विकारी पर्यायोंका कोई काल सर्वथा नियत नहीं है। जिस समय उभय (अंतरंग-

वहिरंग) निमित्ताधीन जो कार्य हो गया वह ही उसका स्वकाल है। प्रतिसमय परिणमन करना द्रव्यका स्वभाव है, किन्तु अशुद्ध द्रव्यके अमुक समय अमुक ही पर्याय होगी ऐसा सर्वथा नियत नहीं है। जब काल, सर्वथा नियत नहीं तो आगे-पीछेका कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसका विशेप विवेचन प्रश्न नं० ५ में है।

आप लिखते हैं 'जिस प्रकार कर्मोदय-उदीरणा है, उसी प्रकार राग द्वेप परिणाम भी हैं। अतः कर्म आत्माको बलात् परतंत्र रखेगा और राग द्वेष परिणाम बलात् कर्मबंध कराता रहेगा। ऐसी व्यवस्थामें यह आत्मा त्रिकालमें बन्धनसे छूटनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ कभी नहीं कर सकेगा और प्रबल पुरुपार्थके अभाव में मुक्तिकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।' जो कर्मशास्त्रसे अनभिज्ञ हैं उनको इस प्रकारकी शंका उठा करती है, किन्तु जो कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ हैं वे भलीभाँति जानते हैं कि प्रत्येक समयमें जो द्रव्यकर्म बंधता है उसमें नाना वर्गणाएँ होती हैं और सभी वर्गणओंमें समान अनुभाग (फलदान शक्ति) नहीं होती, किन्तु भिन्न-भिन्न वर्गणाओंमें भिन्न-भिन्न अनुभाग अर्थात् किसी वर्गणामें जघन्य किसीमें मध्यम और किसीमें उत्कृष्ट अनुभाग होता है। मध्यम अनुभागके अनेक भेद हैं और वर्गणा भी नाना हैं। इस प्रकार जिस समय जैसा अनुभाग उदयमें आता है उसके अनुरूप आत्माके परिणाम होते हैं, क्योंकि कर्मके अनुभवनका नाम उदय है।

कर्मणामनुभवनमुदयः। उदयो भोज्यकालः।

—प्राकृतपंचसंग्रह पृ० ६७६ भारतीय ज्ञानपीठ

अर्थात् कर्मका अनुभवन उदय है और कर्मके भोगनेका काल ही उदय है। हर समय एक प्रकारका उदय नहीं रहता, क्योंकि वर्गणाओंके अनुभागमें तरतमता पाई जाती है। जिस समय मंद अनुभाग उदयमें आता है उस समय मंद कषायरूप परिणाम होते हैं और उस समय ज्ञान व वीर्यका क्षयोपशमविशेष होनेसे आत्माकी शक्ति विशेष होती है। उस समय यदि यथार्थ उपदेश आदिका बाह्य निमित्त मिले और यह जीव तत्त्वविचारादिका पुरुषार्थ करे तो सम्यक्त्व हो सकता है। जैसे जिस समय नदीका बहाव मंद होता है उस समय मनुष्य यदि प्रयत्न करे तो पार हो सकता है। यह ही प्रश्न श्री ब्रह्मदेव सूरिके सामने भी उपस्थित हुआ था। उन्होंने वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३७ की टीकामें इस प्रकार समाधान किया है जो ध्यान देने योग्य है—

यहाँ शिष्य कहता है—संसारी जीवके निरन्तर कर्मबन्ध होता रहता है, इसी प्रकार कर्मोका उदय भी होता रहता है, शुद्ध आत्मध्यानका प्रसंग ही नहीं, तब मोक्ष कैसे हो सकती है? इसका उत्तर देते हैं—शत्रुकी निर्बल अवस्था देखकर जैसे कोई बुद्धिमान विचार करता है कि यह मेरे मारनेका अवसर है, इसलिये पुरुषार्थ करके शत्रुको मारता है। इसी प्रकार कर्मोकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती, स्थिति और अनुभागकी न्यूनता होने पर जब कर्म लघु अर्थात् मंद होते हैं तब बुद्धिमान् भव्य जीव, आगम भाषासे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पाँच लब्धियोंसे और अध्यात्मभाषामें निज शुद्धात्माके सम्मुख परिणाममयी निर्मल भावना विशेषरूप खड्गसे पौरूष करके कर्म शत्रुको नष्ट करता है।

इसी बातको इष्टोपदेशके टीकाकारने भी इन शब्दों द्वारा कहा है—

कत्थ वि बलियो जीवो कत्थ वि कम्माइ हुंति बलियाइं।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइं॥

—इष्टोपदेश गाथा ३१ टीका

अर्थ—कभी जीव बलवान् होता है तो कभी कर्म बलवान् हो जाता है। इस तरह जीव और कर्मोंका अनादिसे वैर चला आ रहा है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सदाकाल कर्मोदय एक प्रकारका नहीं रहता, इसलिये जब जीव बलवान् होता है तब जीव अपना हित चाहता है जैसा कि इष्टोपदेश गाथा ३१ में कहा है—

जीवो जीवहितस्पृहः।....
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति॥

अर्थात् जीव, जीवका हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने प्रभावके बढ़ने पर अपने स्वार्थको कौन नहीं चाहता। अर्थात् जीवके बलवान् हो जाने पर जीव अपना अनन्तसुखरूपी हित करता है।

इन आगमप्रमाणोंसे सिद्ध हो जाता है कि कर्मको प्रेरक निमित्तकारण मानने पर भी मोक्षरूपी पुरुषार्थमें कोई कठिनाई नहीं आती।

प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः' का जो वाच्य अर्थ है वह ही जिनागममें इष्ट है, क्योंकि शब्दोंका और अर्थका परस्पर वाच्य-वाचकसम्बन्ध है। इस सम्बन्धको स्वीकार न करके शब्दोंका यदि अपनी इच्छा अनुसार अर्थ किया जायगा तो सब विप्लव हो जायगा,संसारमें कोई व्यवस्था न रहेगी। 'प्रेर्यमाणाः' शब्दसे यदि आचार्योंको प्रेरक अर्थका बोध कराना इष्ट नहीं था तो वे अन्य शब्दका प्रयोग कर सकते थे। अतः आपका यह लिखना 'आगममें प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः इत्यादि वचन पढ़कर प्रेरक कारण स्वीकार करना अन्य बात है पर उसका जिनागममें क्या अर्थ इष्ट है इसे समझ कर सम्यक् निर्णयपर पहुँचना अन्य बात है।' ठीक नहीं है, क्योंकि स्वइच्छा अनुसार अर्थका अनर्थ करके अपनी गलत मान्यताको पुष्ट करना उचित नहीं है।

आपने जो समयसार गाथा ११६ का टीकार्थ उद्धृत किया है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि जीव परिणाम निमित्त बिना ही पुद्गल द्रव्य कर्मभावरूप परिणम जाता है। उसमें तो मात्र उन अन्य मतोंका खण्डन किया है जो द्रव्यको सर्वथा अपरिणामी अर्थात् नित्य कूटस्थ मानते हैं। यदि आपके अभिप्रायानुसार यह मान लिया जावे कि आत्मपरिणाम निमित्त बिना पुद्गल कर्मभावरूप परिणम जाता है तो समयसार गाथा ८०-८१ से विरोध आ जायगा जिसमें 'जीवपरिणामहेदु' शब्द है।

'करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, ग्रहण करता है, त्यागता है, बाँधता है, प्रेरता है' इत्यादि शब्दों द्वारा आगममें प्रायः प्रेरकनिमित्तको सामर्थ्यको प्रकट किया है। स्वकालका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। समयसार गाथा १०७ व उसकी टीकासे स्पष्ट है कि वह गाथा निमित्तकारणकी अपेक्षासे नहीं लिखी गई, किन्तु उपादानकी अपेक्षासे लिखी गई है। जैसा कि टीकामें 'व्याप्यव्यापक' शब्दसे स्पष्ट है। इससे प्रेरक निमित्तकर्ताका खण्डन नहीं होता। निमित्तकर्ताको आपने स्वयं प्रश्न नं० १ व प्रश्न नं० १६ के उत्तरमें स्वीकार भी किया है।

श्लोकवार्तिक पृ० ४१० का कथन प्रेरक निमित्तकारणके विषयमें नहीं है, किन्तु धर्मादि द्रव्योंके विषयमें है जो अप्रेरक हैं। दूसरे निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध निश्चयनयका विषय नहीं है, किन्तु व्यवहारनयका विषय है, क्योंकि दो या दोसे अधिक भिन्न वस्तुओंका परस्पर सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है। जैसा कि 'भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।' आलापपद्धतिमें कहा है और आपने भी इसी प्रश्नके प्रथम उत्तरमें माना है। इसीलिये श्री श्लोकवार्तिक पृ० ४१० पर यह स्पष्ट लिख दिया है कि 'व्यवहारनयकी अपेक्षासे विचार करने पर ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।' और पृ० १५१ पर भी लिखा है—'व्यवहारनयका

आश्रय करने पर कार्य-कारणभाव दो पदार्थोंमें रहनेवाला भाव सिद्ध होता है। वह वास्तविक है, काल्पनिक नहीं है, सर्वथा निर्दोष है।'

धवल पु ६ पृ० १६२ में पुरुषवेद, हास्य, रति तथा देवगति, समचतुरस्रसंस्थान आदि ११ शुभ-नामकर्म व उच्चगोत्र कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम बतलाया है और सूत्र १८ में नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति आदि नामकर्मकी प्रकृतियोंका व नीचगोत्रका उत्कृष्ट स्थितिबंध बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम कहा है। इसपर प्रश्न स्वाभाविक है कि नोकषाय, नामकर्म व गोत्रकी उत्तर प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध एक समान होना चाहिये, यह विभिन्नता क्यों? इसका उत्तर श्री वीरसेनस्वामीने पृ० १६४ में दिया है। उसका तात्पर्य यह है कि—

(१) सूत्र १६ की प्रकृतियोंकी अपेक्षा सूत्र १८ की प्रकृतियोंमें विशेषता है, इसलिये इनके उत्कृष्ट स्थितिबंधमें अन्तर है।

(२) सभी कार्य एकान्तसे बाह्य अर्थ (कारण) की अपेक्षा करके ही नहीं उत्पन्न होते। इसलिये कहीं पर भी अंतरंग कारणसे ही (उपादान कारणके समान) कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

यहाँ पर शालि-धान्यके बीजसे जौकी उत्पत्तिका निषेध करनेसे भी यह ही फलितार्थ होता है कि अंतरंग कारणसे ही अर्थात् उपादानकारणके समान ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि,

उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्।

अर्थात् उपादानकारणके सदृश कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा आगमका वचन है। नं० २में 'एकान्तसे' शब्द पर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नं० २ में उनकी मान्यताका निषेध किया गया है जो उपादानकी शक्ति बिना ही मात्र निमित्तकारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि निमित्तकारणोंके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति हो जायगी। 'एकान्तसे' शब्दके प्रयोगकी कोई आवश्यकता न थी। यद्यपि कार्य उपादानके सदृश होता है तथापि ऐसा भी नहीं है—उसपर बाह्य कारणोंका प्रभाव न पड़ता हो! वहके वही बीज होनेपर भी भूमिकी विपरीततासे निष्पत्ति (फल)की विपरीतता होती है, अर्थात् भूमिमें उसी बीजका अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमिमें वही अन्न खराब हो जाता है या अन्न उत्पन्न ही नहीं होता (प्रवचनसार गाथा २५५ की टीका)। इसी प्रकार वर्षाका जल एक ही प्रकारका है, किन्तु नीमके वृक्षके सम्बन्धसे वह कटुक रसरूप परिणम जाता है और ईखके सम्बन्धसे वह मधुर रसरूप परिणम जाता है। इस प्रकारके अनेकों दृष्टान्त आगममें दिये गये हैं और प्रत्यक्ष भी अनुभवमें आते हैं। इस प्रकार धवल पु ६ पृ० १६४ से निमित्तकारणका खण्डन नहीं होता, मात्र इतना सिद्ध होता है कि उपादानके सदृश कार्य होता है। लोहेसे लोहेके आभूषण बनेंगे और सुवर्णसे सुवर्णके आभूषण बनेंगे यह तो नियम है। किन्तु अमुक समय अमुक ही आभूषण बनेगा ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति अंतरंग और बहिरंग निमित्ताधीन है ऐसा वस्तुस्वभाव है। (स्वयंभूस्तोत्र ६०)। अतः यह लिखना 'सर्वत्र कार्यकी उत्पत्ति मात्र अंतरंग कारणसे ही होती है।' एकान्त मिथ्यात्वका द्योतक तथा आगम व प्रत्यक्षविरुद्ध है तथा स्ववचन बाधित भी है, क्योंकि आपने प्रश्न नं० ११ के प्रथम उत्तरमें स्वभाव पर्यायमें कालादि साधारण निमित्त तथा विकारी पर्यायमें विशेष निमित्त स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार अन्य प्रश्नोंके उत्तरमें भी आपने अंतरंग और

वहिरंग दोनों कारणोंसे ही कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार की है। प्रश्न नं० १ के द्वितीय उत्तरमें आपने स्वयं लिखा है—'ऐसा नियम है कि प्रत्येक द्रव्यके किसी भी कार्यके पृथक् उपादान कारणके समान उसके स्वतंत्र एक या एकसे अधिक निमित्तकारण भी होते हैं। इसीका नाम कारकसाकल्य है। और इसीलिये जिन आगममें सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि उभय निमित्तसे कार्यकी उत्पत्ति होती है।'

आपने धवल पु० १२ पृ० ३६ की कुछ पंक्तियोंको उद्धृत करते हुए यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि अंतरंग कारण प्रधान है। यदि वह पूर्ण प्रकरण दे दिया गया होता तो यह स्पष्ट हो जाता कि अंतरंग कारणसे क्या प्रयोजन है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि सर्वत्र अंतरंग कारण प्रधान है या इस विवक्षित स्थलपर प्रधान है? सर्वप्रथम विवक्षित स्थलकी मीमांसा की जाती है। पृ० ३५ सूत्र ४६ में यह कहा गया है कि 'भावकी अपेक्षा नामकर्मकी जघन्य वेदना अनन्तगुणी है॥४६॥' इसके पश्चात् सूत्र ४७में यह कहा गया है कि 'उससे (नामकर्मकी जघन्य वेदनासे) वेदनीयकर्मकी जघन्य वेदना अनन्तगुणी है ॥४७॥ वेदनीय-कर्मकी जघन्य वेदना चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होती है। जिसके असाता वेदनीयका उदय होनेके कारण साता वेदनीयका द्विचरम समयमें क्षय हो गया है और चरम समयमें मात्र असातावेदनीय रह गई है। और नामकर्मका जघन्य अनुभाग, हतसमुत्पत्तिक कर्मवाले सूक्ष्म निगोदिया जीवके होता है। इसपर यह शंका हुई कि वेदनीय कर्म (असाता वेदनीयकर्म) का अनुभाग क्षपकश्रेणीमें संख्यात हजार अनुभाग काण्डकघातों-के द्वारा प्राप्त हो चुका है, इसलिये जो चिरंतन अनुभागकी अपेक्षा अनन्तगुणा हीन होता हुआ अयोगकेवलीके अन्तिम समयमें एक निषेकका अवलंबन लेकर स्थित है वह भला जो क्षपकश्रेणीमें घातको नहीं प्राप्त हुआ है और जो संसारी जीवोंके काण्डकघातोंके द्वारा अपने उत्कृष्टकी अपेक्षा अनन्तगुणा हीन है, ऐसे नामकर्मके अनुभागसे अनन्तगुणा कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए श्री वीरसेन स्वामी लिखते हैं—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि केवल अकषाय परिणाम ही अनुभागघातका कारण नहीं है (अर्थात् कर्मोंकी फलदानशक्तिके घातका कारण नहीं है)। किन्तु प्रकृतिगत शक्तिकी अपेक्षा रखनेवाला परिणाम अनुभागघातका कारण है। उसमें भी अंतरंग कारण प्रधान है, उसके उत्कृष्ट होनेपर वहिरंग कारणके स्तोक रहनेपर भी अनुभागघात बहुत देखा जाता है तथा अंतरंगके स्तोक रहनेपर वहिरंग कारणके बहुत होते हुए भी अनुभागघात बहुत नहीं होता।' यहाँ पर यह विचार करना है कि अंतरंग कारण कौन है 'अकषाय परिणाम' या प्रकृतिगत शक्तिकी अपेक्षा रखनेवाला परिणाम। अकषाय परिणाम तो जीवका है और 'प्रकृतिगत शक्तिकी अपेक्षा रखनेवाला परिणाम' पुद्गलका है। यहाँपर पुद्गल परिणामको अंतरंग परिणामसे ग्रहण किया है और जीव-परिणामको वहिरंग कारण ग्रहण किया है। जो मात्र आत्मपरिणामसे मोक्ष मानते हैं उनके लिये यह विचारणीय हो जाता है कि द्रव्यकर्मकी शक्ति भी अपेक्षित है, मात्र अकषाय परिणामसे ही कर्मोंका घात संभव नहीं है।

इसी धवल पुस्तक १२ में सहकारी कारणोंकी प्रधानता स्वीकार की गई है—

'शंका—एक परिणाम भिन्न कार्योंको करनेवाला कैसे होता है? नहीं, 'क्योंकि, सहकारी कारणोंके सम्बन्ध भेदसे उसके भिन्न कार्योंके करनेमें कोई विरोध नहीं है।' —पृ० ४५३।

'शंका—एक संक्लेशसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागसम्बन्धी छह स्थानोंका बन्ध कैसे बन सकता है?

उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, अनुभागवन्धाध्यवसानोंके असंख्यात लोकप्रमाण छह स्थानोंसे सहित सहकारी कारणके भेदके कारण, एक ही संक्लेशसे सहकारी कारणोंके भेदोंकी संख्याके बराबर अनुभाग स्थानोंके बन्धमें कोई विरोध नहीं आता।'—पृ० ३८०।

'असंख्यात लोकमात्र उत्तर (वहिरंग) कारणोंकी सहायतायुक्त उत्कृष्ट अन्तिम एक विशुद्धिके द्वारा बांधे जानेवाले अनुभागके स्थान असंख्यात लोकमात्र है।'—पृ० १२०।

इसी वेदनाभावविधानानुयोगद्वारके इन तीन कथनोंसे यह सिद्ध हो गया कि बाह्य सहकारी कारणोंके भेदसे एक ही परिणामसे नाना प्रकारका अनुभागवन्ध होता है। अर्थात् मात्र सहकारी कारणोंके भेदसे अनुभागवन्धमें अन्तर पड़ जाता है। यहाँ पर सहकारी कारणकी प्रधानता है। इस विषयमें एकान्त नियम नहीं, किन्तु अनेकान्त है। कहीं पर अन्तरंग कारणको प्रधानता होती है तो कहीं पर सहकारी कारणोंको प्रधानता होती है।

सहकारी कारणोंकी प्रधानताको स्पष्ट करते हुए श्री वीरसेन स्वामी घवल पु० १ संतपरूवणाणुयोगद्वार सूत्र १२१ की टीका में लिखते हैं—

'मात्र संयम ही मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण नहीं है, किन्तु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त संयतोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। वे दूसरे कौनसे कारण हैं? विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र, कालादि अन्य कारण हैं जिनके बिना संयतों के मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।'

इस प्रकार 'मात्र उपादान कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है और बाह्य कारण अकिंचित्कर हैं इस एकान्त मान्यताका इन आगम प्रमाणोंसे खण्डन हो जाता है।

प्रश्न नं० ६ के उत्तरोंकी चरचा तो यथास्थान की जा चुकी है। आपने यह लिखा है कि व्यवहारके विषयको निश्चयरूप मानकर उत्तर दिये गये हैं। इसमें यदि 'निश्चय' से अभिप्राय वास्तवका है तो हमको इष्ट है। यदि अभिप्राय निश्चयनयसे है, तो आपने निश्चयनयके स्वरूप पर दृष्टि नहीं दी। निश्चयनयकी दृष्टिमें न बंध है, न मोक्ष है। बन्ध तो व्यवहारनयका विषय है। आप बन्धको भी निश्चयनयका विषय बनाकर बाह्य कारणोंका लोप करना चाहते हैं जो कि आगम और प्रत्यक्षसे विरुद्ध है।

समयसारकी 'सम्मत्तपडिणिवद्धं' इत्यादि तीन गाथाओंमें 'मिच्छत्तं अण्णाणं और कषायं' का अभिप्राय द्रव्यकर्मसे है, जैसा कि इन तीन गाथाओंकी उत्थानिका, टीका तथा कलश ११० से स्पष्ट है। उत्थानिका इस प्रकार है—

कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति।

अर्थ—आगे कर्मका मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रोंका तिरोधायिपन दिखलाते हैं। —

दूसरी टीकाकी उत्थानिका—

अथ पूर्वं मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छन्नं भवतीति कथितम्। इदानीं तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छाद्यते इति प्रकटीकरोति।

अर्थात् पूर्व गाथा १६० में 'सव्वणाणदरिसी कम्मरएण अवच्छण्णो' (सबको जाननेवाला और देखनेवाला है तो भी कर्मरूपी रजसे आच्छादित हुआ) पदके द्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मोक्षके कारण सम्यक्त्वादि जीवगुण मिथ्यात्व आदि कर्मोके द्वारा आच्छादित हैं। अब उन गुणोंका आधारभूत गुणी जीव, मिथ्यात्वादि कर्मोंके द्वारा आच्छादित है इस बातको प्रकट करते हैं। इन तीनों गाथाओंकी टीकामें श्री जयसेन आचार्य लिखते हैं—

शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं तद्व्यापारेणोपार्जितं वा शुभाशुभकर्म मोक्षकारणं न भवति।

अर्थात् – शुभाशुभ मन-वचन-कायका व्यापार तथा उस व्यापारसे उपार्जित शुभाशुभ कर्म मोक्षके कारण नहीं होते।

शुभाशुभ मन-वचन-काययोगके द्वारा शुभाशुभ द्रव्यकर्मका आस्रव होता है ऐसा तत्त्वार्थसूत्र अध्याय छहमें कहा गया है। इस टीकासे भी स्पष्ट है कि इन तीन गाथाओंमें कर्मसे अभिप्राय द्रव्यकर्मसे है। इन गाथाओंके दूसरे कलशमें आये हुए 'यावत्पाकमुपैति' (जब तक कर्म विपाकका उदय है) तथा 'समुल्लसत्य-वशतो यत्कर्म' (कर्मके उदयकी जबरदस्तीसे आत्माके वश बिना कर्म उदय होता है)। इसी कलशकी उत्थानिकामें महान् विद्वान् तथा अनेकों ग्रन्थोंके आगमानुकूल अनुवाद करनेवाले श्रीमान् पं० जयचन्द्र जी इस प्रकार लिखते हैं –

आगे आशंका उत्पन्न होती है कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदिके जब तक कर्मोदय है तब तक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे हो सकता है।

इस उत्थानिकासे भी यही ज्ञात होता है कि इन तीन गाथाओंमें द्रव्यकर्मका प्रकरण है। कलश नं० १११ का जो अर्थ आपने दिया है उसमें भी 'ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मपिंड' पद द्रव्यकर्मका द्योतक है।

आप लिखते हैं कि 'यद्यपि निमित्तोंका सम्यग्ज्ञान करानेके लिये आगममें कर्मोंकी मुख्यतासे व्यवहार-नयप्रधान कथन बहुबलतासे आया है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इस जीवको संसारका कारण इसका अपना अपराध है।' 'इसमें यद्यपि निमित्तोंका सम्यग्ज्ञान करानेके लिये' ये शब्द किसी आगमके तो है नहीं, किन्तु आपकी निजी नवीन कल्पना है जो कि मान्य नहीं है। व्यवहारनय प्रधान इसलिये है कि दो भिन्न द्रव्योंका परस्पर सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है, निश्चयनयका विषय नहीं है ऐसा आपको भी स्वीकार है। 'अपराध' सहेतुक है या निर्हेतुक है? यदि निर्हेतुक है तो वह जीवका स्वभाव हो जायगा और नित्य हो जायगा, क्योंकि जो स्व-परप्रत्यय नहीं वह स्वाभाविक पर्याय है ऐसा आपने प्रश्न नं० ४ व ११ के उत्तरमें स्वीकार किया है। दूसरे जिसका कोई हेतु नहीं होता और विद्यमान है वह नित्य है (आप्त-परीक्षा पृ० ४ वीरसेवामन्दिर)। यदि अपराध सहेतुक है तो हेतुके अभावके बिना अपराधका भी अभाव नहीं हो सकता। जैसा कि समयसार गाथा २८३-२८५ की टीकामें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—'आत्मा आपसे रागादि भावोंका अकारक है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि पर द्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्माके रागादिक भाव (अपराध) है। जब तक रागादिकका निमित्तभूत पर द्रव्यका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न करे तब तक नैमित्तिकभूत रागादि भावों (अपराधों) का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नहीं हो सकता।' इसलिये अपराधके कारणरूप पर-द्रव्यका प्रथम त्याग होना चाहिये। उस के पश्चात् ही अपराधका दूर होना सम्भव है। यह सत्य है कि अपराध दूर हुए बिना कल्याण नहीं हो सकता, किन्तु उस अपराधके त्यागका मार्ग क्या है। पर-वस्तुके त्याग बिना अपराधका त्याग सम्भव नहीं है। दिगम्बरेतर समाज तो बाह्य त्याग बिना भी अपराधका त्याग मानते हैं। किन्तु दिगम्बर धर्ममें तो प्रथम पर द्रव्यका त्याग बतलाया है। अथवा पूर्व संस्कारवश कुछ दिगम्बरी भी इतर समाजके समान प्रथम अपराध त्यागको बतलाते हैं।

आपने कलश २२० उद्धृत किया। किन्तु वह तो एकान्तवादियोंके लिये लिखा गया है, जो मात्र परद्रव्यसे ही रागद्वेषकी उत्पत्ति मानते हैं। जैसा कि कलश नं० २२१ में 'रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते' (जो पुरुष रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्तपना मानते हैं) इन

शब्दोंसे स्पष्ट है। यदि ऐसा न माना जावे तो कलश नं० २२० का कलश नं० १६ बन्धाधिकार तथा टीका गाथा नं० २८३-२८५ से विरोधका प्रसंग आजावेगा, किन्तु एक ही ग्रन्थमें पूर्वापर विरोध सम्भव नहीं है।

आपने लिखा है कि दूराति-दूर भव्य भी मुनिचर्या (व्यवहारचारित्र)के द्वारा अहमिन्द्र पद पा सकता है, किन्तु आपका ऐसा लिखना आगमानुकूल नहीं है, क्योंकि दूरातिदूर भव्यको शीलवती विधवाका दृष्टान्त दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार शीलवती विधवाके पतिका निमित्तकारण न मिलनेसे पुत्रकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार दूरातिदूर भव्यको गुरु उपदेश आदिका निमित्त न मिलनेसे सम्यग्दशर्न-की प्राप्ति नहीं होती, इसीलिये दूरातिदूर भव्य जीव मुनिलिंग अथवा व्यवहारचारित्र धारणकर अहमिन्द्र नहीं हो सकते। दूरातिदूर भव्य-नित्यनिगोदमें होते हैं, क्योंकि उनको कभी भी निमित्तकारण नहीं मिलेगा। जयधवल पु० १ पृ० ३८९ पर कहा भी है—'किन्हीं जीवोंके अवस्थित विभक्तिस्थान (मोहनीय कर्मके २६ प्रकृतिकस्थान) अनादि अनन्त होता है, क्योंकि जो अभव्य है या अभव्योंके समान नित्य-निगोदको प्राप्त हुए भव्य हैं उनके अवस्थित स्थानके सिवाय भुजगार या अल्पतर स्थान (अन्य स्थान) नहीं पाये जाते हैं। इस प्रकार दूरातिदूर भव्यके विषयमें आपका कथन आगमानुकूल नहीं है।

'व्यवहारचारित्र प्रत्येक दशामें सफल है' ऐसा कहनेसे हमारा यह प्रयोजन रहा है कि जो भव्य हैं उनके लिये तो व्यवहारचारित्र परम्परा मोक्षका कारण है तथा निश्चय चारित्रका साधक है और जो अभव्य हैं उनको कुगतिमें गिरनेसे बचाता है। इस विषयमें निम्न उपयोगी श्लोक है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

—इष्टोपदेश

अर्थ—व्रतोंके द्वारा देवपद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतोंके द्वारा नरकपद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। जैसे छाया और धूपमें बैठनेवालोंमें अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत अव्रतके आचरण पालन करनेवालोंमें अन्तर पाया जाता है।

निश्चय व्यवहार चारित्रकी चर्चा प्रश्न नं० ४ के उत्तरमें सविस्तार हो चुकी है। उसको पुनः यहाँ लिखनेसे पुनरुक्तिका दोष आ जायगा। इस सम्बन्धमें प्रश्न नं० ४ पर हमारा प्रपत्र देखना चाहिये।

आपने सर्वार्थसिद्धि ७।१९की टीका उद्धृत की है। उसमें आपने इन पदों पर ध्यान नहीं दिया है—

चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तः परिणामो भावागारमित्युच्यते।

चरित्रमोहके उदय होनेसे (२) परसे सम्बन्धका त्याग नहीं किया ऐसे जो परिणाम वे भावागार कहे जाते हैं। इससे तो आपके मतका ही खण्डन होता है—(१) कर्मोदयके होनेपर आत्म-परिणाम होते हैं यहाँ ऐसा कहा गया है जो आपकी मान्यताके विरुद्ध है। (२) 'घरसे सम्बन्धका त्याग नहीं किया' (अर्थात् परवस्तुका त्याग नहीं किया) इससे भी यह सिद्ध हुआ कि परवस्तुका त्याग किये विना भावोंका त्याग नहीं हो सकता। यह ही तो श्री अमृतचन्द्र सूरिने समयसार गाथा २८३-२८५ की टीकामें कहा है। जिसको आप स्वीकार नहीं कर रहे हैं। भावागारका त्यागवाला घरमें नहीं रह सकता, किन्तु शून्यागारमें ठहर सकता है। आपने यहाँ पर अर्थ ठीक नहीं किया। आपने स्वयं अर्थ इस प्रकार किया था—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर भावागार विवक्षित है। चारित्रमोहनीयका उदय होनेपर जो परिणाम घरसे निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वनमें निवास

करते हुए और घरमें रहते हुए भी आगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नहीं वह अनगार है। (ज्ञानपीठ सर्वार्थसिद्धि पृ० ३५७)। इस अर्थमें अनगारको घरमें बैठना नहीं लिखा जब कि वर्तमान अर्थमें अनगारको घर बैठना लिखा है जो आगम अनुकूल नहीं।

आप लिखते हैं कि 'निश्चयचारित्र होनेपर व्यवहारचारित्र होता है।' यदि आपके कथनानुसार निश्चयचारित्रपूर्वक व्यवहारचारित्र माना जावेगा तो भावसंयमरूप सातवां गुणस्थान होनेपर वस्त्रत्याग, केशलोंच, महाव्रत धारण आदि व्यवहारचारित्रकी क्रिया होगी, जिसका अर्थ यह होगा कि सप्तम गुणस्थान वस्त्रधारीके हो जायगा और ऐसा होनेसे सवस्त्रमुक्ति सिद्ध हो जायगी जिसका दिगम्बर जैन आर्षग्रन्थोंमें खण्डन है। जिनके पूर्व संस्कार बने हुए हैं ऐसे दिगम्बर तो कह सकते हैं कि निश्चयचारित्रपूर्वक व्यवहार चारित्र होता है, किन्तु जिनको दिगम्बर जैन आर्षग्रन्थोंपर श्रद्धा है वे तो यह ही कहेंगे कि प्रथम केशलोंच, वस्त्रत्याग, महाव्रत आदि ग्रहणके द्वारा मुनिदीक्षाके होनेपर सप्तम गुणस्थान सम्भव है।

जिसके किंचित् मात्र भी त्यागरूप चारित्र नहीं अर्थात् मद्य, मांस, मधु, नवनीत और पाँच उदुम्बर फलका त्याग नहीं वे जिनधर्मोपदेशके भी पात्र नहीं हैं—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थ—अनिष्ट दुस्तर और पापोंके स्थान इन आठों (५ उदुंबरफल, मद्य-मांस-मधु)का त्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्मके उपदेशके पात्र होते हैं।

मोक्षप्राप्तिका बहुत सुन्दर उपाय श्री अमृतचन्द्र सूरिने निम्न श्लोक द्वारा बतलाया है जिसमें निश्चय व व्यवहारको समान रखा है—

सम्यक्त्वचारित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषं ॥२२२॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थ—निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-चारित्र-ज्ञानलक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्माको परम पद प्राप्त करावे है अर्थात् निश्चय-व्यवहाररूप धर्म ही बन्धसे छूटनेका उपाय है।

नोट—इस विषयमें प्रश्न नं० ४ का व्यवहार धर्म व निश्चय धर्मका विवरण देखिये।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १

मूल प्रश्न १ — सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त? यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है और किसीसे बँधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धनोंसे छूटनेका उपाय क्या है?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१ उपसंहार

अपने प्रथम उत्तरमें ही हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि संसारी जीव अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा बद्ध है और वह रागादि विकारी भावोंसे बद्ध है, असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा उसमें बद्ध होनेका व्यवहार है और इस अपेक्षासे वह ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बद्ध है। शुद्ध निश्चयनयसे वह सदा चैतन्यमूर्ति है, इसलिए इनसे बद्ध नहीं है। परतन्त्रताका विचार भी इसी प्रकार कर लेना चाहिए। बन्धनसे छूटनेके उपायका निर्देश करते हुए बतलाया था कि अपने परम निश्चय परमात्मस्वरूप आत्माका अवलम्बन लेनेसे तन्मय परिणमन द्वारा वह मुक्त होता है। साथ ही यह भी बतला दिया गया था कि उसके अन्तरंगमें निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जितनी जितनी विशुद्धि प्राप्त होती जाती है उसके अनुपातमें इसके द्रव्य-भाव कर्मका भी अभाव होता जाता है।

इस पर अपर पक्षका कहना है कि 'जीवका राग-द्वेषादि भावोंके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, बन्ध्य-बन्धक सम्बन्ध नहीं।........इसलिए जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बद्ध और परतन्त्र है। मोहनीय आदि द्रव्य-कर्म राग-द्वेषादि विकारी भावोंके प्रेरक निमित्त कारण हैं तथा आत्माके राग-द्वेष आदि विकृत भाव मोहनीय आदि द्रव्य कर्मबन्धके प्रेरक निमित्त कारण हैं। जब आत्माके प्रबल पुरुषार्थसे मोहनीय आदि द्रव्यकर्मोंका क्षय होता है तब विकारका निमित्त कारण हट जानेसे राग-द्वेष आदि नैमित्तिक विकार भाव दूर हो जाते हैं। उस दशामें आत्माकी परतन्त्रता भी दूर हो जाती है।' आदि,

अपने दूसरे उत्तरमें हमने अपने प्रथम उत्तरका तो समर्थन किया ही है, साथ ही पिछली प्रतिशंकामें जिन विशेष बातोंकी चरचा की गई है उन पर भी विचार किया है। इसमें प्रेरक कारणका आशय क्या है इस पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

२. प्रतिशंका ३ का समाधान

प्रतिशंका ३ उपस्थित करते हुए अपर पक्षने मूल प्रश्नको चार खण्डोंमें विभाजित कर दिया है। इनमेंसे (अ) खण्डका जो उत्तर हमने अपने प्रथम और द्वितीय उत्तरमें दिया है वह नयविभागको दिखलाते हुए दिया गया था। (आ) खण्डका उत्तर भी उसीसे हो जाता है।

(आ) इस खण्ड पर प्रकाश डालते हुए अपर पक्षका कहना है कि 'रागादिक तो कर्मोदय जनित व्यवहारनयसे आत्माके विकारी भाव हैं, जो बन्धके कारण होनेसे भावबन्ध कहे जाते है। उनसे जीवका कथंचित् व्याप्य-व्यापकसंबन्ध तो है, क्योंकि विकार पर्याय है; किन्तु स्वपर्यायके साथ बन्ध्य-बन्धक सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता।'

समाधान यह है कि द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तकर आत्मामें जो विकारी भाव रागादि उत्पन्न होते हैं वे अशुद्धनिश्चयनयसे जीवके ही हैं। अध्यात्ममें शुद्ध निश्चयनयकी मुख्यता है। इसलिए उन्हें वहाँ व्यवहारनयसे जीवका कहा गया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन समयसार गाथा ५७ की टीकामें लिखते हैं—

ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीर-नीरवत्संश्लेपसम्बन्धो भवतु नाचाभ्यन्तराणां रागादीनाम्, तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति ? नैवम्, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः।

शंका—वर्णादिक बहिरंग है। वहाँ व्यवहारसे क्षीर-नीरके समान संश्लेपसम्बन्ध होओ, अभ्यन्तर रागादिकका यह सम्बन्ध नहीं बनता, वहाँ अशुद्ध निश्चय होना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि द्रव्यकर्मबन्धकी अपेक्षा जो असद्भूत व्यवहार है उसकी अपेक्षा तारतम्यका ज्ञान करानेके लिए रागादिको अशुद्ध निश्चय कहा जाता है। वास्तवमें तो शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है, यह उक्त कथनका भावार्थ है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि रागादि जीवके हैं इस कथनको जो व्यवहार कहा गया है वह शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार है इस तथ्यको ध्यानमें रख कर ही कहा गया है। अपर पक्षने जीवमें और रागादिकमें व्याप्य-व्यापकभाव तो स्वीकार किया ही है, इसलिए वे अशुद्धनिश्चयसे जीवके ही हैं ऐसा स्वीकार करनेमें भी अपर पक्षको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अपर पक्षका कहना है कि वे (रागादि भाव) 'बन्धके कारण होनेसे भावबन्ध कहे जाते हैं।' समाधान यह है कि वे मात्र बन्धके कारण होनेसे भावबन्ध नहीं कहे गये हैं, किन्तु वस्तुतः जीव उनके साथ एकत्व (तादात्म्य) रूप परिणम रहा है, इसलिए यथार्थमें जीवके साथ बद्ध होनेसे आगममें उन्हें भावबन्धरूप कहा गया है। धवला पु० १४ पृ० २ में बन्धका लक्षण करते हुए लिखा है—

दव्वस्स दव्वेण दव्व-भावाणं वा जो संजोगो समवाओ वा सो बंधो णाम।

द्रव्यका द्रव्यके साथ तथा द्रव्य और भावका क्रमसे जो संयोग और समवाय है वह बन्ध कहलाता है।

इससे सिद्ध है कि रागादि भाव द्रव्यकर्मबन्धके कारण होनेमात्रसे भावबन्ध नहीं कहलाते, किन्तु एक तो वे जीवके भाव है और दूसरे जीव उनसे बद्ध हैं, इसलिए उन्हें भावबन्ध कहते हैं। अपर पक्ष इसके लिए धवला पु० १४ पर दृष्टिपात करले, सब स्थिति स्पष्ट हो जायेगी।

अपर पक्षका कहना है कि 'स्वपर्यायके साथ बन्ध्य-बन्धक सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता।' समाधान यह है कि आगममें बन्धके तीन भेद बतलाये हैं—पुद्गलबन्ध, जीवबन्ध और तदुभयबन्ध। इनका स्वरूप निर्देश हम प्रथम उत्तरमें कर आये है। इनमेंसे पुद्गलबन्ध और तदुभयबन्ध ये दोनों बन्ध असद्भूत व्यवहारनयसे कहे गये है। तथा जीवबन्ध अशुद्ध निश्चयनयका विषय है। प्रवचनसार गा० १८९ की टीकामें आचार्य जयसेन लिखते हैं—

किं च रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुंक्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम्। अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्मबन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चयस्तथैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते। द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुंक्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहारनयो भण्यते।

रागादिकको ही आत्मा करता है और उन्हींको भोगता है यह निश्चयनयका लक्षण है। किन्तु यह निश्चयनय द्रव्यकर्मबन्धके प्रतिपादक असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा शुद्ध द्रव्य अर्थात् स्वाश्रित निरूपण स्वरूप विवक्षित निश्चयनय उसीप्रकार अशुद्धनिश्चयनय कहा जाता है। द्रव्यकर्मोंको आत्मा करता है और भोगता है इस प्रकार अशुद्धद्रव्य अर्थात् पराश्रित निरूपणस्वरूप असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जैसे जीव और कर्ममें कर्ता-कर्मभाव तथा भोक्ता-भोग्य भाव असद्भूत व्यवहारनयका विषय है वैसे ही इन दोनोंमें बन्ध्य-बन्धकभाव यह भी असद्भूतव्यवहारनयका विषय है। असद्भूत व्यवहारका लक्षण है-भेद होने पर भी अभेदका उपचार करना।

प्रवचनसार गा० १८८ की आचार्य जयसेनकृत टीकामें कहा भी है-

भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते।

इस प्रकार उक्त आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दो द्रव्योंमें बन्ध्य-बन्धकसम्बन्ध यथार्थ तो नहीं है। किन्तु असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा दो द्रव्योंमें परस्पर अत्यन्त भेद होने पर भी अभेदका उपचार करके वह कहा जाता है। इसी तथ्यको वे प्रवचनसार गाथा ९६ की टीकामें स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

यथा वस्त्रं लोध्रादिद्रव्यैः कषायितं रञ्जितं सन्मञ्जीष्ठादिरङ्गद्रव्येण रञ्जितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यस्थानीयमोहरागद्वेषैः कषायितो रञ्जितः परिणतो मञ्जीष्ठस्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते।

जैसे वस्त्र लोध्रादि द्रव्योंसे कषायित-रंजित होकर मजीठा आदि रंग द्रव्यसे रंगा जाकर अभेदसे रक्त ऐसा कहलाता है उसी प्रकार वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादि द्रव्यस्थानीय मोह, राग, द्वेषसे मोह राग द्वेषरूप परिणत होता हुआ मजीठास्थानीय कर्मपुद्गलोंसे संश्लिष्ट होकर भेदमें भी अभेदका उपचार करके असद्भूत व्यवहारनयसे बन्ध ऐसा कहा जाता है।

इससे यह स्पष्ट है कि आत्मा कर्म पुद्गलोंसे बद्ध है यह कथन असद्भूतव्यवहारनयका वक्तव्य होनेसे उपचरित ही है। वास्तविक बन्ध-बन्ध्यकसम्बन्ध कोई दूसरा होना चाहिए, अतः आगे उसीका विचार करते हैं-

१. भावबन्धके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकाय गाथा १४७ की टीकामें लिखते हैं-

तदत्र मोहरागद्वेषस्निग्धः शुभोऽशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्धः।

इसलिए यहाँ पर मोह, राग, द्वेषसे स्निग्ध हुआ शुभ और अशुभ परिणाम जीवका भावबन्ध है।

२. समयसार गाथा ७४ की टीकामें आचार्य जयसेन लिखते है—

एते क्रोधाद्यास्रवाः जीवेन सह निबद्धा सम्बद्धा औपाधिकाः।

ये क्रोधादि आस्रव जीवके साथ निबद्ध अर्थात् सम्बद्ध हैं जो औपाधिक हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दने उक्त गाथामें 'जीवणिबद्धा एए' पदका प्रयोग किया है।

३. जीवका रागादिके साथ बन्ध है इसे स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा १७७ में लिखा है-

जीवस्स रागमादीहिं।

जीवका रागादिकके साथ बन्ध है।

इसकी सूरिकृत टीकामें बतलाया है—

जीवस्यौपाधिकमोह-राग-द्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः ।

जीवका औपाधिक मोह, राग और द्वेषरूप पर्यायोंके साथ जो एकत्व परिणाम है वह केवल जीव-बन्ध है।

४. बन्ध्य-बन्धकभाव जीव और उनके रागादिभावोंमें किस प्रकार घटित होता है इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार गाथा १७५ की टीकामें लिखते हैं—

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः । तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति ।

प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है। उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंको प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है वह नील, पीत और रक्त पदार्थोंके आश्रयहेतुक नीलेपन, पीलेपन और ललाईरूपसे उपरक्त स्वभाववाले स्फटिक मणिकी भाँति यद्यपि जीवमें मोह, राग और द्वेष परको हेतु करके उत्पन्न हुए हैं तो भी उनसे उपरक्त आत्मस्वभाववाला होनेसे स्वयं अकेला ही बन्धरूप है, क्योंकि जीवके वे रागादिभाव उसके द्वितीय हैं।

५. अकेला जीव ही बन्ध है इसे स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा १८८ की सूरिकृत टीकामें लिखा है—

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जिष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्टमेकं रक्तं दृष्टं वासः तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात् कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः, शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य ।

जैसे लोकमें वस्त्र सप्रदेशी होनेसे लोध आदिसे कसैला होता है और इसलिये वह मजीठादिके रंगसे संश्लिष्ट होता हुआ अकेला ही रक्त देखा जाता है उसी प्रकार आत्मा भी सप्रदेशी होनेसे यथाकाल मोह, राग, द्वेषसे कषायित (मलिन) होनेके कारण कर्मरजसे श्लिष्ट होता हुआ अकेला ही बन्ध है ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि निश्चयका विषय शुद्ध (अकेला) द्रव्य है।

६. इसी प्रवचनसारके परिशिष्टमें निश्चयनयसे अकेला आत्मा ही बन्ध और मोक्षस्वरूप है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्ध-मोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवन्बन्ध-मोक्षयोरद्वैतानुभूतिः ।

अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्ध-मोक्षोचित स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणसे परिणत परमाणुके समान निश्चयनयसे एक आत्मा बन्ध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है।

ये कतिपय आगमप्रमाण हैं कि ये राग, द्वेष और मोहरूप जीवभाव यतः जीवके साथ बद्ध हैं, अतः अज्ञानभावसे परिणत यह आत्मा ही निश्चयसे उनका बन्धक है। इस प्रकार जीव और रागादिभावोंमें भले प्रकार बन्ध्य-बन्धक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

आत्मामें रागादि भाव उत्पन्न हों और वे भावबन्ध भी कहलावें, साथ ही परका आश्रय कर

आत्मा ही उन्हें उत्पन्न करे, फिर भी अज्ञानभावसे परिणत आत्माको उनका बन्धक स्वीकार न करना युक्त-युक्त नहीं है।

विभाव शब्दका स्पष्टीकरण करते हुए अनगारधर्मामृत अध्याय १ श्लोक १०६ की टीकामें लिखा है—

विभावो हि बहिरङ्गनिमित्तम्।

विभाव बहिरंग निमित्तको कहते हैं।

इसलिए जितनी भी वैभाविक पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे सब स्व-परप्रत्यय होनेसे रागादिकका व्यवहार हेतु परको स्वीकार करनेपर भी निश्चय हेतु अज्ञानभावसे परिणत आत्माको स्वीकार कर लेना ही उचित है। अतः एक द्रव्यमें बन्ध्य-बन्धकभाव अपने गुणधर्मोंके साथ निश्चयसे बन जाता है। परमागमका भी यही अभिप्राय है।

इसलिए न तो अपर पक्षका यह लिखना ही ठीक है कि 'किन्तु स्वपर्यायके साथ बन्ध्य-बन्धकभाव कदापि नहीं हो सकता।' क्योंकि ऐसा मानने पर सब कार्योंकी उत्पत्ति केवल परसे माननी पड़ती है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा होनेपर सिद्धोंमें भी रागादिभावोंके स्वीकार करनेका अतिप्रसंग उपस्थित होता है।

और न अपर पक्षका यह लिखना ही ठीक है कि 'इसका आपने कोई उत्तर नहीं दिया। इसका अर्थ है कि वह आपको स्वीकृत है।' क्योंकि जब कि हमने अपने प्रथम उत्तरमें ही यह स्पष्ट कर दिया था कि 'संसारी जीव अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अपने रागादि भावोंसे बद्ध है और असद्भूतव्यवहार नयकी अपेक्षा कर्मोंसे बद्ध है।' ऐसी अवस्थामें संसारी जीव किस अपेक्षा बद्ध है और किससे किस प्रकार बद्ध है इन दोनों खण्डोंका उत्तर हो जाता है।

(३) बंधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं ?

यह अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये मूल प्रश्नका तीसरा खण्ड है। हम इसका नयविभागसे उत्तर देते हुए प्रथम बार ही लिख आये हैं कि 'संसारी आत्मा अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अपने अज्ञानभावसे बद्ध होनेके कारण वास्तवमें परतन्त्र है और असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा उपचरित रूपसे कर्म और नोकर्मकी अपेक्षा भी परतन्त्रता घटित होती है।' किन्तु नयविभागसे दिये गये सर्वांगपूर्ण इस उत्तरको अपर पक्ष सम्यक् नहीं मानना चाहता है। जैसे हमने जैसे 'सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है।' मूल प्रश्नके इन दो खण्डोंका उत्तर देते हुए शुद्ध निश्चयनयके पक्षको भी उपस्थित कर दिया था। उसी प्रकार संसारी आत्मा सर्वथा परतन्त्र नहीं है, नयविभागसे इस पक्षको भी साथमें उपस्थित कर देना चाहिए था। फिर भी हमने इस पक्षको उपस्थित न कर संसारी जीवमें किस नयसे कैसी परतन्त्रता घटित होती है मात्र इतना ही निर्देश किया था। संसारी जीव मात्र परके कारण परतन्त्र है इस एकान्तके स्वीकार करने पर न केवल मोक्षमार्गकी व्यवस्था गड़बड़ा जायगी। किन्तु जीवके संसारी और मुक्त ये भेद भी नहीं बनेंगे और इस प्रकार जीवद्रव्यका अभाव हो जानेसे अजीव द्रव्यका भी अभाव हो जायगा। इन्हीं सब बातोंका विचारकर हमने नयविभागसे उक्त उत्तर दिया था।

किन्तु अपर पक्षने इस तथ्यको ध्यानमें न लेकर और आप्तपरीक्षाके उद्धरण उपस्थित कर पिछली प्रतिशंकामें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'आत्मा पौद्गलिक द्रव्यकर्मोंके कारण परतन्त्र हो रहा है और

रागादिभाव परतन्त्रतास्वरूप हैं, इसलिए आत्माके भाव स्वयं परतन्त्ररूप हैं। आत्माके परतन्त्रताके निमित्त नहीं हैं।'

समाधान यह है कि आप्तपरीक्षाका उक्त कथन व्यवहारनय वचन है। उसके आधारसे पौद्गलिक कर्मोंको एकान्तसे परतन्त्रताका कारण मान लेना उचित नहीं है। यथार्थमें आत्मा किस कारणसे परतन्त्र हो रहा है इस कथनके प्रसंगसे निश्चय नयवचनका उल्लेख करते हुए वे (विद्यानन्दि) ही आचार्य तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक पृ० ४४४ में लिखते हैं—

कषायपरतन्त्रस्यात्मनः साम्परायिकास्रवः, तदपरतन्त्रस्येर्यापथास्रवः इति सूक्तम्।

कषायसे परतन्त्र हुए आत्माके साम्परायिक आस्रव होता है और उससे परतन्त्र नहीं हुए आत्माके ईर्यापथ आस्रव होता है यह उचित ही कहा है।

इस पर पुनः प्रश्न हुआ कि एक आत्मामें परतन्त्रता बनती है और दूसरेमें नहीं इसका क्या कारण है? इसका समाधान करते हुए वे पुनः लिखते हैं—

कषायहेतुकं पुंसः पारतन्त्र्यं समन्ततः।
सत्त्वान्तरानपेक्षीह पद्ममध्यगभृंगवत् ॥ ८ ॥
कषायविनिवृत्तौ तु पारतन्त्र्यं निवर्त्यते।
यथेह कस्यचिच्छान्तकषायावस्थितिक्षणे ॥ ९ ॥

इस लोकमें जैसे पद्मके मध्य स्थित भौंरेकी परतन्त्रता कषायहेतुक होती है उसी प्रकार इस जीवकी सत्त्वान्तरानपेक्षी समन्ततः परतन्त्रता कषायहेतुक होती है ॥ ८ ॥ परन्तु कषायके निकल जाने पर परतन्त्रता भी निकल जाती है। जैसे इस लोकमें किसीके कषायके शान्त होने पर उसी समय परतन्त्रता निकल जाती है ॥ ९ ॥

यह वास्तविक कथन है। भ्रमरको कमल अपने आधीन नहीं बनाता है, किन्तु इसका मूल हेतु उसकी कषाय-कमलविषयक आसक्ति ही है। इसीप्रकार यह जीव कर्माधीन कषायके कारण ही होता है, अतः निश्चयसे परतन्त्रताका मूल कारण जीवकी कषाय ही है।

अपर पक्ष एकान्तका परिग्रह कर और कषायको पारतन्त्र्यस्वरूप मानकर केवल कर्मको ही परतन्त्रताका हेतु मानना चाहता है जो युक्त नहीं है, क्योंकि परतन्त्रतारूप कार्यकी उत्पत्ति व्यवहारसे जहाँ परहेतुक कही गई है वहाँ उसे निश्चयसे स्वहेतुक ही जानना चाहिए। अष्टसहस्री पृ० ५१ में जीवमें अज्ञानादि दोषोंकी उत्पत्ति कैसे होती है इसका निर्देश करते हुए लिखा है—

तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च। स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तम्, तस्य कादाचित्कत्वविरोधात्, जीवत्वादिवत्। परपरिणामहेतुक एवेत्यपि न व्यवतिष्ठते, मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसंगात्। सर्वस्य कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च।

उन अज्ञानादि दोषोंका हेतु तो आवरण कर्म और जीवका पूर्व स्वपरिणाम है। स्वपरिणामहेतुक ही अज्ञानादि दोष है यह कहना अयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर उनके कादाचित्पनेका विरोध होता है, जीवत्वादिके समान। परपरिणामहेतुक ही अज्ञानादि दोष नहीं बन सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर

उनका मुक्तात्माओंमें भी सद्भाव माननेका प्रसंग उपस्थित होता है। सभी कार्य उपादान और सहकारी सामग्रीसे उत्पन्न होते हुए स्वीकार किये गये हैं और वैसी प्रतीति होती है।

अपर पक्षके प्रश्नोंका पूर्ण उत्तर आगमकी उक्त बड़े टाईपमें मुद्रित पंक्तियोंसे हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रकृतमें आत्माकी परतन्त्रताका मुख्य हेतु जीवके कषायादि परिणामोंको ही मानना उचित है, क्योंकि उनके होनेपर ही परमें परतन्त्रताकी व्यवहारहेतुता स्वीकार की गई है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार अपर पक्षने अ०, आ० और इ० इन तीन खण्डोंके विषयमें पूर्व पक्षके रूपमें जो विचार रखे हैं वे ठीक नहीं हैं। अपर पक्ष जब तक स्वाश्रित निश्चय कथनकी यथार्थताको स्वीकार नहीं करता और मात्र पराश्रित व्यवहार कथनके आधार पर की गई कार्य-कारणकी व्यवस्थाको असद्भूत व्यवहार (उपचरित) रूप नहीं स्वीकार करता तब तक मतभेदका समाप्त होना कठिन है।

हमने मूल प्रश्नमें जितनी बातें पूछी गई थीं उन सबका उत्तर दिया है। अपर पक्ष अपने मूल प्रश्न और अपनी पिछली प्रतिशंकाको सामने रखकर पिछले दोनों उत्तरों पर दृष्टिपात करनेकी कृपा करें। अपर पक्षने जयपुर (खानियां) में १७ प्रश्न पूछे थे। उन सबका सम्मिलित उत्तर यह है कि आगममें इन प्रश्नोंके उत्तर स्वरूप जितना भी स्वाश्रित विवेचन उपलब्ध होता है वह यथार्थ है और जितना पराश्रित विवेचन उपलब्ध होता है वह उपचरित है।

३. असद्भूत व्यवहारनयके विषयमें स्पष्टीकरण

आलापपद्धतिमें असद्भूत व्यवहारनयके दो लक्षण कहे गये हैं—

१. अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः।

१. अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोप करना असद्भूत व्यवहार है।

२. भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।

२. भिन्न वस्तुको विषय करना असद्भूत व्यवहार है।

प्रथम लक्षणके अनुसार नौ प्रकारके उपचारको परिगृहीत किया गया है और दूसरे लक्षणके अनुसार असद्भूत व्यवहारके भेदको विषय करनेवाला बतलाया गया है। ये दो लक्षण दो दृष्टियोंसे किये गये हैं। प्रथम लक्षणके द्वारा अनादिरूढ़ लोकव्यवहारकी परमार्थके साथ कैसे संगति बैठती है इसकी व्यवस्था की गई है और दूसरे लक्षणके द्वारा मोक्षमार्गमें साधककी आत्मद्रव्यमें भेदव्यवहार-के प्रति कैसी दृष्टि होनी चाहिए इसे स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् प्रयोजनोंको ध्यान में रखकर आगममें चारों प्रकारके व्यवहारोंको दो प्रकारसे निरूपित किया गया है।

हमने इसी प्रश्नके द्वितीय उत्तरमें असद्भूतव्यवहारनयके प्रथम लक्षणको ध्यानमें रखकर तो स्पष्टी-करण किया ही है। ८ वें प्रश्नके प्रथम उत्तरमें भी उसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर स्पष्टीकरण किया गया है। दोनों कथनोंमें शब्दभेद अवश्य है, पर दोनोंका आशय एक ही है। दो भिन्न वस्तुओंका परस्पर जो भी सम्बन्ध कहा जायगा वह एक द्रव्यके गुण-धर्मको दूसरेका बतलाकर ही तो कहा जायगा। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

: १ :

असद्भूत व्यवहारका लक्षण है—एक द्रव्यके गुणधर्मको अन्य द्रव्यका कहना।

उदाहरण—असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों तथा औदारिक शरीरादि नोकर्मके साथ आत्मा बँधा है।

यद्यपि संसारी आत्मा वास्तवमें अपने राग-द्वेषादि भावोंसे बद्ध है। तथापि ज्ञानावरणादि कर्मों और शरीरादि नोकर्मको निमित्तकर उनकी उत्पत्ति होती है, इसलिए निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको देखते हुए जीव इनसे बद्ध है ऐसा व्यवहार किया जाता है। यहाँ जीवका अपने गुण-पर्यायोंके साथ जो बद्धता धर्म उपलब्ध होता है उसका ज्ञानावरणादि कर्मों आदिमें आरोपकर आत्मा उनसे बद्ध है यह कहा गया है।

प्रश्न ८ के प्रथम उत्तरमें भी इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर ही 'दो या दो से अधिक द्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें जो सम्बन्ध होता है वह असद्भूत ही होता है।' यह वचन लिखा गया है। दोनोंका आशय एक है। भाषा वर्गणाओंमें भाषारूप परिणमनेकी निमित्तता (उपादान कारणता) है, उसका आरोप तीर्थंकर आदि प्रकृतियोंमें करके उन्हें निमित्त कहा गया है और वाणीको नैमित्तिक। यही दोका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध यद्यपि असद्भूत- उपचरित है। फिर भी ऐसा व्यवहार नियमसे होता है उसका मुख्य कारण काल प्रत्यासत्ति है, क्योंकि बाह्य व्याप्तिका नियम इसी आधार पर बनता है।

इससे स्पष्ट है कि असद्भूतव्यवहारके हमारे द्वारा कहे गये ये दो लक्षण नहीं हैं, समझानेकी दो पद्धतियाँ हैं।

: २ :

अपर पक्षका कहना है कि 'किन्तु यहाँ पर बन्धका प्रकरण है और बन्ध दो भिन्न वस्तुओंमें होता है। अतः इस प्रश्नमें—

भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।

अर्थात् भिन्न वस्तु जिसका विषय हो वह असद्भूत व्यवहारनय है, यह लक्षण उपयोगी है। दूसरे यह लक्षण आध्यात्मिक दृष्टिसे है और 'स्वाश्रितो निश्चयः' यह लक्षण भी आध्यात्मिक दृष्टिसे है। अतः दोनों लक्षण अध्यात्मदृष्टिवाले लेने चाहिए। जब निश्चयका लक्षण अध्यात्मनयकी अपेक्षासे ग्रहण किया जा रहा है तो व्यवहारनयका लक्षण भी अध्यात्मनयवाला लेना चाहिए।'

समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु भेदाभेदस्वरूप है। वहाँ अभेदको विषय करनेवाला निश्चयनय है और भेदको विषय करनेवाला व्यवहारनय है—

तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः।—आलापपद्धति।

आलापपद्धतिमें निश्चयनय और व्यवहारनयके ये लक्षण अध्यात्मदृष्टिसे ही किये गये हैं। 'स्वाश्रितो निश्चयनयः' इस लक्षणमें भी स्व पद अभेदको ही सूचित करता है। हाँ 'पराश्रितो व्यवहारनयः' इस लक्षणमें आया हुआ 'पर' शब्द भेद व्यवहारको तो पर कहता ही है। किसी भी प्रकारके उपचार व्यवहारको भी पर कहता है। इसलिए इस लक्षण द्वारा जहाँ अनादिरूढ़ लोक व्यवहारका निषेध हो जाता है वहाँ भेदव्यवहारका भी निषेध हो जाता है। इस प्रकार स्वाश्रित निश्चयनयके कथनमें दोनों प्रकारका व्यवहार निषिद्ध है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

एक बात और है और वह यह कि आध्यात्मिक दृष्टिसे व्यवहारनयके इस लक्षणमें 'भिन्न वस्तु' पदसे पर द्रव्य और उनके गुणधर्मोका ग्रहण नहीं हुआ है। वे तो आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं ही, इसलिए उनका प्रश्न ही नहीं है। उनमें तो जिस किसी भी प्रकार स्व व्यवहार होता है उसका तो त्याग करना ही है। साथ ही एक आत्मामें गुणभेद वा पर्यायभेद द्वारा कथनरूप जितना भी व्यवहार होता है, आलम्बनकी दृष्टिसे उसकी भी उपेक्षा करनी है, क्योंकि धर्म-धर्मीका स्वभावसे अभेद है, तो भी संज्ञा, लक्षण आदि रूपसे भेद उत्पन्न कर उन द्वारा समझानेके लिए अखण्ड वस्तुका कथन किया जाता है। अतएव प्रकृतमें 'भिन्न वस्तु' पदसे कहे गये गुणभेद और पर्यायभेदका ही ग्रहण होता है, क्योंकि दृष्टिमें अभेदकी मुख्यता होनेपर गुणभेद और पर्याय-भेद भिन्न वस्तु हो जाते हैं।

आलापपद्धतिमें इसी दृष्टिको साधकर उक्त दोनों नयों और उनके भेदोंका निरूपण हुआ है, क्योंकि वहाँ 'भिन्न वस्तु' पदसे पर वस्तुका ग्रहण न होकर गुणभेद और स्वाश्रित पर्यायभेदका ही मुख्यतासे ग्रहण हुआ है। ऐसी अवस्थामें आध्यात्मिक दृष्टिसे जीव किससे बँधा है ऐसा प्रश्न होनेपर उसका यह उत्तर होगा कि उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा जीव अपने रागादि भावोंसे बँधा है, क्योंकि जीव कर्मोंसे बँधा है इसे तो आध्यात्मिक दृष्टि स्वीकार ही नहीं करती। यही कारण है कि हमने प्रकृतमें आगमिक दृष्टिको ध्यानमें रखकर उक्त प्रश्नका समाधान किया है।

निश्चयनय और व्यवहारनयके आलापपद्धतिमें ये लक्षण दिये हैं—

अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।

अभेद और अनुपचाररूपसे वस्तु निश्चित की जाती है यह निश्चय है तथा भेद और उपचाररूपसे वस्तु व्यवहृत की जाती है यह व्यवहार है।

दूसरी बात यह है कि अपर पक्षने अधिकतर प्रायः सभी प्रश्न दो द्रव्योंमें निमित्त-नैमित्तिक व्यवहारकी मुख्यतासे किये हैं, इसलिए हमें आगमिक दृष्टिको ध्यानमें रखकर उत्तर देना पड़ा। १६ वें प्रश्नमें अवश्य ही निश्चयनय-व्यवहारनयके स्वरूप पर प्रकाश डालनेके लिए कहा गया था, इसलिए उस प्रश्नका उत्तर लिखते समय हमने अवश्य ही अध्यात्मदृष्टिको मुख्यता प्रदान की है। किन्तु उसके प्रति अपर पक्षने जैसी उपेक्षा दिखलाई वह उस पक्ष द्वारा आगे उपस्थित किये गये दोनों प्रपत्रोंसे स्पष्ट है।

तीसरी बात यह है कि अध्यात्ममें केवल आध्यात्मिक दृष्टिसे ही व्यवहारका प्रतिपादन नहीं हुआ है। किन्तु आगमिक दृष्टिको ध्यानमें रखकर भी व्यवहारका प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि परमार्थ दृष्टिवालेके लिए दोनों प्रकारका व्यवहार हेय है यह ज्ञान कराना उसका मुख्य प्रयोजन है। इसलिए भी हमने अपने उत्तरोंमें उक्त पद्धतिको अपनाया है।

ऐसी अवस्थामें अपर पक्षके यह लिखनेकी कि 'जब निश्चयका लक्षण अध्यात्मकी अपेक्षासे ग्रहण किया जा रहा है तब व्यवहारनयका लक्षण भी अध्यात्मनयवाला लेना चाहिए।' कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

४. कर्मबन्धसे छूटनेका उपाय

(ई) यदि वह बद्ध है तो छूटनेका उपाय क्या है ?

यह मूल प्रश्नका चौथा खण्ड है। इसका उत्तर हमने निश्चय-व्यवहाररूप दोनों नयोंसे दिया था। प्रथम उत्तरमें हमने लिखा है—

१. 'आगममें सर्वत्र यह तो बतलाया है कि यदि संसारी आत्मा अपने बद्ध पर्यायरूप राग, द्वेष और मोह आदि अज्ञान भावोंका अभाव करनेके लिए अन्तरंग पुरुषार्थ नहीं करता है और केवल जिसे आगममें उपचारसे व्यवहारधर्म कहा है उसीमें प्रयत्नशील रहता है तो उसके द्रव्यकर्मोकी निर्जरा न होनेके समान है।'

२. 'अतएव संसारी आत्माको द्रव्य-भावरूप उभय बन्धनोंसे छूटनेका उपाय करते समय निश्चय-व्यवहार उभयरूप धर्मका आश्रय लेनेकी आवश्यकता है। उसमें भी नियम है कि जब यह आत्मा अपने परम निश्चल परमात्मरूप ज्ञायकभावका आश्रय लेकर सम्यक् पुरुषार्थ करता है तब उसके अन्तरंगमें निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जितनी जितनी विशुद्धि प्रगट होती जाती है उसीके अनुपातमें उसके बाह्यमें द्रव्यकर्मका अभाव होता हुआ व्यवहारधर्मकी भी प्राप्ति होती जाती है।'

यह मूल प्रश्नके हमारे प्रथम उत्तरका वक्तव्यांश है। इसमें व्यवहारधर्मका निषेध नहीं किया गया है। फिर भी अपर पक्षको इस उत्तरसे सन्तोष नहीं है। अपर पक्षका कहना है कि 'इसका उत्तर भी बहुत सरल था सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र छूटनेका उपाय है।' किन्तु इतने सामान्य उत्तरसे मूल समस्याका समाधान होना सरल न होनेसे ही हमें थोड़ा विस्तारसे खुलासा करना आवश्यक प्रतीत हुआ। बाह्य क्रिया आत्माका स्वभाव धर्म नहीं है ऐसा ज्ञान करानेसे हानि नहीं होती। किन्तु स्वभाव सन्मुख हो आत्मपुरुषार्थ प्रगट होता है। अपर पक्षके सामने इसीकी उपयोगिता स्पष्ट करनी है और इसी आशयसे उक्त निरूपण प्रथम उत्तरमें किया गया है।

अपर पक्ष समझता है कि हमने अपने प्रथम उत्तरमें व्यवहारधर्मका सर्वथा निषेध किया है। किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। हमारे किस वाक्यसे उस पक्षने यह आशय लिया इसका उसकी ओरसे कोई स्पष्टीकरण भी नहीं किया गया है। साधकके सविकल्प दशामें प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्म होता है इसका भला कौन समझदार निषेध करेगा। हाँ यदि 'व्यवहार करते-करते उससे निश्चयधर्मकी प्राप्ति हो जाती है' ऐसी जिसकी मान्यता है। साथ ही जो व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मकी प्राप्तिका यथार्थ साधन मानता है उसका यदि निषेध किया जाता है और इसे ही अपर पक्ष व्यवहारधर्मका निषेध समझता है तो समझे। मात्र उस पक्षकी समझसे हमारा कथन सदोष हो जायगा ऐसा नहीं है।

उदाहरणार्थ एक २८ मूलगुणोंका पालन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है और दूसरा मिथ्यादृष्टि नारकी या देव है। ये दोनों यदि सम्यग्दृष्टि बनते हैं तो स्वभावसन्मुख होकर तीन करण परिणाम करके ही तो बनेंगे। इनके सम्यग्दृष्टि बननेका अन्य मार्ग नहीं है। अपर पक्षसे यदि पूछा जाय तो वह पक्ष भी यही उत्तर देगा। स्पष्ट है कि न तो व्यवहारधर्म करते-करते निश्चयधर्मकी प्राप्ति होती है और न ही व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका यथार्थ साधन माना जा सकता है। अपर पक्षको यदि स्वीकार करना है तो इसी तथ्यको स्वीकार करना है। इसे स्वीकार करने पर उस पक्षकी यह समझ कि 'हम व्यवहारधर्मका सर्वथा निषेध कर रहे हैं' सुतरां दूर हो जायगी।

हमने इस प्रश्नके उत्तरमें निश्चयधर्मके साथ व्यवहारधर्मकी भी चरचा की है। इसे अपर पक्ष अप्रासंगिक समझता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जब संसारी जीवके संसारसे छूटनेके उपायका निर्देश किया जायगा तब निश्चयधर्मके साथ व्यवहारधर्मका निरूपण करना अनिवार्य हो जाता है। यदि अपर पक्ष प्रश्नोंकी सीमामें रहा आता तो लाभ ही होता। किन्तु उसकी ओरसे सीमाका ध्यान ही नहीं

रखा गया। लाचार होकर हमें प्रतिशंकाओंके आधार पर अपना उत्तर लिखनेके लिये बाध्य होना पड़ा। उदाहरणार्थ अपने इसी तृतीय पत्रकमें अपर पक्षने साध्य-साधकभावकी चरचा छेड़ दी है जब कि इसके लिए प्रश्न नं० ४ है। इतना ही नहीं, अपर पक्षने इस प्रसंगमें जिन तर्कोंको रखा है उनकी भी वह विविध प्रश्नोंमें अनेक वार चरचा कर चुका है। ऐसी अवस्थामें हमें उनका उत्तर लिखना पड़ता है, इसका इलाज नहीं।

अपर पक्षने अपने पिछले पत्रकमें कर्मको राग-द्वेष आदिका प्रेरक निमित्त लिखा और राग-द्वेषको कर्मका प्रेरक निमित्त लिखा। यही कारण है कि हमें इसके सम्बन्धमें स्पष्टीकरण करना आवश्यक हो गया। कोई भी समाधान करनेवाला यदि प्रश्नकर्ताकी प्रत्येक बातका विचार न करे तो उससे सम्यक् समाधान होना कभी भी सम्भव नहीं है। भोजनके समय यदि व्यापारकी चरचा की जाती है तो कभी-कभी उसका उत्तर देना भी अनिवार्य हो जाता है। अपर पक्ष हमसे शिकायत करनेकी अपेक्षा अपने प्रपत्रोंपर दृष्टिपात करनेकी कृपा करे, सब बातोंका समाधान हो जायगा। संसारी प्राणी उलझन स्वयं उत्पन्न करता है और दोषी दूसरेको समझता है, इस मिथ्या व्यवहारका निषेध जितने जल्दी हो जाय, लाभकर ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र सूरि और जयसेन आचार्य आदिने जहाँ भी व्यवहारधर्मको साधन और निश्चयधर्मको साध्य लिखा है वहाँ वह कथन समयसार गाथा ८ के विवेचनको ध्यानमें रखकर ही किया है। व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधन है इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मको उत्पन्न करता है। किन्तु उसका आशय इतना ही है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका व्यवहारसे हेतु है। जो हेतु होता है वह उसका साधन कहा जाता है और जो साधा जाता है वह साध्य कहा जाता है। इस प्रकार साधन-साध्यभाव व्यवहारधर्म-निश्चयधर्ममें है इसका निषेध नहीं है। सम्यग्दृष्टि ऐसे ही साधन-साध्यभावको दोनों-में स्वीकार करता है, इसलिए वह सम्यग्दृष्टि है। किन्तु इससे अन्यथा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है यह वृहद्द्रव्यसंग्रहके कथनका आशय है। व्यवहारधर्मको कर्ता कहना और निश्चयधर्मको उसका कर्म कहना यह इन दोनोंमें निमित्त-नैमित्तिक व्यवहारका ज्ञान करानेके लिए आगममें असद्भूत व्यवहारनयको लक्ष्यमें रखकर लिखा गया है। वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीकामें लिखा है—

निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखसुधारसस्वादबलेन समस्तशुभाशुभ-रागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्। व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पंचविधं व्रतम्।

निश्चयनयकी अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावरूप निज आत्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतके स्वादके बलसे समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्पोंसे निवृत्त होना व्रत है। तथा व्यवहारनयसे उसका साधक हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे यावज्जीवन निवृत्तिलक्षण पांच प्रकारका व्रत है।

यह आगमवचन है। इसमें निश्चय व्रतका साधक दर्शन-ज्ञानस्वभावरूप निज आत्मतत्त्व-की भावनाको बतलाया गया है। यह निश्चय है और व्यवहार नयसे इसका साधक अशुभ-निवृत्तिरूप पाँच व्रतोंको बतलाया गया है। यह व्यवहार कथन है। इससे स्पष्ट है कि आगममें जहाँ भी व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक लिखा है वहाँ वह कथन असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे ही किया गया है। यद्यपि निश्चयधर्मकी प्राप्ति होती तो है शुभाशुभ विकल्पकी निवृत्ति होनेपर ही। ऐसा नहीं है कि अशुभरूप हिंसादिरूप विकल्पसे निवृत्त होकर शुभरूप अहिंसादि विकल्पके सद्भावमें निश्चयधर्मको

प्राप्ति हो जाती है या उससे निश्चयधर्मकी प्राप्ति हो जाती है। जब भी उस (निश्चयधर्म) की प्राप्ति होती है तब अशुभके समान शुभ विकल्पसे निवृत्त होकर स्वभावसन्मुख हो तत्स्वरूप परिणमन द्वारा ही होती है। परावलम्बी विकल्प तो इसकी प्राप्तिमें किसी भी अवस्थामें साधक नहीं हो सकता। फिर भी स्वभावसन्मुख होनेके पूर्व अशुभ विकल्प न होकर नियमसे शुभ विकल्प होता ही है, इसलिए ही व्यवहार-नयसे व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक कहा है। इससे यह ज्ञान होता है कि जो निश्चयधर्मकी प्राप्तिके सन्मुख होता है उसकी बाह्य भूमिका कैसी होनी चाहिए। स्वर्णपाषाण और स्वर्णमें जो साधक-साध्यभावका निर्देश किया है उसका भी यही आशय है।

हमने जो यह वचन लिखा है कि 'निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जितनी विशुद्धि प्रगट होती जाती है उसके अनुपातमें उसके बाह्यमें द्रव्यकर्मका अभाव होता हुआ व्यवहार धर्मकी भी प्राप्ति होती जाती है।' वह दोनोंका अविनाभाव सम्बन्ध कैसा है यह दिखलानेके लिए ही लिखा है। पहले कोई नहीं होता। साथ-साथ होते हैं यह लिखकर व्यवहारमें सम्यक्पनेकी हेतुताका निर्देश किया गया है। जो व्यवहार पहले मिथ्या था वह निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होनेपर सम्यक् व्यवहार पदवीको प्राप्त हो जाता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। जैसे जो ज्ञान पहले मिथ्या था वह सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर सम्यक् हो जाता है उसी प्रकार व्रतादिके आचरणरूप जो व्यवहार पहले मिथ्या था वह निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होनेपर सम्यक् हो जाता है। इसको चाहे किन्हीं शब्दोंमें कहिए, हानि नहीं। इससे कार्य-कारणपरम्परामें किसी प्रकारका व्यत्यय उपस्थित नहीं होता। अन्यथा आचार्य अमृतचन्द्र समयसार गाथा ७४ की टीकामें यह कभी न लिखते—

यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते।

जैसे जैसे विज्ञानघनस्वभाव होता है वैसे वैसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है।

अपर पक्ष हमारे कथनको विलोमरूपसे समझता है तो समझे। किन्तु क्या वह पक्ष इस कथनको भी विलोमरूप कहनेका अभिप्राय रख सकता है? कभी नहीं। आक्षेप करना अन्य बात है पर पूरे जिनागम पर दृष्टि रखना अन्य बात है।

अपर पक्षका कहना है कि 'अन्तरंग विशुद्धता कर्मोदयके अभावका ज्ञापक तो है किन्तु कारण नहीं है।' यह पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। यदि अपर पक्ष तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६५ के इस वचन पर या इसी प्रकारके अन्य आगमवचनों पर दृष्टिपात कर लेता तो आग्रहपूर्ण ऐसा एकान्त वचन कभी न लिखता। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका वह वचन इस प्रकार है—

तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्त्ति प्रकीर्त्तितम्।
रत्नत्रयमशेषाघविघातकारणं ध्रुवम् ॥४७॥

इसलिए अयोगिजिनका अन्त्य क्षणवर्ती रत्नत्रय नियमसे समस्त अघोंका विघात करनेवाला कहा गया है।

यहाँ पर 'अघ' पद नामादि अघातिकर्म और उनको निमित्त कर हुए भावोंका सूचक है।

कर्म हीनशक्ति होकर व उदीरित होकर झड़ जायें इसीका नाम तो अविपाकनिर्जरा है और इसका कारण जीवका विशुद्ध परिणाम है, इसलिए जैसे जैसे जीवका अन्तरंग विशुद्ध परिणाम होता जाता है वैसे वैसे कर्मोदयका अभाव होता जाता है इस सत्यको स्वीकार करनेमें अपर पक्षको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

पाँचवें गुणस्थानमें यदि अप्रत्याख्यानावरणका सत्त्व रहते हुए भी उदय नहीं होता और उसका स्तिवुक संक्रमण होता रहता है तो इसका मुख्य कारण पाँचवें गुणस्थानकी विशुद्धि ही है। मोक्षमार्गमें ऐसा ही कार्य-कारणभाव मुख्यतासे घटित होता है। यह विलोमप्रतिपादन नहीं है।

धवला पु० १ पृ० ५२ में 'स्वावरण' पद केवल द्रव्यकर्मको ही सूचित नहीं करता, किन्तु अन्तरंगमें जो अविशुद्धि बनी हुई है उसे भी सूचित करता है। आत्मा शुद्धोपयोगके बलसे जैसे जैसे अविशुद्धिको दूर करता जाता है वैसे वैसे उसके निमित्तभूत कर्मोंका भी अभाव होता जाता है यह उक्त उद्धरणका आशय है।

अपर पक्षने प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके क्रमका निर्देश किया है और साथ ही 'जिनको इसका ज्ञान है।' यह वचन भी लिखा है। इस पर हमें यह मान लेनेमें आपत्ति नहीं है कि अपर पक्षको इसका विशेष ज्ञान है, हमें उतना ज्ञान नहीं है। पर कम ज्ञानके साथ ही यदि हम यह जानना चाहें कि अनिवृत्तिकरणमें प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थितिके मध्यवर्ती दर्शनमोहनीयके निषेकोंका जो अन्तरकरण होता है उसका कारण आत्मोत्थ विशुद्धि है या दर्शनमोहनीयका उदय ? तो यही उत्तर तो होगा कि वहाँ पर जो आत्मोत्थ विशुद्धि है वह उसका कारण है। इसका आशय यह हुआ कि जैसे जैसे विशुद्धिमें वृद्धि होती जाती है वैसे वैसे मिथ्यात्वका उदय उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है और अन्तमें वहाँके योग्य उत्कृष्ट विशुद्धिसे युक्त आत्माके होनेपर जिस समय वह अपने पुरुषार्थसे सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है उसी समय मिथ्यात्व परिणाम और उसके निमित्तभूत मिथ्यात्व कर्मके उदयका अभाव रहता है। वहाँ पर अन्तरायाम प्रमाण दर्शनमोहनीयका अभाव तो है ही। ऐसा यह योग है। इसीको कहीं बाह्य दृष्टिसे भी विवेचित किया जाता है उसमें आपत्ति नहीं। किन्तु उसका आशय क्या है यह लेना चाहिए।

अपर पक्षने 'जइ जिणमयं पवज्जह' गाथा उद्धृत की है। उसमें व्यवहार और निश्चय दोनोंकी स्वीकृति है। इसका निषेध तो किसीने किया नहीं है। जैसे व्यवहारनयसे गुणस्थान-मार्गणास्थान आदिरूप भेदव्यवहार है वैसे ही निश्चयनयसे तत्त्वकी भी स्वीकृति है।

तीर्थका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है—

> रयणत्तयसंजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
> संसारं तरइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए ॥१९१॥

रत्नत्रयसे युक्त जीव उत्तम तीर्थ है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नावसे संसारको पार करता है ॥१९१॥

इससे स्पष्ट है कि वास्तवमें तो निश्चय रत्नत्रययुक्त आत्मा ही उत्कृष्ट तीर्थ है। किन्तु उसके साथ जो व्यवहार रत्नत्रय होता है उसे भी व्यवहारसे तीर्थ कहना उपयुक्त है, क्योंकि निश्चय-व्यवहारका ऐसा ही योग है।

अतएव उक्त गाथापरसे यदि कोई यह फलित करे कि बाह्य व्यवहारसे परमार्थकी प्राप्ति हो जाती है। उसे स्वभावका अवलम्बन लेकर एकाग्र होनेकी आवश्यकता नहीं है तो उक्त गाथा परसे ऐसा आशय फलित करना ठीक नहीं है। अतएव भेदविज्ञानपूर्वक आत्मजागृति ही कर्मबन्धनसे छूटनेका यथार्थ उपाय है ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए।

५. निश्चयसे जीव रागादिसे बद्ध है इस तथ्यका समर्थन

अपर पक्षने हमारे 'निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करने पर जीव स्वयं अपने अपराधके कारण बद्ध है, अन्य किसीने बलात् बाँध रखा हो और उसके कारण वह बंध रहा हो ऐसा नहीं है।' इस वचनको आगमविरुद्ध लिखा है। अपर पक्षने यहाँपर अपने पक्षके समर्थनमें जो प्रमाण उपस्थित किये हैं उनमें शुद्ध निश्चयनयके विषयका निर्देश किया गया है। किन्तु यहाँपर 'आत्माश्रितो निश्चयनयः' इस लक्षणको ध्यानमें रखकर उक्त वचन लिखा गया है। अज्ञानी जीव रागादिरूप स्वयं परिणमता है, अन्य कोई उसे रागादिरूप परिणमाता नहीं। अतएव जीवके शुभाशुभ परिणाम भावबन्ध हैं और जीव उनसे बद्ध है इसे निश्चयस्वरूप माननेमें आगमसे कहाँ बाधा आती है इसे अपर पक्ष ही जाने।

हम इसी उत्तरमें प्रवचनसार गा० १८९ की आचार्य जयसेनकृत टीकाका उद्धरण दे आये हैं। उसमें रागादिकको ही आत्मा करता है और उन्हींको भोगता है इसे निश्चयनयका लक्षण कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि अपर पक्षने जो उक्त वचनको आगमविरुद्ध लिखा है सो उस पक्षका ऐसा लिखना ही आगमविरुद्ध है, उक्त वचन आगमविरुद्ध नहीं है। इसके लिए द्रव्यसंग्रहकी 'ववहारा सुहदुक्खं' इत्यादि गाथा देखिए।

अपर पक्षने समयसार गाथा १३ की टीकाका 'स्वयमेकस्य' इत्यादि वचन उद्धृतकर यह सिद्ध किया है कि अकेले जीवमें बन्धकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। समाधान यह है कि उक्त वचन द्वारा निश्चय-व्यवहार दोनोंको स्वीकार किया गया है। उस द्वारा बन्ध पर्यायकी दृष्टिसे यह बतलाया गया है कि जीव स्वयं रागादि रूप परिणमता है, अतएव रागादिरूप बन्धपर्यायका निश्चयसे वह स्वयं कर्ता है, अन्य द्रव्य उसका कर्ता नहीं। किन्तु जब भी वह रागादिरूपसे परिणमता है तब उसको कर्मका आश्रय नियमसे होता है। इसीको अकेले जीवमें बन्धकी उत्पत्ति नहीं होती है यह कहा जाता है। उक्त वचनका इससे भिन्न कोई दूसरा आशय नहीं है। तभी तो समयसारमें यह कहा है—

यदि जीवका कर्मके साथ ही रागादि परिणाम होता है अर्थात् यदि दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं ऐसा माना जाय तो इसप्रकार जीव और कर्म दोनों रागादिभावको प्राप्त हो जायें। किन्तु रागादि रूप परिणाम तो अकेले जीवके ही होता है, अतएव कर्मोदयरूप निमित्तसे भिन्न ही वह जीवका परिणाम है ॥१३९-१४०॥

रागादिका नाम भावबन्ध है इसे तो अपर पक्ष स्वीकार करेगा ही। ऐसी अवस्थामें वह स्वयं निर्णय करे कि यह किसका परिणाम है और यथार्थमें इसे किसने किया है? उसका अपर पक्ष यही उत्तर तो देगा कि उपादानरूपसे इसे स्वयं जीवने किया है, कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। इससे सिद्ध हुआ कि निश्चयसे जीव अपने अपराधके कारण स्वयं रागादि भावोंसे बद्ध हो रहा है। यदि वह कर्मका आश्रय एवं परमें इष्टानिष्ट बुद्धि करना छोड़ दे तो उसके रागादिके विलय होनेमें देर न लगे।

६. उपचार तथा आरोप पदकी सार्थकता

संसारी जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बद्ध है ऐसा कहना असद्भूत व्यवहारनयका वक्तव्य है, इसे स्वीकार करके भी अपर पक्षने लिखा है कि 'किन्तु आपने इस सत्य सरल कथनको तरोड़-मरोड़ कर आरोपित आदि शब्दोंके प्रयोग द्वारा असत्य तथा जटिल बनानेका प्रयास किया है जो शोभनीय नहीं है।' आदि।

समाधान यह है कि जब अपर पक्षने संसारी जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बद्ध है इस कथनको असद्भूत व्यवहारनयका वक्तव्य स्वीकार कर लिया है तो उसे असद्भूतव्यवहारनयके लक्षणके अनुसार यह स्वीकार करनेमें हिचक नहीं होनी चाहिए कि आत्मामें जो अपने विकारी गुणपर्यायोंके साथ बद्धता पाई जाती है उसका ज्ञानावरणादि कर्मोंपर आरोप करके यह कहा जाता है कि आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बद्ध है। ऐसा स्वीकार करना ही सत्यार्थ है। ऐसा स्वीकार कर लेनेसे सद्भूत व्यवहारनय और निश्चयनयसे भिन्न असद्भूत-व्यवहारनयके विषयकी व्यवस्था बन जाती है। फिर तो उसे आकाशकुसुमके समान कल्पनारोपित घोषित करनेकी अपर पक्षको आवश्यकता भी नहीं रह जायगी और नयमें सत्यार्थता भी उस पक्षकी प्रतीतिमें आ जायगी। असद्भूत व्यवहारनयके लक्षण आदिके विषयमें विशेष खुलासा इसी उत्तरमें पहले ही कर आये हैं। इससे अपर पक्षके ध्यानमें यह अच्छी तरह आजायगा कि तरोड़-मरोड़ कर अपर पक्ष ही अपना पक्ष रख रहा है, हम नहीं। अपर पक्ष यदि असद्भूतव्यवहारके लक्षणके आधार पर लिखता तो उसे हमारे द्वारा प्रयोग किये गये 'उपचार' शब्द और 'आरोप' शब्दकी सार्थकता भी समझमें आ जाती। अपर पक्षको स्मरण रखना चाहिए कि इन शब्दोंका प्रयोग न किया जाय तो असद्भूतव्यवहारके विषयका स्पष्टीकरण करना सम्भव ही नहीं हो सकता।

अपर पक्षका कहना है कि 'किन्तु एक नयकी दृष्टिमें दूसरे नयका विषय न होनेसे उस दूसरे नयके विषयको अभूतार्थ कहा जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरे नयका विषय आकाशके पुष्पके समान सर्वथा असत्यार्थ है।'

समाधान यह है कि असद्भूत व्यवहारनयका विषय आकाशपुष्पके समान सर्वथा असत्यार्थ है यह तो हमने कहीं लिखा नहीं है और न ऐसा है ही। यह शब्दयोजना तो अपर पक्षने की है, इसलिए इसमें संशोधन उसीको करना है। फिर भी निश्चयनय वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करता है अतएव वह निषेधक धर्मवाला है और असद्भूत व्यवहारनय दूसरेके धर्मको उससे भिन्न वस्तुका कहता है, इसलिए वह प्रतिषेध्य धर्मवाला है, इसलिए आचार्योंने निश्चयनयके विषयको सर्वत्र भूतार्थ ही कहा है तथा व्यवहारनयके विषयको एक दृष्टिसे भूतार्थ और दूसरी दृष्टिसे अभूतार्थ कहा है। जिसका निदर्शन आचार्य अमृतचन्द्रका वही वचन है जिसे अपर पक्षने यहाँ अपने पक्षके समर्थनमें उपस्थित किया है (समयसार गाथा १४ की टीका)। अपर पक्षने उक्त टीकावचनका आशय लिखनेके बाद फलितार्थ रूपमें जो यह वचन लिखा है कि 'अर्थात् जीवकी एक ही बन्ध अवस्थाको व्यवहार और निश्चय दो भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे देखनेपर सत्यार्थ और असत्यार्थ दिखाई देती है।" सो यह वचन उचित ही लिखा है। इसे अपर पक्षने किस आशयसे लिखा है यह तो हम जानते नहीं। किन्तु शब्दयोजनापर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि जीवकी एक ही बन्ध अवस्था अर्थात् रागादिरूप जो बन्धपर्याय है वह व्यवहार-नयसे सत्यार्थ है—सद्भूत है। किन्तु शुद्ध दृष्टिसे असत्यार्थ है, क्योंकि शुद्धनयमें भेदव्यवहार गौण है।

इससे अपर पक्षको यह स्पष्ट हो जायगा कि असद्भूत व्यवहारनयके विषयका स्पष्टीकरण करते समय हमने जो 'आरोपादि' शब्दोंका प्रयोग किया है वह विपरीत मान्यताका फल है ? या अपर पक्ष स्वयं अपनी विपरीत मान्यता बनाकर ऐसा लिख रहा है।

श्लोकवार्तिक पृ० १५१ में आचार्य अमृतचन्द्रने 'तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे' इत्यादि वचन किस

आशयसे लिखा है इसके स्पष्टीकरणके लिए उनके द्वारा प्रयुक्त 'व्यवहारनयसमाश्रयणे' यह वचन ही पर्याप्त है। विशेष खुलासा पाँचवें-छटे प्रश्नके तृतीय उत्तरमें किया ही है।

हमने अन्य किन प्रश्नोंके उत्तरमें व्यवहारनयके विषयको सत्यार्थ किस रूपमें माना है इसका अपर पक्षने हमारे कथनका कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया, इसलिए अपर पक्षके 'अन्य प्रश्नोंके उत्तरमें आपने भी व्यवहारनयके विषयको सत्यार्थ माना है' इस कथन पर हमने विशेष विचार करना उचित नहीं समझा।

अपर पक्ष यदि प्रेरक निमित्तकारणका अर्थ व्यवहारनयसे करणनिमित्त या कर्तानिमित्त करता है और इस मान्यताका त्याग कर देता है कि समर्थ उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए जब जैसे निमित्त मिलते हैं उनके अनुसार कार्य होता है। तथा इस तथ्यको स्वीकार कर लेता है कि उत्तर कालमें जो कार्य होता है उसे समर्थ उपादान उस कार्यके अनुरूप अपनी विवक्षित एक द्रव्य-पर्याययोग्यतासे सम्पन्न होकर निश्चयसे स्वयं उत्पन्न करता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य उपादानके सदृश होता है—उपादानसदृशं कार्यं भवतीति यावत्। कारण कि उसके बाद वह उसी कार्यको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यवाला है यह नियत है, तभी उन दोनोंमें उपादान-उपादेयभाव बनता है तो हमें 'स्व-परप्रत्यय पदमें जो 'पर' शब्दका प्रयोग हुआ है उसे प्रेरकनिमित्त कारण कहनेमें अणुमात्र भी आपत्ति नहीं है। उपासकाध्ययन श्लोक १०६ में इसी आशयसे 'प्रेर्यते, शब्दका प्रयोग हुआ है। तथा २४७ श्लोकमें इसी अभिप्रायसे कर्मको क्लेशका कारण कहा गया है। निश्चय-व्यवहारकी ऐसी युति है। मात्र इसीको बाह्याभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता कहते हैं।

अपर पक्षने लिखा है कि जिस प्रकारका जितने अनुभागको लिये घातिया कर्मोका उदय होता है उससे आत्माके परिणाम अवश्य होते हैं।' किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। इस विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय गाथा ५७में लिखते हैं—

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं
सो तेण तस्स कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिदं ॥५७॥

कर्मको वेदता हुआ जीव जैसा भाव करता है, इससे वह उस (भाव) का कर्ता होता है ऐसा जिनशासनमें कहा है ॥ ५७ ॥

इससे स्पष्ट है कि आत्मा अपना भाव करनेमें स्वतन्त्र है। उसमें कर्मकी पराधीनता नहीं है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए उसकी टीकामें आचार्य जयसेन लिखते हैं—

कर्मको वेदनेवाला अर्थात् वीतराग निर्भर आनन्दलक्षण प्रचण्ड अखण्ड ज्ञानकाण्डपरिणत आत्मभावनासे रहित होनेके कारण और मन,वचन,कायलक्षण व्यापाररूप कर्मकाण्डसे परिणत होनेके कारण जीव आप कर्ता होकर जैसे भाव (परिणाम) को करता है वह जीव उसी करणभूत भावके कारण कर्मभावको प्राप्त हुए उस रागादि भावका कर्ता होता है ऐसा शासन (परमागम) में कहा है यह उक्त गाथाका तात्पर्य है। —मूल टीकाके आधारसे

आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथाकी टीका करते हुए लिखते हैं—

अमुना यो येन प्रकारेण जीवेन भावः क्रियते स जीवस्तस्य भावस्य तेन प्रकारेण कर्ता भवतीति।

इस विधिसे जीवके द्वारा जिस प्रकारसे जो भाव किया जाता है वह जीव उस भावका उस प्रकारसे कर्ता होता है।

यहाँ 'येन प्रकारेण' तथा 'तेन प्रकारेण' पद ध्यान देने योग्य हैं। इन पदों द्वारा अपने भाव करनेमें जीवकी स्वतन्त्रता घोषित की गई है। इसके साथ जीवकी इतनी विशेषता और है कि परको निमित्त कर उत्पन्न हुए इन भावोंमें यह जीव उपयुक्त हो या न हो यह उसकी अपनी दूसरी विशेषता है। यह मोक्षमार्गकी चाबी है। मोक्षके द्वारका उद्घाटन इसी चाबीसे होता है। अन्य जितना कथन है वह सब व्यवहारवचन है। आचार्य अमृतचन्द्र सम० सा० गा० १७२ की टीकामें लिखते हैं—

जो वास्तवमें ज्ञानी है उसके बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूपी आस्रव भावोंका अभाव है। इसलिए वह निरास्रव ही है। परन्तु इतनी विशेषता है कि वह ज्ञानी भी जब तक ज्ञान (आत्मा) को सर्वोत्कृष्टभावसे देखने, जानने, अनुचरण करनेके लिए अशक्त होता हुआ जघन्यभावसे ही ज्ञान (आत्मा) को देखता, जानता और अनुचरता है तब तक उसके भी जघन्यभावकी अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती, इससे अनुमीयमान अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकके विपाकका सद्भाव होनेसे पुद्गल कर्मका बंध होता है। अतः तब तक आत्मा (ज्ञान) को देखना चाहिए, जानना चाहिए और अनुचरणा चाहिए जब तक ज्ञान (आत्मा) का पूर्ण भाव है उतना भले प्रकार देखने जानने और अनुचरणमें आजाय तबसे लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ वह आत्मा निरास्रव ही रहता है।

अपर पक्षकी इसी दृष्टिको ध्यानमें लेना है। इसे ध्यानमें लेनेपर उस पक्षका कौन कथन आगमानुकूल है और नहीं है तो क्यों नहीं है यह भी उसके ध्यानमें आ जायगा।

अपर पक्ष यदि यह नहीं मानता है कि 'जो निमित्त बलात् कार्यके स्वकालको छोड़कर आगे-पीछे पर द्रव्यमें उत्पन्न करता हो वह प्रेरक निमित्त है' तो हम उसका स्वागत करते हैं। ऐसी अवस्थामें उसे पंचाध्यायी पृ० ९५ का उद्धरण देनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वहाँ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावके निर्देशके प्रसंगसे स्वकाल शब्द पर्यायके अर्थमें आया है। यहाँ विचार यह करना है कि पर्यायें तो अनन्त हैं और उनका लक्षण क्रमभावीपना है, इसलिए उनका उत्पाद-व्यय क्रमानुपाती होता है या नहीं? इसीके समाधानस्वरूप उपादानके आधार पर यह स्पष्ट किया जाता है कि जितनी उत्पादरूप पर्यायें हैं उनके उतने ही समर्थ उपादान हैं, इसलिए उनका उत्पाद क्रमानुपाती ही होता है और उनके व्यवहार हेतु भी क्रमानुपाती क्रमसे उसी विधिसे मिलते रहते हैं। निश्चय-व्यवहारकी ऐसी ही युति है। इसी अवस्थामें सम्यक् अनेकान्त बन सकता है, अन्यथा नहीं। अव्यवहित पूर्व समयवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य समर्थ उपादान है और अव्यवहित उत्तर समयवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य उसका उपादेय है यह क्रम है। इसी क्रमसे सब कार्य होते हैं। निमित्त व्यवहारके योग्य अन्यका संयोग भी इसी क्रमसे मिलता है। इस क्रमको कोई महाशय अन्यथा नहीं कर सकता।

अभी अपर पक्ष उपासकाध्ययनका 'प्रेर्यते कर्म जीवेन' इत्यादि वचन उद्धृत कर आया है। हम तो कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ नहीं हैं। उसके विशेषज्ञ हमें अपर पक्षको माननेमें आपत्ति भी नहीं है। अतएव हम यदि यह जानना चाहें कि अपर पक्षने जो अपने पक्षके समर्थनमें उक्त उल्लेख उपस्थित किया है वह सार्वकालिक नियमको ध्यानमें रखकर उपस्थित किया है या इसे कादाचित्क नियमके रूपमें उपस्थित किया है। यदि सार्वकालिक नियम समझकर उपस्थित किया है तो अपर पक्षने कर्मशास्त्रकी विशेषताको प्रकाशमें लानेके

अभिप्रायसे जो यह लिखा है कि 'किन्तु जो कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ हैं वे भलीभाँति जानते हैं कि प्रत्येक समयमें जो द्रव्यकर्म बंधता है उसमें नाना वर्गणाएँ होती है और सभी वर्गणाओंमें समान अनुभाग (फलदान शक्ति) नहीं होती, किन्तु भिन्न-भिन्न वर्गणाओंमें भिन्न-भिन्न अनुभाग अर्थात् किसी वर्गणामें जघन्य, किसीमें मध्यम और किसीमें उत्कृष्ट अनुभाग होता है। मध्यम अनुभागके अनेक भेद है और वर्गणा भी नाना हैं। इस प्रकार जिस समय जैसा अनुभाग उदयमें आता है उसके अनुरूप आत्माके परिणाम होते है।······जिस समय मंद अनुभाग उदयमें आता है उस समय मंद कषायरूप परिणाम होते हैं और उस समय ज्ञान व वीर्यका क्षयोपशम विशेष होनेसे आत्माकी शक्ति विशेष होती है। उस समय यदि यथार्थ उपदेश आदिका बाह्य निमित्त मिले और यह जीव तत्त्वविचारादिका पुरुषार्थ करे तो सम्यक्त्व हो सकता है।' आदि। वह युक्तियुक्त नहीं ठहरता, क्योंकि इसमें भी तीव्र-मन्द भावसे परस्पराश्रयता बनी रहनेके कारण न तो आत्मा कर्मोदयके विरुद्ध पुरुषार्थ कर सकता है न ही ज्ञानका उदय हो सकता है और न ही उपदेश आदिका बाह्य निमित्त मिल सकता है, क्योंकि कर्मोदयमात्र मोक्षमार्गका प्रतिबन्धक है, अत: 'कर्मोदय बलात् राग-द्वेषको उत्पन्न करते हैं और राग-द्वेष बलात् कर्मका बन्ध कराते हैं' इस सिद्धान्तके स्वीकार करने पर मोक्षमार्गका पुरुषार्थ कभी नहीं बन सकेगा यह जो आपत्ति हमने दी है वह उचित ही है।

यदि अपर पक्षने 'प्रेर्यते कर्म जीवेन' इत्यादि वचन कादाचित्क नियमके रूपमें उपस्थित किया है तो इससे अपर पक्षके इस सिद्धान्तका खण्डन हो जाता है कि 'कर्म जीवमें बलात् राग-द्वेषादिको उत्पन्न करता है।'

अतः प्रकृतमें यह सब कथन व्यवहारनयका वक्तव्य ही समझना चाहिए। ब्रह्मदेव सूरिने बृहद्द्रव्यसंग्रह गा० ३७ में जो कुछ लिखा है वह ठीक ही लिखा है। उन्होंने एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें बलात् कार्य करता है इस सिद्धान्तको स्वीकार करके वह वचन नहीं लिखा है, अतएव उनका वैसा लिखना उचित ही है। उनके लिखनेका आशय ही इतना है कि यदि यह जीव कर्मोदय और इसके फलमें उपयुक्त न हो तो वह संसारपरिपाटीसे मुक्त हो सकता है।

अपर पक्षने इष्टोपदेश गाथा ३१की टीकासे 'कत्थ वि बलिओ कम्मो' यह वचन उद्धृत किया है। किन्तु इसका भी आशय इतना ही है कि जब तक यह जीव उदयाधीन होकर परिणमता है तब तक कर्मकी बलवत्ता कही जाती है। कर्मने उदयाधीन किया नहीं। वह स्वयं उसके आधीन हुआ है। किन्तु जब यह जीव कर्मोदयमें तन्मय न होकर अपने स्वभावके सन्मुख होता है तब आत्माकी बलवत्ता कही जाती है। इष्टोपदेश गा० ३१ की समग्र टीका पर दृष्टिपात करनेसे यही भाव व्यक्त होता है।

अपर पक्षने लिखा है कि 'प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः का जो वाच्य अर्थ है वह ही जिनागममें इष्ट है, क्योंकि शब्दोंका और अर्थका परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। किन्तु प्रश्न तो यही है कि 'प्रेर्यमाणाः' पदका वाच्यार्थ क्या है ? इसे तो स्पष्ट किया नहीं और लम्बी-चौड़ी टीका कर डाली। इसीका नाम तो चतुराई है। जिनागममें तो इसका यह अर्थ है कि राग-द्वेषसे मलीमस आत्माके योग और विकल्पको निमित्तकर जो पुद्गल शब्दरूपसे परिणमते है वे प्रेर्यमाण पुद्गल कहलाते हैं। अच्छी बात है यदि अपर पक्ष इस वाच्यको स्वीकार कर लेता है और अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यमें बलात् कार्य कर देता है इत्यादि प्रकारकी गलत मान्यताको त्याग देता है। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा आगमका अर्थ करनेमें जो अनर्थ हो रहा है उसका सुतरां त्याग हो जायगा।

समयसार गाथा ११६ आदिमें जीवको जो परिणामी नित्य सिद्ध किया है वह स्वमतका ही निरूपण है। परमतका खण्डन उसका मुख्य लक्ष्य नहीं है। प्रत्येक कार्यमें बाह्य निमित्तका स्वीकार है इसमें सन्देह नहीं। चाहे वह अगुरुलघु गुणका परिणमन हो या अन्य परिणमन, बाह्य निमित्तकी स्वीकृति सर्वत्र है। किन्तु यह परिणामी स्वभावमें बाधा न आवे इस रूपमें ही है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यका बलात् कार्य करता है इस रूपमें नहीं। प्रत्येक परिणाम बाह्य निमित्तसे मिलकर नहीं होता, उससे पृथक् रूपमें उपादानमें ही होता है, इसलिए उस परिणामको उपादान ही उत्पन्न करता है, बाह्य निमित्त नहीं। समयसार गाथा ८०, ८१, ८२ का यही आशय है। यही कारण है कि समयसार गाथा १०७ में 'करता है, परिणमता है, उत्पन्न करता है, ग्रहण करता है, त्यागता है, बाँधता है' इत्यादि कथनको असद्भूत व्यवहारनयका वक्तव्य कहा है। अपर पक्ष इस गाथाके इस वचन पर दृष्टि डालनेका कष्ट करे—

यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वृत्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति, परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति वात्मेति विकल्पः स किलोपचारः।

तथा व्याप्य-व्यापकभावका अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य पुद्गल द्रव्यात्मक कर्मको आत्मा ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है इत्यादिरूप जो विकल्प होता है वह उपचार है।

इससे अपर पक्षका जो यह विचार है कि 'वह गाथा निमित्त कारणकी अपेक्षासे नहीं लिखी गई, किन्तु उपादानकी अपेक्षासे लिखी गई' उसका निरास हो जायगा। गाथामें ही जब 'आदा' पद कर्ताके अर्थमें और 'पुग्गलकम्मं' पद कर्मके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। ऐसी अवस्थामें यह लिखना कि 'वह गाथा निमित्त कारणकी अपेक्षासे नहीं लिखी गई, किन्तु उपादानकी अपेक्षासे लिखी गई' बहुत बड़ा साहस है। टीका यही कहती है कि आत्मा और पुद्गल कर्ममें व्याप्यव्यापकभाव नहीं है, फिर भी जो यह कहा जाता है कि 'आत्माने पुद्गल कर्मको उत्पन्न किया' वह अज्ञानीका विकल्पमात्र है, अतएव उपचरित कथन है, क्योंकि उपादान ही अपने कार्यको उत्पन्न करता है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यको उत्पन्न नहीं करता। मात्र अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यको उत्पन्न करता है ऐसा विकल्पमूलक व्यवहार होता है। हमने प्रश्न नं० १ व १६ में निमित्तकर्ताकी स्वीकृति समयसार गाथा १०० के अनुसार ही दी है। किन्तु इससे अपर पक्ष प्रेरक निमित्त कर्ताका स्वेच्छासे जैसा अर्थ करता है उसका समर्थन नहीं होता। विवाद शब्द प्रयोगमें नहीं है, उसके अर्थ करनेमें है।

किसी व्यक्तिको स्त्री आदि विषयोंके आधीन देखकर स्त्रीको उपदेश नहीं दिया जाता कि तुमने इसे अपने आधीन क्यों बना रखा है, किन्तु पुरुषको ही उसके यथार्थ कर्तव्यका भान कराया जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह जीव परमें आनन्दकी मिथ्या कल्पनावश स्वयं विषयाधीन बनता है, विषय उसे पराधीन नहीं बनाते। यहाँ जीवके पराधीन बननेमें विषय बाह्य निमित्त तो हैं, उसके कर्ता नहीं। इसी प्रकार कार्यमें बाह्य निमित्तका क्या स्थान है, इसका सर्वत्र निर्णय कर लेना चाहिए।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४१० में यद्यपि प्रारम्भमें आकाश द्रव्य और अन्य द्रव्योंकी आधाराधेयताका विचार किया गया है। परन्तु आगे वह कथन यहीं तक सीमित नहीं रहा है। किन्तु उस द्वारा सब द्रव्योंमें उत्पादादिक विस्रसा हैं या सहेतुक इसका उत्तर निश्चयनय और व्यवहारनयसे दिया गया है। अतः अपर पक्षका

यह लिखना कि कि 'श्लोकवार्तिक पृ० ४१० का कथन प्रेरक निमित्त कारणके विषयमें नहीं है, किन्तु धर्मादि द्रव्योंके विषयमें है जो अप्रेरक हैं।' युक्तियुक्त नहीं है।

अपर पक्षका कहना है कि 'निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध निश्चयनयका विषय नहीं है'। पर इससे क्या? देखना यह है कि यह सम्बन्ध उपचरित हैं या नहीं। हम इसी उत्तरमें पहले असद्भूत व्यवहारका आगमसे स्पष्टीकरण कर आये है। उसमें भेदमें अभेदका उपचार करना इसे असद्भूत व्यवहार बतलाया गया है। इससे यह सम्बन्ध उपचरित ही सिद्ध होता है।

अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें आलापपद्धतिके 'भिन्नवस्तुविषयो' इस लक्षणका सहारा लिया है। किन्तु वहाँ एक वस्तुमें भेद व्यवहारको भिन्न वस्तु कहा गया है। अपर पक्ष आलापपद्धतिमें इसके उत्तर भेदोंके जो उदाहरण दिये है उन पर दृष्टिपात करले, सब स्पष्ट हो जायगा। वैसे यह लक्षण भी आलापपद्धतिमें किये गये असद्भूत व्यवहारनयके 'अन्यत्र प्रसिद्धस्य' इत्यादि लक्षणका पूरक ही है। समयसार गाथा ५६ की आत्मख्याति टीकामें व्यवहारनयका 'इह हि व्यवहारनयः''''''''परभावं परस्य विदधाति' यह लक्षण किया है। इससे हमारे उक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है। अतएव उक्त लक्षणके आधारसे भी निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध उपचरित ही सिद्ध होता है। इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें हमने इसी आशयसे इसका निरूपण किया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ में द्विष्ठ कार्य-कारणभावको व्यवहारनयसे परमार्थसत् लिखा है। इसलिए अपर पक्ष इस उल्लेखको बहुत महत्त्व देता है। अनेक प्रपत्रोंमें उस पक्षने इसकी अनेकबार चरचा की है। अब विचार यह करना है कि वहाँ विद्यानन्दि आचार्यने ऐसा क्यों लिखा। बात यह है कि बौद्धदर्शन रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार आदिको संवृतिसत् मानता है। क्योंकि वह दर्शन पर्यायोंमें अन्वित होनेवाले द्रव्यको नहीं स्वीकार करता। तत्त्वको मात्र क्षणिक मानता है। किन्तु जैनदर्शनकी यह स्थिति नहीं है। अतएव उपादान और उपादेयके कालभेदकी अपेक्षा भिन्न होने पर भी एक द्रव्यप्रत्यासत्तिके कारण इनमें कथंचित् तादात्म्य बन जानेसे आचार्य विद्यानन्दिने सद्भूत व्यवहारनयको ध्यानमें रखकर द्विष्ठ (दोमें स्थित) कार्य-कारणभावको वस्तुतः परमार्थसत् कहा है, क्योंकि उपादान अपने स्वरूपसे स्वतःसिद्ध है और उपादेय अपने स्वरूपसे स्वतःसिद्ध है। इनमें उपादान और उपादेयरूप धर्म वास्तविक है। इस सम्बन्धमें आचार्य विद्यानन्दिके ये शब्द लक्ष्यमें लेने योग्य हैं। वहीं पृ० १५० में वे लिखते हैं—

कार्य-कारणभावस्य हि सम्बन्धस्याबाधिततथाविधप्रत्ययारूढस्य स्व सम्बन्धिनो वृत्तिः कथंञ्चित्तादात्म्यमेवानेकान्तवादिनोच्यते।

अबाधित तथाविध प्रत्ययारूढ़ कार्य-कारणभावरूप (उपादान-उपादेय-भावरूप) सम्बन्धकी अपने सम्बन्धियोंमें वृत्ति कथञ्चित् तादात्म्यरूप ही अनेकान्तवादियोंने स्वीकार की है।

यह आचार्य विद्यानन्दिका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। 'तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे' इत्यादि वचन लिख कर उन्होंने मुख्यतासे इसी कार्य-कारणभावको अर्थात् उपादान-उपादेयभावको परमार्थसत् कहा है। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५० अवलोकनीय है। बाह्य सामग्री और कार्यमें कार्य-कारणभाव (निमित्त-नैमित्तिकभाव) केवल कालप्रत्यासत्तिको ध्यानमें रखकर स्वीकार किया गया है, क्योंकि कालप्रत्यासत्तिरूपसे जैसे बाह्य सामग्रीकी सत्ता है उसी प्रकार कार्यद्रव्यकी भी सत्ता है। इस रूपसे ये दोनों परमार्थसत् हैं। इससे द्विष्ठ कार्य-कारणभावको परमार्थसत् कालप्रत्यासत्तिवश कहा है यह भी ज्ञात हो जाता है और इनमें निमित्त-नैमित्तिकव्यवहार असद्भूतव्यवहारनयका विषय कैसे है यह भी ज्ञात हो जाता है।

अपर पक्षने धवला पु० ६ पृ० १६४ के उल्लेखके सन्दर्भमें उपादान कारणके अनुसार स्थितिबन्धमें विशेषताको स्वीकार कर लिया यह उचित ही किया है, क्योंकि सर्वत्र सभी कार्य उपादानके अनुसार होते हैं यह परमार्थसत् कथन है। इस उल्लेखमें 'पयडिविसेसादो' पदका यही आशय है। इस विशेषताका उल्लेख आचार्य वीरसेनने धवला और जयधवला दोनोंमें शताधिक बार किया है। कहीं 'सहावदो' लिखा है। इसके लिए धवला पु० ४ पृ०३४३ व ४६८, पु० ५ पृ० ८८ पु० ६ पृ० १४८ व ३१७, पु० १० पृ० २२६ व २४०, पु० ११ पृ० २४९, व ३०९, पु० १२ पृ० ३७; जयधवला पु० ७ पृ० ७४, ७५, ८३, ८४, ९५, ९६, १११, २४०, २४२, व २७४ आदि पृष्ठ द्रष्टव्य हैं। 'पयडिविसेसादो' इसके लिए धवला पु० ६ पृ० १७८, १९३, १९४, पु० १२ पृ० ४९ तथा जयधवला पु० ७ पृ० ७५, ८७, ९०, ९४, ९५, ९७, ९८, ९९, १११, ११५, ११६, ११७, १२१, १३१, १३२ आदि पृष्ठ अवलोकनीय हैं। इन सब उल्लेखों द्वारा उपादानकी महत्ता ही घोषित की गई है।

ऐसी अवस्थामें धवला पु० ६ पृ० १६४ के उक्त उल्लेखमें आये हुए 'एयंतेण' पदका अपर पक्षने जो आशय लिया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि इस पद द्वारा बाह्यार्थ सापेक्षपनेको कहनेवाले व्यवहारपक्षके एकान्तका निषेधकर परनिरपेक्ष निश्चयपक्षका समर्थन किया गया है। कारण कि सभी कार्य निश्चयसे परनिरपेक्ष ही होते हैं। व्यवहारसे ही उन्हें सहेतुक स्वीकार किया गया है, क्योंकि निश्चयनय मात्र वस्तुस्वरूपका उद्घाटन करता है, इसलिए वह परनिरपेक्षरूपसे ही वस्तुस्वरूपके दिखलानेमें प्रवृत्त होता है। परन्तु व्यवहारनयकी यह स्थिति नहीं है। कारण कि सापेक्षभावसे वस्तुकी सिद्धि करना उसका प्रयोजन है। उदाहरणार्थ भव्यों और अभव्योंका स्वरूप परनिरपेक्ष स्वतःसिद्ध है। मात्र इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है। इसीप्रकार प्रकृतमें जान लेना चाहिए। यही कारण है कि आचार्य वीरसेनने धवला पु० ७ पृ० ११७ में सभी कार्य बाह्यार्थ कारण निरपेक्ष होते हैं' इस तथ्यको स्वीकार करते हुए लिखा है—

बज्झत्थकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

इससे स्पष्ट है कि प्रकृतमें अपर पक्षने 'उक्त उल्लेखमें आये हुए 'एयंतेण' पदका जो आशय लिया है वह ठीक नहीं है।

इसी प्रसंगमें अपर पक्षका कहना है कि 'यद्यपि कार्य उपादानके सदृश होता है तथापि ऐसा भी नहीं है कि उसपर बाह्य कारणोंका प्रभाव न पड़ता हो।' आदि। किन्तु अपर पक्षका ऐसा लिखना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जिसे अपर पक्ष 'प्रभाव पड़ना' कहता है वह क्या कोई वस्तु है या कथनमात्र है? यदि वस्तु है तो क्या आगमके विरुद्ध यह स्वीकार किया जाय कि एक वस्तुके गुणधर्मका दूसरी वस्तुमें संक्रमण होता है। यदि नहीं तो वह कथनमात्र है इसके सिवाय उसे और क्या कहा जा सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। यही कारण है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यको करता है' इसे आगममें असद्भूतव्यवहारनयका विषय बतलाया गया है।

अपर पक्षने यहाँ पर बीज और भूमिका उदाहरण उपस्थित कर यह सिद्ध करना चाहा है कि एक ही बीज अलग अलग भूमिके कारण अलग अलग फलको उत्पन्न करता है और इसकी पुष्टिमें प्रवचनसार गाथा २५५ का उल्लेख किया है। समाधान यह है कि अन्तरंगकी सिद्धि करना यही तो व्यवहार हेतुका मुख्य प्रयोजन है। वह स्वयं अन्तरंगरूप नहीं हो जाता, किन्तु अन्तरंगकी सिद्धि करता है। पण्डितप्रवर आशा-

धरजीने अनगारधर्मामृत अ० १ में 'कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः' इत्यादि श्लोक (१०२) इसी आशयसे लिखा है। नियम यह है कि जितने कार्य होते हैं उतने ही उनके अन्तरंग (उपादान) कारण और बाह्य कारण होते हैं। धवला पु० ७ पृ० ७० में इसका समर्थन करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

तदो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छओ कायव्वो।

इसलिए जितने कार्य हैं उतने ही उनके कर्म हैं ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इसलिए यदि प्रवचनसारके उक्त उल्लेखमें बाह्य कारणकी अपेक्षा विवेचन हुआ है तो इस परसे ऐसा गलत अभिप्राय नहीं फलित करना चाहिए कि 'अन्तरंग कारणके एक होने पर भी बाह्य कारणके भेदसे कार्यमें भेद देखा जाता है, क्योंकि वस्तुतः बीज एक नहीं है। जितने दाने हैं सब अपने अपने स्वचतुष्टयको लिये हुए पृथक् पृथक् हैं। इसलिए सिद्धान्त यह फलित होता है कि सबकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री पृथक्-पृथक् होनेसे पृथक्-पृथक् फलनिष्पन्न होता है। नियत आभ्यन्तर सामग्रीके साथ नियत बाह्यसामग्रीके होनेका योग है। इसलिए उनको निमित्तकर नियत फलकी ही उत्पत्ति होती है। धवला पु० ६ पृ० १६४ के उक्त उल्लेखको और प्रवचनसार गाथा २५५के उल्लेखको मिलाकर समझनेकी आवश्यकता है। **कार्य-कारण-परम्परामें नियत निश्चय पक्षके साथ नियत व्यवहार पक्षको स्वीकार करने पर ही अनेकान्तकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।**

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें अन्य बहुतसी बातें लिखी हैं। उन सबसे अपर पक्षके सभी प्रपत्र भरे पड़े हैं। इसलिए उन सबकी हम विशेष चरचा नहीं करेंगे। किन्तु स्वयम्भूस्तोत्र ६० का उल्लेख कर अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'कार्यकी उत्पत्ति अन्तरंग बहिरंग निमित्ताधीन है ऐसा वस्तुस्वभाव है।' यह अवश्य ही विचारणीय है। अपर पक्षके इस कथनको पढ़कर ऐसा लगा कि वह अपने पक्षके समर्थनके अभिनिवेशमें यहाँ तक कहनेके लिए उद्यत हो गया। उस पक्षको ऐसा लिखकर 'हम वस्तुस्वभावको पराधीन सिद्ध करने जा रहे हैं' इस बातका अणुमात्र भी भय न हुआ इसका समग्र जैन परम्पराको आश्चर्य होगा। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है। इनकी एक सत्ता है। लक्षण, संज्ञा आदिके भेदसे ही इनमें भेद स्वीकार किया गया है। पर्यायका लक्षण है—तद्भाव। तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ में कहा भी है–'तद्भावः परिणामः' (सू० ४२) इसकी व्याख्या करते हुए अष्टसहस्री पृ० १२९ में लिखा है—

तेन तेन प्रतिविशिष्टेन रूपेण भवनं हि परिणामः, सहक्रमभाविष्वशेषपर्यायेषु तस्य भावादव्याप्त्यसम्भवात्, तदभावे च द्रव्ये तदनुपपत्तेः।

उस उस प्रतिविशिष्टरूपसे होना ही परिणाम है, क्योंकि सहभावी और क्रमभावी अशेष पर्यायोंमें अर्थात् गुणों और पर्यायोंमें उक्त लक्षणका सद्भाव होनेसे अव्याप्ति दोष नहीं आता। यदि उसका अभाव माना जाय तो द्रव्यमें परिणामविशेष नहीं बन सकता।

इससे स्पष्ट है कि गुणपर्यायवत्त्व यह द्रव्यका स्वरूप है। ऐसी अवस्थामें यदि कार्यको अपर पक्षके मतानुसार निमित्ताधीन स्वीकार कर लिया जाय तो वस्तुस्वभावके पराधीन हो जानेसे वस्तुको ही पराधीन स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित होता है जो अनुभव, तर्क और आगम तीनोंके विरुद्ध है। स्पष्ट है कि कोई भी कार्य निमित्ताधीन नहीं होता। निमित्तकी निमित्तता विश्वके शाश्वत नियमानुसार प्रत्येक समयमें प्रतिविशिष्ट स्वभावयुक्त वस्तुके साथ बाह्य व्याप्तिमात्र है। कार्य-कारणपरम्परामें या अन्यत्र निमित्तको स्वीकार करनेका इतना ही तात्पर्य है। वह कार्यकी सापेक्षरूपसे सिद्धि करता है, इसलिए उसमें कर्ता आदिका

व्यवहार किया जाता है। यदि वाह्य सामग्री कार्यका वास्तविक कर्ता हो तो वह कार्यका 'स्व' हो जायगा और ऐसी अवस्थामें वह व्यवहार कथन न कहलाकर स्वाश्रितपनेकी अपेक्षा निश्चय कथन ही माना जायगा। अतएव 'कार्यकी उत्पत्ति अन्तरंग-वहिरंग निमित्ताधीन है ऐसा वस्तुस्वभाव है' यह लिखना अपर पक्षके लिए योग्य नहीं है, हमने प्रश्न ११ के प्रथम उत्तरमें तथा प्रश्न १ के द्वितीय उत्तरमें वाह्य सामग्रीको ध्यानमें रखकर जो भी लिखा है वह व्यवहारदृष्टिको ध्यानमें रखकर ही लिखा है। अपर पक्ष निश्चय व्यवहारकी भेदक रेखाको यदि स्वीकार कर लेता है तो विश्वास है कि जिन तथ्योंका हम अपने उत्तरोंमें निर्देश कर रहे हैं उन्हें स्वीकार करनेमें उस पक्षको किसी प्रकारकी हिचकिचाहट नहीं होगी।

हमने धवला पु० १२ पृ० ३६ का उद्धरण उपस्थित कर अन्तरंग कारणकी कार्यके प्रति विशेषता स्थापित की थी उसे अपर पक्षने किसी हद तक अपने विशेष विवरणके साथ मान्यता प्रदान की इसकी जहाँ प्रसन्नता है वहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अन्तरंग कारण प्रत्येक वस्तुका स्वरूप है, अतः वह यथार्थ होनेसे उसके आधारपर वनाया गया नियम सर्वत्र एक समान लागू होता है। अपर पक्षने इसी पुस्तकसम्बन्धी पृ० ४५३, पृ० ३८० और पृ० १२० के जो उल्लेख उपस्थित किये हैं उनसे भी उक्त कथनका ही समर्थन होता है। विचारके लिए हम सर्व प्रथम अपर पक्षके निर्देशानुसार पृ० ४५३ का उल्लेख लेते हैं। जो जीव ज्ञानावरणीयका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध करता है उसके यदि आयुकर्मका वन्ध हो तो कैसा होता है इसी तथ्यका विचार इस प्रकरणमें चल रहा है। अन्तिम दो शंका-समाधान इस प्रकार हैं—

शंका—ज्ञानावरणीयकी उत्कृष्ट स्थितिप्रायोग्य परिणामोंके द्वारा आयुकर्मका चतुःस्थानपतित वन्ध कैसे होता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरणीयकी उत्कृष्ट स्थितिवन्धके योग्य परिणामोंमें भी अन्तर्मुहूर्तमात्र आयुकी स्थितिके वन्धके योग्य परिणाम सम्भव हैं।

शंका—एक परिणाम भिन्न कार्योंको करनेवाला कैसा होता है?

समाधान—सहकारी कारणोंके सम्वन्धभेदसे उसके भिन्न कार्योंके करनेमें कोई विरोध नहीं है।

यह आगमवचन है। अव यहाँ इस वातका विचार करना है कि वे सहकारी कारण कौन हैं जिनके सम्वन्धभेदसे एक परिणामको भिन्न कार्योंका करनेवाला कहा गया है?

जहाँ तक स्वामीका सवाल है, जो एक जीव (मनुष्य या तिर्यञ्च) ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति वाँध रहा है वही आयुकर्मकी चतुःस्थानपतित स्थिति वाँध रहा है, इसलिए स्वामिभेद तो है नहीं। परिणामभेद भी नहीं है, क्योंकि एक ही परिणामसे दोनोंकी उक्त स्थितिका वन्ध हो रहा है। इसी प्रकार काल और क्षेत्रका भी भेद नहीं है, क्योंकि जिस काल या क्षेत्रमें विवक्षित जीव ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थितिका वन्ध कर रहा है उसी काल या क्षेत्रमें वह आयुकर्मकी भी चतुःस्थानपतित स्थितिका वन्ध कर रहा है। इस प्रकार जो वाह्य सामग्री ज्ञानावरणके उत्कृष्ट स्थितिवन्धके लिए प्राप्त है वही वाह्य सामग्री आयुकर्मके चतुःस्थानपतित स्थिति-वन्धके लिए भी प्राप्त है। फिर ऐसी कौनसी सहकारी सामग्री है जिसके सम्वन्धभेदसे एक परिणाम भिन्न कार्योको करनेवाला प्रकृतमें स्वीकार किया गया है? क्या कारण है कि उसी सामग्रीके सद्भावमें ज्ञानावरणका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध हो और आयुकर्मका चतुःस्थानपतित यथायोग्य स्थितिवन्ध हो? अर्थात् उत्कृष्ट त्रिभागके प्रथम समयमें आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध हो, और वादमें आगममें वतलाई हुई विधिके अनुसार असंख्यात भागहानि आदिको लिए हुए स्थितिवन्ध हो। इतना ही क्यों? कोई कर्मवर्गणा ज्ञानावरणादिरूप परि-

णमे और कोई आयुकर्मरूप परिणमे, ऐसा क्यों ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं जो यहाँ समाधान चाहते हैं। अपर पक्षने मात्र उक्त उद्धरण तो उपस्थित कर दिया पर उसका आशय क्या है यह स्पष्ट नहीं किया। इसलिए अपर पक्ष यदि इस उद्धरण परसे यह तात्पर्य फलित करना चाहे कि 'कहीं कार्यमें आभ्यन्तर सामग्रीकी प्रधानता रहती है और कहीं बाह्य सामग्रीकी प्रधानता रहती है' तो ऐसी मान्यताके बनानेमें उसे किसी भी उल्लेखसे सफलता नहीं मिल सकती।

विचार कर देखा जाय तो यहाँ पर आचार्य सहकारी सामग्रीसे शक्तिभेदको लिए हुए ज्ञानावरण और आयुकर्मकी अपने-अपने स्थितिबन्धके योग्य सामग्रीको ही ग्रहण कर रहे हैं, क्योंकि जितने भी कार्य होते है वे अन्तरंग-बहिरंग सामग्रीसे प्रतिबद्ध होकर ही होते है। (धवला पु० १२ पृ० ३७)। धवला पु० ६ पृ० १४८ में आचार्य वीरसेन लिखते हैं कि जिस समयप्रबद्धमें तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थितिवाले परमाणु पुद्गल होते हैं उनमें एक समय, दो समय, तीन समय आदिसे लेकर तीन हजार वर्षप्रमाण काल-स्थितिवाले पुद्गल स्वभावसे नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि प्रतिनियत बाह्य सामग्रीके साथ प्रतिनियत आभ्यन्तर सामग्रीके होनेका प्रतिनियम है और उसी प्रतिनियमका धवला पु० १२ पृ० ४५३ में उक्त शब्दों द्वारा उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार पृ० ३८० व १२० के अपर पक्ष द्वारा उल्लिखित उल्लेखोंके विषयमें भी स्पष्टीकरण समझ लेना चाहिए। सहकारी कारण कार्यकी अन्तरंग सामग्री के लिए भी कहा जाता है। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६५ के 'दण्डकपाटप्रतरलोकपूरण–' आदि वचन पर तथा सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० ७ पर दृष्टिपात कीजिए। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों सहकारी सामग्री या सहकारी साधन कहलाते हैं। जहाँ सामान्य निर्देश हो वहाँ प्रकरणको देखकर उसका अर्थ करना चाहिए।

अपर पक्षने लिखा है कि 'जो मात्र आत्मपरिणामसे मोक्ष मानते हैं उनके लिए यह विचारणीय हो जाता है कि द्रव्यकर्मकी शक्ति भी अपेक्षित है, मात्र अकषाय परिणामोंसे ही कर्मोंका घात सम्भव नहीं है।' समाधान यह है कि कर्मोंका घात स्वयं उनके अपने परिणामका फल है, अकषाय परिणाम तो उसमें निमित्त-मात्र है। उसी प्रकार आत्माका मोक्ष स्वयं आत्माका कार्य है, द्रव्यकर्मोंकी निर्जरा तो उसमें निमित्तमात्र है। ऐसी ही निश्चय-व्यवहारकी व्यवस्था है। एक दूसरेका कार्य नहीं करता। किन्तु उसकी प्रसिद्धिका हेतु होने-से वह व्यवहारहेतु कहलाता है। अपने कार्यका निश्चय हेतु वह द्रव्य स्वयं होता है। यदि अपर पक्षने उक्त वचन द्वारा इसी तथ्यको सूचित किया है तो उसे सर्वत्र कार्य-कारणपरम्परामें इस नियमको स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसी अवस्थामें उस पक्षको समर्थ उपादान किसे कहते हैं और बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहार क्यों किया जाता है इसे हृदयंगम करनेमें कठिनाई नहीं जायगी।

धवला पु० १ पृ० ३६६-३६७ में मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके बाह्य हेतुओंका निर्देश किया गया है, आभ्यन्तर हेतुका नहीं। आभ्यन्तर हेतु समर्थ उपादान है। उससे युक्त संयमपरिणाम और द्रव्य-क्षेत्र-कालादि मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके बाह्य हेतु हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें ऐसा ही एक प्रश्न धवला पु० १३ पृ० २९ में उठाकर उसका दूसरे प्रकारसे समाधान किया गया है। उल्लेख इस प्रकार है—

जदि सम्मत-अणुव्वद-महव्वदेहिंतो ओहिणाणमुप्पज्जदि तो सव्वेसु असंजदसम्माइट्ठि–संजदासंजद–संजदेसु ओहिणाणं किण्ण उवलब्भदे ? ण एस दोसो ? असंखेज्जलोगमेत्तसम्मत्त–संजम–संजमासंजमपरि-

णामेसु ओहिणाणावरणक्खओवसमणिमित्ताणं परिणामाणमइथोवत्तादो । ण च ते सव्वेसु संभवंति, तप्पडिवक्ख-परिणामाण बहुत्तेण तदुवलद्धीए थोवत्तादो ।

शंका—यदि सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रतके निमित्तसे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो सब असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतोंके अवधिज्ञान क्यों नहीं पाया जाता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमेंसे अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्तभूत परिणाम अतिस्तोक हैं, वे सबके सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उनके प्रतिपक्षभूत परिणाम बहुत हैं, इसलिए उनकी उपलब्धि बहुत थोड़ी होती है।

ये दो समाधान हैं। एकका उल्लेख अपर पक्षने किया है और दूसरा यह है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य एक ही प्रश्नका समाधान विविध प्रकारसे करते हैं, जिनसे प्रत्येक कार्यकी प्रति-नियत बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी सूचना मिलती है। अतएव यह व्याप्ति बन जाती है कि प्रत्येक कार्यकी आभ्यन्तर सामग्रीके अनुरूप ही बाह्य सामग्री होती है। इसमें व्यत्यय नहीं होता। मात्र बाह्य सामग्री पर द्रव्यका परिणाम होनेसे वह कार्यकी यथार्थ जनक नहीं है। इसी अर्थमें उसे कार्यके प्रति अकिंचित्कर कहा जाता है जो युक्तियुक्त है। पर वह निश्चयकी सिद्धिका हेतु है, इसलिए व्यवहारनयकी अपेक्षा उसके माध्यमसे वस्तुकी सिद्धि करनेमें आपत्ति नहीं। पर ऐसे कथनको उपचरित कथन ही समझना चाहिए।

हमने प्रश्न ६ के उत्तरमें लिखा था कि 'व्यवहारके विषयको निश्चयरूप मान कर उत्तर दिये गये हैं।' हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्षने हमारे उक्त कथनको 'यदि निश्चयसे अभिप्राय वास्तवका है तो हमको इष्ट है।' इन शब्दोंमें स्वीकार कर लिया है। किन्तु उस पक्षने इसी प्रसंगमें जो यह लिखा है कि 'यदि अभिप्राय निश्चयनयसे है तो आपने निश्चयनयके स्वरूपपर दृष्टि नहीं दी।' आदि। समाधान यह है कि हमारी निश्चयनयके स्वरूप पर बराबर दृष्टि है। स्वाश्रित अभेदरूप जितना भी कथन है वह निश्चयनयका विषय है। जब आत्मोपलब्धिके अभिप्रायसे यह जीव प्रवृत्त होता है तब उसकी दृष्टिमें बन्ध-मोक्ष आदिरूप भेदव्यवहार तथा उपचरित व्यवहार गौण (उपेक्षित) होकर एक मात्र स्वाश्रित अभेदरूप ज्ञायकस्वभाव आत्माका अव-लम्बन रहता है, क्योंकि इसके अवलम्बनसे तत्स्वरूप परिणमन द्वारा ही आत्मोपलब्धि होना सम्भव है। इसकी प्राप्तिका अन्य मार्ग नहीं है। किन्तु जब यह जीव संसारी बने रहनेके कारणका विचार करता है तब भी भेदव्यवहार और उपचरित व्यवहार दृष्टिमें गौण होकर अज्ञानरूप परिणत आत्माको ही उसका प्रधान हेतु मानता है। स्वाश्रित अभेदरूप कथन दोनों हैं, अन्तर इतना है कि मोक्षमार्गमें आलम्बनकी दृष्टिसे 'स्व' पदसे अभेदरूप ज्ञायक आत्मा लिया गया है और संसारके प्रमुख कारणकी दृष्टिमें 'स्व' पदसे अज्ञानभावरूप परिणत आत्मा लिया गया है। निश्चयनयका जो सामान्य लक्षण है वह सर्वत्र घटित होता है। यही कारण है कि प्रथम नय शुद्ध निश्चयनय कहलाता है। इसका स्वरूप निर्देश करते हुए नयचक्रादि संग्रह पृ० ७१ में लिखा है—

कम्माणं मज्झगदं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं ।
भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥१९१॥

कर्मोंके मध्य स्थित जीवको जो सिद्ध जीवोंके समान ग्रहण करता है वह नियमसे कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध नय कहलाता है ॥१९१॥

तथा इसके अतिरिक्त जो निश्चयनयका दूसरा भेद है वह सोपाधि अभेदरूप वस्तुको कहता है, इसलिए उसकी अशुद्ध निश्चयनय संज्ञा है। त्रैकालिक वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है, इसलिए इसे अशुद्ध निश्चयनय कहा गया है। साथ ही शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें इसे व्यवहार माना गया है। पर निश्चयनयका लक्षण घटित होनेसे यह भी निश्चयनय है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसा वस्तुका स्वरूप है निश्चयनय उसको उसी रूपमें कहता है। त्रैकालिक वस्तुस्वरूपको कहनेवाला शुद्ध निश्चयनय है, इसलिए उसकी दृष्टिमें पर्यायरूप बन्ध-मोक्षका निषेध किया गया है। परन्तु रागादिरूप परिणत आत्मा यदि निश्चयस्वरूप न माना जाय और उसे कहनेवाले नयको निश्चयनय न कहा जाय तो रागादि आत्माके प्रतिविशिष्ट स्वरूप नहीं ठहरेंगे और ऐसी अवस्थामें बन्ध-मोक्षका अभाव होकर आत्माका ही अभाव मानना पड़ेगा। हमें इस बातका आश्चर्य है कि अपर पक्ष आगममें निश्चयनय और व्यवहारनयके जो लक्षण और भेद किये हैं उन पर दृष्टिपात तो करता नहीं और इच्छानुसार टीका कर अपने अभिप्रायकी पुष्टि करना चाहता है। आलापपद्धतिमें निश्चयनयके लक्षण और भेदोंका निर्देश इन शब्दोंमें किया है—

तत्र निश्चयोऽभेदविषयः।...... तत्र निश्चयनयो द्विविधः—शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च।

अतएव प्रकृतमें निश्चयनयको लक्ष्यमें रखकर अपर पक्षने 'यदि अभिप्राय निश्चयनयसे है तो आपने निश्चयनयके स्वरूप पर दृष्टि नहीं दी।' आदि जो कुछ लिखा है वह सब युक्तियुक्त नहीं।

अपर पक्ष बन्धको व्यवहारनयका विषय समझता है पर ऐसी बात नहीं है, क्योंकि रागादि बन्धरूप परिणत आत्मा अशुद्ध निश्चयनयका विषय है, उसका गुण-गुणी आदि भेदरूपसे कथन सद्भूत व्यवहारनयका विषय है और जीव द्रव्यकर्मोंसे बद्ध है इस प्रकार सर्वथा भेदमें अभेदरूप कथन असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। अध्यात्मदृष्टिमें सद्भूत व्यवहारनयका जो विषय यहाँ बतलाया गया है वह असद्भूत व्यवहारनयका विषय हो जाता है, क्योंकि अध्यात्ममें रागादि परभाव हैं। उनको जीवका कहना असद्भूत व्यवहारनयका विषय है। इतना यहाँ विशेष समझना चाहिए। निश्चयनयसम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण इसके पूर्व ही कर आये हैं।

अपर पक्षने यहाँ पर 'सम्मत्तपडिणिबद्धं' इत्यादि तीन गाथाओंका उल्लेखकर मिथ्यात्वादि पदसे मुख्यतया द्रव्यकर्मका ग्रहण किया है, जब कि उक्त गाथाओंमें मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय शब्दोंका प्रयोग है। इनकी टीकामें पण्डितप्रवर जयचन्दजीने भी इन्हीं शब्दोंको मूल आगमके अनुसार रखा है। अपर पक्षको इनका अर्थ करनेमें भ्रमका कारण 'कर्म' शब्द है। कर्म शब्द दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है—भावकर्म और द्रव्यकर्म। आत्मगुणोंका मुख्यतया प्रतिबन्धक भावकर्म है और उसका निमित्त होनेसे द्रव्यकर्म असद्भूत व्यवहारनयसे उसका प्रतिबन्धक कहा जाता है। समयसार गाथा ८८ में ये मिथ्यात्वादि भाव दोनों प्रकारके बतलाये हैं। आगमका भी यही अभिप्राय है। प्रवचनसार गा० ११७ की टीकामें लिखा है—

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।

क्रिया वास्तवमें आत्माके द्वारा प्राप्त होनेसे कर्म है। उसके निमित्तसे परिणमनको प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है।

इसी तथ्यको गाथा १२२ में और भी स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है—

परिणामो सयमादा स पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्मं ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता॥१२२॥

परिणाम स्वयं आत्मा है और वह जीवमय क्रिया है तथा क्रियाको कर्म माना गया है; इसलिए आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है ॥१२२॥

इस सम्बन्धमें उसकी टीका विशेषरूपसे अवलोकनीय है।

अपर पक्षने यहाँ अपने पक्षके समर्थनमें जितने वचन दिये हैं उन सबमें कहीं भी द्रव्यकर्मकी मुख्यता परिलक्षित नहीं होती। आचार्य जयसेनका जो 'शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं' इत्यादि वचन अपर पक्षने उपस्थित किया है उसमें भी प्रधानता मिथ्यात्वादि भावोंको ही दी गई है। इसलिये प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि वस्तुतः मिथ्यात्वादि भाव आत्माके सम्यक्त्व आदिके प्रतिबन्धक है। ये मिथ्यात्वादि भाव द्रव्यकर्मके संयोगमें उपलब्ध होते हैं, इसलिये असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मका उदय भी इनका प्रतिबन्धक कहा जाता है। द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वोपलभ्यमानत्वात् (प्रवचनसार गा० १२१ टीका) यही भाव हमने अपने पिछले उत्तरमें प्रगट किया है और पूरे प्रकरणपर दृष्टिपात करनेसे यही उचित प्रतीत होता है। इसमें निश्चयपक्ष और व्यवहारपक्ष दोनोंका अन्तर्भाव हो जानेसे एकान्तका परिहार भी होजाता है। पं० श्री जयचन्द्रजी महान् विद्वान् तथा अनेक ग्रन्थोंके आगमानुकूल अर्थ करनेवाले थे। उन्होंने इन तीन गाथाओंकी जिन शब्दोंमें व्याख्या की है तथा इनकी टीकाका अर्थ स्पष्ट किया है, कमसे कम अपर पक्ष उन्हीं शब्दों तक अपनेको सीमित रखता तब तो उनके नामस्मरणकी कुछ सार्थकता थी, अन्यथा उनका नाम लेकर अपने एकान्त पक्षके समर्थनमें कुछ सार नहीं।

अपर पक्षका कहना है कि 'निमित्तोंका सम्यक् ज्ञान करानेके लिए ये शब्द किसी आगमके तो हैं नहीं, किन्तु आपकी निजी नवीन कल्पना है जो कि मान्य नहीं है।' सो मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष बन्ध-मोक्षको तो जानना चाहता है पर उनके निमित्तोंको नहीं जानना चाहता। तभी तो उक्त शब्दोंको उस पक्षने टीका योग्य माना है। वास्तवमें देखा जाय तो आगममें छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय आदिका जितना भी उपदेश पाया जाता है वह सब सम्यक् ज्ञान करानेके लिए ही उपलब्ध होता है। अस्तु,

अपर पक्षने अपराध सहेतुक है या निर्हेतुक इसकी चरचा करते हुए यह तात्पर्य फलित किया है कि 'इसलिए अपराधके कारणरूप पर द्रव्यका प्रथम त्याग होना चाहिए उसके पश्चात् ही अपराधका दूर होना सम्भव है। आदि।' समाधान यह है कि बाह्य वस्तुका त्याग और बाह्य वस्तुविषयक रागका त्याग ये दो वस्तु नहीं हैं, दो कथन हैं। अतएव यथार्थमें जहाँ बाह्य वस्तुविषयक रागसे निवृत्ति है वहीं बाह्य वस्तुके त्यागका व्यवहार यथार्थ माना जाता है, अन्यथा वह कोरा त्याग है। बाह्य वस्तुविषयक अपराध बना रहे और बाह्य वस्तुका त्याग उसके पूर्व हो जाय ऐसी मान्यताका समर्थन करना अपर पक्षको ही शोभा देता है। दिगम्बर परम्परा और इतर परम्पराकी प्ररूपणामें अन्तर यह है कि जहाँ बाह्य वस्तु वस्त्रादिविषयक राग नहीं है वहाँ बाह्य वस्तुविषयक ग्रहणका न तो विकल्प है और न प्रवृत्ति ही है यह तो दिगम्बर परम्पराकी मान्यता है और इतर परम्पराकी मान्यता यह है कि बाह्य वस्तु वस्त्रादिविषयक ग्रहणका विकल्प भी बना रहे और वैसी प्रवृत्ति भी हो तो भी वस्त्रादिविषयक राग नहीं होता। स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा विवक्षित निश्चयकी प्राप्तिके साथ तदनुकूल व्यवहारको ही समीचीन मानती है, जब कि इतर परम्परा निश्चयकी प्राप्तिके पूर्व ही अकेले व्यवहारको यथार्थ मानती है। यही कारण है कि 'कोटि जनम तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरें जे।' इत्यादि रूप समीचीन कथन दिगम्बर परम्परा तक ही सीमित है। इस विषयमें दिगम्बर परम्पराका हार्द क्या है इसे भगवान् कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २६५ में स्पष्ट किया है। वहाँ वे लिखते हैं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधो त्थि ॥२६५॥

जीवोंके जो अध्यवसान होता है वह वस्तुको अवलम्बन कर होता है। तथापि वस्तुसे बन्ध नहीं होता, अध्यवसानसे बन्ध होता है ॥२६५॥

आचार्य अमृतचन्द्रने इस गाथाकी उत्थानिकामें ये शब्द लिखे हैं—

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शंक्यम् ।

इसका आशय स्पष्ट करते हुए पं० श्री जयचन्द्र जी लिखते हैं—

आगे कहते हैं कि जो बाह्य वस्तु है वह बन्धका कारण है कि नहीं ? कोई समझेगा कि जैसे अध्यवसान बन्धका कारण है वैसे अन्य बाह्य वस्तु भी बन्धका कारण है सो ऐसा नहीं है, एक अध्यवसान ही बन्धका कारण है—

इसकी आत्मख्याति टीकामें लिखा है—

अध्यवसानमेव बन्धहेतुः न बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात् । तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थम् ।

अध्यवसान ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्धका कारण जो अध्यवसान है उसके हेतुरूपसे ही उसकी चरितार्थता है ।

शंका—तो बाह्य वस्तुका प्रतिषेध किसलिए किया जाता है ?

समाधान—अध्यवसानके प्रतिषेधके लिए।

बाह्य वस्तुसे बन्ध क्यों नहीं होता इसका समाधान आचार्य जयसेनने इन शब्दोंमें किया है—

अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात्। तथा हि—बाह्यवस्तुनि सति नियमेन बन्धो भवति इति अन्वयो नास्ति, तदभावे बन्धो भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति ।

बाह्य वस्तुके साथ बन्धका अन्वय-व्यतिरेक नहीं बनता, इसलिए बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है । यथा—बाह्य वस्तुके होनेपर नियमसे बन्ध होता है इसलिए अन्वय नहीं बनता तथा बाह्य वस्तुके अभावमें बन्ध होता है इसलिए व्यतिरेक भी नहीं बनता ।

इससे स्पष्ट है कि जिसे अपर पक्ष बाह्य वस्तुका त्याग कहता है वह तभी यथार्थ कहलाता है जब अध्यवसानका त्याग हो । दिगम्बर परम्परा ऐसे ही त्यागको यथार्थ कहती है । आगममें इच्छाको प्रमुखरूपसे परिग्रह कहनेका कारण भी यही है । आचार्योंका आशय यह है कि जहाँ बाह्य वस्तुविषयक इच्छा नहीं है वहाँ बाह्य वस्तुका ग्रहण बन ही नहीं सकता । उसका त्याग तो इच्छाके त्यागमें समाहित है ही । यही दिगम्बर परम्परा है जो नित्यशः वन्दनीय है ।

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने कलश नं० २२० आदिकी चरचा की है । परद्रव्य हो और राग-द्वेष न हो तथा परद्रव्य न हो और राग-द्वेषकी उत्पत्ति हो यह सम्भव है, इसलिए परद्रव्य स्वयं राग-द्वेषका उत्पादक नहीं है । इस तथ्यको स्पष्ट करनेके लिए कलश २२० लिखा गया है । परद्रव्यमें निमित्त व्यवहार कब होता है जब उसमें यह

रागी, द्वेषी और मोही होता है यह तथ्य कलश २२१ द्वारा स्पष्ट किया गया है। परके लक्ष्यसे राग, द्वेष, मोह होता है, इसलिए जिनागममें परके त्यागका भी उपदेश है पर उस द्वारा परमें इष्टानिष्ट या निज बुद्धिसे उपयुक्त होनेका ही त्याग कराया गया है यह आशय समयसार गाथा २८३-२८५ का है। अतः इन सबकी संगति है। पूर्वापर विरोध तब आता है जब परको रागादिकी उत्पत्तिमें व्यवहार हेतु न स्वीकार कर उसे यथार्थ हेतु स्वीकार किया जाता है। अपर पक्षको परको यथार्थ हेतु माननेकी अपनी मान्यताका ही त्याग करना है। इसके त्याग होते ही जो हम लिख रहे हैं उसकी यथार्थता अपर पक्षको सुतरां भासित होने लगेगी।

इससे यह तथ्य सुतरां फलित हो जाता है कि परद्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यके कार्यका स्वयं निमित्त नहीं है, किन्तु उससे सम्पर्क कर जब अन्य द्रव्य व्यापार करता है तब उसमें निमित्त व्यवहार होता है।

हमने लिखा था कि 'दूरातिदूर भव्य भी मुनिचर्या (व्यवहारचारित्र) के द्वारा अहमिन्द्र पद पा सकता है।' इस पर टीका करते हुए अपर पक्षने जयधवला पु० २ पृ० ३८९ का उल्लेख उपस्थित कर उक्त अभिप्रायका खण्डन किया है जयधवलाका वह वचन इस प्रकार है—

केसिं पि अणादिओ अपज्जवसिदो, अभव्वेसु अभव्वसमाणभव्वेसु च णिच्चणिगोदभावमुपगएसु अवट्ठाणं मोत्तूण भुजगारमप्पदराणमभावादो।

किन्हीं जीवोंके अवस्थित विभक्तिस्थान अनादि-अनन्त होता है, क्योंकि जो नित्य निगोदभावको प्राप्त हुए अभव्य और अभव्योंके समान भव्य हैं उनके अवस्थित स्थानके सिवाय भुजगार और अल्पतरस्थान नहीं पाये जाते हैं।

इसलिए उक्त उल्लेखसे इस तथ्यका समर्थन नहीं होता कि 'जो दूरातिदूर भव्य हैं वे निगोदमें ही रहते हैं। वे मुनिलिंग अथवा व्यवहारचारित्र धारण कर अहमिन्द्र नहीं हो सकते।' मेरी समझसे जयधवलामें उक्त उल्लेखका अर्थ करनेमें गलती हुई है, अतः उसमें सुधार अपेक्षित है। दृष्टान्त इष्टार्थका ज्ञान कराता है। पर वह सर्वथा लागू नहीं होता। यह विषय परामर्श विशेषकी अपेक्षा रखता है, इसलिए उस पर परामर्श होना चाहिए। इसे विवादका विषय बनाना उचित नहीं है।

अपर पक्षने पिछले पत्रकमें 'व्यवहारचारित्र प्रत्येक दशामें सफल है' यह लिखा था। यहाँ उक्त कथनके आशयको स्पष्ट किया है। हमें व्यवहारचारित्रको परम्परा मोक्षका कारण कहनेमें या उसे निश्चयचारित्रका साधक कहनेमें आपत्ति नहीं है। हमारा कहना तो इतना ही है कि अपर पक्ष जो इन शब्दोंका अर्थ करता है वह ठीक नहीं है। व्यवहारके स्वरूप और प्रयोजनको समझ कर उन्हें इन शब्दोंका अर्थ करना चाहिए।

यदि हमसे कोई पूछे कि जो मिथ्यादृष्टिसे सम्यग्दृष्टि बनता है उसके मिथ्यादृष्टि अवस्थामें इसके पूर्व कितनी विशेषता हो जाती है तो हम अपर पक्षके कथनानुसार यह तो कहेंगे ही कि वह सच्चे देव-गुरु-शास्त्रमें गुरूपदेश आदिको ग्रहण कर श्रद्धावान् हो जाता है, आदि। किन्तु इसके सिवाय यह भी कहेंगे—

१. वह मोक्षमार्गमें द्रव्यलिंगकी महिमा न स्वीकार कर भावलिंगकी महिमा स्वीकार करने लगता है। साथ ही उसके विशुद्धि आदि लब्धियोंका सन्निधान नियमसे होता है।

२. पंच परमेष्ठीके सिवाय वह अन्य सबकी पूजा-भक्तिसे विरत हो जाता है।

३. षट्द्रव्यादिके प्रज्ञानपूर्वक निश्चय मोक्षमार्गके उपदेशको वह श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है।

४. इन्द्रिय विषयोंमें तीव्र आसक्तिके अभावस्वरूप उसके सम्यग्दृष्टिके अनुरूप बाह्य भूमिका नियमसे बन जाती है।

५. उसके द्रव्यरूपमें २५ दोषों और छह अनायतनोंका त्याग होकर सम्यक्त्वके आठ अंगोंके प्रति आदरभाव प्रकट हो जाता है। आदि।

किन्तु यह सब होने पर भी उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो ही जायगा ऐसा नहीं है। उसकी जब भी प्राप्ति होगी, स्वभावसन्मुख हो कर तत्स्वरूप अनुभूतिके प्रकाशमें ही होगी। इसलिए प्रत्येक भव्य जीवको मात्र मन्दकषायरूप बाह्य प्रवृत्तिमें मग्न न होकर स्वभावसन्मुख होनेका सतत अभ्यास करते रहना चाहिए।

अपर पक्ष हमारे कथनके आशयको स्वीकार कर ले तो फिर हमारा उस पक्षसे कोई विरोध नहीं है। मोक्षमार्गके निरूपणमें सांसारिक लाभालाभकी दृष्टि रखना हेय है, क्योंकि स्वर्गादिककी प्राप्ति मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है। और न यह भी नियम है कि जो स्वर्गादि गतिके अधिकारी होते हैं उन्हें मोक्षमार्गकी प्राप्ति नियमसे होती है, अन्यको नहीं होती। इसलिए यथार्थको जानकर स्वभाव प्राप्तिमें उद्यमशील होना यही प्रत्येक भव्यका कर्तव्य है।

अपर पक्षने सर्वार्थसिद्धि ७, १९ की चरचा करते हुए जिन तीन बातोंका निर्देश किया है उनका उत्तर है—

१. इस जीवको परका त्याग करना है इसका अर्थ—परका सम्पर्क त्यागना है। स्पष्ट है कि पर दुखदायक नहीं, परका सम्पर्क दुःखदायक है। परका सम्पर्क करे या न करे इसमें आत्मा स्वाधीन है।

२. कर्मोदयमें उपयुक्त होना या न होना इसमें आत्मा स्वतन्त्र है।

३. घरसे सम्बन्धका त्याग करना इसका अर्थ घरविषयक राग-मूर्च्छाका त्याग करना है। यही घरका त्याग व्यवहारसे कहलाता है। इसके सिवाय घरका त्याग अन्य वस्तु नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्रने गा० २८३–२८५ की टीकामें जो कुछ कहा है उसका स्पष्टीकरण पहले इसी उत्तरमें कर आये हैं। तथा यहाँ भी अपर पक्षके तीन विकल्पोंको ध्यानमें रखकर क्रमशः किया है।

भावागारका त्यागवाला बुद्धिपूर्वक घरमें नहीं ठहरता यह तो ठीक है, पर घरमें ठहर नहीं सकता है यह ठीक नहीं है। शून्यागारमें मूर्च्छा हो जाय तो वह भी घर ही है। पर भावमुनिके होती नहीं। अन्यकी चरचा करना व्यर्थ है।

'गृहे वसन्नपि' का अर्थ हमने घरमें बैठा किया है। इसे अपर पक्ष आगमानुकूल नहीं मानता। घरमें रहना और बैठना इसमें विशेष क्या फरक हो गया इसे वही पक्ष जाने। हमें यह इष्ट है कि भावमुनिके लिए आत्माके सिवाय अन्य सब पर घर है। इसलिए वह अपने आत्मामें ही ठहरता है, स्थित होता है, बैठता है। वह शून्यागारमें ठहर सकता है यह कहना भी व्यवहार ही है।

निश्चय-व्यवहारका अविनाभाव है। इसलिए हमने निश्चयचारित्रके साथ व्यवहारचारित्रके होनेकी बात 'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउण' (द्रव्यसंग्रह गा० ४७) इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर कही थी। अपर पक्षका कहना है कि 'यदि यह माना जायगा तो सातवाँ गुणस्थान होनेपर वस्त्रत्याग, केशलोंच, महाव्रतधारण आदि व्यवहारचारित्रकी क्रिया होगी।' समाधान यह है कि यह क्रिया तो भावमुनि होनेके पूर्व

नियमसे होजाती है, क्योंकि यह क्रिया उसका बाह्य परिकर है, किन्तु वह सम्यक् व्यवहारचारित्र निश्चय चारित्रके होनेपर ही कहलाती है। अतएव हमने जो कुछ भी लिखा है वह आगमको ध्यानमें रखकर ही लिखा है। दिगम्बर परम्परामें ऐसे व्यवहारको ही समीचीन माना गया है जो निश्चयपूर्वक होता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें ऐसे मोक्षमार्गका ही निर्देश किया गया है। अतएव आत्मसिद्धिके इच्छुक प्रत्येक धर्मात्मा-का कर्तव्य है कि वह मोक्षमार्गमें अपने आत्माको स्थापित करे, उसीका ध्यान करे, उसीको अनुभव गोचर करे और उसी आत्मामें निरन्तर रमे। अन्य द्रव्योंमें भूलकर भी विहार न करे।

इसप्रकार प्रस्तुत प्रतिशंकाका सांगोपांग समाधान किया।

प्रथम दौर

: १ :

नमः श्री वीतरागाय

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

शंका १०

जीव तथा पुद्गलका एवं द्वयणुक आदि स्कन्धोंका बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं।

समाधान १

इस प्रश्नका सम्यक् उत्तर प्राप्त करनेके लिए पहले जीव और पुद्गल तथा दो आदि परमाणुओंके मध्य किस प्रकारका बन्ध जिनागममें स्वीकार किया गया है यह जान लेना आवश्यक है। जीव और पुद्गल के बन्धका निर्देश प्रवचनसार गाथा १७७ की टीका में इस प्रकार किया है—

यः पुनः जीव-कर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः।

जीव तथा कर्मपुद्गलके परस्पर परिणामके निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है वह तदुभयबन्ध है।

इसी प्रकार दो या दो से अधिक परमाणुओंका परस्पर निमित्तमात्रसे विशिष्टतर परस्पर अवगाह लक्षण जो बन्ध होता है वह स्कन्ध कहलाता है।

जिस प्रकार वैशेषिक दर्शनमें संयोगको स्वतन्त्र गुण माना गया है उस प्रकार जिनागममें उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। यही कारण है कि यहाँ व्यवहारनयका आश्रय लेकर दो द्रव्योंके परस्पर निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है उसे बन्धरूपसे स्वीकार किया गया है।

ऐसी अवस्थामें यदि स्वचतुष्टयकी अपेक्षा विचार करते है तो दो या दो से अधिक द्रव्य उक्त प्रकारसे परस्पर अवगाहको प्राप्त होकर भी अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूपसे पृथक्-पृथक् ही अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, अतएव निश्चयनयसे बन्ध नहीं है। जैसा कि स्कन्धकी अपेक्षा पंचास्तिकाय गाथा ८१ की टीकामें कहा भी है।

स्निग्ध-रूक्षत्वप्रत्ययबन्धवशादनेकपरमाण्वेकत्वपरिणतिरूपस्कन्धान्तरितोऽपि स्वभावमपरित्यज्य-न्नुपात्तसंख्यत्वादेक एव द्रव्यमिति।

अर्थ—स्निग्ध-रूक्षत्वके कारण बन्ध होनेसे अनेक परमाणुओंकी एकत्व परिणतिरूप स्कन्धके भीतर

रहा हो तथापि स्वभावको न छोड़ता हुआ संख्याको प्राप्त होनेसे (अर्थात् परिपूर्णके समान पृथक् गिनतीमें आनेसे) अकेला ही द्रव्य है।

व्यवहार और निश्चयसे इसी विषयको स्पष्ट करते हुए नियमसारमें भी कहा है—

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥२९॥

अर्थ—निश्चयसे परमाणुको पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहारसे स्कन्धको पुद्गल द्रव्य ऐसा नाम होता है ॥२९॥

पुद्गलद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम्—स्वभावशुद्धपर्यायात्मकस्य परमाणोरेव पुद्गलद्रव्यव्यपदेशः शुद्धनिश्चयेन । इतरेण व्यवहारनयेन विभावपर्यायात्मनां स्कन्धपुद्गलानां पुद्गलत्वमुपचारत सिद्धं भवति ।

यह पुद्गल द्रव्यके कथनका उपसंहार है—शुद्ध निश्चयनयसे स्वभावशुद्ध पर्यायात्मक परमाणुको ही पुद्गलद्रव्य ऐसा नाम होता है। इतर अर्थात् व्यवहारनयसे विभावपर्यायात्मक स्कन्धपुद्गलोंको पुद्गलपना उपचारसे सिद्ध होता है।

इसी विषयको बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार करते हुए प्रवचनसार गाथा १६१ की टीकामें लिखा है—

अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथञ्चिदेकत्वेनावभासनात् ।

क्योंकि अनेक परमाणु द्रव्योंके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व (स्वद्रव्यचतुष्टय) अनेक होने पर भी कथंचित् (स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत बन्धपरिणामकी अपेक्षासे) एकत्वरूप अवभासित होते हैं।

इसप्रकार जब कि दो सजातीय द्रव्योंके बन्धको ही व्यवहारसे बन्ध लिखा है तो जीव पुद्गल दो विजातीय द्रव्योंके बन्धको भी व्यवहारस्वरूप कैसे नहीं कहा जायगा।

इस प्रकार व्यवहारनयसे ही पुद्गल और पुद्गलका तथा जीव और पुद्गलका बन्ध आगममें कहा गया है। इससे यह फलित हुआ कि जिस द्रव्यके जिस कालमें जैसी अवस्था होती है केवली भगवान् उसे ठीक उसी प्रकारसे जानते हैं, और जिस प्रकारसे वे जानते हैं वही आगममें प्रतिपादित है।

●

द्वितीय दौर

: १ :

शंका १०

प्रश्न यह है—जीव तथा पुद्गलका एवं द्व्यणुक आदि स्कन्धोंका बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं ?

प्रतिशंका २

आपने अपने उत्तरमें जीव तथा पुद्गलका एवं द्यणुकादि स्कन्धोंका बन्ध स्वीकार करते हुए प्रवचनसार गाथा १७७ की टीकाका उद्धरण देते हुए बतलाया है कि 'जीव तथा कर्म पुद्गलके परस्पर

परिणामके निमित्तमात्रसे जो परस्पर विशिष्टतर अवगाह होता है वह तदुभयबन्ध है। इसी प्रकार दोसे अधिक परमाणुओंका परस्पर निमित्तमात्रसे विशिष्टतर परस्पर अवगाहलक्षण जो बन्ध होता है वह स्कन्ध कहलाता है।'

आगे आपने लिखा है कि वैशेषिक दर्शनमें संयोगको जैसा स्वतन्त्र गुण माना है वैसा जिनागममें संयोगकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की है और इस आधारपर आपने यह निष्कर्ष निकाला है कि उपर्युक्त प्रकार दो द्रव्योंके परस्पर निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाहरूपसे बन्ध होता है वह व्यवहार-नयका आश्रय लेकर ही होता है।

इसमें निम्न बातें विचारणीय हैं—

(१) इस बन्धमें आपने जो परस्पर बद्ध होनेवाले दो द्रव्योंमें परस्पर निमित्तता स्वीकार की है उस परस्पर निमित्ततासे आपका अभिप्राय क्या है?

(२) विशिष्टतर परस्पर अवगाहसे आपने क्या समझा है?

(३) व्यवहारनयका आश्रय लेकर बन्ध होता है इसमें व्यवहारनय और उसको बन्ध होनेमें आश्रयताका क्या आशय है?

इसके भी आगे आपने लिखा है कि उक्त प्रकारसे परस्पर अवगाहको प्राप्त होकर भी बँधनेवाले दोनों द्रव्य या दोसे अधिक सभी द्रव्य अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूपसे पृथक्-पृथक् ही अपनी अपनी सत्ता रखते हैं, अतएव आपका कहना है कि निश्चयनयसे बन्ध नहीं है। इसके लिए आपने पञ्चास्तिकाय गाथा ८१ की टीकाका प्रमाण भी उपस्थित किया है, जिसके आधारपर आपने कहा है कि 'निश्चयसे परमाणुको पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहारसे स्कन्धको पुद्गल द्रव्य कहा जाता है।'

इस विषयमें भी हमारा आपसे प्रश्न है कि पृथक्-पृथक् दो आदि परमाणुओंमें तथा स्कन्धस्वरूप दो आदि परमाणुओंमें आप क्या अन्तर स्वीकार करते हैं? और उस अन्तरको आप वास्तविक मानते हैं या नहीं?

हमने यह प्रश्न आपके समक्ष इसलिये उपस्थित किया है कि हम देखते हैं कि जहाँ पृथक्-पृथक् अनेक परमाणु व्याघात रहित है वहाँ हम यह भी देखते है कि अनेक परमाणुओंका स्थूल स्कन्ध व्याघात सहित देखनेमें आता है। हम देखते है कि शरीरमें चोट लगने पर जीव और नोकर्मरूप पुद्गलके एकरूप पिण्डका ही यह परिणाम है कि जीवको दुःखका अनुभव होने लगता है। बरसातमें जो नदियोंमें पानीकी बाढ़ आती है और वह जो हमारे सामने प्रलयका दर्दनाक रूप उपस्थित कर देती है यह भी अनेक पुद्गल परमाणुओंके स्थूल एक अखण्ड स्कन्धरूपताका ही परिणाम है। कहाँ तक गणना की जाय, जो कुछ भी दृश्य जगत है वह सब जीव और पुद्गल एवं नाना परमाणुओंके सत्यरूपमें अनुभूत होनेवाले बन्धका ही परिणाम है। तो आपकी दृष्टिमें क्या यह सब अवास्तविक ही है अर्थात् कुछ नहीं है क्या? और यदि कुछ है और वह वास्तविक है तो फिर निश्चय एवं व्यवहारका जो भेद आप बतला रहे हैं उसका फलितार्थ क्या है? कृपया स्पष्ट कीजिये।

जहाँ तक हमने आपके लेखसे यह समझा है कि जीव और पुद्गलके परस्पर बन्धमें तथा नाना परमाणुओंके बन्धमें जो कुछ स्कन्धरूपता देखनेमें आती है उसे आप अवास्तविक ही मानना चाहते हैं तो हम पुनः आपसे पूछना चाहते हैं कि सर्वज्ञको इस अवास्तविक पिण्डरूप जगत्का ज्ञान होता है या नहीं? इस

प्रश्नका संकेत हमने अपने मूल प्रश्नमें भी किया था जिसे आपने यह कहकर अपने उत्तरमें टाल दिया है कि 'जिस द्रव्यकी जिस कालमें जैसी अवस्था होती है केवली भगवान् ठीक उसी प्रकारसे उसे जानते हैं।'

हम पुनः आपसे कहना चाहते हैं कि आप हमारे मूल प्रश्नका तथा इस प्रतिप्रश्नमें दर्शाये गये अन्य प्रश्नोंका स्पष्ट उत्तर देनेका प्रयत्न करेंगे।

●

शंका १०

मूल प्रश्न—जीव तथा पुद्गलका एवं द्वयणुक आदि स्कन्धोंका बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं ?

प्रतिशंका २ का समाधान

मूल प्रश्नका उत्तर अनेक शास्त्रीय प्रमाण देकर पूर्वमें यह दे आये हैं कि व्यवहारनयकी अपेक्षा बन्ध है।

प्रतिशंका २ में पुनः ये प्रश्न उपस्थित किये गये हैं।

१—इस बन्धमें आपने जो परस्पर बद्ध होनेवाले दो द्रव्योंमें परस्पर निमित्तता स्वीकार की है, उस परस्पर निमित्ततासे आपका अभिप्राय क्या है ?

२—विशिष्टतर परस्पर अवगाहसे आपने क्या समझा है ?

३—व्यवहारनयका आश्रय लेकर बन्ध होता है उसमें व्यवहारनय और उसकी बन्धमें होनेवाली आश्रयताका क्या आशय है ?

४—उसके आगे हमारे वक्तव्यको ध्यानमें रखकर यह प्रतिशंका की गई है कि पृथक्-पृथक् दो आदि परमाणुओंमें तथा स्कन्धस्वरूप दो आदि परमाणुओंमें आप क्या अन्तर स्वीकार करते हैं ? और उस अन्तरको आप वास्तविक मानते हैं या नहीं ?

५—इसके आगे कुछ निष्कर्षको फलितकर यह प्रश्न किया गया है कि सर्वज्ञको इस अवास्तविक पिण्डरूप जगत्का ज्ञान होता है या नहीं ?

ये पाँच मुख्य शंकाएँ हैं। समाधान इस प्रकार है—

: १ :

जीवके अज्ञानरूप मोह, राग, द्वेष परिणाम तथा योग द्रव्यकर्मके बन्धका निमित्त हैं और ज्ञानावरणादि कर्मोंका उदय अज्ञानरूप जीव भावोंके होनेमें निमित्त है। इसी प्रकार दो पुद्गल परमाणुओंमें स्निग्ध और रूक्ष गुणकी द्वयधिकता परस्परमें बन्धका निमित्त है, इसी प्रकार पुद्गल स्कन्धमें भी बन्धका निमित्त जान लेना चाहिये। यही यहाँ दो द्रव्योंकी परस्पर बद्धताकी निमित्तता है।

: २ :

जिन्हें अन्यत्र संश्लेष बन्ध लिखा है उसका ठीक स्पष्टीकरण 'विशिष्टतर परस्पर अवगाह' पदसे होता है। यों तो छहों द्रव्य व्यवहारनयकी अपेक्षा एक क्षेत्रमें उपलब्ध होते हैं। परन्तु वहाँ उन सबका निमित्त-

नैमित्तिक भावसे विशिष्टतर अवगाह उपलब्ध नहीं होता। हाँ उनमेंसे जिनमें निमित्त-नैमित्तिकभावसे विशिष्टतर अवगाह उपलब्ध होता है उनमें ही बन्धव्यवहार किया जाता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

: ३ :

'व्यवहारनयका आश्रय लेकर' इसका अर्थ 'व्यवहारनयकी अपेक्षा' इतना ही है। व्यवहारनय यह ज्ञानपर्याय है। दो द्रव्योंका निमित्त-नैमित्तिकभावसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है उसे व्यवहारनयकी अपेक्षा बन्ध कहा है यह हमारे कथनका तात्पर्य है। और इसी अभिप्रायसे हमने मूल प्रश्नका उत्तर देते हुए यह वाक्य लिखा था 'यहाँ व्यवहारनयका आश्रय लेकर दो द्रव्योंके परस्पर निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है उसे बन्धरूपसे स्वीकार किया है।' इस वाक्यमें 'व्यवहारनयका आश्रय लेकर' इस वाक्यका 'व्यवहारनयकी अपेक्षा' ऐसा अर्थ करके उसको 'बन्धरूपसे स्वीकार किया है।' इस वाक्यके साथ सम्बन्ध कर लेने पर पूरे वाक्यका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

: ४ :

पृथक्-पृथक् दो आदि परमाणुओंमें स्वभाव पर्याय होती है जो एक समान भी हो सकती है और विसदृश भी हो सकती है। तथा स्कन्धस्वरूप दो आदि परमाणुओंमें विभाव पर्याय होती है। नियम यह है कि बन्ध होने पर यदि दो परमाणुओंका बन्ध हो तो हीन गुणवाला परमाणु दो अधिक गुणवाले परमाणुरूप परिणम जाता है, इसलिए द्वयणुक स्कन्धका सदृश परिणाम ही होता है। किन्तु सभी स्कन्ध मात्र परमाणुओंका बन्ध होकर ही नहीं बनते। बहुतसे स्कन्ध अनेक स्कन्धोंके मेलसे भी बनते हैं, अतः उनमें सदृश और विसदृश दोनों प्रकारके परिणमन उपलब्ध होते हैं। जो सभीके अनुभवका विषय है। यही इनमें अन्तर है।

: ५ :

पिण्डरूप जगत्को अवास्तविक शब्दका प्रयोग करना भ्रमोत्पादक है। आगममें सत्ता दो प्रकारकी मानी गई है—स्वरूपसत्ता और उपचरितसत्ता। स्वरूपसत्ताकी अपेक्षा प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र है, दो या दोसे अधिक परमाणु सर्वथा एक नहीं हुए हैं। किन्तु बन्ध होनेपर उनमें जो एक पिण्डरूपता प्राप्त होती है वह उपचरितसत् है। अतएव केवली जिन जैसे स्वरूप सत्को जानते हैं वैसे ही उपचरित सत्को भी जानते हैं। वर्गणाखण्ड प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहा भी है—

सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढि ट्ठिदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति ॥८२॥

अर्थ—उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवलदर्शनसे युक्त भगवान् स्वयं देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्य लोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, वृद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं।८२।

तृतीय दौर

: ३ :

शंका १०

प्रश्न यह था—जीव तथा पुद्गलका एवं द्वयणुक आदि स्कन्धोंका बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नपर आपका उत्तर आ जाने पर उसके आधारपर जो विषय चर्चनीय हो गये थे और जिनका उत्तर आपसे प्राप्त करनेकी भावनासे अपनी प्रतिशंका २ में हमने निबद्ध किये थे, वे निम्नप्रकार हैं :—

१—इस बन्धमें आपने जो परस्पर बद्ध होनेवाले दो द्रव्योंमें परस्पर निमित्तता स्वीकार की है उस परस्पर निमित्ततासे आपका क्या अभिप्राय है ?

२—विशिष्टतर परस्पर अवगाहसे आपने क्या समझा है ?

३—व्यवहारनयका आश्रय लेकर बन्ध होता है इसमें व्यवहारनय और उसकी बन्ध होनेमें आश्रयताका क्या आशय है ?

४—पृथक्-पृथक् दो आदि परमाणुओंमें तथा स्कन्धस्वरूप दो आदि परमाणुओंमें आप क्या अन्तर स्वीकार करते हैं ? और इस अन्तरको आप वास्तविक मानते हैं या नहीं ?

५—(यदि जगत् अवास्तविक पिण्डरूप है तो) सर्वज्ञको इस अवास्तविक पिण्डरूप जगत्का ज्ञान होता है या नहीं ?

: १ :

उक्त चर्चनीय विषयोंमेंसे प्रथम चर्चनीय विषयका उत्तर देते हुए यद्यपि आपने स्वीकार किया है कि 'जीवके अज्ञानरूप मोह, राग द्वेष परिणाम तथा योग द्रव्यकर्मके बन्धका निमित्त हैं' लेकिन 'ज्ञानावरणादि कर्मोंका उदय अज्ञानरूप जीवभावोंके होनेमें निमित्त हैं' यह वाक्य प्रत्युत्तरमें देखकर तो आश्चर्यका ठिकाना ही नहीं रह सकता है, कारण कि जितने अंशमें ज्ञानावरण कर्मका उदय जीवमें विद्यमान रहता है उससे तो ज्ञानका अभावरूप अज्ञान ही होता है जिसे द्रव्यकर्मके बन्धका कारण न तो आगममें माना गया है और न आप ही ने माना है। आपके द्वितीय वक्तव्यमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'अज्ञानरूप मोह, राग, द्वेष परिणाम तथा योग द्रव्यकर्मके बन्धके निमित्त हैं।' इसमें आगमका भी प्रमाण देखिये······

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

—समयसार आस्रवाधिकार

टीका—मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः, ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया रागद्वेषमोहाः। तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वाद् रागद्वेषमोहा एव आस्रवाः।

—आत्मख्याति टीका

गाथाओंका अर्थ टीकाके अर्थसे ही समझा जा सकता है, अतः यहाँ टीकाका ही अर्थ दिया जाता है।

मिथ्यात्व, अवरति, कषाय और योग ये सब पुद्गलके विकार हैं, ये चूँकि ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मोंके आस्रवमें निमित्त होते हैं, अतः इन्हें आस्रव नामसे कहा जाता है। पुद्गलके विकारभूत इन मिथ्यात्वादिकमें ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवणकी जो निमित्तता (कारणता) पायी जाती है, उसके निमित्त जीवके अज्ञानमय राग, द्वेष और मोहरूप परिणाम हैं, इसलिये ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवणके लिये मिथ्यात्वादि पुद्गल विकारोंमें पायी जानेवाली निमित्तताकी उत्पत्तिमें भी कारण होनेसे आत्माके परिणामस्वरूप राग, द्वेष और मोहरूप भाव ही अस्रव हैं।

यहाँ राग, द्वेष और मोहरूप भावोंको ही अज्ञान शब्दका वाच्य अर्थ स्वीकार किया गया है और उन्हींको आस्रव (बन्धका कारण) कहा गया है।

यदि कहा जाय कि मोह, राग और द्वेष उपयोग (ज्ञान) के ही तो विकार है और वह उपयोग ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे ही उत्पन्न होता है, इसलिये अज्ञानमें ज्ञानावरण कर्मके उदयको निमित्त कहना ठीक है, तो इसका उत्तर यह है कि जिस उपयोगके विकारको राग, द्वेष और मोह कहा गया है वह तो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानभाव ही है, ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला ज्ञानके अभावरूप अज्ञानभाव वह नहीं है। समयसारमें कहा भी है—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८८॥

अर्थ—मोह कर्मसे युक्त जीवके उपयोग (ज्ञान) के अनादिसे ही मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप विकार जानना चाहिये।

गाथामें जो उपयोग शब्द आया है उसका अर्थ ज्ञान ही होता है, ज्ञानका अभाव नहीं। मिथ्यात्व और अविरतिके बीचमें जो अज्ञान शब्दका पाठ गाथामे किया गया है वह भी ज्ञानके अभावरूप अर्थका बोधक नहीं है। किन्तु उस ज्ञानभावका ही बोधक है जो मोहकर्मके उदयमें विकारी हो रहा है।

ऐसा तो प्रतीत नहीं होता कि इतनी मोटी गलती आगमकी अजानकारीमें बुद्धिभ्रमसे ही की गई हो। वास्तविक बात तो यह मालूम देती है कि मोक्षमार्गमें सिर्फ वस्तुस्वरूपके ज्ञानको ही महत्त्व दिया जा रहा है और चारित्रके विषयमें तो यह ख्याल है कि वह तो अपने आप नियतिके अनुसार समय आनेपर हो ही जायगा, उसके लिये पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। बस। एक यही कारण मालूम देता है कि बन्धके कारणोंमें ज्ञानावरणकर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानके अभावरूप अज्ञानभावको कारण मानना आवश्यक समझा गया है और यह वाक्य लिखा गया है कि 'ज्ञानावरणादि कर्मोंका उदय अज्ञानरूप जीवके भावोंके होनेमें निमित्त है।'

परन्तु यह भी मोटी भूलका ही परिणाम है, क्योंकि यदि वस्तुस्वरूपके ज्ञानके लिये पुरुषार्थको महत्त्व दिया जाता है तो 'चारित्र अपने आप हो जायगा'—यह सिद्धान्त संगत नहीं हो सकता है। यदि यह कहा

जाय कि ज्ञानके साथ चारित्रके लिए भी पुरुषार्थ करना चाहिये, तो 'भावलिंगके होने पर द्रव्यलिंग होता है' (देखो प्रश्न १ का उत्तर) इस सिद्धान्तको कैसे मान्यता दी जा सकती है ? फिर तो जितना ज्ञानी बननेके लिए जनताको उपदेश दिया जाता है, कमसे कम उतना ही उपदेश चारित्रवान् बननेके लिये भी क्यों नहीं दिया जाता ? तथा व्यवहारचारित्रको अयथार्थ और उपचरित मानते हुए केवल संसारका कारण क्यों कहा जाता है ?

वास्तविक बात यह है कि चारित्रका पालन करना तलवारकी धारपर चलनेके समान है, इसलिए अपने जीवनको कष्टकर भासनेवाली प्रवृत्तियोंसे अलग रखकर 'केवल वस्तुस्वरूपका ज्ञान करने तक सीमित करके भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है'—ऐसी धारणा जिसने बना ली हो वह व्यक्ति जीवनके लिये कष्टकर भासनेवाले चारित्रके मार्गपर चलनेके लिये क्यों उत्साहित होगा ? लेकिन ऐसे व्यक्तिकी यह तीसरी भूल होगी। कारण कि समयसारमें इस बातका स्पष्ट कथन किया गया है कि केवल वस्तुस्वरूपका ज्ञान कर लेनेसे मनुष्य सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। प्रमाण निम्न प्रकार है—

किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम् ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत्, किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तम् ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः इति निरस्तो अज्ञानांशः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः।

—समयसार गाथा ७२ की आत्मख्याति टीका

अर्थ—यह जो आत्मा और आस्रवका भेदज्ञान है उसका ज्ञान उस व्यक्तिको, जो अपनेको भेदज्ञानी समझता है, रहता है या नहीं। यदि उस भेदज्ञानका ज्ञान उसे नहीं रहता है तो उस व्यक्तिमें और जिसे अभी तक आत्मा तथा आस्रवका भेदज्ञान ही नहीं हुआ है उसमें विशेषता (अन्तर) ही क्या रह जायगी ? यदि कहा जाय कि भेदज्ञानका ज्ञान उस व्यक्तिको रहता है, तो फिर प्रश्न उठता है कि वह व्यक्ति भेदज्ञानका ज्ञान रखते हुए आस्रवोंमें प्रवृत्ति करता है अथवा आस्रवोंकी प्रवृत्तियोंको बन्द कर देता है ? यदि कहा जाय उसकी आस्रवोंमें प्रवृत्तियाँ तो होती रहती हैं, तो फिर भी वही बात होगी कि जिसे अभी तक आत्मा और आस्रवमें भेदज्ञान नहीं हो पाया है उस व्यक्तिसे इस व्यक्तिमें क्या अन्तर रह जायगा ? इसलिये जिसे आत्मा और आस्रवका भेदज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसका भेदज्ञान तभी सार्थक होगा, जब कि वह आस्रवोंमें होनेवाली अपनी प्रवृत्तियाँ भी बन्द कर देगा और तभी उस व्यक्तिको 'ज्ञानसे ही बन्धका निरोध होता है' ऐसा कहना उपयुक्त होगा। इसका आशय यह है कि एक तरफ ज्ञान रहित क्रिया करना निरर्थक है तो दूसरी तरफ क्रियारहित ज्ञान भी निरर्थक है।

: २ :

द्वितीय चर्चनीय विषयका उत्तर देते हुए जो 'विशिष्टतर परस्पर अवगाह' का स्पष्टीकरण किया गया है उससे सिर्फ इतनी बात स्पष्ट होती है कि एक ही क्षेत्रमें स्थित छहों द्रव्योंका जैसा परस्पर संस्पर्शरूप सम्बन्ध है उससे यह विलक्षण है तथा अन्यत्र जिसे संश्लेष बन्ध लिखा है वही यह है, परन्तु जब यह कहा जाता है कि उस विशिष्टतर परस्पर अवगाहमें ही बन्धका व्यवहार किया जाता है और यह भी कहा जाता है कि वह निमित्तनैमित्तिकभावके आधारपर ही होता है, फिर तो आपकी दृष्टिसे वह कल्पनारोपित ही

होगा, क्योंकि निमित्तनैमित्तकभावरूप कार्यकारणभाव तथा व्यवहार इन दोनोंको आप उपचरित, कल्पनारोपित और असद्भूत ही स्वीकार करते हैं। ऐसी हालतमें छह द्रव्योंके परस्पर संस्पर्श और विशिष्टतर परस्पर अवगाह इन दोनोंमें अन्तर ही क्या रह जायगा ? यह आप ही जानें।

: ३ :

तीसरे चर्चनीय विषयका जो उत्तर आपने दिया है वह निम्नप्रकार है—

'व्यवहारनयकी अपेक्षासे दो द्रव्योंके परस्पर निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह होता है उसे बन्धरूप स्वीकार किया है।'

पहले उत्तर पत्रमें जो वाक्य इस विषयमें लिखा गया था उसमेंसे 'व्यवहारनयका आश्रय लेकर' यह पद हटाकर इस उत्तरमें 'व्यवहारनयकी अपेक्षासे' यह पद जोड़ दिया गया है, लेकिन इससे अर्थमें कोई अन्तर नहीं आया है। हमारा कहना तो यह है और जैसा कि हमने ऊपर चर्चनीय विषय दोमें अभी अभी लिखा है कि आपकी दृष्टिमें निमित्तनैमित्तिकभाव और व्यवहार दोनों ही जब उपचरित, आरोपित और असद्भूत ही हैं तो इनके सहारेपर बन्धमें भी असद्भूतता आये बिना नहीं रह सकेगी तब व्यवहारनयरूपी ज्ञानांशका विषय वह कैसे होगा ? क्योंकि असद्भूत विषय जिसकी कोई सत्ता ही नहीं है वह 'गधेके सींग' तथा "आकाशके फूल" के समान ही है, अतः चाहे व्यवहारनय हो या चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे केवलज्ञान ही क्यों न हो वह किसीका भी विषय नहीं हो सकता है।

: ४ :

चौथे चर्चनीय विषयके सम्बन्धमें हमें आपसे यह कहना है कि आपके द्वारा कही हुई पृथक्-पृथक् दो आदि परमाणुओंमे स्वभावपर्याय होती है। 'वह समान भी होती है और विसदृश भी होती है' यह बात ठीक है, परन्तु 'परस्पर बन्ध हो जानेपर दो आदि परमाणुओंकी जो पर्याय होगी, वह विभावपर्याय होगी' यह बात आपके मतसे कैसे संगत होगी ? जब आप बन्धको अवास्तविक मानते हैं, यह बात आपको सोचना है। आगमसम्मत हमारे पक्षमें तो दो द्रव्योंके बन्धसे विभाव पर्यायकी संगति इसलिए बैठ जाती है कि यह पक्ष बन्ध, व्यवहार, निमित्तनैमित्तकभाव आदिको अपने अपने रूपमें वास्तविक ही स्वीकार करता है।

: ५ :

पाचवें चर्चनीय विषयके उत्तरमें आपने लिखा है कि 'प्रश्नमें लिखा गया अवास्तविक शब्द भ्रमोत्पादक है।' यदि 'अवास्तविक' शब्दके प्रयोगसे भ्रम हो सकता है तो उसको अलग भी किया जा सकता है, परन्तु पहले यह तो मालूम हो जावे कि बन्धादिकी सत्ता क्या किसी भी रूपमे आप स्वीकार करते है। अभी तक तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आप बन्धको, व्यवहारको और निमित्तनैमित्तिकभाव आदिको असद्भूत अर्थात् सत्ताहीन ही स्वीकार करते है।

आप सत्ताके स्वरूपसत्ता और उपचरितसत्ता ऐसे दो भेद भले ही स्वीकार कर लें, परन्तु जब उपचरितसत्ताको आप कल्पनारोपित ही मानते हैं तो वह सत्ताहीन ही होगी, फिर ऐसे भेद करनेसे क्या लाभ ? हाँ। यदि पिण्डरूप सत्ताको कोई प्रकार भी सत् माननेको तैयार है, तो निर्णय कीजिये कि उसका वह प्रकार क्या हो सकता है। सत्ताहीन पिण्ड तो केवलज्ञानका भी विषय नहीं हो सकता है, जैसे गधेके सींग और आकाशके फूल केवलज्ञानके विषय नहीं होते है, इसलिए आपका यह लिखना भी संगत प्रतीत नहीं होता

कि 'केवली भगवान् जैसे स्वरूपसत्को जानते हैं वैसे उपचरितसत्को भी जानते हैं।' इस कारण आपके द्वारा दिया गया प्रकृति अनुयोगद्वारका उद्धरण भी आपके पक्षका समर्थन नहीं कर सकता है।

अब थोड़ा आगम प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था पर भी विचार कर लेना उपयुक्त जान पड़ता है—

सर्व प्रथम प्रवचनसारकी गाथा ८७ को देखिये, वह क्या प्रतिपादन करती है—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुण-पज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो॥

इस गाथामें आचार्यश्री ने द्रव्य, गुण व पर्याय इन सबको अर्थ बतलाते हुए इन सभीका द्रव्यमें समावेश किया है जो कि परमार्थरूपसे वस्तु है। टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने इस विषयको बहुत स्पष्ट करके दिखला दिया है। विस्तार होनेके भयसे यहाँ टीकाका उद्धरण नहीं दिया है, अतः वहाँ देखनेका कष्ट कीजिये।

अब ज्ञेयतत्त्वाधिकार (२) की गाथा १ को देखिये—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥९३॥

टीका—इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तार-विशेषात्मकैरभिनिर्वृत्तत्वाद् गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः-समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। तत्र समानजातीयो नाम यथा—अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि। असमानजातीयो नाम यथा-जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि। गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः। सोऽपि द्विविधः-स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः। विभावपर्याया नाम-रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतादात्म्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः।

टीकाका अर्थ—लोकमें जितना कुछ ज्ञेयरूप पदार्थ है वह सब विस्तारसामान्य अर्थात् तिर्यक्सामान्य और आयतसामान्य अर्थात् ऊर्ध्वतासामान्य—इन दोनोंके समूहरूप द्रव्यके रूपमें अस्तित्वको प्राप्त हो रहा है, अतः द्रव्यरूप है। जितने द्रव्य हैं वे सब गुणात्मक हैं, क्योंकि विस्तार गुणका नाम है और इस तरह प्रत्येक द्रव्य एक आश्रयमें रहनेवाले विस्तारविशेषों अर्थात् गुणभेदोंके आधार पर अस्तित्वको प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार आयत पर्यायका नाम है और वे पर्यायें उक्तलक्षणवाले द्रव्यों तथा गुणोंके आधारपर ही अस्तित्वको प्राप्त हो रही है, इसलिए पर्यायें द्रव्यात्मक भी हैं और गुणात्मक भी हैं। इन दोनों प्रकारकी पर्यायोंमेंसे जो पर्याय अनेक द्रव्योंसे बने हुए ऐक्यका ज्ञान करानेका कारण है वह द्रव्यपर्याय है। द्रव्यपर्याय दो प्रकारकी है—एक तो समानजातीय द्रव्यपर्याय और दूसरी असमानजातीय द्रव्यपर्याय। इनमेंसे समानजातीय द्रव्यपर्यायें तो द्व्यणुक आदि पुद्गलात्मक हैं और असमानजातीय द्रव्यपर्यायें जीव तथा पुद्गलके मिश्रणसे निष्पन्न होनेवाली देव, मनुष्यादि पर्यायें है। गुणोंके द्वारा आयत अर्थात् ऊर्ध्वरूपमें अनैक्यकी प्रतिपत्तिकी कारणभूत गुणपर्यायें हैं। ये गुणपर्यायें भी दो प्रकारकी हैं—स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। समस्त द्रव्योंके अपने अगुरुलघुगुणोंके द्वारा प्रत्येक समयमें होनेवाली षड्गुणहानि-वृद्धिरूप स्वभावपर्यायें हैं और विभावपर्यायें रूपा-

दिक तथा ज्ञानादिककी स्व (उपादान) तथा पर (निमित्त) इन दोनोंके सहयोगसे उत्पन्न होनेवालीं पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें आनेवाले तारतम्यके आधारपर दिखाई देनेवाले स्वभावविशेषरूप हैं।

उक्त गाथाकी यह टीका जीव तथा पुद्गलकी बंधपर्यायकी एवं द्वयणुकादिरूप स्कन्धकी वास्तविकताका उद्घोष कर रही है। आगे पंचास्तिकाय ग्रन्थका भी प्रमाण देखिये—

खंधा वा खंधदेसा य खंधपदेसा होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥७४॥

अर्थ—स्कन्ध, स्कन्धके खण्ड, उन खण्डोंके खण्ड और परमाणु इस तरह पुद्गल द्रव्योंको चाररूप समझना चाहिए।

श्लोकवार्तिक पृ० ४३० पर तत्त्वार्थसूत्रके 'अवणः स्कन्धाश्च' सूत्रकी व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्दिने लिखा है—

नाणव एवेत्येकान्तः श्रेयान्, स्कन्धानामक्षबुद्धौ प्रतिभासनात्। स्कन्धैकान्तस्ततोऽस्त्वित्यपि न सम्यक्, परमाणूनामपि प्रमाणसिद्धत्वात्।

अर्थ—पुद्गल द्रव्य केवल अणुरूप ही हैं, ऐसा एकान्त नहीं समझना चाहिये, कारण कि इन्द्रियोसे स्कन्धोंका भी ज्ञान होता है। केवल स्कन्धोंको मान लेना भी ठीक नहीं है, कारण कि परमाणु भी प्रमाणसिद्ध पदार्थ है।

इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ में 'भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते' (५-२६) इस सूत्र द्वारा स्कन्धोंकी तथा 'भेदादणुः।' (५-२७) इस सूत्रद्वारा अणुकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

अष्टशती और अष्टसहस्रीका भी प्रमाण देखिये—

कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्षणादयः।
परमाणूनां संघातेऽपि माभूवन् विभागवत् ॥६७॥

इसीके आगे अष्टसहस्रीकी पंक्तियां पढ़िये—

विभक्तेभ्यः परमाणुभ्यः संहतपरमाणूनां विशेषस्योत्पत्तेर्धारणाकर्षणादयः संगच्छन्ते।

—अष्टसहस्री पृष्ठ २२३ कारिका ६७ की व्याख्या

दोनोंका अर्थ—कार्य और कारणमें सर्वथा अभेद माननेसे परमाणुओंका स्कंध बन जाने पर धारण और आकर्षण नहीं होना चाहिये। अर्थात् परमाणु अकेलेमें धारण और आकर्षणरूप क्रिया होना जैसे सम्भव नहीं है उसी तरह संघातमें भी उस क्रियाका होना कार्य और कारणका अभेद माननेपर नहीं होगा। चूँकि पृथक् विद्यमान परमाणुओंकी अपेक्षा संहत (स्कन्धरूप) परमाणुओंमें विशेषता आ जाती है, अतएव उनका धारण और आकर्षण संभव हो जाता है।

ये सब प्रमाण पृथक् पृथक् पाये जानेवाले अणुओंकी और उन अणुओंकी बद्धतासे निष्पन्न द्वयणुकादि स्कंधोंकी वास्तविकताको सिद्ध करते हैं।

बंध होनेपर एकत्व हो जाता है, अर्थात् दोनोंकी पूर्व अवस्थाका त्याग होकर एक तीसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। श्री पूज्यपाद आचार्यने सर्वार्थसिद्धिमें कहा भी है—

वधं पडि एयत्तं (२।७)

ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते (५।२४)

अर्थात्—बंधकी अपेक्षा एकत्व है। बंधसे पूर्वावस्थाका त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है, अतः उनमें एकरूपता आजाती है।

इससे भी वन्धकी वास्तविकता ही सिद्ध होती है।

इन सब प्रमाणोंके प्रकाशमें स्कन्ध, देश, प्रदेश आदि पुद्गल द्रव्योंकी समानजातीय पर्यायें तथा जीव और पुद्गलके मिश्रणसे बननेवाली देव, मनुष्यादि पर्यायें तभी उत्पन्न हो सकती हैं जब कि मूल द्रव्यके अनित्यांशभूत स्वकाल और स्वभावमें परिणमन हो जावे। यदि उक्त पर्यायोंमें द्रव्यके अनित्यांशभूत स्वकाल और स्व-भाव भी स्वद्रव्यकी तरह तदवस्थ बनकर रहते हैं तो ऐसी हालतमें स्कन्धका निर्माण कभी संभव नहीं होगा। परन्तु बात दरअसल यह है कि परमाणु जब द्वयणुक, त्र्यणुक आदि स्कंधकी अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब वे अपनी अणुत्वपर्यायको छोड़कर स्कन्धरूप पर्यायको धारणकर लेते हैं। यदि ऐसा न हो तो फिर सूक्ष्मताको प्राप्त अणुओंके स्कन्धमें स्थूलता तथा अदृश्यताके स्थानपर दृश्यता किसी भी प्रकार संभव नहीं होगी। इसलिये परिवर्तित स्वरूपास्तित्वको लिये हुए ही स्कन्धपरिणति उन पुद्गलोंमें आती है। यह परिणति उसी पुद्गल द्रव्यके स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणकी विकृतिरूप उपादान शक्तिसे निर्मित कथंचित् एकत्वरूप है, इसलिए वन्धरूप अवस्था जिसे स्कंध कहो, चाहे अनेक द्रव्योंकी समानजातीय या असमानजातीय पर्याय कहो, ये सभी द्रव्यगत विशेष ही हैं, अतः वह पर्याय भी अर्थ है, वास्तविक परिणमन है, उन द्रव्योंसे जुदा नहीं है।

नैयायिक लोग तो गुणपदार्थको गुणीसे भिन्न मानते हैं, इसलिए उनके मतसे संयोग द्रव्यसे भिन्न एक गुण है। जैनागम यद्यपि द्रव्यसे भिन्न संयोगको गुण नहीं मानता है तो भी वह दो द्रव्योंके बन्धात्मक परिणमनको तो स्वीकार करता ही है। तो फिर दो पुद्गलोंकी बंधात्मक अवस्थारूप समानजातीय द्रव्यपर्यायको तथा जीव-पुद्गलोंकी बंधात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायको अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है। प्रवचनसार पृ० १२० पर भी लिखा है—

तत्रैव चानेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः

—गाथा ९३ टीका

अर्थ—अनेक पुद्गलोंके रूप ही द्वयणुक और त्र्यणुक ये सब समानजातीय द्रव्यपर्याय ही हैं।

ऐसी स्थितिमें इन्हें वस्तुस्वरूप ही माना जाना युक्तिसंगत और आगमसम्मत है। अतः इन्हें व्यवहार-नयाश्रितताके आधार पर उपचरित (कल्पनारोपित) बतलाना कहाँ तक उचित है।

इसीलिये प्रवचनसारके ज्ञेय तत्त्वाधिकारकी गाथा १ की टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्रने अन्तमें बहुत स्पष्टरूपसे लिखा है कि —

सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी।

अर्थ—सर्व पदार्थोंकी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप स्वभावकी प्रकाशक भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्तदेव द्वारा उपदिष्ट व्यवस्था ही सत्य है।

इसी प्रकार इन्हीं पर्यायोंके आधार पर ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी व्यवस्था प्रतिपादित की गयी है।

जो परमाणु, द्वयणुक और त्र्यणुक आदिमें द्रव्यत्वको ही लक्षित करता है। यदि स्वरूपास्तित्वमें जो अंश पर्यायको प्राप्त है वह यदि परिवर्तित हुए बिना ही रह जावे तो फिर द्वयणुकादि पर्यायें कैसे बनेंगी? इतना अवश्य है कि परमाणुका जो अनुगामी अंश द्रव्यार्थिकनयगम्य होगा, वही अपरिवर्तित रह जावेगा और उसके अपरिवर्तित बने रहने पर भी जो पर्यायें होती है उनको स्व-परप्रत्यय माना गया है। विस्तरेण अलम्। इस पर आप विचार कीजिये। यही हमारा अन्तिम अनुरोध है।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका १०

जीव तथा पुद्गलका एवं द्वयणुक आदि स्कन्धोंका बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं?

प्रतिशंका ३ का समाधान

इस प्रश्नका समाधान करते हुए पिछले दो उत्तरोंमें बतलाया गया था कि परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभावसे जीव और पुद्गलोंका तथा पुद्गल-पुद्गलका जो विशिष्टतर अवगाह होता है उसकी बंध संज्ञा है। यह वास्तविक है या अवास्तविक? इसका निर्णय करते हुए बतलाया गया था कि सत्ता दो प्रकारकी मानी गई है—स्वरूपसत्ता और उपचरित सत्ता। स्वरूपसत्ताकी अपेक्षा प्रत्येक परमाणु या जीव अपने-अपने स्वचतुष्टयमें ही अवस्थित रहते हैं, इसलिए स्वतन्त्र हैं, क्योंकि दो या दोसे अधिक परमाणु या जीव और पुद्गल सर्वथा एक नहीं हुए है। किन्तु बन्ध होने पर उनमें जो एक क्षेत्रावगाहरूप एक पिण्डरूपता प्राप्त होती है वह उपचरितसत् है। अतएव केवली जिन जैसे स्वरूपसत्को जानते है वैसे ही एक पिण्ड व्यवहारको प्राप्त उपचरित सत्को भी जानते हैं, क्योंकि परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभावसे उस उस पर्यायपरिणत एकक्षेत्रावगाहरूप वे केवलीके ज्ञानमें प्रतिभासित होते है।

: १ :

तत्काल प्रतिशंका ३ विचारके लिए प्रस्तुत है। इसमें सर्वप्रथम प्रतिशंका २ में उठाये गये ५ प्रश्नोंको पुनः निबद्ध कर प्रथम प्रश्नका उत्तर देते हुए हमारे द्वारा लिखे गये एक वाक्य पर आपत्ति की गई है। वह वाक्य इस प्रकार है—

'जीवके अज्ञानरूप मोह, राग-द्वेष परिणाम तथा योग द्रव्यकर्मके बन्धके निमित्त हैं और ज्ञानावरणादि कर्मोंका उदय अज्ञानरूप जीवभावोंके होनेमें निमित्त है।'

सो यद्यपि यह वाक्य शास्त्रविरुद्ध तो नहीं है, परन्तु अपर पक्षने 'ज्ञानावरणादि कर्मोका उदय अज्ञानरूप जीवभावोंके होनेमें निमित्त है।' इस वाक्यको पढ़कर इसपर अत्यधिक आश्चर्य प्रगट करते हुए लिखा है—'लेकिन ज्ञानावरणादि कर्मोंका उदय अज्ञानरूप जीवभावोंके होनेमें निमित्त है यह वाक्य-

प्रत्युत्तरमें देखकर तो आश्चर्यका ठिकाना ही नहीं रह सकता है। कारण कि जितने अंशमें ज्ञानावरण कर्मका उदय जीवमें विद्यमान रहता है उससे तो ज्ञानका अभावरूप अज्ञान ही होता है जिसे द्रव्यकर्मके बन्धका कारण न तो आगममें माना गया है और न आपने ही माना है। आपके द्वितीय वक्तव्यमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'अज्ञानरूप मोह, राग, द्वेष परिणाम तथा योग द्रव्यकर्मके बन्धके निमित्त हैं।'

यह हमारे पूर्वोक्त वाक्यके सन्दर्भमें अपर पक्षका वक्तव्य है। प्रसन्नता है कि इसमें अपर पक्षद्वारा उस वाक्यांशको सदोष बतलानेका उपक्रम नहीं किया गया जिस द्वारा संसारी जीवके अज्ञानरूप रागादि-भावों और योगको निमित्तकर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मके बन्धका विधान किया गया है। अपर पक्षको उक्त उद्धृत वाक्यका उत्तरार्द्ध सदोष प्रतीत हुआ है। किन्तु उसने यदि सावधानीसे उक्त वाक्यांश पर विचार किया होता तो हमें विश्वास है कि वह इस अप्रासंगिक चर्चासे इस प्रतिशंकाके कलेवरको पुष्ट करनेका प्रयत्न नहीं करता। कारण कि उक्त वाक्यके पूर्वार्ध द्वारा जहाँ ज्ञानावरणादि कर्मबन्धके निमित्तकारणोंका निर्देश किया गया है वहाँ उसके उत्तरार्ध द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयको निमित्त कर होने-वाले जीवके अज्ञान, अदर्शन, अचारित्र और अदानशीलता आदि अज्ञानरूप भावोंका निर्देश किया गया है। ये भाव जीवके चैतन्य स्वभावको स्पर्श नहीं करते, इसलिए इन सबको अज्ञानरूप कहा गया है। मालूम नहीं कि अपर पक्षने उक्त वाक्यमें आये हुए 'अज्ञानरूप जीवभावों' इतने कथनको देखकर उनसे अज्ञानरूप राग, द्वेष, मोह तथा योगका परिग्रह कैसे कर लिया। यदि रागादि भाव अज्ञानरूप माने जा सकते हैं तो अज्ञान, अदर्शन आदि भावोंको अज्ञानरूप माननेमें आपत्ति ही क्या है। जो राग-द्वेषादि भाव ज्ञानावरणादि कर्मके हेतु हैं उनका नामोल्लेखपूर्वक निर्देश जब अनन्तर पूर्व ही किया है ऐसी अवस्थामें अज्ञानरूप जीवभावोंसे अज्ञान, अदर्शन आदि औदयिक भाव लिये गये हैं यह अपने आप फलित हो जाता है। अतएव अपर पक्षने जो इस प्रकारकी आपत्ति उठाई है वह ठीक नहीं है, इतना संकेत करनेके बाद हम उनके उस निष्कर्ष पर सर्व प्रथम विचार करेंगे जो उस पक्षने इस आपत्तिके प्रसंगसे फलित किया है। वह निष्कर्ष इस प्रकार है—

'वास्तविक बात तो यह मालूम देती है कि मोक्षमार्गमें सिर्फ वस्तुस्वरूपके ज्ञानको ही महत्त्व दिया जा रहा है और चारित्रके विषयमें तो यह ख्याल है कि वह तो अपने नियतिके अनुसार समय आने पर ही हो जायगा, उसके लिए पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। बस! एक यही कारण मालूम देता है कि बन्धके कारणोंमें ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानके अभावरूप अज्ञानभावको कारण मानना आवश्यक समझा गया है और यह वाक्य लिखा गया है कि 'ज्ञानावरणादि कर्मोंका उदय अज्ञानरूप जीवभावोंके होनेमें निमित्त है।' आदि।

सो इसका उत्तर यह है कि जब किसीके मनमें दूसरोंके प्रति विपरीत धारणा बन जाती है तो वह किसी भी कथनसे उल्टा-सीधा कुछ भी अर्थ फलित कर स्वयं भ्रममें पड़ता है और दूसरेके लिए भी भ्रमका मार्ग प्रशस्त करता है। हमें तो प्रकृतमें अपर पक्षका ऐसा ही आचरण प्रतीत होता है, क्योंकि अपर पक्षने जिस बातको आपत्ति योग्य माना है उसमें तो केवल इतना ही बतलाया गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंका उदय किन भावोंके होनेमें निमित्त है। वे भाव कर्मबन्धके हेतु हैं यह बात उसमें जब कही ही नहीं गई ऐसी अवस्थामें हमने ज्ञानावरण कर्मके उदयमें होनेवाले अज्ञान भावको कर्मबन्धका हेतु बतलाया, यह बात अपर पक्षने कैसे फलित कर ली, आश्चर्य है। हमारे वाक्यमें ज्ञानावरणके साथ 'आदि' शब्द जुड़ा है।

साथ ही 'अज्ञानरूप जीवभावों' इस प्रकार बहुवचन पदका निर्देश है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्षने उसका अर्थ 'ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानके अभावरूप अज्ञानभाव' कैसे किया, इसका वही शांत चित्तसे विचार करे। अतएव उस वाक्य परसे यह फलित करना कि 'मोक्षमार्गमें सिर्फ वस्तुस्वरूपके ज्ञानको ही महत्त्व दिया जा रहा है और चारित्रके विषयमें तो यह ख्याल है कि वह तो अपने आप निमित्तिके अनुसार समय आनेपर ही हो जायगा, उसके लिए पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है।' कथन मात्र है, क्योंकि हमारा कहना तो यह है कि जो मुमुक्षु आत्मसिद्धिके लिए प्रयत्नशील हैं उनके लिए तत्त्वज्ञान पूर्वक हेय-उपादेयका विवेक और उसके साथ अन्तरङ्ग कषायका शमन करते हुए यथा पदवी चारित्रको स्वीकार कर उसे जीवनका अंग बनाना उतना ही आवश्यक है जितना कि चिरकालसे विपरीतदृष्टि पंगु पुरुषके लिए स्वयं इष्ट स्थान पर पहुँचनेके हेतु मार्गदर्शक आँखोंका निर्मल होना और उसके साथ यथाशक्ति पंगुपनेको दूर करते हुए यथासामर्थ्य मार्गका अनुसरण करना आवश्यक है।

हमें इस बातकी तो प्रसन्नता है कि अपर पक्षने प्रकृतमें इस तथ्यको तो स्वीकार कर लिया है कि हमारी ओरसे जो प्ररूपणा की जाती है वह वस्तुस्वरूपका ज्ञान करानेके अभिप्रायसे ही की जाती है। उसमें किसी प्रकारकी विपरीतता नहीं है। तभी तो उसकी ओरसे यह वाक्य लिखा गया है कि 'मोक्षमार्गमें सिर्फ वस्तुस्वरूपके ज्ञानको ही महत्त्व दिया जारहा है।' अन्यथा उस पक्षकी शंका चारित्रके विषयमें न उठाई जाकर सम्यक् ज्ञानके विषयमें उठाई जानी चाहिए थी। परन्तु वस्तुस्थिति ही दूसरी है। वास्तवमें तो वर्तमानमें चारित्रका अर्थ बाह्य क्रिया बतलाकर बाह्य क्रियाकाण्डमें ही जनताको उलझाये रखनेके अभिप्रायसे हमें लांछित किया जा रहा है। इसलिए अपर पक्षकी यह प्रवृत्ति अवश्य ही टीकास्पद है, ऐसा हमारा स्पष्ट मत है।

तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ पृ० १७ में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

पूर्वा पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्।

इन सम्यग्दर्शनादि तीनोंमें से पूर्व अर्थात् सम्यग्दर्शन और तत्सहचर सम्यग्ज्ञानका लाभ होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है।

इससे विदित होता है कि सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और इन दोनोंके होनेपर जो आत्मस्थितिरूप चारित्र होता है वही सम्यक्चारित्र है। ये तीनों आत्माकी स्वभावपर्यायें हैं, अथवा इन तीनमय स्वयं आत्मा है। क्या अपर पक्ष यह बतला सकता है कि ऐसे सम्यक्चारित्रधर्मका और उसके साथ होनेवाली तदनुकूल बाह्य प्रवृत्तिका हममें से किसीने कभी और कहीं निषेध किया है क्या? निषेध करनेकी बात तो दूर रहो, आत्माके निज वैभवको प्रकाशित करनेवाले अध्यात्मका जहाँ भी उपदेश दिया जाता है वहाँ यही कहा जाता है कि जो केवल 'मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, नित्य हूँ' ऐसे विकल्पमें मग्न होकर तत्स्वरूप आत्माको नहीं अनुभवता वह तो आत्मासे दूर है ही, साथ ही जो विकल्प और शरीरके आधीन क्रियाधर्मके अवलम्बन द्वारा मोक्षमार्गकी प्राप्ति मानता है वह आत्मासे और भी दूर है। अतएव बाह्य क्रियाधर्ममें आत्म-हित है इस व्यामोहको छोड़कर प्रत्येक भव्य जीवको आत्मप्राप्तिके मार्गमें लगना चाहिए। यह हम मानते हैं कि आत्मप्राप्तिके मार्गमें लगे अन्य जीवका क्रियाधर्म सर्वथा छूट नहीं जाता, क्योंकि सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके

बाद भी रागसे अनुरंजित उपयोगके कालमें क्रियाधर्म तो होता ही है, उसका निषेध नहीं। बात केवल इतनी है कि ज्ञानी पुरुष उसे केवल अपना स्वभाव न मानकर उसरूप प्रवृत्ति करता हुआ भी निर्विकल्प समाधिको ही हितकारी मानता है जो कि सम्यक्चारित्रस्वरूप है। पं० प्रवर आशाधरजीने सागारधर्मामृतका प्रारम्भ करते हुए 'तद्धर्मरागिणाम्' पद देकर यह प्रसिद्ध किया है कि अन्तरङ्गमें जिनके मुनिधर्म (आत्मधर्म) में गाढ़ प्रीति उत्पन्न हुई है उसीका गार्हस्थ्यजीवन सफल है। सविकल्प दशामें यथापदवी व्यवहारधर्म जहाँ उस उस कालमें प्रयोजनीय माना गया है वहाँ उसके होते हुए भी आत्मकार्यमें सावधान रहना जीवन माना गया है।

यह आध्यात्मिक उपदेशकी पद्धति है। इसी पद्धतिका अनुसरण कर अनादिकालसे 'सर्वत्र अध्यात्मके उपदेश दिये जानेकी परिपाटी है। ऐसी अवस्थामें प्रतिशंका ३ में प्रकृत विषयको लक्ष्यमें रखकर जो भाव व्यक्त किया गया है उसे मात्र कल्पनाके कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

नियति किसी एक कार्यके लिए आगममें स्वीकार की गई हो और दूसरेके लिए स्वीकार न की गई हो ऐसा नहीं है। साथ ही कोई एक कार्य पुरुषार्थपूर्वक होता हो और दूसरा बिना पुरुषार्थके हो जाता हो ऐसा भी नहीं है। इनका गौण मुख्यपना विवक्षामें हो सकता है, कार्यमें नहीं। इसी प्रकार जो भी कार्य होता है उसका कोई निमित्त न हो यह भी नहीं है। एकान्तके प्रति आग्रहवान् व्यक्ति ही ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि अमुक कार्य मात्र पुरुषार्थसे होता है, अमुक कार्य मात्र नियतिके अनुसार अपने आप हो जाता है और अमुक कार्य मात्र निमित्तके बलसे होता है। जिन्होंने अपने जीवनमें अनेकान्तस्वरूप आत्मधर्मका रसास्वाद लिया है वे त्रिकालमें ऐसी मिथ्या कल्पना नहीं कर सकते। कार्यमें पुरुषार्थ, नियति, निमित्त आदि सबका समवाय है ऐसा निश्चय जिनके चित्तमें है वे ही मोक्षमार्गके पथिक बननेके अधिकारी हैं। अतएव जैसे आत्मविवेकको जागृत करनेके लिए परम पुरुषार्थकी आवश्यकता है उसी प्रकार आत्मस्थितिरूप चारित्रको संपादित करनेके लिए भी निरलसभावसे आत्मपुरुषार्थी होना भी आवश्यक है। सब आत्मकार्योंके सम्पादनमें पुरुषार्थ प्रथम कर्त्तव्य है। अतएव चर्चनीय विषयोंमेंसे प्रथम चर्चनीय विषयका उत्तर देते हुए हमने जो यह लिखा है कि 'ज्ञानावरणादि कर्मोंका उदय अज्ञानरूप जीवभावोंके होनेमें निमित्त है।' सो उक्त वाक्यको सदोष बतलाते हुए उसपरसे अन्यथा कल्पना करना श्रेयस्कर नहीं है।

हम प्रथम प्रश्नके उत्तरमें यह लिख आये हैं कि 'जैसा कि भावलिंगके होनेपर द्रव्यलिंग होता है, इस नियमसे भी सिद्ध होता है।' आदि, सो इस वाक्यके ऊपरसे भी अपर पक्षने अपने मनगढ़न्त विचार बना लिये हैं। उसने यदि इस वाक्यके आगे लिखे गये पूरे कथनपर ध्यान दिया होता और उसके सन्दर्भमें इस वाक्यको पढ़ता तो आशा थी कि वह अपनी कल्पित कल्पनाओंसे प्रतिशंकाके कलेवरको नहीं सजाता। क्या यह सच नहीं है कि भावलिंगके अभावमें नग्नता आदि रूपसे धारण किया गया द्रव्यलिंग मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें अणुमात्र भी साधक नहीं है? और क्या यह सच नहीं है कि ऐसे भावशून्य द्रव्यलिंगको धारणकर जो महानुभाव तलवारकी धारपर चलनेके समान विविध प्रकारका कायक्लेश करते हैं उनका वह कायक्लेश मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें अणुमात्र भी साधक नहीं है। द्रव्यलिंग सत्यार्थपनेको तभी प्राप्त हो सकता है जब वह भावलिंगका अनुवर्ती बनता है। इसी तथ्यको हमने प्रथम शंकाके उत्तरमें 'भावलिंगके होनेपर द्रव्यलिंग होता है।' इत्यादि वाक्यों द्वारा व्यक्त किया था। हमारे द्वारा व्यक्त किये गये वे भावपूर्ण वचन इस प्रकार है—

'जैसा कि भावलिंगके होनेपर द्रव्यलिंग होता है इस नियमसे भी सिद्ध होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंगके प्राप्त होनेके पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है, पर उस द्वारा भावलिंगकी प्राप्ति

द्रव्यलिंगको स्वीकार करते समय ही हो जाती हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादानके अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है।'

अपर पक्ष तत्त्वज्ञानको चाहे जितना गौण करनेका प्रयत्न करके बाह्य क्रियाकांडका चाहे जितना समर्थन क्यों न करे और अपने इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए समयसारके टीका वचनोंको उनके यथार्थ अभिप्रायकी ओर ध्यान न देकर भले ही उद्धृत करे, परन्तु इतने मात्रसे मोक्षमार्गमें केवल क्रियाकांडको महत्त्व नहीं मिल सकता, क्योंकि समयसारकी उक्त गाथा ७२ की आत्मख्याति टीकामें जो 'अज्ञान' और 'आस्रव' पदोंका प्रयोग हुआ है वह राग-द्वेषादि भावोंके अर्थमें ही हुआ है, बाह्य क्रियाकांडके अर्थमें नहीं। चारित्रका लक्षण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें लिखते हैं—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

चारित्र वास्तवमें धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है और साम्य मोह तथा क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम है ॥७॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने और भी भावपूर्ण शब्दों द्वारा चारित्रकी व्याख्या की है। वे लिखते हैं—

स्वरूपे चरणं चारित्रम्। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः।

चारित्र क्या है इसकी सर्वप्रथम व्याख्या आचार्यवर्यने की—'स्वरूपे चरणं चारित्रम्'—स्वरूपमें रमना चारित्र है। स्वरूपमें रमना किस वस्तुका नाम है इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—'स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः'—जो रागद्वेषादि विभावभावों और समस्त परभावोंसे रहित ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व है उसमें तन्मय हो प्रवर्तना स्वसमयप्रवृत्ति है। ऐसा करनेसे क्या होगा इसका उत्तर देते हुए वे पुनः लिखते हैं—'तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः'—स्वसमयप्रवृत्तिसे जो स्वरूपलाभ होता है वही वस्तुका स्वभाव होनेके कारण धर्म है। कोई कहे कि ऐसे धर्मकी प्राप्ति होने पर भी आत्माको क्या लब्ध हुआ तो आचार्य उत्तर देते हैं—'शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः'—इस तरह जो धर्मकी प्राप्ति होती है वही तो शुद्ध चैतन्यका प्रकाशन है। वास्तवमें देखा जाय तो यही आत्माका सच्चा लाभ है।

क्या अपर पक्ष यह बतला सकता है कि ऐसे स्वरूपरमणतारूप चारित्रकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानके बिना कभी हो सकती है। यदि कहो कि तत्त्वज्ञानके अभ्यास बिना स्वरूपरमणतारूप उक्त प्रकारके चारित्रकी प्राप्ति होना त्रिकालमें संभव नहीं है तो फिर हमारा निवेदन है कि तत्त्वज्ञानका उपहास करना छोड़कर आईए, हम आपका स्वागत करते हैं। हम और आप मिलकर ऐसा मार्ग बनाएं जो तत्त्वज्ञानपूर्वक चारित्रकी प्राप्तिमें सहायक बने। अस्तु,

: २ :

द्वितीय चर्चनीय विषयका स्पष्टीकरण करते हुए हमने परमागममें 'बन्ध' पदका क्या अर्थ स्वीकृत है इसका स्पष्टीकरण किया था। इसपर आपत्ति करते हुए अपर पक्षका कहना है कि 'परन्तु जब यह कहा जाता है कि उस विशिष्टतर परस्पर अवगाहमें ही 'बन्ध'का व्यवहार किया जाता है और यह भी कहा जाता है कि वह निमित्त-नैमित्तिकभावके आधार पर ही होता है, फिर तो आपकी दृष्टिसे यह कल्पनारोपित ही

होगा, क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्यकारणभाव तथा व्यवहार इन दोनोंको आप उपचरित, कल्पनारोपित और असद्भूत ही स्वीकार करते हैं। ऐसी हालतमें ६ द्रव्योंके परस्पर संस्पर्श और विशिष्टतर परस्पर अवगाह इन दोनोंमें अन्तर ही क्या रह जायगा ? यह आप ही जानें।'

सो इस आपत्तिका समाधान यह है कि अपर पक्षने '६ द्रव्योंके परस्पर संस्पर्श और विशिष्टतर परस्पर अवगाह इन दोनोंमें अन्तर ही क्या रह जायगा।' हमसे ऐसा प्रश्न करके संभवतः इस वातको तो स्वीकार कर लिया है कि छह द्रव्योंका परस्पर संस्पर्श उपचरित, कल्पनारोपित और असद्भूत ही है। केवल वह पक्ष विशिष्टतर परस्पर अवगाहको उपचरित सत् स्वीकार करनेसे हिचकिचाता है। उसके हिचकिचानेका कारण यह मालूम देता है कि वह समझता है कि यदि ऐसे अवगाह (वन्ध) को उपचरित मान लिया जायगा तो निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धकी व्यवस्था: गड़वड़ा जायगी। किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। देखिए, लोकमें घीका घड़ा ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु ऐसा व्यवहार होनेमात्रसे घड़ा घीका नहीं हो जाता। मात्र अन्य घड़ोंसे विवक्षित घड़ेका पृथक् ज्ञान करानेके अभिप्रायसे ही मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहा जाता है। इसीका नाम लोकव्यवहार है। उसी प्रकार जिस द्रव्यकी विवक्षित पर्यायमें निमित्त व्यवहार किया गया है वह विवक्षित कार्यको उत्पन्न करता हो ऐसा नहीं है, किन्तु उसके सद्भावमें उपादानने अपना जो कार्य किया है उसकी सिद्धि या ज्ञान उस द्वारा होता है ऐसी बाह्य व्याप्ति देखकर ही उसे विवक्षित अन्य द्रव्यकी पर्यायका निमित्त यह संज्ञा प्राप्त होती है और उसके सद्भावमें हुआ कार्य नैमित्तिक कहा जाता है, इसलिए निमित्तनैमित्तिक व्यवहारको उपचरित या असद्भूत मानकर कार्यकारणपरम्पराके रूपमें उसे स्वीकार कर लेनेपर भी लोकमें और आगममें किसी प्रकारकी वाधा उपस्थित नहीं होती। यदि अपर पक्षके मतानुसार निमित्त व्यवहारयोग्य बाह्य सामग्रीको कार्यका जनक यथार्थ रूपमें स्वीकार किया गया होता तो आगममें उसे व्यवहार हेतु न लिखकर यथार्थ हेतु लिखा गया होता, किन्तु आगम उसकी सर्वत्र व्यवहार हेतुरूपसे ही घोषणा करता है, ऐसी अवस्थामें अन्य द्रव्यकी पर्यायमें निश्चयका ज्ञान करानेके अभिप्रायसे किये गये निमित्त व्यवहारको उपचरित मानना ही समीचीन है। आगममें दस प्रकारके सत्योंका निरूपण करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्डमें लिखा है—

जणवद सम्मदि ठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे।
संभावणे य भावे उवमाए दसविहे सच्चे ॥२२२॥

जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य,, सम्भावनासत्य, भावसत्य और उपमासत्य इस प्रकार सत्य १० प्रकारका है ॥२२२॥

अपर पक्ष यह भलीभाँति जानता है कि जिसका जिनचन्द्र या कोई दूसरा नाम रखा जाता है उसमें उस नाम शब्दसे व्यक्त होनेवाले अर्थकी प्रधानता नहीं होती, फिर भी उससे उसी व्यक्तिका ज्ञान होता है; इसलिये नामकी सत्यमें परिगणना की गई है। एक स्थापनासत्य भी है। जिसमें अरिहंतपरमेष्ठीकी स्थापना की जाती है उसमें अनन्त ज्ञानादि गुण नहीं पाये जाते, फिर भी बुद्धिमें उसके आलम्बनसे इष्टार्थकी सिद्धि होती है, इसलिये स्थापनाकी सत्यमें परिगणना की गई है। इसी प्रकार इन सत्योंमें और भी कई ऐसे सत्य हैं जिन्हें नैगमादि नयोंकी अपेक्षा स्वीकार किया गया है। अतएव दो द्रव्योंके मध्य विवक्षित पर्यायोंकी अपेक्षा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको उपचरित स्वीकार कर लेने मात्रसे लोकव्यवहारमें किसी प्रकारकी वाधा उपस्थित होती है ऐसा तो नहीं है। हाँ, छह द्रव्योंके परस्पर संस्पर्श तथा विशिष्टतर परस्पर अवगाह इन दोनोंको जो पृथक्-

पृथक् किया गया है उसके स्वीकार करनेमें हेतुभेद अवश्य है—जहाँ प्रथममें आकाशक्षेत्रकी अपेक्षा एक क्षेत्रमें छहों द्रव्योंकी अवस्थिति बतलाना मात्र मुख्य प्रयोजन है वहाँ दूसरेमें निमित्तनैमित्तिकताका ज्ञान कराना मुख्य प्रयोजन है। उसमें सर्वप्रथम जीव और कर्मके परस्पर विशिष्टतर अवगाहको जो बन्ध (उभयबन्ध) कहा है वह किस अपेक्षासे कहा गया है इसपर दृष्टिपात कर लेना चाहते हैं। प्रवचनसार गाथा १७४ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

एकावगाहभावावस्थितकर्म-पुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसम्बन्धः कर्मपुद्गलबन्ध-व्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ॥ १७४ ॥

तथापि एकावगाहरूपसे रहनेवाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त हैं ऐसे उपयोगाधिरूढ़ राग-द्वेषादि भावोंके साथका सम्बन्ध कर्मपुद्गलोंके साथके बन्धरूप व्यवहारका साधक अवश्य है ॥१७४॥

यहाँ जीव और कर्मके एक क्षेत्रावगाहरूप विशिष्टतर अवगाहको स्पष्ट शब्दोंमें बन्धव्यवहार कहा गया है यह तो स्पष्ट ही है। अब इस व्यवहारको आगममें किस रूपमें स्वीकार किया गया है इसके लिए वृहद्द्रव्य-संग्रह गाथा १६ की टीकापर दृष्टिपात कीजिये—

कर्मबन्धपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबन्धः।

कर्मबन्धसे पृथग्भूत निज शुद्धात्म भावनासे रहित जीवके अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यबन्ध है।

इस प्रकार जीव और कर्मका जो बन्ध कहा जाता है वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे ही कहा जाता है यह उक्त आगम प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है।

अब पुद्गल-पुद्गलका जो एकत्वपरिणामलक्षण बन्ध कहा है इसका क्या तात्पर्य है इसपर विचार करते हैं। धवला पु० १३ पृ० १२ में एकत्वका अर्थ करते हुए लिखा है—

पोग्गलदव्वभावेण परमाणुपोग्गलस्स सेसपोग्गलेहि सह एयत्तुवलंभादो।

पुद्गल द्रव्यरूपसे परमाणु पुद्गलका शेष पुद्गलोंके साथ एकत्व पाया जाता है।

इससे मालूम पड़ता है कि बन्धप्रकरणमें जो दो पुद्गल द्रव्योंका एकत्वपरिणाम कहा है उसका आशय ही इतना है कि दोनों पुद्गल अपने स्वरूपको न छोड़ते हुए यथासम्भव सदृश परिणामरूपसे परिणम जाते हैं। वे अपने स्वरूपको नहीं ही छोड़ते है इसका स्पष्टीकरण वहीं पृ० २४ में इन शब्दोंमें किया है—

तदो सरूवापरिच्चाएण सव्वप्पणा परमाणुस्स परमाणुम्मि पवेसो सव्वफासो....।

इसलिए अपने-अपने स्वरूपको छोड़े विना परमाणुका परमाणुमें सर्वात्मना प्रवेश सर्वस्पर्श कहलाता है।

इससे यह ज्ञात होता है कि स्कन्ध अवस्थामें रहते हुए भी कोई भी परमाणु अपने-अपने स्वचतुष्टयका त्याग नहीं करते। जैसे प्रत्येक परमाणु अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, भावरूपसे अवस्थित रहते हैं वैसे ही प्रत्येक समयमें होनेवाली अपनी-अपनी पर्यायरूपसे भी वे अवस्थित रहते हैं।

अब हमें इस बातका विचार करना है कि स्कन्ध अवस्थामें भी यदि प्रत्येक परमाणु अपनी-अपनी पर्यायरूपसे परिणत होता रहता है तो स्कन्ध व्यवस्था कैसे बनती है ? समाधान यह है कि शब्दनय और एवंभूतनयके विषयभूत भावबन्धपूर्वक हुए द्रव्यबन्धकी अपेक्षा नैगम, संग्रह, व्यवहार और स्थूल ऋजुसूत्रनयसे

यह व्यवस्था बन जाती है। इसका विशद विचार धवला पु० १४ में किया है। वहाँ पृ० २७ में बन्धमें कौनसा सम्बन्ध विवक्षित है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

को एत्थ संबंधो घेप्पदे संजोगलक्खणो समवायलक्खणो वा ? तत्थ संजोगो दुविहो—देसपच्चासत्तिकओ गुणपच्चासत्तिकओ चेदि। तत्थ देसपच्चासत्तिकओ णाम दोण्णं दव्वाणमवयवफासं काऊण जमच्छणं सो देसपच्चासत्तिकओ संजोगो। गुणेहि जमण्णोण्णाणुहरणं सो गुणपच्चासत्तिकओ संजोगो। समवायसंजोगो सुगमो।

शंका—यहाँ कौन-सा सम्बन्ध लिया गया है ?

समाधान—वहाँ संयोग दो प्रकारका है—देशप्रत्यासत्तिकृत और गुणप्रत्यासत्तिकृत। दो द्रव्योंके अवयवोंका स्पर्श करके रहना यह देशप्रत्यासत्तिकृत सम्बन्ध है तथा गुणोंके द्वारा जो एक-दूसरेका अनुसरण करना यह गुणप्रत्यासत्तिकृत सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध सुगम है।

इससे स्पष्ट है कि स्कन्ध अवस्थामें वे दोनों पुद्गल सर्वथा एक नहीं हो जाते, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र काल और भावरूपसे वे अपनी-अपनी सत्ता रखते हुए भी क्षेत्रप्रत्यासत्ति और गुणप्रत्यासत्तिको प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए स्कन्धव्यवस्था बन जाती है।

अतः स्वरूपसत्ता सबकी भिन्न-भिन्न है। फिर भी उनका देशकृत और भावकृत ऐसा परिणाम होता है जिससे उनमें बन्धव्यवहार होने लगता है। यही पुद्गलबन्ध कहलाता है। बन्धके स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश ये भेद इसी आधारपर आगममें स्वीकार किये गये हैं। यही कारण है कि पंचास्तिकाय गाथा ७६ में यथार्थमें परमाणुको ही पुद्गल कहा गया है तथा सब प्रकारके स्कन्धोंको पुद्गल कहना इसे व्यवहार बतलाया गया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४०६ में स्कन्धको जो परमार्थसत् कहा है वह देशप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्तिको ध्यानमें रखकर ही कहा है। पुद्गलोंकी देशप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्तिका होना इसका नाम ही एकत्वपरिणाम है। इसके सिवा एकत्वपरिणामको अन्य कुछ मानना दो द्रव्योंकी सत्ताका अपलाप करना है।

इस परसे अपर पक्ष स्वयं निर्णय कर ले कि दो द्रव्योंमें किया जानेवाला बन्धव्यवहार साधार है या कल्पनारोपित। वस्तुतः उस पक्षने उपचारकथनको आकाशकुसुमके समान कल्पनारोपित मान लिया यही धारणा उस पक्षको बदलनी है। ऐसा होनेसे कहाँ कौन कथन किस रूपमें किया गया है इसके स्पष्ट होनेमें देरी न लगेगी।

: ३ :

प्रथम उत्तरमें हमने 'व्यवहारनयका आश्रय कर.....' इत्यादि वचन लिखा था। इस पर प्रतिशंका २ में यह पृच्छा की गई थी कि 'व्यवहारनयका आश्रय लेकर बन्ध होता है इसमें व्यवहारनय और उसकी बन्ध होनेमें आश्रयताका क्या आशय है ?' इसका खुलासा करते हुए हमने पिछले उत्तरमें लिखा था कि 'व्यवहारनयका आश्रय लेकर इसका अर्थ व्यवहार नयकी अपेक्षा इतना ही है।' इसीको अपर पक्ष 'व्यवहारनयका आश्रय कर' इस पदका हटाना और 'व्यवहार नयकी अपेक्षासे' इस पदको जोड़ना लिख रहा है। अन्य कोई नई बात इस प्रश्नमें नहीं कही गई है। जो कुछ दुहराया गया है उसका उत्तर द्वितीय प्रश्नके समाधानके प्रसंगसे अनन्तर पूर्व ही लिख आये हैं।

आगममें व्यवहारनयके आश्रयसे—व्यवहाराश्रयाच्च (नयचक्रादिसं० पृ० ७९) तथा 'व्यवहारनयकी अपेक्षा' ववहारादो (नयचक्रादिसंग्र० पृ० ७८) इस तरह दोनों प्रकारके प्रयोग मिलते हैं। अतः किसी प्रकारसे भी लिखा जाय इसमें बाधा नहीं है। उससे प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि प्रथम उत्तरमें लिखे गये वाक्य पर अपर पक्ष द्वारा शंका उपस्थित करने पर अपने दूसरे उत्तरमें हमने उसका स्पष्टीकरण मात्र किया था।

: ४ :

चौथे प्रश्नका समाधान यह है कि 'द्व्यधिकादिगुणानां तु' (त० सू० ५, ३६) सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक परमाणु विभावरूप होता हुआ देशप्रत्यासत्तिपनेको प्राप्त हो जाता है। इसीका नाम बन्ध है। जिनागममें दो या दोसे अधिक परमाणुओंका ऐसा ही बन्ध स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जिनागमसे बन्धकी व्यवस्था बन जाती है। हमारा कहना भी यही है। यदि अपर पक्षको हमारे कथनमें और जिनागमके कथनमें कहीं अन्तर प्रतीत होता था तो उसका निर्देश करना था। क्या जिनागममें बन्धको असद्भूत व्यवहारनयका विषय नहीं लिखा है और क्या जिनागममें असद्भूत व्यवहार और उपचारको एकार्थक नहीं लिखा है? जब कि ये दोनों बातें जिनागममें लिखी हैं तो अपर पक्ष इन्हें इसी रूपमें स्वीकार करनेमें क्यों आनाकानी करता है? यदि उस पक्षको जिनागममें जो जिस रूपमें लिखा है वह उसी रूपमें स्वीकार है तो हम उससे आग्रहपूर्वक निवेदन करते हैं कि उस पक्षको 'उपचार' पदका अर्थ कल्पनारोपित लिखना छोड़ देना चाहिए।

: ५ :

पाँचवें प्रश्नका समाधान यह है कि वर्तमान जिनागममें निश्चयनय और व्यवहारनयकी प्ररूपणा जिस रूपमें की गई है वह जिनवाणी ही तो है। यह जिनदेवने ही तो कहा है कि निश्चयको भूतार्थ कहते हैं और व्यवहारको अभूतार्थ कहते हैं। भूतार्थका आश्रय करनेवाले मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं। अतः वे इस कथनके प्रतिपाद्यरूप अर्थको नियमसे जानते हैं। वास्तविक बात यह है कि यदि अपर पक्ष उपचारको कल्पनारोपित कहना छोड़ दे तो केवलज्ञानमें ये सब विषय किस प्रकार प्रतिभासित होते हैं यह आसानीसे समझमें आ जाय, क्योंकि उनके ज्ञानमें जैसे यह भासता है कि घटके निश्चय षट्कारकधर्म मिट्टीमें ही हैं उसी प्रकार यह भी भासता है कि जब जब मिट्टी घट रूपसे परिणमती है तब तब कुम्भकारादिकी अमुक प्रकारकी क्रिया नियमसे होती है। वे यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि निश्चय षट्कारक धर्म जिसके उसीमें होते हैं, दूसरे द्रव्यमें नहीं होते। किसका किसके साथ अन्वय-व्यतिरेक है इसे हम अल्पज्ञानी तो जान लें और केवलज्ञानी न जान सकें यह कैसे हो सकता है। आकाशकुसुम नहीं है, इसलिए वह उनके ज्ञानका विषय नहीं, पर यदि कोई आकाशकुसुमका विकल्प करता है तो उसे वे अवश्य जानते हैं। अपर पक्ष पिण्डको सत्ताहीन कहता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओंकी देशकृत और भावकृत जो प्रत्यासत्ति होती है उसीको जिनागममें संघात या स्कन्ध आदि नामोंसे पुकारा गया है। ऐसी प्रत्यासत्तिका निषेध नहीं। निषेध है उन परमाणुओंकी स्वरूप सत्ताके छोड़नेका। अतः इस रूपमें केवलीको स्कन्धका ज्ञान नियमसे होता है इसमें बाधा नहीं। देशकृत और भावकृत प्रत्यासत्तिरूपसे गधेके सींग नहीं होते, न हों पर गाय-भैंस आदिके तो होते हैं। इसी प्रकार देश-भावकृत प्रत्यासत्तिरूपसे आकाशकुसुम नहीं होता, न हो पर वृक्षोंमें, लताओंमें और गुल्मोंमें तो होते हैं। जहाँ जिस रूपमें जो होता है वहाँ उस रूपमें कालविशेषणसे

विशिष्ट उसे वे अवश्य जानते हैं। यह केवलज्ञानकी महिमा है। इसी महिमाका निर्देश धवला वर्गणाखण्ड प्रकृति अनुयोगद्वारके 'सइं भयवं' इत्यादि सूत्रमें किया गया है।

अपर पक्षने आगम प्रतिपादित वस्तुव्यवस्थाके विचारके प्रसंगसे प्रवचनसार गाथा ८७ देनेके बाद 'अत्थो खलु दव्वमओ' गाथा और उसकी आचार्य अमृतचक्कृत टीका उपस्थित की है।

अपर पक्षने इस टीकाका जस रूपमें अर्थ किया है उसमें हम नहीं जावेंगे। यहाँ तो मात्र टीकाके आधारसे विचार करना है।

अपर पक्ष इसके अन्तमें लिखता है कि 'उक्त गाथाकी यह टीका जीव तथा पुद्गलकी बन्धपर्यायकी एवं द्वचणुकादिरूप स्कन्धकी वास्तविकताका उद्घोष कर रही है।'

यह तो प्रत्येक समझदार अनुभव करेगा कि टीकामें नयविभाग किये विना सामान्यसे निर्देश किया गया है। यहाँ दो या दोसे अधिक पर्यायोंको एक कहा गया है। इससे यदि कोई यह समझे कि उन द्रव्योंकी स्वरूपसत्ताका त्याग होकर यह मनुष्यादिरूप या द्वचणुकादिरूप परिणाम उत्पन्न हुआ है सो यह बात नहीं है। यदि अपर पक्ष उसी प्रवचनसारकी गाथा १५२की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका पर दृष्टिपात कर लेता तो यह वर्णन किस अपेक्षासे किया गया है यह स्पष्ट हो जाता। वहाँ लिखा है—

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वल णभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया सम्भावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः सम्भाव्यत एव। उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः। अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरावभासनात्।

स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे निश्चित एक द्रव्यका स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे ही निश्चित दूसरे द्रव्यमें विशिष्ट (देश-भावप्रत्यासत्ति) रूपसे उत्पन्न होता हुआ अर्थ (भाव) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। वह नियमसे जैसे एक पुद्गलकी दूसरे पुद्गलमें उत्पन्न होती हुई देखी जाती है वैसे ही जीवकी पुद्गलमें संस्थानादि विशिष्टरूपसे उत्पन्न होती हुई अनुभवमें आती ही है। और ऐसी पर्याय नियमसे बन जाती है, क्योंकि जो केवल जीवकी व्यतिरेकमात्र है ऐसी अस्खलित एक द्रव्यपर्यायका अनेक द्रव्योंके संयोगरूपसे भीतर अवभासन होता है।

इससे स्पष्ट है संयोग अवस्थामें भी जीवकी पर्याय जीवमें होती है और पुद्गलकी पर्याय पुद्गलमें होती है। वहाँ संयोग अवस्थामें जो रूप-रसादिरूप परिणाम होता है वह पुद्गलका ही होता है, जीवका नहीं। और इसी प्रकार ज्ञान-दर्शनादिरूप जो परिणाम होता है वह जीवका ही होता है, पुद्गलका नहीं। रूप-रसादिरूप और ज्ञान-दर्शनादिरूप ये दो परिणाम एक कालमें एक साथ होते हुए स्पष्टतया प्रतिभासित होते हैं। ऐसी अवस्थामें बन्धमें अनेक द्रव्योंकी पर्यायको यथार्थमें एक कहना उचित नहीं है। व्यवहारनयसे ही वे एक कही गई हैं। संस्थानादिके विषयमें तथा द्वचणुकादिके विषयमें भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिए।

पंचास्तिकाय गाथा ७४ में जो स्कन्ध आदिका निर्देश किया है सो उसका विचार भी उक्त न्यायसे कर लेना चाहिए। श्लोकवार्तिक पृ० ४३० में निश्चयनय और व्यवहारनय इनकी अपेक्षा क्रमशः अणु और स्कन्ध इन भेदोंको स्वीकार किया गया है, सो इससे भी पूर्वोक्त अर्थका ही समर्थन होता है।

तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ के 'भेद-संघातेभ्य उत्पद्यन्ते' (सू० २६) इस सूत्रमें देश-भावप्रत्यासत्तिरूप परिणामको 'संघात' और इसके भंग होनेको 'भेद' कहा गया है। अष्टसहस्री पृ० २२३ द्वारा भी यही भाव

व्यक्त किया गया है। जब अनन्तानन्त परमाणु देश-भावप्रत्यासत्तिपनेको प्राप्त होते हैं तब उनमें स्कन्ध व्यवहार बन कर धारण आकर्षण आदि क्रियाओंकी भी उत्पत्ति हो जाती है। इससे स्कन्ध क्या वस्तु है यह भी स्पष्ट हो जाता है और परमाणुओंकी स्वरूपसत्ता भी बनी रहती है। अपर पक्ष स्कन्ध या बन्ध वास्तविक है यह तो लिखता है पर उनका स्वरूप क्या है यह स्पष्ट नहीं करना चाहता।

सर्वार्थसिद्धि २-७ का वचन व्यवहारनयका वक्तव्य है। उसमें किस रूपमें एकत्व स्वीकार किया गया है इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ४३० के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिये—

जीव-कर्मणोर्बन्धः कथमिति चेत् ? परस्परं प्रदेशानुप्रवेशान्न त्वेकत्वपरिणामात्तयोरेकद्रव्यत्वानुपपत्तेः।

शंका—जीव और पुद्गलका बन्ध कैसे है ?

समाधान—परस्पर प्रदेशोंके अनुप्रवेशसे उनका बन्ध है, एकत्व परिणामसे नहीं, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्य नहीं हैं।

अपर पक्षने यहाँ इन स्कन्ध आदि और मनुष्यादि पर्यायोंकी उत्पत्ति मिश्रणसे बतलाई है। यदि वह मिश्रण शब्दका स्पष्टीकरण कर देता तो वह पक्ष क्या कहना चाहता है यह समझमें आ जाता। अपर पक्षने मूल द्रव्यके स्वकाल और स्वभाव इन दोनोंको अनित्यांश माना है इसका हमें आश्चर्य है। स्वकाल तो व्यतिरेकरूप होनेसे अनित्य होता है इसमें सन्देह नहीं, पर स्वभाव तो अन्वयी होता है, वह अनित्य कैसे होता है यह वही जाने। माना स्वकाल अनित्य होता है पर प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय उसकी उसीमें तो होगी। वह अनित्य है, इसलिए वह स्वरूपचतुष्टयसे बाहर नहीं की जा सकती। जैसे प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप चतुष्टय मुक्त अवस्थामें बना रहता है वैसे वह संयोग अवस्थामें भी बना रहता है। संयोग अवस्थामें विभाव पर्यायका होना और मुक्त अवस्थामें स्वभाव पर्यायका होना यह अन्य बात है। परमाणुओंका स्वरूपास्तित्व बना रहकर भी देश-भावप्रत्यासत्तिविशेषके कारण स्कन्धव्यवहार होता है तथा सूक्ष्मता, स्थूलता, दृश्यता या अदृश्यता बन जाती है। इसीको अपर पक्ष पुद्गलोंमें परिवर्तित स्वरूपास्तित्वको लिये हुए स्कन्धपरिणति कह रहा है।

जैनदर्शन नैयायिक दर्शनके समान संयोगको गुण नहीं मानता इसे अपर पक्षने स्वीकार कर लिया इसकी हमें प्रसन्नता है। किन्तु अपर पक्षने जो संयोगको दो द्रव्योंका बन्धात्मक परिणमन बतलाया सो विवाद तो इसीमें है कि वह क्या है ? अपर पक्ष 'यह तो लिखता है कि वह सत्य है, वास्तविक है। उसे नहीं मानोगे तो यह आपत्ति आवेगी, वह आपत्ति आवेगी आदि, पर वह है क्या ? यह नहीं लिखता। कल्पनारोपित आदि कुछ शब्द चुन रखे हैं, इसलिए घूम-फिर कर उन शब्दोंका प्रयोग कर देना तथा व्यवहारनयके वक्तव्यको उपस्थितकर उसे परमार्थभूत ठहरानेका उपक्रम करना यह कोई वस्तुसिद्धिका प्रकार नहीं है। अस्तु, जैन दर्शनने बन्धको तथा स्कन्ध आदिको किस रूपमें स्वीकार किया है इसका हमने आगम प्रमाणके साथ स्पष्ट निर्देश किया है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष उसे स्वीकार कर इस विवादको समाप्त कर देगा।

❁

प्रथम दौर

: १ :

शंका ११

परिणमनके स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

समाधान १

सब द्रव्योंकी स्वभावपर्यायें स्वप्रत्यय होती है तथा जीव और पुद्गलकी विभावपर्यायें स्व-परप्रत्यय होती हैं। यहाँ स्वप्रत्यय पद द्वारा उसी द्रव्यकी उपादान शक्ति ली गई है और स्व-परप्रत्यय पद द्वारा विवक्षित द्रव्यकी उपादान शक्तिके साथ उस उस पर्यायके कर्ता और करणरूप निमित्तोंका ग्रहण किया गया है। इस दृष्टिसे स्वभावपर्याय और विभावपर्यायके कारणोंका निर्देश करते हुए प्रवचनसार गाथा ९३ की टीकामें कहा भी है—

सोऽपि द्विविधः—स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धि-हानिनानात्वानुभूतिः। विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्व-परप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः।

वह भी दो प्रकार है—स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। उसमें समस्त द्रव्योंकी अपने-अपने अगुरुलघुगुणद्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप अनेकत्वकी अनुभूति स्वभावपर्याय है। तथा रूपादिके या ज्ञानादिके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति विभावपर्याय है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि जिसप्रकार स्वपरप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कालादि द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रय निमित्त होती है उसी प्रकार स्वप्रत्ययपर्यायोंकी उत्पत्तिमें कालादि द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रय निमित्त होती हैं। परन्तु उनकी दोनों स्थलोंपर कथनकी अविवक्षा होनेसे यहाँ उनकी परिगणना नहीं की गई है। यही स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय इन दोनोंमें भेद है।

❁

द्वितीय दौर

२

शंका ११

प्रश्न यह था—

परिणमनके स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

प्रतिशंका २

आपने इस प्रश्नका जो उत्तर दिया है उसमें आपने लिखा है कि 'सभी द्रव्योंकी स्वभावपर्यायें स्व-प्रत्यय होती हैं तथा जीव और पुद्गलकी विभावपर्यायें स्वपरप्रत्यय होती है।'

इस कथनके विषयमें हमारा केवल इतना ही कहना है कि यद्यपि वस्तुकी स्वप्रत्यय पर्यायें स्वभावरूप ही होती हैं, परन्तु वस्तुकी सभी स्वभावपर्यायें स्वप्रत्यय नहीं होती है। जैसे आपने संपूर्ण द्रव्योंकी अगुरु-लघुगुणद्वारा प्रतिसमय प्रवर्तमान षट्गुण हानि-वृद्धिरूप पर्यायोंको स्वप्रत्यय पर्यायें स्वीकृत किया है। यह तो ठीक है, परन्तु आकाश द्रव्यकी परपदार्थावगाहकत्व गुणकी अवगाह्यमान परपदार्थोके निमित्तसे होनेवाली पर्यायें, धर्मद्रव्यकी गतिपरिणत जीवों तथा पुद्गलोंके निमित्तसे होनेवाली गतिहेतुकत्व गुणको पर्यायें, अधर्म द्रव्यकी स्थितिपरिणत जीवों और पुद्गलोंके निमित्तसे होनेवाली स्थितिहेतुकत्व गुणकी पर्यायें, कालद्रव्यकी वृत्तिविशिष्ट संपूर्ण द्रव्योंके निमित्तसे होनेवाली वर्तनागुणकी पर्यायें, मुक्त जीवकी ज्ञेयभूत पर पदार्थोंके निमित्तसे होनेवाली ज्ञानगुणकी उपयोगाकार परिणमनरूप पर्यायें, कर्म तथा नोकर्मसे बद्ध संसारी जीवोंकी कर्मक्षय तथा कर्मोपशमके होनेपर उत्पन्न होनेवाली क्षायिक और औपशमिक पर्यायें तथा ज्ञेयतापन्न अणुरूप तथा स्कन्धरूप पुद्गल द्रव्योंकी ज्ञातता आदि विविध पर्यायें—इस प्रकारकी सभी पर्यायें उस उस वस्तुकी स्वाभाविक पर्यायें होते हुए भी स्वपरप्रत्यय ही हुआ करती हैं, स्वप्रत्यय नहीं।

इसी प्रकार जीवोंकी नर-नारकादि पर्यायें तथा पुद्गलोंकी कर्म और जीवशरीरादिरूप पर्यायें विभाव रूप होनेके कारण यद्यपि स्व-परप्रत्यय मानी गई हैं तथापि यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ऊपरके विवेचनके अनुसार प्रत्येक वस्तुकी बहुतसी स्वाभाविक पर्यायें भी स्वपरप्रत्यय पर्यायोंमें अन्तर्भूत होती हैं।

आगममें भी वस्तुके स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमनोंको स्वीकार किया गया है। यथा—

ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति।

—प्रवचनसार गाथा १७ जयसेनीया टीका

अर्थ—ज्ञेय पदार्थ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय भङ्गत्रयसे परिणत होते रहते हैं उसीके अनुसार ज्ञान भी भङ्गत्रयरूपसे परिणत होता रहता है।

इसी प्रकारके प्रमाण जयधवलमें भी पाये जाते हैं।

आगममें जहाँ आकाश, धर्म, अधर्म कालद्रव्योंके स्वरूपका वर्णन किया गया है वहाँ यथायोग्य पर द्रव्योंके प्रति इनके उपकारकी भी चर्चा की गई है। जीवोंकी परपदार्थज्ञातृत्व और परपदार्थदर्शित्व आदि

योग्यताओं एवं राग, द्वेष, मोह आदि परिणतियोंकी चर्चाओंसे भी आगम ग्रन्थ भरे पड़े हैं तथा विविध प्रकारके भौतिक विकासके रूपमें पुद्गल परिणतियाँ तो प्रत्यक्ष ही हमें दिखाई दे रही है और जिनका उपयोग लोकमें हो रहा है तथा हम और आप सभी करते चले आ रहे हैं।

इस तरह विश्वके संपूर्ण पदार्थोंमें यथायोग्य होनेवाली पर्यायोंको उपर्युक्त प्रकारसे स्वप्रत्यय, स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय और वैभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमनोंमें ही अन्तर्भूत करना चाहिये।

आपने अपने उत्तरके अन्तमें स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनोंमें अन्तर दिखलानेके लिये जो यह बात लिखी है कि 'जिस प्रकार स्वपरप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कालादि द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रय निमित्त होती है उसी प्रकार स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कालादि द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रयनिमित्त होती हैं, परन्तु उनकी दोनों स्थानोंपर कथनकी अविवक्षा होनेसे यहाँ उनकी परिगणना नहीं की गई है यही स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय इन दोनोंमें भेद है।'

आपकी यह बात विचारणीय है, क्योंकि स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दोनों परिणमनोंमें केवल आश्रयनिमित्तोंके कथन करनेकी अविवक्षा और विवक्षा मात्रका ही भेद नहीं है। आपने भी अपने उत्तरमें स्वभाव पर्याय और विभाव पर्यायके कारणोंका निर्देश करते हुए प्रवचनसार गाथा ९३ की टीकाका उद्धरण देकर यह स्वीकार किया है कि स्वपरप्रत्यय परिणमनमें स्वके साथ पर भी कारण होता है। टीकाका व उसके हिन्दी अर्थका उल्लेख आपके उत्तरपत्रमें है। आपने अपने उत्तरके प्रारम्भमें तो स्पष्टरूपसे स्वपरप्रत्यय परिणमनमें कर्ता और करणरूप निमित्तोंको स्वीकार किया है जो कर्ता और करणरूप निमित्त स्वप्रत्यय परिणमनमें आपको भी मान्य नहीं है।

इस तरह स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनमें यदि कोई वास्तविक अन्तर है तो वह अन्तर यही है कि स्वप्रत्ययपरिणमनमें कर्ता-करणरूप निमित्त कारणोंको नहीं स्वीकार किया गया है जब कि स्वपरप्रत्यय परिणमनके होनेमें इनकी अनिवार्य आवश्यकता रहा करती है

विशेष विचारणा यह होती है कि जब अध्यात्मवादके अनुसार कार्य-कारणभावकी विवेचना करते हुए दो प्रकारकी (स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय) पर्यायोंका कथन किया गया है ऐसी दशामें स्वप्रत्यय पर्याय उपादानकी परिणति होनेसे स्वाश्रित है, इसलिये उसे स्वप्रत्यय नाम देना समुचित है, परन्तु स्वपरप्रत्यय पर्यायको उपादानकी परिणति होनेके कारण केवल उपादानजन्य माना जाय तो उसे स्व-परप्रत्यय कहना असंगत ही है। वास्तविक दृष्टिसे विचार किया जाय तो उपादानके साथ कारण-रूप ऐसा कौनसा पदार्थ है जो उपादानकी समतुलामें बैठकर उस पर्यायका निर्माण करे और तब उसके आधारपर उसका स्वप्रत्यय पर्यायसे वास्तविक भेद स्थापित हो सके।

जब कि आपकी मान्यताके अनुसार जो आश्रय कारण कालादि पर पदार्थ हैं और जिन्हें आपने स्वप्रत्यय तथा स्वपरप्रत्यय दोनों तरहकी पर्यायोंमें समानरूपसे कारण माना है तो उन पर्यायोंकी उत्पत्तिमें केवल उनकी विवक्षा और अविवक्षा मात्रसे वास्तविक अन्तर कैसे लाया जा सकता है।

यहाँ पर यह भी एक विचारणीय बात है कि आगमके निर्माता आचार्य उक्त दोनों पर्यायोंका कारण भेदमें पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए केवल कालादि आश्रय निमित्तोंकी विवक्षा और अविवक्षामात्रसे पार्थक्य दिखलायें ऐसा मानना उनके गहरे ज्ञानके प्रति हमारी अननुभूतिका द्योतक है।

उपर्युक्त कथनसे यह बात विशदरूपसे स्पष्ट हो जाती है कि कालादि आश्रय निमित्तकारणोंकी विवक्षा और अविवक्षा मात्रसे उल्लिखित पर्यायभेद नहीं बन सकता है, किन्तु निमित्तकारणोंकी द्विविधतासे ही दोनों प्रकारकी पर्यायोंका यह आन्तरिक भेद युक्तिसंगत सिद्ध होता है। निमित्त कारणोंकी यह द्विविधता निमित्तोंकी प्रेरकता और अप्रेरकताके आश्रय है। इस तरह जिस परिणमनमें उपादानके साथ कर्ता-करण आदि प्रेरक निमित्तोंका व्यापार आवश्यक नहीं है उसे स्वप्रत्यय परिणमन कहना चाहिये और जिस परिणमनमें उपादानके साथ कर्ता-करण आदि प्रेरक निमित्तोंका व्यापार आवश्यक हो उसे स्वपरप्रत्यय परिणमन मानना चाहिये।

शंका ११

मूल प्रश्न—परिणमनके स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

प्रतिशंका २ का समाधान

प्रवचनसार गाथा ९३ की टीकाका उल्लेख कर हम पिछले समाधानमें यह बता चुके हैं कि पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं—(१) स्वभावपर्याय (२) विभावपर्याय।

शुद्ध जीव, परमाणु व धर्म आदि चार द्रव्योंमें अपने २ अनन्त अगुरुलघुगुणों द्वारा प्रतिसमय षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप उत्पादव्यय होते हैं, वे स्वभावरूप पर्यायें हैं और संसारी जीवोंके ज्ञानमें इन्द्रिय, आलोक, ज्ञानावरण क्षयोपशमादि निमित्तोंकी, तथा पुद्गल स्कंधोंमें रूपआदिके निमित्तोंकी अपेक्षासे अपने उपादानके साथ होनेवाली पर्यायें विभावपर्यायें हैं।

इन दोनों प्रकारकी पर्यायोंमें काल आदि जो उदासीन निमित्त हैं उनकी विवक्षा न करके प्रतिसमय जो अगुरुलघुकृत पर्यायें होती हैं उन्हें स्वप्रत्यय पर्याय कहा है। उदाहरणार्थ-धर्माधर्मादि द्रव्योंमें काल आदिके साथ-साथमें गतिहेतुत्व—स्थितिहेतुत्व आदि धर्मोंके आश्रयसे जीव और पुद्गलोंमें जो गति-स्थिति आदि पर्यायें होती हैं, वे भी अपनी विभिन्नरूप गति स्थिति आदिसे धर्म अधर्म द्रव्योंके पर्याय परिवर्तनमें व्यवहारसे आश्रय निमित्त हैं।

इसी आशयको ध्यानमें रखकर श्री अकलंकदेव तथा पूज्यपाद स्वामीने राजवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धिके अध्याय ५ सूत्र ७ में यह वचन लिखा है—

द्विविधः उत्पादः—स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत्—अनन्तानां अगुरुलघुगुणानां आगमप्रामाण्यात् अभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया-हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेषां उत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादेर्गति-स्थिति-अवगाहनहेतुत्वात् क्षणे-क्षणे तेषां भेदात् तद्धेतुत्वं अपि भिन्नं इति परप्रत्ययापेक्षः उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।

अर्थ—उत्पाद दो प्रकारका है—स्वनिमित्तक और परनिमित्तक। आगम प्रामाण्यसे स्वीकृत अनन्त अगुरुलघुगुणोंमें षट्गुणी हानि-वृद्धिरूपसे प्रवर्तमान उत्पाद-व्यय स्वभावसे होता है वह स्वनिमित्तक उत्पाद-

व्यय है तथा घोड़े आदिकी गति तथा स्थिति और अवगाहनहेतुरूप अवस्थाओंमें क्षण क्षणमें भेद होनेसे उन पर्यायोंमें परप्रत्यय उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि धर्मादि द्रव्योंमें परिणमन तो स्वप्रत्यय ही होता है, जो यथार्थ है, तथापि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जीवोंकी गति आदिकी अपेक्षा क्षण-क्षणमें भेद होनेसे उनमें परप्रत्यय परिणामका भी व्यवहार किया जाता है।

इसी तरह जीवकी स्वभाव पर्याय तो स्वप्रत्यय ही है, तथा पुद्गलरूप कर्म-नोकर्मके निमित्तसे जो पर्याय होती है वह विभावपर्याय स्वपरप्रत्यय कही जाती है। इसी प्रकार पुद्गल परमाणुकी स्वभावपर्याय स्वप्रत्यय है और स्कंधरूप पर्याय विभावपर्याय स्वपरप्रत्यय कही जाती है।

एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि स्वपरप्रत्ययरूप पर्यायमें परकी निमित्तताका यह अर्थ नहीं है कि उपादानकी तरह निमित्त भी समतुलामें बैठकर उस पर्यायका निर्माण करता हो। यह व्यवस्था आगमकी नहीं है। इसका कारण यह है कि पर्यायका स्वामित्व द्रव्यमें है, पर पदार्थ तो निमित्तमात्र है। ऐसे स्थलों पर निमित्तकी मर्यादामें वह आश्रय निमित्त नहीं है, किन्तु विशेष निमित्त है यही आगम परम्परा है।

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ११

परिणमनके स्वप्रत्यय और स्वपर-प्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है?

प्रतिशंका ३

हम अपनी द्वितीय प्रतिशंकामें इस बातको विस्तारके साथ स्पष्ट कर चुके हैं कि विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंमें यथायोग्य होनेवाली पर्यायोंको स्वप्रत्यय, स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय और वैभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमनोंमें ही अन्तर्भूत करना चाहिये।

आपने भी अपने द्वितीय प्रत्युत्तरमें स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय—ऐसे दो भेद स्वीकार करनेके अनन्तर लिखा है कि 'धर्माधर्मादि द्रव्योंके गतिहेतुत्व-स्थितिहेतुत्व आदि धर्मोंके आश्रयसे जीव और पुद्गलोंमें जो गति-स्थिति आदि पर्यायें होती हैं वे भी अपनी विभिन्नरूप गति-स्थिति आदिसे धर्म-अधर्म आदि द्रव्योंके पर्याय परिवर्तनमें व्यवहारसे आश्रय निमित्त हैं।' और आगे राजवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धिके अध्याय ५ सूत्र ७ का प्रमाण उपस्थित करते हुए धर्म-अधर्म आदि द्रव्योंमें भी परप्रत्यय परिणमन आपने स्वीकार कर लिये हैं।

आपके द्वारा स्वीकृत इस परप्रत्यय परिणमनको हमारे द्वारा स्वीकृत स्वाभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमनमें ही अन्तर्भूत करना चाहिये, कारण कि जैन संस्कृतिमें स्वकी अपेक्षा रहित केवल परके द्वारा किसी भी

वस्तुके परिणमनको नहीं स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा ११८ में पुद्गल द्रव्यके कर्मरूपसे परिणमित होनेके सिलसिलेमें तथा गाथा १२३ में जीवद्रव्यके क्रोधादि रूपसे परिणमित होनेके सिलसिलेमें यह बात स्पष्ट कर दी है कि केवल परप्रत्यय परिणमन नहीं हो सकता है। वे गाथायें निम्न प्रकार हैं—

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥

अर्थ—जीव यदि पुद्गल द्रव्यको कर्मभावसे परिणत कराता है तो उस पुद्गलद्रव्यमें अपनी निजकी परिणत होनेकी योग्यताके अभावमें जीवद्रव्य उसको कैसे (कर्मरूप) परिणत करा सकता है?

इसी प्रकार—

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥

अर्थ—क्रोधरूप पुद्गल कर्म यदि जीवको क्रोधभावसे परिणत कराता है तो उस जीवमें अपनी निज परिणत होनेकी योग्यताके अभावमें वह पुद्गल कर्मरूप क्रोध उसको कैसे (क्रोधरूप) परिणत करा सकता है?

आचार्य अमृतचन्द्रने भी उक्त गाथाओंकी व्याख्या करते हुए अपनी आत्मख्याति टीकामें लिखा है—

न तावत्तत्स्वयमपरिणमानं परेण परिणामयितुं पार्येत।

अर्थ—जिसमें परिणत होनेकी निजी योग्यता नहीं है उसे दूसरा कैसे परिणत करा सकता है? अर्थात् नहीं करा सकता है।

यही बात आचार्य अमृतचन्दने गाथा १२३ की व्याख्या करते हुए उक्त टीकामें भी लिखी है।

इस प्रकार जीवके ज्ञानगुणके बाह्य पदार्थोंके जाननेरूप उपयोगाकार परिणमनको तथा धर्मादि द्रव्योंके गतिहेतुत्वादि गुणोंके जीवों और पुद्गलोंकी गति आदिके आधार पर होनेवाले परिणमनोंको स्वाभाविक स्व-परप्रत्यय परिणमन ही कहना चाहिये। इन्हें वैभाविक स्वपरप्रत्यय परिणमन इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि ये सब परिणमन विभावरूप विकारी परिणमन नहीं हैं। स्वप्रत्यय परिणमन भी इन्हें इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि इन परिणमनोंमें एक तो परकी अपेक्षा आगममें स्वीकार की गयी है, दूसरे आगममें जहाँ भी स्वप्रत्यय परिणमनोंका कथन मिलता है वहाँ सर्वत्र केवल अगुरुलघुगुणके द्वारा होनेवाली द्रव्यकी षड्गुणहानि-वृद्धिरूप परिणमनोंको ही स्वप्रत्यय परिणमन बतलाया गया है।

आगे आपने लिखा है कि 'मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जीवोंकी गति आदिकी अपेक्षा क्षण-क्षणमें भेद होनेसे उनमें (धर्मादि द्रव्योंमें) परप्रत्यय परिणामका भी व्यवहार किया जाता है।'

इसके विषयमें हमारा आपसे कहना है कि व्यवहार शब्दका आपने स्थान-स्थान पर उपचार ही अर्थ किया है और उपचारका भी अर्थ कल्पनारोपित किया है। सो ऐसा अर्थ आगममें सर्वत्र नहीं लिया गया है। इसके लिए प्रश्न नं० १७ की हमारी प्रतिशंका ३ को देखिये, उसमें हम व्यवहार शब्दके विविध अर्थ बतलानेवाले हैं जिनका उपयोग आगममें यथासंभव और यथावश्यक अर्थमें ही किया गया है। इसलिये यहाँ पर भी राजवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धिके अध्याय ५ सूत्र ७ में धर्मादि द्रव्योंमें होनेवाले परप्रत्यय परिणमनोंके प्रसंग-

में जो 'व्यवह्रियते' पाठ किया गया है उसका अर्थ उपचरित अर्थात् कल्पनारोपित नहीं करना चाहिये, कारण कि मनुष्य, पशु-पक्षी आदिकी सद्भूत गति आदि निमित्तोंकी सहायतापूर्वक उत्पन्न होनेसे उन परिणमनोंकी धर्मादि द्रव्योंमें सद्भूतता ही मानने योग्य है, अन्यथा यदि धर्मादि द्रव्योंके गतिहेतुकत्वादि गुणोंमें कूटस्थता आ जानेसे फिर धर्मादि द्रव्य उपर्युक्त मनुष्य पशु-पक्षी आदिकी भिन्न-भिन्न गति आदिमें सहायक नहीं हो सकेंगे। दूसरी बात यह है कि धर्मादि द्रव्योंमें होनेवाले परसापेक्ष परिणमनोंको व्यवहारमात्र कहकर यदि कल्पनारोपित ही माना जायगा, तो ज्ञेयभूत पदार्थोंके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके उपयोगाकार परिणमनोंको भी कल्पनारोपित (असद्भूत) ही माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इसलिये जिस प्रकार ज्ञानके ज्ञेयभूत परपदार्थोंकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके उपयोगाकार परिणमन कल्पनारोपित (असद्भूत) नहीं है उसी प्रकार परपदार्थसापेक्ष होकर उत्पन्न होनेवाले धर्मादि द्रव्योंके परिणमन भी कल्पनारोपित (असद्भूत) नहीं है।

अन्तमें आपने लिखा है कि 'स्वपरप्रत्ययरूप पर्यायमें परकी निमित्तताका यह अर्थ नहीं है कि उपादानकी तरह निमित्त भी समतुलामें बैठकर उस पर्यायका निर्माण करता हो।'

इस विषयमें भी हमारा कहना यह है कि हमने जो स्वपरप्रत्यय परिणमनमें उपादानभूत और निमित्तभूत वस्तुओंमें विद्यमान कारणभावकी परस्पर विलक्षणता रहते हुए भी कार्योत्पत्तिमें दोनोंकी समान अपेक्षा रहनेके कारण उपादान और निमित्त दोनों तरहकी वस्तुओंको 'समतुला' शब्द द्वारा समान सम्पन्न बतलाया है, सो हमने 'समतुला' शब्दका प्रयोग इस आशयसे नहीं किया है कि उपादानके समान निमित्तको भी कार्यरूप परिणत होना चाहिये अथवा उपादानके समान निमितको भी कार्यका आश्रय बन जाना चाहिये। किन्तु इस आशयसे किया है कि उपादानके स्वपरप्रत्यय परिणमनरूप कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक कारणरूप निमित्तकी उतनी ही अपेक्षा रहा करती है जितनी कि कार्यके आश्रयभूत उपादान की रहती है। अर्थात् उपादान और निमित्त याने आश्रयकारण और सहकारी कारण—इन दोनोंमें से एककी उपेक्षा कर देने पर कार्य (स्वपरप्रत्ययरूप परिणमन) कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्योत्पत्तिमें जहाँ तक उपादान और निमित्तके बलाबलका सम्बन्ध है वहाँ तक तो यही माना जायगा कि उपादानशक्तिके अभावमें निमित्त अकिंचित्कर बना रहता है और इसी प्रकार उपादान भी निमित्तके सहयोगके बिना कुछ नहीं कर सकता है। इस तरह परस्पर विलक्षण अपने-अपने ढंगको कार्योत्पादनकारणता रखते हुए भी कार्योत्पादनको दृष्टिसे दोनों ही समानरूपसे शक्तिशाली हैं, इसलिए उसमें (कार्योत्पादनमें) दोनों ही एक दूसरेका मुख ताकनेवाले हैं। इस तरह जब दोनों एक दूसरेकी अपेक्षा रखकर ही कार्योत्पादन कर सकते हैं, तो केवल सहायकमात्र होनेसे उपादानको कार्यपरिणतिमें निमित्तकी उपयोगिता उपादानसे कम रहती हो—ऐसा सोचना गलत है। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्रने कार्यकी उत्पत्ति बहिरंग और अन्तरंग अर्थात् निमित्त और उपादान दोनों तरहके कारणोंकी समग्रताके सद्भावमें ही मानी है और यह भी प्रमाणित किया है कि द्रव्यगत स्वभाव ऐसा ही है कि बहिरंग तथा अन्तरंग उभय कारणोंकी समग्रता पर ही कार्यकी उत्पत्ति हो सकती है। उनका वचन निम्न प्रकार है—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ॥६०॥

—स्वयंभूस्तोत्र

इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ पर 'द्रव्यगत-स्वभावः' पदसे इसका निराकरण हो जाता है कि किसी एक कार्योत्पत्तिके प्रति निमित्तता और उपादानता दोनों ही एक वस्तुके धर्म हैं, और

इसका भी निराकरण हो जाता है कि निमित्तता उपादानताके पीछे-पीछे चलनेवाली वस्तु है तथा इसका भी निराकरण हो जाता है कि निमित्तताको उपादानता समुत्पन्न करती है, और यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार अगुरुलघु गुणोंसे वस्तुमें होनेवाले षड्गुणहानि-वृद्धिरूप परिणमनोंकी स्वप्रत्ययता अर्थात् स्वनिमित्तक कार्यपना द्रव्यगत स्वभाव है उसी प्रकार वस्तुके जो भी अन्तरंग (उपादान) और वहिरंग (निमित्त) कारणों के सहयोगसे परिणमन हुआ करते हैं उनमें पायी जानेवाली स्वपरप्रत्ययता अर्थात् स्वपर निमित्तक-कार्यपन भी द्रव्यगत स्वभाव ही है। याने वे परिणमन ही ऐसे है या उनका स्वभाव ही ऐसा है कि स्व (उपादान) और पर (निमित्त) का परस्पर सहयोग हुए बिना वे कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकते है। समयसारकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीकामें निम्नलिखित कलश पद्य पाया जाता है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

इस पद्यमें पठित 'वस्तुस्वभावः' पद भी इसी अर्थका प्रकाशन कर रहा है कि परके सम्बन्धसे ही आत्मामें रागादि उत्पन्न हो सकते है, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।

आप्तपरीक्षामें आचार्य श्री विद्यानन्दीने लिखा है—

सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्, ततस्तदन्वयव्यतिरेकावेव कार्यस्यान्वेषणीयौ।

—वीरसेवामंदिर प्रकाशन पृ० ४४

अर्थ—कार्यकी जनक सामग्री (कारणोंकी समग्रता) होती है, एक कारण कार्यका जनक नहीं होता है, इसलिये 'सम्पूर्ण कारणोंके अन्वय और व्यतिरेकका अन्वेषण करना चाहिये।

यद्यपि यह वाक्य आचार्यने नैयायिककी ओरसे पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थित किया है, परन्तु पूर्वपक्षकी समाप्ति पर 'सत्यमेतत्' पद द्वारा इसे स्वीकृत कर लिया है। आगे पृ० ४५ पर लिखा है—

प्रत्येकं सामग्र्येकदेशानां कार्योत्पत्तौ अन्वयव्यतिरेकनिश्चयस्य प्रेक्षापूर्वकारिभिः अन्वेषणात्।

अर्थ—प्रेक्षापूर्वकारी (बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाले) लोग कार्यकी उत्पत्तिमें संपूर्ण कारणोंके अलग-अलग अन्वय-व्यतिरेककी खोज किया करते है।

वात भी दरअसल ऐसी है कि यदि लोकमें कोई कार्य गड़वड़ीमें पड़ जाता है तो चतुर जानकार उसके प्रत्येक साधनकी ओर दृष्टि डालता है कि किस साधनकी गड़वड़ीसे यह कार्य गड़वड़ हो गया। पटको बनानेवाला जुलाहा पटनिर्माणके साधनभूत तन्तु, तुरी, वेम, शलाका आदि सभी साधनों पर समानरूपसे दृष्टि रखता है कि सव साधनोंकी स्थिति अच्छी है या नहीं, अथवा यह भी देखता है कि इनमेंसे किसी साधन की कमी तो नहीं है। सर्वसाधारण लोग भी किसी कार्यके करनेसे पहले उसके कारणों पर यथाबुद्धि दृष्टि डाल लिया करते है।

कहाँ तक इस विषयको बढ़ाया जाय, प्रत्येक मनुष्य यहां तक कि जो निमित्तकारणको अवास्तविक, उपचरित या काल्पनिक सिद्ध करनेमें लगे हुए हैं वे भी अपने अनुभव और अपनी प्रवृत्तियोंकी ओर भी थोड़ा दृष्टिपात करें तो उन्हें मालूम होगा कि वे निमित्त उपादान दोनोंको ही समतुला पर विठलाकर कार्योत्पत्तिके प्रति अग्रसर होते है। वे जानते हैं कि उनका कार्य निमित्तोंका सहारा लिये विना नहीं सम्पन्न हो सकता है, इसलिये निमित्तोंको अपनाते हैं, फिर भी उन्हें अवास्तविक या काल्पनिक कहनेसे नहीं चूकते, यह महान् आश्चर्यकी वात है।

निमित्त भी उपादानकी ही तरह वास्तविक है, उपयोगी है, काल्पनिक या अनुपयोगी नहीं है, वह उपचरित या आरोपित भी नहीं है, इत्यादि आवश्यक बातों पर प्रश्न १७ में प्रकाश डाला जायगा। वहाँसे देखिये।

नोट—इस विषयमें प्रश्न नं० १, ५, ६ और १७ देखिये तथा इनके प्रत्येक दौरका विषय भी देखिये।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका ११

मूल प्रश्न ११—परिणमनके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें समाधान करते हुए बतलाया गया था कि स्वभावपर्याय और विभावपर्यायके भेदसे पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं। स्व-प्रत्यय पर्यायोंका नाम ही स्वभाव पर्याय है और स्व-परप्रत्यय पर्यायोंको ही विभाव पर्याय कहते हैं। साथ ही इनमेंसे किस द्रव्यमें दोनों या एक कौन-कौन पर्यायें किस प्रकार होती हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए समर्थनमें प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका उपस्थित की गई थी। अन्तमें यह भी बतला दिया गया था कि 'जिस प्रकार स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कालादि द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रयनिमित्त होती हैं उसी प्रकार स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी कालादि द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायें यथायोग्य आश्रयनिमित्त होती हैं। वे साधारण-निमित्त हैं, इसलिए उनकी दोनों स्थलोंमें कथनकी अविवक्षा है। यही इन दोनोंमें भेद है ?' ऐसा लिखनेका हमारा आशय यह था कि 'स्व-प्रत्यय' शब्दमें आया हुआ 'स्व' शब्द अपने उपादानको सूचित करता है और स्व-परप्रत्यय पदमें आया हुआ 'स्व' शब्द अपने उपादानको तथा 'पर' शब्द अपने असाधारण (विशेष) निमित्तोंको सूचित करता है।

इतना स्पष्ट निर्देश करनेपर भी प्रतिशंका २ में एक तो ३ प्रकारकी पर्यायोंकी स्थापना करके अनन्त अगुरुलघु गुणद्वारा द्रव्योंकी प्रतिसमय प्रवर्तमान षड्गुण-हानि-वृद्धिरूप पर्यायें मात्र 'स्व-प्रत्यय' स्वीकार की गई हैं। इनके होनेमें एकान्तरूपसे मात्र निश्चय (उपादान) पक्षको ही स्वीकार किया गया है और व्यवहार (उपचार) पक्षको तिलाञ्जलि दे दी गई है। जब कि प्रत्येक निश्चयका तदनुकूल व्यवहार अविनाभावरूपसे होता ही है ऐसा आगमका अभिप्राय है। स्वामी समन्तभद्रके वचनानुसार चाहे वह स्वभावकार्य हो और चाहे विभावकार्य, दोनोंमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता तभी बन सकती है जब कार्योत्पत्तिमें उपादान और व्यवहारहेतु दोनोंकी सम व्याप्ति स्वीकार की जाये।—देखिये स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ६०।

दूसरे आगममें सर्वत्र स्वभावपर्यायोंको स्व-प्रत्ययरूपसे ही उल्लिखित किया गया है। फिर भी उसका विचार किये विना प्रतिशंका २ में अनन्त अगुरुलघु गुणरूपसे प्रवर्तमान षड्गुणहानि-वृद्धिरूप पर्यायोंके सिवाय अन्य समस्त स्वभावपर्यायोंको स्वपरप्रत्यय सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। तथा इनके अनेक नाम भी गिनाये गये हैं। इस प्रकार प्रतिशंका २ में स्वभावपर्यायोंको दो भागोंमें विभक्त कर दिया गया है, जब कि आगममें स्वभावपर्यायों के उक्त प्रकार से दो भेदोंका उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। वस्तुतः आगममें जहाँ भी स्वभावपर्यायका लक्षण निर्देश करते हुए द्रव्योंकी अगुरुलघु गुणद्वारा षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्यायोंका उल्लेख आता है वहाँ वह षट्द्रव्यसम्बन्धी सब स्वभावपर्यायोंमें घटित होनेवाले सामान्य लक्षणके रूपमें ही उल्लिखित किया गया है।

तीसरे हमने तो प्रथम उत्तरमें इतना ही लिखा था कि 'जो साधारण निमित्त होते हैं उनकी दोनों स्थलों पर कथनकी अविवक्षा होनेसे परिगणना नहीं की जाती।' किन्तु प्रतिशंका २ में इस प्रकारकी वाक्य-रचना निबद्ध की गई है जिससे यह ध्वनित हो कि 'हम स्वभावपर्यायोंमें साधारण निमित्तोंके कथनकी अविवक्षा और विभावपर्यायोंमें साधारण निमित्तोंके कथनकी विवक्षा इतने मात्रसे दोनोंमें भेद स्वीकार करते हैं।' यह एक प्रकारसे हमारे ऊपर आरोप है, किन्तु प्रथम उत्तरमें न तो हमारी ओरसे ऐसा लिखा ही गया है और न ऐसी वस्तुस्थिति ही है। प्रथम उत्तरके प्रारम्भमें ही हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि 'स्वभावपर्यायोंमें स्वप्रत्यय पदद्वारा उसी द्रव्यकी उपादान शक्ति ली गई है और विभाव पर्यायोंमें स्व-परप्रत्यय पदद्वारा विवक्षित द्रव्यकी उपादान शक्तिके साथ उस-उस पर्यायके कर्ता और करण निमित्तोंको भी स्वीकार किया गया है।' स्पष्ट है कि प्रतिशंका २ अनेक ऐसे मन्तव्योंसे ओत-प्रोत है जिनका आगमसे समर्थन नहीं होता।

दूसरे उत्तरमें हमने उन्हीं तथ्यों पर पुनः प्रकाश डाला है जिनका सम्यक् प्रकारसे निर्देश प्रथम उत्तरके समय कर आये हैं। इसमें तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ७ का टीकावचन इसलिए उद्धृत किया गया था ताकि अपर पक्षकी समझमें यह बात भलीभाँति आ जाए कि स्वभावपर्यायें इसलिए ही स्वप्रत्यय स्वीकार की गई हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें विभावके हेतुभूत बाह्य निमित्तोंका सर्वथा अभाव है। उनमें भी यद्यपि आश्रय निमित्तोंका निषेध नहीं है। राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिके उक्त उल्लेखमें 'पर' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें किया गया है। किन्तु दूसरे पक्षने इस उल्लेखको अपने मन्तव्यकी पुष्टिमें समझकर उससे यह अभिप्राय फलित करनेकी चेष्टा की है कि स्वभाव पर्यायें भी विभाव पर्यायोंके समान स्व-परप्रत्यय होती हैं। हालाँ कि अपर पक्षने प्रतिशंका २ के अन्तमें यह लिखकर कि 'इस तरह जिस परिणमनमें उपादानके साथ कर्ता-करण आदि प्रेरक निमित्तोंका व्यापार आवश्यक नहीं है उसे स्वप्रत्यय परिणमन कहना चाहिए।' स्वभावपर्यायोंको स्वप्रत्यय भी स्वीकार कर लिया है जो आगमकी दृष्टिसे हमें तो इष्ट है ही, अपर पक्षको भी स्वीकृत होना चाहिए।

इस प्रकार मूल प्रश्न, उसका उत्तर, प्रतिशंका २ और उसका उत्तर इन सबका यह सिंहावलोकन है। आगे प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार करते हैं—

१. पर्यायें दो ही प्रकारकी होती हैं

प्रतिशंका ३ में हमारे द्वारा पूर्वमें उद्धृत तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र ७ के वचनका उल्लेखकर यह बतलानेका प्रयत्न किया गया है कि हमने भी स्वभाव पर्यायाको परप्रत्यय स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार अपनी पुरानी मान्यताकी पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'विश्वके सभी पदार्थोंमें

यथायोग्य होनेवाली पर्यायोंको स्वप्रत्यय, स्वाभाविक स्व-परप्रत्यय, और वैभाविक स्व-परप्रत्यय परिणमनोंमें ही अन्तर्भूत करना चाहिए। इसी प्रसंगमें एक नमूनेदार यह वाक्य भी लिखा है कि 'जैन संस्कृतिमें स्वकी अपेक्षा रहित केवल परके द्वारा किसी वस्तुके परिणमनको नहीं स्वीकार किया गया है।' विचारकर देखने पर विदित होता है कि इस वाक्यमें सर्वप्रथम यह चतुराई की गई है कि जो विशेष्य है उसे विशेषण बनाया गया है और जो विशेषण है उसे विशेष्य बनाकर अपने अभिप्रायकी पुष्टि की गई है। साथ ही यह जाहिर करनेके लिए कि आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसारसे भी हमारे उक्त अभिप्रायकी पुष्टि होती है, उसकी गाथा ११८ और १२३ तथा उनका टीका वचन भी प्रमाणरूपमें उद्धृत किया गया है। इन उद्धृत वचनोंका जो अर्थ किया गया है वह क्यों ठीक नहीं है इसका विचार तो हम आगे करनेवाले हैं। यहाँ मात्र इतना संकेत कर देना चाहते हैं कि इस बार अनेक स्थलोंपर अपर पक्षने जैनदर्शन या जैनधर्म शब्दका प्रयोग न कर उनके स्थानमें जैन संस्कृति शब्दका प्रयोग किया है। ऐसा करनेमें जो भी रहस्य हो उसे तो अपर पक्ष ही जाने। प्रतिशंकामें ऐसे प्रयोगका खुलासा न होनेके कारण हम उसे सर्वत्र जैनदर्शन या जैनधर्मके अर्थमें ही स्वीकार करेंगे।

दूसरी बात यह है कि उक्त वचन द्वारा विशेष्यको विशेषण बनाकर जो यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक परिणमनमें 'स्व'की अपेक्षा रहती है, वह तो विचारणीय है ही, साथ ही यहाँ 'स्व' पदसे क्या अभिप्रेत है यह स्पष्ट न होनेसे यह भी विचारणीय है। सब ओरसे विचार करने पर विदित होता है कि है यह वाक्य भ्रामक ही। प्रतिशंका ३ में इस वाक्य द्वारा भले ही जैन संस्कृतिकी उद्घोषणा की गई हो पर विचार कर देखने पर यही विदित होता है कि इस वाक्यमें जो कुछ भी कहा गया है वह जैन संस्कृति तो नहीं ही है। इससे जैन संस्कृति पर पानी फिर जाएगा इतना अवश्य है।

अब थोड़ा इस वाक्यमें जो कुछ कहा गया है उसके विधिपरक अर्थ पर विचार कीजिए—

इसका विधिपरक निर्देश होता है कि 'स्व'की अपेक्षा सहित 'पर'के द्वारा परिणमन सभी वस्तुओंका जैन संस्कृतिमें स्वीकार किया गया है।' यह उक्त वाक्यका विधिपरक निर्देश है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अपर पक्ष अपना यह मत जैन संस्कृतिके नामपर प्रचारित करना चाहता है कि प्रत्येक परिणमनमें 'स्व' की अपेक्षा रहती है अवश्य, पर होता है वह दूसरेके द्वारा ही। आश्चर्य है कि ऐसे विडम्बनापूर्ण वचनको जैन-संस्कृतिकी विशेषता घोषित किया गया है। कदाचित् ईश्वरवादी ऐसा वचन प्रयोग करें तो उनके लिए वह क्षम्य है, जैन-संस्कृतिके वाहकोंके द्वारा तो ऐसा वचन प्रयोग भूलसे भी नहीं होना चाहिए।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। प्रकृतमें यह विचार चल रहा है कि सब द्रव्योंमें जितनी भी पर्यायें होती है उन सबका वर्गीकरण करने पर वे ३ प्रकारकी न होकर मात्र २ ही प्रकारकी होती है। जहाँ कहीं साधारण निमित्तोंकी विवक्षावश स्वभाव पर्यायोंके वर्णनके प्रसंगसे परप्रत्यय शब्दका प्रयोग हुआ भी है तो इतने मात्रसे पर्यायोंकी त्रिविधताका समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगममें इन्हीं पर्यायोंको स्व-प्रत्यय पर्याय कहा है। और जहाँ केवल स्वप्रत्यय पर्यायोंका लक्षण आया है वहाँ इन्हींको लक्ष्यमें रखकर निर्दिष्ट किया गया है। आगे हम उदाहरणके रूपमें यहाँ कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करेंगे जिनसे प्रतिशंकामें स्वीकृत स्वाभाविक स्व-पर प्रत्यय पर्यायें ही स्वभाव पर्यायें हैं यह भलीभाँति ज्ञात हो जाएगा, क्योंकि जहाँ भी 'स्वप्रत्यय' शब्दका प्रयोग हुआ है वह इन्हींके लिए हुआ है। सर्वप्रथम प्रमाणस्वरूप अनन्तसुखको लीजिए। इसका विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें लिखते हैं—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

शुद्धोपयोगसे निष्पन्न हुए आत्माओंका सुख अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है ॥१३॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

आसंसारापूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनंतमव्युच्छिन्नं शुद्धोपयोगनिःपन्नानां सुखमतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥१३॥

(१) अनादि संसारसे जो पहले कभी अनुभवमें नहीं आया ऐसे अपूर्व परम अद्भुत आह्लादरूप होनेसे अतिशय, (२) आत्माका ही आश्रय लेकर प्रवर्तमान होनेसे आत्मोत्पन्न, (३) पराश्रयसे निरपेक्ष होनेसे विषयातीत, (४) अत्यन्त विलक्षण होनेसे अनुपम, (५) समस्त आगामी कालमें कभी भी नाशको प्राप्त न होनेसे अनन्त और (६) विना ही अन्तरके प्रवर्तमान होनेसे अविच्छिन्न सुख शुद्धोपयोगसे निष्पन्न हुए आत्माओंके होता है, इसलिए वह सर्वथा प्रार्थनीय है ॥१३॥

यहाँ गाथामें उक्त सुखको 'आदसमुत्थं' कहा है जिसका तात्पर्य आत्मासे उत्पन्न अर्थात् 'स्वप्रत्यय' ही होता है, 'स्व-पर-प्रत्यय' नहीं। इस पदकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —'आत्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात् ।' इसका अर्थ है 'आत्माका ही आश्रय लेकर प्रवर्त्तमान होनेसे ।' इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्यकी जो स्वभाव पर्याय होती है, आगममें उसे स्वप्रत्यय ही कहा है। वह स्वप्रत्यय ही क्यों है इसका खुलासा आचार्य अमृतचन्द्रके 'पराश्रयनिरपेक्षत्वात्' इस वचनसे हो जाता है। इस प्रकार निश्चित होता है कि जिस पर्यायकी उत्पत्तिमें पराश्रय निरपेक्षता हो और स्वयं अपने आश्रयसे उत्पन्न हुई हो वह स्वप्रत्यय होनेसे स्वभाव पर्याय है। स्वभाव पर्यायका आगममें इससे भिन्न कोई दूसरा लक्षण या दूसरा नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणके लिए पद्मनन्दि पंचविंशतिकाके धर्मोपदेश प्रकरणके इस श्लोक पर दृष्टिपात कीजिए—

सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्त्ववित् ॥१५०॥

इस पर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि इसमें जिस अपूर्व सुखका निर्देश है उसे आत्मज-आत्मोत्थ ही बतलाया गया है।

कविवर राजमल्लजी इसी तथ्यको पुष्टि करते हुए अध्यात्मकमलमार्त्तण्डमें लिखते हैं कि जो पर्यायें द्रव्यान्तरनिरपेक्ष होती हैं वे स्वभावगुणपर्यायें हैं। वह वचन इस प्रकार है—

धर्मद्वारेण हि ये भावा धर्मांशात्मका [हि] द्रव्यस्य ।
द्रव्यान्तरनिरपेक्षास्ते पर्यायाः स्वभावगुणतनवः ॥१४॥

आत्मोत्थ और स्वप्रत्यय पदका अर्थ एक ही है यह हम पूर्वमें ही लिख आये हैं। इस तथ्यको और भी विशदरूपमें समझनेके लिए पंचास्तिकाय गाथा २९ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाके इस वचन पर भी दृष्टिपात कीजिए—

स्वप्रत्ययममूर्तसम्बद्धमव्याबाधमनन्तं सुखमनुभवति च ।

तत्त्वार्थवार्तिक अ० १, सू० २ में क्षयोपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें सम्यक्त्व प्रकृति निमित्त है इस बातको ध्यानमें रखकर प्रश्नकर्ताने यह प्रश्न किया है कि सम्यक्त्व प्रकृतिको भी मोक्षका कारण कहना चाहिए। इसका अन्तिम समाधान करते हुए भट्टाकलंकदेव लिखते हैं—

आत्मैव स्वशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यते इति तस्यैव मोक्षकारणत्वं युक्तम् ।

इस उद्धरणमें भी सम्यक्त्वकी उत्पत्ति स्वयं आत्मशक्तिके बलसे ही होती है यह स्पष्ट किया गया है जो उक्त अर्थके समर्थनके लिए पर्याप्त है।

इस प्रकार उक्त आगम प्रमाणोंके बलसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जिस प्रकार विभाव पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कालादि द्रव्योंकी पर्यायरूपसे निमित्तता होनेपर भी सर्वसाधारण निमित्त होनेसे प्रत्येक विभाव पर्यायकी उत्पत्तिमें निमित्तरूपसे उनका उल्लेख नहीं किया जाता उसी प्रकार स्वभाव पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कालादि द्रव्योंकी पर्यायरूपसे निमित्तता होनेपर भी सर्वसाधारण निमित्त होनेसे प्रत्येक स्वभाव पर्यायोंकी उत्पत्तिमें निमित्तरूपसे उनका उल्लेख नहीं किया जाता। यही कारण है कि आगममें सभी स्वभाव पर्यायें स्व-प्रत्यय हो निर्दिष्ट की गई हैं। वस्तुतः स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय इनके विभाजनका मुख्य हेतु वह है जिसका निर्देश हम प्रवचनसार गाथा ९३ और उसकी पूर्वोक्त टीकामें कर आये हैं। आशय यह है कि **जो पर्यायें परनिरपेक्ष अपने स्वभावका ही आश्रय लेकर उत्पन्न होती हैं वे स्वभाव पर्यायें हैं और जो पर्यायें अपनी उत्पत्तिके कालमें उत्पन्न होनेवाली पर द्रव्यकी पर्यायोंको (निमित्तीकृत्य) कर्ता या करण निमित्त करके उत्पन्न होती हैं वे विभाव पर्यायें हैं। स्वभाव पर्यायोंको स्वप्रत्यय और विभाव पर्यायोंको स्व-परप्रत्यय कहनेका यही मुख्य कारण है।**

यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिये कि विभाव पर्यायोंमें जो विशेष निमित्त होते हैं उन्हें कर्ता निमित्त, करण निमित्त या प्रेरकनिमित्त कहनेका कारण यह नहीं है कि वे बलात् अन्य द्रव्यमें पर्यायोंको उत्पन्न करते हैं। यदि वे अन्य द्रव्यकी पर्यायोंको बलात् उत्पन्न करें तो दो द्रव्योंमें या तो एकताका प्रसंग उपस्थित हो जायगा या फिर एक द्रव्यमें दो क्रियाओंका कर्तृत्व स्वीकार करना पड़ेगा जो जिनागमके विरुद्ध है। अतएव परद्रव्यमें निमित्तकी विवक्षावश कर्ता आदिका व्यवहार उपचरित ही जानना चाहिये। इस प्रकार स्वभावपर्यायें स्वप्रत्यय क्यों कहलाती हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए विभाव पर्यायें स्वपरप्रत्यय क्यों कही गई हैं इसका भी प्रकरण संगत स्पष्टीकरण हो जानेपर उक्त प्रकारसे पर्यायें दो ही प्रकार की हैं यह सिद्ध होता है।

२. पर्यायोंकी द्विविधताका विशेष खुलासा

इस प्रकार स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय पर्यायें दो ही प्रकारकी है ऐसा निश्चय हो जानेपर प्रकृतमें इस बातका विचार करना है कि क्या द्रव्योंकी कुछ पर्यायें ऐसी भी है जिनमें कालको भी निमित्तरूपसे नहीं स्वीकार किया गया है, क्योंकि अपर पक्षका कहना है कि 'अगुरुलघुगुणके द्वारा होनेवाली द्रव्यकी षड्गुणहानि-वृद्धिरूप परिणमनोंको ही स्वप्रत्यय परिणमन बतलाया गया है।' इसलिए यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है। आगे इसका विचार करते हैं—

१. अनन्तर पूर्व अनेक आगम प्रमाण देकर हम यह तो बतला ही आये हैं कि स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय पर्यायें दो ही प्रकारकी होती है। संसारी जीव और पुद्गलस्कन्धोंमें जितने विभाव (आगन्तुक) भाव है वे सब

स्व-परप्रत्यय पर्यायें हैं और शेष स्वप्रत्यय पर्यायें परिगणित की गई है। किन्तु ये जितनी भी पर्यायें होती हैं उन सबमें काल द्रव्य आश्रयहेतु हैं। तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सूत्र २२ में लिखा है—

वर्तनाद्युपकारलिंगः कालः। २३। उक्ता वर्तनादयः उपकारा यस्यार्थस्य लिंगं स कालः।

वर्तनादि उपकार जिसका लिंग है वह काल है। २३। कहे गये वर्तनादि उपकार जिस अर्थके लिंग हैं वह काल है।

इससे विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्यकी जितनी भी पर्यायें होती हैं उन सबका सामान्य बाह्य हेतु काल है।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए हरिवंशपुराण सर्ग ६ में कहा है—

निमित्तमान्तरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता।
वहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ७॥

इन परिणामादिरूप पर्यायोंमें अन्तरंग हेतु वस्तुमें स्थित योग्यता है और वहिरंग हेतु काल है ऐसा तत्त्वदर्शियोंने निश्चित किया है ॥७॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि आगममें **जहाँ भी अगुरुलघुगुणनिमित्तक षड्गुणहानि-वृद्धि-रूप पर्यायें निर्दिष्ट की गई हैं वहाँ मात्र अन्तरंग हेतुका ज्ञान करानेके लिए ही वैसा निर्देश किया गया है। उसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनका वहिरंग हेतु निश्चय काल भी नहीं है।**

जहाँ विभावकी निमित्तभूत वहिरंग सामग्री नहीं होती वहाँ वहिरंग हेतुरूपसे कालको नियमसे स्वीकार किया गया है ऐसा आगमका अभिप्राय है। किन्तु स्वभावपर्यायोंमें उसके कथनको अविवक्षा रहती है इतना अवश्य है।

२. आकाशका अवगाहहेतुत्व यह सामान्य गुण है। विचार यह करना है कि आकाशमें उत्पाद-व्यय कैसे घटित होता है? तत्त्वार्थवार्त्तिक अ० ५ सूत्र १८ में इसका विचार किया गया है। वहाँ बतलाया है—

द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् स्वप्रत्ययागुरुलघुगुणवृद्धि-हानिविकल्पापेक्षया अवगाहक-जीव-पुद्गलपरप्रत्ययावगाहभेदविवक्षया च आकाशस्य जातत्वोपपत्तेः।

द्रव्यार्थिक नयके गौण करनेपर पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतावश स्वप्रत्यय अगुरुलघुगुणवृद्धि-हानिरूप भेदकी विवक्षासे और जीव-पुद्गल परप्रत्यय अवगाह भेदकी विवक्षासे आकाशका उत्पाद बन जाता है।

यह ऐसा प्रमाण है जो इस बातका साक्षी है कि ऐसा एक भी कार्य नहीं है जिसमें उभयनिमित्तताका निर्देश नहीं किया गया हो। यहाँ अवगाहभेदसे आकाशका उत्पाद बतलाते हुए उसे अगुरुलघुगुणनिमित्तक स्वप्रत्यय बतलाकर भी परप्रत्यय कैसे घटित होता है यह सिद्ध किया गया है।

३. इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्त्तिक अ० १ सूत्र २९ में इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

एवं धर्मास्तिकायादिष्वपि अमूर्तत्वाचेतनत्वासंख्येयप्रदेशत्वगतिकारणस्वभावास्तित्वादयोऽनन्तभेदा-गुरुलघुगुणहानिवृद्धिविकारैः स्वप्रत्ययैः परप्रत्ययैश्च गतिकारणत्वविशेषादिभिः अविरोधिनः परस्पर-विरोधिनश्च विज्ञेयाः।

इसी प्रकार धर्मास्तिकायादिकमें भी स्वप्रत्यय अनन्त अगुरुलघु गुण हानि-वृद्धि विकारोंके द्वारा और परप्रत्यय गतिकारणत्वविशेषादिके द्वारा अमूर्तत्व, अचेतनत्व, असंख्येयप्रदेशत्व, गतिकारणस्वभाव और अस्तित्व आदिक अविरोधी और परस्पर विरोधी धर्म जान लेने चाहिए।

४. अपर पक्षके सामने ये प्रमाण तो रहे ही होंगे। उसके सामने स्वामी समन्तभद्रका 'बाह्येतरोपाधि-समग्रतेयं' यह वचन भी रहा होगा। इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं वे सब बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें होते हैं। यह नियम वचन है जो इस नियमकी घोषणा करता है कि बाह्य और आभ्यन्तर उपकरणोंकी समग्रतामें ही सब कार्य होते हैं। अतएव जिन्हें अपर पक्ष अगुरुलघु गुणके द्वारा षड्गुणी हानिवृद्धिरूप स्वप्रत्यय परिणमन कहता है उन्हें भी बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें उत्पन्न हुए जानना चाहिए। पूर्वमें हमने तत्त्वार्थवार्तिकके जो दो उद्धरण उपस्थित किये हैं उनसे भी इसी तथ्यकी पुष्टि होती है।

५. हरिवंशपुराण सर्ग ६ में भी ऐसा ही एक श्लोक आता है। इसमें भी प्रत्येक परिणामके प्रति अगुरुलघुत्वरूप आत्मपरिणाम और परोपाधि इन दोनोंका परिग्रह किया गया है। श्लोक इसप्रकार है—

अगुरुलघुत्वात्मपरिणामसमन्विताः।
परोपाधिविकारित्वादनित्यास्तु कथंचन ॥७॥

६. जो विभाव पर्यायें हैं वे भी षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप होती हैं। इसके लिए गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३२३ से ३२९ पर दृष्टिपात कीजिए। इन गाथाओंमें श्रुतज्ञानकी षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्यायोंका निर्देश किया गया है। स्वभावपर्यायें षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप होती हैं इसे तो अपर पक्ष भी स्वीकार करता है।

ये कतिपय प्रमाण हैं जो इस तथ्यके साक्षी हैं कि सभी परिणाम बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें ही होते है। अतएव अपर पक्षका अगुरुलघु गुणके द्वारा षड्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणाम इसके अपवाद हैं ऐसा आशय व्यक्त करना आगमविरुद्ध तो है ही, तर्क और अनुभवके भी विरुद्ध है।

उक्त कथनसे यह जानकारी तो मिलती ही है कि अविभागप्रतिच्छेदोंकी षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिका यह कथन सब द्रव्योंसम्बन्धी पर्यायोंकी अपेक्षा किया गया है। साथ ही यह जानकारी भी मिलती है कि जहाँ पर गुणविशेषकी पर्यायोंके कथनकी विवक्षा न होकर मात्र स्वभाव पर्यायका कथन करना इष्ट होता है वहाँ वह सर्वत्र घटित हो ऐसे सामान्य लक्षणका निर्देश किया जाता है। प्रवचनसार गाथा ९३ की सूरिकृत टीकामें तथा नियमसार गाथा १४ की टीका आदिमें पर्यायोंके दो भेद करके स्वभाव पर्यायके निर्देशके प्रसंगसे यही पद्धति अपनाई गई है। यतः वहाँ स्वभावपर्यायका सामान्य लक्षण बतलाना इष्ट है और स्वभावपर्याय (स्वप्रत्यय पर्याय) विभाव की हेतुभूत बाह्य उपाधिसे रहित होती है, इसलिए वहाँ उसका निर्देश करते समय जैसे विशेषणरूपसे गुणविशेषका उल्लेख नहीं किया गया है उसी प्रकार विशेषण-रूपसे बाह्य उपाधिका भी उल्लेख नहीं किया गया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिये। किन्तु पर्यायके इस सामान्य लक्षणमें रूपादि, ज्ञानादि या गतिहेतुत्वादि जिस गुणको विशेषणरूपसे उल्लिखित कर दिया जायगा वहाँ वह उस उस गुणकी स्वभाव पर्याय हो जायगी। और यदि इसके साथ पर प्रत्ययरूप उपाधिका उल्लेख कर दिया जायगा तो वह उस उस गुणकी विभाव पर्याय कहलाएगी। इस तथ्यको विशेषरूपसे समझनेके लिए प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका हृदयङ्गम करने योग्य है।

प्रत्येक द्रव्यके परिणाम दो ही प्रकारके होते है इसका समर्थन अष्टसहस्री पृ० ५४ के इस वचनसे भी होता है।

द्विविधो ह्यात्मनः परिणाम :—स्वाभाविक आगन्तुकश्च। तत्र स्वाभाविकोऽनन्तज्ञानादिरात्म-स्वरूपत्वात्। मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः, कर्मोदयनिमित्तकत्वात्।

आत्माका परिणाम दो प्रकारका है—(१) स्वाभाविक (२) आगन्तुक। इनमें आत्मस्वरूप होनेसे अनन्त ज्ञानादि स्वाभाविक परिणमन हैं और कर्मोदय निमित्तक अज्ञानादि दोष आगन्तुक परिणमन है।

इस प्रकार पर्यायें दो ही प्रकारकी होती हैं इसका समर्थन समग्र जैन वाङ्मय करता है। जिन तीसरे प्रकारकी पर्यायोंका उल्लेख अपर पक्षने किया है वास्तवमें वह उसका पूरे जैनागमको सम्यक् प्रकारसे ध्यानमें न लेनेका ही फल है।

३. उपाधिके सम्बन्धमें विशेष खुलासा

यहाँ प्रकरण संगत होनेसे थोड़ा उपाधिके सम्बन्धमें स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। एक ऐसी ध्वजा लीजिये जो वायुसे संयोग कर रही है और एक दूसरा ऐसा पत्थर लीजिए जो वायुसे संयोग नहीं कर रहा है। देखने पर विदित होगा कि जिसके साथ वायुके संयोगरूप उपाधि लगी हुई है वह स्वयं वायुके ईरणरूप गुणकी योग्यतावाली होनेसे ईरण परिणाम परिणत वायुके संयोगको निमित्त कर स्वयं तदनुरूप लहराने लगती है और दूसरा पत्थर जो कि अपनेमें ईरण गुणका अभाव होनेसे वायुसे संयोग नहीं कर रहा है, उपाधिरहित होनेके कारण स्थिर बना रहता है अर्थात् नहीं लहराता है। किन्तु यहाँ ध्वजा और पत्थरके इन दोनों प्रकारके परिणमनोंमें कालद्रव्यकी निमित्तता है, अवगाहनमें आकाश द्रव्यकी निमित्तता है तथा ध्वजाके फहरानेमें धर्मद्रव्यकी निमित्तता है और पत्थरके स्थिर रहनेमें अधर्म द्रव्यकी निमित्तता है तथापि इन काल आदि द्रव्योंके रहनेपर भी इनको निमित्त कर उन दोमेंसे किसीमें भी सोपाधिपना दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे स्पष्ट विदित होता है कि साधारण निमित्त विशेष उपाधि संज्ञाको न प्राप्त होनेके कारण इनकी अपेक्षा स्वभाव पर्यायोंको सोपाधि कहना उपयुक्त नहीं है। अतः पर्यायें दो ही प्रकारकी होती हैं—एक स्वप्रत्यय या स्वभाव पर्यायें और दूसरी स्व-परप्रत्यय या विभाव पर्यायें। इनके सिवाय जिनके होनेमें साधारण निमित्त भी नहीं हैं ऐसी कोई तीसरे प्रकारकी पर्यायें होती हों ऐसा जिनागमका अभिप्राय नहीं है।

४. गाथाओंका अर्थपरिवर्त्तन

यह तो मानी हुई बात है कि जो भी परिणमन होता है वह 'स्व' में होता है, 'स्व' के द्वारा होता है और वह स्वयं कर्ता बनकर स्वतन्त्ररूपसे उस परिणमनको करता है, क्योंकि कर्ताका 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' यह लक्षण उसमें तभी घटित होता है। इतना अवश्य है कि यदि वह सोपाधि परिणमनको करता है तो वहाँ उस उपाधिका भी निर्देश किया जायगा। समयसार गाथा ११६ से लेकर १० गाथाओं द्वारा प्रत्येक द्रव्यके इसी परिणमन स्वभावकी सिद्धि की गई है। किन्तु प्रतिशंका ३ में अपने अभिप्रायकी पुष्टिके लिए उनमेंसे कतिपय गाथाओंके अर्थमें परिवर्तन किया गया है। आगे हम यही स्पष्ट करके बतलानेवाले हैं कि उन गाथाओं और उनके टीका वचनोंमें जो अर्थवरिवर्तनका उपक्रम किया गया है उसकी पुष्टि उन गाथाओं और उनके टीका वचनोंसे कथमपि नहीं होती। वे गाथा ११८ और १२३ हैं। ११८ गाथा इस प्रकार है—

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥

जीव यदि पुद्गल द्रव्योंको कर्मरूपसे परिणमाता है तो स्वयं कर्मरूपसे न परिणमन करते हुए उनको चेतन जीव कैसे परिणमाता है ॥११८॥

यह इस गाथाका शब्दार्थ है। इसके प्रकाशमें प्रतिशंका ३ में किये गये इसके अर्थको पढ़िये—

'जीव यदि पुद्गल द्रव्यको कर्मभावसे परिणत कराता है तो उस पुद्गल द्रव्यमें निजकी परिणत होनेकी योग्यताके अभावमें जीव द्रव्य उसको कैसे (कर्मरूप) परिणत करा सकता है ।

गाथा ११६ से १२० तककी गाथाओंका एक पंचक है । उनमेंसे बीचकी ११८ संख्याकी गाथा लेकर और उसका अर्थ बदलकर उसके द्वारा प्रतिशंका ३ में अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया गया है । उक्त गाथाके तीसरे पादमें 'ते सयमपरिणमंते' पद है । इसका अर्थ होता है 'स्वयं नहीं परिणमनेवाले उनको।' किन्तु प्रतिशंका ३ में इसका अर्थ किया गया है—'उस पुद्गल द्रव्यमें निजकी परिणत होनेकी योग्यताके अभावमें जीव द्रव्य उसको ।'

इसी प्रकार गाथा १२३ के 'तं सयमपरिणमंतं' पदके अर्थमें तथा गाथा ११८ की आत्मख्याति टीकाके 'न तावत् तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणामयितुं पार्येत' इस वचनको उद्धृत कर इसके 'न तावत् स्वयमपरिणममानं' पदके अर्थमें भी परिवर्तन किया गया है ।

गाथा ११६ से लेकर १२५ तककी गाथाओं द्वारा पुद्गल और जीवका स्वयं कर्ता होकर परिणामीपना सिद्ध किया गया है । उसी अर्थकी पुष्टिमें उक्त दो गाथायें और उनका टीका वचन आया है । इन द्वारा यह बतलाया गया है कि जीव और पुद्गलमें जो-जो परिणाम (पर्याय) होते हैं उनको वे स्वयं स्वतन्त्ररूपसे कर्ता बनकर करते हैं । किन्तु प्रतिशंका ३ में इस अभिप्रायको तिलाञ्जलि देकर उक्त प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि जीव और पुद्गलमें मात्र परिणमनेकी योग्यता होती है । स्वयं परिणमना उनका अपना कार्य नहीं, उन्हें परिणमाना उपाधिका कार्य है । यदि उक्त गाथाओं और उनके टीका वचनोंका यही अर्थ होता तो उन गाथाओंकी उक्त टीकामें जो यह कहा गया है कि—'स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते ।'—'स्वयं परिणमनेवाला तो परिणमानेवाले दूसरेकी अपेक्षा करता नहीं, क्योंकि वस्तुशक्तियाँ दूसरेकी अपेक्षा नहीं करतीं ।' सो इसके कहनेको क्या आवश्यकता थी । इससे सिद्ध है कि प्रतिशंका ३ में अपर पक्षने उक्त गाथाओं और उनके टीका वचनका जो अर्थ किया है वह समीचीन नहीं है ।

आगे प्रतिशंका ३ में तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ७ के आधारसे जो यह लिखा है कि 'यदि मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकी सद्भूत गति आदि निमित्तोंकी सहायता पूर्वक उत्पन्न होनेसे उन परिणामोंकी धर्मादि द्रव्योंमें सद्भूतता ही मानने योग्य है, अन्यथा यदि धर्मादि द्रव्योंके गतिहेतुत्वादि गुणोंमें कूटस्थता आ जानेसे फिर धर्मादि द्रव्य उपर्युक्त मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकी भिन्न-भिन्न गति आदिमें सहायक नहीं हो सकेंगे ।'

सो इस सम्बन्धमें इतना ही कहना है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकी जो गति हो रही है वह सद्भूत है इसमें संदेह नहीं । इसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंमें जो प्रति समय परिणमन हो रहा है वह भी सद्भूत है, इसमें भी संदेह नहीं । इन्हें हमने कहीं असद्भूत कहा भी नहीं है । ये असद्भूत हैं भी नहीं । तथा इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे पर्यायकी अपेक्षा परिणमनशील होनेके कारण प्रतिसमय अपने उत्पादस्वभावके कारण पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है, व्ययस्वभावके कारण पर्यायरूपसे व्ययको प्राप्त होता है और ध्रौव्य स्वभावके कारण द्रव्यरूपसे न उत्पन्न होता है और न व्ययको ही प्राप्त होता है । ऐसी वस्तु व्यवस्था है, फिर भी एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें जो अन्तर प्रतीत होता है वह अन्तर दूसरेके संयोग करनेका परिणाम (फल) होनेके कारण अलग-अलग प्रत्येक पर्यायमें उपाधिको भी स्वीकार किया गया है इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० ११२ में कहा भी है—

विस्रसा परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रयव्यवस्थानात्, तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्।

विस्रसा (स्वभावसे) परिणमनशील द्रव्यका दूसरे कारणोंकी अपेक्षा किये विना उत्पादादित्रयकी व्यवस्था है, प्रत्येक समयमें होनेवाली पर्याय विशेषमें ही हेतुका व्यापार स्वीकार किया है।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि प्रत्येक द्रव्यमें उत्पादादित्रय स्वभावसे होते हैं उनमें कारणान्तरों की अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा वह द्रव्यका स्वभाव नहीं माना जा सकता। फिर भी एक समयकी पर्यायसे जो दूसरे समयकी पर्यायमें भेद होता है सो उस भिन्न पर्यायको उत्पन्न तो करता है स्वयं द्रव्य ही, किन्तु उस पर्यायको उत्पन्न करते समय अन्य द्रव्यको जिस पर्यायको उपाधि बनाकर वह उस पर्यायको उत्पन्न करता है उस (उपाधि) में निमित्तपनेका व्यवहार होनेके कारण उसकी सहायतासे उसने उस पर्यायको उत्पन्न किया यह व्यवहार किया जाता है। इस व्यवहारको उपचरित माननेका यही कारण है। इसलिए ऐसे व्यवहारको उपचरित माननेसे न तो किसी द्रव्यमें कूटस्थता आती है, न अन्य द्रव्यकी जिस पर्यायमें निमित्त व्यवहार किया गया है वह असद्भूत ठहरती है और न ही विवक्षित द्रव्यमें जो कार्य हुआ है वह भी असद्भूत ठहरता है। ऐसा होने पर भी निमित्त व्यवहार असद्भूत है ऐसा माननेमें कोई बाधा भी नहीं आती।

प्रतिशंका ३ में ज्ञानके उपयोगाकार परिणमनको दृष्टान्तरूपमें उपस्थित कर ज्ञेयभूत पदार्थोंको उसका निमित्त बतलाया गया है सो इन ज्ञेयभूत पदार्थोंको प्रकृतमें ज्ञापक निमित्तोंके रूपमें स्वीकार किया गया है या कारक निमित्तोंके रूपमें यह प्रतिशंका ३ में स्पष्ट नहीं किया गया है। वैसे जिस अभिप्रायकी पुष्टिमें उपयोगाकार परिणमनको उल्लिखित किया है उससे तो ऐसा ही विदित होता है कि प्रतिशंका ३ में ज्ञेयभूत पदार्थोंको उपयोगाकार परिणमनके कारकनिमित्तरूपसे ही स्वीकार किया गया है और इस प्रकार बौद्धमतका अनुसरणकर उपयोगाकार परिणमनकी उत्पत्ति ज्ञेयोंके आश्रित स्वीकार की गई है। किन्तु यदि अपर पक्षकी यही मान्यता है तो उसे आगमसम्मत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगम (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १ सू० १४) में निमित्त दो प्रकारके बतलाये हैं—ज्ञापक और कारक। ज्ञेयभूत पदार्थ उपयोगके ज्ञापक निमित्त हैं, कारक निमित्त नहीं। अतएव प्रकृतमें यह उदाहरण लागू नहीं होता ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

समतुलाका खुलासा करते हुए प्रतिशंका ३ में जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि 'स्व-परप्रत्यय परिणमनमें उपादानभूत और निमित्तभूत वस्तुओंमें विद्यमान कारणभावकी परस्पर विलक्षणता रहते हुए भी कार्योत्पत्तिमें दोनोंकी समान अपेक्षा होती है।' सो प्रकृतमें यही विचारणीय है कि उपादानसे विलक्षण निमित्तरूपसे स्वीकृत उनमें रहनेवाली वह कारणता क्या वस्तु है जो उनमें पाई जाती है। यदि उनकी उस रूपसे कार्यके साथ बाह्य व्याप्तिका होना इसीमें कारणताका व्यवहार किया जाता है तो यह जिनागममें स्वीकृत है। इसके सिवाय अन्य किसी प्रकारकी यथार्थ कारणता उनमें बन नहीं सकती, क्योंकि कार्य पृथक् द्रव्यका परिणाम है और जिनमें उस कार्यकी अपेक्षा निमित्त व्यवहार हुआ है वे उससे सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनोंमें परस्पर अत्यन्ताभाव है। जो कार्यका स्वचतुष्टय है उसका निमित्त व्यवहारके योग्य अन्य द्रव्योंमें अत्यन्ताभाव है और उनका अर्थात् निमित्त व्यवहारके योग्य अन्य द्रव्योंका जो स्वचतुष्टय है उसका कार्य द्रव्यमें अत्यन्ताभाव है। ऐसी अवस्थामें एकमें कार्य धर्म रहे और उसका कारण धर्म दूसरेमें रहे यह कैसे हो सकता है अर्थात् त्रिकालमें नहीं हो सकता। इसलिए वास्तविक कारणताकी अपेक्षासे दोनोंको समतुलामें नहीं विठाया जा सकता। यही कारण है कि उपादानमें कारणता परमार्थभूत स्वीकार की गई है वह स्वरूपसे स्वतःसिद्ध उपादान है और जिनमें निमित्तव्यवहार किया जाता है उनमें वह कारणता उपचरित है, क्योंकि

वे स्वरूपसे स्वतःसिद्ध परद्रव्यके कार्यके कारण नहीं है। अतएव दोनोंमें कारणताको यथार्थ माननेका आग्रह करना उचित नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

यह लिखना कि 'कार्योत्पादनमें निमित्त और उपादान दोनों ही एक दूसरेका मुख ताकनेवाले हैं' अति साहसकी बात है। विचारकर देखा जाय तो यह ऐसा साहसपूर्ण कथन हैं जो द्रव्यके लक्षण पर ही सीधा प्रहार करता है। ऐसा मानने पर तो किसी भी वस्तुका स्वरूप स्वतःसिद्ध नहीं बनता है। वस्तुके स्वरूपका विवेचन करते हुए पंचाध्यायीमें लिखा है—

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥८॥

जिस दर्शनमें वस्तुका वस्तुत्व ही प्रतिसमय अर्थक्रियाकारित्व माना गया हो उस दर्शन पर ऐसी बात लादना आश्चर्य ही नहीं महान् आश्चर्य है। कोई ऐसा क्षण नहीं जब प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य न करता हो और कोई ऐसा क्षण नहीं जब उपाधि योग्य अन्य द्रव्यका योग न मिलता हो। यह सहज योग है। इसे मिथ्या विकल्पों द्वारा बदला नहीं जा सकता। ऐसा स्वीकार कर लेने पर किसीको किसीके पीछे नहीं चलना है और न किसीको किसीका मुँह ही ताकना है। सब अपनी-अपनी स्थितिमें रहते हुए परस्परकी अपेक्षासे अपने-अपने योग्य उचित व्यवहारके अधिकारी होते हैं। कार्यसे सर्वथा भिन्न पर द्रव्यकी पर्यायमें कर्ता आदि व्यवहार करनेकी उपपत्तिका निर्देश करते हुए पंडितप्रवर आशाधरजी अनगारधर्मामृत अ० १ में लिखते हैं—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१२०॥

जिसके द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिए कर्ता आदिक वस्तुसे भिन्न साधे जाते हैं वह व्यवहार है और कर्ता आदिकको वस्तुसे अभिन्न जाननेवाला निश्चय है ॥१२०॥

इस प्रकार विवक्षित पर्याययुक्त अन्य द्रव्यमें निमित्त व्यवहार क्यों किया जाता है और उसमें भी कर्ता आदिरूप व्यवहार करनेका क्या प्रयोजन है यह आगमानुसार सम्यक् प्रकारसे ज्ञात हो जानेपर न तो उपादान और निमित्त इनमेंसे किसीको परमुखापेक्षी माननेकी आवश्यकता है और न ही किसीको किसीके पीछे लगनेकी आवश्यकता है। अपने-अपने उपादानके अनुसार प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें विवक्षित कार्यरूपसे परिणमते है और उस उस कार्यमें निमित्त व्यवहारके योग्य अन्य द्रव्योंकी प्रत्येक समयकी पर्यायें निमित्त व्यवहारको प्राप्त होती रहती हैं। ऐसी कार्यकारणपरम्पराके अनुसार वस्तुमर्यादा है और इसीलिए उनमें यथायोग्य उपादान-उपादेय व्यवहार और निमित्तनैमित्तिक व्यवहार प्रत्येक कालमें बनता रहता है। स्वामी समन्तभद्रने 'बाह्येतरोपाधि' (स्व० स्तो०, श्लोक ६०) इत्यादि श्लोक इसी अभिप्रायसे निबद्ध किया है। सभी कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रताका होना द्रव्यगत स्वभाव है यह व्यवस्था भी तभी बनती है जब पूर्वोक्त कथनको पूरी तरह स्वीकार कर लिया जाता है। प्रकृतमें हमें इस बातका आश्चर्य होता है कि एक ओर तो प्रतिशंका ३ में प्रत्येक कार्यके प्रति निमित्तोंका व्यापार इसलिए आवश्यक बतलाया जाता है कि उसे न स्वीकार किया जायगा तो धर्मादि द्रव्योंमें कूटस्थता आ जायगी और दूसरी ओर अनन्त अगुरुलघुगुणोंकी षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप प्रत्येक समयके कार्यको बाह्य उपाधिके बिना केवल आभ्यन्तर उपाधिजन्य स्वीकर करके भी उसमें कूटस्थता नहीं मानी जाती है और फिर आश्चर्य इस

बातका होता है कि ऐसा स्वीकार करनेपर भी अपर पक्ष 'बाह्येतरोपाधि' की समग्रताके सिद्धान्तको भी खण्डित नहीं मानता। हमारे ख्यालसे अपर पक्षके द्वारा प्रस्थापित यह नया मत ही इस तथ्यकी घोषणा करता है कि उपादान स्वयं स्वतन्त्ररूपसे अपने कार्यको करता है तथापि विवक्षित परद्रव्यकी पर्याय उसकी प्रसिद्धिका हेतु है, इसलिए उपचारसे उसकी भी कारक साकल्यमें परिगणना की गई है।

आचार्य अमृतचन्द्रने जो 'न जातु रागादिनिमित्तभावं' इत्यादि कलश लिखा है उसमें 'संग' पद ध्यान देने योग्य है। यह शब्द ही इस मान्यताका खण्डन करता है कि अन्यमें तद्भिन्नकी कार्यकरण शक्ति वस्तुतः होती है। आचार्यवर्य इस द्वारा यह बतला रहे हैं कि इस जीवने अनादिसे 'परके द्वारा हिताहित होगा' ऐसा मानकर जो अपने विकल्प द्वारा परका संग किया है वही विकल्प इसके संसारी बने रहनेका मुख्य कारण है। वे कहते हैं कि 'स्व' का संग तो अनपायी है, वह अपराध नहीं है। अपराध यदि है तो परका संग करना ही है। परमें निमित्त व्यवहार होनेका यही कारण है। आप्तपरीक्षा पृ० ४४–४५ में आचार्य विद्यानन्दीने बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिरूप सामग्रीके साथ या एकदेशरूप सामग्रीके साथ जो कार्यका अन्वय-व्यतिरेक बतलाया है वह ठीक ही बतलाया है, क्योंकि जिस प्रकार आभ्यन्तर उपाधिके साथ कार्यकी आभ्यन्तर व्याप्ति उपलब्ध होती है उसी प्रकार बाह्य उपाधिके साथ भी कार्यकी बाह्य व्याप्ति जिनागममें स्वीकार की गई है। बाह्य उपाधिके साथ कार्यकी बाह्य व्याप्तिका उपलब्ध होना ही तो इस तथ्यका गमक है कि इस कार्यका कोई यथार्थ उपादान अवश्य है जिसने स्वयं स्वतन्त्ररूपसे कर्ता, करण और आश्रय आदि बनकर परिणामस्वभावी होनेसे इस कार्यको उत्पन्न किया है। स्पष्ट है कि जिनागममें जो निमित्त-उपादानकी स्वीकृति है और उनकी कार्यके प्रति जो बाह्य-आभ्यन्तर व्याप्ति बतलाई है वह भिन्न-भिन्न प्रयोजनसे ही बतलाई है, अतएव उसे सम्यक् प्रकारसे जानकर उसका उसी रूपमें व्याख्यान होना चाहिए, तभी वह व्याख्यान यथार्थ माना जा सकता है।

रही लोककी बात सो जो चतुर जानकार होता है वह संयोग कालमें होनेवाले कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारकी उपाधिका विचार करता है, कल्पनाकी तरंगोंके आधारसे कार्यकारण परम्पराका विचार करनेवाले पुरुषोंकी बात निराली है। आगममें दोनोंकी मर्यादाका निर्देश किया है, अन्वय-व्यतिरेकके नियमसे इसीका परिज्ञान होता है। किन्तु जो बाह्य सामग्रीकी विकलताको देखकर यह अनुमान करता है कि केवल बाह्य सामग्रीके अभावमें यह कार्य नहीं हो रहा है और उस समय उपादान शक्तिकी जो विकलता है उसे नहीं अनुभवता उसका वैसा अनुमान करना ठीक नहीं है। इसलिए प्रकृतमें यही निर्णय करना चाहिए कि जिस समय प्रत्येक द्रव्य निश्चय उपादान होकर अपने कार्यके सन्मुख होता है उस समय निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका सद्भाव नियमसे होता है। यही जिनागम है और यही मानना परमार्थ सत्य है।

प्रथम दौर

: १ :

शंका १२

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी श्रद्धाके समान सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुकी श्रद्धा भी मिथ्यात्व है, क्या ऐसा मानना या कहना शास्त्रोक्त है ?

समाधान १

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है तथा सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुकी श्रद्धा व्यवहार-सम्यग्दर्शन है । इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए श्री नियमसारजीमें कहा है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ॥५॥

अर्थ—आप्त, आगम और तत्त्वोंकी श्रद्धासे सम्यक्त्व होता है ।

उसकी टीकामें स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यह व्यवहार सम्यक्त्वके स्वरूपका कथन है ।

सम्यग्दृष्टिके ऐसी श्रद्धा अवश्य होती है और वह ऐसे कथनको शास्त्रोक्त मानता है ।

प्रथम दौर

: १ :

शंका १३

पुण्यका फल जब अरहंत तक होना कहा गया है (पुण्यफला अरहंता प्र० सा०) और जिससे यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बनता है उसे 'सर्वातिशायि' पुण्य बतलाया है (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) । तब ऐसे पुण्यको हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

समाधान १

यह तो सुविदित सत्य है कि सर्वत्र प्रयोजनके अनुसार उपदेश दिया जाता है। ऐसी उपदेश देनेकी पद्धति है। पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध पदार्थोंमें अन्तर्भाव होता है और ये दोनों पदार्थ अजीव पदार्थके साथ संसारके कारण हैं। इसलिये भगवान् कुंदकुदने हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रयके भेदसे पुण्य और पापमें भेद होनेपर भी द्रव्यार्थिकनयसे उनमें अभेद बतलाते हुए उन्हें संसारका कारण कहा है। वे कहते हैं—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

अर्थ :—अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है ऐसा तुम जानते हो, किन्तु वह सुशील कैसे हो सकता है जो शुभकर्म (जीवको) संसारमें प्रवेश कराता है ॥१४५॥

आचार्य महाराज इस विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त न मानकर उसे आत्माकी स्वाधीनताका नाश करनेवाला तक बतलाते हैं। वे कहते हैं—

तम्हा दु कुसीलेहिं य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणं हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

अर्थ :—इसलिये इन दोनों कुशीलोंके साथ राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशीलके साथ संसर्ग और राग करनेसे स्वाधीनताका नाश होता है ॥१४७॥

अशुभ कर्मका फल किसीको इष्ट नहीं है, इसलिये उसकी इच्छा तो किसीको नहीं होती। किन्तु पुण्य कर्मके फलका प्रलोभन छूटना बड़ा कठिन है, इसलिए प्रत्येक भव्य प्राणीको मोक्षमार्गमें रुचि उत्पन्न हो और पुण्य तथा पुण्यके फलमें ही अटक न जाय इस अभिप्रायसे सभी आचार्य उसकी निन्दा करते आ रहे हैं। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर पं० प्रवर द्यानतरायजीने दशलक्षणधर्म पूजामें स्त्रीको विषवेलकी उपमा दी है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे परम पुण्यशालिनी तीर्थंकरकी माता अथवा ब्राह्मी, सुन्दरी, सीता, राजुल, चन्दना आदि जगत्पूजनीय सती साध्वी स्त्रियोंकी निन्दा करना चाहते हैं। इसी प्रकार अशुचि भावनामें शरीर-भोगोंके प्रति अरुचि उत्पन्न करनेके अभिप्रायसे यदि शरीरको घिन उत्पन्न करनेवाले अपने नौ द्वारोंसे

मल-मूत्र आदि मलोंको बहानेवाला कहा गया है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उस द्वारा १००८ सुलक्षणोंके धारी उत्तम संहननवाले जगत्पूज्य तीर्थंकरके शरीरको निन्दा की गई है।

स्पष्ट है कि जहाँ जो उपदेश जिस अभिप्रायसे दिया गया हो वहाँ उस अभिप्रायसे उसे शास्त्रोक्त मानना चाहिये।

○

द्वितीय दौर

: १ :

शंका १३

प्रश्न था कि पुण्यका फल जब अर्हन्त होना तक कहा गया है ('पुण्यफला अरहंता' प्र० सा०) और जिससे यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बनता है, उसे सर्वातिशायी पुण्य बतलाया है (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्यको हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

प्रतिशंका २

हमारा यह प्रश्न हेतुगर्भित था 'पुण्य क्यों ग्राह्य है ?—'त्याज्य क्यों नहीं है ?' इस बातको सिद्ध करनेके लिये हमारे प्रश्नमें दो शास्त्रीय वाक्योंके साथ सुन्दर हेतु भी उसी प्रश्नमें यथास्थान विद्यमान है। आप यदि उनपर निष्पक्षभावसे दृष्टिपात करते तो पुण्यके महत्त्व और उसकी उपयोगिताको अवश्य निःसंकोच स्वीकार करते। आपने ऐसा नहीं किया।

संसारी भव्य प्राणी, जोकि यथार्थमें अपना हितैषी है, उसका उद्देश्य सदा यही रहता है कि मैं अरहंत पद प्राप्त करके जगत्का उद्धार करूँ और मुक्ति प्राप्त कर स्वयं सर्वोच्च-नित्य-अव्याबाध सुखी, पूर्ण ज्ञातादृष्टा बनूँ। बुद्धिमान् भव्य प्राणीका यह पुनीत उद्देश्य पुण्य क्रियाओं द्वारा ही सिद्ध हुआ करता है। यह एक निर्विवाद सर्वशास्त्रसंमत बात है; इसी बातको हमारे सर्वोच्च आध्यात्मिक आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने सर्वमान्य ग्रन्थ प्रवचनसारमे 'पुण्यफला अरहंता' •आदि ४५ वीं गाथा द्वारा स्पष्ट एवं समर्थित किया है। कुन्दकुद आचार्यके प्रत्येक भक्तको निष्पक्ष भाव एवं शुद्धभावसे उस उल्लेखकी उपेक्षा नहीं करना चाहिये।

आपने उत्तर देते समय आध्यात्मिक आचार्यके उक्त स्पष्ट संकेतपर दृष्टिपात नहीं किया और न उसपर अपना अभिमत ही प्रकट किया। यह स्वयं एक चिन्तनीय वार्ता है जो कि वीतराग चर्चाका एक विशेष अंग है। हमारे लिये आर्ष वाक्य ही तो पथप्रदर्शक है उनके अवलम्बनसे ही हमको सिद्धान्तनिर्णय करना है।

आपने अपने लेखमें उत्तर देते हुए प्रारम्भमें जो यह लिखा है कि 'सर्वत्र प्रयोजनके अनुसार उपदेश दिया जाता है, ऐसी उपदेश देनेकी पद्धति है।'

हम इसे हृदयसे स्वीकार करते हैं, परन्तु आप अपनी इस मान्यता पर ही गंभीरतासे विचार कर प्रकाश डालें कि जो बात चतुर्थ कालमें भी ग्राह्य थी वह वर्तमान अवनत युगमें अग्राह्य या त्याज्य कैसे हो गई ? जिससे पुण्यको त्याज्य बतलानेकी आवश्यकता आज प्रतीत होने लगी । मानवोचित कर्त्तव्यसे प्राय: विमुख आज-कलकी जनताके लिए तो पुण्याचरणकी मोक्षगमनके योग्य चतुर्थकालकी अपेक्षा और भी अधिक आवश्यकता है ।

जिस कालमें तीर्थंकर, सामान्य केवली तथा चरमशरीरी महर्षियोंका समागम सुलभ था, उस चतुर्थकालमें वे आत्मशुद्धिके लिए जनसाधारणको अपने अध्यात्मिक प्रवचनमें पुण्य आचरण करनेका उपदेश देते थे, जिससे प्रभावित होकर चक्रवर्ती सम्राट् तक उसे शिरोधार्य करके महाव्रती पुण्याचरण करते हुए अपना मनुष्यभव सफल किया करते थे, शुभभावमय पुण्य चारित्रका अवलम्बन लेकर महान् बहिरङ्ग अन्तरङ्ग तपश्चरण करते हुए शुद्धभाव पाकर मुक्ति प्राप्त किया करते थे, भरतचक्रवर्ती, बाहुबली आदिकी पुण्यचर्या सर्वविदित है । **'तब मुक्ति प्राप्तिके लिए शारीरिक तथा मानसिक क्षमताके अयोग्य निकृष्ट पञ्चमकालमें उस परम्परा मोक्षदायक पुण्यभावका उपदेश त्याज्य हो'** यह एक महान् आश्चर्यजनक बात इसलिये भी **है कि आजके प्राणीके लिए आत्मकल्याणार्थ सिवाय पुण्याचरणके अन्य कोई मार्ग अवशिष्ट नहीं, तथा च आजका सर्वोच्च कोटिका आध्यात्मिक उपदेष्टा भी, स्वयं न तो पुण्य कर्मके शुभफलको त्याग सकता है, न वह पुण्याचरणके सिवाय अन्य कोई उच्चकोटिका शुद्धोपयोगी आचरण कर सकता है और न वह आत्महितके लिए पुण्यबन्धके सिवाय अन्य कुछ (सर्व कर्मविध्वंस) कर सकता है । तब बतलाइये कि यदि वह दूसरोंको पुण्याचरण त्याग देनेका उपदेश दे तो उसका उपदेश आज कलकी पात्रताके अनुसार क्या उचित माना जाता है ? क्या आजके श्रोताकी पात्रता चतुर्थकालसे भी उच्च है ?**

इन बड़े टाईपमें मुद्रित वाक्योंपर निष्पक्ष स्पष्ट प्रकाश डालेंगे ऐसी वाञ्छनीय आशा है ।

आपने जो अपने पक्ष पोषणमें समयसार ग्रन्थकी १४५ वीं गाथा उपस्थित की है, उस गाथाके रहस्यको स्पष्ट बतलानेवाली श्री अमृतचन्द्र सूरिकी टीकाको देखनेका भी यदि आप कष्ट करते तो आशा है पुण्य-पोषक इस पद्यका उल्लेख करनेका प्रयास आप कभी न करते । टीकाकारने शुभ-अशुभ भावके अनेक विकल्प करके अन्तिम वाक्य जो लिखा है वह मननीय है । टीककार ऋषि लिखते हैं—

शुभाशुभौ मोक्ष-बन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवल-पुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म ।

अर्थ—शुभ तथा अशुभ (क्रमशः) **मोक्षका और बन्धका मार्गरूप है (अर्थात् शुभ मोक्षका मार्ग है जब कि अशुभ बन्धका मार्ग है)** । अत: दोनों पृथक् है, **किन्तु केवल जीवमय तो मोक्षका मार्ग है और केवल पुद्गलमय बन्धका मार्ग है** । वे अनेक है एक नहीं हैं, उनके एक न होने पर भी केवल पुद्गलमय बन्धमार्गकी आश्रितताके कारण आश्रयके अभेदसे कर्म एक ही है ।

इस प्रकार इस गाथाकी टीकाका अभिप्राय जीवमय पुण्यको मोक्षमार्ग बतलाकर पुण्यकी उपादेयताकी पुष्टि करता है । अतः यह टीका आपके उद्देश्यके विपरीत है ।

इसके अनन्तर आपने अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिए उसी समयसार ग्रन्थकी एकसौ सैंतालीसवीं गाथा उपस्थित की है, किन्तु उसको उपस्थित करते समय सम्भवतः आपने यह विचार करनेका कष्ट नहीं

उठाया कि इस गाथामें शुभ-अशुभ कर्मके साथ संसर्ग करने तथा उनके साथ राग करनेका निषेध ग्रन्थकारने किया है। आत्माके पुण्य-शुभ परिणामोंको त्यागनेका उल्लेख इस गाथामें किसी भी शब्दसे प्रगट नहीं किया गया। अतः आपका यह प्रमाण प्रकृतमें आपके अभिप्रायका पोषक नहीं है।

टीकाकारकी निम्नलिखित टीका दर्शनीय है—

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीसंसर्गवत्।

अर्थ—कुशीलरूप शुभ-अशुभ कर्मोंके साथ राग (मानसिक भाव) और संसर्ग (वाचनिक तथा शारीरिक प्रवृत्ति) प्रतिषिद्ध है, क्योंकि शुभाशुभ कर्मके साथ राग और संसर्ग बन्धका कारण है, जैसे मनोज्ञ अमनोज्ञ कृत्रिम हथिनीके साथ वननिवासी स्वतन्त्र हाथीको (परतन्त्र बनानेके कारण) राग और संसर्ग करना निषिद्ध है।

हमारा प्रश्न पुण्य आचरणके विषयमें था। तदनुसार आपको पुण्य आचरण त्याज्य प्रमाणित करनेवाला ही शास्त्रीय प्रमाण देना चाहिये। हमने शुभ कर्मकी उपयोगिताका समर्थन करनेवाला प्रश्न नहीं किया, अपि तु शुभाशुभ कर्मध्वंस करनेवाले तपोमय एवं परम्परासे मुक्तिके कारणभूत पुण्य आचरणके विषयमें ही हमारा प्रश्न है। अतः आप पुण्य-पाप द्रव्यकर्मकी बात छोड़कर पुण्यभाव—शुभोपयोगरूप व्यवहार सम्यक्चारित्र पर शास्त्रीय प्रमाण सहित प्रकाश डालिये।

इस प्रकार आपने अपने पक्षकी पुष्टिमें जो तीन बातें कहीं हैं, उन पर पर्याप्त प्रकाश डालकर, अब कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके पठनीय, माननीय एवं आचरणीय प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे प्रमाण आपकी मान्यता को बदलनेमें आपके लिए अच्छे सहायक होंगे।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार अ० ३में लिखते हैं :—

असुभोपयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ २६० ॥

अर्थ—अशुभ उपयोगसे रहित शुद्धोपयोगी अथवा शुभोपयोगी मुनि जनताको संसारसागरसे पार कर देते हैं, उन मुनियोंका भक्त प्रशस्त सुख या प्रशस्त पद प्राप्त कर लेता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि इस गाथाकी टीका करते हुए लिखते हैं—

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः अन्तःसकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयोगयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयोगयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति तद्भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः।

अर्थ—पूर्वोक्त लक्षणवाले मुनि मोह, द्वेष और दूषित रागरूप अशुभ उपयोगसे रहित, समस्त कषायों से रहित होनेके कारण कदाचित् शुद्धोपयोगी और प्रशस्त रागके उदयसे कदाचित् शुभोपयोगी मुनि स्वयं मोक्षायतन (मोक्षस्थान) रूप होनेसे जगतको तारते रहते हैं। जो व्यक्ति उनकी भक्ति करते है वे भी शुभपरिणामी बनकर पुण्यात्मा हो जाते हैं।

इसी ग्रन्थका एक अन्य प्रमाण देखिये—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुण घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥३–२५४॥

अर्थ—मुनियोंकी प्रशस्त चर्या तथा गृहस्थोंकी प्रशस्त चर्या उत्तम है। वे मुनि तथा गृहस्थ अपनी उसी प्रशस्त चर्याद्वारा मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं।

टीकामें श्री अमृतचन्द्रसूरिका भाव भी गाथाके अभिप्रायका पोषक है—

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्ति-विरुद्धरागसंगतत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।

अर्थ—इस तरह यह शुद्ध आत्माका अनुरागरूप शुभ आचार है। यह शुभाचार शुद्ध आत्माको प्रकाशक सर्व विरतिवाले मुनियोंके कषाय अंश रहनेसे शुभ प्रवृत्तिमें वर्तमान मुनियोंके शुद्धात्मानुभवके विरोधी राग भाव होनेसे गौण है। गृहस्थोंके सकल चारित्रके अभाव द्वारा शुद्धात्माका प्रकाश न होनेसे और कषायके सद्भावसे तथा रागयुक्त अशुद्ध आत्माका अनुभव होते रहनेसे परम्परासे परम निर्वाणसुखका कारण होनेसे मुख्य है।

इस तरह टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि अपनी टीकामें श्री कुन्दकुन्द आचार्यके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मुनिचर्या तथा श्रावक-चर्यारूप शुभोपयोग-पुण्याचरण-सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र मोक्षका कारण है, अतः उपादेय है।

इन दो प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध होती है कि शुभोपयोग, पुण्य अथवा व्यवहार चारित्र एक ही अर्थ वाचक पर्याय शब्द हैं। इनको सरागचारित्र या सराग धर्म भी कहा जाता है। यह पुण्य भाव या शुभोपयोग राग भावके सहयोगसे पुण्य कर्मबन्धका कारण है, उसीके साथ-साथ अपनी यथासम्भव विषयभोगोंसे तथा पापक्रियाओंसे एवं मिथ्यात्वकी विरक्तिके कारण संवर और निर्जराका भी कारण है। यही विरक्ति बढ़ते-२ शुद्ध परिणतिमें परिणत हो जाती है। इस दृष्टिसे शुभोपयोग या पुण्यभाव शुद्धोपयोगका कारण है। सातवें गुणास्थानका पुण्य भाव ही आठवें गुणस्थानके शुद्धोपयोगमें परिणत हो जाता है। अर्थात् सातिशय अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थानके अन्तिम समयकी पर्याय शुभोपयोगमयी है और उससे दूसरे समयकी आत्मपर्याय शुद्धोपयोगमयी होती है। इस कारण शुभोपयोग शुद्धोपयोगका साक्षात् कारण भी है और पाँचवें-छठे गुणस्थानका शुभोपयोग शुद्धोपयोगका परम्परा कारण है।

इस कार्य-कारणभावसे पुण्यभाव या शुभोपयोग परम उपयोगी है। संवर और निर्जराका कारण होनेसे धर्मरूप है। निश्चय धर्म या शुद्धोपयोग यदि फल है तो शुभोपयोग उसका पूर्ववर्ती पुष्प है। इस कारण सम्यग्दृष्टिका पुण्य परम्परासे मुक्तिका कारण होनेसे प्रत्येक व्यक्तिके लिये ग्राह्य या उपादेय है। आठवें गुणस्थानसे नीचेवाले प्रत्येक व्यक्तिके लिये रंचमात्र भी हेय या त्याज्य नहीं है। इसी बातको पुष्ट करते हुए श्री परम आध्यात्मिक श्री देवसेन आचार्यने भावसंग्रह ग्रन्थमें लिखा है :—

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका पुण्यभाव नियमसे संसारका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि निदान न करे तो उसका पुण्य मोक्षका कारण होता है।

अतः मोक्षका कारणभूत पुण्य त्याज्य किस तरह हो सकता है।

अणुव्रत-महाव्रतका आचरण तो कुछ दूरकी बात है, किन्तु जिनेन्द्र भगवान्‌का दर्शन करनेरूप पुण्य भाव भी कर्मनिर्जराका कारण होनेसे धर्मरूप है। धवल ग्रंथमें इसका समर्थन करते हुये श्री वीरसेन आचार्यने लिखा है :—

कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।

—धवल पुस्तक ६ पृ० ४२७

अर्थ—प्रश्न—जिनेन्द्र प्रतिमाका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें किस प्रकार कारण है ?

उत्तर—जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाका दर्शन करनेसे निधत्ति निकाचितरूप मिथ्यात्व आदि कर्म समूहका क्षय हो जाता है।

जयधवलमें शुभ परिणामोंको कर्मक्षयका कारण बतलाते हुए श्री वीरसेन आचार्य लिखते हैं :—

सुहसुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

जय-धवल पु० १ पृ० ६

अर्थ—शुभ और शुद्ध परिणामोंसे यदि कर्मोंका क्षय होना न माना जावे तो फिर किसी तरह कर्मोंका क्षय हो ही न सकेगा।

अर्थात् शुभ परिणामों (पुण्यभावों) से भी कर्मोंका क्षय हुआ करता है।

श्रीवीरसेन स्वामी श्री धवल सिद्धान्त ग्रंथमें शुभोपयोगरूप धर्मध्यानका कर्म निर्जराके लिये कारण रूपमें उल्लेख करते हुए निम्नप्रकार कथन करते हैं :—

जिणसाहुगुणुक्कित्तणपसंसणा विणयदाणसंपण्णा।
सुदसीलसंजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा॥५५॥

किं फलमेदं धम्मज्झाणं ? अक्खवयेसु विउलामरसुहफलं गुणसेणीए कम्मणिज्जराफलं च। खवएसु पुण असंखेज्जगुणसेढीकम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभाग-विहाणफलं च। अतएव धर्मादनपेतं धर्म्यध्यानमिति सिद्धं।

—धवल पु० १३ पृ० ७६-७७

अर्थ—जिन और साधुके गुणोंका कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान-सम्पन्नता, श्रुत, शील और संयममें रत होना—ये सब बातें धर्मध्यानमें होती हैं, ऐसा जानना चाहिये।

शंका—इस धर्मध्यानका क्या फल है ?

समाधान—अक्षपक जीवोंको देवपर्यायसम्बन्धी विपुल सुख मिलाना उसका फल है और गुणश्रेणीमें कर्मकी निर्जरा होना भी उसका फल है। तथा क्षपक जीवोंके तो असंख्यात गुणश्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा होना और शुभकर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागका होना उसका फल है। अतएव जो धर्मसे अनपेत है वह धर्मध्यान है, यह बात सिद्ध होती है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि व्यवहारधर्मके विषयमें लिखते हैं :—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥२११॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थ—अपूर्ण रत्नत्रय अर्थात् शुभोपयोगवाले व्यक्तिके भाव मोक्षके उपाय रूप होते हैं। उस व्यक्तिके जो कषायांश होता है, वह कर्म-बन्धकारक है, उसका अपूर्ण रत्नत्रय (व्यवहारचारित्र अंश) कर्म-बन्धका कारण नहीं है।

अर्थात्—अपूर्ण रत्नत्रयस्वरूप सरागसंयम या (५-६-७वें गुणस्थानका) पुण्य-आचरण कर्मबन्धके साथ कर्ममोक्षका भी कारण है।

निर्जराका कारण

श्री देवसेन आचार्य भावसंग्रहमें लिखते हैं :—

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं य दाणपूजाइं।
जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥६१०॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जो छह आवश्यक कर्म, वैयावृत्य, दान, पूजा आदि करता है, वे सब कार्य कर्मोंकी निर्जराके कारण हैं।

श्री परमात्मप्रकाशकी टीकामें श्री ब्रह्मदेवसूरि लिखते हैं—

यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति, तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परम्पराया मोक्षसाधकं भवति; नो चेत् पुण्यकारणं तत्रैवेति।

—अ० २ गा० १९१ की टीका

अर्थ—यदि निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसा मानकर उसके साधकपनेसे उसके अनुकूल तप करता है और शास्त्र पढ़ता है तो वह परम्परासे मोक्षका ही कारण है, ऐसा नहीं कहना चाहिये कि वह केवल पुण्यबन्धका ही कारण है।

ये निदानरहितपुण्यसहिताः पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगे लब्धेऽपि भोगांस्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति।

—अ० २ गा० ५७ की टीका

अर्थ—जिन पुरुषोंने निदानरहित पुण्यबन्ध किया है वे दूसरे भवमें राजादिके भोग पाकर भी उन भोगोंको छोड़कर बलदेव आदिके समान जिनदीक्षा ग्रहण कर मोक्षको जाते हैं।

उभयभ्रष्टता

यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना (निर्विकल्पसमाध्यलभमाना) अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्।

—अ० २ दोहा ५५ की टीका

अर्थ—जिसने उस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त नहीं किया (निर्विकल्प समाधि प्राप्त नहीं की है) वह यदि गृहस्थ अवस्थामें दान, पूजा आदि छोड़ देता है और मुनि अवस्थामें षट् आवश्यकको छोड़ देता है तो वह दोनों ओरसे भ्रष्ट है और वह दूषण ही है।

निष्कर्ष

इस तरह परम आध्यात्मिक ऋषि श्रीआचार्य कुन्दकुन्द, श्रीअमृतचन्द्र सूरि, श्री वीरसेन आचार्य आदिके आर्ष प्रमाणोंसे प्रमाणित होता है कि पुण्यभाव अर्थात् चौथे, पाँचवें, छटे व सातवें गुणस्थानका शुभपरिणाम या व्यवहार चारित्र कर्मोंके संवर तथा निर्जराका भी कारण है। (इनमें जितना रागांश है उससे शुभास्रव बन्ध होता है तथा जितना निवृत्ति अंश है उससे निर्जरा होती है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानके अन्तिम समयका पुण्यभाव दूसरे समयमें शुद्धोपयोगरूप हो जाता है। इस तरह जब पुण्यभाव और शुद्ध भावमें उपादान-उपादेयभाव है तब शुद्ध परिणतिका भी जनक पुण्यभाव त्याज्य या हेय किस तरह हो सकता है ? अर्थात् सम्यग्दृष्टिका पुण्यभाव त्याज्य नहीं है।

अतः प्रवचसारवर्ती श्री कुन्दकुन्द आचार्यका वचन—'पुण्णफला अरहन्ता' श्री कुन्दकुन्दाचार्यके प्रत्येक भक्तको श्रद्धाके साथ सत्य मानते हुए अरहन्त पदपर भी बिठा देनेवाले पुण्यभावको हेय (छोड़ने योग्य) कभी न समझना चाहिये न कहना चाहिये, क्योंकि बिना पुण्यभावके (गुणस्थान क्रमानुसार) शुद्धभाव त्रिकालमें भी नहीं हो पाते।

●

शंका १३

पुण्यका फल जब अरहन्त होना तक कहा गया है (पुण्यफला अरहंता प्र० सा०) और जिससे यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बनता है, उसे सर्वातिशायी पुण्य बताया है (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्यको हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

प्रतिशंका २ का समाधान

समाधानमें यह स्पष्ट बताया गया था कि सर्वत्र प्रयोजनके अनुसार उपदेश दिया जाता है। प्रतिशंका २ में उसे हृदयसे स्वीकार भी कर लिया गया है, फिर भी यह प्रश्न उठाया गया है कि 'जो बात चतुर्थ कालमें भी ग्राह्य थी वह पंचमकालमें अग्राह्य कैसी ?' समाधान यह है कि मोक्षमार्गका प्ररूपण कालभेदसे नहीं बदलता है, पुण्य और पाप ये दोनों कर्मके भेद हैं और इन्हें नाश कर ही मोक्ष प्राप्त होता है यह जैनमार्गकी प्रक्रिया है, जिसे सब जानते हैं।

'पुण्यका फल अरहन्त है, वह सर्वातिशायि पुण्यसे त्रैलोक्यका अधिपति बनता है।' ये शास्त्रोंमें वाक्य प्रमाणीभूत हैं पर देखना यह है कि किस विवक्षासे इनका निरूपण है। बारहवें गुणस्थानमें सर्वमोहके क्षीण हो जानेपर जो वीतराग भाव होता है वह अरहन्त पद (केवलीपद) का निश्चयसे हेतु है। उस समय जो शुभप्रकृतियोंका कार्य है उसमें इसका उपचार होनेसे उस पुण्यको भी अरहन्त पदका कारण (उपचार) से आगममें कहा गया है। अन्यथा—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

—त० सू०, अ० १०, सू० १

इस आगम वचन द्वारा जो मोहके क्षय और ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान बतलाया है उसमें उक्त प्रमाणकी संगति कैसे बैठ सकती है।

वीतराग अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहरहित केवली भगवान् अणुमात्र पर पदार्थके स्वामी नहीं हैं। फिर भी उन्हें तीन लोकका स्वामी कहा गया है सो क्या यह निश्चय कथन है या मात्र तीन लोकमें प्राणियोंके श्रद्धाभाजन होनेसे उनमें तीन लोकके अधिपतित्वका उपचार है, विचार कीजिये। स्पष्ट है कि इस उपचरित अधिपतित्वका कारण ही उस सर्वातिशायी पुण्यको कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि जीवके भेदविज्ञानकी जागृतिके साथ पापविरक्ति तथा शुभप्रवृत्ति होती है। यतः यह निश्चयधर्मका सहचर है। अतः इस व्यवहार धर्मस्वरूप पुण्याचरणका उपदेश आगममें दिया गया है। पर पुण्य मोक्षका हेतु नहीं है। मोक्षका हेतु तो वह वीतरागता है जो पुण्यभावके साथ चल रही है। अतः परमार्थसे पुण्य और पापको बन्धका तथा वीतराग भावको मोक्षका कारण मानना यथार्थ है।

समयसार गाथा १४५ का प्रमाण हमने देकर यह सिद्ध किया था कि वह सुशील कैसे हो सकता है जो शुभ कर्म जीवको संसारमें प्रवेश कराता है। गाथाके अभिप्रायको ठीक तरहसे न समझ कर इसे पुण्य पोषक बतलाया गया है जो असंगत है। गाथाके उत्तरार्धका सीधा अन्वय है कि :—

'यत् संसारं प्रवेशयति कथं तत् सुशीलं भवति' अर्थात् जो जीवको संसारमें प्रवेश कराता है उसे सुशील कैसे कहें। टीका भी गाथाके अनुरूप ही है, टीकाके अर्थ करनेमें विपर्यास हुआ है इतना ही संकेत मात्र हम यहाँ करना चाहते हैं। उसे आगेकी गाथा १४६ और १४७ के प्रकाशमें देखें तो सब स्पष्ट हो जायगा। गाथा १४७ की टीकामें यह स्पष्ट बतलाया है कि—

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बंधहेतुत्वात्।

अर्थ—कुशीलस्वरूप शुभ और अशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्गका निषेध है, क्योंकि वे बन्धके हेतु हैं।

कुन्दकुन्दस्वामीने समयसार जीमें बन्धकी दृष्टिसे पुण्य-पापकी समानता इसमें स्पष्ट रूपसे बताई है। तब 'पुण्णफला अरहंता' का अर्थ इन्हीं कुन्दकुन्दस्वामीने प्रवचनसारमें किस नयसे लिखा है यह विवेकियोंके ज्ञानमें सहज ही आ जायगा। पुण्यका त्याज्यपना इसी दृष्टिसे आगममें प्रतिपादित है और पुण्यके साथ होने वाले वीतराग भावकी ओर लक्ष्य देकर पुण्यको उपचारसे उपादेय भी बताया गया है। दोनों दृष्टियोंको ध्यान में लेने पर कोई विरोध नहीं रह जाता।

यदि उक्त प्रश्नमें पुण्य-पापरूप शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ परिणामसे अभिप्राय नहीं है, किन्तु 'पुण्याचरण'से है जैसा कि प्रतिशंका २ में लिखा है तो पुण्यका अर्थ यहाँ 'पवित्र' समझा गया और पवित्राचरणका अर्थ पुण्यपापमल रहित वीतराग भाव ही हुआ सो वीतराग भावका फल 'अरहन्त पद' है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। पर मूल प्रश्नमें पुण्याचरण शब्द नहीं था 'पुण्य' शब्द था, अतः उसकी मीमांसा की गई थी। वीतराग भावरूप आचरण ही सर्वत्र सिद्धिका कारण बना है यह प्रतिशंकामें प्रयुक्त उदाहरणों से भी स्पष्ट है। प्रतिशंका २ के अन्तमें निष्कर्ष निकालते समय यह बात लिखते हुए कि 'शुभपरिणाम संवर-निर्जराका भी कारण है', यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि 'जितना रागांश है उससे शुभास्रव-बंध होता है, तथा जितना निवृत्ति अंश है उससे संवर-निर्जरा होती है।' इस निष्कर्षमें ही जब शुभ रागांशको बंध मान लिया गया है तब यह प्रश्न स्वयं प्रश्न नहीं रह जाता।

तृतीय दौर

: ३ :

शंका १३

पुण्यका फल जब अरहंत होना तक कहा गया है (पुण्यफला अरहंता प्र० सा०) और जिससे यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बनता है उसे सर्वातिशायी पुण्य बतलाया है, (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्यको हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

प्रतिशंका ३

यह प्रश्न जीवके पुण्य भावकी अपेक्षासे है। इस बातको हमने अपने द्वितीय प्रपत्रमें स्पष्ट कर दिया था तथा यह भी स्पष्ट कर दिया था कि शुभोपयोग, पुण्यभाव व्यवहार धर्म एवं व्यवहार चारित्र—ये एकार्थवाची शब्द हैं। फिर भी आपने पुण्यरूप द्रव्यकर्मकी अपेक्षासे ही उत्तर प्रारम्भ किया है। द्रव्यकर्मकी अपेक्षा से स्पष्टीकरण अन्तमें किया जायगा। प्रथम तो जीवके भावकी अपेक्षासे स्पष्टीकरण किया जाता है।

आपने लिखा है कि 'सम्यग्दृष्टि जीवके भेदविज्ञानकी जागृतिके साथ-साथ पापसे विरक्ति तथा शुभ-प्रवृत्ति होती है।' इस मिश्रित अखण्ड पर्यायका नाम शुभोपयोग है। इसमें प्रशस्त राग भी है तथा सम्यक्त्व व पापोंसे विरक्तिरूप चित्तकी निर्मलता भी है। श्री पंचास्तिकाय गाथा १३१ की टीकामें शुभभावका यह ही लक्षण दिया गया है :—

यत्र प्रशस्तरागश्चित्तप्रसादश्च तत्र शुभपरिणामः।

अर्थ—जहाँ प्रसस्त राग तथा चित्तप्रसाद है वहाँ शुभ परिणाम है।

यह टीका मूल गाथाके अनुरूप ही है। मूल गाथामें भी 'चित्तप्रसाद' दिया है। चित्तप्रसादका अर्थ चित्तकी स्वच्छता, उज्ज्वलता, निर्मलता, पवित्रता। प्रसादका अंग्रेजीमें भी अर्थ Purity किया है। यह निर्मलता पापोंसे विरक्ति आदि रूप ही तो है। श्री प्रवचनसार गाथा ९ में भी कहा है कि जिस समय जीव अशुभ, शुभ या शुद्धरूप परिणमता है उस समय वह अशुभ, शुभ या शुद्ध है। अर्थात् एक समयमें एक ही भाव होता है और उस समयकी अखण्ड (पूर्ण) पर्यायका नाम ही अशुभ, शुभ या शुद्ध भाव है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टिके मात्र रागांशका नाम शुभ भाव नहीं है किन्तु उसकी मिश्रित अखण्ड पर्याय ही का नाम शुभ भाव है। उसमें रागांशसे बंध और निर्मल अंशसे संवर-निर्जरा होते हैं।

उस शुभ भाव या व्यवहार धर्ममें भी लक्ष्य या ध्येय वीतरागता एवं शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति ही रहती है। पर्यायकी निर्बलताके कारण वह जीव वीतरागतामें स्थित नहीं हो पाता है। इस कारण उसको राग व विकल्प करने पड़ते हैं, किन्तु उस राग या विकल्प द्वारा भी वह वीतरागताको ही प्राप्त करना चाहता है। जैसे पं० श्री दौलतरामजीने कहा है—

संयम धर न सके पै संयम धारणकी उर चटापटी।

जो जिस वस्तुका इच्छुक होता है वह उसी वस्तुके धारीकी श्रद्धा, ज्ञान व पूजादि करता है। जैसे धनुर्विद्याका इच्छुक धनुर्वेदके विशेषज्ञका तथा धनार्थी राजा आदिका श्रद्धान, ज्ञान व पूजासत्कारादि करता है। कहा भी है—

यो हि यत्प्राप्त्यर्थी सः तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्विदं नमस्करोति।

इसी प्रकार वह व्यवहार सम्यग्दृष्टि वीतरागताकी प्राप्तिका इच्छुक होनेसे वीतराग देव, वीतराग गुरु और वीतरागताका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंका ही श्रद्धान, ज्ञान एवं पूजा, सत्कार, सेवा आदि करेगा। जैसे धनुर्वेदके विशेषज्ञ या राजादिकी पूजा सत्कारादि धनुर्विद्या या धनकी प्राप्तिमें साधक निमित्त कारण है, उसी प्रकार वीतराग देवादिकी पूजादि भी वीतरागताके प्राप्त करनेमें साधक निमित्त कारण है। अर्थात् वीतराग देवादिकी पूजादि रूप आचरण वीतरागताके ही कारण हैं। वीतराग देवके गुणोंमें जो उसका अनुराग है वह उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये ही है। कहा भी है—'वन्दे तद्गुणलब्धये' अर्थात् उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये ही वन्दना करता हूँ। उसका यह भाव नहीं कि मैं सदा इसी प्रकार बना रहूँ। किन्तु वह उसी समय तक पूजादि करता है जब तक वह स्वयं वीतरागी नहीं बन जाता है। जैसे धनुर्विद्याका इच्छुक उसी समय तक गुरुका आश्रय लेता है जब तक वह स्वयं धनुर्वेद विशेषज्ञ नहीं बन जाता है। कहा भी है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

—समाधिशतक

अर्थ—यह जीव अपनेसे भिन्न अर्हन्त-सिद्धस्वरूप परमात्माकी उपासना करके उन्हींके समान अर्हन्त-सिद्धरूप परमात्मा हो जाता है। जैसे कि बत्ती, दीपकसे भिन्न होकर भी, दीपककी उपासनासे दीपकस्वरूप हो जाती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्‌की उपासना उपासकको भगवान् ही बना देती है।

परमप्पं वै जाणंतो जोई मुच्चेइ मलवलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४८॥

—मोक्षपाहुड

अर्थ :—जो योगी परमात्माको ध्यावता संता वर्ते है सो मलका देनहारा जो लोभकषाय ताकरि छूटे है और नवीन कर्मका आश्रय न होय है—ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है अर्थात् परमात्माके ध्यानसे संवर तथा निर्जरा होती है एवं लोभके छूट जाने पर केवलज्ञान स्वयं प्राप्त हो जाता हैं।

श्री प्रवचनसार गाथा ८० में भी कहा है :—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

अर्थ—जो अरहन्तको द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपनेसे जानता है वह अपनी आत्माको जानता है और उसका मोह अवश्य लय (नाश) को प्राप्त हो जाता है।

जैसे कोई पुरुष धन कमानेके लिये कोई व्यापार शुरू करता है। उस व्यापारमें जो कुशल है उसका आश्रय भी लेता है और दुकान पर आवश्यक व्यय (खर्च) भी करता है। किन्तु इस प्रकार व्यय करके, कई

गुनी आय (आमदनी) करता है। वह व्यापारी बराबर व्ययको कम करता जाता है और आयको बढ़ाता जाता है। उस व्यापारमें व्यय होते हुए भी क्या उस व्यापारको व्यय या हानिका मार्ग कहा जा सकता है? कदाचित् नहीं कहा जा सकता है। वह तो आयका ही मार्ग है। इसी प्रकार शुभोपयोगी जीव वीतरागताकी प्राप्तिके लिये वीतराग देव, गुरु तथा शास्त्रका आश्रय लेता है और उनकी भक्ति पूजादि करता है। इसमें जितना रागांश है उससे प्रशस्त बन्ध भी होता है, किन्तु विरक्ति अंश द्वारा बन्धसे निर्जरा कई गुनी अधिक होती है, क्योंकि वह उस समय सांसारिक इच्छाओं तथा भोगोसे एवं पंच पापसे विरक्त है। इस प्रशस्त बन्धसे भी ऐसी सामग्री (द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव) प्राप्त होती है जो मोक्षमार्गकी साधक होती है। वह स्वयं वीतरागताको बढ़ाता हुआ शुभरागको छोड़ता जाता है और इस प्रकार विशुद्धि बढ़ती जाती है। अन्तमें सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका क्षयकर परम वीतरागी हो जाता है। ऐसी दशामें प्रशस्त बन्ध होते हुए भी, क्या उस शुभ भाव (व्यवहार धर्म) को बन्धका मार्ग कहा जा सकता है? कदापि नहीं कहा जा सकता है। यह तो मोक्षका ही मार्ग है अर्थात् संसार सागरके पार करनेको तीर्थ है।

श्री समयसार गाथा १२ व उसकी टीकामें भी यही कथन किया है कि जब तक आत्मा शुद्ध न हो जाय तबतक व्यवहार प्रयोजनवान् है। एक प्राचीन गाथा देकर यह सिद्ध किया है कि व्यवहार छोड़ देनेसे तीर्थ (मार्ग) छूट जायगा। यह स्पष्ट ही है कि मार्ग छूट जाने पर मोक्ष कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥१२॥

—समयसार

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान् हुये तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान् हो गये उन्हें तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरम भावमें—अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-चारित्रके पूर्ण भावको नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्थामें ही स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

टीकाका उत्तरार्ध—ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च—जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह। एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।

अर्थ—जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परम्परासे पच्यमान अशुद्ध स्वर्णके समान जो (वस्तुका) अनुत्कृष्ट-मध्यम भावका अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध स्वर्णके समान उत्कृष्ट भावका अनुभव नहीं होता, इसलिये, अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला होनेसे जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखलाये हैं ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमालाके समान होनेसे जाननेमें आता हुआ उस काल प्रयोजनवान् है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिसे तिरा जाये वह तीर्थ है, ऐसा व्यवहार धर्म है, और पार होना व्यवहार धर्मका फल है अथवा अपने स्वरूपको प्राप्त होना तीर्थफल है)। अन्यत्र भी कहा है कि —यदि तुम जिनमतका प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार

और निश्चय-दोनोंको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ-व्यवहारमार्गका नाश हो जायगा और निश्चयनयके बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

भावार्थका उत्तरार्ध :—जहाँतक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँतक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन वचनोंको सुनना, धारण करना तथा जिन वचनोंको कहनेवाले श्री जिनगुरुकी भक्ति, जिनबिम्बके दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्गमें प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है। जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है, किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य परद्रव्यका अलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत, महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति और पंच परमेष्ठीका ध्यान-रूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करनेवालोंकी संगति एवं विशेष जाननेके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करना, इत्यादि व्यवहार मार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरोंको प्रवर्तन कराना—ऐसे व्यवहारनयका उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान् है। व्यवहारनयको कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है, किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहारको ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिये उल्टा अशुभोपयोगमें ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादिगति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा। इसलिए शुद्धनयका विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है—ऐसा स्याद्वाद मतमें श्री गुरुओंका उपदेश है (सोनगढ़निवासी श्री हिम्मतलालकृत टीकाके हिन्दी अनुवादसहित मारोठसे प्रकाशित समयसारके पृष्ठ २५ से २७ तक।)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पूर्णता १३वें गुणस्थानमें होती है। अतः उपरोक्त कथनानुसार १२वें गुणस्थानतक साधक अवस्था है और वहाँतक व्यवहारधर्म प्रयोजनवान् है। सो ठीक है, क्योंकि साध्यके प्राप्त हो जानेपर साधक (मार्ग) का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है।

भावार्थ विशेष ध्यान देनेयोग्य है, क्योंकि इसमें गाथा तथा टीकाका भाव स्पष्ट किया गया है। पण्डितप्रवर जयचन्दजीने भी भावार्थमें यही आशय प्रगट किया है।

उपरोक्त कथनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्यादृष्टिके द्वारा किया हुआ व्यवहारधर्म भी सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये साधन है। इस विषयको आगम प्रमाणसहित आगे स्पष्ट किया जायगा।

टीकाके अन्तमें दी गई प्राचीन गाथासे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार धर्मके बगैर शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध आत्माको प्राप्त किये बगैर तज्जन्य सुखका अनुभव भी नहीं हो सकता है। जैसे मिठाई का स्वरूप जाननेमात्रसे मिठाईका स्वाद और तज्जन्य सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। निश्चयके बगैर साध्य नहीं रहेगा और साध्य बगैर साधन किसका किया जायगा। अतः व्यवहार व निश्चय दोनों आवश्यक है।

पुण्यरूप व्यवहार प्राथमिक अवस्थामें कार्यकारी है, क्योंकि यह निश्चयरूप साध्यका साधन है। कहा भी है—

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।

—पंचास्तिकाय पृ० २४५–२४६ रायचन्द ग्रन्थमाला

अर्थात्—जो जीव अनादि कालसे लेकर भेदभाव कर वासितबुद्धि हैं, वे प्राथमिक व्यवहार अवलम्बी होकर भिन्न साध्य-साधनभावको अंगीकार कर तीर्थको प्राप्त करते हैं।

श्री अमृतचन्द्रके उपर्युक्त वाक्य ध्यान देने योग्य हैं।

इसी बातको श्रीमान् पं० फूलचन्द्रने स्वयं इन शब्दोंद्वारा स्वीकार किया है—

कहीं-कहीं शुभक्रियाको धर्म कहा जाता है। माना कि यह कथन उपचारमात्र है। पर कहीं-कहीं उपचार कथन भी ग्राह्य होता है। कारण कि शुभक्रियामें हिंसादि अशुभ क्रियाओंकी निवृत्ति छिपी हुई है। बन्धनमुक्त होनेके लिए जीवको यद्यपि अशुभ और शुभ दोनों प्रकारकी क्रियाओंसे निवृत्त होना है, किन्तु प्रागवस्थामें अशुभसे निवृत्ति भी ग्राह्य मानी गई है। यही कारण है कि ग्रन्थकारने धर्मके स्वरूपका विवेचन करते हुए हिंसा आदि अशुभ क्रियाओंके त्यागको भी धर्म कहा है।

—पंचाध्यायी पृ० २६७, वर्णी ग्रन्थमाला

श्री समयसार गाथा १४५ की टीकामें भी जीवके शुभभावको मोक्षमार्ग बतलाया है, जिसका उद्धरण हम दूसरे प्रपत्रमें दे चुके हैं। परन्तु आपने उसपर यह आपत्ति उठाई है कि 'टीकाके अर्थ करनेमें विपर्यास हुआ है।' अतः पंडितप्रवर जयचन्दजीकृत तथा अहिंसा मंदिर, दिल्लीसे प्रकाशित अर्थ नीचे दिये जाते हैं—

'शुभ अथवा अशुभ मोक्षका और बन्धका मार्ग ये दोनों जुदे हैं। केवल जीवमय तो मोक्षका मार्ग है और केवल पुद्गलमय बन्धका मार्ग है।

—पं० श्री जयचन्द्रजी

शुभ अथवा अशुभ मोक्षका और बन्धका मार्ग 'ये दोनों पृथक् हैं, केवल जीवमय तो मोक्षका मार्ग है और केवल पुद्गलमय बन्धका मार्ग है।

—दिल्लीसे प्रकाशित

श्री समयसारके उपरोक्त स्पष्ट प्रमाण व्यवहारधर्मको मोक्षमार्ग सिद्ध करते हैं। इस सम्बन्धमें श्री धवल, जयधवल आदिक ग्रन्थोंके प्रमाण द्वितीय पत्रिकामें दिये जा चुके हैं। अब आगे कुछ अन्य प्रमाण भी दिये जाते हैं :—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरू तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति॥

—श्री प्रवचनसार गाथा ७९ के बाद श्री जयसेन टीका में दी गई है।

अर्थ—उन देवाधिदेव, यतिवरवृषभ त्रिलोक गुरुको जो मनुष्य नमस्कार करता है वह अक्षय (मोक्ष) सुखको प्राप्त करता है।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतित्ता।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि॥८०॥

—मोक्षपाहुड

अर्थ—जो देव गुरुके भक्त हैं, निर्वेद कहिये संसार-देह-भोगतें विरागताकी परंपराको चिंतवन करे हैं, ध्यान विषै रत हैं, बहुरि सुचारित्रवाले हैं, ते मोक्षमार्ग विषै ग्रहण किये हैं।

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मिय-संजुदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो॥५२॥

—मोक्षपाहुड

अर्थ—जो योगी सम्यक्त्व कूं धरता संता देव तथा गुरु विषै भक्तियुक्त है बहुरि साधर्मी संयमियोंमें अनुरक्त है सोई योगी ध्यानमें रत होय है।

निम्नलिखित गाथाएँ आचार्य कुन्दकुन्द विरचित श्री रयणसारकी हैं :—

भयवसणमलविवज्जियसंसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥५॥

अर्थ :—भय व व्यसनके मलसे रहित और संसार-शरीर-भोगोंसे विरक्त पंचपरमेष्ठीका भक्त अष्ट-गुणांगसे पूर्ण सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है।

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोयपरिचत्ता।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुवा सिवसुहं पत्ता ॥९॥

अर्थ—देव-गुरु-शास्त्र भक्त, संसार-शरीर-भोगसे विरक्त और रत्नत्रय सहित मनुष्य ही शिवसुखको प्राप्त करता है।

दाणं पूजा सीलं उपवासं बहुविहं पि खवणं पि।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्म विण दीहसंसारे ॥१०॥

अर्थ—दान, पूजा, शील, उपवास और बहु प्रकार क्षमादि भी, यदि सम्यक्त्व सहित हैं तो मोक्ष सुखके कारण हैं, यदि सम्यक्त्व रहित हैं तो दीर्घ संसारके कारण है।

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥१३॥

अर्थ—जो शक्तिपूर्वक जिनपूजा करता है और मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावकधर्मी मोक्षमार्गरत होता है।

पूया (य) फलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

शुद्ध मनवाला पुरुष पूजाके फलसे तीन लोकमें देवोंकर पूज्य होता है और दानके फल से नियमपूर्वक तीन लोकमें सारसुख (मोक्ष सुख) भोगता है।

निम्नलिखित गाथाएँ आचार्य श्री कुन्दकुन्दकृत श्री मूलाचारकी है :—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥६॥

अर्थ—भक्तिसे एकाग्रचित्त होकर जो अरहन्तको नमस्कार करता है वह अति शीघ्र ही सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होता है।

श्री धवल पुस्तक १ पृ० ९ पर यही गाथा प्रमाणरूपसे दी गई है।

इसी प्रकार गाथा ८ में सिद्ध नमस्कारसे, गाथा १२ में आचार्य नमस्कारसे, गाथा १४ में उपध्याय नमस्कारसे, और गाथा १६ में साधु नमस्कारसे सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होना कहा है।

एवं गुणजुत्ताणं पंचगुरूणं विशुद्धकरणेहिं।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्घं ॥१७॥

अर्थ—इस प्रकार गुणयुक्त पंचपरमेष्ठियोंको जो भव्य निर्मल मन, वचन तथा कायसे नमस्कार करता है वह निर्वाण सुखको प्राप्त करता है।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि य पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जामंता य सिज्झंति ॥८१॥

अर्थ—जिनेश्वरकी भक्तिसे पूर्व संचित कर्मका नाश होता है। आचार्यकी कृपासे विद्याओंकी तथा मन्त्रोंकी सिद्धि होती है।

द्वादशांगमें तीव्र भक्ति संसार विच्छेदका कारण है।

—श्री धवल पु० १ पृ० ३०२

दाणु ण दिण्णउ मुनिवरहं ण वि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरु किमु होसइ सिवलाहु ॥१६८॥

—परमात्मप्रकाश अ० २

अर्थ—मुनीश्वरोंको दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान्‌को नहीं पूजा, पंच परमेष्ठीकी वन्दना (पूजा) नहीं की, तब मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है।

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौ पदे।
भक्तानां परमो निधिः प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा।
वन्दीभूतवतोऽपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च ये वां मुदा।
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥११५॥

—श्री समन्तभद्र रचित स्तुतिविद्या

अर्थ—जिनका स्तवन संसाररूप अटवीको नष्ट करनेके लिये अग्निके समान है, जिनका स्मरण दुःख-रूप समुद्रसे पार होनेके लिये नौकाके समान है, जिनके चरण भक्त पुरुषोंके लिये उत्कृष्ट निधान (खज़ानों) के समान हैं, जिनकी श्रेष्ठ प्रतिकृति (प्रतिमा) सब कार्योंकी सिद्धि करनेवाली है, जिन्हें हर्षपूर्वक प्रणाम करनेवाले एवं जिनका मंगलगान करनेवाले नग्नाचार्यरूपसे रहते हुये भी मुझ-समन्तभद्रकी उन्नतिमें कुछ बाधा नहीं होती, वे देवोंके देव जिनेन्द्र भगवान् दानशील, कर्मशत्रुओं पर विजय पानेवाले और सबके मनोरथोंको पूर्ण करने-वाले होवें।

कर्म भक्त्या जिनेन्द्राणां क्षयं भरत गच्छति।
क्षीणकर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखम् ॥१८३॥

—श्री पद्मपुराण पर्व ३२

अर्थ—हे भरत ! जिनेन्द्रदेवकी भक्तिसे कर्म क्षयको प्राप्त हो जाता है और जिसके कर्मक्षय हो जाता है वह अनुपम सुखसे सम्पन्न परम पदको प्राप्त होता है।

नमस्यत जिनं भक्त्या स्मरतानारतं तथा।
संसारसागरं येन समुत्तरतं निश्चितम् ॥१२५॥

—श्री पद्मपुराण पर्व २९

अर्थ—भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार करो और निरन्तर उन्हींका स्मरण करो, जिससे निश्चयपूर्वक संसारसागरको पार कर सको।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥१२५॥

—उपासकाध्ययन

अर्थ—अकेली एक जिन-भक्ति ही जीवके दुर्गतिका निवारण, पुण्यका संचय करनेमें तथा मुक्तिरूपी लक्ष्मीको देनेमें समर्थ है।

नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्वते हि जगतां पतिं नरम् ॥४२॥

—पद्मनन्दि पंचविंशति अ० १०

अर्थ—परमात्माके नाममात्रकी कथासे ही अनेक जन्मोंमें संचित किये हुए पापोंका नाश होता है तथा उक्त परमात्मामें स्थित ज्ञान, चारित्र, सम्यग्दर्शन मनुष्यको जगत्का अधीश्वर बना देता है।

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥२१७॥

—प्रवचनसार

अर्थ—जीव मरे या जिये, अप्रयत्न आचारवालेके हिंसा निश्चित है। प्रयत्नपूर्वक समिति पालन करनेवालेके (बहिरंग) हिंसामात्रसे बन्ध नहीं है।

समिति पालन करना व्यवहारधर्म है। ऐसे व्यवहार धर्मको पालन करनेसे, बहिरंगमें जीवादिकी हिंसा हो जाने पर, बन्ध नहीं होता है। इसी आशयको 'श्री पुरुषार्थसिद्धि उपाय' में बहुत स्पष्ट किया गया है। ऐसी परिस्थितिमें यह कहना कि व्यवहार धर्मरूप शुभभाव मात्र रागांशका नाम है और उससे बन्ध ही होता है, उपचार मात्रसे सहचर होनेके कारण मोक्षमार्ग कहा गया है—यह कथन कैसे आगमसे मेल खा सकता है, अर्थात् आगमविरुद्ध ही है।

ऐसे अनेकों ग्रन्थ भी प्रमाण हैं जिन आगममें गृहस्थोंके लिये देवपूजा, गुरूपास्ति तथा दान आदि और मुनियोंके लिये स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदिरूप व्यवहारधर्म नित्य षडावश्यक कार्योंमें गर्भित किया है। यदि यह कार्यमात्र बन्धके ही कारण है तो क्या महर्षियोंने बन्ध कराने और संसारमें डुबानेका उपदेश दिया है। ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता है। इनको इसी कारण आवश्यक बतलाया है कि इनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, जैसे कि उपरोक्त प्रमाणोंसे सिद्ध है।

अब प्रश्न यह होता है कि इस व्यवहार धर्मके समय प्रशस्त रागसे जो सातिशय पुण्यबन्ध होता है तथा वह संसारका कारण है। परमार्थ दृष्टिसे इस व्यवहारधर्मको पालन करनेवाला शुभोपयोगी जीव उस रागांशसे पंचेन्द्रियोंके विषय या सांसारिक सुखकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता है। पंचेन्द्रिय-विषय और सांसारिक सुखसे, हेय जानकर, विरक्त हो गया है। उसकी आसक्ति तो वीतरागतामें है। इस रागको छोड़नेका ही पूर्ण प्रयत्न है। अतः इससे बन्ध होते हुए भी यह रागांश संसारका कारण नहीं हो सकता है। संसारका कारण तो वास्तविकमें रागमें राग (उपादेय बुद्धि) है। उसकी तो विरागतामें उपादेय बुद्धि है। इन पुण्य प्रकृतियोंके उदयसे ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भवकी प्राप्ति होती है जो मोक्ष-मार्गमें सहायक हैं, बाधक नहीं हैं। उन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भवके आश्रयसे मोक्षके लिये

साधना होती है। अतः पुण्यबन्ध भी मोक्षका साधक है। महान् आचार्योंने इसे सातिशय पुण्य कहा और इससे अरहन्त आदि पदकी प्राप्ति वतलाई है।

निदानरहितपरिणामोपार्जिततीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपधर्मोऽपि (सिद्धगतेः) सहकारी कारणं भवति।

अर्थ—निदानरहित परिणामसे उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति तथा उत्तम संहननादि विशिष्टरूपी धर्म भी सिद्धगतिका सहकारी कारण होता है।

—पंचास्तिकाय गाथा ८५ श्री जयसेनाचार्यकृत टीका

अरहन्त शब्द प्रायः तीर्थंकर पदके लिये प्रयोग होता है। श्री प्रवचनसार गा० ४५ में जो कहा है 'पुण्णफला अरहन्ता' यहाँ यदि पुण्यका आशय पुण्य द्रव्यकर्मसे लिया जाय तो अरहन्तका अर्थ तीर्थंकर होता है। तीर्थंकर प्रकृति सबसे उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। उसका उदय १३वें गुणस्थानसे ही प्रारम्भ होता है। उसके उदयसे ही तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है। यदि पुण्यका अर्थ भाव पुण्य लिया जाय तो श्री समयसार गाथा १२ आदि उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध ही हो जाता है कि पुण्यभाव (व्यवहार धर्म) से केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। आपने पूछा कि 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् की संगति कैसे बैठ सकती है।' प्रश्न नं० १५ में आपने इस सूत्रपर आपत्ति डालते हुए स्वयं लिखा है कि कर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान नहीं होता है। दसवें तथा बारहवें गुणस्थानकी मिश्रित अखण्ड पर्यायका नाम पुण्यभाव है। पंच महाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति आदि रूप व्यवहारचरित्र १२वें गुणस्थानमें भी होता है। (देखिए श्री धवल पुस्तक १४ पृ० ८९) उस पुण्यभावसे मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तरायका क्षय होता है और इन कर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार संगति ठीक बैठती है, न बैठनेका प्रश्न ही नहीं होता है। आपका यह लिखना कि १२वें गुणस्थानमें पुण्यप्रकृतियोंके उदयसे होनेवाले भावका नाम पुण्यभाव है—आगमानुकूल नहीं है।

'तीन लोकका अधिपतित्व' इन शब्दोंसे स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलानेका आशय नहीं है। इनका अर्थ है तीन लोकके प्राणियों द्वारा पूज्य ऐसा पद अर्थात् तीर्थकर पद। जैसे कहा जाता है 'शिवरमणि वरी—शिववधूके पति' आदि। क्या इन शब्दों द्वारा पति-पत्नी सम्बन्ध द्योतित करनेका आशय है? कदापि नहीं। इन शब्दोंसे शिवपदको द्योतित किया जाता है। सर्वसाधारण भी इस बातको जानते हैं। अतः स्व-स्वामी सम्बन्धको लाना, निष्परिग्रह तथा उपचार आदि कथन करना आगमका विपर्यास अर्थ करना ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं।

यदि मिथ्यादृष्टि भी परमार्थकी अपेक्षा व्यवहार धर्म पालन करता है तो उसके लिए वह सम्यक्त्वकी प्राप्तिका कारण होता है। आगममें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके प्रत्यय बतलाते हुए जिनबिम्बदर्शन तथा जिनमहिमा दर्शनको भी प्रत्यय (कारण) बतलाये है। (श्री धवल पु० ६ पृ० ४२, श्री सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र ७ की टीका आदि)। मिथ्यादृष्टिको ही तो सम्यक्त्व की उत्पत्ति होगी। सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका प्रश्न ही पैदा नहीं होता हैं। जिनदर्शनरूप शुभ भावसे मिथ्यात्वके खण्ड-खण्ड हो जाते है और सम्यक्त्व प्राप्ति होती है—इसके कुछ प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। २-३ प्रमाण नीचे और जिये जाते हैं—

कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।'

—श्री धवल पु०, ६ पृ० ४२७

अर्थ—जिनबिंबका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण किस प्रकार है?

समाधान—जिनबिंब दर्शनसे निधत्ति और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिंबका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥

—भावपाहुड़

अर्थ—वे पुरुष परम भक्ति अनुराग कर जिनवरके चरणकमलको नमे हैं ते श्रेष्ठ भावरूप शस्त्र कर जन्म कहिये संसाररूपी वेल ताका मूल जो मिथ्यात्व आदि ताहि खणें हैं, नष्ट करें है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण।
तह णट्ठं जह दिट्ठं तं मए तच्चं ॥२॥

—पद्मनन्दि पंचविंशति अ० १४

अर्थ—हे जिनेन्द्र! आपका दर्शन होनेपर दर्शनमें बाधा पहुँचानेवाला समस्त मोह (दर्शनमोह) रूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया कि जिससे मैंने यथावस्थित तत्त्वको देख लिया है, अर्थात् सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया है।

जो मिथ्यादृष्टि, परमार्थको न जानते हुए, मात्र विषय सामग्री तथा सांसारिक सुखकी प्राप्तिके लक्ष्यसे अप्रशस्त रागसहित कुछ शुभक्रिया करता है और उससे जो पुण्यबन्ध होता है, वह पुण्यभाव तथा पुण्यबन्ध संसारका ही कारण है। श्री प्रवचनसार प्रथम अध्याय आदि ग्रन्थोंमें ऐसे पुण्य या शुभभावको ही पूर्णतया हेय दिखलाया गया है। किन्तु परमार्थदृष्टिसे किये हुए शुभभाव या व्यवहार धर्मका कथन श्री प्रवचनसार तृतीय अध्याय आदि ग्रन्थोंमें है और उसको मोक्षका साधन बतलाया है। बहुत स्थानोंपर आगममें व्यवहाराभास (एकान्त मिथ्या व्यवहार) का भी व्यवहारके नामसे कहकर निषेध किया गया है। इत्यादि विशेषतायें भी ध्यान रखने योग्य हैं। श्री समयसार गा० १४५ व १४७ में (जिनको आपने उद्धृत किया है) मात्र पुण्य तथा पापरूप द्रव्यकर्मोंका व्याख्यान है। पुण्य या पापभावका नहीं है। यहाँ पुण्य तथा पाप कर्मोंको बन्धकी अपेक्षा समान बतलाया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह एकान्तरूपसे सर्वथा समान ही है। जो सांसारिक विषय भोगोंकी अपेक्षासे पुण्य कर्मबन्धको ही उपादेय ग्रहण कर उसमें ही तल्लीन रहते हैं उनको समझाया जा रहा है कि पुण्यमें राग मत करो। ऐसे जीवको परमार्थकी तो खबर ही नहीं है। किन्तु १४५ की टीकामें श्री सूरिजीने स्पष्ट कर दिया है कि (परमार्थदृष्टि सहित) जीवका शुभभाव मोक्षका कारण है जिसका उद्धरण पत्रिका २में दिया जा चुका है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १३

मूल प्रश्न १३—पुण्यका फल जब अरहंत होना तक कहा गया है (पुण्णफला अरहंता प्र० सा०) और जिससे यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बनता है उसे सर्वातिशायी पुण्य बतलाया है, (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्यको हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१. सारांश

हमने प्रथम उत्तरमें यह स्पष्ट कर दिया था कि 'पुण्य और पाप इन दोनोंका आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भाव होता है।' साथ ही यह भी बतला दिया था कि 'अशुभ कर्मका फल किसीको इष्ट नहीं है, इसलिए उसकी इच्छा तो किसीको नहीं होती। किन्तु पुण्यकर्मके फलका प्रलोभन छूटना बड़ा कठिन है, इसलिए प्रत्येक भव्यप्राणीकी मोक्षमार्गमें रुचि उत्पन्न हो और पुण्य अथा पुण्यके फलमें अटक न जाय इस अभिप्रायसे सभी आचार्य उसकी विविध शब्दों द्वारा निन्दा करते आ रहे हैं। यह शास्त्रोक्त है।'

अपर पक्षने अपनी प्रतिशंका २ में अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'हमारा प्रश्न पुण्य आचरणके विषयमें था।' इसके बाद कुछ आगम प्रमाण देकर उसका समर्थन किया है।

अपने दूसरे उत्तरमें हमने उक्त प्रतिशंका पर सांगोपांग विचार कर अन्तमें अपर पक्षके शब्दोंको ध्यानमें रख कर ही यह स्पष्ट कर दिया था कि 'जितना रागांश है उससे आस्रव-बन्ध होता है और जितना शुद्धयंश है उससे संवर निर्जरा होती है।' उक्त प्रतिशंकामें सारांश लिखते हुए इस तथ्यको अपर पक्षने भी स्वीकार कर लिया है।

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार

प्रतिशंका ३ को प्रारम्भ करते हुए अपर पक्षने लिखा है—'यह प्रश्न जीवके पुण्यभावकी अपेक्षासे है इस बातको हमने अपने प्रपत्र २में स्पष्ट भी कर दिया था तथा यह भी स्पष्ट कर दिया था कि शुभोपयोग, पुण्यभाव, व्यवहारधर्म एवं व्यवहारचारित्र ये एकार्थवाची शब्द हैं। फिर भी आपने पुण्यरूप द्रव्यकर्मकी अपेक्षासे ही उत्तर प्रारम्भ किया है।'

समाधान यह है कि हमने जो उत्तर दिया है वह सबके सामने है, अतः उसमें तो हम नहीं जावेंगे। यहाँ मूल शंका और अपर पक्षके इस वक्तव्य पर अवश्य ही विचार करेंगे।

अपर पक्षने यह प्रश्न प्रवचनसार गाथा ४५ (पुण्णफला अरहंता) के आधारसे निबद्ध किया था इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि मूल प्रश्नमें ही अपर पक्षने इस गाथाके प्रथम पादका उल्लेख किया है। प्रवचनसारमें यह गाथा क्यों लिखी गई है इसके लिए गाथा ४३-४४ के संदर्भमें इसके आशयको समझना होगा। गाथा ४३ में 'संसारी जीवोंके उदयगत कर्मांश जिनवरने नियमसे कहे हैं। उनमें मोही, रागी और द्वेषी

होता हुआ यह जीव बन्धका अनुभव करता है' यह कहा गया है। इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि 'इससे सिद्ध है कि क्रिया और क्रियाका फल मोहोदयसे अर्थात् मोहके उदयमें युक्त होनेके कारण होता है, ज्ञानसे नहीं होता अर्थात् ज्ञानस्वभावमें युक्त होनेके कारण नहीं होता—अतो मोहोदयात् क्रिया-क्रियाफले, न तु ज्ञानात्।

इस पर यह शंका होने पर कि अरिहन्तोंके क्रिया तो देखी जाती है पर उसका फल नहीं देखा जाता सो क्यों ? भगवान् कुन्दकुन्दने इन्हीं दो प्रश्नोंका ४४ और ४५ संख्याक गाथाओं द्वारा उत्तर दिया है।

इससे स्पष्ट है कि प्रकृत मूल प्रश्नमें 'पुण्णफला' पदमें आये हुए 'पुण्य' पदसे पुण्यरूप द्रव्यकर्मका उदय ही गृहीत है। गमनादि क्रियाको गाथा ४५के पूर्वार्ध द्वारा औदयिक स्वीकार करनेका भी यही आशय है। ऐसा मालूम पड़ता है कि अब अपर पक्ष तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य कर्मोंके उदयको दृष्टि ओझल करके अन्य मार्गसे अपने पक्षको जीवित बनाये रखना चाहता है। अन्यथा वह पक्ष मूल प्रश्न जिस आशयसे किया गया है वहीं तक अपनेको सीमित रखकर अपने विचार प्रस्तुत करता और उन्हींकी पुष्टिमें शास्त्राधार भी उपस्थित करता। अस्तु,

हमने पिछले उत्तरमें लिखा था—'सम्यग्दृष्टि जीवके भेदविज्ञानकी जागृतिके साथ-साथ पापविरक्ति रूप शुभप्रवृत्ति होती है।' इस पर अपर पक्षका कहना है कि 'इस मिश्रित अखण्ड पर्यायका नाम शुभोपयोग है। इसमें प्रशस्त राग भी है तथा सम्यक्त्व व पापोंसे विरक्तिरूप चित्तकी निर्मलता भी है।'

अपने इस विचारकी पुष्टिमें अपर पक्षने पंचास्तिकाय गाथा १३१ को टीकाको उपस्थित किया है। इसमें 'प्रशस्त राग और चित्तप्रसाद जहाँ है वहाँ शुभ परिणाम है' यह कहा गया है। अब आगममें इन दोनों शब्दोंका क्या अर्थ किया है इस पर विचार करना है। आचार्य कुन्दकुन्दने पंचास्तिकाय गाथा १३५ में प्रशस्त राग, अनुकम्पापरिणति और चित्तकी अकुलपता इन तीनको शुभ परिणाम कहा है। इन तीनोंका अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन इसकी टीकामें लिखते है—

अथ निरास्रवशुद्धात्मपदार्थात्प्रतिपक्षभूतं शुभास्रवमाख्याति—रागो जस्स पसत्थो—रागो यस्य प्रशस्तः वीतरागपरमात्मद्रव्याद्विलक्षणः पंचपरमेष्ठि-निर्भरगुणानुरागरूपः प्रशस्तधर्मानुरागः। अणुकंपासंसिदो य परिणामो—अनुकम्पासंश्रितश्च परिणामः दयासहितो मनोवचनकायव्यापाररूपः शुभपरिणामः। चित्तम्हि णत्थि कलुसो—चित्ते नास्ति कालुष्यं मनसि क्रोधादिकलुषपरिणामो नास्ति। पुण्णं जीवस्स आसवदि—यस्यैते पूर्वोक्ता त्रयः शुभपरिणामाः सन्ति तस्य जीवस्य द्रव्यपुण्यास्रवकारणभूतं भावपुण्यमास्रवतीति सूत्राभिप्रायः।

अब निरास्रव शुद्ध आत्मपदार्थसे प्रतिपक्षभूत शुभास्रवका व्याख्यान करते है—रागो जस्स पसत्थो—राग जिसका प्रशस्त है अर्थात् जिसका वीतराग परमात्मा द्रव्यसे विलक्षण जो पंच परमेष्ठीमें अत्यन्त गुणानुरागरूप प्रशस्त धर्मानुराग है। अणुकंपासंसिदो य परिणामो—जिसका अनुकम्पा युक्त परिणाम है अर्थात् जिसका दया सहित मन, वचन, कायके व्यापाररूप शुभ परिणाम है तथा चित्तम्हि णत्थि कलुसो—जिसके चित्तमें कलुपता नहीं है अर्थात् क्रोधादिरूप कलुप परिणाम नहीं है। पुण्णं जीवस्स आसवदि–जिसके पूर्वोक्त ये तीन शुभ परिणाम हैं उस जीवके द्रव्य पुण्यके आस्रवका निमित्तभूत भावपुण्यास्रव है यह मूल गाथाका तात्पर्य है।

यहाँपर 'वीतरागपरमात्मद्रव्यसे विलक्षण' यह विशेपण उक्त तीनों परिणामोंपर लागू होता है।

इससे स्पष्ट है कि शुभ परिणाम, शुभ भाव या शुभोपयोग उक्त विधिसे तीन प्रकारका ही होता है—
१. अरिहन्तादिविषयक प्रशस्त राग, २. दयापरिणाम अर्थात् अणुव्रत-महाव्रतादिरूप शुभ परिणाम और ३. चित्तमें-क्रोधादिरूप कलुषताका न होना।

प्रशस्त राग क्या है इसकी व्याख्या करते हुए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय गाथा १३६ में लिखते हैं—

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥ १३६ ॥

अरिहन्त, सिद्ध और साधुओंमें भक्ति, धर्ममें नियमसे चेष्टा तथा गुरुओंका अनुगमन करना यह सब प्रशस्त राग कहलाता है ॥ १३६ ॥

यहाँपर धर्म पदसे व्यवहार चारित्रका अनुष्ठान लिया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र इसकी टीकामें लिखते हैं—

अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पद-स्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवति।

यह (प्रशस्त राग) स्थूल लक्ष्यवाला होनेसे केवल भक्तिप्रधान अज्ञानीके होता है। तथा उपरितन भूमिकामें स्थिति न प्राप्तकी हो तब अस्थान राग (इन्द्रियादि विषयक राग) का निषेध करनेके लिए अथवा तीव्र रागज्वरका परिहार करनेके लिए कदाचित् ज्ञानीके भी होता है ॥१३६॥

जयसेनाचार्यके शब्दोंमें इसका आशय यह है—

तत्प्रशस्तरागमज्ञानी जीवो भोगाकांक्षारूपनिदानबन्धेन करोति, स ज्ञानी पुनर्निर्विकल्पसमाध्यभावे विषयकषायरूपाशुभरागविनाशार्थं करोतीति भावार्थः।

उस प्रशस्त रागको अज्ञानी जीव भोगाकांक्षारूप निदानबन्धके साथ करता है। किन्तु ज्ञानी जीव निर्विकल्प समाधिके अभावमें विषयकषायरूप अशुभ रागका विनाश करनेके लिए करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने अनुकम्पा क्या है इसका निर्देश आगे १३७ वीं गाथामें किया है।

अतएव इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि अपर पक्ष सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्ररूप शुद्धिके साथ कषायकी जिस मिश्रित अखण्ड पर्यायकी कल्पना कर उसे शुभभाव या शुभोपयोग कहना चाहता है वह ठीक नहीं है। यह उस पक्षकी अपनी कल्पना है। आगमका यह आशय नहीं है।

जब यह जीव संसारके प्रयोजनभूत पंचेन्द्रियोंके विषयों आदिमें उपयुक्त रहता है तब अशुभोपयोग होता है, जब पंच परमेष्ठी आदिकी भक्ति-स्तुति आदिमें, व्रतोंके पालनेमें तथा अन्य शुभ प्रवृत्तिमें उपयुक्त रहता है तब शुभोपयोग होता है और जब विज्ञानघनस्वरूप अपने आत्मामें उपयुक्त होता है तब शुद्धोपयोग होता है। प्रवचनसार गाथा ९ का यही आशय है। जीव उपयोगलक्षणवाला है। वह अपने इस लक्षणसे सदा अनुगत रहता है यह उक्त गाथामें बतलाया गया है। हम अभी प्रवचनसार गाथा ४३ का आशय लिख आये हैं। उसके साथ इस गाथाको पढ़ने पर इसका आशय स्पष्ट हो जाता है।

यह अपर पक्ष ही स्वीकार करेगा कि पर्याय दो ही प्रकारकी होती है—स्वभावपर्याय और विभाव-पर्याय। सम्यग्दर्शन यह श्रद्धागुणकी स्वभाव पर्याय है। यह चारित्रगुणकी पर्यायसे भिन्न है, इसलिए इसके साथ तो चारित्र गुणकी मिश्रित अखण्ड पर्याय बन नहीं सकती। चारित्र गुणकी अवश्य ही संयमासंयम और संयमरूप मिश्र पर्याय होती है, क्योंकि उसमें शुद्धयंश और अशुद्धयंश दोनोंका युगपत् सद्भाव होता है। उसमें जो शुद्धयंश है वह स्वयं संवर-निर्जरास्वरूप होनेसे संवर-निर्जराका कारण भी है। पण्डितप्रवर दौलतराम जी छहढालाके मंगलाचरणमें इसीकी स्तुति करते हुए लिखते हैं—

तीन भुवनमें सार वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार नमहुँ त्रियोग सम्हारिकै ॥१॥

यह अपने प्रतिपक्षभूत अशुद्धयंशका व्यय होकर उत्पन्न हुई है, इसलिए इसका स्वयं संवर-निर्जरा स्वरूप होकर संवर-निर्जराका कारण बनना युक्त ही है।

तथा उस मिश्र पर्यायमें जो अशुद्धिअंश शेष है वह स्वयं अशुद्धिस्वरूप होनेसे आस्रव-बन्धरूप है और आस्रव बन्धका कारण भी है।

इस प्रकार शुद्धपर्याय और अशुद्ध पर्यायके भेदसे जहाँ पर्याय दो प्रकारकी है वहाँ विषयभेदसे उपयोग तीन प्रकारका है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। जब इस जीवका परलक्षी उपयोग होता है तब वह नियमसे मोह, राग या द्वेषसे अनुरंजित होकर प्रवर्तता है। उपयोगके शुभ और अशुभ इन दो भेदोंके होनेका यही कारण है। उनमेंसे इन्द्रियविषयोंमें अनुरक्त होना अशुभोपयोग है। कारण स्पष्ट है। तथा उक्त तीन प्रकारकी शुभ प्रवृत्तियोंमें उपयुक्त होना शुभोपयोग है। है तो यह भी रागसे अनुरंजित ही, उससे बहिर्भूत नहीं है। परन्तु इसमें जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की है या मुक्तिमार्गका अनुसरण कर रहे हैं उनके प्रति अनुरागकी मुख्यता है, इसलिए इसे अशुभोपयोगमें परिगणित न कर उससे भिन्न बतलाया है। इनमेंसे अशुभोपयोग मुख्यतया मिथ्यादृष्टिके होता है और शुभोपयोग यथायोग्य सम्यग्दृष्टिके होता है। सम्यग्दृष्टिके अशुभोपयोगकी गौणता है, किन्तु सम्यग्दृष्टिके मात्र शुभोपयोग ही होता हो यह बात नहीं है, उनके शुद्धोपयोग भी होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि निरन्तर आत्मस्वभावका अवलम्बन कर प्रवर्तना ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता है। उसके अशुभके परिहार स्वरूप शुभप्रवृत्ति होती है, परन्तु उसे बन्धका कारण जान हेयबुद्धिसे ही वह उसमें प्रवर्तता है। सम्यग्दृष्टिके शुभ प्रवृत्तिका होना अन्य बात है और उसके शुभप्रवृत्तिके होते हुए भी उसमें हेय बुद्धिका बना रहना अन्य बात है। सम्यग्दृष्टि मोक्षके साक्षात् साधनभूत आत्मस्वभावको ही उपादेय समझता है, इसलिए उसकी उसके सिवाय अन्य सबमें स्वभावतः हेयबुद्धि बनी रहती है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार शुभोपयोग क्या है और वह पुण्यभाव, व्यवहारधर्म एवं व्यवहार चारित्ररूप कैसे है यह स्पष्ट हो जाने पर अपर पक्षकी इस कल्पनाका अपने आप निरास हो जाता है कि 'शुभोपयोग या शुभ भाव सम्यक्त्व व चारित्रकी मिश्रित अखण्ड पर्यायरूप है।'

अपर पक्षका कहना है कि 'उस शुभ भाव या व्यवहार धर्ममें भी लक्ष्य या ध्येय वीतरागता एवं शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति ही रहती है। पर्यायकी निर्बलताके कारण वह जीव वीतरागतामें स्थित नहीं हो पाता है। इस कारण उसको राग व विकल्प करने पड़ते हैं। किन्तु उस राग या विकल्पद्वारा भी वह वीतरागताको ही प्राप्त करना चाहता है।' आदि।

समाधान यह है कि सर्व प्रथम तो अपर पक्षको यह ध्यानमें लेना है कि राग या विकल्प विरुद्ध स्वभाववाले हैं और उनसे वीतरागता विरुद्ध स्वभाववाली है, क्योंकि राग या विकल्पका अन्वय-व्यतिरेक परके साथ है और वीतरागताका अन्वय-व्यतिरेक आत्मस्वभावके साथ है। इसलिए सर्वप्रथम तो यह निर्णय करना आवश्यक है कि मुझे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयस्वरूप आत्मधर्मकी प्राप्ति आत्म-स्वभावके लक्ष्यसे तत्स्वरूप परिणमन द्वारा ही होगी, राग या विकल्प द्वारा त्रिकालमें प्राप्त नहीं होगी।

अपर पक्ष कह सकता है कि आत्मस्वभावके लक्ष्यसे तत्स्वरूप परिणमन द्वारा वीतरागताकी प्राप्ति होती है, ऐसा विचार करना भी तो विकल्प ही है ? समाधान यह है कि इसमें भेद विज्ञानकी मुख्यता है और रागकी गौणता है, इसलिए स्वभावकी दृढ़ता होनेसे वह विकल्प स्वयं छूट जाता है और आत्मा स्वभाव-सन्मुख हो तत्स्वरूप परिणम जाता है। इसीका नाम है आत्मानुभूति। यह निराकुल आत्मसुखस्वरूप होनेसे स्वयं वीतरागतास्वरूप है।

दूसरे अपर पक्षने जब कि व्यवहारधर्ममें मोक्षप्राप्तिको लक्ष्य स्वीकार किया है। ऐसी अवस्थामें उस पक्षको निर्विवादरूपसे उसके स्थानमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसकी प्राप्तिका साक्षात् साधन भूतार्थनयका विषयभूत आत्माका आश्रय करना ही उपादेय है, अन्य सब हेय है। जैसे संसारमें रहते हुए भी मोक्षकी साधना तभी होती है जब संसारमें हेयबुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार व्यवहार धर्मरूप प्रवर्तते हुए भी जिसकी उसमें हेय बुद्धि हो जाती है वही स्वभावके आलम्बन द्वारा तत्स्वरूप परिणमनरूप मोक्षका अधिकारी बनता है, अन्य नहीं। व्यवहारधर्म स्वयं आत्माका कर्तव्य नहीं है। वह तो पुरुषार्थहीनता का फल है।

तीसरे अपर पक्षने 'उस शुभ भाव या व्यवहार धर्ममें भी लक्ष्य या ध्येय वीतरागता एवं शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति ही रहती है।' यह वचन लिखकर आत्माके पंचपरमेष्ठी विषयक या व्रतादि विषयक विकल्पको शुभभाव या व्यवहार धर्म कहते है इस तथ्यको स्वयं स्वीकार कर लिया है। अतएव अपर पक्षने सम्यक्त्व व चारित्रकी मिश्रित अखण्ड पर्यायको व्यवहार धर्म कहते हैं इस मान्यताको छोड़कर यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि व्रतादिरूप जीवकी शुभ प्रवृत्ति या शुभ विकल्पको ही आगममें व्यवहार धर्म कहा है। वह रागानुरंजित जीवका परिणाम होनेसे बन्धका ही कारण है।

यहाँ पर यह शंका होती है कि उपयोगके समान पर्यायको भी विभाव पर्याय, स्वभाव पर्याय और मिश्र पर्याय ऐसा तीन प्रकारका माननेमें आपत्ति ही क्या है ? समाधान यह है कि जिसे चारित्रकी मिश्र पर्याय कहते हैं उसमें जितना शुद्धयंश है वह स्वप्रत्यय जीवकी अवस्था है, क्योंकि वह स्वभावके लक्ष्यसे अपनी प्रतिपक्षी अवस्थाका नाश कर उत्पन्न हुई है और जितना अशुद्धयंश है वह स्व-परप्रत्यय जीवकी अवस्था है, क्योंकि वह परके लक्ष्यसे अपनी पूर्व प्रवृत्त विकार-रूप अवस्थाके अनुरूप उत्पन्न हुई है, इसलिए शुद्धयंशका स्वभावपर्यायमें और अशुद्धयंशका विभाव पर्यायमें अन्तर्भाव हो जानेके कारण हमने पर्यायको दो ही प्रकारका बतलाया है। आगममें भी पर्यायको दो ही प्रकारका बतलाया है। प्रवचनसार गाथा ९३ में गुण पर्यायके इन भेदोंको बतलाते हुए लिखा है—

सोऽपि द्विविधः—स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च।

वह गुणपर्याय भी दो प्रकारकी है—स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय।

आलापपद्धतिमें भी लिखा है—

गुणविकाराः पर्यायाः। ते द्वेधा—स्वभाव-विभावपर्यायभेदात्।

गुणविकारका नाम पर्याय है। वे स्वभावपर्याय और विभावपर्यायके भेदसे दो प्रकारकी हैं।

इसी तथ्यको नयचक्रादिसंग्रह पृ० २६ आदिमें स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है—

सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं।
सव्वेसिं च सहावं विब्भावं जीव-पुग्गलाणं च ॥१८॥

जिनदेवने द्रव्योंकी पर्यायें दो प्रकारकी कही हैं—स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। स्वभावपर्याय सब द्रव्योंकी होती हैं। विभावपर्याय मात्र जीवों और पुद्गलोंमें होती है ॥१८॥

आगे जीवमें विभाव गुणपर्यायोंका निर्देश करते हुए लिखा है—

मदिसुदओहीमणपज्जयं च अण्णाण तिण्णि जे भणिया।
एवं जीवस्स इमे विहावगुणपज्जया सव्वे ॥२४॥

आगममें जो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान और तीन अज्ञान कहे गये हैं ये सब जीवकी विभाव गुणपर्याय हैं ॥२४॥

जीवके मिथ्यात्व व रागादि विभाव गुणपर्याय हैं यह तो स्पष्ट ही है, इसलिए उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया।

जीवकी स्वभावगुणपर्यायोंका निर्देश करते हुए वहाँ लिखा है—

णाणं दंसण सुह वीरियं च जं उहयकम्मपरिहीणं।
तं सुद्धं जाण तुमं जीवे गुणपज्जयं सव्वं ॥२६॥

जो द्रव्य-भाव दोनों प्रकारके कर्मोंसे रहित ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यपर्याय होती हैं उन सबको तुम जीवकी शुद्ध (स्वभाव) गुणपर्याय जानो ॥२६॥

इससे स्पष्ट है कि आगममें समस्त पर्यायोंका विचार दो ही प्रकारसे किया गया है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें जो २१२, २१३ और २१४ श्लोक लिखे हैं उनमें बतलाया है कि जितने अंशमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है उतने अंशमें बन्धन नहीं है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्धन है।

प्रवचनसार गाथा १८०-१८१ में लिखा है—

परिणामसे बन्ध है। जो परिणाम राग, द्वेष और मोहसे युक्त है। उसमें मोह और द्वेषरूप परिणाम अशुभ है तथा शुभ और अशुभरूप राग है ॥१८०॥ इनमेंसे अन्य (अरिहन्तादि) के विषयमें जो शुभ परिणाम होता है उसे पुण्य कहते है तथा इन्द्रिय विषय आदि अन्यके विषयमें जो अशुभ परिणाम होता है उसे पाप कहते हैं और जो अन्यको लक्ष्यकर परिणाम नहीं होता है उसे आगममें दुःखके क्षयका कारण बतलाया है ॥१८१॥

गाथा १८१ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र उक्त विषयको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

द्विविधस्तावत् परिणामः—परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च। तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टः परिणामः। स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणामः। तत्रोक्तौ द्वौ विशिष्टपरिणामस्य विशेषौ—शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च। तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यम्, पापपुद्गलबन्ध-

कारणत्वादशुभपरिणामः पापम् । अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः । स काले संसार-दुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ॥१८१॥

प्रथम तो परिणाम दो प्रकारका है— परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त । इनमेंसे परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम परमें उपरक्त होनेसे विशिष्ट परिणाम है और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम परमें उपरक्त न होनेसे अविशिष्ट परिणाम है । उनमेंसे विशिष्ट परिणामके पूर्वोक्त दो भेद हैं—शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम । उनमेंसे पुण्यरूप पुद्गलके बन्धका कारण होनेसे शुभ परिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गलके बन्धका कारण होनेसे अशुभ परिणाम पाप है । अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होनेसे एक है, उसमें भेद नहीं है । वह स्वकालमें संसार दुःखके हेतुभूत कर्मपुद्गलके क्षयका कारण होनेसे संसार दुःखके हेतु कर्मपुद्गलके क्षयरूप मोक्ष ही है ॥१८१॥

आचार्य जयसेनने इसी गाथाकी टीकामें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नको उपस्थित कर उसका समाधान किया है । प्रश्न है कि—

नयविवक्षामें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषायतक सभी गुणस्थानोंमें तो अशुद्ध निश्चयनय होता ही है अर्थात् अशुद्ध पर्याययुक्त जीव रहता ही है । इसलिए वहाँ अशुद्ध निश्चयमें शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है ?

यह प्रश्न है इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं—

वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं शुभाशुभशुद्धद्रव्यावलम्बनमुपयोगलक्षणं चेति, तेन कारणेनाशुद्ध-निश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षणं च यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

वस्तुके एकदेशकी परीक्षा तो नयका लक्षण है तथा शुभ, अशुभ और शुद्धद्रव्यका अवलम्बन उपयोगका लक्षण है । इस कारण अशुद्धनिश्चयस्वरूप आत्माके होनेपर भी शुद्ध आत्माका (शुद्धनयका विषयभूत आत्माका) अवलम्बन होनेसे; शुद्ध (चिच्चमत्कारस्वरूप-त्रिकाली ज्ञायक आत्मा) ध्येय होनेसे तथा शुद्ध ('सम्यग्दर्शनादि स्वभावपर्यायरूप) आत्माका साधक होनेसे वहाँ भी शुद्धोपयोगरूप परिणाम प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार नयके लक्षण और उपयोगके लक्षणको यथासम्भव सर्वत्र जानना चाहिये ।

इस प्रकार इतने विवेचनसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि आगममें सर्वत्र परावलम्बी प्रशस्त रागसे अनुरंजित परिणामको ही शुभोपयोग कहा है । सम्यक्त्व युक्त मिश्रित अखण्ड एक पर्यायको नहीं । तथा इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि पुण्यभाव, व्यवहारधर्म या व्यवहारचारित्र इसी शुभोपयोगके पर्याय नाम हैं और यह परावलम्बी भाव होनेसे नियमसे बन्धका हेतु है ।

शुभोपयोगमें वीतराग देव, वीतराग गुरु और वीतरागताका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंका श्रद्धान, ज्ञान एवं पूजा, स्तुति, सत्कार सेवा परिणाम होता ही है इसमें सन्देह नहीं । परन्तु यह परावलम्बी भाव होनेसे इस अवस्थामें भी वह स्वावलम्बी भावके प्रति ही आदरवान् बना रहता है । यदि वह उस अवस्थामें अपने लक्ष्यको भूल जाय तो उसी समय वह नियमसे मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।

स्वभावकी प्राप्ति तो नियमसे स्वभावके अवलम्बनस्वरूप उपयोगके होनेपर ही होती है, परके अवलम्बनरूप उपयोगसे नहीं । ऐसी श्रद्धा तो सम्यग्दृष्टिके होती ही है । फिर भी सम्यग्दर्शनादिरूपसे परिणत आत्माके सविकल्पदशामें वीतराग देवादिके प्रति भक्ति-श्रद्धारूप विकल्पका और योगप्रवृत्तिका नियमसे उत्थान होता है । वह (व्यवहारधर्म) भेदविज्ञानके कारण प्राप्त शुद्धिमें क्षति नहीं कर सकता, क्योंकि उसका

सहचारी भाव है। मात्र इस अभिप्रायसे उसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। उसे साधक कहनेका यही तात्पर्य है। वह आत्मशुद्धिको उत्पन्न करता है ऐसा अभिप्राय इससे नहीं लेना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव सदा अरिहन्तादिका पूजक क्यों नहीं बना रहना चाहता इसका कारण भी यही है। अपर पक्षको इस दृष्टिकोणसे विचार करना चाहिये। इससे वस्तुस्थितिके स्पष्ट होनेमें देर नहीं लगेगी। अपर पक्षने समाधितन्त्रका प्रमाण उपस्थित कर उसपरसे यह निष्कर्ष फलित किया है कि 'भगवान्‌की उपासना उपासकको भगवान् ही बना देती है।'

समाधान यह है कि यदि अपर पक्ष उस वचनका यह आशय समझता है तो वह पक्ष 'उसका भाव यह नहीं कि मैं सदा इसी प्रकार पूजक बना रहूँ।' ऐसा लिखकर भगवान्‌की उपासनाका निषेध ही क्यों करता है? जब कि भगवान्‌की उपासनासे ही उपासक भगवान् बन जाता है तो उसे परम ध्यान आदिरूप परिणत होनेका भाव नहीं करके मात्र भगवान्‌की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि उसीसे वह भगवान् बन जायगा?

यदि अपर पक्ष इसे नयवचन समझता है तो उसे समाधिशतकसे उक्त वचनके उसी आशयको ग्रहण करना चाहिए जिसका प्रतिपादन उसमें किया गया है। अपर पक्षने इस वचनके साथ श्लोक ९८ पर दृष्टिपात किया ही होगा। इन दोनोंको मिलाकर पढ़नेपर क्या तात्पर्य फलित होता है इसके लिए समयसार कलशके इस काव्यपर दृष्टिपात कीजिए—

> एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
> साध्य-साधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

साध्य-साधकभावके भेदसे दो प्रकारका एक यह ज्ञानस्वरूप आत्मा, स्वरूपकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको नित्य सेवन करने योग्य है, उसका सेवन करो ॥१५॥

इसका भावार्थ लिखते हुए पण्डितप्रवर राजमलजी लिखते हैं—

भावार्थ इसौ—जु एक ही जीवद्रव्य कारणरूप तो अपुनपै ही परिणमै छै, कार्यरूप तो अपुनपै ही परिणवै छै। तिहितैं मोक्ष जातां कोई द्रव्यान्तरको सारो नहीं। तिहितैं शुद्धात्मानुभव कीजै।

इसका चालू हिन्दीमें अनुवाद है—

भावार्थ इस प्रकार है कि एक ही जीवद्रव्य कारणरूप भी अपनेमें ही परिणमता है और कार्यरूप भी अपनेमें ही परिणमता है। इस कारण मोक्ष जानेमें किसी द्रव्यान्तरका सहारा नहीं है, इसलिए शुद्ध आत्माका अनुभव करना चाहिये।

मोक्षप्राभृत गाथा ४८ में परमात्मा पदका अर्थ 'ज्ञानघनस्वरूप निज आत्मा है। उसका ध्यान करनेसे अर्थात् तत्स्वरूप हो जानेसे यह जीव सब दोषोंसे मुक्त हो जाता है और उसके नये कर्मोंका आस्रव नहीं होता।' ऐसा किया है।

अपर पक्षने प्रवचनसार गाथा ८० को उपस्थितकर इसका अर्थ भर दे दिया है और इसके बाद उसे स्पर्श किये बिना व्यापारीका उदाहरण देकर अपने अभिमतका समर्थन किया है। गाथामें यह कहा गया है कि जो अरिहन्तको जानता है वह अपने आत्माको जानता है। अर्थात् अरिहन्तका ज्ञान अपने आत्माका ज्ञान करनेमें निमित्त है। इसमें यह तो कहा नहीं गया है कि जो अरिहन्तके अवलम्बनसे पूजा-भक्तिरूप प्रवर्तता रहता है उसके परमात्मस्वरूप ज्ञायकभावके अवलम्बनरूपसे न प्रवर्तने पर भी मोहका समूल नाश

हो जाता है। स्पष्ट है कि इस गाथाका आशय ही इतना है कि द्रव्य, गुण और पर्यायरूपसे जो अरिहन्तको जान लेता है उसे उन रूपसे अपने आत्माका ज्ञान नियमसे हो जाता है, क्योंकि निश्चयनयसे अरिहन्तके स्वरूपमें और अपने स्वरूपमें अन्तर नहीं है। जो आत्मा इस प्रकार आत्मस्वरूपको जानकर तत्स्वरूप परिणमता है उसका मोह नियमसे विलयको प्राप्त होता है यह तथ्य उक्त गाथामें प्ररूपित किया गया है। इसलिए इस परसे अपर पक्षने जो आशय लिया है वह ठीक नहीं है।

अपर पक्षने व्यापारका उदाहरण उपस्थित किया है, किन्तु उससे भी यही सिद्ध होता है, कि राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन आत्माको हानि है, उससे आत्मलाभ होना सम्भव नहीं है।

समयसार गाथा १२ में यह नहीं कहा गया है कि व्यवहारधर्मसे परमार्थकी प्राप्ति होती है, अतः इससे भी अपर पक्षके अभिप्रायका समर्थन नहीं होता। अपर पक्षने यहाँ जो उक्त गाथाका भावार्थ उद्धृत किया है उसका आशय स्पष्ट है। यथापदवी व्यवहार प्रयोजनवान् है इसका निषेध नहीं। निषेध यदि किसी बातका है तो व्यवहारके अवलम्बनसे परमार्थकी प्राप्ति होती है इसका, क्योंकि व्यवहार कर्मस्वभाववाला है और परमार्थ ज्ञानस्वभाववाला है, अतः परावलम्बी कर्मस्वभाववाले व्यवहारसे स्वावलम्बी ज्ञानस्वभाववाले परमार्थकी प्राप्ति त्रिकालमें होना सम्भव नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जब सम्यग्दृष्टिका व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका यथार्थ साधन नहीं, ऐसी अवस्थामें मिथ्यादृष्टिका व्यवहार निश्चयधर्मको प्राप्तिका यथार्थ साधन कैसे हो सकता है।

'जइ जिणमयं पवज्जह' इस गाथामें दोनों नयोंको स्वीकार करनेकी बात कही गई है। उसका आशय यह है कि यदि व्यवहार नयको नहीं स्वीकार किया जायगा तो गुणस्थानभेद और मार्गणास्थानभेद आदि नहीं बनेगा और निश्चयनयको नहीं स्वीकार किया जायगा तो तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इसमें यह कहाँ कहा गया है कि व्यवहारधर्मके बगैर निश्चयधर्मकी प्राप्ति नहीं होती। गाथामें कोई दूसरी बात कही गई हो और उससे दूसरा अभिप्राय फलित करना यह कहाँ तक ठीक है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे।

अपर पक्षने मिष्ठान्नका उदाहरण दिया है सो इस उदाहरणसे हमारे पक्षका ही समर्थन होता है; क्योंकि जैसे मिष्ठान्नके स्वादकी इच्छावाला व्यक्ति मिष्ठान्नका ही अवलम्बन करेगा, आमका नहीं; उसी प्रकार आत्मानुभूतिका इच्छुक व्यक्ति आत्माका ही अवलम्बन करेगा, अन्यका नहीं। इसीलिए तो आगम कहता है कि परावलम्बी व्यवहारधर्मसे स्वावलम्बी आत्मधर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अनादिभेदवासित बुद्धिवालेके लिए भेदनयका अवलम्बन लेकर श्रद्धान क्या है और श्रद्धान करने योग्य क्या है यह जानकर आत्माके अवलम्बनसे मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये यह तथ्य आचार्य अमृतचन्द्रने 'अनादिभेदवासितबुद्धयः' इस वचन द्वारा स्पष्ट किया है। इसमें व्यवहारधर्मसे निश्चयधर्मकी प्राप्ति होती है यह नहीं कहा गया है। हम पहले समयसार कलश १५ का 'एष ज्ञानघनो' इत्यादि वचन उद्धृतकर आये हैं। उसी तथ्यको यहाँ दूसरे शब्दोंमें स्पष्ट किया है। अनादि भेदवासित बुद्धिवालोंको दूसरे प्रकारसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है और दूसरोंको दूसरे प्रकारसे उसकी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं है। चाहे अनादि मिथ्यादृष्टि हो या सादि मिथ्यादृष्टि, जैसे इन्हें प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करनेका एक ही मार्ग है वैसे ही मोक्षमार्गको प्राप्त करनेका एक ही मार्ग है—परसे भिन्न स्वको जानकर उसका अवलम्बन करना, मोक्षमार्गको प्राप्त करने या उसमें उत्तरोत्तर विशुद्धि प्राप्त करनेकी अन्य समस्त क्रिया उसी आधार पर होती है।

पंचाध्यायी पृ० २६७ के भावार्थका यह आशय तो है नहीं कि अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति होने मात्रसे निश्चय धर्मकी प्राप्ति हो जाती है। क्या ऐसा है कि कोई व्यक्ति २८ मूलगुणोंका अच्छी तरहसे पालन कर रहा है, इसलिये उसे अधःकरण आदि तीन करण परिणाम किये बिना निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावेगी ? यदि नहीं तो व्यवहार धर्मसे निश्चय धर्मकी प्राप्ति होती है ऐसा कहनेकी उपयोगिता ही क्या रह जाती है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। यहाँ यह उदाहरण अनादि मिथ्यादृष्टि और जिसका वेदक काल व्यतीत हो गया है—ऐसे सादि मिथ्यादृष्टिको लक्ष्यमें रखकर उपस्थित किया है। स्पष्ट है कि निश्चय धर्मकी प्राप्तिके समय परावलम्वी व्यवहारधर्मरूप विकल्प छूट कर स्वका अवलम्बन होना आवश्यक है। समयसार गाथा १४५ में जीवके शुभ भावको व्यवहारनयसे मोक्षमार्ग बतलाया है, परन्तु बन्धमार्गके आश्रित होनेसे वहीं शुभ और अशुभ दोनोंको एक कर्म कहा है।

अपर पक्षने यहाँ पं० जयचन्द्रजीके अनुवादसे और दिल्ली संस्करणसे जो वचन उद्धृत किये हैं वे अधूरे हैं। भ्रमका निरास करनेके लिये यहाँ हम उन्हें पूरा दे रहे हैं—'शुभ अथवा अशुभ मोक्षका और बन्धका मार्ग ये दोनों प्रथक् हैं, केवल जीवमय तो मोक्षका मार्ग है और केवल पुद्गलमय बन्धका मार्ग है। वे अनेक हैं एक नहीं हैं, उनके एक न होनेपर भी केवल पुद्गलमय बन्धमार्गकी आश्रितताके कारण आश्रयके अभेदसे कर्म एक ही है।

अपर पक्षने प्रवचनसारकी आचार्य जयसेनकृत—टीकासे 'तं देवदेवदेवं' यह गाथा उद्धृत की है। इसके आशयको स्पष्ट करते हुए स्वयं आचार्य जयसेन लिखते हैं—

ते तदाराधनफलेन परम्परयाक्षयानन्तसौख्यं यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थः।

वे उनकी आराधनाके फलस्वरूप परम्परा अक्षयानन्त सुखको प्राप्त करते है यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इससे यह व्यवहार (उपचार) नय वचन है यह सुतरां सिद्ध है।।

मोक्षप्राभृतकी ८२वीं गाथामें व्यवहार और निश्चय दोनोंका निरूपण है। यही तथ्य उसकी ५२वीं गाथामें स्पष्ट किया गया है। सो इसका कौन निषेध करता है। मोक्षमार्गी जीवकी सविकल्प दशामें क्या परिणति होती है और निर्विकल्प दशामें क्या परिणति होती है यह हमने अनेक बार स्पष्ट किया है। अपर पक्ष यदि यह कहना त्याग दे कि व्यवहारधर्मसे निश्चयधर्मकी प्राप्ति होती है तो विवाद ही समाप्त हो जाय। मोक्षमार्गीके व्यवहारधर्म होता ही नहीं यह तो हमारा कहना है नहीं। ऐसी अवस्थामें वह इन प्रमाणोंको उपस्थित कर क्या प्रयोजन साधना चाहता है यह हम नहीं समझ सके।

अपर पक्षने रयणसार और मूलाचारकी भी कतिपय गाथायें उपस्थित की हैं। उनमें भी पूर्वोक्त तथ्यको ही स्पष्ट किया गया है। नियम यह है कि निश्चयनय यथार्थका निरूपण करता है और व्यवहारनय अन्यके कार्यको अन्यका कहता है। इन लक्षणोंको ध्यानमें रखकर उक्त सभी गाथाओंके अभिप्रायको स्पष्ट कर लेना चाहिये। जिन गाथाओंमें जिनके अन्तरंग गुणोंका निर्देश है वह निश्चय कथन है।

धवला पु० १ पृ० ३०२ के वचनका यह आशय है कि सम्यग्दृष्टिके द्वादशांगमें श्रद्धा नियमसे होती है। इसलिए यहाँ द्वादशांगभक्तिको ही व्यवहारसे संसार विच्छेदका कारण कहा गया है।

परमात्मप्रकाशमें सम्यग्दृष्टिके देव-गुरु-शास्त्रविषयक सम्यक् श्रद्धाका निर्देश किया गया है। यह सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण है। इससे अन्तरंगकी पहिचान होती है। इसलिए जिसकी सच्चे देव, २८ मूल-

गुणोंका समग्रभावसे पालन करनेवाले वीतराग गुरु और वीतराग वाणीमें श्रद्धा-भक्ति नहीं है वह अन्तरंगमें सम्यग्दृष्टि न होनेसे मोक्षका पात्र नहीं हो सकता। यह कथन यथार्थ है।

अपर पक्ष यदि परमात्मप्रकाशके इस कथनपर सम्यक् प्रकारसे दृष्टिपात करे तो उसका हम स्वागत ही करेंगे।

आचार्य समन्तभद्रने स्तुतिविद्यामें सम्यग्दृष्टिकी जिनदेवमें कैसी भक्ति होनी चाहिये उसे ही स्पष्ट किया है। पद्मपुराण, उपासकाध्ययन और पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके वचनोंका भी यही आशय है। इसमें सन्देह नहीं कि यथार्थ व्यवहार क्या है और उसका क्या आशय है इसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है।

अपर पक्षने प्रवचनसार गाथा २१७ उपस्थित कर उससे व्यवहारधर्मका समर्थन किया है। किन्तु इस गाथाका यथार्थ आशय समझनेके लिए उसकी टीकापर दृष्टिपात करनेकी आवश्यकता है। आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अशुद्धोपयोगोऽन्तरंगच्छेदः परप्राणव्यपरोपो बहिरंगः। तत्र प्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेः। तथा तद्विना भाविना प्रयताचारेण प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्धया सुनिश्चित-हिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरंग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरंगः। एवमप्यन्तरंगच्छेदायतनमात्रत्वाद् बहिरंग-च्छेदोऽभ्युपगम्येतैव ॥२१७॥

अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद है, परप्राणोंका विच्छेद बहिरंग छेद है। किन्तु वहाँ जिसके अशुद्धोपयोगका अविनाभावी अप्रयत आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका सद्भाव है उसके परप्राणोंका विच्छेद होनेपर या न होनेपर दोनों अवस्थाओंमें, हिंसाभावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है। तथा जिसके अशुद्धोपयोगके बिना होनेवाले प्रयत आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव पाया जाता है उसके परप्राणोंका विच्छेद होनेपर भी, बन्धकी अप्रसिद्धि होनेसे हिंसाके अभावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है। इससे स्पष्ट है कि अन्तरंग छेद ही बलवान् है, बहिरंगच्छेद बलवान् नहीं है। ऐसा होनेपर भी अन्तरंग छेदका आयतनमात्र होनेसे बहिरंग छेदको स्वीकार करना ही चाहिए।

स्पष्ट है कि इस गाथाद्वारा अशुद्धोपयोगमात्रका निषेध कर शुद्धोपयोगकी प्रसिद्धि की गई है, क्योंकि शुद्धोपयोग बन्धका कारण न होकर स्वयं संवर-निर्जरास्वरूप है। समिति निश्चयस्वरूप भी होती है और व्यवहारस्वरूप भी। यहाँ निश्चय समिति बन्धका कारण नहीं है यह दिखलाकर उसकी महत्ता प्रस्थापित की गई है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। मालूम पड़ता है कि अपर पक्षने इस गाथाके पूरे आशयको ध्यानमें न लेकर ही यहाँ उसे अपने पक्षके समर्थनमें उपस्थित किया है। हमें विश्वास है कि वह पक्ष वहीं गाथा २१६ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाके इस वचनपर दृष्टिपात कर लेगा—

अशुद्धोपयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्। तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा।

अशुद्धोपयोग ही छेद है, क्योंकि उससे शुद्धोपयोगस्वरूप श्रमणपने (मुनिपने) का छेद होता है और उसकी हिंसा (छेद) होनेसे वही हिंसा है।

इससे जहाँ यह ज्ञात होता है कि वास्तवमें शुद्धोपयोगरूप वर्तना ही मुनिपना है, अन्तरंगमें आत्मशुद्धिरूप निर्मलताके सद्भावमें भी शुभोपयोगकी अपेक्षा मुनिपना कहना यह उपचार कथन है, जिसे उसका आयतन होनेसे स्वीकार करना चाहिये। वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि परमागममें

यथार्थ अहिंसा वीतराग परिणामको ही स्वीकार किया गया है, रागपरिणामको नहीं। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें हिंसा और अहिंसाका विवेक कराते हुए जिनागमके सारको बड़े ही प्रांजल शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए लिखा है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

यथार्थमें रागादि भावोंका उत्पन्न न होना अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावोंकी उत्पत्ति हिंसा है यह जिनागमका सार है ॥४४॥

यतः शुभभाव प्रशस्त रागभावरूप है, अतः वह बन्धका ही कारण है ऐसा निश्चय करना ही जिन-मार्गकी यथार्थ श्रद्धा है।

यहाँ पर कोई कह सकता है कि यदि शुभभाव, शुभोपयोग, व्यवहारधर्म या व्यवहार रत्नत्रय बन्धका हेतु है तो उसका जिनागममें उपदेश क्यों दिया गया है? समाधान यह है कि—

१. एक तो अशुभसे निवृत्तिरूप प्रयोजनको ध्यानमें रखकर उसका उपदेश दिया गया है। शुभमें प्रवृत्त रहनेसे ही परमार्थकी प्राप्ति हो जायगी इस दृष्टिसे उसका उपदेश नहीं दिया गया है।

२. दूसरे जिसे आत्माका निर्मल अनुभूतिमूलक भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे जीवकी संयमासंयम अथवा संयम आदि रूप आगेकी शुद्धिका ज्ञान करानेके हेतु आगममें ऐसा कथन आया है कि जो अणुव्रत आदि १२ व्रतोंका अथवा महाव्रत आदि २८ मूलगुणोंका पालन करता है वह देशसंयमी अथवा सकलसंयमी है। आगमके इस कथनका आशय यह है कि दो कषाय या तीन कषायके अभावस्वरूप जिस शुद्धिके सद्भावमें उसके साथ-साथ अणुव्रत या महाव्रतादिके शुभभाव बिना हट होते हैं, बिना हट सहजरूपसे होनेवाले उन भावोंसे अकषायरूप भीतरी शुद्धिका संकेत मिलता है। आगममें महाव्रत अंगीकार करो, समिति-गुप्तिका पालन करो इत्यादि रूपसे जो व्यवहारका उपदेश उपलब्ध होता है उसका यही आशय है कि जिस अकषाय-रूप शुद्धिके साथ-साथ बिना हट उक्त प्रकारके विकल्प होते हैं उस शुद्धिको ग्रहण करो, स्वात्मावलम्बी पुरुषार्थसे उक्त शुद्धिको प्राप्त करो। इस प्रकार इस प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर आगममें व्यवहारका उपदेश दिया गया है।

३. तीसरे असमग्र रत्नत्रयकी अवस्थारूपसे ज्ञानीके वर्तते समय उपयोगकी अस्थिरतावश ज्ञानका परिणाम और योगप्रवृत्ति कैसी होती है इसका सम्यक् ज्ञान करानेके लिए भी जिनागममें व्यवहार रत्नत्रयका उपदेश दिया गया है।

परमागममें व्यवहारधर्मकी प्ररूपणाके ये तीन मुख्य प्रयोजन हैं। इन्हें यथावत् रूपसे जानता हुआ ही ज्ञानी सविकल्प दशाके होनेपर वर्तता है, इसलिए उसके प्रवृत्तिमें व्यवहारधर्मके होनेपर भी निश्चयधर्मको क्षति नहीं पहुँचती। ज्ञानीके निश्चय-व्यवहारनयमें साध्य-साधनभाव इसी दृष्टिसे बनता है, अन्य प्रकार-से नहीं।

अपर पक्षने श्रावकों और मुनियोंके जिन आवश्यक कर्मोंका निर्देश किया है वे निश्चयरूप भी हैं और व्यवहाररूप भी।

नियमसारमें इनका स्पष्ट निर्देश किया है। निश्चय प्रतिक्रमणका स्वरूप निर्देश करते हुए आचार्य कुंद-कुंद वहाँ लिखते हैं—

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ॥८३॥

वचन रचनाको छोड़कर तथा रागादि भावोंका वारणकर जो आत्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है ॥८३॥

यह निश्चय प्रतिक्रमणका स्वरूप है। आचार्य निश्चय आवश्यकका स्पष्टीकरण करते हुए गाथा १४३-१४४ में बतलाते हैं कि जो श्रमण अशुभ भाव सहित वर्तता है वह अन्यवश (पराधीन) श्रमण कहलाता है, इसलिये उसके तो आवश्यकरूप कर्म होता ही नहीं। किन्तु जो श्रमण नियममें शुभ भावसे वर्तता है वह भी अन्यवश श्रमण है, इसलिये उसके भी आवश्यक कर्म नहीं होता।

यह उक्त दोनों गाथाओंका आशय है। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ निश्चयधर्म होता है वहीं प्रशस्त रागादिरूप परिणाममें व्यवहारधर्मका उपचार किया जाता है। निश्चय धर्म यथार्थ धर्म है और व्यवहारधर्म उपचार धर्म है।

अपर पक्षका कहना है कि 'जिन आगममें गृहस्थोंके लिये देवपूजा, गुरूपास्ति तथा दान और मुनियोंके लिये स्तवन वन्दना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आदि रूप व्यवहारधर्म नित्य षडावश्यक कार्योंमें गर्भित किया है। यदि यह कार्य मात्र बन्धके ही कारण हैं तो क्या महर्षियोंने बन्ध कराने और संसारमें डुबानेको उपदेश दिया हैं। ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता है। इनको इसी कारण आवश्यक बतलाया है कि इनसे मोक्षप्राप्ति होती है।'

समाधान स्वरूप सर्व प्रथम तो हमारा कहना यह है कि वस्तु विचारके समय यदि अपर पक्ष ऐसे तर्कको उपस्थित नहीं करता तो यथार्थके निर्णय करनेमें अनुकूलता होती। ऐसे तर्क श्रद्धालु जीवोंकी भावनाको उद्वेलित करनेके लिए ही दिये जाते हैं, इसलिए ये यथार्थका निर्णय करनेमें सहायक नहीं हुआ करते।

अब रही यह बात कि आचार्योंने इनका उपदेश क्यों दिया है सो इस प्रश्नका समाधान हम इसी उत्तरमें पहले कर आये हैं।

परमार्थरूप मोक्षहेतुके सिवाय अन्य जितना कर्म है उसका प्रतिषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

निश्चयनयके विषयको छोड़कर विद्वान् व्यवहाररूपसे प्रवर्तते हैं, परन्तु परमार्थके आश्रित यतियोंके ही कर्मोंका नाश आगममें कहा गया है ॥१५६॥

उक्त गाथाकी उत्थानिकामें आचार्य जयसेन लिखते हैं—

अथ निश्चयमोक्षमार्गहेतोः शुद्धात्मस्वरूपाद् यदन्यच्छुभाशुभमनो-वचन-कायव्यपाररूपं कर्म-तन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति।

अब निश्चय मोक्षमार्गके हेतु शुद्धात्मस्वरूपसे अन्य जो शुभ और अशुभ मन, वचन, कायके व्यापाररूप कर्म है वह मोक्षमार्ग नहीं है यह बतलाते हैं।

व्रत, तप आदि शुभोपयोग या व्यवहारधर्म यथार्थ मोक्षमार्ग क्यों नहीं है इसका स्पष्टीकरण उक्त गाथाकी टीकामें दोनों आचार्योंने स्पष्ट किया है। आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रत-तपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्। परमार्थमोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् ॥१५६॥

कुछ लोग परमार्थरूप मोक्षहेतुसे भिन्न जो व्रत, तप इत्यादि शुभ कर्मस्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उस समस्त ही का निषेध किया है, क्योंकि वह अन्य द्रव्यके स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है, इसलिए उस रूपसे ज्ञानका होना नहीं बनता। मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही एक द्रव्यके स्वभाववाला है, इसलिए उस रूपसे ज्ञानका होना बनता है ॥१५६॥

ये कतिपय प्रमाण हैं जिनसे व्यवहार धर्मके स्वरूपपर यथार्थ प्रकाश पड़ता है। अपर पक्षने सम्यक्त्व व चारित्रको मिश्रित अखण्ड पर्यायका नाम व्यवहारधर्म रखा है। इस कारण वह पक्ष व्यवहारधर्मको बन्धस्वरूप और बन्धका कारण स्वीकार करनेमें अड़चन देख रहा है इसे हम अच्छी तरहसे समझ रहे हैं। किन्तु कहाँ किस परिणामका क्या फल है, यदि यह बतलाया जाता है तो उसका अर्थ संसारमें घुमाना या संसारमें डुबाना नहीं होता है। बल्कि ज्ञानी उससे यही आशय ग्रहण करता है कि मुझे यह विकल्पकी भूमिका भी त्यागने योग्य है। विकल्पमें है और उसे छोड़नेका पुरुषार्थ करता है यह भी तो ज्ञानकी ही महिमा है।

अपर पक्षका कहना है कि 'अतः इससे बन्ध होते हुए भी यह रागांश संसारका कारण नहीं हो सकता है।' समाधान यह है कि आस्रव और बन्ध इन्हींका नाम तो संसार है। रागमें जितने काल अटका है उतने काल तो संसार है ही। इसे संसार स्वीकार न करनेमें लाभ ही क्या? एक रागपरिणामका वह माहात्म्य है कि उसके फलस्वरूप यह जीव कुछ कम अर्ध पुद्गलपरिवर्तन काल तक आस्रव-बन्धकी परम्परामें रचता-पचता रहता है। जिसका जो स्वरूप है उसे स्वीकार करनेमें हानि नहीं, लाभ है। अन्यथा विवेकका उदय होना असम्भव है। ज्ञानीके रागमें उपादेय बुद्धि नहीं होती यह भेदविज्ञानका माहात्म्य है, व्यवहारधर्मका नहीं।

अज्ञानी भी स्वर्ग जाता है और ज्ञानी भी पुरुषार्थहीनता वश स्वर्ग जाता है। वहाँसे च्युत होकर दोनों ही राजपुत्र होते हैं। धर्मोपदेश भी सुनते हैं आदि। क्या कारण है कि ज्ञानी उसी भवसे मोक्ष जाता है, अज्ञानी नहीं। इससे स्पष्ट है कि बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न मोक्ष दिलाते हैं और न संसार ही। अपने अज्ञानका फल संसार है और अपने ज्ञानस्वभावके अवलम्बनका फल मोक्ष है। यही परमार्थ सत् है। बाह्य द्रव्यादि निमित्त हैं यह तो व्यवहार है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हुआ कि पर्यायें विभाव और स्वभावके भेदसे मुख्यतया दो ही प्रकारकी हैं तथा उपयोग शुभ, अशुभ और शुद्धके भेदसे तीन प्रकारका है। उनमेंसे शुभोपयोग एक तो प्रशस्त रागरूप होता है, दूसरा अनुकम्पा परिणामरूप होता है और तीसरा चित्तमें क्रोधादि कलुष परिणामके अभावरूप होता है। यह तीनों प्रकारका उपयोग प्रशस्तविषयक शुभरागसे अनुरंजित होता है, इसलिए यह स्वयं आस्रव-बन्धस्वरूप होनेसे बन्धका कारण भी है।

पंचास्तिकाय गा० ८५ की टीकामें आचार्य जयसेनने 'गतिपरिणत जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें धर्मद्रव्यकी निमित्तताका समर्थन करनेके अभिप्रायसे 'निदानरहितपरिणामोपार्जित—' इत्यादि वचन लिखा है। सो इसका आशय इतना ही है कि जो जीव स्वभावसन्मुख होकर अपनेमें आत्मकार्यको प्रसिद्धि करता

है, उसके पुण्यरूप द्रव्यकर्ममें निमित्तताका व्यवहार ऐसे ही किया जाता है जैसे गतिकार्यकी अपेक्षा धर्मद्रव्यमें निमित्तताका व्यवहार होता है। न धर्मद्रव्य गतिका कर्ता है और न पुण्यकर्म ही मोक्षका कर्ता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। ज्ञानीके मोक्षकार्यके सम्पादनके समय बाह्य परिकर कैसा होता है यह उक्त वचन द्वारा प्रसिद्ध किया गया है।

३. अन्य कतिपय प्रश्नोंका समाधान

१. अपर पक्षने प्रवचनसार गा० ४५ की चरचा करते हुए लिखा है कि 'यदि पुण्यका अर्थ भावपुण्य लिया जाय तो श्री समयसार गाथा १२ आदि उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध ही हो जाता है कि पुण्यभाव (व्यवहारधर्म) से केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है।' आदि

समाधान यह है कि हम पहले ही शुभोपयोग अपर नाम व्यवहारधर्मका खुलासा कर आये हैं। उससे स्पष्ट है कि बारहवें गुणस्थानमें जिसे आगममें व्यवहारधर्म कहा गया है वह होता ही नहीं। पराव-लम्बी प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म छटे गुणस्थान तक ही होता है। उसके आगे कषायलेशका सद्भाव होनेसे कारणकी अपेक्षा नौवें गुणस्थान तक भेदरूप छेदोपस्थापना संयमका निर्देश किया गया है। अतएव १२ वें गुणस्थानमें पुण्यभावकी कल्पना करना और उससे केवलज्ञानकी उत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है। पण्डितप्रवर आशाधरजी अनगारधर्मामृत अ० १ श्लो० ११० की टीकामें लिखते हैं—

तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशेन शुद्धनयरूपः शुद्धोपयोगो वर्तते।

तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थानोंमें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे विवक्षित एकदेशरूपसे शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग वर्तता है।

यहाँ 'विवक्षितैकदेशेन' पदका आशय यह है कि ७ वें से लेकर १२ वें गुणस्थान तक इस जीवके शुद्धनयके विषयभूत एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकभावका अवलम्बन होकर तत्स्वरूप परिणमनद्वारा शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग वर्तता है।

अतएव १२ वें गुणस्थानके अन्तिम समयके योग्य निश्चय रत्नत्रयपरिणत आत्मा ही केवलज्ञानको उत्पन्न करता है, बन्धस्वरूप व्यवहारधर्म नहीं ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

अपर पक्षने इससे पूर्ववर्ती प्रतिशंकामें लिखा है—'निश्चयधर्म या शुद्धोपयोग यदि फल है तो शुभोपयोग उसका पूर्ववर्ती पुण्य है।' इससे भी स्पष्ट है कि अपर पक्ष भी स्वयं शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्मके पूर्व छटे गुणस्थान तक शुभोपयोग या व्यवहारधर्म स्वीकार कर चुका है। अतएव अपर पक्षके मतानुसार ही शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म १२ वें गुणस्थानमें नहीं बन सकनेके कारण व्यवहारधर्मसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति बतलाना सर्वथा आगमविरुद्ध है।

वैसे अपर पक्षने पिछली प्रतिशंकामें ७ वें गुणस्थान तक शुभोपयोग स्वीकार किया है। किन्तु पूर्वोक्त आगम प्रमाणसे स्पष्ट है कि ७ वें गुणस्थानमें शुभोपयोग न होकर शुद्धोपयोग ही होता है।

अप्रमत्त गुणस्थानके दो भेद हैं—स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। वहाँ श्रेणि आरोहणके पूर्व जीवके धर्मध्यान होता है और श्रेणिमें शुक्लध्यान होता है ऐसा आगमका अभिप्राय है। सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सू० ३७ में लिखा है—

श्रेण्यारोहणात्प्राक् धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले····।

श्रेणिके आरोहणके पूर्व धर्म्यध्यान होता है और दोनों श्रेणियोंमें दोनों शुक्लध्यान होते हैं।

इसी तथ्यको तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और तत्त्वार्थवार्तिकमें उक्त सूत्रकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया गया है।

इसलिए प्रश्न होता है कि सातवें गुणस्थानमें भी स्वस्थान अप्रमत्तके शुभोपयोग होना चाहिए? किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है, क्योंकि **धर्म्यध्यान शुभोपयोगरूप ही होता है ऐसा एकान्त नियम नहीं है। वह रागादि विकल्परहित आत्मानुभूतिरूप भी होता है और वीतराग देवादि, अणुव्रत-महाव्रतादि तथा परजीवविषयक अनुकम्पा आदि रागविकल्परूप भी होता है।** इनमेंसे रागादि विकल्परूप धर्म्यध्यान मुख्यतया चतुर्थादि तीन गुणस्थानोंमें होता है और रागादि विकल्परहित धर्म्यध्यान स्वस्थान अप्रमत्तसंयतके होता है। इसी तथ्यको आचार्य जयसेनने पंचास्तिकाय गाथा १३६ की टीकामें 'रागादिविकल्परहितधर्मध्यान–शुक्लध्यानद्वयेन'—रागादि विकल्प रहित धर्मध्यान और शुक्लध्यान इन दोके द्वारा—इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है। स्पष्ट है कि ७ वें गुणस्थानमें स्वस्थान अप्रमत्तके धर्म्यध्यान होकर भी वह शुद्धोपयोगरूप ही होता है। अपेक्षाविशेषसे चतुर्थादि गुणस्थानोंमें भी क्वचित् कदाचित् शुद्धोपयोगकी व्यवस्था बन जाती है। आगम प्रमाणोंका उल्लेख अन्यत्र किया ही है।

समयसार गाथा १२ की टीकामें, रागादि विकल्पसे परिणत जीवके लिए व्यवहारनय प्रयोजनवान् है, अशुद्ध सोनेके समान। इसीका नाम अपरमभावमें स्थित है। ऐसे जीवके लिए व्रतादिका पालन करना, वीतराग देवादिकी स्तुति आदि करना, वीतराग मार्गकी प्ररूपक जिनवाणी सुनना प्रयोजनवान् है। किन्तु जो १६ वणिक शुद्ध सोनेके समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप परमात्मतत्त्वके अनुभवनमें निरत है उनके लिए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है यह कहा गया है। इसका अर्थ यह कहाँ हुआ कि '१२ वें गुणस्थानमें शुभोपयोग होता है, अतः पुण्यभावसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है?' अपर पक्षने उक्त गाथा और उसकी टीकाओंसे यह अर्थ कैसे फलित कर लिया इसका हमें आश्चर्य है। ज्ञानी जीवको अशुद्ध आत्माका अनुभव होना कहाँ तक सम्भव है इसका भी तो उस पक्षको विचार करना था। ६ टे गुणस्थानके आगे १२ वें गुणस्थान तक एकमात्र शुद्धनय-शुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग ही होता है, अतः केवलज्ञानकी उत्पत्ति शुभाचारसे न होकर शुद्धात्मानुभूति परिणत आत्मा ही उसमें प्रगाढ़ता करके केवलज्ञानको उत्पन्न करता है ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए।

२. प्रवचनसार गाथा ४५ की दोनों टीकाओंपर दृष्टिपात करनेसे विदित तो यही होता है कि यहाँ 'पुण्य' पद द्रव्यकर्मके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। आचार्य जयसेन 'पुण्यफला अरहंता' पदकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

पञ्चमहाकल्याणकपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थंकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्ता भवन्ति।

पञ्चमहाकल्याणक पूजाका जनक और तीन लोककी विजय करनेवाला जो तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म है उसके फलस्वरूप अरिहन्त होते हैं।

अपर पक्षने प्रस्तुत प्रतिशंकामें इसका थोड़ा-सा स्पष्टीकरण अवश्य किया है। किन्तु मूल शंका जिस अभिप्रायसे की गई थी उससे तो यह भाव प्रगट नहीं होता था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अपर पक्ष केवलज्ञानकी प्राप्ति भी द्रव्य पुण्यकर्म या शुभाचारका फल मानता है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर हमने

जो लिखा था उसका आशय यह है कि यदि अरिहन्त पदकी प्राप्ति यथार्थमें पुण्यकर्मका फल माना जाय तो आगममें 'मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् (त० सू०१०-१) इस वचनकी कोई उपयोगिता नहीं रह जायगी।

प्रश्न १५ के उत्तरमें हमने इस सूत्रपर न तो कोई आपत्ति डाली है और न आपत्ति डाली ही जा सकती है। किसी वाक्य या सूत्रका आशय स्पष्ट करना इसे आपत्ति डालना नहीं कहते। प्रकृत प्रतिशंकामें अपर पक्षने 'तीन लोकका अधिपतित्व' इस वाक्यके आशयको स्पष्ट किया है। तो क्या इसे उस वाक्यपर आपत्ति डालना कहा जायगा। यह समग्र तत्त्वचरचा जिनागमका निश्चय-व्यवहार आदिके विषयमें आशय स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे की जा रही है तो क्या इसे जिनागमपर आपत्ति डालना कहा जायगा? इस प्रश्नका उत्तर अपर पक्ष स्वयं अपने विवेकसे प्राप्त कर ले। **आक्षेपात्मक शब्दप्रयोग करना अन्य बात है और अपने परिणामोंका संतुलन रखते हुए तत्त्वविमर्श करना अन्य बात है। यदि सभी साधर्मी भाई दूसरे साधर्मी भाइयोंपर कीचड़ उछालनेकी भाषाका परित्याग कर विवेकके मार्गपर चलना प्रारम्भ कर दें तो इससे वीतराग मार्गकी ही प्रभावना होगी।**

३. अपर पक्षने धवला पु० १४ पृ० ८९ का नामोल्लेख कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'पंच महाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति आदि रूप व्यवहारचारित्र १२वें गुणस्थानमें भी होता है। उस पुण्यभावसे मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तरायका क्षय होता है और इस कर्मके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है।'

समाधान यह है कि धवला पुस्तक १४ पृ० ८९ में अप्रमाद' पदकी व्याख्या की गई है। वहाँ लिखा है—

को अप्पमादो? पंचमहव्वयाणि पंच समदीओ तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसायाभावो च अप्पमादो णाम।

अप्रमाद क्या है? पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और निःशेष कषायका अभाव अप्रमाद है।

यहाँ पाँच महाव्रत आदिरूप परिणामसे निःशेष कषायके अभावका पृथक् रूपसे निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि बारवें गुणस्थानमें निःशेष कषायका अभावरूप अप्रमाद भाव लिया गया है। वहाँ आचार्यका विकल्परूप पाँच महाव्रतादिका सद्भाव दिखलाना इस वाक्यका प्रयोजन नहीं है। विकल्परूप पाँच महाव्रतादि छटे गुणस्थानमें ही होते हैं, आगे तो स्वरूपस्थितिरूप एकमात्र वीतराग चारित्र ही होताहै। वहाँ ९वें गुणस्थानतक जो छेदोपस्थापना संयमका निर्देश किया है वह मात्र कषायलेशके सद्भावके कारण किया है, अतएव इस वचनके आधारसे १२वें गुणस्थानमें पुण्यभाव—शुभाचारकी प्रसिद्धि करना और उससे केवलज्ञानकी उत्पत्ति बतलाना आगमसम्मत कथन नहीं कहा जा सकता।

४. अपर पक्षने हमारा कथन बतलाकर लिखा है कि '१२वें गुणस्थानमें पुण्य प्रकृत्तियोंके उदयसे होनेवाले भावका नाम पुण्यभाव है।'

किन्तु हमने अपने पिछले दोनों उत्तरोंपर दृष्टिपात किया है। एक तो हमने ऐसा वचन लिखा ही नहीं है। मालूम नहीं कि अपर पक्षने उक्त वचनकी कल्पनाकर उसे हमारा कैसे बतला दिया। दूसरे मनुष्य गति, तीर्थंकर प्रकृति ये जीवविपाकी पुण्यप्रकृतियाँ हैं। इनके उदयको निमित्तकर मनुष्यगति तथा तीर्थंकर आदि नोआगमभाव पर्याय होती हैं। ये १४वें गुणस्थातक बतलाई हैं। इस अपेक्षासे यदि १२वें गुणस्थानमें नोआगमभावरूप पुण्यभाव स्वीकार भी किया जाय तो यह कथन 'आगमानुकूल नहीं है', अपर पक्षका ऐसा

लिखना कहाँतक आगमानुकूल हैं इसका वह स्वयं विचार करे। इस विषयमें बहुवक्तव्य होते हुए भी हम और कुछ नहीं लिखना चाहते।

५. अपर पक्षने 'तीन लोकका अधिपतित्व' को अपनी व्याख्या द्वारा स्वयं उपचरित घोषित कर दिया। फिर भी हमने उसे 'उपचरित कथन' लिख दिया तो अपर पक्ष हमारे इस कथनको आगमका विपर्यास बतलाने लगा इसका हमें आश्चर्य है। इस सम्बन्धमें हमने पिछले उत्तरमें क्या लिखा है उसे पुनः उद्धृत कर देते हैं—'बारहवें गुणस्थानमें सर्वमोहके क्षीण हो जानेपर जो वीतरागभाव होता है वह अरहंत पद (केवली पद) का निश्चयनयसे हेतु है। उस समय जो शुभ प्रकृतियोंका कार्य है उसमें इसका उपचार होनेसे उस पुण्यको भी अरहन्त पदका कारण (उपचारसे) आगममें कहा गया है।'

हमारा उक्त कथन अपनेमें स्पष्ट है। इसमें न तो कहीं स्व-स्वामिसम्बन्धकी चरचा है और न ही निष्परिग्रह शब्दका ही प्रयोग किया गया है। हम तो इस परसे इतना ही समझे हैं कि कुछ टीका करनी चाहिये, इसलिए अपर पक्षने यह टीका की है।

६. अपर पक्षने लिखा है कि 'यदि मिथ्यादृष्टि भी परमार्थकी अपेक्षा व्यवहारधर्मका पालन करता है तो उसके लिए वह सम्यक्त्वकी प्राप्तिका कारण होता है।' आदि।

समाधान यह है कि प्रकृतमें उक्त वाक्यमें आये हुए 'परमार्थकी अपेक्षा' इस पदका क्या अर्थ है यह विचारणीय है। इस वाक्यका अर्थ 'व्यवहारधर्मको परमार्थ मानकर' यह तो हो नहीं सकता, क्योंकि आगममें निश्चयधर्मके साथ जो शुभाचार परिणाम होता है उसे व्यवहारधर्म कहा गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि अपर पक्षने उक्त वाक्यका प्रयोग 'परमार्थको लक्ष्यमें रखकर' इस अर्थमें किया होगा। यदि यह अर्थ अपर पक्षको इष्ट है तो अपर पक्षके उक्त कथनका यह आशय फलित होता है कि जो सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके सन्मुख होता है उसके बाह्यमें परमागमका श्रवण, जीवादि नौ पदार्थोंका भूतार्थरूपसे विचार, वीतराग देवादिकी उपासना-भक्ति आदि पुण्य क्रिया नियमसे होती है। उसके अशुभाचरण नहीं होता, क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही शुद्धनयके विषयभूत आत्माके अवलम्बनसे तत्स्वरूप परिणमन द्वारा स्वानुभूति लक्षणवाले सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि यहाँपर सम्यक्त्व प्राप्तिका निश्चय कारण तो शुद्धनयके विषयभूत ज्ञायकस्वभाव आत्माका अवलम्बन होकर उपयोगका तत्स्वरूप परिणमन ही है, बाह्य विकल्परूप पुण्यभाव नहीं। फिर भी बाह्यमें इस जीवकी ऐसी भूमिका होती है, इसलिये शुभाचार या पुण्यभावको उसका व्यवहार हेतु कहा जाता है।

श्री धवला पु० ६ पृ० ४२ में तथा सर्वार्थसिद्धि १-७ में इसी आशयसे सम्यक्त्वके बाह्य साधनोंका निर्देश किया है। सम्यक्त्व प्राप्तिके समय यथासम्भव बाह्य परिकर ऐसा ही होता है इसमें सन्देह नहीं। मुख्यता तो उसकी है जो सम्यक्त्व प्राप्तिका यथार्थ कारण है। वह न हो और बाह्य परिकर हो तो सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता। इसलिए उसकी प्राप्तिका वही निश्चय हेतु है यह अपर पक्षके उक्त कथनसे ही सिद्ध हो जाता है।

७. 'सम्यक्त्वकी उत्पत्ति मिथ्यादृष्टिको होती है' इसका तो हमने निषेध किया नहीं। पर मिथ्यादृष्टि रहते हुए नहीं होती, मिथ्यात्व पर्यायका व्यय होकर ही सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है ऐसा उसका अर्थ समझना चाहिये। तथा भेदविवक्षामें सम्यक्त्वी भी सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है यह लिखा या कहा जाय तो भी कोई हानि नहीं, क्योंकि द्वितीयादि समयोंमें जो सम्यक्त्व पर्याय उत्पन्न होती है वह सम्यक्त्वीके ही

होती है आदि। यतः मिथ्यात्व पर्यायका व्यय कर जीव ही सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, अतः आत्म-स्वभावके सन्मुख हुआ आत्मा ही उसका साधकतम करण और निश्चय कर्ता है यह सिद्ध होता है।

८. धवला पु० ६ पृ० ४२७ का 'कथं जिणबिम्वदंसणं' इत्यादि वचनद्वारा अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमें स्थित जीवपरिणामका निर्देश किया गया है। उसीको जिनबिम्बका देखना कहा गया है, क्योंकि वहींपर मिथ्यत्वादि कर्मके निधत्ति-निकाचित बन्धका विच्छेद होता है। अतएव इस वचनका कर्मशास्त्रके अनुसार अर्थ करना ही उचित है। व्यवहारनयका वक्तव्य इसीको कहते हैं। भावपाहुड़ गाथा १५३ तथा पद्मनन्दिपंचविंशति १४–२ का भी यही आशय है कि जो स्वभाव सन्मुख हो आत्माको प्राप्त करता है उसकी जिनदेवादिमें प्रगाढ़ भक्ति नियमसे होती है।

९. अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'जो मिथ्यादृष्टि, परमार्थको न जानते हुए, मात्र विषयसामग्री तथा सांसारिक सुखकी प्राप्तिके लक्ष्यसे अप्रशस्त रागसहित कुछ शुभ क्रिया करता है और उससे जो पुण्यबन्ध होता है, वह पुण्यभाव तथा पुण्यबन्ध संसारका ही कारण है। आदि।'

सो इस सम्बन्धमें इतना ही कहना है कि अप्रशस्त राग हो और शुभ क्रिया तथा शुभभाव हो यह नहीं हो सकता। यह परस्पर विरुद्ध कथन है। प्रशस्त रागका ही शुभक्रिया तथा शुभभावके साथ अन्वय-व्यतिरेक है, अप्रशस्त रागका नहीं। इसी प्रकार शुभक्रियाका शुभभावके साथ ही अन्वय-व्यतिरेक है, अन्यके साथ नहीं।

आगममें निदानका उल्लेख अवश्य है, पर उसका यह अर्थ नहीं कि पूजा-भक्ति आदिरूप शुभ परिणाम निदान है। उसके फलस्वरूप पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी कामना करना निदान अवश्य है। यहाँ तो केवल प्रश्न इतना ही है कि जो शुभ मन, वचन, कायका व्यापार होता है उससे अल्प ही सही बन्ध होता है या नहीं? इस विषयमें समस्त परमागमका एकमात्र यही अभिप्राय है कि उससे नरकादि दुर्गतियोंके हेतुभूत पापकर्मका बन्ध न होकर सुगतिके कारणभूत पुण्यकर्मका बन्ध होता है। यह जीव सम्यग्दृष्टि है, इसलिए इस अपेक्षासे उसे परम्परा मुक्तिका हेतु कहना अन्य बात है। इसका आशय तो इतना ही है कि रत्नत्रयपरिणत उक्त जीव मोक्षका पात्र होता है, इसलिए उसके सहचर शुभभावमें भी मोक्षहेतुताका व्यवहार किया जाता है।

१०. अपर पक्षका यह लिखना भी ठीक नहीं कि 'प्रवचनसार प्रथम अध्याय आदि ग्रन्थोंमें मात्र परमार्थको न जाननेवाले मिथ्यादृष्टिके पुण्यको ही पूर्णतया हेय बतलाया गया है।' क्योंकि जिसके पुण्य-भावमात्रमें उपादेय बुद्धि है वह सम्यग्दृष्टिका लक्षण नहीं है और न उसे परमार्थका जाननेवाला ही कहा जा सकता है। कारण कि जिसकी पुण्यभावमें उपादेय बुद्धि है उसकी उसके फलमें उपादेय बुद्धि न हो यह नहीं हो सकता। अतएव कोतवाल द्वारा पकड़े गये आत्मनिन्दा तत्पर चोरके समान ही वह बाह्य क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है। अन्तरंगमें तो वह इन क्रियाओंको करते हुए भी एकमात्र अनन्त सुखके निधान निज परमात्मतत्त्वको ही आश्रय करनेयोग्य मानता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमें यही अन्तर है। इसी दृष्टिसे प्रवचनसार गाथा ११ की टीकामें 'अतः शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः'—अतः शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है यह वचन कहा गया है। यह प्रवचनसार प्रथम अध्यायका ही वचन है। इसमें सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोगको या परमार्थको न जाननेवाले मिथ्यादृष्टिके शुभोपयोगको मात्र हेय बतलाकर शुभोपयोगमात्रको हेय बतलाया गया है। इसी प्रकार प्रवचनसार अ० २ गा० १५९ में सम्यग्दृष्टि कैसी और

भावना करता है इसका निर्देश करते हुए जो यह लिखा है कि वह विचार करता है कि मैं अशुभोपयोग शुभोपयोगसे रहित होकर समस्त परद्रव्योंमें मध्यस्थ होता हुआ ज्ञानस्वरूप आत्माको ध्याता हूँ। गाथा इस प्रकार है—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए॥६७॥

यह सम्यग्दृष्टि हीकी तो भावना है। श्रुत, गुरूपदेश और युक्तिके बलसे मिथ्यादृष्टि भी परद्रव्यभावोंसे भिन्न आत्माका निर्णय कर जब उक्त प्रकारकी भावना करता हुआ आत्मसन्मुख होकर उसमें लीन होता है तभी तो वह सम्यग्दृष्टि बनता है। सम्यग्दृष्टि बनने या सम्यग्दृष्टि बनकर आगे बढ़नेका इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं है।

समयसार गाथा १४६ में चार प्रकारसे शुभाशुभभाव जीवपरिणाम होकर भी अज्ञानमय भाव होनेसे दोनों एक हैं, इसलिए कारणके अभेदसे दोनोंको एक कर्म बतलाया गया है। दूसरे शुभाशुभ जो द्रव्यकर्म हैं वे दोनों केवल पुद्गलमय होनेसे एक हैं, इसलिए स्वभावके अभेदसे उन दोनोंको एक कर्म कहा गया है। तीसरे इनके योगसे जो शुभाशुभ फल मिलता है वह भी केवल पुद्गलमय होनेसे एक है, इसलिए अनुभवके अभेदसे दोनोंको एक कहा गया है। चौथे शुभ-मोक्षमार्ग केवल जीवमय होनेसे और अशुभ-बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय होनेसे उन्हें अनेक बतलाकर भी दोनोंके ही पुद्गलमय बन्धमार्गके आश्रित होनेसे आश्रयके अभेदसे दोनोंको एक कर्म कहा गया है।

इससे स्पष्ट है कि समयसार गाथा १४५ द्वारा शुभाशुभ द्रव्यकर्मोके समान शुभाशुभरूप दोनों प्रकारके भावकर्मोंका भी निषेध किया गया है और गाथा १४७ में इन दोनोंको स्वाधीनताका विनाश करनेवाला कहा गया है। शुभभाव भी अशुभभावके समान औदयिकभाव तथा उसमें उपयुक्त आत्माका परिणाम है और 'ओदइया बन्धयरा' इस सिद्धान्तके अनुसार वह बन्धका ही कारण है, अतः ज्ञानीकी अशुभभावके समान शुभभावमें भी हेय बुद्धि ही होती है ऐसा यहाँ समझना चाहिए, क्योंकि पुरुषार्थकी हीनतावश शुभभाव और तदनुसार व्यापार होना अन्य बात है, किन्तु उसमें हेयबुद्धिका होना अन्य बात है। ज्ञानीके शुभभाव अवश्य होता है और तदनुसार मन, वचन, कायका व्यापार भी होता है इसमें आपत्ति नहीं। किन्तु ऐसा होते हुए भी उसकी उसमें हेयबुद्धि बनी रहती है तो ही वह मार्गस्थ है—ज्ञान, वैराग्यसम्पन्न है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रतिशंकाका सर्वाङ्ग समाधान किया।

प्रथम दौर

: १ :

शंका १४

पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणत होनेपर स्वतः छूट जाता है या उसको छुड़ानेके लिये किसी उपदेश और प्रयत्नकी जरूरत होती है ?

समाधान १

आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणतिके कालमें निर्विकल्प अवस्था होती है। ऐसे समयमें उसके बाह्य उपदेशादिका योग बन ही नहीं सकता। साथ ही उसका उस अवस्थामें प्रति समयका पुरुषार्थ स्वरूप स्थितिके अनुरूप ही होता है। इस कारण उस अवस्थामें उसे पुण्यको छुड़ानेके लिए न तो किसी उपदेशकी आवश्यकता पड़ती है और न ही किसी स्वतन्त्र प्रयत्नकी भी। किन्तु जिस क्रमसे उसकी आत्मविशुद्धि बढ़ती जाती है उस क्रमसे यथास्थान आत्मविशुद्धिका योग पाकर पापके समान पुण्य भी स्वयं छूटता जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्यवर्य अमृतचन्द्र समयसार गाथा ७४ की टीकामें कहते हैं—

सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथा आस्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथा आस्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावत् विज्ञानघन-स्वभावो भवति यावत् सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते, तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत् सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम्।

सहजरूपसे विकाशको प्राप्त चित्तशक्तिसे ज्यों-ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है त्यों-त्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है (यह कथन निश्चयपक्षकी मुख्यतासे किया गया है) और ज्यों-ज्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है त्यों-त्यों विज्ञानस्वभाव होता जाता है (यह कथन व्यवहारनयकी मुख्यतासे किया गया है तथा इन्हीं दोनों नयोंकी अपेक्षा यह भी लिखा गया है कि—) उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है जितना सम्यक् प्रकारसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है और उतना आस्रवोंसे निवृत्त होता है जितना सम्यक्प्रकारसे विज्ञानघनस्वभाव होता है। इस प्रकार ज्ञानको और आस्रवोंकी निवृत्तिको समकालपना है।

इस प्रकरणसे यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि निश्चय और व्यवहार ये दो पक्ष हैं। तदनुसार प्रत्येक स्थानपर इनका उस उस स्थानके योग्य सुमेल होता है। यहाँपर इनकी समकालता इसी आधारसे बतलाई गई है। विवक्षित उपादान और विवक्षित निमित्तकी अपेक्षा कार्य-कारण परम्परामें भी इसी प्रकार प्रत्येक समयमें दोनोंकी समकालता है।

द्वितीय दौर

: २ :

शंका १४

पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणत होनेपर स्वतः छूट जाता है या उसको छुड़ानेके लिए किसी उपदेश और प्रयत्नकी जरूरत होती है ?

प्रतिशंका २

आपने अपने उत्तरमें लिखा है—'किन्तु जिस क्रमसे उसकी आत्मविशुद्धि बढ़ती जाती है उस क्रमसे यथास्थान आत्मविशुद्धिका योग पाकर पापके समान पुण्य भी स्वयं छूटता जाता हैं।' इसके लिए जो गाथा ७४ समयसारकी टीकाका प्रमाण दिया है वह आपके इस कथनको पुष्ट नहीं करता है।

यह उत्तर हमारे प्रश्नसे सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि हमारा प्रश्न पुण्यकी चरम सीमाके अथवा आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणत अवस्थाके विषयमें था और पुण्यके छूटनेके विषयमें था। फिर भी आपने अप्रासंगिक 'पापके स्वयं छूटनेका' उल्लेख किया है। आपका यह कथन आगमविरुद्ध है।

हिंसा, असत्य आदि सब पापोंका बुद्धिपूर्वक प्रतिज्ञारूप त्याग किया जाता है जैसा कि धवल पुस्तक १ पृ० ३६९ पर कहा है—

सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मीति सकलसावद्ययोगविरतिः सामयिकशुद्धिसंयमो द्रव्यार्थिकत्वात्।

अर्थ—मैं सर्वप्रकारसे सावद्ययोगसे विरत हूँ' इस प्रकार द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सकल सावद्ययोगके त्यागको सामायिकशुद्धिसंयम कहते हैं।

इसी कथनकी पुष्टि श्री कुंदकुंद भगवान्के प्रवचनसार गाथा २०८-२०९ में साधुके २८ मूलगुणोंका वर्णन करते हुए तथा श्री अमृतचन्द्रजी सूरिके इन वाक्योंसे होती है—

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तिवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पंचव्रतं व्रतं।

अर्थ—सर्व सावद्ययोगके त्यागस्वरूप एक महाव्रतके विशेष होनेसे हिंसा, असत्य, चोरी, (अब्रह्म) और परिग्रहकी विरत्तिस्वरूप पंच महाव्रत है।

इन आगमप्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि हिंसादि पापोंका बुद्धिपूर्वक त्याग किया जाता है। किन्तु पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्धस्वभावरूप परिणत होनेपर छूट जाता है, अतः स्वयं छूटनेकी अपेक्षा पुण्य और पापको समान बताना उचित नहीं है। जितने भी जीव आजतक मोक्ष गये हैं, जा रहे हैं और जावेंगे वे सर्व पापोंका बुद्धिपूर्वक त्याग करके ही मोक्ष गये है, जा रहे है और जावेंगे।

शंका १४

पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणत होनेपर स्वतः छूट जाता है या उसको छुड़ानेके लिए किसी उपदेश और प्रयत्नकी जरूरत होती है ?

प्रतिशंका २ का समाधान

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जो कुछ लिखा गया है उसके आधारसे उपस्थित की गई प्रतिशंका २ से विदित होता है कि यह तो मान लिया गया है कि 'जैसे-जैसे विशुद्धिमें वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे पुण्य स्वयं छूटता जाता है।' मात्र प्रतिशंका २ पापको आधार बनाकर उपस्थित की गई है। उसमें बतलाया गया है कि पापको छोड़ना पड़ता है, जब कि विशुद्धिका योग पाकर पुण्य स्वयं छूट जाता है।

समाधान यह है कि चाहे पुण्यभाव हो या पापभाव दोनोंके छूटनेकी प्रक्रिया एक प्रकारकी ही है। उदाहरणार्थ एक ऐसा गृहस्थ लीजिए जो मुनिधर्मको अंगीकार करता है। विचार करनेपर विदित होता है कि जब वह मुनिधर्मको अंगीकार करता है तब व्यवहारसे वह भी अणुव्रतादिरूप पुण्यभावका त्याग कर ही महाव्रतादिरूप पुण्यभावको प्राप्त होता हैं, इसलिए यह कहना कि पापका त्याग करना पड़ता है और विशुद्धिका योग पाकर पुण्य स्वयं छूट जाता है ठीक प्रतीत नहीं होता। पर यह सब कथन आगममें व्यवहारनयकी अपेक्षा किया गया है। वस्तुतः विचार करनेपर पुण्यभावका योग पाकर पापभाव स्वयं छूट जाता है और विशुद्धिका योग पाकर पुण्यभाव स्वयं छूट जाता है। पापभाव, पुण्यभाव और शुद्धभाव ये तीनों आत्माके परिणाम हैं। अतः उत्पाद-व्ययके नियमानुसार जब एक भावकी प्राप्ति होती है तो उससे पूर्वके भावका स्वयं व्यय हो जाता है।

प्रतिशंकामें जितने प्रमाण दिये गये हैं उन सबका व्यवहारनयकी मुख्यतासे ही उन उन शास्त्रोंमें प्रतिपादन किया गया है। परमार्थसे विचार करनेपर पाप, पुण्य या शुद्धरूप उत्तर पर्यायके प्राप्त होनेपर पूर्वकी पर्यायका व्यय होकर ही उसकी प्राप्ति होती है।

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका १४

मूल प्रश्न यह है—पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणत होने पर स्वतः छूट जाता है या उसे छुड़ानेके लिये किसी उपदेश या प्रयत्नकी जरूरत है ?

प्रतिशंका ३

आपने इसके प्रथम उत्तरमें यह तो स्वीकार कर लिया था कि 'शुद्ध स्वभावरूप परिणतिके कालमें पुण्य स्वयं छूट जाता है', किन्तु प्रसंगसे बाहर यह भी लिख दिया कि पाप भी स्वयं छूट जाता है। यद्यपि पापके सम्बन्धमें प्रश्न नहीं था तथापि अपनी मान्यताके कारण आपने पापको स्वयं छूट जानेवाला लिख दिया तथा इसके लिये किसी आर्षग्रन्थका प्रमाण भी नहीं दिया।

इसपर प्रतिशंका प्रस्तुत करते हुए श्री धवल व प्रवचनसारका प्रमाण देकर हमने यह सिद्ध किया था कि पापोंका बुद्धिपूर्वक त्याग किया जाता है, वे स्वयं नहीं छूटते।

आपने दूसरे उत्तरमें हमारे द्वारा प्रदत्त प्रमाणोंकी यह लिखकर कि 'जितने प्रमाण दिये गये हैं उन सबका व्यवहारनयकी मुख्यतासे ही उन शास्त्रोंमें प्रतिपादन किया गया है' अवहेलना की और लिखा है 'वस्तुतः विचार करनेपर पुण्यभावका योग पाकर पापभाव स्वयं छूट जाता है।' इसके साथ साथ आपने यह भी लिखनेका प्रयास किया है 'गृहस्थ भी अणुव्रतादि पुण्यभावका त्यागकर महाव्रतरूप पुण्यभावको प्राप्त होता है।' आपने इस उत्तरमें भी किसी आगमप्रमाणको उद्‌धृत नहीं किया है।

निश्चयनयकी अपेक्षासे तो आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है (समयसार गाथा ६) और न राग है, न द्वेष है, न पुण्य है, न पाप है (समयसार गाथा ५०-५५), किन्तु ज्ञायक है, अतः निश्चयनयकी अपेक्षासे राग-द्वेष या पुण्य-पापके छोड़ने या छूटनेका कथन ही नहीं हो सकता। जब राग-द्वेष, पुण्य, पाप व्यवहारनयकी अपेक्षासे हैं (समयसार गाथा ५६) तो इनके छोड़ने या छूटनेका कथन भी व्यवहारनयसे होगा।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी तथा श्री अमृतचन्द्रसूरिने प्रवचनसारमें तथा श्री वीरसेन स्वामीने धवल ग्रन्थमें सर्व सावद्ययोगके त्यागके विषयमें लिखा है वह आपकी दृष्टिमें अवास्तविक है, इसीलिये आपने यह लिख दिया कि वास्तविक तो पापभाव स्वयं छूट जाता है। आप ही इतना साहस कर सकते हैं, हमारे लिये तो आर्षवाक्य वास्तविक हैं।

गृहस्थके संयमासंयम पांचवाँ गुणस्थान होता है अर्थात् त्रसहिंसाका त्याग होता है और स्थावर हिंसा-का त्याग नहीं होता। जब वह मुनिदीक्षा ग्रहण करता है तब वह संयम अंशका त्याग नहीं करता, किन्तु शेष असंयमका त्यागकर पूर्ण संयमी बन जाता है। यहाँ पर भी उसने शेष असंयमरूपी पापका ही त्याग किया। जब आप अपने प्रथम उत्तरमें यह स्वीकार कर चुके हो कि पुण्य स्वयं छूट जाता है उसको छुड़ानेके लिये किसी उपदेश या प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती तो अब उसके विरुद्ध कैसे लिखते हैं कि पुण्यभावका भी त्याग किया जाता है।

संयमाचरण चारित्रके दो भेद हैं—१. सागार संयमाचरण और निरागार संयमाचरण चारित्र। श्री कुन्दकुन्द स्वामीने चारित्रपाहुड़ गाथा २१ में इस प्रकार कहा है—

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहरहिय खलु णिरायारे ॥२१॥

अर्थात् संयम चरणके दो भेद हैं—सागार संयमचरण और निरागार संयमचरण। इनमें सागार संयम-चरण परिग्रहसहित गृहस्थके और निरागार संयमचरण परिग्रह रहित मुनियोंके होता है।

पंचेव पुव्वियपदं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संयमचरणं च सायारं ॥२३॥

अर्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह बारह प्रकारका सागार संयमचरण है।

पंचेंदियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु।
पंच समिदि तय गुत्ती संयमचरणं णिरायारं ॥२८॥

अर्थ—पांच इन्द्रियोंका संवर, पांच महाव्रत, पच्चीस क्रिया, पांच समिति, तीन गुप्ति....यह निराकार संयमचरण है।

इन दोनों प्रकारके संयमचरणोंसे पञ्चमादि गुणस्थानोंमें प्रतिसमय गुणश्रेणी निर्जरा होती है जिसे करणानुयोगके विशेषज्ञ भली-भाँति जानते हैं। कर्मनिर्जरा तथा आत्माकी पवित्रताके कारण हैं, इसीलिये व्रतोंको पुण्यभाव कहा जाता है। इस सम्बन्धमें विशेष कथन प्रश्न नं० ४ में किया जा चुका है, पुनरुक्ति दोषसे यहाँ नहीं किया गया है।

इस प्रकार पाप छोड़ा जाता है और पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर स्वयं अथवा आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणमन होनेपर स्वतः छूट जाता है।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १४

पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणत होने पर स्वतः छूट जाता है या उसे छुड़ानेके लिए किसी उपदेश या प्रयत्नकी जरूरत है ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

हमारी ओरसे इस प्रश्नका प्रथम बार जो उत्तर दिया गया था उसमेंसे यह अंश तो प्रतिशंका २ में स्वीकार कर लिया गया है कि 'आत्माके शुद्ध स्वभावरूपसे परिणत होने पर पुण्य स्वयं छूट जाता है।' किन्तु 'पाप स्वयं छूट जाता है' यह कथन दूसरे पक्षको मान्य नहीं है। अपर पक्षने अपने इस अभिप्रायका समर्थन प्रतिशंका २ में तो किया ही है, प्रतिशंका ३ भी इसी अभिप्रायके समर्थनमें लिखी गई है। साथ ही इसमें कुछ ऐसी बातें और लिखी गई हैं जिनका उद्देश्य समाजको भ्रममें डालना प्रतीत होता है। अस्तु,

हम दूसरे पक्षकी ऐसी बातोंका उत्तर तो नहीं देंगे, किन्तु इतना अवश्य ही स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं कि प्रमाण प्ररूपणाके समान नयप्ररूपणा भी जिनागमका अंग है। अतएव जिनागममें जहाँ जिस नयसे प्ररूपणा हुई है वहाँ उसे उस नयसे समझना या अन्यके लिए प्रतिपादन करना क्या यह वास्तवमें जिनागमकी अवहेलना है या उससे विपरीत अर्थ फलितकर अपने विपरीत अभिप्रायकी पुष्टि करना यह वास्तवमें जिनागमकी अवहेलना है, इसका दूसरा पक्ष स्वयं विचार करे।

पाप भाव, पुण्य भाव और शुद्ध भाव ये तीनों आत्माकी परिणतिविशेष हैं। इनमेंसे आत्मा जब जिस भावरूपसे परिणत होता है तब तन्मय होता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसारमें कहा है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

जीव परिणामस्वभावी होनेसे जब शुभ या अशुभ भावरूपसे परिणमता है तब शुभ या अशुभ (स्वयं) होता है और जब शुद्धभावरूपसे परिणमता है तब शुद्ध होता है ॥९॥

यह वस्तुस्थिति है। इसे दृष्टिपथमें रखकर हमें मूल प्रश्न पर विचार करते हुए सर्व प्रथम यह देखना है कि चरम सीमाको प्राप्त हुए पुण्यका क्षय और आत्माके शुद्ध स्वभावकी प्राप्ति ये दोनों क्या हैं, इन

दोनोंके कारण एक हैं या भिन्न-भिन्न, तथा ये दोनों एक कालमें होते हैं या भिन्न-भिन्न कालमें ? यह तो माना नहीं जा सकता कि चरम सीमाको प्राप्त हुए पुण्यका क्षय और आत्माके शुद्ध स्वभावकी प्राप्ति इन दोनोंमें सर्वथा भेद है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'कार्योत्पादः क्षयः' क्षय कार्योत्पाद ही है (आप्तमीमांसा श्लोक ५८) इस वचनके साथ विरोध आता है। इन दोनोंके कारण भी पृथक्-पृथक् नहीं माने जा सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर 'हेतोर्नियमात्' ये दोनों एक हेतुसे होते हैं ऐसा नियम है (वही) इस वचनके साथ विरोध आता है। इन दोनोंके होनेमें कालभेद भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव'—उपादानका पूर्वाकारसे क्षय कार्यका उत्पाद ही है इस वचनके साथ विरोध आता है। अतएव जिस प्रकार आत्मलक्षी सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा आत्माके शुद्धस्वभावकी प्राप्ति होने पर चरम सीमाको प्राप्त हुए पुण्यका स्वयं छूट जाना प्रतिशंका २–३ में स्वीकार कर लिया गया है उसी प्रकार शुभ भावके अनुरूप परलक्षी पुरुषार्थ द्वारा पुण्यभावके प्राप्त होने पर पापभावका स्वयं छूट जाना भी मान्य होनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि तीनों स्थलोंमें न्याय समान है।

यहाँ सर्वप्रथम पुण्यभाव या पापभाव स्वयं छूट जाता है इस कथनका क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। बात यह है कि शुद्धभावके समान ये दोनों आत्माके भावविशेष हैं। इसलिए एक भावका उत्पाद होनेपर दूसरे भावका व्यय नियमसे होता है। उत्पाद और व्यय इनको जो पृथक्-पृथक् कहा गया है वह संज्ञा, लक्षण आदिके भेदसे ही पृथक्-पृथक् कहा गया है—'लक्षणात् पृथक्' (आप्तमीमांसा श्लोक ५८), अतएव जो पूर्वभावका व्यय है वही उत्तरभावका उत्पाद है, इसलिए यह कहना कि 'पापभावको छोड़ना पड़ता है' संगत प्रतीत नहीं होता। ऐसा कहना भाषाका प्रयोगमात्र है। पहले कोई पापभावको बलात् छोड़ता हो और बादमें पुण्य भावको ग्रहण करता हो ऐसा जिनागमके किसी भी वचनका अभिप्राय नहीं है। समझो, किसीने 'मैं सर्व सावद्यसे विरत हूँ' ऐसा भाव किया, केवल वचनात्मक प्रतिज्ञा ही नहीं की, क्योंकि उक्त प्रकारसे वचनात्मक प्रतिज्ञा (व्यापार) करनेपर भी भाव भी उक्त प्रतिज्ञाके अनुरूप हो ही जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। आगममें व्रतीका लक्षण बतलाते हुए 'निःशल्यो व्रती'—जो माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्योंसे रहित होता है वह व्रती है (तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सूत्र १८) यह वचन इसी अभिप्रायसे दिया है। अतएव प्रकृतमें यही निर्णय करना चाहिए कि पुण्यरूप परिणाम होनेपर पाप भाव स्वयं छूट जाता है, क्योंकि पुण्यभावका उत्पन्न होना ही पापभावका छूटना है। यह दूसरी बात है कि पुण्यभावके होनेमें कहीं बाह्य उपदेशादि सामग्री निमित्त होती है और कहीं वह स्वयं अन्तरंगमें व्रतादिके स्वीकाररूप होता है। यद्यपि धवला पु० १ पृ० ३६९ का प्रतिशंका २ में उद्धरण दिया गया है, परन्तु उसका अभिप्राय हमारे उक्त कथनके अभिप्रायसे भिन्न नहीं है। अन्तरंगमें जो सर्व सावद्ययोगसे विरतिरूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे ही श्री धवलाजीमें बाह्यमें प्रतिज्ञारूपमें निर्दिष्ट किया गया है। प्रतिज्ञा वाचनिक भी होती है और मानसिक भी। कोई वाचनिक या मानसिक जैसी भी शुभप्रतिज्ञा कर रहा है उसीके अनुरूप अन्तरंगमें परिणामकी प्राप्ति होना यह शुभभाव है जो कहीं पापभावकी निवृत्तिरूप होता है और कहीं अन्य प्रकारके शुभभावकी निवृत्तिरूप होता है। हमने अपने प्रथम और द्वितीय उत्तरमें यही अभिप्राय व्यक्त किया था। प्रवचनसार गाथा २०८ और २०९ से भी यही आशय झलकता है। अतएव हम पूर्वमें जो कुछ लिख आये हैं वह सब आगमानुकूल ही लिख आये है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

द्वितीय उत्तरमें हमने धवला प्रथम भाग और प्रवचनसारके उक्त उल्लेखोंको व्यवहारनयकी प्ररूपणा

बतलाया था। परम पारिणामिक भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध निश्चयनयका निर्देश करते हुए अपर पक्षकी ओरसे भी यद्यपि पुण्य-पाप आदि भेद कथनको व्यवहारनयकी प्ररूपणा स्वयं स्वीकार किया गया है, फिर भी हमारी ओरसे 'पापभाव छोड़ना पड़ता है' यह कथन व्यवहारनयकी प्ररूपणा है ऐसा लिखनेपर हमपर अकारण रोष प्रगट किया गया है जो शोभनीक प्रतीत नहीं होता।

'गृहस्थ भी अणुव्रतादि पुण्यभावका त्यागकर महाव्रतरूप पुण्यभावको प्राप्त होता है' यह कथन हमारी ओरसे पर्यायदृष्टिसे लिखा गया था, क्योंकि प्रत्येक पर्यायका यह स्वभाव है कि उसका व्यय होकर उत्तर पर्यायका उत्पाद होता है। फिर भी प्रतिशंका ३ में इसका इस प्रकार तोड़-मरोड़कर खंडन किया गया जो स्वयं प्रतिशंका पक्षको ही कमजोर बनाता है। यह तो प्रत्येक आगमाभ्यासी जानता है कि जो संयमासंयमी संयमभावको अन्तरंगमें स्वीकार करता है वह आंशिक संयमभावकी निवृत्तिपूर्वक पूर्ण संयमभावको अन्तरंगमें स्वीकार करता है अर्थात् इसके पूर्व जो उसके बाह्याभ्यन्तर आंशिक संयमरूप प्रवृत्ति होती थी उसके स्थानमें पूर्ण संयमरूप प्रवृत्ति होने लगती है। संतानकी अपेक्षा आंशिक संयमभाव पूर्ण संयमभावमें अन्तर्निहित है यह दूसरी बात है। अतएव जो कथन जिस अभिप्रायसे जहाँ किया गया हो उसे समझकर ही वस्तुका निर्णय करना चाहिये। शास्त्रके रहस्यको हृदयंगम करनेकी यही परिपाटी है।

आगे प्रतिशंका ३ में संयमासंयमचरण और संयमाचरण क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए जो यह लिखा है कि 'इन दोनों संयमाचरणोंसे पंचमादि गुणस्थानोंमें प्रतिसमय गुणश्रेणि निर्जरा होती है जिसे करणानुयोगके अभ्यासी भलीभाँति जानते हैं।' सो इस विषयमें यही निवेदन करना है कि जिस प्रकार करणानुयोगके अभ्यासी यह जानते हैं कि इन दोनों संयमाचरणोंमें गुणश्रेणि निर्जरा होती है उसी प्रकार वे यह भी जानते हैं कि स्वभावके लक्ष्यसे वहाँ प्राप्त हुई जिस आत्मविशुद्धिके कारण ये दोनों संयमाचरण पंचमादि गुणस्थान संज्ञाको प्राप्त होते हैं, एकमात्र वही आत्मविशुद्धि गुणश्रेणिनिर्जराका प्रधान हेतु है अन्य शुभोपयोग या अशुभोपयोग नहीं।

इस प्रकार पूर्वोक्त कथनसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार आत्माके शुद्ध स्वभावरूपसे परिणत होनेपर पुण्यभाव स्वयं छूट जाता है उसी प्रकार आत्माके पुण्यरूपसे परिणत होनेपर पापभाव भी स्वयं छूट जाता है।

प्रथम दौर

: १ :

शंका १५

जब अभाव चतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारण-रूप क्यों नहीं माने जा सकते। तदनुसार घातिया कर्मोंका ध्वंस केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

समाधान १

इसमें सन्देह नहीं कि जैन आगममें चारों प्रकारके अभावोंको भावान्तर स्वभाव स्वीकार किया है। किन्तु प्रकृतमें चार घातिकर्मोंके ध्वंसका अर्थ भावान्तर स्वभाव करनेपर कर्मके ध्वंसाभावरूप अकर्म पर्यायको केवलज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त स्वीकार करना पड़ेगा। जिसका निमित्तरूपसे निर्देश आगममें दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः इससे यही फलित होता है कि पूर्वमें जो ज्ञानावरणीयरूप कर्मपर्याय अज्ञानभावकी उत्पत्तिका निमित्त थी उस निमित्तका अभाव होनेसे अर्थात् उसके अकर्मरूप परिणम जानेसे अज्ञानभावके निमित्तका अभाव हो गया और उसका अभाव होनेसे नैमित्तिक अज्ञान पर्यायका भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभावसे प्रगट हो गया।

●

द्वितीय दौर

: २ :

प्रतिशंका १५

प्रश्न था—जब अभावचतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातिया कर्मोंका ध्वंस केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

प्रतिशंका २

वस्तुस्थिति यह है कि जैनागममें अभावको भावान्तररूप स्वीकृत किया गया है, इसलिये घातिया कर्मोंके क्षय (ध्वंस) को पुद्गलकी अकर्म पर्यायके रूपमें स्वीकृत किया जाता है। चूँकि घातिया कर्मोंको कर्म-

रूपता केवलज्ञानके प्रकट होनेमें बाधक थी अतः उनका ध्वंस (अकर्मरूपता) केवलज्ञानके प्रकट होनेमें निमित्त है, क्योंकि यह उल्लेख सर्वसम्मत है—

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः ।

अर्थात् निमित्तका अपाय हो जानेपर उसके निमित्तसे होनेवाला कार्य भी दूर हो जाता है। इस आगमसम्मत कार्यकारणकी प्रक्रियाको स्वीकृत करते हुए भी आप यह लिखते हैं कि 'ध्वंसका अर्थ भावान्तर स्वभाव करनेपर कर्मकी ध्वंसाभावरूप अकर्म पर्यायको केवलज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त स्वीकार करना पड़ेगा।' सो आप निमित्तसे दूर क्यों भागना चाहते हैं ? सर्वत्र प्रसिद्ध कार्य-कारणभावकी शृङ्खलाको तोड़कर आखिर आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? कार्यकी सिद्धिमें जब उपादान और निमित्त दोनों कारणोंकी उपयोगिता सर्वसम्मत है तब आप केवल उपादानका पक्ष लेकर निमित्तको क्यों छोड़ देना चाहते हैं ? उपादानका यह एकान्त ही समस्त विवादोंकी जड़ है। आगे आप लिखते हैं—'जिसका निमित्तरूपसे निर्देश आगममें दृष्टिगोचर नहीं होता।' सो क्या

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० १०, सूत्र १

इस सूत्रपर आपने लक्ष्य नहीं किया ? वहाँ स्पष्ट बतलाया है कि मोहका क्षय होनेके बाद शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

इसी सूत्रकी पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धिके उल्लेखपर भी आपने लक्ष्य नहीं दिया ऐसा जान पड़ता है।

फलितार्थ निकालते हुए आप लिखते हैं कि 'पूर्वमें जो ज्ञानावरणीयरूप कर्मपर्याय अज्ञानभावकी उत्पत्तिका निमित्त थी उस निमित्तका अभाव होनेसे अर्थात् उसके अकर्मरूप परिणम जानेसे अज्ञानभावके निमित्तका अभाव हो गया और उसका अभाव होनेसे नैमित्तिक अज्ञान पर्यायका भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभावसे प्रकट हो गया।'

यहाँ आप जब ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायको अज्ञानभावकी उत्पत्तिमें निमित्त स्वीकार कर रहे हैं तब ज्ञानावरणीय कर्मपर्यायके ध्वंसको जो कि अकर्मपर्यायरूप होता है अज्ञानभावके अभावरूप केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त क्यों नहीं मानना चाहते हैं ? यह समझमें नहीं आता।

'केवलज्ञान स्वभावसे प्रकट हो गया' इसका अभिप्राय तो यह है कि केवलज्ञान कहीं बाहरसे नहीं आया। ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञानगुणकी जो केवलज्ञानरूप पर्याय अनादिकालसे प्रकट नहीं हो सकी थी वह आवरण करनेवाले ज्ञानावरण तथा साथ ही शेष तीन घातियकर्मोंका क्षय हो जानेसे प्रकट हो जाती है। भेदनयसे तद्भव मोक्षगामीका ज्ञानगुण और अभेदनयसे उसकी आत्मा ही केवलज्ञानरूप परिणत हो रहा है, इसलिए उपादान कारणकी अपेक्षा केवलज्ञानका उपादान कारण उसका ज्ञानगुण और आत्मा है, परन्तु निमित्त कारणकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय निमित्त कारण है। अनेकान्तकी शैलीसे विचार करनेपर सर्व विरोध दूर हो जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थोंमें औपशमिकादि पाँच भावोंका जो वर्णन आया है उनमें केवलज्ञानको क्षायिकभाव कहा है और क्षायिकभावका लक्षण यही किया गया है कि जो कर्मोंके क्षयसे हो वह क्षायिकभाव है। जैसा कि कहा गया है—

ज्ञानावरणस्यात्यन्तक्षयात्केवलज्ञानं क्षायिकं तथा केवलदर्शनम् ।

—सर्वार्थसिद्धि अ० २ सूत्र ४

अर्थ—ज्ञानावरणके अत्यन्त क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अतः वह क्षायिकभाव है। इसी प्रकार केवलदर्शनको भी क्षायिकभाव समझना चाहिये।

ज्ञानदर्शनावरणक्षयात् केवले क्षायिके।

—राजवार्त्तिक अ० २ सूत्र ४

अर्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयसे होनेके कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन क्षायिकभाव हैं।

यही भाव उक्त वार्तिककी निम्नाङ्कित वृत्तिमें भी प्रकट किया गया है—

ज्ञानावरणस्य कर्मणः दर्शनावरणस्य च कृत्स्नस्य क्षयात्केवले ज्ञान-दर्शने क्षायिके भवतः।

अर्थ—पूर्ववत् स्पष्ट है।

शंका १५

मूल प्रश्न—जब अभाव-चतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते? तदनुसार घातिया कर्मोंका ध्वंस केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता?

प्रतिशंका २ का समाधान

इस प्रश्नके उत्तरमें यह स्पष्ट किया गया था कि 'पूर्वमें जो ज्ञानावरणीय कर्मपर्याय अज्ञानभावकी उत्पत्तिका निमित्त थी उस निमित्तका अभाव होनेसे अर्थात् अकर्मरूप परिणम जानेसे अज्ञानभावके निमित्तका अभाव हो गया और उसका अभाव होनेसे नैमित्तिक अज्ञान पर्यायका भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभावसे प्रगट हो गया।'

प्रतिशंका २ में पुनः इसकी चरचा करते हुए ज्ञानावरणकी अभावरूप अकर्मपर्यायको केवलज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र जहाँ जहाँ भी क्षायिक भावोंकी उत्पत्तिका उल्लेख कर्मोंके क्षयसे आगममें लिखा है वहाँ वहाँ सर्वत्र प्रतिशंका २में इसी नियमको स्वीकार किया गया है। इसके समर्थनमें 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।' यह सूत्र उद्धृत किया गया है।

हम निमित्तोंसे नहीं घबड़ाते। उनसे घबड़ानेका कोई कारण भी नहीं, क्योंकि जब हम यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि जो हमारी संसारकी परिपाटी चल रही है उसमें स्वयं हम अपराधी हैं। जो निमित्तोंकी बलजोरीवश अपना इष्टानिष्ट होना मानते हैं, घबड़ानेका प्रसंग यदि उपस्थित होता है तो मात्र उनके सामने ही होता है।

यहाँ तो मात्र विचार इस बातका करना है कि क्या 'मोहक्षयात्' इत्यादि सूत्रमें आये हुए 'क्षय' पदसे उसकी अकर्मपर्यायको केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तरूपसे स्वीकार किया गया है, या वहाँ आचार्योंका

मात्र इतना दिखलाना प्रयोजन है कि स्वभाव पर्यायकी उत्पत्तिके समय उससे पूर्व जो विभाव पर्यायके निमित्त थे उनका वहाँ अभाव है।

यह तो आगम परिपाटोको जाननेवाले अच्छी तरहसे जानते हैं कि मोहनीय कर्मका क्षय १०वें गुणस्थानके अन्तमें होता है और ज्ञानावरणादि तीन कर्मोंका क्षय १२वें गुणस्थानके अन्तमें होता है। फिर भी केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कथनके प्रसंगसे मोहनीय कर्मके क्षयका भी हेतुरूपसे निर्देश किया गया है। ऐसी अवस्थामें क्या यह मानना उचित होगा कि मोहनीय कर्मका क्षय होकर जो अकर्मरूप पुद्गल वर्गणायें हैं वे भी केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं। मेरी नम्र सम्मतिमें उक्त वचनका ऐसा अर्थ करना उचित नहीं होगा। अतएव पूर्वमें उक्त प्रश्नका जो उत्तर दे आये हैं वही प्रकृतमें समीचीन प्रतीत होता है।

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका १९

जब अभावचतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातियाकर्मोंका ध्वंस केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें आपके द्वारा यह तो स्वीकृत कर लिया गया था कि 'चारों प्रकारके अभावों (अभाव चतुष्टय) को भावान्तरस्वभाव स्वीकृत किया है।' किन्तु 'चार घातिया कर्मोंका ध्वंस केवलज्ञानको उत्पन्न करता है' इसको स्वीकार नहीं किया गया था। और आपने यह भी लिखा था कि ऐसा निर्देश आगममें दृष्टिगोचर नहीं होता।

आपके इस प्रथम उत्तरको ध्यानमें रखकर श्री तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंके प्रमाण उद्धृत करते हुए यह बतलाया गया था कि श्री उमास्वामी आचार्य, श्री पूज्यपाद स्वामी, श्री अकलंकदेव और श्री कुन्दकुन्द स्वामीने कर्मोंके क्षयसे क्षायिकभाव तथा केवलज्ञानकी उत्पत्ति कही है, परन्तु उस ओर आपकी फिर भी दृष्टि नहीं गई। यहाँ यही प्रतीत होता है कि आप अभावको कारण नही मानना चाहते हैं। परन्तु जब हम आगमको देखते हैं तब जगह जगह अभावको कारणरूप स्वीकृत किया गया देखते हैं, क्योंकि अभाव तुच्छाभावरूप नहीं है, किन्तु भावान्तरस्वभाव है। इस संदर्भमें आप समन्तभद्र स्वामीका युक्त्यनुशासनमें निम्नांकित समुल्लेख देखिए—

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तुव्यवस्थांगममेयमन्यत् ॥५९॥

अर्थ—हे वीर अर्हन् ! आपके मतमें अभाव भी वस्तुधर्म होता है। यदि वह अभावधर्मका अभाव न

होकर धर्मीका अभाव है तो वह भावकी तरह भावान्तर होता है और इस सबका कारण यह है कि अभावको प्रमाणसे जाना जाता है व्यपदिष्ट किया जाता है तथा वस्तुव्यवस्थाके अंगरूपमें निर्दिष्ट किया जाता है। जो अभावतत्त्व वस्तुव्यवस्थाका अंग नहीं है वह भावैकान्तकी तरह अप्रमेय ही है।

धवला पुस्तक ७ पृ० ९० पर—

खइयाए लद्धीए ॥४७॥

सूत्रका व्याख्यान करते हुए श्रीवीरसेन स्वामी लिखते हैं—

ण च केवलणाणावरणक्खओ तुच्छो त्ति ण कज्जयरो, केवलणाणावरणबंधसंतोदयाभावस्स अणंत-वीरिय-वेरग्ग-सम्मत्त-दंसणेदिगुणेहिं जुत्तजीवदव्वस्स तुच्छत्तविरोहादो। भावस्स-अभावत्तं ण विरुज्झदे, भावाभावाणमण्णोण्णं विस्ससेणेव सव्वप्पणा आलिंगिऊणाट्ठिदाणमुवलंभादो। ण च उवलंभमाणे विरोहो अत्थि, अणुवलद्धिविसयस्स तस्स उवलद्धीए अत्थित्तविरोहादो।

अर्थ—क्षायिक लब्धिसे जीव केवलज्ञानी होता है ॥४७॥

केवलज्ञानावरणका क्षय तुच्छ अर्थात् अभावरूपमात्र है, इसलिये वह कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, केवलज्ञानावरणके बन्ध, सत्त्व और उदयके अभाव सहित तथा अनन्तवीर्य, वैराग्य, सम्यक्त्व व दर्शन आदि गुणोंसे युक्त जीव द्रव्यको तुच्छ माननेमें विरोध आता है। किसी भावको अभावरूप मानना विरोधी बात नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव स्वभावसे ही एक दूसरेको सर्वात्म-रूपसे आलिंगन करके स्थित पाये जाते है। जो बात पाई जाती है उसमें विरोध नहीं रहता, क्योंकि, विरोध-का विषय अनुपलब्धि है और इसलिए जहाँ जिस बातकी उपलब्धि होती है उसमें फिर विरोधका अस्तित्व माननेमें ही विरोध आता है।

इन सन्दर्भोंको देखते हुए आशा है आप पुनः विचार करेंगे। श्री उमास्वामी आचार्यके—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

—त० सू०, अ० १०, सू० १

अर्थात् मोहका क्षय होनेके बाद शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है।....इन वाक्यों पर आपके द्वारा यह आपत्ति उठाई गई है कि 'मोहनीय कर्मका क्षय दशवें गुणस्थानके अन्तमें होता है और ज्ञानावरणादि तीन कर्मोंका क्षय बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है, फिर भी केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कथनके प्रसंगमें मोहनीय कर्मके क्षयको भी हेतुरूपसे निर्देश किया गया है। ऐसी अवस्थामें क्या यह मानना उचित होगा कि मोहनीयकर्मका क्षय होकर जो अकर्मरूप पुद्गल वर्ग-णाएँ हैं वे भी केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं।'

इस विषयमें हमारा नम्र निवेदन यह है कि श्री उमास्वामी महान् विद्वान् आचार्य हुए हैं। उन्होंने सागरको गागरमें बन्द कर दिया अर्थात् द्वादशांगको दशाध्याय सूत्रमें गुम्फित कर दिया। हमको आशा नहीं थी कि ऐसे महान् आचार्योंके वचनोंपर भी आप आपत्ति डालकर खण्डन करनेका प्रयास करेंगे। यदि आप इस सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका देखनेका प्रयास करते तो सम्भव था कि सूत्रके खण्डनपर आपकी लेखनी नहीं चलती।

शंका की गई कि 'मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्' यह सूत्र बनाना चाहिये था, क्योंकि ऐसा करनेसे सूत्र हलका हो जाता? इसका उत्तर देते हुए श्री पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं—

क्षयक्रमप्रतिपादनार्थो वाक्यभेदेन निर्देशः क्रियते। प्रागेव मोहं क्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्तं क्षीणकषाय-

व्यपदेशमवाप्य ततो युगज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति इति तत्क्षयो हेतुः केवलोत्पत्तेरिति हेतुलक्षणे विभक्ति-निर्देशः कृतः ।

—स० सि०, अ० १०, सू० १

अर्थ—क्षयके क्रमका कथन करनेके लिये वाक्योंका भेद करके निर्देश किया है। पहले ही मोहका क्षय करके अन्तर्मुहूर्त कालतक क्षीणकषाय संज्ञाको प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका एक साथ क्षय करके केवलज्ञानको प्राप्त होता है। इन कर्मोका क्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है ऐसा जानकर 'हेतुरूप' विभक्तिका निर्देश किया है।

इस सूत्रसे सिद्ध होता है कि मोहनीयकर्मका क्षय ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्मोंके क्षयका कारण है और उनके क्षयसे केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होता है। अतः मोहनीय कर्मका क्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें साक्षात् कारण नहीं है।

प्रायः केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें ज्ञानावरणके क्षयको अभावरूप तुच्छवस्तु बताकर कारणताका निषेध कर देते हैं। उसका समाधान यह है कि अभाव तुच्छरूप नहीं है, किसी भावान्तररूप ही है। चाहे वह पुद्गलका रूपान्तर ही हो, जब वह प्रतिबन्धात्मकताको छोड़कर प्रतिबन्धकाभावरूपमें ढल जाता है तब ही ज्ञान उत्पन्न होता है। उस प्रतिबन्धकाभावरूप सहकारी कारणके बिना भी ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। इसलिये वह ज्ञानका (सहायक) कारण अवश्य है, प्रतिबन्धकाभावको तुच्छ बताकर कारणतासे हटाना अज्ञानमूलक बात है। घातिया कर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान (अर्हंतपद) प्राप्त होता है यह बात स्वीकार करते हुए आपने स्वयं इस सूत्रको प्रश्न नं० १३ के उत्तरमें उद्धृत किया है।

बाधक कारणोंका अभाव भी कार्योत्पत्तिमें कारण होता है जैसा कि मूलाराधना गाथा ४ की टीकामें कहा है—

अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव। तावन्तरेण हेतुना प्रतिज्ञामात्रत एव। कस्यचित्सा वस्तुचिन्तायामनुपयोगिनीति प्रतिबन्धकसद्भावानुमानमागमेऽभिमते तावदसति न घटते।

अर्थ—जगत्में पदार्थोंका सम्पूर्ण कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेकसे जाना जाता है। अन्वय-व्यतिरेकके बिना कोई पदार्थ किसीका कारण मानना केवल प्रतिज्ञामात्र ही है। ऐसी प्रतिज्ञा वस्तुके विचारके समय कुछ भी उपयोगी नहीं है। आगममें स्पष्ट है कि प्रतिबन्धक कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे सहकारी कारणोंके अभावमें कार्य सिद्ध नहीं होता वैसे ही प्रतिबन्धक कारणोंके सद्भावमें कार्य नहीं होता। सार यह है कि सहकारी कारण होते हुए यदि प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव होगा तो कार्य सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं।

स्वयं श्रीमान् पं० फूलचन्द्रने भी मोक्षशास्त्र पृ० ४५५ (वर्णी ग्रन्थमाला) पर लिखा है—

बात यह है कि जितने भी क्षायिकभाव हैं वे सब आत्माके निजभाव हैं पर संसारदशामें वे कर्मोंसे घातित रहते हैं और ज्यों ही उसके प्रतिबन्धक कर्मोंका अभाव होता है त्यों ही वे प्रकट हो जाते हैं।

इस आगमसे सिद्ध होता है कि प्रतिबन्धकके अभावसे कार्यकी सिद्धि होती है। केवलज्ञान तो आत्माकी शक्तिरूपसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा प्रत्येक आत्मामें है जो ज्ञानावरण कर्मोदयके कारण व्यक्त नहीं हो पाता। ज्ञानावरण कर्मरूपी बाधक कारणोंका क्षय हो जानेसे व्यक्त हो जाता है। अतः ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोका क्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है यह हमारे मूल प्रश्नका उत्तर है।

आपने अप्रासंगिक यह लिख दिया है कि 'हमारी संसारकी परिपाटी चल रही है उसमें हम स्वयं अपराधी हैं।' यहाँपर यह विचार करना है कि 'अपराध' क्या आत्माका स्वभाव है या आगन्तुक विभाव (विकारी भाव) है ? उपयोगके समान यदि अपराधको भी आत्माका त्रैकालिक स्वभाव मान लिया जावे तो उसका कभी नाश नहीं होगा और आगन्तुक विभाव है तो वह अवश्य ही कारणजन्य होगा। सिद्धान्ततः रागादि अपराध आगन्तुक होनेसे परसंगसे ही उत्पन्न माने गये है। जैसा कि नाटकसमयसारमें अमृतचन्द्र स्वामीका वचन है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ५१३॥

—बन्धाधिकार

अर्थ—आत्मा स्वयं ही अपने रागादि विकारका निमित्त नहीं होता, उसमें अवश्य ही परपदार्थका संग कारण है। जिस प्रकार कि सूर्यकान्तमणि स्वयं अग्निका निमित्त नहीं है, किन्तु उसके उत्पन्न होनेमें सूर्य रश्मियोंका सम्पर्क कारण है। वस्तुका यही स्वभाव है।

इससे सिद्ध होता है कि हमारा अपराधी होना भी मोहनीय कर्मोदयके अधीन है। जब तक मोहनीय कर्मका क्षय नहीं होगा तब तक अपराध अवश्य बना रहेगा, क्योंकि निमित्तके अभावके बिना नैमित्तिकभावका अभाव सम्भव नहीं है।

पुनश्च—'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' तत्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्रका खण्डन करते हुए आपने यह युक्ति दी थी कि 'मोहनीय कर्मका क्षय दसवें गुणस्थानके अन्तमें होता है और ज्ञानावरणादि तीन कर्मोंका क्षय बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है फिर भी केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कथनके प्रसंगमें मोहनीय कर्मके क्षयको हेतुरूपसे निर्देश किया गया है।' इसका उत्तर सर्वार्थसिद्धिका उल्लेख करते हुए श्री पूज्यपाद आचार्यके वचनों द्वारा दिया जा चुका है। किन्तु इस आपत्तिके विरुद्ध श्री पं० फूलचन्द्रजी स्वयं इस प्रकार लिखते हैं—

इस कैवल्य प्राप्तिके लिये उसके प्रतिबन्धक कर्मोंका दूर किया जाना आवश्यक है, क्योंकि उनको दूर किये बिना इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। वे प्रतिबन्धक कर्म चार हैं। जिनमेंसे पहले मोहनीय कर्मका क्षय होता है। यद्यपि मोहनीय कर्म कैवल्य अवस्थाका सीधा प्रतिबन्ध नहीं करता है तथापि इसका अभाव हुए बिना शेष कर्मोंका अभाव नहीं होता, इसलिए यह भी कैवल्य अवस्थाका प्रतिबन्धक माना है। इस प्रकार मोहनीयका अभाव हो जानेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें तीनों कर्मोंका नाश होता है और तब जाकर कैवल्य अवस्था प्राप्त होती है।

—त० सू० पृ० ४५२-४५३ वर्णी ग्रंथमाला

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १९

जब अभावचतुष्टय वस्तुस्वरूप हैं (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातियाकर्मोंका ध्वंस केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें यह बतला दिया गया था कि 'प्रकृतमें ध्वंसका अर्थ सर्वथा भावान्तर स्वभाव लेने पर घातिकर्मोंकी अकर्म पर्यायको केवलज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त कारण मानना पड़ेगा जो आगमसम्मत नहीं है। अतः जो अज्ञानभावके निमित्त थे उनका अभाव (व्यय) होने पर अज्ञान भावका अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभावसे प्रगट हो गया यह अर्थ करना प्रकृतमें संगत होगा ।'

इस पर प्रतिशंका करते हुए प्रतिशंका २ में मुख्यरूपसे घातिकर्मोंका ध्वंस (अकर्मरूपता) केवलज्ञानके प्रगट होनेमे निमित्त है यह स्वीकार किया गया है। इसमें अन्य जितना व्याख्यान है वह इसी अर्थकी पुष्टि करता है ।

इसके उत्तरमें पुनः प्रथम उत्तरकी पुष्टि की गई। साथमें दूसरी आपत्तियाँ भी उपस्थित की गईं।

तत्काल प्रतिशंका ३ सामने है। उसमें सर्वप्रथम हमारी ओरसे चारों अभावोंको भावान्तर स्वभाव स्वीकार करनेकी जहाँ एक ओर पुष्टि की गई है वहाँ दूसरी ओर हमारे ऊपर यह आरोप भी किया गया है कि 'चार घातिया कर्मोके ध्वंससे केवलज्ञान होता है इस प्रकारका वचन आगममें नहीं उपलब्ध होता' ऐसा हम उत्तरमें लिख आये है। किन्तु जब हमने पूर्वके दोनों उत्तर बारीकीसे देखे तो विदित हुआ कि बात कोई दूसरी है और उसे छिपानेके लिए यह उपक्रम किया गया है, इसलिए यहाँ सर्वप्रथम हम अपने उत्तरके उस अंशको उद्धृत कर देना चाहते हैं जिसके आधारसे ऐसा आरोप किया गया है। वह उल्लेख इस प्रकार हैं—

किन्तु प्रकृतमें चार घातिकर्मोके ध्वंसका अर्थ भावान्तर स्वभाव करने पर कर्मके ध्वंसाभावरूप अकर्म पर्यायको केवलज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त स्वीकार करना पड़ेगा। जिसका निमित्तरूपके निर्देश आगममें दृष्टिगोचर नहीं होता ।' (प्रथम उत्तरसे उद्धृत)

इस उत्तरमें 'प्रकृतमें' यह पद ध्यान देने योग्य है। इस द्वारा यह बतलाया गया है कि यद्यपि 'ध्वंस' भावान्तर स्वभाव होता है इसमें सन्देह नहीं, पर प्रकृतमें उसका यह अर्थ नहीं लेना है।

अब इस अंशके प्रकाशमें प्रतिशंका ३ के उस अंशको पढ़िए जिसे हमारा कथन बतलाया गया है। यथा—

'आपके द्वारा·······किन्तु चार घातिया कर्मोका ध्वंस केवलज्ञानको उत्पन्न करता है इसको नहीं स्वीकार किया गया था। और आपने यह भी लिखा था कि ऐसा निर्देश आगममें दृष्टिगोचर नहीं होता।'

ये दोनों उल्लेख हैं। इन्हें पढ़नेसे यह भलीभाँति ज्ञात हो जाता हैं कि इन दोनोंमें कितना अन्तर है। जहाँ शंकाकार पक्ष ध्वंसको भावान्तर स्वभाव लिखकर अकर्मपर्यायको केवलज्ञानकी उत्पत्तिका जनक

बतलाता है वहां हमारा यह कहना है कि प्रकृतमें ध्वंसका यह अर्थ गृहीत नहीं है, क्योंकि चार घातिकर्मोंकी ध्वंसरूप अकर्मपर्याय केवलज्ञानको उत्पन्न करती है ऐसा आगममें कहीं निर्देश नहीं है।

अपने पक्षकी सिद्धिके लिए प्रतिशंका ३ में धवला पु० ७ पृ० ९० का 'खइयाए लद्धीए' यह सूत्र-वचन उद्धृत किया गया है, जिसमें 'प्रतिपक्षी कर्मके क्षयसे कार्योत्पत्ति होती है।' ऐसा बतलाया गया है, जिससे हमारे अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है। किन्तु अपर पक्षके द्वारा अपने अभिप्रायकी पुष्टिमें ऐसा एक भी उद्धरण उपस्थित न किया जा सका जिसमें 'कर्मकी भावान्तरस्वभाव अकर्मपर्यायसे क्षायिकभावकी उत्पत्ति बतलाई गई हो।'

ऐसा प्रतीत होता है कि अपर पक्ष कहाँ गलती हो रही है इसे समझ गया है, इसलिए प्रतिशंका ३ में उसकी ओरसे ध्वंसको भावान्तरस्वभाव कहकर अकर्मपर्याय केवलज्ञानकी उत्पत्तिका जनक है इस बात पर विशेष जोर न देकर दूसरी दूसरी बातोंसे प्रतिशंकाका कलेवर वृद्धिगत किया गया है। और मानों हम ध्वंसको तुच्छाभावरूप मानते हैं यह बतलानेका उपक्रम किया गया है। अतः प्रकृतमें चार घातियाकर्मोंके ध्वंसका अर्थ क्या लिया जाना चाहिये इस पर सर्व प्रथम विचार कर लेना इष्ट प्रतीत होता है। आप्तमीमांसामें बतलाया है—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥

यतः उत्पाद और व्ययके होनेमें एक हेतुका नियम है, इसलिए क्षय कार्योत्पाद ही है। किन्तु लक्षणकी अपेक्षा दोनों पृथक-पृथक हैं। किन्तु 'सद्द्रव्यम्' इत्यादि रूपसे जाति आदिका अवस्थान होनेसे खपुष्पके समान वे सर्वथा निरपेक्ष भी नहीं हैं ॥५८॥

यह आप्तमीमांसाका उल्लेख है। इसमें व्यय और उत्पाद दोनों एक हेतुसे जायमान होनेके कारण ध्वंस (व्यय) को जहाँ उत्तर पर्याय (उत्पाद) रूप सिद्ध किया है वहाँ लक्षणभेदसे दोनोंको पृथक-पृथक भी सिद्ध किया है। इन दोनोंमें लक्षणभेद कैसे हैं यह बतलाते हुए अष्टसहस्री पृ० २१० में लिखा है—

कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात्कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षण-सम्बन्धित्वसिद्धेः।

कार्योत्पादका स्वरूपलाभ यह लक्षण है और कारण विनाशका स्वभावप्रच्युति यह लक्षण है, इस प्रकार उन दोनोंमें भिन्न-भिन्न लक्षणोंका सम्बन्धीपना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इन आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट हो जाता है कि 'चार घातिया कर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है' इस कथनमें 'ध्वंस भावान्तरस्वभाव होता है।' इसके अनुसार चार घातिया कर्मोंकी ध्वंसरूप अकर्मपर्यायको निमित्त रूपसे नहीं ग्रहण करना है, क्योंकि चार घातिया कर्मोंकी ध्वंसरूप अकर्मपर्याय केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त है ऐसा किसी भी आगममें स्वीकार नहीं किया गया है। किन्तु ध्वंसका अर्थ जो चार घातिया कर्म अज्ञानादिके निमित्त थे उनका विनाश (व्यय) रूप अर्थ ही प्रकृतमें लेना है, क्योंकि उत्पादसे कथञ्चित् भिन्न व्ययका यही लक्षण है। अतएव इस कथनसे अपर पक्षका प्रतिशंका २ में यह लिखना कि 'चूँकि घातिया कर्मोंकी कर्मरूपता केवलज्ञानके प्रगट होनेमें बाधक थी अतः उनका ध्वंस (अकर्मरूपता) केवलज्ञानके प्रगट होनेमें निमित्त है।' आगमसंगत न होकर हमारा यह लिखना कि 'पूर्वमें जो ज्ञानावरणीयरूप कर्मपर्याय अज्ञानभावकी उत्पत्तिका निमित्त

थी उस निमित्तका अभाव होनेसे अर्थात् उसके अकर्मरूप परिणम जानेसे अज्ञानभावके निमित्तका अभाव हो गया और उसका अभाव होनेसे नैमित्तिक अज्ञानपर्यायका भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभावसे प्रगट हो गया।' आगमसंगत है। क्योंकि पूर्वमें अष्टसहस्रीके आधारसे जो 'व्यय' का लक्षण लिख आये हैं उसे दृष्टिपथमें रखकर ही आचार्य गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्रके 'मोहक्षयात्' इत्यादि सूत्रमें 'क्षय' शब्दका प्रयोग किया है, 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्' इसके अनुसार 'क्षय (व्यय)' अनन्तर पर्याय (उत्पाद) रूप ही है इस अर्थमें नहीं।

अपर पक्षने प्रतिशंका २ में अपने पक्षके समर्थनके लिए 'निमित्तापाये नैमित्तकस्याप्यपायः' यह वचन उद्धृत किया था सो यह वचन भी हमारे उक्त कथनकी ही पुष्टि करता है, क्योंकि हमारा यही तो लिखना है कि अज्ञानादिके निमित्त जो चार घातिया कर्म थे उनका अभाव होनेसे नैमित्तिक अज्ञानादिका अभाव हो गया और चूँकि केवलज्ञान स्वभावपर्याय है, इसलिए वह पर (कर्म) निरपेक्ष होनेके कारण स्वभावसे प्रगट हो गया। पता नहीं उक्त उल्लेखको अपर पक्षने अपने समर्थनमें कैसे समझ लिया। अथवा पूर्व पर्यायके व्यय और उत्तरपर्यायके उत्पाद इन दोनोंको सर्वथा एक माननेसे जो गलती होती है वही यहाँ हुई है और यही कारण है कि अपर पक्षने 'निमित्तापाये' इत्यादि वचनको भी अपने पक्षका समर्थक जानकर प्रमाणरूपमें उद्धृत करनेका उपक्रम किया है। अस्तु, अपर पक्ष उक्त विवेचन पर पूरा ध्यान देगा और प्रचारकी दृष्टिसे हमें उद्देश्य कर प्रतिशंकामें ३ जो यह लिखा है कि—

'इस विषयमें हमारा नम्र निवेदन यह है कि उमास्वामी महान् विद्वान् आचार्य हुए हैं। उन्होंने सागरको गागरमें बन्द कर दिया अर्थात् द्वादशांगको दशाध्याय सूत्रमें गुम्फित कर दिया। हमको आशा नहीं थी कि ऐसे महान् आचार्योंके वचनोंपर भी आप आपत्ति डालकर खण्डन करनेका प्रयास करेंगे।' सो वह ऐसे आक्षेपात्मक वचनोंके प्रयोगसे विरत होगा। वस्तुतः आचार्यके वचनोंका खण्डन हमारी ओरसे नहीं किया गया है। हमने तो उन महान् आचार्यके उक्त वचनमें जो रहस्य भरा है उसे ही उद्घाटित करनेका प्रयत्न किया है। यदि मण्डनके नाम पर खण्डन किया जा रहा है तो अपर पक्षकी ओरसे ही किया जा रहा है, क्योंकि वह पक्ष ही एकान्तसे व्यय और उत्पादमें सर्वथा अभेद मानकर चार घातिया कर्मोंकी ध्वंसरूप अकर्मपर्यायको केवलज्ञानका जनक बतला रहा है जो तत्त्वार्थसूत्रके उक्त वचनका आशय नहीं है।

आचार्य अकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दिने 'दोषावरणयोर्हानिः' इस आप्तमीमांसाकी कारिकाका व्याख्यान करते हुए क्रमसे अष्टशती और अष्टसहस्री टीकामें 'प्रकृतमें क्षयका अर्थ ज्ञानावरणादि कर्मोंकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय नहीं लिया गया है, किन्तु ज्ञानावरणादिरूप पर्यायकी हानि या व्यावृत्ति ही लिया गया है' ऐसा स्पष्टीकरण करते हुए पृ० ५३ में लिखा है—

मलादेर्व्यावृत्तिः क्षयः, सतोऽत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोऽपि कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः। प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः कनकपाषाणाद्वा मलस्य किट्टादेर्वा······· तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम्। कर्मणोऽपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते।

मलादिककी व्यावृत्ति क्षय है, क्योंकि सत्का अत्यन्त विनाश नहीं बनता। उसी प्रकार आत्माकी भी कर्मकी निवृत्ति होने पर परिशुद्धि होती है। प्रकृतमें प्रध्वंसाभावका अर्थ क्षय या हानि अभिप्रेत है और वह व्यावृत्तिरूप ही है। जैसे कि मणिमेंसे मलकी और कनकपाषाणमेंसे किट्टादिकी व्यावृत्ति होती है।······इसलिए मणिका अकेला होना ही मलादिकी विकलता (रहितपना) है। उसी प्रकार कर्मकी भी विकलता आत्माका कैवल्य है ही, इसलिए अतिप्रसंग दोष नहीं आता।

यह आचार्य अकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दि जैसे समर्थ महर्षियोंकी वाणीका प्रसाद है, इससे भी जिस अभिप्रायका हम प्रकाशन करते आये हैं उसकी पुष्टि होती है। आचार्य गृद्धपिच्छका भी यही अभिप्राय है।

पूर्व पर्यायका ध्वंस (व्यय) तुच्छाभाव है ऐसा तो हमने अपने उत्तरोंमें कहीं लिखा ही नहीं। स्वामी समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनका 'भवत्यभावोऽपि' इत्यादि वचन प्रमाण है इस आशयका अपना अभिप्राय हम प्रथम प्रश्नके उत्तरके समय उत्तरके प्रारम्भमें ही प्रगट कर आये हैं, अतः प्रतिशंका ३ में तुच्छाभावकी अप्रस्तुत चर्चा उठाकर उसके खण्डनके लिए 'भवत्यभावोऽपि' इत्यादि वचनको उद्वृत करना कोई मतलब नहीं रखता। चर्चामें विधि और निषेध उसी वस्तुका होना चाहिए जिसमें मतभेद हो और जो आनुषंगिक होने पर भी प्रकरणमें उपयोगी हो। हाँ, इस वचन द्वारा अपर पक्ष ध्वंस (व्यय) को सर्वथा उत्तर पर्याय (उत्पाद) रूप मानना चाहता हो तो उसे अष्टसहस्री व अष्टशतीके पूर्वोक्त उल्लेखके आधार पर अपने अभिप्रायमें अवश्य ही संशोधन कर लेना चाहिए। इससे प्रकृत विवादके समाप्त होनेमें न केवल मदद मिलेगी, अपि तु उत्पाद-व्ययके सम्बन्धमें अपर पक्षके द्वारा स्वीकृत सर्वथा एकत्वकी एकान्त धारणाका भी निरास हो जायगा।

धवला पु० ७ पृ० ९० के 'खइयाए लद्धीए ॥४७॥' सूत्रकी टीकाको उद्धृतकर जो 'अभाव जिनमतमें तुच्छाभावरूप नहीं है' इस बातका समर्थन किया गया है सो वह समर्थन भी प्रकृतमें उपयोगी नहीं है, क्योंकि हमारी ओरसे अपने उत्तरोंमें यदि कहीं अभावको तुच्छाभाव सिद्ध किया गया होता तभी इस उल्लेखकी सार्थकता होती।

यदि अपर पक्ष घातिया कर्मोंके ध्वंस (व्यय) को सर्वथा अकर्म पर्यायरूप न लिखता तो हमारी ओरसे यह आपत्ति त्रिकालमें न की जाती कि—'मोहनीय कर्मका क्षय दशवें गुणस्थानमें होता है और ज्ञानावरणादि ३ कर्मोंका क्षय बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है, फिर भी केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कथनके प्रसंगमें मोहनीय कर्मके क्षयका भी हेतुरूपसे निर्देश किया गया है। ऐसी अवस्थामें क्या यह मानना उचित होगा कि मोहनीय कर्मका क्षय होकर जो अकर्मरूप पुद्गल वर्गणाएँ हैं वे भी केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं।'

हमारी दृष्टि सर्वार्थसिद्धिके 'मोहक्षयात्' इत्यादि सूत्रके टीका वचन पर बराबर रही है और है। उसमें निहित रहस्यको भी हम समझते हैं, किन्तु अपर पक्ष द्वारा उल्लेखरूपमें इस वचनको उद्धृत करने मात्रसे ध्वंस (व्यय) को सर्वथा उत्तर पर्याय (उत्पाद) रूप मान लेने पर अष्टसहस्रीके उक्त कथनों द्वारा अपर पक्षके सामने जो आपत्ति हम उपस्थित कर आये हैं उसका वारण नहीं हो जाता। सर्वार्थसिद्धिका उक्त टीका वचन अपने स्थानमें है और अपर पक्षका व्यय और उत्पादको सर्वथा अभेदरूप स्वीकार करना अपने स्थानमें है। उक्त वचनके आधारसे अपने विचारोंमें संशोधन अपर पक्षको करना है, हमें नहीं।

प्रतिशंका ३ में 'प्रायः केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें ज्ञानावरणके क्षयको अभावरूप तुच्छवस्तु बताकर कारणताका निषेध कर देते हैं।' यह कथन मालूम नहीं किसको लक्ष्य कर पहले किया गया और बादमें उसका उत्तर प्रस्तुत किया गया। जैन परम्पराको जीवनमें स्वीकार करनेवाला शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जो क्षयको सर्वथा अभावरूप तुच्छवस्तु बतलाता हो। केवलज्ञानकी अपेक्षा निमित्तकारणमें जो प्रतिबन्धात्मकता कही है उसका व्यय हो जाना ही केवलज्ञानके प्रति प्रतिबन्धकाभावरूपता है। ऐसे स्थल पर उत्पादसे व्यय कथंचित् भिन्न ही लक्षित किया गया है, चार घातिया कर्मोंकी व्ययरूप उत्तरपर्याय नहीं। इसमें संदेह नहीं कि प्रकृतमें जो कोई महाशय ध्वंसको तुच्छाभावरूप समझते हों उन्हें तो अपना अज्ञान दूर करना ही है,

साथ ही जो भी महाशय पूर्व पर्यायके ध्वंस और उत्तरपर्यायके उत्पादको सर्वथा एक माननेका उपक्रम करते हैं उन्हें भी उक्त प्रकारका अपना ऐकान्तिक आग्रह छोड़ना है। उनके लिए 'एतद्विषयक अज्ञानको छोड़ना है' ऐसा कटु प्रयोग करना हमारी सामर्थ्यके बाहर है।

मूलाराधना गाथा ४ का 'अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो' इत्यादि वचन देकर कार्यके प्रति कारणका अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध किया गया है। सो यह हमें इष्ट है, क्योंकि यह तो जैन सिद्धान्त ही है कि उपादानके साथ कार्यकी आभ्यन्तर व्याप्ति होती है और निमित्तोंके साथ कार्यकी बाह्य व्याप्ति होती है। कार्यके प्रति कारणोंकी यही समग्रता है, साथ ही यह भी जैन सिद्धान्त है कि कार्यमें अन्य द्रव्यकी पर्यायकी निमित्तता व्यवहारनयसे है। संभवतः यह सिद्धान्त आपको भी मान्य होगा, हमें तो मान्य है ही। इसलिए प्रकृतमें इस प्रमाणको उपस्थित कर किस प्रयोजनकी सिद्धि की गई है यह हम नहीं समझ सके। जब कि हमने यह लिखा ही है कि 'जो चार घातिया कर्म अज्ञानादिके निमित्त हैं, जो कि निमित्तपनेकी अपेक्षा केवलज्ञानकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक माने गये हैं उनका ध्वंस होने पर केवलज्ञान स्वभावसे उत्पन्न होता है।' पं० फूलचन्द्र द्वारा लिखित मोक्षशास्त्र पृ ४५५ के उल्लेखको अपर पक्षने आगमरूपमें स्वीकार कर लिया यह जहाँ उचित हुआ वहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि वह उल्लेख वस्तुतः अपर पक्षके मतका समर्थन न कर उत्तर पक्षका ही समर्थन करता है। यह बात हमारे द्वारा प्रथम उत्तरमें निरूपित तथ्य और इस वचनको सामने रखकर अवलोकन करनेसे भली भाँति समझी जा सकती है। प्रथम उत्तरमें हमने लिखा है—

'अतः इससे यही फलित होता है कि पूर्वमें जो ज्ञानावरणीय रूप कर्मपर्याय अज्ञान भावकी उत्पत्तिका निमित्त थी उस निमित्तका अभाव होनेसे अर्थात् उसके अकर्मरूप परिणम जानेसे अज्ञानभावके निमित्तका अभाव हो गया और उसका अभाव होनेसे नैमित्तिक अज्ञानपर्यायका भी अभाव हो गया और केवलज्ञान स्वभावसे प्रगट हो गया।'

अब इसके प्रकाशमें मोक्षशास्त्रका उक्त वचन पढ़िए—

'बात यह है कि जितने भी क्षायिक भाव हैं वे सब आत्माके निजभाव हैं। पर संसार दशामें वे कर्मोंसे घातित रहते हैं और ज्योंही उनके प्रतिबन्धक कर्मोंका अभाव होता है त्योंही वे प्रगट हो जाते हैं।'

पता नहीं हमारे पूर्वोक्त वचनमें और इस वचनमें अपर पक्षने क्या फर्क देखा जिससे उसे यह वचन तो आगम प्रतीत हुआ और पूर्वोक्त वचन आगम प्रतिकूल प्रतीत हुआ। लगता है कि 'घातित रहते हैं' 'प्रतिबन्धक कर्मोंका अभाव' इन पदोंको पढ़कर ही अपर पक्षने मोक्षशास्त्रके उल्लेखको आगम माना है। सो यह निमित्तोंकी निमित्तता क्या है इस पर सम्यक् प्रकारसे लक्ष्य न जानेका परिणाम प्रतीत होता है। अपर पक्षकी मान्यता है कि निमित्त दूसरे द्रव्यकी शक्तिको वास्तवमें घातित करते हैं या उसमें अतिशय उत्पन्न कर देते हैं। जब कि इस प्रकारका कथन जिनागममें व्यवहार (उपचार) नयसे किया गया है। प्रकृतमें भी उक्त पदोंका प्रयोग इसी अभिप्रायसे हुआ है। इस पद्धतिसे लिखना या कथन करना यह व्यवहारनयके कथनकी शैली है।

अपर पक्षने हमारे इस कथनको कि 'हमारी संसारकी परिपाटी चल रही है उसमें हम स्वयं अपराधी हैं।' अप्रासंगिक बतलाया है और हमसे 'अपराध क्या स्वभाव है या आगन्तुक विभाव (विकारी भाव) है' यह प्रश्न करके उसे आगन्तुक सिद्ध करते हुए परसंगको कारण बतलाकर संसाररूप परिपाटीको परसंगरूप

कारणजन्य सिद्ध किया है। तथा प्रमाणस्वरूप आचार्य अमृतचन्द्रका 'न जातु रागादि' इत्यादि कलश उपस्थित किया गया है और अन्तमें निष्कर्षको फलित करते हुए लिखा है—

'हमारा अपराधी होना भी मोहनीय कर्मोदयके आधीन है। जब तक मोहनीय कर्मका क्षय नहीं होगा तब तक अपराध अवश्य बना रहेगा, क्योंकि निमित्तके अभावके बिना नैमित्तिक भावका अभाव सम्भव नहीं है।'

सो प्रकृतमें यह देखना है कि संसारी जीवका 'परका संग करना' अपराध है कि 'परसंग' अपराध है। यदि केवल परसंगको अपराध माना जाए तो कोई भी जीव संसारसे मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि किसी न किसी प्रकारसे अन्य द्रव्योंका संयोग संसारी और मुक्त जीवोंके सदा बना हुआ है। और यदि परका संग करना अपराध माना जाता है तो यह प्रकृतमें स्वीकृत है, क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्रके 'न जातु रागादि' इत्यादि कलशका यही अभिप्राय है। आचार्य महाराज इस कलश द्वारा वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—कि संसारी जीवने परसंग किया, इसलिए परका संग उसकी विभाव परिणतिमें निमित्त हो गया। प्रकृतमें यह अभिप्राय है कि संसारी जीव परमें एकत्वबुद्धि और राग-द्वेष द्वारा निरन्तर परसंग करता आ रहा है, इस कारण वह पराधीन बना हुआ है। इस प्रकारकी पराधीनता रूप स्वयं स्वतन्त्ररूपसे परिणम रहा है, इसलिए यह जीवकी सच्ची पराधीनता कही गई है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि अपने द्वारा किया गया ऐसा जो परसंग है वह संसारकी जड़ है। यदि यह जीव अपने उपयोगस्वभावके द्वारा स्वभावसन्मुख होकर उक्त प्रकारके परसंग करनेकी रुचिका त्याग करदे अर्थात् परमें एकत्वबुद्धि और राग-द्वेष न करे तो जो उसके परके साथ अनादिकालसे निमित्त-नैमितिकपना व्यवहारसे बना चला आ रहा है उसका सुतरां अन्त हो जाए। स्वभावप्राप्ति या मुक्ति इसीका दूसरा नाम है। हमें विश्वास है कि इस स्पष्टीकरणसे प्रकृतमें 'परसंग' पदका क्या तात्पर्य है और उसे अपराध किस रूपमें माना गया है इत्यादि तथ्योंका खुलासा होकर हमारा पूर्वोक्त कथन कैसे प्रकरणसंगत है इसका स्पष्ट प्रतिभास हो जाएगा।

प्रतिशंका ३ के अंतमें 'पुनश्च' पदके उल्लेखपूर्वक जो कुछ लिखा गया है वह केवल पिछले कथनका पिष्टपेषणमात्र है, उसमें विचार करने योग्य नई ऐसी कोई बात नहीं लिखी गई है, अतः उस पर अधिक विचार न करना ही श्रेयस्कर है। हाँ, अपने पूर्वोक्त कथनकी पुष्टिमें पंडित फूलचन्द्र द्वारा लिखित तत्त्वार्थ-सूत्र अ० १० सूत्र १ की टीकाका जो उद्धरण दिया है सो वह भी ध्वंस और उत्पादको सर्वथा एक सिद्ध नहीं करता। मात्र वह उस क्रमको बतलाता है जिस क्रमसे घातिया कर्मोका अभाव होनेपर केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। अतः प्रकृतमें यही निर्णय करना चाहिए कि अज्ञान-भावके निमित्तरूप चार घातिया-कर्मोंका अभाव होने पर केवलज्ञान परकी अपेक्षा किए बिना ही स्वभावके आश्रयसे प्रगट होता है। तत्त्वार्थ-सूत्रके 'मोहक्षयात्' इत्यादि सूत्रका यही स्पष्ट आशय है और इसी आशयसे उसमें हेतुपरक पंचमी विभक्तिका प्रयोग हुआ है।

प्रथम दौर

: १ :

नमः श्रीवीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १६

निश्चय और व्यवहारनयका स्वरूप क्या है ? व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है ?

समाधान १

इस लोकमें जितने भी पदार्थ उपलब्ध होते हैं उनका परस्परमें (एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें) अत्यन्ताभाव होने पर भी यह जीव अनादि अज्ञानवश संयोगको प्राप्त हुए पदार्थोंमें न केवल एकत्व बुद्धिको करता आ रहा है, अपितु स्वसहाय होने पर भी परकी सहायताके विना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता ऐसी मिथ्या मान्यतावश उसने परतन्त्र बनाये हुए चला आ रहा है। अतएव इसे परसे भिन्न एकत्वस्वरूप अपने आत्माका सम्यक्ज्ञान कराने और पराश्रित बुद्धिका त्याग करानेके अभिप्रायसे अध्यात्ममें मुख्यतया निश्चयनय और व्यवहारनयोंका प्ररूपण हुआ है। यही कारण है कि श्री समयसारजीकी ४ थी गाथामें आचर्यवर्य इस संसारी जीवको लक्ष्यकर कहते हैं—कि इस जीवने कामानुबन्धिनी और भोगानुबन्धिनी कथा अनन्त बार सुनी, अनन्तवार उनका परिचय प्राप्त किया और अनन्तवार उनका अनुभव किया, परन्तु परसे भिन्न एकत्वको इसने आज तक उपलब्ध नहीं किया। आगे ५वीं गाथामें कहते हैं कि 'मैं उस विभक्त एकत्वका अपने विभवसे (आगम, गुरुउपदेश, युक्ति और अनुभवसे) दर्शन कराऊँगा। यदि दर्शन कराऊँ तो प्रमाण करना।' आगे ६-७ वीं गाथाओं द्वारा अन्यके निषेध द्वारा वह विभक्त एकत्व क्या है इसका ज्ञान कराया गया है। ११वीं गाथामें जिसे भूतार्थ कहा है वह इस विभक्त एकत्वसे भिन्न अन्य कुछ नहीं। अन्य जितना भी है उस सबकी परिगणना अभूतार्थमें की गई है। इस प्रकार श्री समयसारजीको सम्यक्रूपसे हृदयङ्गम करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृतमें निश्चयनय और व्यवहारनयके कथनसे आचार्य महाराजको क्या इष्ट है।

यह वस्तुस्थिति है। इसे ध्यानमें रखकर निश्चयनयका निर्दोष लक्षण क्या हो सकता है इसकी मीमांसा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसारजीकी ५६ वीं गाथामें कहते हैं—

निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति।

अर्थ:—निश्चयनय तो द्रव्याश्रित होनेसे, केवल एक जीवके स्वाभाविक भावका अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरेके भावको किंचित्मात्र भी दूसरेका नहीं कहता।

इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर नयचक्रमें निश्चयनयका स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है—

गेण्हइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं ।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥१९९॥

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचारसे रहित मात्र द्रव्यस्वभावको ग्रहण करता है, सिद्धिके इच्छुक पुरुषद्वारा वह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानने योग्य है ॥१९९॥

इसमें 'सिद्धिकामेण' पद ध्यान देने योग्य है इस द्वारा संसारी जीवको उसका मुख्य प्रयोजन क्या है यह बतलाते हुए ज्ञान कराया गया है कि यदि तू अनादि अज्ञानवश अपनेमें आई हुई परतन्त्रतासे मुक्त होकर स्वाधीन सुखका उपभोग करना चाहता है तो अनन्त विकल्पोंको छोड़कर अपनी बुद्धिमें एकमात्र उस विभक्त एकत्वका अवलम्बन ले ।

स्पष्ट है कि जो एकमात्र परम भावस्वरूप ज्ञायकभावको ग्रहण करता है और उससे भिन्न अन्य सबका निषेध करता है वह निश्चयनय (समयसार गा० १४ के अनुसार शुद्धनय) कहलाता है ।

यह परम भावग्राही निश्चयनयका निर्दोष लक्षण है ।

अब देखना यह है कि इस द्वारा अन्य किसका निषेध किया गया है । जैसा कि पूर्वमें ६-७ वीं गाथा (समयसार) का निर्देश कर आये हैं उन पर सम्यक् प्रकारसे दृष्टिपात करने पर निषेध योग्य अन्य सब पर भावोंका ज्ञान हो जाता है । ६ वीं गाथा द्वारा ज्ञायकभावसे भिन्न तीन परभावोंका निषेध किया गया है । वे ये हैं—(१) प्रमत्तभाव, (२) अप्रमत्तभाव और (३) परसापेक्ष ज्ञायकभाव । तथा ७ वीं गाथा द्वारा (४) अखण्ड आत्मामें भेद विकल्पका निषेध किया गया है ।

यहाँ अपने आत्मासे भिन्न अन्य समस्त द्रव्य तो परभाव हैं ही, अतः उनका निषेध तो स्वयं हो जाता है । उनको ध्यानमें रखकर यहाँ परभावोंकी मीमांसा नहीं की गई है । किन्तु एक ही आत्मामें ज्ञायकभावसे भिन्न जितने प्रकारसे परभाव सम्भव है उन्हें यहाँ लिया गया है जो चार प्रकारके हैं । निर्देश पूर्वमें कर ही आये हैं ।

यद्यपि यहांपर यह कहा जा सकता है कि एक आत्मासे भिन्न अन्य अनन्त भाव भी परभाव है, उन्हें यहाँ परभाव रूपसे क्यों नहीं लिया गया है । समाधान यह है कि उन सब परभावोंका आत्मामें अत्यन्त अभाव तो स्वरूपसे ही है । उनका निषेध तो स्वयं ही हो जाता है । यहाँ मात्र एक आत्मामें ज्ञायक भावसे भिन्न अन्य जितने परभाव हैं उनसे प्रयोजन है । जिस वस्तुके जो धर्म हैं उन्हींको उसका जानना यह सम्यक् नय है । इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर पंचाध्यायी (श्लोक ५६१) में सम्यक् नयका लक्षण करते हुए 'तद्गुणसंविज्ञान' (जिस वस्तुका जो धर्म है मात्र उसे उसका जानना) को नय कहा है ।

इस प्रकार यहाँतकके विवेचन द्वारा विधि–निषेधमुखसे परम भावग्राही निश्चयनयका ज्ञान हो जानेपर प्रकृतमें व्यवहारनय और उसके भेदोंकी मीमांसा करनी है । यह तो सुनिश्चित है कि अपनी गुण-पर्याययुक्त आत्माको लक्ष्यमें लेनेपर यहाँ जिन्हें परभाव कहा है वे सब धर्म आत्माके हैं । उनका आत्मामें सर्वथा अभाव है ऐसा नहीं है, किन्तु उनमें बहुतसे धर्म ऐसे हैं जो आगन्तुक है और जो संसारकी विवक्षित भूमिका तक आत्मामें दृष्टिगोचर होते हैं, उसके बाद उसमें उपलब्ध नहीं होते है । इसलिए यदि

आत्माकी सब अवस्थाओंको लक्ष्यमें रखकर उसका विचार किया जाता है तो वे आत्माकी सब अवस्थाओंमें अनुगामी न होनेसे उन्हें असद्भूत कहा है। परन्तु जब तक वे आत्मामें उपलब्ध होते हैं तबतक उनके द्वारा आत्मामें यह आत्मा प्रमादी है, यह आत्मा अप्रमादी है ऐसा व्यवहार तो होता ही है, इसलिए त्रिकाली आत्मामें यह नहीं है और ज्ञायकस्वरूप आत्मासे वे भिन्न हैं इन सब प्रयोजनोंको ध्यानमें रखकर उनका असद्भूत व्यवहारनयमें अन्तर्भाव किया है। उसमें भी ये दोनों प्रकारके (प्रमत्तभाव और अप्रमत्तभाव) भाव बुद्धिपूर्वक (बुद्धिमें आवें ऐसे) भी होते हैं और अबुद्धिपूर्वक (बुद्धिमें न आवें ऐसे) भी होते हैं, अतएव जो अबुद्धिपूर्वक होते हैं उनमें अन्यकी अपेक्षा विवक्षित न होनेसे उन्हें अनुपचरित कहा गया है। तथा जो प्रमत्त और अप्रमत्तभाव बुद्धिपूर्वक होते हैं उनमें बुद्धिपूर्वकत्वकी अपेक्षा आनेसे परसापेक्षपनेकी अपेक्षा उपचरित कहा गया है। इसप्रकार विचार करनेपर असद्भूतव्यवहारनयके दो भेद प्राप्त होते हैं—अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय और उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। जो प्रमत्त और अप्रमत्तभाव अबुद्धिपूर्वक होते हैं वे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयके विषय हैं और जो प्रमत्तभ व और अप्रमत्तभाव बुद्धिपूर्वक होते हैं उन्हें उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय कहा है। यह तो अध्यात्मकी अपेचा असद्भूत व्यवहारनयके दो भेदोंकी मीमांसा है।

आगे सद्भूत व्यवहारनयकी और उसके भेदोंकी मीमांसा करनी है। यह तो सुनिश्चित है कि अखंड आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है और चारित्र है। ये गुण त्रिकाली हैं। यदि आत्मामें इनका सर्वथा अभाव माना जाता है तो अपने विशेषोंका सर्वथा अभाव होनेसे आत्माका ही अभाव प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं। इसलिए यह तो मानना ही पड़ता है कि वे सब धर्म आत्मामें हैं, परन्तु वे ऐसे नहीं हैं कि ज्ञान अलग हो, दर्शन अलग हो और चारित्र अलग हो। किन्तु पूरे आत्माको ज्ञान रूपसे देखनेपर वह ज्ञान है, दर्शनरूपसे देखनेपर वह दर्शन है और चारित्ररूपसे देखनेपर वह चारित्र है, इसलिए आत्मामें उनका सद्भाव होनेपर भी वे भेदरूपसे नहीं हैं यह सिद्ध होता है। इस प्रकार आत्मामें उनका सद्भाव होनेसे उन्हें सद्भूत मानकर उन द्वारा आत्माका अलग-अलग व्यवहार होनेसे उन्हें व्यवहारका विषय माना है। इसप्रकार आत्मा ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है ऐसा जानना सद्भूत व्यवहार होकर भी इसमें अन्य किसीकी अपेक्षा विवक्षित न होनेसे इन द्वारा आत्माको ग्रहण करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

अब यह देखना है कि जो यहाँ आत्माको ज्ञायकरूप कहा है सो वह परकी अपेक्षा ज्ञायक है कि स्वरूपसे ज्ञायक है। यदि एकान्तसे यह माना जाता है कि वह परकी अपेक्षा ज्ञायक है तो ज्ञायकभाव आत्माका स्वरूप सिद्ध न होनेसे ज्ञायकस्वरूप आत्माका सर्वथा अभाव प्राप्त होता है। यह तो है कि ज्ञायकभाव स्व-परप्रकाशक होनेसे परको जानता अवश्य है। पर वह परकी अपेक्षा मात्र ज्ञायक न होनेसे स्वरूपसे ज्ञायक है। फिर भी उसे ज्ञायक कहनेसे उसमें ज्ञेयकी ध्वनि आ जाती है, इसलिए उसपर ज्ञेयकी विवक्षा लागू पड़ जानेसे उसे उपचरित कहा है। इसप्रकार आत्माको ज्ञायक कहना यह सद्भूत व्यवहार है और उसे ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञायक ऐसा कहना यह उपचरित है। इस प्रकार जब ज्ञेयकी विवक्षासे ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ज्ञायक है तब वह उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय होता है। इस प्रकार विचार करनेपर सद्भूतव्यवहार भी दो प्रकारका सिद्ध होता है—एक अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय।

यहाँ पर इतना विशेष जान लेना चाहिये कि ज्ञेयकी विवक्षा न करते हुए सहज स्वभावसे जो ज्ञायकभाव है जिसको नियमसारमें कारण परमात्मा या परम पारिणामिक भाव कहा गया है वह निश्चयनयका

विषय है और शेष व्यवहार है । श्री पंचाध्यायीजीमें व्यवहारके चारों भेदोंका निरूपण इसी आशयसे किया गया है जिसका निर्देश श्री समयसारजीकी गाथा ६ और ७ में स्पष्ट रूपसे किया गया है ।

यह श्री समयसारजीका मुख्यरूपसे विवेचनीय विषय है जिसका निश्चयनय और व्यवहारनयको लक्ष्यमें रखकर यहाँ विचार किया गया है । किन्तु आत्मासे सर्वथा भिन्न ज्ञानावरणादि कर्म और नोकर्म (शरीर, मन, वाणी और वाह्य विषय) में भी एकत्वबुद्धि बनी हुई है । तथा वह पराश्रित बुद्धिवाला होनेसे कार्य-कारण परम्परामें भी कार्यके प्रति आत्माकी सहज योग्यताको उसका मुख्य कारण न मानकर कार्यकी उत्पत्ति परसे मानता आ रहा है । इस प्रकार उसकी विषय और कारणरूपसे जो परके साथ एकत्व बुद्धि हो रही है उसे दूर करनेके अभिप्रायसे तथा इतर जनोंको प्रकृतमें उपयोगी व्यवहारनय और निश्चय-नयका विशेष ज्ञान करानेके अभिप्रायसे भी श्री समयसारजीमें यहाँ वहाँ सर्वत्र दूसरे प्रकारसे भी निश्चयनय और व्यवहारनयका निर्देश किया है । उदाहरणार्थ श्री समयसारजी गाथा २७ मे देह और उसकी क्रियाके साथ, उसे आत्मा मानकर, जिसकी एकत्व बुद्धि बनी हुई है या जिसने नयज्ञानका विशेष परिचय नहीं प्राप्त किया है उसकी उस दृष्टिको दूर करनेके अभिप्रायसे इसे भी व्यवहारनयका विषय बतलाकर उपयोगस्वरूप आत्माका निश्चयनयके विषयरूपसे ग्रहणकर मात्र ऐसे व्यवहारको छुड़ानेका प्रयत्न किया गया है । इसीप्रकार कर्ता-कर्म अधिकारमें या अन्यत्र जहाँ भी निश्चयनय और व्यवहारनयका प्रयोग हुआ है वहाँ वह दो द्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें हो रही अभेद बुद्धिको दूर करनेके अभिप्रायसे ही किया गया है इसलिए जहाँ पूर्वोक्त दृष्टिसे निश्चयनय व्यवहारनयका निरूपण किया गया हो उसे वहाँ उस दृष्टिसे और जहाँ अन्य प्रकारसे निश्चयनय व्यवहारनयका निरूपण हो वहाँ उसे उस प्रकारसे दृष्टिपथमें लेकर उसका निर्णय कर लेना चाहिये । लक्षणादि दृष्टिसे इनका विवेचन अन्यत्र किया ही है, इसलिए वहाँसे जान लेना चाहिये ।

यहाँ निश्चयनयके सम्बन्धमें इतना लिखना और आवश्यक है कि निश्चयनय दो प्रकारका है—सवि-कल्प निश्चयनय और निर्विकल्प निश्चयनय । नयचक्रमें कहा भी है—

सवियप्प णिवियप्पं पमाणरूवं जिणेहि णिद्दिट्ठं ।
तह विह णया वि भणिया सवियप्पा णिव्वियप्पा च ॥

जिनदेवने सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका कहा है । तथा उसी प्रकार सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे नय भी दो प्रकारके कहे गये हैं ।

अब विचार यह करना है कि—यहाँ निर्विकल्पनयसे क्या प्रयोजन है और उसका श्री समयसारजीमें कहाँ पर निरूपण किया है और वह कैसे बनता है ?

यह तो अनुभवियोंके अनुभवकी बात है कि जब तक स्व और परको निमित्तकर किसी प्रकारका विकल्प होता रहता है तब तक उसे निर्विकल्प संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती । किन्तु यह आत्मा सर्वदा विकल्पों से आक्रान्त रहता हो यह कभी भी संभव नहीं है । जिन्हें स्वसहाय केवलज्ञान हो गया है वे तो विकल्पातीत ही होते है इसमें संदेह नहीं । किन्तु जो आत्मा उससे नीचेकी भूमिकामें अवस्थित हैं वे भी स्वात्मानुभवकी अवस्थामें निर्विकल्प होते हैं, क्योंकि जब यह आत्मा व्यवहारमूलक अन्य सब विकल्पोंसे निवृत्त होकर और सविकल्प निश्चयनयके विषयरूप मात्र ज्ञायकभावका आलम्बन लेता है, अंतमें वह भी ज्ञायकभावसम्बन्धी विकल्पसे निवृत्त होकर निर्विकल्पस्वरूप स्वयं समयसार हो जाता है । श्री समयसारजीमें कहा भी है—

कम्मं बद्धमबद्धं एवं तु जाण णयपक्खं
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

अर्थ—जीवमें कर्म बद्ध है अथवा अबद्ध है इस प्रकारके विकल्पको तो नयपक्ष जानो, किन्तु जो पक्षातिक्रान्त (उक्त दोनों प्रकारके विकल्पोंसे रहित) कहलाता है वह समयसार अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व है ॥१४२॥

किन्तु जीवको इस प्रकार अनुभवकी भूमिका न प्रमाणज्ञानका आलम्बन लेनेसे ही प्राप्त हो सकती है और न व्यवहारस्वरूप नयज्ञानके आलम्बनसे ही प्राप्त हो सकती है। वह तो मात्र निश्चयनयके विषयभूत एकमात्र ज्ञायकभावके आलम्बनसे ही होती है। यही कारण है कि मोक्षमार्गमें एकमात्र निश्चयनयको आश्रयणीय कहा है। आत्मानुभूति शुद्धनयस्वरूप कहनेका कारण भी यही है। कहा भी है—

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥

—समयसार क० १३

अर्थ—इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्ध नयस्वरूप आत्माकी अनुभूति है वही वास्तवमें ज्ञानकी अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मामें आत्माको निश्चल स्थापित करके, सदा सर्व और एक ज्ञानघन आत्मा है, इस प्रकार अनुभवना चाहिए।

श्री वीतरागाय नमः

द्वितीय दौर

: १ :

शंका १६

प्रश्न यह है—निश्चय और व्यवहारनयका स्वरूप क्या है? व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप?

प्रतिशंका २

यह हमारा प्रश्न है, इसका उत्तर आपने ७ पृष्ठोंमें दिया है, परन्तु हमारे प्रश्नोंका कोई उत्तर नहीं है। आपके ७ पृष्ठोंके उत्तरमें यह बात कहीं नहीं आई है कि व्यवहार नयका विषय असत्य है क्या? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप? इसलिए आप हमारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी कृपा करें। आपने जो उत्तर दिया है वह भी शास्त्राधारसे विपरीत ठहरता है। आपने लिखा है कि 'यह जीव अनादि अज्ञान वश संयोगको प्राप्त हुए पदार्थोंमें न केवल एकत्वबुद्धिको करता आ रहा है। अपि तु स्वसहाय होने पर भी

परकी सहायताके विना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता ऐसी मिथ्या मान्यतावश अपनेको परतन्त्र बनाये हुए चला आ रहा है।' ये आपकी पंक्तियाँ है। इनको पढ़नेसे यह अर्थ सर्वविदित स्पष्ट हो जाता है कि आप आत्माकी परतन्त्रताको केवल कल्पनात्मक समझते हैं। और परपदार्थोके संयोगको आप एकत्व बुद्धिरूप मिथ्या मान्यता बता रहे हैं। आपकी समझसे कर्मोका आत्माके साथ न तो वास्तवमें सम्बन्ध है और न आत्माके राग-द्वेष विकारभाव एवं नारकादि आत्माकी व्यंजन पर्याय उनमें होती हैं। केवल एकत्वबुद्धि रूप मिथ्या मान्यता है। इसी समझके अनुसार आपने यह लिखा है कि 'स्वसहाय होनेपर भी परकी सहायताके विना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता है, ऐसी मिथ्या मान्यता वश परतन्त्र मान रहा है।'

इसी समझके अनुसार 'व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या?' इस हमारे प्रश्नको छुआ तक नहीं है, उसका कोई उत्तर नहीं दिया है। इसका भी कारण यह है कि आप अपनी निजी समझसे आत्माके विकारी भावोंमें कर्मोका निमित्त और उनका प्रभाव आत्मा पर नहीं मानते हैं। किन्तु आत्माकी अनादि अज्ञानताको स्वयं आत्मीय योग्यतासे मान रहे हैं।

परन्तु ऐसी मान्यता समयसार, मूलाचार, भावसंग्रह, रयणसार, धवल सिद्धांत, तत्त्वार्थवार्तिक, गोमट-सार आदि शास्त्रोंसे विपरीत है। इसका सप्रमाण स्पष्टीकरण करते हुए हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि जीवकी अनादि अज्ञानता स्वयं आत्माके केवल निजी भावोंसे नहीं होती है। किन्तु वह अज्ञानता कर्मो जनित आत्माकी परतन्त्र कर्माधीन भाव व्यंजनपर्याय है। यदि अज्ञानताको आत्माकी ही स्वतन्त्र पर्याय मान लिया जाय तो वह अज्ञानता संसारी जीवोंमें क्यों पाई जाती है। परम-शुद्ध परमात्मा सिद्ध-भगवानमें क्यों नहीं हो सकती हैं। इसका क्या विशेष हेतु हैं? इसका उत्तर शास्त्राधारसे दीजिये। आत्माका स्वभाव निश्चय नयसे केवलज्ञानरूप है, यथाख्यात चारित्ररूप विशुद्ध परिणामस्वरूप है, विशुद्ध सम्यग्दर्शनरूप है। तथा उस स्वभाव आत्मामें अज्ञानरूप विभावभाव किस कारणसे आगया इस बातका उत्तर देना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि आत्मामें परतंत्रता आप वास्तवमें नहीं बताते हैं, किन्तु उसे मिथ्या मान्यतावश केवल कल्पनात्मक बता रहे हैं। जैसी कि आपकी ऊपर पंक्तियाँ हैं। यह बात भी शास्त्रानुसार विपरीत है। कारण समस्त पूर्वाचार्योंने स्वरचित समस्त शास्त्रोंमें आत्माको वास्तवमें परतंत्र लिखा है। वह परतंत्रता शरीर एवं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय आदि द्रव्यकर्मोके उदयसे ही हुई है, जो पर्यायदृष्टिसे वास्तविक है। यदि परतंत्रता आत्माकी निर्हेतुक एवं कोरी कल्पनात्मक ही हो तो वह परतंत्रता एवं अज्ञानता आत्मामें सदैव रहनी चाहिये। जो वस्तु निर्हेतुक होती है वह नित्य रहती है। जैसे धर्म अधर्म आकाशद्रव्य, ये निर्हेतुक होनेसे सदैव स्वकीय स्वभावमय रहते हैं। जीव पुद्गलोंमें वैभाविकी शक्ति उपादानरूप होनेसे और बाह्यमें कर्मोदय जनित उपाधि होनेसे दोनों द्रव्य विभाव भावपर्यायको धारण करते हैं, इसीलिये वह जीव पुद्गलोंकी विकृति सहेतुक है। और उसीसे जीव परतंत्र बना हुआ है। आत्मासे जब बाह्य कारण कर्मोदयजनित निमित्तसे बंधनेवाले द्रव्यकर्म हट जाते हैं तो आत्मा उन परजन्य विकारभावोंसे हट जाता है, परम शुद्ध बन जाता है। उस समय आत्माकी वैभाविक शक्ति स्वभावरूप परिणत हो जाती है। विना बाह्य निमित्त कर्मोदयके वह शक्ति विभाव भावरूप पर्याय कभी नहीं बन सकती है। विना निमित्त कारणके केवल उपादान कुछ भी करनेमें सर्वथा असमर्थ है।

जो बात सहेतुक नहीं होती, केवल कल्पनामात्र होती है, उससे वस्तुकी वास्तविकता सिद्ध नहीं होती। यदि कोई जड़को चेतन और चेतनको जड़ समझ बैठे तो वह उसकी समझका दोष है। उसकी समझमें जड़ चेतन नहीं हो जायेगा, और चेतन जड़ नहीं बन जायेगा।

आत्माके साथ शरीरका सम्बन्ध है, इसीलिये आत्मा लोकाकाशके बराबर असंख्यातप्रदेशी होने पर भी वह शरीराकार ही रहता है। घनांगुलके असंख्यातवें भाग शरीर परिमाणवाले सूक्ष्म निगोदिया जीवसे लेकर स्वयंभूरमण समुद्रमें रहनेवाले एक हजार योजन शरीरकी अवगाहनावाले महामत्स्यमें रहनेवाला आत्मा समान आत्मप्रदेशी होनेपर भी उन शरीरोंमें रुद्ध एवं बद्ध होकर परतंत्र बना हुआ है। यह बात प्रमाणोंसे भलीभांति सिद्ध है। इसी प्रकार आत्माके राग, द्वेष और मनुष्यादि पर्यायोंमें जीव अपने आत्मीय शुद्ध स्वभावके विरुद्ध विकृत बना हुआ है। घोर दुःखमय नरकमें कोई नहीं जाना चाहता है, परन्तु जाना पड़ता है। इसका कारण कर्मोदयकी परतंत्रता ही है। यह परतंत्रता वास्तविक है। केवल मिथ्या समझसे नहीं है।

अब हम व्यवहार नयको विषय-भूत व्यवहार क्रियायों पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। दिगम्बर जैनागममें व्यवहार धर्मके आधारपर ही निश्चयस्वरूप शुद्धात्माकी प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति बताई गई है। व्यवहार धर्मका निश्चयधर्मके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। बिना व्यवहारधर्मके निश्चय धर्म त्रिकालमें न तो किसी ने प्राप्त किया है और न कोई प्राप्त कर सकता है। इसीलिये वह मोक्षप्राप्तिमें अनिवार्य परम साधक धर्म है। यही कारण है कि तीर्थंकर तकको उत्कट वैराग्य होनेपर भी सातवाँ छठा गुणस्थान तब तक नहीं हो सकता है जब तक वे जङ्गलमें जाकर बुद्धिपूर्वक वस्त्राभूषण आदि समस्त परग्रहोंका त्यागकर नग्न दिगम्बर-रूप धारणकर केशलुंचन नहीं कर देते हैं। नग्न रूप धारण करनेके बाद ही उन्हें सातवाँ व छठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। इसी प्रकार छठवें गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान अप्रमत्तको छोड़कर जब वे सातिशय अप्रमत्त परिणामको अधःकरणादि तीन करणोंके साथ क्षपक-श्रेणीका आरोहणकर अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानमय परम विशुद्ध गुणोंको प्राप्तकर लेते हैं। इस जन्म-मरणकी अनादिकालीन कर्मजनित अज्ञानताको हटानेके लिये मुख्य कारण नग्नता, पंच महाव्रत, पंच समिति, षट् आवश्यक आदि व्यवहार धर्म ही है। इस व्यवहार धर्मरूप महाव्रतादि क्रियाओंके विकल्पको तथा मुनिधर्मकी जीवन भरकी चर्याको सफल बनानेवाली सल्लेखना समाधिके विकल्पको हेय एवं मिथ्या बताया जाता है, सो ठीक नहीं है, आगम विरुद्ध है। उन्हीं महाव्रतादि विकल्प-भावोंको शास्त्रकार पूर्वाचार्योंने आत्माकी विशुद्धता एवं मोक्षप्राप्तिमें मूल हेतु बताया है। इसीलिये यह फलितार्थ मानना आवश्यक होजाता है कि मुनिलिंग द्रव्यलिंग भावलिंगका साधक अनिवार्य कारण है। द्रव्य-लिंगकी प्राप्ति होनेपर ही भावलिंग प्रकट होसकता है अन्यथा असम्भव है। भावलिंगकी पहिचान छद्मस्थ-मतिज्ञानी-श्रुतज्ञानी करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। इसीलिये द्रव्यलिंग एवं अट्ठाईस मूलगुणरूप बाह्य क्रियाओंके पालनको देखकर मन-वचन-कायसे मुनिराजको श्रद्धा भक्ति करना प्रत्येक सम्यग्दृष्टिका प्रथम कर्तव्य है। अपनी बाह्य चर्या एवं तपश्चरणमें पूर्ण सावधान भावलिंगी मुनिको हम लोग द्रव्यलिंगी (मिथ्यादृष्टि) समझते रहें और उन्हें नमस्कार आदि नहीं करें तो यह हमारा बहुत बड़ा अपराध होगा। और भावलिंगी मुनिको द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि कहकर हम स्वयं मिथ्यादृष्टि बन जाते हैं। आचार्योंने पंचमकालके अन्त तक भावलिंगी मुनि बताये हैं और साथ ही उन्हें चतुर्थ कालके समान भावलिंगी मानकर उनकी श्रद्धा-भक्ति करनेका विधान सम्यक्त्व प्राप्ति एवं सम्यग्दृष्टिका लक्षण बताया है।

इस कथनसे यह बात भी भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि जिस व्यवहारधर्मको अभूतार्थ कहकर अथवा उसे मिथ्या कहकर केवल निश्चयधर्मसे निश्चयधर्मको प्राप्ति बताई जाती है वह निराधार कल्पना है। किन्तु व्यवहारधर्म मोक्षसाधक अनिवार्य कारण है। वह वास्तविक परम सत्य है। इसी तत्त्वको भगवान् कुंदकुंद आचार्य देवसेनाचार्य, आचार्य वट्टकेर एवं आचार्य वीरसेन आदिने बताया है।

व्यवहार असद्भूत है ऐसा मानकर ही देवपूजा, मुनिदान, तीर्थ-वन्दना, स्वाध्याय, उपवासादि,

तपश्चरण आदिको संसारवर्द्धक कहा जाता है, परन्तु न तो व्यवहार असत्य है और न देवपूजनादि क्रियाएँ संसारवर्द्धक हैं। किन्तु ये सब क्रियायें मोक्षसाधक ही हैं। ऐसा भगवान् कुन्दकुन्दने रयणसारमें, आचार्य देवसेनने भावसंग्रहमें, आचार्य पद्मनन्दिने पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें स्पष्ट लिखा है। अन्य शास्त्रोंमें भी इन धार्मिक क्रियाओंको मोक्षसाधक ही कहा गया है।

ऐसी अवस्थामें शास्त्रोंका पूर्वापर अविरोध समन्वय करनेके लिये यह कहना और समझना होगा कि व्यवहार नयको असद्भूत कहनेका आशय आचार्योंका यही है कि वह सत्यार्थ है, मोक्षसाधक है। परन्तु आत्माका निश्चयरूप पूर्ण शुद्धरूप नहीं है। वह मिश्रित पर्याय है, केवल शुद्ध पर्याय नहीं है। किन्तु शुद्धाशुद्ध है और स्थायी नहीं है।

व्यवहार धर्म छठे गुणस्थानतक ही क्रियात्मक रहता है। आगे भावात्मक हो जाता है। इसलिये साधक होनेपर भी वह पूर्ण शुद्ध नहीं है। स्थायी भी नहीं है, इसलिये उसे असद्भूत कहा गया है। यही अर्थ व्यवहारधर्मका आपकी इन पंक्तियोंसे सिद्ध होता है।

'आत्माकी सब अवस्थाओंको लक्ष्यमें रखकर उसका विचार किया जाता है तो वे आत्माकी सब अवस्थाओंमें अनुगामी न होनेसे उन्हें असद्भूत कहा है। परन्तु जबतक वे आत्मामें उपलब्ध होते हैं तबतक उनके द्वारा आत्मामें यह आत्मा प्रमादी है, यह आत्मा अप्रमादी है ऐसा व्यवहार तो होता ही है। इसलिये त्रिकाली आत्मामें वह नहीं हैं और ज्ञायकस्वरूप आत्मासे वे भिन्न हैं इन सब प्रयोजनोंको ध्यानमें रखकर उनका असद्भूत व्यवहार नयमें अन्तर्भाव किया है।' इन पंक्तियोंसे यह बात आपने स्वयं प्रकट कर दी है कि व्यवहार नयको असद्भूत कहनेका अर्थ असत्य नहीं है, किन्तु शुद्धाशुद्ध पर्याय है। वह स्थायी सब अवस्थाओंमें नहीं रहती है। अर्थात् निश्चयकी प्राप्ति होनेपर वह अवस्था छूट जाती है। इन पंक्तियोंमें आपने जो उसको ज्ञायक स्वरूप आत्मासे भिन्न बताया है यह बात शास्त्रविरुद्ध है। क्योंकि सातवें गुणस्थान एवं सूक्ष्म लोभोदयके साथ दसवें गुणस्थानतक होनेवाले उपशमभाव या क्षायकभाव ज्ञायक आत्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु वे सब आत्मा ही के भाव हैं। वे परम शुद्ध क्षायिक भावके अंश रूप हैं।

आगे आपने जो यह बताया है कि 'कार्यके प्रति आत्माकी सहज योग्यताको उसका मुख्य कारण न मानकर कार्यकी उत्पत्ति परसे मानता आ रहा है।' आदि, सो हम आपसे स्पष्ट करना चाहते हैं कि वह सहज योग्यता क्या है जो विना व्यवहारके निश्चयनयको प्राप्त करा देवे? विना महाव्रतादि व्यवहारचारित्रको धारण किये परतन्त्र एवं राग-द्वेषविशिष्ट आत्मा कर्मोका क्षय कर सकता है क्या? अथवा माँस मदिरादिकका त्याग किये विना कोई मनुष्य सम्यक्त्वको भी प्राप्त कर सकता है क्या? यदि यह कहा जाय कि माँस-मदि-रादि सेवन और जीवोंको मारना आदि तो जड़ शरीरकी क्रियाएँ हैं, उनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी दशामें कौन-सी वह सहज योग्यता है जिससे उन अशुद्धमय एवं अशुद्ध मूलक वस्तुओंको छोड़े विना आत्माको शुद्ध पर्यायमें ले जा सके। हो तो शास्त्र-प्रमाणसे प्रकट कीजिये। शास्त्रकारोंने तो आत्माको शुद्धता और मोक्ष प्राप्तिमें मूल हेतु त्यागको ही बताया है। अष्ट मूलगुण, अणुव्रत, महाव्रत आदि उसीके फल-स्वरूप आत्मशुद्धिके साधक सिद्ध होते हैं। ऐसा ही आगम है।

आगे समयसारजीकी गाथा नं० २७ का प्रमाण देकर आपने जो यह लिखा है कि 'देह और उसकी क्रियाके साथ उसे आत्मा मानकर जिसकी एकत्वबुद्धि बनी हुई है या जिसने नयज्ञानका विशेष परिचय नहीं किया है उसकी इस दृष्टिको दूर करनेके अभिप्रायसे इसे भी व्यवहारनयका विषय बताकर

उपयोगस्वरूप आत्माका निश्चयनयके विषयरूपसे ग्रहणकर मात्र ऐसे व्यवहारको छुड़ानेका प्रयत्न किया है।' आदि।

आपकी उपर्युक्त पंक्तियाँ भ्रम पैदा करतीं हैं। कारण जो शरीर और उसकी क्रियाको आत्मा मानता है वह तो मिथ्यादृष्टि है। उस विचारवाले मिथ्यादृष्टिका सम्बन्ध सम्यग्दृष्टिकी आत्माके साथ नहीं जोड़ना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव शरीरको आत्मा नहीं समझता है, किन्तु वह तो निश्चयस्वरूपको समझकर उसके साधक व्यवहारधर्मको पालता है। उस व्यवहारधर्मको छोड़नेका प्रयत्न किसी शास्त्रमें नहीं बताया गया है, किन्तु उसे ग्रहण करनेका ही विधान है। हाँ सम्यग्दृष्टिका व्यवहारधर्म निश्चय प्राप्तिको कराकर स्वयं छूट जाता है।

इसका प्रमाण यही है कि आत्मा छठे गुणस्थानकी क्रियाओंमें महाव्रतादि व्यवहारधर्मके द्वारा जब सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें पहुँच जाता है तब वह क्रियात्मक व्यवहारधर्म स्वयं छूट जाता है।

दिगम्बर जैनधर्म अनेकान्तस्वरूप है। उसके अनुसार निश्चय और व्यवहार दोनों नय और उनके विषयभूत पदार्थ प्रमाणभूत सिद्ध हो जाते हैं। इसका खुलासा यह है कि प्रमाण वस्तुके सर्वांशको ग्रहण करता है, वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। इस वस्तु स्वरूपको ध्यानमें लेनेसे यदि केवल निश्चयनयको ही उपादेय माना जावे तो वह निरपेक्ष होनेसे मिथ्या नय ठहरेगा। 'निरपेक्षाः नया मिथ्या' ऐसा शास्त्रवाक्य है। यदि निश्चयनयको छोड़कर केवल व्यवहारको ही ठीक माना जाय तो भी वह मिथ्या ठहरेगा। क्योंकि वस्तुस्वरूप द्रव्य-पर्याय उभयरूप है। इसलिये जैसे निश्चय प्रमाणभूत उपादेय है उसी प्रकार व्यवहारनय भी प्रमाणभूत उपादेय है। प्रमाणज्ञान दोनों सापेक्ष नयोंको एक साथ ग्रहण करता है। इसलिये दोनों नयोंके विषयभूत निश्चय और व्यवहारधर्म भी प्रमाणभूत एवं समीचीन हैं। क्रियात्मक एवं भावात्मक दोनों धर्मोंका सामंजस्य और समीचीनता अनेकान्त प्रमाणसे सहज सिद्ध हो जाती है। परन्तु ये निराधार स्वतंत्र मान्यताएँ अनेकान्त स्वरूपको छोड़कर मिथ्या एकान्तरूप बन गई हैं।

इस प्रकारकी एकान्त मान्यताओंसे व्यवहारधर्मको हेय तथा निश्चयधर्मको ही उपादेय माना जाता है। इस मान्यताका कटुक फल यह दीखने लगा है कि जिनभक्ति, मुनिभक्ति, मुनिदान, तीर्थवन्दना आदि श्रावकधर्म विधायक एवं मोक्षफल प्रतिपादक मुनिधर्म विधायक शास्त्रोंमें परिवर्तन किया जा रहा है। तथा उन्हें कुशास्त्र कहनेका दुःसाहस भी किया जा रहा है। इन बातोंसे दिगम्बर जैनधर्ममें पूर्ण विकृति आये बिना नहीं रह सकती है।

इसलिये यथार्थ वस्तुस्वरूप प्रतिपादक अनेकान्तका आश्रय लेना आवश्यक है। उसीसे व्यवहारधर्म एवं निश्चयधर्ममें हेतु-हेतुमद्भाव, कार्यकारणभाव एवं साध्य-साधकभावकी सिद्धि हो जाती है। इस समीचीन मान्यतासे ही आत्मा स्वपर-कल्याण एवं मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हो जाता है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनकी पुष्टिमें यहाँ पर संक्षेपरूपसे कतिपय प्रमाणोंका उद्धरण हम प्रस्तुत करते हैं। वे प्रमाण इस प्रकार हैं—

देवागम स्तोत्रकी 'दोषावरणयोर्हानिः' आदि, इस कारिकाके भाष्यमें आचार्य विद्यानन्दि स्वामी लिखते हैं कि—

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः, न हि दोष एव आवरणमिति प्रतिपादने कारिकायां दोषावरणयोरिति द्विवचनं समर्थम्। ततः तत्सामर्थ्यादावरणात् पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्न-

स्वभाव एव आवरणादिर्दोषोऽभ्यूह्यते, तद्धेतुः पुनरावरणकर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च । स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तम् । —अष्टसहस्री पृष्ठ ५१

दोष और आवरण इन दोनोंमें अज्ञानादि तो दोष हैं व स्वपर (जीव और कर्म) परिणामसे होता है । दोषका नाम ही आवरण नहीं है, वह अज्ञानादि दोष पौद्गलिक ज्ञानावरण कर्मसे भिन्न है और इस अज्ञानभावका कारण पौद्गलिक ज्ञानावरण कर्म है तथा जीवकी पूर्व पर्याय भी है। इसलिए जीवका अज्ञान भाव स्वपरहेतुक है।

इस अष्टसहस्रीके प्रमाणसे आपको इस बातका खंडन हो जाता है कि अज्ञानता स्वयं आत्माकी योग्यतासे होती है।

इसी बातकी पुष्टिमें आचार्य अकलंकदेव 'ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने' इस तत्वार्थसूत्रकी वृत्तिमें लिखते हैं कि—

स्यादेतत् ज्ञानावरणे सति अज्ञानमनवबोधो भवति । न प्रज्ञा, ज्ञानस्वभावत्वादात्मनः इति, तन्न, किं कारणम्-अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात्ततो ज्ञानावरण एव इति निश्चयः कर्त्तव्यः ।

—तत्त्वार्थवार्तिक अ० ९ सू० १३

प्रज्ञा और अज्ञान दो परिषह ज्ञानावरणके उदयसे ही होती है।

आपका यह कहना कि अनादि अज्ञानता जीवकी स्वयं होती है, वह कर्मकृत नहीं है, इस बातका उपर्युक्त प्रमाणोंसे पूरा खंडन हो जाता है।

व्यवहार धर्म मोक्षमार्ग और मोक्षप्राप्तिमें पूर्ण साधक है और वह स्वयं मोक्षमार्गस्वरूप है। इसके प्रमाणमें आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ।

—श्री धवल पुस्तक १ पृष्ठ ९

तथा

कधं जिणबिंबदंसणं पढम-सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्त-णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो ।

जो विवेकी जीव भाव-पूर्वक अरहंतको नमस्कार करता है वह अति शीघ्र समस्त दुखोंसे मुक्त हो जाता है। तथा जिनबिंबके दर्शनसे निधत्ति और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलापका क्षय देखा जाता है। तथा जिनबिंबका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वको उत्पत्तिका कारण होता है।

—श्री धवल पु० ६ पृ० ४२७

प्रवचनसारकी टीकामें आचार्य जयसेन स्वामी लिखते हैं कि—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥

—प्रवचनसार गाथा ७९ की टीका

उन देवाधिदेव जिनेन्द्रको, गणधरदेवको और साधुओंको जो मनुष्य वन्दना नमस्कार करता है वह अक्षय मोक्षसुखको प्राप्त करता है।

पंचास्तिकायकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है कि—

निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्ण-सुवर्णपाषाणवत् । अतएव उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थ-प्रवर्तना इति ।

—पंचास्तिकाय गाथा १५९ की टीका

तथा—

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम् ।

व्यवहारमोक्षमार्ग-साध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम् ।

—पंचास्तिकाय गाथा १६०-१६१ की टीका

निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर साध्यसाधकभाव है । जैसे सोना साध्य है और सुवर्ण पाषाण साधन है । इन दोनों नयोंके ही अधीन सर्वज्ञ वीतरागके धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होती है ।

निश्चय मोक्षमार्गका साधन व्यवहार मोक्षमार्ग है । व्यवहार मोक्षमार्गसे ही निश्चय मोक्षमार्ग सिद्ध होता है ।

श्री परमात्मप्रकाशमें श्रीआचार्य कहते हैं कि—

एवं निश्चय-व्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थंगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यम् ।

—परमात्माप्रकाश श्लोक ७ की टीका

तथा—

साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्ग : ।

—परमात्माप्रकाश टीका पृष्ठ १४२

अर्थ—इस प्रकार निश्चय और व्यवहारके साध्य-साधकभावसे तीर्थ, गुरु और देवताका स्वरूप जानना चाहिये ।

तथा—

व्यवहार मोक्षमार्ग साधक है और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है ।

श्री पंचास्तिकाय टीकामें आचार्य जयसेन स्वामी लिखते हैं कि—

निश्चयव्यवहारमोक्षकरणे सति मोक्षकार्यं संभवति इति ॥

—श्री पंचास्तिकाय गाथा १०६

अर्थ—निश्चय और व्यवहार इन दोनों मोक्षकरणोंसे (निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयसे) ही मोक्षरूप कार्य सिद्ध होता है ।

व्यवहारधर्मकी मोक्ष-साधकतामें प्रमाण देते हुए अन्तमें हम इतना लिखना भी आवश्यक समझते हैं कि व्यवहारधर्मको धवल सिद्धान्त आदि सभी शास्त्रोंमें मोक्षसाधक धर्म बताया गया है । परन्तु अनेक प्रमाण सामने रहते हुए भी आप व्यवहारधर्मको धर्म नहीं मानते हैं । किन्तु पुण्य कहकर उसे संसारका कारण समझ रहे है । ऐसी धारणासे नीचे लिखी बातें पैदा होती हैं—

१. मुनिधर्म जो मोक्षप्राप्तिका साक्षात् साधन है, वह धर्म नहीं ठहरता है । प्रत्युत मुनियोंकी चर्या संसार-वर्द्धक ठहरती है । शास्त्रोंमें मुनियोंको अरहंतका लघुनन्दन कहा गया है ।

२. श्रावकधर्मकी क्रियाएँ भी धर्म नहीं ठहरती हैं, ऐसी दशामें क्रियात्मक चारित्रका कोई मूल्य नहीं रहता । आजकल वैसे ही लोग धर्मसे शिथिल बन रहे हैं । कुछ लोग देवदर्शन छोड़ चुके हैं । भक्ष्याभक्ष्य एवं

स्पर्शास्पर्शका विवेक छोड़कर होटलोंमें खाने लगे हैं। कुछ भाई तो व्यवहारधर्मको धर्म नहीं समझकर एवं उसे केवल शरीरकी क्रिया समझकर बाजारू खान-पान एवं हीनाचारकी ओर भी झुक गये हैं। परन्तु वास्तवमें विचार किया जाये और शास्त्रों पर श्रद्धान किया जाये तो व्यवहारधर्म श्रावक और मुनियोंका मोक्षमार्ग है। उसके बिना मुक्ति प्राप्ति असम्भव है।

३. यह बात विचारणीय है कि यदि व्यवहारधर्मको धर्म नहीं माना जाय तो धर्मप्रवर्तक तीर्थंकर भगवान उसे क्यों धारण करते। वे तो सर्वोच्च अनुपम असाधारण एकमात्र धर्मनायक हैं। यह नियम है कि आठ वर्ष पीछे तीर्थंकर अणुव्रती बन जाते हैं। तो क्या उनकी इस व्यवहारधर्मकी प्रवृत्तिको धर्म नहीं माना जायेगा। उत्तर देने की कृपा करें।

४. दूसरी बात यह है कि यदि व्यवहारधर्ममें होनेवाले राग-भाव (शुभराग एवं प्रशस्त राग) को संसार-वर्द्धक माना जाय तो दशवें गुणस्थानमें भी सूक्ष्म लोभके उदयमें जो सूक्ष्म सांपरायिक रागभाव है उसे भी संसारवर्द्धक मानना पड़ेगा और वहाँ भी रागके सद्भावमें शुद्धोपयोग नहीं बनेगा। परन्तु क्षपकश्रेणीमें चढ़े हुए दशवें गुणस्थानवर्ती शुक्लध्यानी मुनिराज उस रागके सद्भावमें भी कर्मोंकी अनन्तगुणी निर्जरा करते हैं और अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ऐसा शास्त्रीय विधान है। ऐसी अवस्थामें प्रशस्त राग संसारवर्द्धक सिद्ध नहीं होता है, किन्तु शुद्धध्यानका कारण एवं केवलज्ञान प्राप्तिका अन्तिम साधन है। परन्तु आप ऐसे शुभोपयोगवाले सम्यग्दृष्टि एवं महाव्रतीके प्रशस्त रागको भी धर्म न कहकर पुण्य कहते हुए उसे संसारवर्द्धक बता रहे हैं इसका आगमप्रमाणसे उत्तर दीजिये।

सारांश यह है कि शुद्धस्वरूपका प्रतिपादक निश्चयनय है और शुद्धाशुद्ध द्रव्य या पर्यायका प्रतिपादक व्यवहारनय है। निश्चयनय अपने स्थानपर सत्यार्थ है और व्यवहारनय अपने क्षेत्रमें सत्यार्थ है। दोनों नय प्रमाणके ही उपभेद हैं; परस्पर सापेक्ष दोनों नय सत्य हैं, निरपेक्ष दोनों असत्य हैं।

जीवको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर संसारी दशा भी असत्य नहीं और अव्यक्त शक्तिरूप शुद्ध-बुद्ध दशा भी सत्य है।

निश्चयधर्म सापेक्ष व्यवहारधर्म आत्मशुद्धिका साधक है, निश्चय-व्यवहारनयका समन्वय करनेवाला स्याद्वादसिद्धान्त जैनसिद्धान्तका मूल स्तम्भ है।

श्री वीतरागाय नमः

शंका १६

निश्चयनय और व्यवहारनयका स्वरूप क्या है? व्यवहारनयका विषय असत्य है या सत्य? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप?

प्रतिशंका २ का समाधान

मूल प्रश्नके उत्तरस्वरूप जो लेख लिपिबद्ध किया गया था उसमें निश्चयनय और व्यवहारनयका स्वरूप बतलाकर व्यवहारनयके एक द्रव्यकी अपेक्षा जितने भेद होते हैं उनकी सप्रमाण चर्चा की गई थी।

उसमें व्यवहारनयके सद्भूत और असद्भूत और उनके उपचरित और अनुपचरित भेदोंका भी निर्देश किया गया था। इसलिये यह आक्षेप तो समीचीन नहीं कि प्रश्नमें जो पूछा गया उसका उत्तर नहीं दिया गया। इतना अवश्य है कि प्रश्नकर्ता अपने मनमें यदि किसी हेतुको ध्यानमें रखकर प्रश्न करता है तो जिस हेतुसे उसने प्रश्न किया है उसका भी उल्लेख होना चाहिये। अस्तु,

हमारे द्वारा लिखी गई 'यह जीव अनादि अज्ञानवश संयोगको प्राप्त हुए पर पदार्थोंमें न केवल एकत्व-बुद्धिको करता आरहा है, अपि तु स्वसहाय होनेपर भी परकी सहायताके बिना मेरा निर्वाह नहीं हो सकता, ऐसी मिथ्या मान्यतावश अपनेको परतन्त्र बनाये हुए चला आ रहा है।' इन पंक्तियोंपरसे जो प्रतिशंका २ में उक्त प्रकारकी मिथ्या धारणाको कल्पना की संज्ञा दी गई है यह पढ़कर आश्चर्य हुआ। अथवा अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि और अशास्त्रमें शास्त्रबुद्धि तथा इसी प्रकार अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मबुद्धि, जिसे कि सभी शास्त्रकार मिथ्या श्रद्धाके रूपमें मिथ्यादर्शन लिखते आये हैं, उसे आजकल यदि कल्पना माना जाता है तो आश्चर्य भी नहीं होना चाहिये। जीवादि सात पदार्थोंकी विपरीत श्रद्धाका नाम ही तो मिथ्यात्व है, इसे जैनागमका अभ्यासी प्रत्येक व्यक्ति जानता है, फिर वैसी मान्यता कल्पनात्मक कैसे हुई ? विचार कोजिए। इसी प्रकार लेखमें अप्रासंगिक और भी अनेक चिन्तनीय विचार रखे गये हैं। आत्माकी नर, नारकादि पर्याय स्वयं आत्माकी अवस्था है। यदि पर द्रव्यरूप कर्मोंका आत्माके साथ होनेवाले बन्धका शास्त्रकार व्यवहार नयसे सद्भाव 'स्वीकार करते हैं और हमारी ओरसे उस कक्षाके भीतर रहकर उत्तर देकर शास्त्र-मर्यादाकी सीमा बनाये रखी जाती है तो इसमें हानि ही क्या है ? इस सम्बन्धमें स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः समस्तसम्बन्धशून्यत्वात्।

—प्रवचनसार ३, ४ टीका

अर्थ—आत्मा तत्त्वतः परद्रव्योंके साथ सब प्रकारके सम्बन्धसे शून्य है।

प्रतिशंकास्वरूप लिखे गये लेखमें अनेक आगमग्रन्थोंका नाम है। इनमें पंचाध्यायीका नाम लिखकर उसका नाम अलग क्योंकर दिया गया यह मेरी समझके बाहर है। यह कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं हुआ इतनी सूचना देना मैं अपना श्रद्धामूलक प्रधान कर्तव्य मानता हूँ। जिन ग्रन्थोंके इस सूचीमें नाम हैं उनमें समय-सारके साथ मूलाचार, भावसंग्रह, रयणसार, धवलसिद्धान्त, तत्त्वार्थवार्तिक और गोम्मटसार इन आगमशास्त्रोंका भी नाम है। इनमें समयसार अध्यात्मकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला आगम ग्रन्थ है, शेष आगम ग्रन्थ व्यवहारनयकी मुख्यतासे लिखे गये हैं। पंचास्तिकायमें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

एवमनया दिशा व्यवहारनयेन कर्मग्रन्थप्रतिपादितजीवगुणमार्गणास्थानादिप्रपंचितविचित्रविकल्प-रूपैः।

—गाथा १२३ टीका।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि जिन शास्त्रोंमें जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान आदिरूप विविध भेदोंका कथन किया गया है, जिनमें कर्मग्रन्थ मुख्य हैं, वे व्यवहारनयकी मुख्यतासे लिखे गये हैं।

अतएव इनमें निमित्तोंकी मुख्यतासे प्रतिपादन करते हुए जो यह कहा गया है कि 'उनके कारण जीव संसारमें परिभ्रमण करता है या जीव कर्मोंके कारण ही संसारका पात्र बना हुआ है।' तो ऐसे कथनको पर-मार्थभूत न कह कर व्यवहारनयकी अपेक्षा स्वीकार किया जाता है तो उस परसे विपरीत अर्थ फलित न यही फलित करना चाहिए कि 'यह संसारी जीव एकमात्र अपने अज्ञानके कारण ही संसारका पात्र बना हुआ है।

इसमें जड़कर्मोंका अणुमात्र भी दोष नहीं है। अपनी परतन्त्रताका दोष कर्मों पर मढ़ना और उसमें अपना अपराध नहीं मानना इसे तो नैयायिक-वैशेपिकदर्शनका ही प्रभाव मानना चाहिये आत्मा परतन्त्र है, उसकी परतन्त्रता काल्पनिक नहीं है। पर उसका मूल कारण आत्माका अज्ञान-मिथ्यादर्शन परिणाम ही है, कर्म नहीं। इसी आशयको व्यक्त करते हुए चन्द्रप्रभु भगवान्‌की जयमालामें पण्डित रामचन्द्रजी कहते हैं—

कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात लोहकी संगति पाई॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर बनारसीदास कहते हैं—

करम करै फल भोगवै जीव अज्ञानी कोय।
यह कथनी व्यवहारकी वस्तुस्वरूप न होय॥

इसमें सन्देह नहीं कि जीवकी जब यह परतन्त्ररूप अवस्था होती है तब उसके मोहनीय आदि कर्मोंका उदय भी होना है। पर इस प्रकारके संयोगको देखकर यदि वह उसका कारण परको ही मानता रहता है और आप अपराधी हुआ उसका मूल कारण अपने अज्ञानकी ओर दृष्टिपात नहीं करता तो संसारमें ऐसा कोई उपाय नहीं है जो उसे उसकी परतन्त्रतासे विलग कर दे। व्रत धारण करो, समितिका पालन करो, मौन रहो, वचन मत बोलो, किन्तु जब तक जीवनमें अज्ञानका वास है तब तक यह सब करनेसे आत्माको अणुमात्र भी लाभ होनेवाला नहीं है। वह लाभ जो संसारकी परिपाटीको बढ़ानेवाला है यथार्थ लाभ नहीं माना जा सकता। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवके ही व्रतादि मोक्षमार्गमें सफल है। यह लिखना और कहना कि 'इस जीवको कर्म ही परवश बनाये हुए हैं। उसीके कारण यह परतन्त्र हो रहा है ऐसा ही है जैसे कोई चोर चोरी करे और कहे कि इसमें मेरा क्या अपराध? अशुभ कर्मोदयकी परवशतावश मुझे चोरी करनेके लिए बाध्य होना पड़ता है।' अतएव प्रकृतमें यही मानना उचित है कि इस जीवकी परतन्त्रताका मूल कारण आत्मा का अज्ञानभाव ही है। दर्शनमोहनीयका उदय-उदीरणा नहीं, वह तो निमित्तमात्र है।

आगे व्यवहारनयका विषय कह कर क्रियारूप व्यवहार धर्मसे निश्चयस्वरूप शुद्धताकी प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति बतलाते हुए लिखा है कि 'व्यवहारधर्मका निश्चयधर्मके साथ अविनाभावसम्बन्ध है। बिना व्यवहारधर्मके निश्चय धर्म त्रिकालमें न तो किसीने प्राप्त किया है और न कोई प्राप्त कर सकता है इसलिए वह मोक्षप्राप्तिमें अनिवार्य परम साधक धर्म है।' आदि।

प्रकृतमें देखना यह है कि वह व्यवहारधर्म क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है। आगममें बतलाया है कि जब तक संसारी जीव मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक उसके जितना भी व्यवहार होता है उसकी परिगणना मिथ्या व्यवहारमें होती है। ऐसे मिथ्या व्यवहारको लक्ष्य कर ही समयसारमें लिखा है—

वद-णियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति॥ १५३॥

अर्थ—व्रत और नियमोंको धारण करते हुए भी तथा शील पालते हुए भी जो परमार्थसे (परम ज्ञानस्वरूप आत्माके श्रद्धानसे) बाह्य हैं वे निर्वाणको नहीं प्राप्त होते॥१५३॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

ज्ञानमेव मोक्षहेतुः, तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्म

सद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बन्धहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां वहिर्व्रतनियमशीलतः-पप्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्।

अर्थ—ज्ञान ही मोक्षका हेतु है; क्योंकि ज्ञानके अभावमें स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियोंके अन्तरंगमें व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मोंका सद्भाव होनेपर भी मोक्षका अभाव है तथा अज्ञान ही वन्धका कारण है, क्योंकि उसके अभावमें स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियोंके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मोंका असद्भाव होनेपर भी मोक्षका सद्भाव है।

इस गाथामें अज्ञानभावका निषेध है और ज्ञानभावका समर्थन किया गया है। आशय यह है कि यदि अज्ञानभावके साथ व्रत, शील और तप हों तो भी वह (अज्ञानभाव) एकमात्र संसारका कारण है तथा ज्ञानभावके होनेपर भी कदाचित् व्रत, नियम, शील और तप न भी हों तो भी वह (ज्ञानभाव) मोक्षका हेतु है।

नियम यह है कि अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परावर्तनप्रमाण कालके शेष रहनेपर जीव काललब्धिके प्राप्त होनेपर आत्मसन्मुख पुरुषार्थद्वारा अधःकरण,अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम करके अज्ञानभावका अन्त कर सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है। अधिक-से-अधिक कितना काल रहनेपर संसारी जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है इस तथ्यका यह सूचक वचन है। तथा कम-से-कम संसारका अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहनेपर जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है। ऐसा जीव शेष अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर-भीतर गुणस्थान परिपाटीसे अयोगिकेवली होकर मोक्षका पात्र होता है। सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेका मध्यका काल अनेक प्रकार है।

उक्त उल्लेखमें आया हुआ 'ज्ञान' पद सम्यग्दर्शनका और 'अज्ञान' पद मिथ्यादर्शनका सूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक इस जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती तब तक अन्य सब परिश्रम मोक्षमार्गकी दृष्टिसे निष्फल है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल बतलाते हुए लिखा है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है ऐसा जिनदेवने शिष्योंको उपदेश दिया है। उसे अपने कानोंसे सुननेके बाद सम्यग्दर्शनशून्य पुरुषकी वन्दना नहीं करनी चाहिये ॥२॥

मोक्ष आत्माकी शुद्ध स्वतन्त्र पर्यायका दूसरा नाम है, इसलिए देह, मन, वाणी, द्रव्यकर्म, भावकर्म और स्त्री-पुत्रादिसे भिन्न अपने आत्मस्वरूपका जबतक सम्यक् भान नहीं होता तबतक धर्म क्या है इसका सम्यक् निर्णय करना ही असम्भव है। सम्यग्दर्शन ही एक ऐसा अलौकिक प्रकाश है जो अनादि अज्ञानरूपी प्रगाढ़ अन्धकारका भेदन कर ज्ञानानन्द चिच्चमत्कारस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वका दर्शन करानेमें समर्थ होता है। ऐसे आत्मस्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके होनेपर ही परमार्थरूप देव, गुरु और शास्त्रके यथार्थस्वरूपकी तथा जीवादि नौ पदार्थोंकी सम्यक् प्रतीति होती है। देव, गुरु और जीवादि नौ पदार्थोंके सम्यक् स्वरूपपर सम्यक् प्रकाश डालनेवाली सच्ची जिनवाणी है। वीतराग, हितोपदेशी और सर्वज्ञ ही यथार्थ देव है तथा मोक्षमार्गमें लीन परम तपोनिधि वीतराग गुरु ही सच्चे गुरु है। विचारकर देखनेपर मेरी आत्माका स्वरूप इनके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, क्योंकि द्रव्यदृष्टिसे अवलोकन करनेपर इनके स्वरूपसे मेरे स्वरूपमें अणुमात्र भी अन्तर नहीं है। इस प्रकार अपने आत्माके स्वरूपको देव और गुरुके स्वरूपसे मिलाकर इसकी भव और भोगमें सहज उदासीन वृत्ति हो जाती है।

अभीतक यह संसारी जीव अपने अज्ञानवश अन्य भवरोगसे पीड़ित संसारी सरागी देवताओंकी श्रद्धा करता आ रहा था। प्राप्त सांसारिक साधनोंको पुण्यका फल मानकर उन्हींमें तन्मय हो रहा था। किन्तु उसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर उसकी पंचेन्द्रिय भोगोंमें सहज उदासीन वृत्ति हो जाती है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध आत्माके प्रतिनिधिस्वरूप एकमात्र परमार्थरूप देव, गुरु और शास्त्रकी उपासनाको ही अपना आवश्यक कर्तव्य मानता है। इसी आशयको ध्यानमें रखकर देशव्रतोद्योतन पृ० १६ में कहा है—

आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है ऐसी दिव्यशक्तिकी जिसे प्रतीत हुई हो उसे जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो तब तक जिनेन्द्रदेवकी पूजन करनी चाहिए। सम्यक्त्वी श्रावकको उनकी पूजा करनेके भाव आते हैं। मुनि भी भावपूजा करते हैं। श्रावक सेवक बनकर पूजा करते हैं। जिसके अन्तरंगमें ज्ञानस्वभावका भान है वह कहता है—हे नाथ! तेरे विरहमें अनन्त काल बीत गया। हे प्रभु! अब कृपा करो और मेरे जन्म-मरणका अन्त कर दो। जन्म-मरणका अन्त अपने आत्मासे ही होता है, किन्तु अपूर्ण अवस्थामें भगवान्‌की पूजाका भाव होता है। स्वयंभूस्तोत्रमें समन्तभद्र आचार्य अनेक प्रकारसे स्तुति करते हैं। जिसे आत्माका भान है उसे पूर्णदशा प्राप्त भगवान्‌की स्तुति करनेके भाव आते हैं—हे नाथ! आपको पूर्ण आनन्द मिल गया। आपमें अल्पज्ञता और विकार नहीं रहे। अब करुणा करें, ऐसे नम्र वचन निकले बिना नहीं रहते।

आगे पृ० १७ में लिखा है—

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्‌की भक्ति नहीं देखता तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, स्तुति नहीं करता उस मनुष्यका जीवन निष्फल है। तथा उसके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। निर्ग्रन्थ वनवासी मुनि भी कहते हैं कि उन्हें धिक्कार है। आगे गाथा १६-१७ में कहा है कि भव्य जीवोंको प्रातःकाल उठकर श्री जिनेन्द्रदेव तथा गुरुके दर्शन करना चाहिये तथा भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना स्तुति करनी चाहिये। तथा धर्मशास्त्र सुनना चाहिये। तत्पश्चात् गृहकार्य करने चाहिये। गणधरादि महान् पुरुषोंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें सर्व प्रथम धर्मका निरूपण किया तथा उसको मुख्य माना है।

यह सम्यग्दृष्टिकी सच्चे देव, गुरु, शास्त्रकी यथार्थ भक्ति है। इसके साथ सात व्यसनोंके सेवनमें उसकी त्याग भावना हो जाती है। वह शास्त्रोंमें प्रतिपादित आठ अंगोंका उक्त प्रकारसे पालन करते हुए सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोषोंका त्याग कर देता है। इस प्रकार निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन-का यथाविधि पालन करते हुए सहज आत्मरुचिकी दृढ़तावश आत्मविशुद्धिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर जैसे ही अन्तरंगमें अंशरूपसे उसके वीतराग परिणतिके जागृत होनेके साथ अप्रत्याख्यानावरण कषायका अभाव होता है तब वह बाह्यमें अपनी शक्तिके अनुसार श्रावकके बारह व्रतोंको मनःपूर्वक पालन करने लगता है। इसके लिये वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंका सम्यक् विचारकर अपने सन्निकट जो सम्यक् गुरु होते हैं उनके चरणोंमें उपस्थित हो अपनी अन्तरंग विशुद्धिका प्रकाशन कर बुद्धिपूर्वक श्रावकके अहिंसाणुव्रत आदि बारह व्रतोंको धारण करता है।

परमानन्दस्वरूप नित्य एक ज्ञान-दर्शनस्वरूप ज्ञायकभावके सिवा अन्य सब पर हैं ऐसा भेदविज्ञान तो उसके सम्यग्दर्शनके कालमें ही उत्पन्न हो गया था। अब उसके रागभावमें भी और न्यूनता आई है, अतएव वह संयोगको प्राप्त हुए भोगोपभोगके साधनोंका परिमाण तो करता ही है। साथ ही संकल्पपूर्वक त्रसहिंसा

का त्याग कर सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत और ब्रह्मचर्याणुव्रत पूर्वक सात शीलोंको धारण करता है। ये बारह व्रत हैं। इनके साथ अविरत सम्यग्दृष्टिके देव, गुरु शास्त्रकी पूजा अर्चा, वन्दना, नमस्कृति आदिरूप जितना श्रावकका कर्तव्य है आत्मोन्मुख परिणतिके साथ वह सब व्यवहार धर्म देशविरत गृहस्थके होता है। आत्म-जागृतिके साथ इसके शरीर, भोग और संसारके प्रति जो सहज उदासीन वृत्ति उदित होती है उसके परि-णामस्वरूप वह विचार करता है कि—

कब ह्वै मेरे वा दिनकी सुघरी।
तन विन वसन अशन विन वनमें
निवसों नासादृष्टि धरी। कब०,

यह तो आगमसे ही स्पष्ट है कि श्रावकधर्म अपवादमार्ग है। उत्सर्गमार्ग तो मुनिधर्म ही है, इसलिए गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी आत्मजागृतिके कारण उसमें उसकी सहज उदासीनता बनी रहती है और अन्त-रंगमें कषायकी मन्दताके साथ जैसे जैसे आत्मविशुद्धिकी वृद्धि होती जाती है वैसे वैसे उसका चित्त परम वीतराग मुद्राको धारणकर साक्षात् मोक्षमार्गपर आरूढ़ होनेके लिए उद्यत होता है।

मुनिधर्म लोकोत्तर साधना है। जिसके चित्तमें भोगोपभोगके प्रति पूर्णरूपसे सहज उदासीनता उत्पन्न हो गई है, अन्तरंगमें समता तत्त्वके अभ्यासवश जो पूर्ण आत्मजागृतिके लिए बद्धपरिकर है, जिसने पूर्ण अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्यकी पराकाष्ठा प्राप्त करनेका अन्तरंगमें निर्णय कर लिया है ऐसा आत्मार्थी गृहस्थ जब स्वभावभावके आश्रयसे अपनेमें पूर्ण वीतरागता प्राप्त करनेके लिए उद्यत होता है तब बाह्यमें वह बन्धुवर्ग, गुरुजन और सब इष्ट परिकरके समक्ष अपनी अन्तरंग भावना व्यक्त कर और उनसे विदा लेता हुआ कहता है—

बन्धुवर्गमें प्रवर्तमान आत्माओ! इस पुरुषका आत्मा किंचिन् मात्र भी तुम्हारा नहीं है ऐसा तुम निश्चयसे जानो। इसलिए मैं आप सबसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि बन्धुके पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुषके शरीरके जनकके आत्मा! अहो! इस पुरुषके शरीरकी जननीके आत्मा! इस पुरुषका आत्मा आप दोनों द्वारा उत्पन्न नहीं है ऐसा आप दोनों निश्चयसे जानो। इसलिए आप दोनों इस आत्माको छोड़ो अर्थात् इस आत्मामें रहनेवाले रागका त्याग करो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनकके पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुषके शरीरकी रमणी (स्त्री) के आत्मा! तू इस पुरुषके आत्माको रमण नहीं करती ऐसा तू निश्चयसे जान। इसलिये तू इस आत्माको छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि-रमणीके पास जा रहा है।

अहो इस पुरुषके शरीरके पुत्रका आत्मा! तू इस पुरुषके आत्माका जन्य नहीं है ऐसा तू निश्चयसे जान। इसलिये तू इस आत्माको छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जन्यके पास जा रहा है। इस प्रकार बड़ोंसे, स्त्रीसे और पुत्रसे अपनेको छुड़ाता है।

—प्रवचनसार २०२ टीका पृ० २४९

इसके बाद ज्ञानाचार आदिकी सम्यक् प्रकारसे आराधना करता हुआ वह गुणाढ्य, क्रोधादि दोषोंसे रहित, और वयोवृद्ध आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न गणी (आचार्य) को प्राप्त कर 'मुझे स्वीकार करो'

ऐसा निवेदन कर प्रणत होता हुआ गणीके द्वारा अनुगृहीत होता है। तदनन्तर मैं दूसरोंका नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं, इस लोकमें मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा निश्चयवान् और जितेन्द्रिय होता हुआ यथा जात रूपधर होकर केशलुंच करता है। उस समय उसकी वृत्ति हिंसादिसे रहित २८ मूलगुणयुक्त और शरीरके संस्कारसे रहित होती है। इस प्रकार यथाजात मुनिलिंगको स्वीकारकर जब वह नव दीक्षित स्वभावसन्मुख हो आत्म-रमणताको प्राप्त होता है तब वह श्रावकधर्मके उत्कृष्ट विशुद्धिरूप परिणामोंका आलम्बन छोड़ सर्वप्रथम अप्रमत्त भावको प्राप्त होता है।

धन्य है यह आत्मस्वरूपमें स्थित परम वीतराग जिन मुद्रा! जिन्होंने ऐसी जगत्पूज्य वीतरागस्वरूप साक्षात् जिनमुद्राको प्राप्तकर पूर्ण जिनत्व प्राप्त किया है वे तो धन्य हैं ही। किन्तु जिन्होंने पूर्ण आत्मजागृति-का हेतुभूत परम पवित्र वीतरागस्वरूप जिनमुद्राका भी आलम्बन लिया वे भी धन्य हैं।

इसके बाद ऐसा ज्ञानी वीतरागी साधु अति अल्प कालमें (अन्तर्मुहूर्तमें) प्रमत्तसंयत होता है। इसका अन्तर्मुहूर्त काल है। किन्तु अप्रमत्तसंयतका काल इससे आधा है। प्रमत्तसंयत अवस्थामें इसके स्वाध्याय, धर्मोपदेश, आहारग्रहण, विहार आदि क्रियाएँ होती हैं। ऐसा नियम है कि प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक सामायिक संयम और छेदोपस्थापना संयम ये दो संयम होते हैं। वीतराग साधुके सदा काल अरि-मित्र, महल-स्मशान, कञ्चन-काँच तथा निन्दा करनेवाला-स्तुति करनेवाला इनमें सर्वकाल समभाव रहता है। पर्यायरूपसे काच और कञ्चनको वह अलग अलग जानता अवश्य है, परन्तु स्वभावदृष्टिकी प्रधानता होनेसे वह दोनोंको पुद्गल समझकर एकको श्रेष्ठ और दूसरेको तुच्छभावसे नहीं देखता। जगतके सब पदार्थोंको देखनेकी उसकी यही दृष्टि रहती है।

शरीर और पर्यायसम्बन्धी मूर्च्छा तो उसकी छूट ही गई है, इसलिये उसका शरीर संस्कारकी ओर अणुमात्र भी ध्यान नहीं जाता। संज्वलन कषायके सद्भावमें आहार, पीछी, कमण्डलु और स्वाध्यायोपयोगी १-२ शास्त्र मात्रके ग्रहणके भावका विरोध नहीं है, इसलिये एषणा और प्रतिष्ठापन समितिके अनुसार ही वह इनमें प्रवृत्ति करता है।

श्रावकोंको यथाविधि श्रावकधर्मका उपदेश देते हुए भी श्रावकोचित किसी भी क्रियाके करनेकी न तो वह प्रेरणा करता है और न उसमें किसी प्रकारकी रुचि दिखलाता है।

मोक्षमार्गमें पूज्यता चारित्रके आधार पर है। मुख्यतया पञ्च परमेष्ठी ही पूज्य हैं। चारित्रधारीकी विनय पदके अनुसार यथायोग्य उचित है, भले ही वह 'देशव्रती तिर्यञ्च ही हो।' पर चारित्रसे रहित देव भी वन्दनीय नहीं है, अतएव साधु देशभेद, समाजभेद और पन्थभेदसे सम्बन्ध रखनेवाली रूढिजन्य क्रियाओंकी अपेक्षा किये विना वीतरागभावकी अभिवृद्धिरूप स्वयं प्रवृत्ति करता है और तदनुरूप ही उपदेश करता है।

यह निश्चय मोक्षमार्गपूर्वक व्यवहार मोक्षमार्ग है। चरणानुयोगके ग्रन्थोंमें इसीका प्रतिपादन किया गया है। पण्डितप्रवर दौलतरामजीने छहढालाकी ६वीं ढालमें—

मुख्योपचार द्विभेद यों बडभागि रत्नत्रय धरैं।

इस वचन द्वारा जिस दो प्रकारके रत्नत्रयका सूचन किया है उसमेंसे मुख्य रत्नत्रय ही निश्चयधर्म है, क्योंकि वह स्वभावके आश्रयसे उत्पन्न हुई आत्माकी स्वभावपर्याय है तथा उपचाररत्नत्रय ही व्यवहारधर्म है, क्योंकि निश्चयधर्मके साथ गुणस्थान परिपाटीके

अनुसार जो देव, शास्त्र, गुरु, अहिंसादि अणुव्रत और महाव्रत आदिरूप शुभ विकल्प होता है जो कि रागपर्याय है उसको यहाँ व्यवहारधर्म कहा गया है।

परमात्मप्रकाशमें कहा है—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेइ।
कम्मक्खउ पुणु होइ ण वि अज्जउ संति भणेइ ॥६१॥

देव, शास्त्र और गुरुकी भक्तिसे पुण्य होता है। परन्तु इससे कर्मक्षय नहीं होता है ऐसा शान्ति जिन कहते हैं ॥६१॥

नयचक्रमें भी कहा है—

देवगुरुसत्थभत्तो गुणोवयारकिरियाहि संजुत्तो।
पूजादाणाइरदो उवजोगो सो सुहो तस्स ॥३११॥

अर्थ—जो आत्माका उपयोग देव, गुरु, शास्त्रकी भक्ति तथा गुण-उपचार क्रियासे युक्त और पूजा-दान आदिमें लीन है वह शुभ उपयोग है ॥३११॥

इससे स्पष्ट है कि आगममें व्यवहारधर्मसे जीवकी आंशिक विशुद्धिके साथ होनेवाला रागांश ही लिया गया है। अतएव जब रागांशकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि वह एकमात्र बन्धमार्ग ही है। जहाँ कहीं आगममें उसे निर्जराका हेतु लिखा भी है तो वह केवल उसके साथ होनेवाले आत्माके निश्चय रत्नत्रयस्वरूप शुद्ध परिणामका रागांशमें उपचार करके ही लिखा है। अतएव आगमके 'व्यवहारधर्म मोक्षका हेतु है' ऐसे वचनको पढ़कर उसका कथन मात्र उपचारसे जानना चाहिये, परमार्थसे नहीं। आगममें व्यवहार-निश्चयकी मुख्यतासे अनेक प्रकारके वचन उपलब्ध होते हैं सो शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ इनको समझकर ही वहाँ व्याख्यान करना चाहिये।

अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्य इति।

—परमात्मप्रकाश १, २ पृ० ८

अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थं व्याख्यानकाले सर्वत्र योजनीयं।

—पञ्चास्तिकाय गाथा १ जयसेनीय टीका पृष्ठ ४

कई स्थानोंपर प्रतिशंका २ में मिली हुई शुद्धाशुद्ध पर्यायको शुभ कहा गया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह प्रतिशंकामें स्वीकार कर लिया गया है कि जितना रागांश है वह मात्र बन्धका कारण है, पर उसे निर्जराका हेतु सिद्ध करना इष्ट है, इसलिये पूरे परिणामको शुभ कहकर ऐसा अर्थ फलित करनेकी चेष्टा की गई है सो यह कथनकी चतुराई मात्र ही है।

दसवें गुणस्थानमें रागभाव है यह आगमसे ही स्पष्ट है और वह बन्धका ही कारण है, परन्तु सातवें गुणस्थानसे लेकर ऐसा रागांश अबुद्धिपूर्वक होता है, इसलिये वहाँ शुद्धोपयोगकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं आती।

प्रतिशंकामें एक मत यह प्रगट किया गया है कि यदि व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक नहीं माना जाता है तो श्रावक-मुनिकी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। सो मेरी नम्र सम्मतिमें ऐसा भय करनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि जब यह आत्मा शुद्धोपयोगसे च्युत होकर शुभोपयोगमें आता है तब उसके उस

पदके अनुरूप वाह्य क्रियाएँ भी होती हैं। इतना अवश्य है कि श्रावकके गुणस्थानके अनुरूप शुद्ध परिणतिके साथ शुभोपयोगकी मुख्यता होती है और साधुके शुद्धोपयोगकी मुख्यता और शुभोपयोगकी गौणता होती है। शुभोपयोग या बाह्य क्रियाएँ तभी आत्मधर्ममें बाधक हैं जब यह जीव इनसे निश्चयधर्मकी प्राप्ति मानता है, किन्तु आगमका अभिप्राय यह है कि मोक्षमार्गमें साधक आत्मा सदाकाल स्वभावका ही आश्रय लेनेका उद्यम करता है। परन्तु उपयोगकी अस्थिरताके कारण उसके आत्मानुभूतिस्वरूप ध्यानसे च्युत होनेपर उस समय उसकी सहज प्रवृत्ति शुभोपयोगमें होती है और शुभोपयोगके साथ बाह्य क्रियाएँ भी होती हैं। शुभोपयोग संसारका कारण है और शुद्धोपयोग मोक्षका कारण है यह इससे स्पष्ट है कि शुभोपयोगके होनेपर कर्मबन्धकी स्थिति-अनुभागमें वृद्धि हो जाती है और शुद्धोपयोगके होनेपर उसकी स्थिति-अनुभागमें हानि हो जाती है। श्री समयसारजीमें जो व्यवहारको प्रतिषिद्ध और निश्चयको प्रतिषेधक कहा है वह इसी अभिप्रायसे कहा है। यथा—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

अर्थ—इस प्रकार व्यवहारनय निश्चयके द्वारा निषिद्ध जानो। परन्तु निश्चयनयका आश्रय लेनेवाले मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥२७२॥

अतएव जो मोक्षमार्गपर आरूढ़ होना चाहता है उसे मुख्यतासे स्वभावका आश्रय लेनेका ही उपदेश होना चाहिए, क्योंकि वह आत्माका कभी भी न छूटनेवाला स्वभावधर्म है तथा आत्मामें जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह स्वभावके आश्रय लेनेसे ही होती है, व्यवहारका आश्रय लेनेसे नहीं। प्रत्युत स्थिति यह है कि ज्यों ही साधक आत्मा स्वभावके स्थानमें शुभ और तदनुरूप क्रियाओंको निश्चयसे उपादेय मानकर उससे मोक्षप्राप्ति होती है ऐसी श्रद्धा करता है त्यों ही वह सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतसे च्युत हो जाता है। व्यवहार धर्म गुणस्थान परिपाटीसे होकर भी उत्तरोत्तर गुणस्थानोंमें छूटता जाता है और स्वभावके आश्रयसे उत्पन्न हुई विशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती हुई अन्तमें पूर्णताको प्राप्त हो जाती है, इसलिये जो छूटने योग्य है उसका मुख्यतासे उपदेश देना न्याय्य न होकर स्वभावका आश्रय लेकर मुख्यतासे उपदेश देना ही जिन-मार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

प्रतिशंका २ में अनेकान्तकी पुष्टिके प्रसंगसे 'निरपेक्षाः नयाः मिथ्या' यह वचन उद्धृत किया गया है पर यह वचन वस्तुसिद्धिके प्रसंगमें आया है और प्रकृतमें मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि की जा रही है। अतएव प्रकृतमें उसका उपयोग करना इष्ट नहीं है, यहाँ गुण-पर्यायात्मक वस्तुका निषेध नहीं किया जा रहा है। यहाँ तो यह बतलाना मात्र प्रयोजन है कि अपनी दृष्टिमें किसे मुख्यकर यह संसारी जीव मोक्षमार्गका अधिकारी बन सकता है। अतएव यह उपदेश दिया जाता है कि पर्याय बुद्धि तो तू अनादि कालसे बनाए चला आ रहा है; एक बार पुण्य-पापके, निमित्त के और गुण-पर्यायके विकल्पको छोड़कर स्वभावका आश्रय लेनेका प्रयत्न तो कर। अब विचार करके देखो कि ऐसे उपदेशमें एकान्त कहाँ हुआ। क्या इसमें पुण्य-पापके सद्भावको या गुण-पर्यायके सद्भावको अस्वीकार किया गया है या उनका विकल्प दूर करानेका प्रयत्न है। इसी कारण आचार्य कुन्दकुन्द समयसारमें विद्वानोंको शिक्षा देते हुए कहते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

अर्थ—विद्वान् लोग निश्चयनयके विषयको छोड़कर व्यवहारके द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु परमार्थका आश्रय करनेवाले मुनियोंके ही कर्मोंका क्षय आगममें कहा गया है।

अतएव उक्त प्रकारके भयको छोड़कर सम्यक्त्वरत्नकी प्राप्तिके अभिप्रायसे श्री समयसारजी आदि परमागमका आश्रय लेकर जो उपदेश दिया जाता है उनका विपर्यास न करके आशयको समझनेका विद्वद्वर्ग उपक्रम करेगा ऐसा विश्वास है।

प्रतिशंका २ में वर्तमानको ध्यानमें रखकर और भी अनेक अप्रासंगिक अभिप्राय व्यक्त किये गये हैं जो केवल भ्रमपर आधारित हैं, सो इस सम्बन्धमें इतना ही निवेदन करना पर्याप्त है कि एक साधर्मी भाईका गलत धारणाके आधारपर ऐसे भ्रमपूर्ण विचार बनाना यह मोक्षमार्ग तो है ही नहीं, पुण्यार्जनका भी मार्ग नहीं है।

यद्यपि प्रतिशंकारूपसे यह लेख विशिष्ट अभिप्रायसे लिखा गया है तथापि उसके स्थानमें जिनागमके अनुसार निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गकी पद्धति क्या है मात्र इतना विचारकर इस लेखद्वारा समाधान करनेका प्रयत्न किया गया है।

यह सुनिश्चित सत्य है कि जो जीवनमें व्यवहारको गौण कर निश्चयसे शुद्ध स्वरूप स्वभावका आश्रय लेगा उसीको भेदाभेदरूप व्यवहार-निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और वही अन्तमें मोक्षका भागी होगा। इसीलिये स्वभावका आश्रय लेना उपादेय है ऐसा यहाँ निष्कर्षरूपमें समझना चाहिये। इसी भावको व्यक्त करते हुए भगवान् कुन्दकुन्द समयप्राभृतमें कहते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८३॥

अर्थ—शुद्ध आत्माका अनुभव करता हुआ जीव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्माको अनुभव करता हुआ जीव अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है ॥१८३॥

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका १६

निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप क्या है? व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नमें निम्न विषय चर्चनीय है—

(क) निश्चयनयका स्वरूप क्या है?

(ख) व्यवहारनयका स्वरूप क्या है ?

(ग) व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या ?

(घ) व्यवहारनयका विषय यदि असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है ?

आपके प्रथम व द्वितीय उत्तरमें (ग) व (घ) खण्डके विषयमें तो कुछ भी नहीं लिखा गया। निश्चय नय व व्यवहारनयका स्वरूप भी स्पष्ट नहीं लिखा। अप्रासंगिक बातोंको तथा जिसमें आर्षग्रन्थविरुद्ध भी कथन है ऐसी पुस्तकके वाक्योंको लिखकर व्यर्थ कलेवर बढ़ा दिया गया है। यदि ऐसा न किया जाता तो सुन्दर होता।

'प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है' पद दो शब्दोंसे बना है—(१) अनेक (२) अन्त। 'अनेक' का अर्थ है 'एकसे अधिक' और 'अन्त' का अर्थ 'धर्म' है। इस प्रकार 'अनेकान्तात्मक वस्तु' का अर्थ 'अनेक धर्मवाली वस्तु' यह हो जाता है। परन्तु वे अनेक धर्म अर्थात् दो धर्म परस्पर विरुद्ध होने चाहिये। श्री अमृतचन्द्र आचार्यने समयसार स्याद्वादाधिकारमें कहा है—

परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशन अनेकान्त है। यह अनेकान्त परमागमका प्राण है तथा सिद्धान्तपद्धतिका जीवन है। इसी बातको श्री अमृतचन्द्राचार्य स्पष्ट करते हैं—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

—पुरु० सि०

अर्थ—जन्मान्ध पुरुषोंके हस्तिविधानको दूर करनेवाले, समस्त नयोंसे प्रकाशित विरोधको मथन करनेवाले और परमागमके जीवनभूत अनेकान्तको नमस्कार करता हूँ।

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः ॥२॥

—पंचास्तिकाय टीका मंगलाचरण

अर्थ—स्यात्कार जिसका जीवन है ऐसी जिनभगवान्‌की सिद्धान्तपद्धति, जो कि दुर्निवार नयके समूहके विरोधका नाश करनेवाली है, जयवन्त हो।

एक वस्तुमें विवक्षाभेदसे दो प्रतिपक्ष धर्म पाये जाते हैं, अतः उन दोनों धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्मकी विवक्षाको ग्रहण करनेवाला पृथक्-पृथक् एक-एक नय है, जिनका विषय परस्पर विरुद्ध है। कहा भी है—

लोयाणं ववहारं धम्म-विवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसंभूदो ॥२६३॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—जो वस्तुके एक धर्मकी मुख्यतासे लोक व्यवहारको साधता है वह नय है। नय श्रुतज्ञानका भेद है तथा लिंगसे उत्पन्न होता है।

णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ॥२६४॥

—स्वामी कार्तिकेय

अर्थ—यद्यपि पदार्थ नाना धर्मोंसे युक्त है तथापि नय एक धर्मको कहता है, क्योंकि उस समय उस धर्मकी विवक्षा है, शेष धर्मोंकी विवक्षा नहीं है। अथवा नयका लक्षण विकलादेश है। कोई भी एक नय वस्तुके पूर्ण स्वरूपको नहीं कह सकता। नय तो एकधर्ममुखेन वस्तुका कथन करता है। अत वस्तुःस्वरूप उतना ही नहीं है जितना कि निश्चयनय या व्यवहारनय कथन करता है। वस्तुस्वरूप तो दोनों नयोंके कथन मिलानेपर पूर्ण होता है।

प्रतिपक्षी दो धर्मोंको विवक्षा भेदसे ग्रहण करनेवाले दो मूल नय हैं जिनको द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय कहते हैं। पंचास्तिकायकी गाथा चारकी टीकामें श्री अमृतचन्द्रसूरिने भी लिखा है— 'भगवानने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। भगवान्‌का उपदेश एक नय अधीन नहीं है, किन्तु दोनों नयोंके अधीन होता है। द्रव्यार्थिकनय निश्चयनय है और पर्यायार्थिकनय व्यवहारनय है, क्योंकि समयसार गाथा ५६ की टीकामें 'द्रव्याश्रित निश्चयनय और पर्यायाश्रित व्यवहारनय' कहा है। दोनों नयोंका विषय परस्पर प्रतिपक्षी है इस बातको श्री कुंदकुंद भगवान् भी समयसारमें कहते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि व्ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

अर्थ—जीवमें कर्म बद्ध है तथा स्पर्शता है ऐसा व्यवहारनयका वचन है। जीवमें कर्म न बँधता है और न स्पर्शता है ऐसा निश्चयनयका वचन है।

इसी बातको श्री अमृतचन्द्र सूरि कलश ७० से ८९ तक २० कलशों द्वारा दो परस्पर प्रतिपक्ष धर्मोंको कहकर यह कहते हैं कि एक नयका विषय एक धर्म है और दूसरे नयका विषय दूसरा धर्म है। उन कलशोंमें कथन किये गये प्रतिपक्ष धर्म इस प्रकार हैं—(१) बद्ध-अबद्ध (२) मूढ-अमूढ (३) रागी-अरागी (४) द्वेषी-अद्वेषी (५) कर्ता-अकर्ता (६) भोक्ता-अभोक्ता (७) जीव-जीव नहीं (८) सूक्ष्म-सूक्ष्म नहीं (९) हेतु-हेतु नहीं (१०) कार्य-कार्य नहीं (११) भाव-अभाव (१२) एक-अनेक (१३) शान्त-अशान्त (१४) नित्य-अनित्य (१५) वाच्य-अवाच्य (१६) नाना-अनाना (१७) चेत्य-अचेत्य (१८) दृश्य-अदृश्य (१९) वेद्य-अवेद्य (२०) भात-अभात। अर्थात् 'जीव बद्ध है' यह व्यवहार नय (पर्यायार्थिक नय) का पक्ष है। 'जीव अबद्ध है' यह निश्चय नयका पक्ष है। इसी प्रकार अन्य विकल्पोंके विषयमें भी जानना चाहिये।

जब दोनों नयोंमेंसे प्रत्येक नयका विषय, वस्तुके दोनों परस्पर प्रतिपक्ष धर्मोंमेंसे, एक-एक धर्म है तो उन दोनों नयोंमें किसी एक नयको यथार्थ और दूसरेको अयथार्थ कहना कैसे सम्भव हो सकता है, क्योंकि जो नय परपक्षका निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्षके अस्तित्वका निश्चय करनेमें व्यापार करते हैं उनमें समीचीनता पाई जाती है। कहा भी है—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥१।२२८॥

—सन्मतितर्क

अर्थ—ये सभी नय अपने-अपने विषयके कथन करनेमें समीचीन हैं और दूसरे नयोंके निराकरण करनेमें मूढ़ हैं। अनेकान्तरूप समयके ज्ञाता पुरुष (सम्यग्दृष्टि) यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है इस प्रकारका विभाग नहीं करते। अर्थात्—दोनों नयोंके विषय दोनों धर्म एक वस्तुके होनेसे दोनों ही नय अपनी-अपनी विवक्षासे सत्य हैं।

अनेकान्तरूप समयके ज्ञाता अर्थात् सम्यग्दृष्टि नयोंके विषयोंको जानते तो हैं, किन्तु किसी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते। श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने समयसारमें कहा भी है—

दोण्ण वि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिवद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मासे प्रतिवद्ध है अर्थात् आत्माको जानता है वह दोनों ही नयोंके कथनको केवल जानता है परन्तु नयपक्षको कुछ भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह नयोंके पक्षसे रहित है। अर्थात् किसी एक नयका पक्ष (आग्रह) नहीं करना चाहिये।

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यदि कोई निश्चयनयके एकान्तका पक्ष ग्रहण करके व्यवहार नयको सर्वथा झूठ कहता है तो वह आगमविरुद्ध है। श्री वीरसेन स्वामी जयधवल पु० १ पृ० ८ में निम्न प्रकार कहते हैं—

ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो (ववहाराणुसारि) सिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं।

अर्थ—यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहारका अनुसरण करनेवाले शिष्योंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहार नय बहुत जीवोंका अनुग्रह करनेवाला है उसीका आश्रय करना चाहिये ऐसा मनमें निश्चय करके श्री गौतम स्थविरने चौबीस अनुयोगद्वारोंके आदिमें मंगल किया है।

व्यवहारनयसे वस्तुस्वरूपका ज्ञान होता है, अतएव वह व्यवहारनय पूज्य है। इसी बातको श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं—

मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यतः सन्तः।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्या ॥११॥

—पद्मनन्दिपंचविंशति

अर्थ—चूंकि सज्जन मनुष्य व्यवहारनयके आश्रयसे ही मुख्य और उपचारभूत कथनको जानकर शुद्ध स्वरूपका आश्रय लेते हैं, अतएव वह व्यवहार पूज्य है।

व्यवहारनयका विषय पर्याय है। पर्यायोंका समूह द्रव्य है अथवा गुण और पर्यायवाला द्रव्य है 'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्।' (त० सू०, अ० ५, सूत्र ३८) इससे स्पष्ट है कि जिस समय तक पर्यायका भी यथार्थ श्रद्धान नहीं होगा उस समय तक द्रव्यका भी यथार्थ श्रद्धान नहीं हो सकता है। द्रव्यके आगम अनुकूल श्रद्धान करनेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और सम्यग्दर्शनविनय होती है।

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणओ हवदि एसो ॥१८९॥

—मूलाचार अ० ५

अर्थ—जो अर्थपर्याय जिनवरने आगममें कहीं हैं उनकी उसी प्रकारसे रुचि करनेवाले पुरुषके दर्शन-विनय होती है। अर्थात् (व्यवहारनयके विषयभूत) उन पर्यायोंके यथार्थ स्वरूपपर भव्य जीव जिस परिणामसे श्रद्धा करता है उस परिणामको दर्शनविनय (सम्यग्दर्शन) कहते हैं।

जो व्यवहारनयके विना मात्र निश्चयके आश्रयसे मोक्ष चाहते हैं वे मूढ़ हैं, क्योंकि बीज विना वृक्षफल भोगना चाहते हैं अथवा वे आलसी हैं।

व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति ॥

—प्राचीन श्लोक

सारांश—जो व्यवहारसे रहित होता हुआ निश्चयको उत्पन्न करनेकी इच्छा करता है वह मूढ़ है, जैसे जो बीज आदि (क्षेत्र, खेत, जल आदि)के विना धान्य या वृक्ष आदिके फल उत्पन्न करना चाहता है वह मूढ़ है।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण-चरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥५०॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थ—जो निश्चय (व्यवहारसापेक्ष निश्चय) को तो जानता नहीं और (एकान्त) निश्चयको ग्रहण करता है वह बाल है अर्थात् मूढ़ है। बाह्य चरण-करणमें आलसी होकर करण-चरणको नाश करता है।

जिस प्रकार निश्चयनयकी अपेक्षा व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है उसी प्रकार व्यवहारनयको अपेक्षा निश्चयनयको अभूतार्थ कहा है।

दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥१०॥

—सन्मतितर्क

अर्थ—पर्यायार्थिक (व्यवहार) नयकी अपेक्षा द्रव्यार्थिक (निश्चय) नयके द्वारा कहा जानेवाला विषय अवस्तु है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक (निश्चय) नयकी अपेक्षा पर्यायार्थिक (व्यवहार) नयके द्वारा कहा जानेवाला विषय अवस्तु है।

कुछका ऐसा विश्वास है कि मात्र निश्चयनय ही आत्मानुभूतिका कारण है, उनका ऐसा विचार उचित नहीं है, क्योंकि व्यवहारनिरपेक्ष निश्चयनय एकान्त मिथ्यात्व है। अथवा निश्चयनयका पक्ष भी तो एक विकल्प है और विकल्प अवस्थामें स्वानुभूति नहीं हो सकती। इसी बातको श्री पं० फूलचन्द्रजीने स्वयं इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

यद्यपि निश्चयनय द्रव्य है, गुण है इत्यादि विकल्पोंका निषेध करता है, इसलिये उसे परमार्थ सत् बतलाया है, किन्तु स्वानुभूतिमें 'न तथा' यह विकल्प भी नहीं होता। अतः निश्चयनय आत्मानुभूतिका कारण नहीं है ऐसा समझना चाहिये।

—पंचाध्यायी पृ० १२७ विशेषार्थ (वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित)

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मात्र निश्चयनयके आश्रयसे भी मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती।

निश्चयनय और व्यवहारनयका विषय परस्पर प्रतिपक्ष सहित है, अतः इनका लक्षण भी एक दूसरेके विरुद्ध होना चाहिए। इसीको दृष्टिमें रखते हुए इनके लक्षण आर्षग्रन्थोंमें इसी प्रकार कहे गये है। श्री देवसेन आचार्य लिखते हैं—

पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः।—आलापपद्धति

अर्थ—अध्यात्मभाषाकी अपेक्षा नय कहते हैं। मूल नय दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। उनमेंसे अभेद विषयवाला निश्चयनय है। और भेद विषयवाला व्यवहारनय है।

व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्याय इनका एक ही अर्थ है अर्थात् ये पर्यायवाचक शब्द हैं। इसी बातको श्री नेमचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने गो० जी० गाथा ४६२ में कहा है—

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्टो।

अर्थात्—व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय इन शब्दोंका एक अर्थ है।

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पर विकल्प, भेद तथा पर्याय विवक्षासे कथन हो वह सब व्यवहारनय कथन है। इसके विपरीत जहाँ निर्विकल्प अभेद तथा द्रव्य विवक्षासे कथन हो वह निश्चयनयका कथन है।

श्री समयसार ग्रन्थमें भी व्यवहारनयको भेदाश्रित पर्यायाश्रित तथा पराश्रित कहा है और निश्चयनयको अभेदाश्रित, द्रव्याश्रित और स्वाश्रित कहा है—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

अर्थ—ज्ञानीके चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीन भाव व्यवहारनय द्वारा कहे जाते हैं। निश्चयनयसे ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, दर्शन भी नहीं। ज्ञानी तो एक ज्ञायक अभेदस्वरूप है।

यद्यपि ज्ञान, दर्शन, चारित्रको भेद विवक्षाके कारण व्यवहारनयके द्वारा जीवके कहे हैं तथापि ये सत्यार्थ हैं वास्तविक हैं।

'व्यवहारनयः पर्यायाश्रितत्वात्' 'निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्।'

—समयसार गाथा ५६ टीका

अर्थात्—व्यवहारनय पर्यायाश्रित और निश्चयनय द्रव्याश्रित है।

जीवकी शुद्ध तथा अशुद्ध दशा वास्तविक है, सत्यार्थ है तथापि जीवके पर्याय होनेके कारण व्यवहारनयका विषय कहा गया है। निश्चयनयका विषय त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव है और इस दृष्टिमें कादाचित्क पर्याय अवस्तु है।

आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो व्यवहारनयः।

—समयसार गा० २७२ की टीका

अर्थ—निश्चयनय स्वके आश्रित है, और व्यवहारनय परके आश्रित है।

यद्यपि ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध, आधार-आधेयसम्बन्ध, निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध, प्रकाश्य-प्रकाशक आदि सम्बन्ध पराश्रित होनेसे व्यवहारनयका विषय है तथापि ये सर्व सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा वास्तविक हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिसे निश्चय व व्यवहारनयके लक्षणोंपर प्रकाश डाला गया और यह भी सिद्ध कर दिया गया है कि व्यवहारनय सत्य है। यहाँतक मूल प्रश्न समाप्त हो गया।

आपके वक्तव्योंमें सर्वत्र पुनः पुनः इसी बातपर जोर दिया गया कि अमुक कथन मात्र व्यवहारनयसे

है, निश्चयनयसे नहीं है। व्यवहारनयके पूर्व 'मात्र' शब्द लगाया गया है और कहीं कहींपर व्यवहारनयके आगे कोष्टकमें 'उपचरित' शब्द भी दिया गया है। इस सबसे यही प्रगट किया जाता है कि एकमात्र निश्चयनय ही सर्वथा तथा एकान्त सत्य है, प्रामाणिक एवं मान्य है। तथा व्यवहारनय सर्वथा असत्य, अप्रामाणिक और अमान्य है। यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि ऐसी मान्यता ही निश्चय एकान्तरूप मिथ्यात्व अथवा निश्चयाभास है। व्यवहारसे निरपेक्ष निश्चयनय मिथ्या है। पर सापेक्ष नय सुनय है। भगवान्‌का उपदेश ही दो नयके आधीन है। यदि व्यवहारनयका कथन असत्य है तो यह प्रश्न होता है कि क्या सर्वज्ञने व्यवहार सम्यक्त्व व व्यवहारमोक्षमार्गका असत्य उपदेश देकर जीवोंका अकल्याण करना चाहा है।

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी है। निश्चयकी अपेक्षा द्रव्य ध्रुव ही है। उत्पाद-व्ययस्वरूप नहीं है। व्यवहारकी अपेक्षा उत्पाद-व्ययस्वरूप ही है, ध्रुव नहीं है। यदि निश्चयनय ही सत्य व प्रामाणिक है और व्यवहारनय असत्य व अप्रामाणिक है, तो मात्र ध्रुव ही सत्य व प्रामाणिक रह जायगा और उत्पाद-व्यय असत्य व अप्रामाणिक हो जायेंगे। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ध्रुवता अप्रणाशी और कूटस्थ है जिसके कारण द्रव्य भी अप्रणाशी व कूटस्थ हो जायगा। कूटस्थ हो जानेसे द्रव्य अर्थक्रियाकारी नहीं रहेगा। इसलिये वह खरविषाणवत् असत् हो जायगा। निश्चयनयके एकान्तसे द्रव्यकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि सत्‌का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहा गया है।

जैन आगममें द्रव्यस्वभाव परिणामी बतलाया गया है। उत्पाद व्ययके बिना परिणमन नहीं हो सकता है। इस प्रकार जैन आगममें ध्रुवताके समान उत्पाद-व्ययको भी सत्य माना है, अन्यथा सांख्यमतका प्रसंग आजायेगा। अतः मात्र निश्चयनयके कथनको ही सत्य व प्रामाणिक स्वीकार करना और व्यवहारनयके कथनको 'मात्र व्यवहारसे' या 'उपचरितसे' आदि शब्द कहकर स्वीकार न करना जैन आगमके विरुद्ध है। अन्य मतावलम्बियोंका कथन भी किसी-न-किसी एक नयकी अपेक्षा सत्य होनेपर भी प्रतिपक्षी नयसे निरपेक्ष तथा सर्वथा वैसा ही माना जानेसे मिथ्या है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्यने समयसार गाथा ५६ की टीकामें निश्चयनयको द्रव्याश्रित और व्यवहारनयको पर्यायाश्रित कहा है। बन्ध व मोक्ष पर्याय है। निश्चयनयकी अपेक्षासे न बन्ध है और न मोक्ष है। यदि निश्चयनयसे बन्ध माना जाये तो सदा बन्ध ही रहेगा, कभी मोक्ष नहीं हो सकेगा। यदि निश्चयनयसे मोक्ष ही माना जाये तो वह भी घटित नहीं हो सकता है, क्योंकि मोच (मुक्त होना-छूटना) बन्धपूर्वक ही होता है। बंधा ही नहीं, उसके लिये छूटना कैसे कहा जा सकता है। मोक्ष 'मुञ्च' धातुसे बना है, जिसका अर्थ 'छूटना' है। —बृ० द्र० सं० टीका।

जब निश्चयनय (जिसको ही सत्य व प्रामाणिक कहा जा रहा है) से बन्ध व मोक्ष ही नहीं है, तब जिनशासनमें जो मोक्षमार्गका उपदेश दिया गया है, वह सब व्यर्थ हो जायगा। दूसरे प्रत्यक्षसे विरोध आ जायगा, क्योंकि संसार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। अतः यह ही सिद्धान्त सम्यक् है कि निश्चयनय अर्थात् स्वभावकी अपेक्षा न बन्ध है और न मोक्ष है, किन्तु व्यवहारनय (पर्याय) की अपेक्षा बन्ध भी है और मोक्ष भी है। ये दोनों ही कथन सत्य व प्रामाणिक हैं। ऐसा नहीं, कोई नयका कथन सत्य व प्रामाणिक हो और प्रतिपक्षी नयका कथन असत्य व अप्रामाणिक हो।

प्रत्येक नयका विषय अपनी दृष्टिसे सत्य है, किन्तु व्यवहारनयकी अपेक्षा सत्य नहीं है, क्योंकि दोनोंके विषय परस्पर विरोधी हैं।

जो एक नयका विषय है वही विषय दूसरे नयका नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाय तो दोनों नयोंमें कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। दोनोंमें अन्तर नहीं रहनेसे नयोंका विभाजन व्यर्थ हो जावगा तथा सुव्यवस्था नहीं रहेगी। सर्व विप्लव हो जायेगा। जो व्यवहारनयका विषय है उसका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे वह कथन नहीं हो सकता। अतः आर्ष प्रमाणोंको यह कहकर टाल देना कि 'विवक्षित कथन व्यवहारनयसे है, निश्चयनयसे नहीं' आगमसंगत नहीं है, क्योंकि जो व्यवहारका विषय है उसका निश्चयनयसे भी कथन होनेका प्रश्न नहीं हो सकता है।

निश्चयनयके एकान्तका कदाग्रह होनेसे तथा व्यवहारनयको असत्यार्थ माननेसे जो दुष्परिणाम होंगे उनमेंसे कुछ सूरिजीने श्री समयसार गा० ४६ की टीकामें स्पष्ट किये हैं—

तमन्तरेण (व्यवहारमन्तरेण) तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।

अर्थ—यदि व्यवहारनयका कथन न किया जाय तो निश्चयनयसे शरीरसे जीवको भिन्न बताया जाने पर जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है, उसी प्रकार त्रसस्थावर जीवोंको निशंकतया मसल देनेमें भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्धका ही अभाव सिद्ध होगा। तथा परमार्थ द्वारा जीव राग, द्वेष और मोहसे भिन्न बताया जानेपर, 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मोंसे बँधता है, उसे छुड़ाना है' इस प्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायगा और इससे मोक्षका ही अभाव हो जायगा।

आपके द्वितीय वक्तव्यमें निम्न वाक्योंको पढ़कर बहुत आश्चर्य हुआ। यद्यपि यह कथन प्रसंगसे बाहर है और कोई प्रमाण भी नहीं दिया गया है, तथापि मिथ्या मान्यताको दूर करनेके लिये आपके निम्न वाक्योंपर आर्षप्रमाणसहित विचार किया जाता है।

(अ) आपके द्वारा हमारे इन वाक्योंपर आपत्ति उठाई गई है—'इस जीवको कर्म परवश बनाये हुए हैं, उसीके कारण यह परतन्त्र हो रहा है।' यह वाक्य श्री विद्यानन्द स्वामीके शब्दोंका अनुवादमात्र है। श्री विद्यानन्द आचार्य निर्ग्रन्थ, सत्य महाव्रतधारी तथा राग-द्वेषसे रहित थे, साथ-साथ वे महान् विद्वान् भी थे, जिन्होंने अष्टसहस्री आदि महान् ग्रन्थों की रचना की है। अष्टसहस्रीके विषयमें उसीके प्रथम पृष्ठपर निम्न श्लोक है—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥

अर्थ—यह अष्टसहस्री सुनना चाहिये, अन्य हजारों ग्रन्थोंके सुननेसे क्या ? कि जिसके सुननेसे स्वसमय और परसमयका सत्य स्वरूप जाना जाता है।

उन्हीं निर्ग्रन्थ महानाचार्य विद्यानन्दस्वामीके मूल वाक्य पुनः उपस्थित किये जाते हैं, जिनके वाक्योंपर दिगम्बर जैनमात्रको श्रद्धा होनी चाहिये:—

जीवं परतंत्रीकुर्वन्ति स परतंत्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि। तानि द्विप्रकाराणि—द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च। तत्र द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ मूलप्रकृतिभेदात्। तथाष्टचत्वारिंशदुत्तरशतम्, उत्तरप्रकृतिविकल्पात्। तथोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदादनेकप्रकाराणि। तानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि, जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवत्। क्रोधादिभि-

व्यभिचार इति चेत्, न, तेषां जीवपरिणामानां पारतंत्र्यस्वरूपत्वात्। पारतंत्र्यं हि जीवस्य क्रोधादि-परिणामो न पुनः पारतंत्र्यनिमित्तम्।—आप्तपरीक्षा कारिका ११४-११५ टीका

अर्थ—जो जीवको परतंत्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं। अथवा जीवके द्वारा मिथ्यादर्शनादि पणिामोंसे जो किये जाते हैं—उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं। वे दो प्रकारके हैं—१. द्रव्यकर्म और २. भावकर्म। उनमें द्रव्यकर्म मूल प्रकृतियोंके भेदसे ज्ञानावरण आदि आठ प्रकारका है तथा उत्तर प्रकृतियोंके भेदसे एक-सौ अड़तालीस प्रकारका है तथा उत्तरोत्तर प्रकृतियोंके भेदसे अनेक प्रकारका है और वे सब पुद्गलपरिणामात्मक हैं, क्योंकि वे जीवकी परतंत्रतामें कारण है, जैसे निगड (बेड़ी) आदि।

शंका—उपर्युक्त हेतु (जीवकी परतंत्रताका कारण) क्रोधादिके साथ व्यभिचारी है अर्थात् क्रोधादि परतंत्रताके कारण हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि क्रोधादि जीवके परिणाम है और इसलिये वे परतंत्रतारूप हैं—परतंत्रतामें कारण नहीं।

प्रकट है, जीवका क्रोधादि परिणाम स्वयं परतंत्रता है, परतंत्रताका कारण नहीं। अतः उक्त हेतु क्रोधादिके साथ व्यभिचारी नहीं है।

इसी प्रकार श्री अकलंकदेव भी जीवको परतंत्रताका मूल कारण कर्मको ही मानते हैं।

तदात्मनोऽस्वतंत्रीकरणे मूलकारणं। —तत्त्वार्थवार्तिक ५-२४

इन आर्ष वाक्योंके रहते हुए एकान्तसे यह मानना कि जीव, मात्र अपने अज्ञानभावके कारण ही परतंत्र हो रहा है उचित (युक्त) प्रतीत नहीं होता।

इतना ही नहीं श्री पं० फूलचन्द्रजी स्वयं कर्मोंके कारण जीवकी परतंत्रता स्वीकार करते हैं—

जीवकी प्रति समयकी परिणति स्वतंत्र न होकर पुद्गलनिमित्तक होती है और पुद्गलकी भी परिणति स्वतंत्र न होकर जीवके परिणामानुसार विविध प्रकारके कर्मरूपसे होती है। इसीका नाम परतंत्रता है। इस तरह जीव पुद्गलके आधीन है और पुद्गल जीवके आधीन।

—विशेषार्थ पंचाध्यायी पृ० १७२ वर्णी ग्रन्थमाला

श्री पं० फूलचन्द्रजी स्वयं निम्न शब्दों द्वारा जीवकी अज्ञान अवस्थाको कर्मजनित स्वीकार करते हैं—

संसारी जीव आठ कर्मोंसे बँधा हुआ है, इससे वह अपने स्वरूपको भूला हुआ है और परस्वरूपको अपना मान रहा है।

—विशेषार्थ, पंचाध्यायी पृ० ३३८ वर्णीग्रन्थमाला

अब श्री पं० फूलचन्द्रजी स्वयं देखें कि उनके द्वितीय वक्तव्यमें और उनके द्वारा लिखे गये आगमानुकूल विशेषार्थमें पूर्वापर विरोध आ रहा है।

यदि मात्र अज्ञानभावको ही परतन्त्र करनेवाला मान लिया जावे तो चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन होनेपर अज्ञानभावका नाश हो जानेसे १२वें गुणस्थानके शुरूमें अथवा हर प्रकारकी सम्पूर्ण अज्ञानता दूर हो जानेसे १३वें गुणस्थानके प्रथम समयमें ही जीव स्वतन्त्र हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि जिस समयतक चारों अघातिया कर्मोंका भी नाश नहीं हो जाता है उस समयतक जीव परतन्त्र ही है। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्टरूपसे कहते हैं—

ननु च ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणामेवानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणजीवस्वरूप-घातित्वात्पारतंत्र्यनिमित्तत्वासिद्धेरिति पक्षाव्यापको हेतुः वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत् इति चेत् ? न, तेषामपि जीवस्वरूपसिद्धत्वप्रतिबन्धित्वात्पारतंत्र्यनिमित्तत्वोपपत्तेः।

—आप्तपरीक्षा पृ० २४६ वीरसेवामंदिर

अर्थ—यहाँ शंकाकार कहता है जि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप जीवके स्वरूपघातक होनेसे परतन्त्रताके कारण हैं। नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार अघातिकर्म नहीं, क्योंकि वे जीवके स्वरूपघातक नहीं है; अतः उनके परतन्त्रताको कारणता असिद्ध है और इसीलिये हेतु पक्षाव्यापक है, जैसे वनस्पतिमें चैतन्य सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त किया गया स्वापहेतु ? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि नामादि अघातिकर्म भी जीवके स्वरूप-सिद्धपनेके प्रतिबन्धक है और इसीलिये उनके भी परतन्त्रताकी कारणता उत्पन्न है।

इसी बातको श्री अमृतचन्द्र सूरि पंचास्तिकाय गाथा २ की टीकामें जिनवाणीको नमस्कार करते हुए कहते हैं—

पारतंत्र्यनिवृत्तिलक्षणस्य निर्वाणस्य।

इसका तात्पर्य यह है कि निर्वाण होनेपर परतन्त्रतासे निवृत्ति होती है, उससे पूर्व नहीं।

आपके द्वितीय वक्तव्यमें यह लिखा है—'समयसार अध्यात्मको मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला आगमग्रन्थ है, शेष ग्रन्थ व्यवहारनयकी मुख्यतासे लिखे गये हैं।' इस सम्बन्धमें पंचास्तिकाय गाथा १२३ की टीका के—

एवमनया दिशा व्यवहारनयेन कर्मग्रन्थप्रतिपादितजीवगुणमार्गणास्थानादिप्रपञ्चितविचित्रविकल्प-रूपैः। ये वचन उद्धृत किये हैं। इस उल्लेखसे आपने बतलाया कि 'जिन शास्त्रोंमें जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान आदिरूप विविध भेदोंका कथन किया गया है, जिनमें कर्मग्रन्थ मुख्य हैं, वे व्यवहारनयको मुख्यतासे लिखे गये हैं।'

उपर्युक्त वाक्य स्पष्टतया इस प्रकारके अन्तरंग अभिप्रायको द्योतित करता है कि समस्त जैन वांङ्मय (शास्त्रों) में एकमात्र समयसार ही अध्यात्म ग्रन्थ होनेके कारण सत्यार्थ, प्रामाणिक तथा मान्य है और अन्य समस्त ग्रन्थ (चाहे वह स्वयं श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत भी क्यों न हों) व्यवहारनयकी मुख्यतासे होनेके कारण असत्य, अप्रामाणिक एवं अमान्य हैं, क्योंकि आपके द्वारा व्यवहारनयको कल्पनारोपित, उपचरित या असत्य ही घोषित किया गया है। वरना इस वाक्यको लिखनेकी आवश्यकता ही न थी। श्री समयसारमें भी स्थान-स्थानपर व्यवहारका कथन है, अतः वह भी अमान्य ही होंगे। इस अपेक्षासे तो यह भी लिखा जाना चाहिये था कि श्री समयसारके भी मात्र वही अंश ग्राह्य है जिनमें केवल निश्चयनयसे कथन है। यह ही तो एकान्त निश्चय मिथ्यावाद है। जो व्यक्ति किसी भी नयको, किसी भी अनुयोगको या जिनवाणीके किसी भी शब्दको नहीं मानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

—मूलाराधना पृ० १३८

साधारण व्यक्ति भी इस बातको जानता है कि जो जिस नयका विषय होगा, उसका कथन उस ही नयसे हो सकता है, अन्यसे नहीं, और परसापेक्ष प्रत्येक नयका कथन (चाहे वह निश्चय हो या व्यवहार)

सत्य, प्रामाणिक एवं मान्य ही है। आश्चर्य एवं महान् खेदकी बात है कि श्री समयसारके अतिरिक्त महान् ऋषि प्रणीत आर्षग्रन्थोंके प्रमाणोंकी उपर्युक्त वाक्य कहकर अवहेलना की जाती है और उनको अप्रामाणिक तथा अमान्य समझकर उनका उत्तर देनेकी भी आवश्यकता नहीं समझी जाती है। किन्तु शंकाओं या प्रतिशंकाओंका उत्तर देते हुए जहाँ अनुकूल समझा जाता है वहाँ इन्हीं व्यवहार आश्रित ग्रन्थोंका प्रमाण भी दे दिया जाता है। यह ही नहीं, बल्कि सर्व श्री विद्यानन्द, अकलंकदेव आदि महान् आचार्योंके प्रमाणोंकी अपेक्षा गृहस्थोंके द्वारा रचित भाषा-भजनोंको अधिक प्रामाणिक माना जाता है और उन भजनोंका प्रमाण देकर परम पूज्य महान् आचार्योंके आर्षग्रन्थोंका निराकरण (खण्डन) किया जाता है तथा उनके आधार पर सिद्धान्तका निर्माण किया जाता है। कैसी विचित्र परिस्थिति है ? क्या इस ही का नाम वीतराग चर्चा है ? उचित तो यही होता कि चर्चाके प्रारम्भमें ही यह स्पष्ट कर दिया जाता कि मात्र श्री समयसारके निश्चयाश्रित प्रकरण ही मान्य होंगे। अन्य समस्त ग्रन्थ व्यवहाराश्रित होनेसे मान्य न होंगे। किन्तु उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि सभी ऋषिप्रणीत शास्त्रोंमें प्रमाण तथा नयों द्वारा वस्तु-स्वरूपका ही प्रतिपादन किया गया है। अतः सब ही आर्षग्रन्थ प्रामाणिक एवं मान्य हैं।

धवल पु० १३ पृ० ३६ पर धवल ग्रन्थोंको शास्त्र कहा है और विशेषार्थमें श्री फूलचन्द्रने भी इस धवल ग्रन्थको अध्यात्मशास्त्र स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'अध्यात्म शास्त्रका अर्थ है आत्माकी विविध अवस्थाओं और उनके मुख्य निमित्तोंका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र।'

सभी आर्षग्रन्थोंमें भगवान्‌की वाणीसे आया हुआ द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभावका कथन है। इसीको श्री अमृतचन्द सूरिने इन शब्दों द्वारा कहा है—

इयं हि सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा।

—प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका

अर्थ—यही सर्व पदार्थोंके (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्योंके) द्रव्य, गुण और पर्यायोंके स्वभाव (स्वरूप) का प्रकाशन करनेवाली सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा बतलाई हुई व्यवस्था समीचीन सिद्ध होती है और एकान्त नियतिवाद आदिका पोषण करनेवाली दूसरी व्यवस्था समीचीन सिद्ध नहीं हो सकती।

श्री समयसार गाथा १५२ की श्री अमृतचन्द्र सूरिकृत टीकाको उदधृत करते हुए यह अभिप्राय सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है कि कदाचित् व्रत, नियम, शील, तप बिना भी मात्र ज्ञानसे मोक्ष हो सकती है। उक्त टीकामें शब्द 'बहिः' पद दे दिया जाता तो सम्भवतः यह भ्रम न होता। टीकाकारका आशय यह दिखलानेका है कि निर्विकल्प समाधिमें स्थित ज्ञानी बाह्य प्रवृत्तिरूप व्रत, नियम आदि न पालन करते हुए भी अंतरंगमें निवृत्तिरूप व्रत धारण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। श्री जयसेन आचार्यने भी यही आशय अपनी टीकामें स्पष्ट किया है:—

निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितानां मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणितं तिष्ठति। एवंभूतभेदज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापाराः परंपरया मुक्तिकारणभूतास्तेपि न संति।

अर्थ—निर्विकल्प तथा त्रिगुप्तिरूप समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेद-ज्ञान सहितवालोंके मोक्ष होती है—ऐसा विशेषरूपसे कहा गया है। इस प्रकारके भेदज्ञानके समय शुभरूप जो मन-वचन-कायका व्यापार है, जो परम्परासे मुक्तिके कारणभूत हैं वे भी नहीं होते हैं।

स्वर्गीय पं० श्री जयचन्दजीने भी अपने भावार्थमें सूरिजीकृत टीकाका यही आशय प्रगट किया है।

जहाँ ज्ञानको मोक्षमार्ग कहा है वहाँ ज्ञानपदमें श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तीनों गर्भित हैं, जैसा कि गाथा १५५ की टीकासे स्पष्ट है, अन्यथा गाथा १५५ से विरोध आजावेगा। श्री अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति—

परमार्थस्वरूप मोक्षका कारण दिखलाते हैं—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादिपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥ १५५॥—समयसार

अर्थ—जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान तो सम्यक्त्व है और उन जीवादि पदार्थोंका अधिगम ज्ञान तथा रागादिका त्याग चारित्र है, यही मोक्षका मार्ग है।

इस गाथासे स्पष्ट है कि श्री कुन्दकुन्द भगवानने मात्र ज्ञानको ही मोक्षका कारण नहीं कहा, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनोंको मोक्षमार्ग कहा है।

एकान्तेन ज्ञानमपि न बंधनिरोधकं, एकान्तेन क्रियापि न बन्धनिरोधिका इति सिद्धं उभाभ्यां मोक्षः। —समयसार पृ० ११८ टिप्पण, अहिंसामंदिर प्रकाशन

अर्थ—एकान्तसे ज्ञान भी बन्धका निरोधक नहीं है और एकान्तसे क्रिया भी बन्धको निरोधक नहीं है। ज्ञान और क्रिया दोनोंसे ही मोक्ष होता है।

इसीको श्री अकलंकदेवने कहा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः॥

—राजवार्तिक १, १।

अर्थ—क्रियारहित ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानीकी क्रिया व्यर्थ है। जंगलमें आग लग जानेपर अन्धेको मार्गका ज्ञान न होनेसे वह भागता हुआ भी जल जाता है और लंगड़ा मार्गको जानता हुआ भी न चलनेसे जल जाता है।

आपने लिखा है कि 'काललब्धि प्राप्त होनेपर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है' यहाँ पर 'काललब्धि' देशामर्षक है। अतः काललब्धिसे प्रयोजन अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव आदिकी प्राप्ति है। कहा भी है—

कालादिलब्धियुक्तः कालद्रव्यक्षेत्रभव-भावादिसामग्रीप्राप्तः।
—स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ० १५२, रायचन्द्र ग्रन्थमाला

अर्थ—कालादिलब्धियुक्तका अर्थ है—काल-द्रव्य-क्षेत्र-भव-भाव आदि सामग्रीको प्राप्त।

आपने लिखा है कि 'अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण कालके शेष रहनेपर सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेता है।' जहाँ कहीं भी ऐसा वाक्य आया हो उसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनन्त संसार काटकर अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल शेष रह जाता है यह सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्य है। जैसा कि श्री वीरसेन आचार्यने कहा भी है :—

एगो अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि कादूण सम्मत्तं गहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि, जहण्णेण अंतोमुहुत्तमेत्तो ।

—धवल पु० ४ पृ० ३३५

अर्थ—एक अनादि मिथ्यादृष्टि अपरीत संसारी (दीर्घ संसारी) जीव अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इस प्रकार इन तीनों ही करणोंको करके सम्यक्त्व ग्रहणके प्रथम समयमें ही सम्यक्त्व गुणके द्वारा पूर्ववर्ती अपरीत संसारीपना हटाकर व परीतसंसारी (निकट संसारी) हो करके अधिकसे अधिक पुद्गल परिवर्तनके आधे कालप्रमाण ही संसारमें ठहरता है और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक संसारमें ठहरता है।

एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो ।

—धवल पु० ५, पृ० ११, १४, १५, १६, १९

अर्थ—एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीवने अधःप्रवृत्तादि तीनों करण करके उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होनेके प्रथम समय अनन्त संसारको छिन्नकर अर्धपुद्गलपरिमाणमात्र कर दिया।

एक वेणुदण्डपर विचित्र चित्र बने हुए हैं, उनको प्रक्षाल अर्थात् धो डालनेपर वह वेणुदण्ड (बाँस) शुद्ध निर्मल हो जाता है इसी प्रकार इस जीवके अनन्त काल लम्बी भविष्य नाना प्रकारकी संसारी पर्याय पड़ी हुई हैं, किन्तु सम्यग्दर्शनके द्वारा उन भविष्य अनन्त पर्यायोंको धो देता है। इसी बातको श्री जयसेन आचार्य इन शब्दों द्वारा लिखते हैं—

यथा वेणुदण्डो विचित्रचित्रप्रक्षालने कृते शुद्धो भवति तथायं जीवोऽपि ।

—पंचास्तिकाय गाथा २० टीका

उपर्युक्त आगम प्रमाणोंसे तथा राजवार्तिक अ० १ सू० ३ से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यक्त्वोत्पत्तिका कोई नियत काल नहीं है। किन्तु जब कभी यह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव अपने ज्ञानको अन्य ज्ञेयोंसे हटाकर स्वोन्मुख होता है तब अन्य ज्ञेयोंकी तरह स्वका ज्ञान भी इसको हो जाता है। स्वका ज्ञान होना कठिन नहीं है, क्योंकि यह रात-दिन कहता रहता है कि 'मैंने यह कार्य किया, मैंने यह कार्य किया' इन वाक्योंमें 'मैं' शब्दका उच्चारण तो करता है, किन्तु 'मैं' की ओर लक्ष्य न रहकर कार्यकी ओर लक्ष्य रहता है। यदि यह अन्यकी ओरसे लक्ष्य हटाकर 'मैं' की ओर लक्ष्य ले जावे तो 'मैं' अर्थात् 'स्व'का बोध होना कठिन नहीं है, क्योंकि ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। यह ही बात परीक्षामुख प्रथम अध्यायमें इन सूत्रों द्वारा कही गई है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं। स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। अर्थस्येव तदुन्मुखतया। घटमहमात्मना वेद्मि। कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः। शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्। को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्, प्रदीपवत्।

—सूत्र १ व ६-१२

अर्थ—स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। जैसे पदार्थकी ओर उन्मुख होनेसे पदार्थका निश्चय होता है वैसे ही स्वकी ओर उन्मुख होनेसे स्वका निश्चय (निर्णय) होता है, 'मैं घटको

अपने द्वारा जानता हूँ' इसमें जिस प्रकार कर्म (घट)की प्रतीति होती है उसी प्रकार कर्ता (मैं), करण (ज्ञान) और क्रिया (जानना)की प्रतीति होती है। शब्दका उच्चारण किये विना भी जैसे पदार्थका अनुभव होता है वैसे ही स्वका भी अनुभव होता है। ऐसा कौन होगा जो ज्ञान करि प्रतिभासित अर्थको तो प्रत्यक्ष इष्ट करे और तिस ज्ञानको इष्ट न करे? अर्थात् इष्ट करे ही करे। जैसे दीपकके प्रत्यक्षता और प्रकाशता विना तिस करि भासे जे घटादिक पदार्थ तिनके प्रकाशता प्रत्यक्षता न वने, तैसे ही प्रमाणस्वरूप ज्ञानके भी जो प्रत्यक्षता न होय तो तिस करि प्रतिभास्या अर्थके भी अर्थात् प्रतिभास्या अर्थके भी प्रत्यक्षता न वने।

जिस प्रकार घट-पट आदिकी ओर उपयोग ले जाकर जाननेका कोई नियत काल नहीं है, उसी प्रकार स्वोन्मुख होकर स्वको जाननेका भी कोई नियत काल नहीं है, क्योंकि सर्व कार्योंका नियामक कोई नियत काल नहीं है, किन्तु वाह्य-आभ्यन्तर समर्थ कारणसामग्री कार्यकी नियामक है। यदि मात्र कालको ही सब कार्योंका कारण मान लिया जाय तो अन्य सर्व कारण सामग्रीका ही लोप हो जायगा। जैसा कि अकलंकदेवने कहा है—

यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात् वाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्व दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात्।

—तत्त्वार्थवार्तिक १।३

जो सम्यक्त्वोत्पत्तिके लिये मात्र काललब्धिकी प्रतीक्षा करते रहते हैं वे पुरुषार्थहीन पुरुष प्रमादी होकर अपने इस मनुष्यभवको ऐशोआराम (आनन्द-विनोद) में व्यर्थ खो देते हैं।

आगे आपने लिखा है 'श्रावकके उत्कृष्ट विशुद्धरूप परिणामोंका आलम्वन छोड़ सर्व प्रथम अप्रमत्त-भावको प्राप्त होता है।' करणानुयोगके विशेषज्ञको भलि-भाँति ज्ञात है कि सप्तम गुणस्थानमें प्रत्याख्यान कषायोदयका अभाव होनेसे श्रावकके पंचम गुणस्थानकी अपेक्षा अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवाले मुनिके परिणामों की विशुद्धता अनन्तगुणी है अर्थात् श्रावककी उत्कृष्ट विशुद्धता अप्रमत्तसंयतकी विशुद्धतामें लीन हो जाती है। अथवा श्रावकके उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंके द्वारा मुनिदीक्षाका कार्यक्रम होकर अप्रमत्तसंयतकी अनन्तगुणी विशुद्धता प्राप्त होती है। विशुद्धता छोड़ी नहीं जाती, किन्तु प्रति-प्रति गुणस्थान वढ़ती जाती है। जैसे पीपरकी ६३ वीं पुटवाली चरपराहट छोड़कर ६४ वीं पुटवाली चरपराई उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु ६३ वीं पुटवाली चरपराहट ही उत्कर्ष करके ६४ वीं पुटवाली चरपराहटरूप परिणमित हो जाती है।

आपने लिखा है—'अहिंसादि अणुव्रत और महाव्रत आदि शुभ विकल्प होता है, जोकि राग पर्याय है उसको यहाँ व्यवहारधर्म कहा गया है।' सो सामायिक-छेदोपस्थापना संयमकी व्याख्याके विरुद्ध ये वाक्य लिखे गये हैं जो शोभनीक नहीं है। व्रतोंका तथा सामायिक छेदोपस्थापनाका लक्षण इस प्रकार है—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।

—तत्त्वार्थसूत्र ७·१

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे निवृत्त होना व्रत है।

सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते।

—सर्वार्थसिद्धि ७-१

अर्थ—सब पापोंसे निवृत्त होनेरूप सामायिककी अपेक्षा एक व्रत है। वही व्रत छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है।

इस प्रकार पापोंसे निवृत्त होना ही व्रत है तथा सामायिक व छेदोपस्थापना संयम अथवा चारित्र है चारित्र तो मोक्षमार्ग तथा संवरका कारण है, जैसा कि मोक्षशास्त्रमें कहा गया है। फिर व्रतोंको रागभाव कहना कैसे आगमसंगत हो सकता है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

—तत्वार्थसूत्र १, १

अर्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका मार्ग हैं अर्थात् साधन है।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।

—त० सू० ९, २

अर्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रके द्वारा संवर होता है।

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रं ॥९, १८॥

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकारका चारित्र है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि व्रत विकल्प भी नहीं है और राग भी नहीं है, किन्तु हिंसादि पापोंके रागके त्यागरूप है। जिनको हिंसा आदि पापोंसे राग होता है वे ही यह कहकर कि हिंसा आदि पापोंसे निवृत्ति (त्याग) तो राग है, विकल्प है, आस्रव बन्धका कारण है। स्वयं व्रत धारण नहीं करते और चारित्रवान् पुरुषोंका आदर आदि भी नहीं करते। अथवा यह कह देते हैं कि हमारी क्रमबद्ध-पर्यायोंमें व्रत धारण करना पड़ा हुआ ही नहीं है, पर्याय आगे पीछे हो नहीं सकती, फिर हम पापोंको कैसे छोड़ें अथवा सर्वज्ञने हमारी व्रतधारणरूप पर्याय देखी ही नहीं तो हम पापोंको कैसे त्याग कर सकते हैं।

यदि व्रतोंको राग माना जायगा तो वे व्यवहारधर्म नहीं हो सकते, क्योंकि व्यवहारधर्म तो निश्चय-धर्मका साधन है। जैसा कि श्री अमृतचन्द सूरिने पंचास्तिकाय गाथा १६० व १६१ की टीकामें कहा है और बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीकामें यह कहा है कि जो निश्चय व व्यवहारको साध्य-साधनरूपसे स्वीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि है। अतः व्रत व व्यवहारधर्म रागांशरूप नहीं है। विशेष व्याख्याके लिये प्रश्न नं० ३, ४ व १३ पर हमारे प्रपत्र देखने चाहिये।

श्री प्रवचनसार गाथा ९ की टीकामें जीवके शुभ, अशुभ व शुद्ध तीन भाव कहे हैं। जिस समय जो भाव होता है उस समय वह जीव उस भावरूप हो जाता है। इस गाथाकी टीकामें श्री जयसेन आचार्यने कहा है कि 'पहले तीन गुणस्थानोमें अशुभोपयोग, अविरत सम्यग्दृष्टिसे प्रमत्तसंयत गुणस्थानतक शुभोपयोग और उसके पश्चात् अप्रमत्तसंयतसे क्षीणमोह गुणस्थानतक शुद्धोपयोग होता है।' चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन-रूप शुद्ध भाव है और कषायरूप अशुद्धभाव है इन दोनों शुद्धाशुद्ध भावोंके मिश्रितरूप उपयोगको शुभोपयोग कहा है। इसी प्रकार यथासंभव पाँचवे, छटे गुणस्थानमें भी शुद्धाशुद्ध मिश्रित भावरूप शुभोपयोग जानना चाहिये। यदि शुभोपयोगको शुद्धाशुद्ध भावरूप न माना जावेगा तो शुभोपयोग मोक्षका कारण नहीं हो सकेगा। किन्तु श्री अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसार गाथा २५४ टीकामें शुभापयोगको मोक्षका कारण कहा है—

गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्म-प्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिक-संपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेनाशुद्धात्मनोनुभवनात् क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।

अर्थ—वह शुभोपयोग गृहस्थोंके तो, सर्वविरतिके अभावसे शुद्धात्मप्रकाशनका अभाव होनेसे कषायके सद्भावके कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है, क्योंकि जैसे ईंधनको स्फटिकके सम्पर्कसे सूर्यके तेजका अनुभव होता है, उस प्रकार गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, क्रमशः परम निर्वाण सौख्यका कारण होता है।

आपने यह लिखकर 'शुद्धाशुद्ध पूरे परिणामको शुभ कहकर ऐसा अर्थ फलित करनेकी चेष्टा की गई है सो यह कथनकी चतुराई मात्र ही है।' उपर्युक्त आर्ष वाक्योंको कथनकी चतुराई कहनेका साहस किया है सो यह बड़े खेदकी बात है और यह आर्ष वाक्योंपर अश्रद्धाका द्योतक है।

जिनभक्तिसे आप कर्मका क्षय होना नहीं मानते, किन्तु समयसारके रचयिता श्री कुंदकुंद भगवान् कहते हैं कि जो जिनेन्द्रको नमस्कार करता है वह संसार भ्रमणका नाश करता है—

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५१॥

—भावपाहुड

अर्थ—जे पुरुष परम भक्ति अनुराग करि जिनवरके चरणकमलकू नमे हैं ते पुरुष श्रेष्ठ भावरूप शस्त्र करि जन्म (संसार) रूपी वेलका मूल जो मिथ्यात्वादि कर्मको खणे (क्षय) करें हैं।

इससे स्पष्ट है कि जिनेन्द्र भक्तिसे कर्मोंके राजा मोहनीय कर्मका क्षय होता है।

आपने जो परमात्मप्रकाश गाथा ६१ उद्धृत की है उसकी टीकामें लिखा है कि—

देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या पुण्यं भवति कर्मक्षयः पुनर्मुख्यवृत्त्या नैव भवति।

अर्थ—देव-शास्त्र-मुनियोंकी भक्तिसे पुण्य होता है, किन्तु मुख्यतासे कर्मक्षय नहीं होता। अर्थात् गौणरूपसे कर्मक्षय होता है। मिश्रित अखण्ड पर्यायमें पापोंसे निवृत्ति भी होती है और रागांश भी होता है। यहाँपर रागांशको मुख्य करके तथा निवृत्ति अंशको गौण करके यह कथन किया गया है। जैसे तत्त्वार्थसूत्रमें सम्यक्त्वको देव आयुका आस्रव बतलाया है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रथम द्वितीय और तृतीय गुणस्थानोंमें तो एक अशुभोपयोग होता है और असंयतसम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानसे प्रमत्तसंयत छटे गुणस्थानतक केवल एक शुभोपयोग और अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थानसे एक शुद्धोपयोग होता है।

—प्रवचनसार गाथा ९ टीका श्री जयसेन आचार्य।

श्री ब्रह्मदेव सूरिने बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीकामें लिखा है कि शुद्धोपयोगका साधक शुभोपयोग है जो चौथेसे छटे गुणस्थान तक होता है। अतः शुभोपयोग मात्र बन्धका ही कारण नहीं हो सकता।

असंयतसम्यग्दृष्टि-श्रावक-प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते।

अर्थ—असंयतसम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत (चौथे, पाँचवें एवं छटे गुणस्थान) में उत्तरोत्तर तारतम्य लिये शुभोपयोग होता है जो शुद्धोपयोगका साधक है।

किन्तु दूसरी दृष्टिसे ४ थे से १२ वें गुणस्थान तक शुभोपयोग और १३ वेंसे शुद्धोपयोग होता है।

आपके द्वारा आचार्योंके इन वाक्योंके कथनको चतुराई कहकर सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोगको संसारका कारण कहा गया है, किन्तु श्री कुन्दकुन्द भगवान्‌ने तो समयसार निर्जरा अधिकारमें सम्यग्दृष्टिके भोगको भी निर्जराका कारण कहा है। भक्ति और शुभोपयोगके सम्बन्धमें विशेषके लिये प्रश्न ३ व ४ व १३ पर हमारे वक्तव्य देखने चाहिये।

आपने लिखा है—'शुभोपयोगके होनेपर कर्मबंधकी स्थिति और अनुभागमें वृद्धि हो जाती है और शुद्धोपयोगके होनेपर उसकी स्थिति-अनुभागमें हानि हो जाती है।' इन वाक्योंके देखनेसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन वाक्योंको लिखते समय लेखकका लक्ष्य श्री वीरसेन आचार्य तथा श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती-के आर्षवाक्यकी ओर नहीं रहा, इसलिये उन आर्षवाक्योंको यहाँपर उद्धृत किया जाता है जिससे ज्ञात होगा कि शुभोपयोग अर्थात् विशुद्ध परिणामोंसे तीन आयुके अतिरिक्त शेष समस्त कर्मबन्धकी स्थितिमें वृद्धि नहीं होती, किन्तु हानि होती है और अप्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभाग बंधमें हानि होती है स्थिति तथा प्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभागमें वृद्धि होती है। जहाँ कषायोदय नहीं होता अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानसे शुद्धोपयोग होता है वहाँ तो शुद्धोपयोगसे बन्ध नहीं होता। यदि उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीके आदि तीन गुणस्थानोंमें भी शुद्धोपयोग माना जावे तो शुद्धोपयोगसे प्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभाग बन्धमें वृद्धि होती है, हानि नहीं होती। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रमाण देखनेकी कृपा करें—

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥१३४॥—गो० क०

अर्थ—तीन आयुको छोड़कर अन्य सब प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे होता है और जघन्य स्थितिबंध विपरीत परिणामोंसे अर्थात् विशुद्ध परिणामों (शुभोपयोग) से होता है। तीन आयुका उत्कृष्ट स्थितिबंध विशुद्ध परिणामोंसे होता है तथा जघन्य स्थितिबंध संक्लेश परिणामोंसे होता है।

बादालं तु पसत्था विसोहिगुणमुक्कडस्स तिव्वाओ
वासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसंकिलिट्ठस्स ॥१६४॥—गो० क०

अर्थ—४२ प्रशस्त प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामवाले जीवके होता है और ८२ अप्रशस्त प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबंध मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाले जीवोंके होता है।

धवल पु० ६ में भी लिखा है कि उत्कृष्ट विशुद्धिके द्वारा जघन्य स्थिति बँधती है, और विशुद्धिकी वृद्धिसे स्थितियोंकी हानि होती है।

उक्कस्सविसोहीए जा ट्ठिदी बज्झदि सा जहण्णिया होदि, सव्वासिं ट्ठिदीणं पसत्थभावाभावादो। संकिलेसवड्ढीदो सव्वपयडिट्ठिदीणं वड्ढी होदि, विसोहिवड्ढीदो तासिं चेव हाणी होदि।—पृ० १८०

अर्थ—उत्कृष्ट विशुद्धिके द्वारा जो स्थिति बँधती है, वह जघन्य होती है, क्योंकि सर्व स्थितियोंके प्रशस्त भावका अभाव है। संक्लेशकी वृद्धिसे सर्व प्रकृतिसंबंधी स्थितिकी वृद्धि होती है और विशुद्धि (शुभोपयोग)की वृद्धिसे उन्हीं स्थितियोंकी हानि होती है।

आपने जो समयसार गाथा २७२ उद्धृत करते हुए यह लिखा है—'निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय निषिद्ध जानो।' इसका यह अभिप्राय है कि वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थित जीवोंके लिये व्यवहारनय का निषेध है, किन्तु प्राथमिक शिष्यके लिये यह प्रयोजनवान् है। श्री जयसेन आचार्य इसकी टीकामें लिखते हैं—

यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनयः सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजन इति भावार्थः ।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रारम्भिक शिष्यके लिये प्रथम सविकल्प अवस्थामें निश्चयनयका साधक होनेसे व्यवहारनय प्रयोजनवान् है, किन्तु जो विशुद्धज्ञान-दर्शनमयी आत्मामें स्थित हैं उनके लिये निष्प्रयोजन है।

इसी बातको श्री अमृतचन्द्र सूरि पंचास्तिकायके अन्तमें लिखते हैं—

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः ।

अर्थ—जो जीव अनादि कालसे भेदभावकर वासितबुद्धि हैं वे व्यवहारनयका अवलम्बन लेकर भिन्न साध्य-साधनभावको अंगीकार करते हैं, ऐसे प्राथमिक शिष्य सुखसे तीर्थमें प्रवेश करते हैं ।

आगमके आधारपर यह कहा जा चुका है कि यदि विवक्षित नय अपने प्रतिपक्षी नयके सापेक्ष है तो सुनय अथवा सम्यक् नय हैं जो सम्यग्दृष्टिके होते हैं । मिथ्यादृष्टिके वही नय पर निरपेक्ष होनेसे कुनय अथवा मिथ्या नय होते हैं ।

इसी बातको श्री देवसेन आचार्यने भी नयचक्रसंग्रहमें कहा है—

भेदुवयारो णियमा मिच्छादिट्ठीणं मिच्छरूवं खु ।
सम्मे सम्मो भणिओ तेहिं दु बंधो व मुक्खो वा ॥६८॥

अर्थ—भेदोपचार (व्यवहारनय) मिथ्यादृष्टिके नियमसे मिथ्यारूप ही होता है और सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वरूप कहा गया है । मिथ्या व्यवहारनयसे बन्ध होता है और सम्यग्दृष्टि व्यवहारनयसे मोक्ष होता है ।

समयसार बन्ध अधिकारमें यह कहा गया है कि अध्यवसानके द्वारा बन्ध होता है । गाथा २७१ की टीकामें कहा गया है 'स्व-पर विवेकसे रहित (मिथ्या) बुद्धि व्यवसाय-मति-विज्ञान, चित्त-भाव-परिणाम-को अध्यवसाय कहते हैं । गाथा २७२ में निश्चयनयके द्वारा अध्यवसानरूप मिथ्या व्यवहारनयका प्रतिषेध किया गया है । जैसा कि टीकाके 'पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाश्रियमाणत्वात् ।' (पराश्रित व्यवहारनयके तो एकान्तसे कर्मसे नहीं छूटनेवाले अभव्य करि आश्रयमानपना है) इन शब्दोंसे स्पष्ट है । गाथा २७३ के 'अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी' गाथा २७४ के 'अभविय' और गाथा २७५ की टीकाके 'अभव्यः' से स्पष्ट है कि गाथा २७१ आदिमें मिथ्यादृष्टियोंकी बुद्धि-व्रत शील-ज्ञान व श्रद्धान आदिकी अपेक्षा कथन है और उन्हींका प्रतिषेध है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिका ज्ञान, श्रद्धान, व्रत, शील आदिरूप चारित्र तो मोक्षका कारण है उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता ।

यदि २७२ गाथामें सम्यग्व्यवहारनयका प्रतिषेध मान लिया जावे तो पूर्वापर विरोधका प्रसंग आ जायगा, क्योंकि समयसार गाथा १२ में तथा उसकी टीकामें पूर्ण ज्ञान-चारित्र होने तक अर्थात् साधक अवस्थामें सम्यग्व्यवहारनयको प्रयोजनवान् बतलाया गया है ।

श्री समयसार गाथा १२ तथा उसकी टीकामें भी प्रगट किया गया है कि जो पूर्ण दर्शन-ज्ञान-चारित्रवान् हो गये उन्हें शुद्ध (निश्चय) नय प्रयोजनवान् है और जब तक दर्शन-ज्ञान-चारित्र पूर्ण नहीं होते हैं तब तक व्यवहारनय प्रयोजनवान् है । दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पूर्णता १३ वें गुणस्थानमें होती है, अतः १२ वें गुणस्थान तक व्यवहारनय प्रयोजनवान् है ।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

—श्री समयसार

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँच कर श्रद्धावान् हुये तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान् हो गये हैं उन्हें तो शुद्धका उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरम भावमें स्थित हैं अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-चारित्रके पूर्ण भावको नहीं पहुँच सके हैं—साधक अवस्थामें ही स्थित हैं वे पुरुष व्यवहारद्वारा उपदेश करने योग्य हैं ।

श्री अमृतचन्दाचार्य इसकी टीकामें लिखते हैं कि व्यवहारनय बारहवें गुणस्थान तक प्रयोजनवान् है । टीका यह है—

ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् । उक्तं च—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

अर्थ—जो पुरुष प्रथम द्वितीयादि अनेक पाकोंके परम्परासे पच्यमान अशुद्ध स्वर्णके समान जो आत्माके अनुत्कृष्ट-मध्यमभावका अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध सोनेके समान उत्कृष्ट भावका अनुभव नहीं होता, इसलिए अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाली, भिन्न भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखानेवाली व्यवहारनय उस काल प्रयोजनवान् है, क्योंकि विचित्र अनेक वर्णमालाके समान जाननेमें आता है । तीर्थ और तीर्थफलकी ऐसी ही व्यवस्था है । कहा भी है—यदि तुम जिन मतकी प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों नयोंको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ (व्यवहारमार्ग) का नाश हो जायगा और निश्चयनयके बिना तत्त्वका नाश हो जायगा ।

भावार्थ—जहाँ तक यथार्थ ज्ञान श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता हो ऐसे जिन वचनोंको सुनना, धारण करना तथा जिन वचनोंको कहनेवाले श्री जिन गुरुकी भक्ति, जिनविम्बके दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्गमें प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है । और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है, किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रतका ग्रहण समिति, गुप्ति और पंच परमेष्ठीका ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करनेवालोंकी संगति एवं विशेष जाननेके लिये शास्त्रोंका अभ्यास इत्यादि व्यवहारमार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरोंको प्रवर्तन कराना ऐसे व्यवहारनयके उपदेश प्रयोजनवान् है । व्यवहारनयको कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है, किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोग रूप व्यवहारको ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिये उलटा अशुभोपयोगमें ही आकर, भ्रष्ट होकर चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा । इसलिये शुद्धनयका विषय जो साक्षात् शुद्ध

आत्मा है उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है—ऐसा स्याद्वाद मतमें श्री गुरुओंका उपदेश है।

'व्यवहारनयका विषय व्यवहारनयकी अपेक्षा सत्य है।' इस बातको श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार गाथा १४ की टीकामें भी कहते हैं—

आत्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थम्।

अर्थ—अनादिकालसे बंधे हुए आत्माका पुद्गल कर्मोंसे बँधने स्पर्शित होने अवस्थासे (व्यवहारनयसे) अनुभव करनेपर बद्ध-स्पृष्टता भूतार्थ है।

श्री पं० फूलचन्दने भी अपने लेखमें जो प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थमें पृ० ३४५ से ३५५ तक प्रकाशित हुआ है उसमें भी व्यवहारनयको सत्य सिद्ध किया है। वे वाक्य निम्न प्रकार है—

यदि निश्चय सत्याधिष्ठित है तो वह अपनी अपेक्षासे ही है। यदि व्यवहारकी अपेक्षासे हो (भी) उसे वैसा मान लिया जाय तो बन्ध-मोक्षकी चर्चा करना ही छोड़ देना चाहिये। कविवर पं० बनारसीदासजीने ऐसा किया था, पर अन्तमें उन्हें एकान्त निश्चयका त्याग करके व्यवहारकी शरणमें आना पड़ा। आचार्य कुन्दकुन्दने जो व्यवहारको अभूतार्थ कहा है वह व्यवहारकी अपेक्षा नहीं, किन्तु निश्चयकी अपेक्षासे कहा है। व्यवहार अपने अर्थमें उतना ही सत्य है, जितना कि निश्चय।

आपने लिखा है कि 'निरपेक्षा नया मिथ्या' यह वचन वस्तुसिद्धिके प्रसंगमें आया है और प्रकृतमें मोक्ष-मार्गकी प्रसिद्धि की जा रही है। अतएव प्रकृतमें उसका उपयोग करना इष्ट नहीं है।' किन्तु आपका ऐसा लिखना आगमानुकूल नहीं है। प्रथम तो वस्तुसिद्धिसे ही मोक्ष-मार्गकी प्रसिद्धि हैं, वस्तुसिद्धि और मोक्ष-मार्गकी प्रसिद्धि दो नहीं हैं। दूसरे मोक्ष-मार्गकी प्रसिद्धि भी द्वयनयाधीन ही है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग साध्य-साधकरूप है। इन दोनोंमें से किसी एकके अभावमें मोक्षकी सिद्धि (प्राप्ति) नहीं हो सकती। इसी बातको श्री जयसेन आचार्य भी पंचास्तिकाय ग्रन्थका तात्पर्य बताते हुए टीकाके अन्तमें लिखते हैं—

अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेणास्य प्राभृतस्य शास्त्रस्य वीतरागत्वमेव तात्पर्यं ज्ञातव्यं। तच्च वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकं। तद्यथा—ये केचन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चय-मोक्षमार्गनिरपेक्षं केवलशुभानुष्ठानरूपं व्यवहारनयमेव मोक्षमार्गं मन्यंते तेन तु सुरलोकादिक्लेशपरम्परया संसारे परिभ्रमन्तीति। यदि पुनः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयमोक्षमार्गं मन्यंते निश्चयमोक्षमार्गानुष्ठानशक्त्य-भावान्निश्चयसाधकं शुभानुष्ठानं च कुर्वन्ति तर्हि सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति परम्परया मोक्षं लभन्ते इति व्यवहारैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन वाक्यद्वयं गतं। येऽपि केवलनिश्चयनयावलंबिनः संतोऽपि रागादि-विकल्परहितं परमसमाधिरूपं शुद्धात्मानमलभमाना अपि तपोधनाचरणयोग्यं षडावश्यकाद्यनुष्ठानं श्रावक-चरणयोग्यं दानपूजाद्यनुष्ठानं च दूषयंते तेऽप्युभयभ्रष्टाः संतो निश्चयव्यवहारानुष्ठानयोग्यावस्थान्तरमजानन्तः पापमेव बध्नन्ति। यदि पुनः शुद्धात्मानुष्ठानरूपं मोक्षमार्गं तत्साधकं व्यवहारमोक्षमार्गं मन्यन्ते तर्हि चारित्रमोहोदयात् शक्त्यभावेन शुभाशुभानुष्ठानरहिता अपि यद्यपि शुद्धात्मभावनासापेक्षशुभानुष्ठानरत-पुरुषसदृशा न भवन्ति तथापि सरागसम्यक्त्वादिव्यवहारसम्यग्दृष्टयो भवन्ति परम्परया मोक्षं च लभंते

इति निश्चयैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन वाक्यद्वयं गतं। ततः स्थितमेतन्निश्चयव्यवहारपरस्परसाधकभावेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिवलेनैव मोक्षं लभंते ॥१७२॥

अर्थ—अब पूर्वोक्त प्रकार इस ग्रन्थका तात्पर्य वीतरागता ही जानना चाहिये। वह वीतरागता निश्चय व व्यवहारनय द्वारा साध्य-साधकरूपसे परस्पर सापेक्षतासे ही मुक्ति कार्यकी सिद्धि होती है, किन्तु दोनों नयोंकी परस्पर निरपेक्षतासे मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती। जो कोई, विशुद्ध ज्ञानस्वभावमयी शुद्धात्मतत्त्व-का श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्गकी अपेक्षासे रहित, मात्र शुभ आचरणरूप व्यवहारनयको ही मोक्षमार्ग मानता है वह स्वर्ग आदिके संक्लेश भोगकर परम्परासे संसारमें भ्रमण करता है। यदि वही जीव पुनः शुद्धात्मानुभूतिमयी निश्चयमोक्षमार्गको मानता है, निश्चय मोक्षमार्गरूप अनुष्ठान करनेकी शक्ति न होनेसे, निश्चयका साधकरूप शुभ अनुष्ठानको करता है तो वह सरागसम्यग्दृष्टि होता हुआ परम्पराय मोचको प्राप्त करता है। इस प्रकार व्यदहार एकान्तके निराकरणकी मुख्यतासे दो वाक्य ही कहे गये।

निश्चय एकान्तका कथन—

जो केवल निश्चयके अवलम्बी हैं वे भी, रागादि विकल्परहित परम समाधिरूप शुद्धात्माको प्राप्त न करनेपर भी तपश्चरणके योग्य षडावश्यक आदि अनुष्ठान अथवा श्रावकाचरणके योग्य दान-पूजादि अनुष्ठानको हेयरूप (बन्धरूप) मानकर उनसे भ्रष्ट होता हुआ अर्थात् उन आचरणोंको न करता हुआ निश्चय-व्यवहाररूप अनुष्ठानके योग्य अनेकान्त रूप अवस्थाको नहीं जाननेसे पापको ही बाँधता हैं। यदि पुनः वह जीव शुद्धात्मानुष्ठानरूप निश्चय मोक्षमार्गका साधक व्यवहार मोचमार्गको मानता है फिर भी चारित्रमोहके उदयके वश शक्तिके अभावसे शुभाशुभ अनुष्ठान नहीं करता है। यद्यपि शुद्धात्मभावनासे सापेक्ष शुभ अनुष्ठानमें रत ऐसे पुरुषके सदृश नहीं होता तथापि सरागसम्यक्त्व आदि सहित व्यवहार सम्यग्दृष्टि होता है और परम्परा मोक्षको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार निश्चय एकान्तके निराकरणकी मुख्यतासे दो वाक्य कहे गये।

इससे यह निश्चित होता है कि निश्चय और व्यवहार नयोंमें परस्पर साध्य-साधकभावके द्वारा सापेक्षता रखते हुये रागादि विकल्प-रहित परम समाधिके वलसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि भी पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीकामें कहते हैं कि केवल निश्चयनयसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और केवल व्यवहारनयसे भी मोक्षको प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार निश्चयाभासी और व्यवहाराभासीका कथन किया गया है। निश्चय और व्यवहारके अविरोधसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। सूरिजी इस बातको इन वाक्यों द्वारा कहते हैं जो ध्यान देने योग्य हैं—

तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा।

अर्थ—व्यवहार और निश्चयका अविरोधपूर्वक अनुसरण करते हुए जो यह वीतरागता प्राप्त होती है उसीसे मोक्षकी सिद्धि होती है, अन्य प्रकारसे मोक्षकी सिद्धि नहीं।

'पर्यायबुद्धि तो तू अनादिकालसे बनाए चला आ रहा है' इस वाक्यके लिखनेसे यदि आपका यह अभिप्राय रहा हो कि 'व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसलिये पर्यायका ज्ञान श्रद्धान निरर्थक है, मात्र द्रव्यज्ञान अर्थात् एकान्त निश्चयनयसे मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी सो ऐसा अभिप्राय उचित नहीं है। द्रव्य (स्वभाव)

दृष्टिमें अर्थात् स्वभावग्राही निश्चयनयमें तो न बंध है और मोक्ष न है। पर्यायकी अपेक्षा ही बंध या अशुद्धता है। उस बन्ध या अशुद्धताका क्षय करके पर्यायकी अपेक्षा ही मोक्ष या शुद्धता प्राप्त करनी है।

श्री पंचास्तिकायके आधारसे ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि निश्चय और व्यवहार दोनोंके अविरोधरूप आश्रयसे मोक्षकी प्राप्ति है। जो एकान्तसे निश्चयनयका अवलम्बन लेते हैं वे मोक्षको तो प्राप्त करते ही नहीं, किन्तु उल्टा पापबन्ध ही करते हैं।

इस प्रश्नका आशय अनेकान्तपर दृष्टि लानेका था, क्योंकि प्रायः यह देखा जाता है कि अतिदुर्लभ मनुष्य भव पाकर भी जीव किसी न किसी एकान्त मिथ्या मान्यताके चक्करमें फँस जाता है। कोई तो एकान्त काललब्धिको श्रद्धा करके यह विचार कर, कि जब मेरी काललब्धि आयेगी उस समय मेरा कल्याण हो जावेगा और मेरी बुद्धि भी उसी समय-कल्याणकी ओर लगेगी और काललब्धि बिना कल्याण हो नहीं सकता, कल्याणमार्गमें पुरुषार्थ-हीन हो जाता है। कोई भवितव्यता या होनहारके एकान्त पक्षको ग्रहणकर सोचता है कि जब मेरे कल्याणकी भवितव्यता होगी उसी समय मेरा कल्याण होगा उसके पूर्व या पश्चात् नहीं हो सकता, ऐसा सोचकर कल्याणमार्गसे वंचित रह जाता है। अन्य कोई सोचता है कि मेरा कल्याण तो नियति अपर नाम क्रमबद्ध पर्यायके आधीन है, मैं कल्याण करनेमें स्वाधीन नहीं हूं। इतना ही नहीं वह विचारता है कि जो कुछ भी अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार हो रहा है वह सर्व नियतिके अधीन हो रहा है, जिसमें कोई हेरफेर नहीं कर सकता। यदि मैं अन्यायादिरूप होता भी हूं या व्रतोंमें दोष आदि लगते हैं, वे सब नियतिके अधीन हैं, मैं तो सर्वथा निर्दोष हूँ। कोई संयम व चारित्रको मात्र बन्धका कारण जानकर उनसे पराङ्मुख रहता है और स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। ऐसे जीवोंकी दृष्टि अनेकान्तपर लानेके लिये यह प्रश्न था। अनेकान्तका ही उपदेश सर्वज्ञने दिया है। 'अनेकान्त' जैनधर्मकी विशेष देन है और अनेकान्त दृष्टि मोक्षमार्ग है। इति।

नोट—इस विषयमें प्रश्न १, ४, ५, ६ और १७ पर दृष्टि डालिये तथा इनके प्रत्येक दौरका विषय देखिये।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १६

मूल प्रश्न १६—निश्चयनय और व्यवहारनयका स्वरूप क्या है? व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१. प्रथम द्वितीय दौरका उपसंहार

प्रथम उत्तरमें हमने निश्चयनय और अवान्तर भेदोंके साथ व्यवहारनयके स्वरूप और विषयपर स्पष्ट प्रकाश डालनेके बाद निर्विकल्प निश्चयनय और उसके विषयका निर्देश कर दिया था। इन नयोंके

विषयमें कुछ लिखनेके लिए शेष नहीं रहने दिया था। इन नयोंका इस पद्धतिसे विवेचन किया गया था जिससे निश्चयनय भूतार्थ क्यों है और व्यवहारनय अभूतार्थ क्यों कहे गये हैं इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाय। विषय गहन होते हुए भी उसे सरल करनेका प्रयत्न किया गया था।

अपने दूसरे दौरमें अपर पक्षने हमारे प्रथम उत्तरको पढ़कर उसे अपने प्रश्नका उत्तर नहीं माना है इसका हमें आश्चर्य है। वह हमसे क्या कहलाना चाहता था यह उसके द्वितीय दौरमें उपस्थित किये गये निरूपणसे स्पष्ट हो जाता है। इसके प्रारम्भमें उस पक्षने इधर-उधरकी कुछ बातोंका संकेतकर असद्भूत व्यवहारनयकी विषयभूत व्यवहार क्रियाओंपर प्रकाश डाला है और इन क्रियाओंके आधारपर निश्चयस्वरूप शुद्धात्माकी प्राप्ति अथवा मोक्षकी प्राप्ति बतलाई है।

फलस्वरूप हमें अपने दूसरे दौरमें उत्तर लिखते समय अपनी दृष्टिको प्रस्तुत प्रतिशंकामें वर्णित विषयका आगमानुसार स्पष्टीकरण करनेकी दिशामें ही विशेषरूपसे केन्द्रित रखना पड़ा। इसमें उन सब विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है जिनका निर्देश अपर पक्षने अपनी प्रस्तुत प्रतिशंकामें किया है।

२. दो प्रश्न और उनका समाधान

तत्काल प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार करना है। इसके प्रारम्भमें अपर पक्षने मूल प्रश्नको चार भागोंमें विभक्त करनेके बाद अपनी पुरानी शिकायतको पुनः दुहराया है। साथ ही हमने जिन ग्रन्थोंके प्रमाण दिये हैं उनमेंसे एक पुस्तकके कथनको आर्ष विरुद्ध बतलाकर लिखा है कि 'ऐसी पुस्तकके वाक्योंको लिखकर व्यर्थ कलेवर बढ़ा दिया गया है। यदि ऐसा न किया जाता तो सुन्दर होता।' अपर पक्ष किस पुस्तकको आर्ष विरुद्ध समझता है और क्यों समझता है इसका उसकी ओरसे कोई खुलासा नहीं किया गया। इससे मालूम पड़ता है कि उसकी ओरसे यह टीका आवेश वश ही की गई है। जिस पुस्तकका स्वाध्यायकर हजारों ही नहीं, लाखों नर-नारी अपना कल्याण करते हों उसे आवेशवश अकारण आर्षविरुद्ध घोषित करना अनर्थकर घटना ही मानी जायगी।

आगे अनेकान्तका स्वरूप लिखनेके बाद अपर पक्षने लिखा है—'एक वस्तुमें विवक्षाभेदसे दो प्रतिपक्ष धर्म पाये जाते हैं, अतः उन दोनों धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्मकी विवक्षाको ग्रहण करनेवाला पृथक्-पृथक् एक-एक नय है।'

यह अपर पक्षके वक्तव्यका कुछ अंश है। इस परसे विचारणीय दो प्रश्न उद्भूत होते हैं—

१. एक वस्तुमें विवक्षाभेदसे दो प्रतिपक्ष धर्म पाये जाते हैं, क्या ऐसा वस्तुका स्वरूप है ?

२. क्या प्रत्येक धर्मकी विवक्षाको ग्रहण करना यह नय है ?

आगे इनका क्रमसे समाधान किया जाता है—

१. किसी भी वस्तुमें कोई भी धर्म विवक्षा भेदसे नहीं रहा करता, क्योंकि प्रत्येक धर्म वस्तुका स्वरूप होता है और जो धर्म जिस वस्तुका स्वरूप होता है वह स्वतःसिद्ध होता है। प्रयोजनवश विवक्षामें एक धर्मको मुख्यकर और दूसरे धर्मको गौणकर व्यवहारकी प्रसिद्धिके लिए वस्तुकी सिद्धि करना अन्य बात है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ३२ में लिखा है—

अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्यु-

ष्यते। अर्पितं चानर्पितं चार्पितानर्पिते। ताभ्यां सिद्धेरर्पितानर्पितसिद्धेः, नास्ति विरोधः। तद्यथा—एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता भागिनेय इत्येवमादयः सम्बन्धा जनकत्वजन्यत्वादिनिमित्ता न विरुध्यन्ते, अर्पणाभेदात्। पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यम्, विशेषार्पणयाऽनित्यमिति नास्ति विरोधः। तौ च सामान्य-विशेषौ कथञ्चित् भेदाभेदाभ्यां व्यवहार-हेतू भवतः।

प्रयोजनवश अनेकान्तात्मक वस्तुके जिस किसी धर्मकी विवक्षा द्वारा प्राप्त हुई प्रधानताका नाम अर्पित है। अर्पित अर्थात् उपनीत यह इसका तात्पर्य है। उससे विपरीत अनर्पित है। प्रयोजन न होनेसे सत्की भी अविवक्षा होती है। उपसर्जनीभूतका नाम ही अनर्पित है। इन दोनोंका अर्पितं च अनर्पितं च अर्पितानर्पिते ऐसा द्वन्द्व समास है। उनसे होनेवाली सिद्धि ही अर्पितानर्पितसिद्धि है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। यथा—एक देवदत्तके जनकत्व तथा जन्यत्व आदि निमित्तक पिता, पुत्र, भ्राता और भागनेय इत्यादि सम्बन्ध अर्पणाभेदसे विरोधको प्राप्त नहीं होते। पुत्रकी अपेक्षा पिता है, पिताकी अपेक्षा पुत्र है—इसी प्रकार और भी। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्यकी अर्पणाकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अर्पणा की अपेक्षा अनित्य है। इसलिए कोई विरोध नहीं है। वे सामान्य और विशेष कथंचित् भेद और अभेदके द्वारा व्यवहारके हेतु होते हैं।

इस विषयमें तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी यही आशय है। आप्तमीमांसा कारिका ७५ पर दृष्टिपात करनेपर उसका भी यही आशय प्रतीत होता है। इस तथ्यको स्पष्टरूपसे समझनेके लिए अष्टसहस्रीका यह कथन ध्यानमें लेने योग्य है—

न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्रसंगात्। नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्।

कर्ताका स्वरूप कर्मसापेक्ष नहीं है तथा कर्मका स्वरूप कर्तृसापेक्ष नहीं है, क्योंकि इस प्रकार दोनोंके असत्त्वका प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु कर्तृत्वव्यवहार और कर्मत्व व्यवहार परस्पर निरपेक्ष भी नहीं है, क्योंकि कर्तृत्वका ज्ञान कर्मके निश्चयपूर्वक होता है। उसी प्रकार कर्मत्वका भी ज्ञान कर्ताके निश्चयपूर्वक होता है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस द्रव्यमें सत्-असत् आदि जितने धर्म हैं उनका स्वरूप स्वतःसिद्ध है। उनका व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे होता है इतना अवश्य है और इस प्रकार परस्पर सापेक्षभावसे सिद्धि करनेवाला जो नय है वही व्यवहारनय है। अतएव अपर पक्षका यह लिखना आगम, अनुभव और तर्कके विरुद्ध है कि 'एक वस्तुमें विवक्षाभेदसे दो प्रतिपक्ष धर्म पाये जाते हैं।' किन्तु उसके स्थानमें यही निर्णय करना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुमें जितने भी धर्म पाये जाते हैं उनका स्वरूप स्वतःसिद्ध होता है।

२. दूसरा प्रश्न है कि 'क्या प्रत्येक धर्मकी विवक्षाको ग्रहण करनेवाला नय है।' समाधान यह है कि किसी विवक्षाको ग्रहण करनेवाला नय नहीं कहलाता, किन्तु नाना धर्मयुक्त वस्तुमें प्रयोजन वश एक धर्मद्वारा वस्तुको जाननेवाला श्रुतविकल्प नय कहलाता है। अपर पक्षने स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी जो २६४ वीं गाथा उद्धृत की है उससे भी यही सिद्ध होता है। उक्त गाथाका तात्पर्य लिखते हुए अपर पक्षने स्वयं इन शब्दोंको लिखकर हमारे उक्त अभिप्रायको स्वीकार किया है। उस पक्ष द्वारा लिपिबद्ध किये गये वे शब्द

इस प्रकार है—'कोई भी एक नय वस्तुके पूर्ण स्वरूपको नहीं कह सकता। नय तो एक धर्ममुखेन वस्तुका कथन करता है।' इतना अवश्य है कि उक्त वाक्यमें 'नय तो' पदके आगे 'प्रयोजनवश' या 'विवक्षित' पद लगा देना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस परसे यह निश्चित हो जाता है कि अपर पक्षने नयका लक्षण करते हुए जो यह लिखा है—'अतः उन दोनों धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्मकी विवक्षाको ग्रहण करनेवाला पृथक्-पृथक् एक-एक नय है।' वह ठीक नहीं है।

अपर पक्षने 'प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है' यह स्वीकार करके भी उसकी पुष्टिमें आचार्य अमृतचन्द्रका मात्र 'परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः' इतना वचन उद्धृत किया है। किन्तु मूलभूत सिद्धान्तका सूचक प्रारम्भका समग्र वचन छोड़ दिया है। वह इस प्रकार है—

तत्र यदेव तत् तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत् तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकं परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है तथा जो नित्य है वही अनित्य है ऐसे एक वस्तुमें वस्तुत्वको निपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना अनेकान्त है।

यहाँ 'एक वस्तुमें वस्तुत्वको निपजानेवाली' यह मूल सिद्धान्तको सूचित करनेवाला वचन है। अपर पक्षने इस वचनको छोड़कर अनेकान्तके स्वरूपपर इस ढंगसे प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है जिससे अनेकान्तके स्वरूपपर दृष्टि न जाकर असद्भूत व्यवहारनयके विषयको विवक्षित एक वस्तुका धर्म सिद्ध किया जा सके। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि विवक्षित एक वस्तुके वस्तुत्वको निपजानेवाले परस्पर विरुद्ध दो धर्म ही एक वस्तुमें पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि एक वस्तुके किसी भी धर्मका दूसरी वस्तुमें अत्यन्ताभाव है। उदाहरणार्थ जिस जीवमें भव्यत्व शक्ति हो उसमें अभव्यत्व शक्तिका सद्भाव नहीं हो सकता। यदि इन दोनों शक्तियोंका अस्तित्व एक आत्मामें स्वीकार कर लिया जाय तो वस्तुके वस्तुत्वका ही नाश हो जायगा। शंका-समाधानके रूपमें इस विषयको स्पष्ट करते हुए धवला पु० १ पृ० १६७ में लिखा है—

अस्त्येकस्मिन्नात्मनि भूयसां सहावस्थानं प्रत्यविरुद्धानां सम्भवो नाशेषाणामिति चेत् ? क एवमाह समस्तानामप्यवस्थितिरिति, चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमेणैकात्मन्यवस्थितिप्रसंगात्। किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्क्वचिदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे।

शंका—जिन धर्मोंका एक आत्मामें एक साथ रहनेमें विरोध नहीं है, वे रहें, परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एक साथ एक आत्मामें नहीं रह सकते ?

समाधान—कौन ऐसा कहता है कि समस्त ही धर्मोंकी अवस्थिति है। यदि समस्त धर्मोंकी एक साथ एक आत्मामें अवस्थिति मान ली जाय तो चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदिका भी एक साथ एक आत्मामें अवस्थितिका प्रसंग आ जायगा। इसलिए जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यन्ताभाव नहीं है उसमें क्वचित् कदाचित् अक्रमसे उनका अस्तित्व जानते हैं।

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट करते हुए धवल पु० १ पृ० ३३५ में लिखा है—

नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेत् ? न, अनेकान्तगर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात्।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं ऐसे नियमके स्वीकार करने पर एकान्तवादका प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनेकान्तगर्भ एकान्तका सत्त्व स्वीकार करने पर कोई विरोध नहीं आता।

ये आगमके दो प्रमाण हैं। इनसे सम्यक् अनेकान्तका और सम्यक् अनेकान्तगर्भ सम्यक् एकान्तका क्या स्वरूप है इस पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। जो मात्र परस्पर विरोधी अनेक धर्मोका एक आत्मामें सद्भाव स्वीकार कर उसे अनेकान्त कहते हैं उनका वह कथन किस प्रकार अपमार्थभूत है इस पर उक्त समग्र कथनसे सुन्दर प्रकाश पड़ता है। एक आत्मामें एक साथ परस्पर विरोधी ऐसे ही धर्मयुगल स्वीकार किये गये हैं जो वस्तुमें वस्तुत्वके निष्पादक हों। अतएव अपर पक्षने अनेकान्तका जो स्वरूप निर्देश किया है वह कैसे आगम विरुद्ध है यह ज्ञात हो जाता है।

३. निश्चय और व्यवहारनयके विषयमें स्पष्ट खुलासा

आगे अपर पक्षने नयके द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय ये दो भेद करके द्रव्यार्थिकनयको निश्चयनय और पर्यायार्थिकनयको व्यवहारनय लिखा है। तथा इसकी पुष्टि समयसार गाथा ५६ की आत्मख्याति टीकासे की है। अब विचार यह करना है कि अपर पक्षने जो द्रव्यार्थिकनयको निश्चयनय और पर्यायार्थिकनयको व्यवहारनय लिखा है वह किस अपेक्षासे ठीक है और किस अपेक्षासे ठीक नहीं है। हमने अपने प्रथम उत्तरमें प्रयोजन विशेषको लक्ष्यमें रखकर समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थोंमें निश्चयनय और व्यवहारनयका जिस रूपमें स्वरूप निर्देश किया गया है उसका सुस्पष्ट खुलासा करनेके बाद उसके अन्तमें यह सूचना कर दी थी कि जहाँ पूर्वोक्त दृष्टिसे निश्चयनय व्यवहारनयका निरूपण किया गया हो उसे वहाँ उस दृष्टिसे, और जहाँ अन्य प्रकारसे निश्चयनय-व्यवहारनयका निरूपण हो वहाँ उसे उस प्रकारसे दृष्टिपथमें लेकर उसका निर्णय कर लेना चाहिए। लक्षणादि दृष्टिसे इनका कथन अन्यत्र किया ही है, इसलिए वहाँसे जान लेना चाहिए। किन्तु अपर पक्षने इस ओर ध्यान न देकर लगता है कि आगममें जितना भी द्रव्यार्थिकनयका कथन है उस सबको निश्चयनयका कथन मान लिया है और जितना भी पर्यायार्थिकनयका कथन है उस सबको व्यवहारनयका कथन मान लिया है। आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ५६ में जो निश्चयनय-व्यवहारनयका स्वरूप निर्देश किया है वह सब मात्र समयसारकी कथनीको ध्यानमें रखकर ही लिखा है, इसलिए उसे उक्त प्रकारसे समस्त द्रव्यार्थिकनयके और समस्त पर्यायार्थिकनयके कथनपर लागू करना उचित नहीं है। नयचक्रसंग्रह पृ० ६६ में यह गाथा आई है—

> णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
> णिच्छयसाहणहेउं पज्जय-दव्वत्थियं मुणह ॥१८३॥

सब नयोंके मूल भेद दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। उनमेंसे निश्चयकी सिद्धिका हेतु पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनयको जानो ॥१८३॥

इसके बाद पुनः वहाँ लिखा है—

> दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थि-पज्जयत्थिगया।
> अण्णे असंख-संखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥१८४॥

द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय ये दो मूल भेद कहे गये हैं। अन्य जितने संख्यात-असंख्यात नय हैं वे सब उन दोनों नयोंके भेद जानने चाहिए ॥ १८४ ॥

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आगममें द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय ये दो भेद तथा उनके उत्तर भेद भिन्न दृष्टिसे किये गये हैं और समयसार आदिमें निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद भिन्न दृष्टिसे किये गये हैं। समयसार आदि अध्यात्मशास्त्रोंमें क्या दृष्टि अपनाई गई है इसका स्पष्टीकरण नयचक्रसंग्रह पृ० ८८ की इस गाथासे हो जाता है—

तच्चं पि हेयमियरं हेयं खलु भणिय ताव परदव्वं।
णियदव्वं पि य जाणसु हेयादेयं च णयजोगे ॥२६०॥

तत्त्व हेय और उपादेयके भेदसे दो प्रकारका है। पर द्रव्य तो नियमसे हेय ही कहा है। निज द्रव्यको भी नययोगसे हेय और उपादेय जानो ॥२६०॥

निज द्रव्यमें क्या हेय है और क्या उपादेय है इसका खुलासा करते हुए वहीं लिखा है—

मिच्छा-सरागभूयो हेयो आदा हवेइ णियमेण।
तव्विवरीयो झेओ णायव्वो सिद्धिकामेण ॥२६१॥

मिथ्यात्व और सरागरूप आत्मा नियमसे हेय है। सिद्धिके इच्छुक पुरुषोंको उससे विपरीत आत्मा ध्येय जानना चाहिए ॥२६१॥

इसी तथ्यको समयसारमें इन शब्दोंमें स्पष्ट किया है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

राग पुद्गलकर्म है, उसका विपाकरूप उदय यह है, यह मेरा भाव नहीं, मैं तो निश्चयसे एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९९॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्।

वास्तवमें राग पुद्गलकर्म है, उसके उदयके विपाकसे उत्पन्न हुआ यह रागभाव है। यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो यह टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ।

इससे अध्यात्ममें निश्चयनयका विषय क्या है यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। नयचक्रसंग्रहमें द्रव्यार्थिक नयके जिन दस भेदोंका निर्देश किया है उनमें एक परम भावग्राही द्रव्यार्थिकनय भी है। उसका स्वरूप निर्देश करते हुए वहाँ लिखा है—

गेण्हइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥१९९॥

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचारसे रहित मात्र द्रव्यस्वभावको ग्रहण करता है, शुद्धिके इच्छुक पुरुषों द्वारा वह परम भावग्राही द्रव्यार्थिक नय जानने योग्य है ॥१९९॥

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अध्यात्म निश्चयनयमें आगममें प्रतिपादित द्रव्यार्थिक नयके सभी भेदोंका अन्तर्भाव नहीं होता। मोक्षमार्गकी दृष्टिसे उसमें तो मात्र ज्ञायकस्वभाव आत्माकी अपेक्षा परम भावग्राही द्रव्यार्थिकनयका ही ग्रहण हुआ है। इसके सिवा द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय और

उपचारनयके जितने भी भेद-प्रभेद हैं उन सबका व्यवहारनयमें अन्तर्भाव किया गया है। इतना अवश्य है कि जहाँ रागादि अज्ञानभावोंका आत्माको कर्ता कहा गया है वहाँ वह कथन अज्ञानभावसे उपयुक्त आत्मा-की अपेक्षा ही किया गया है। ज्ञानभावसे तन्मय होकर परिणत आत्मा तो एकमात्र ज्ञानभावका ही कर्ता है। यहाँ ज्ञानभाव स्वभावके अर्थमें गृहीत हुआ है इतना विशेष जानना चाहिए।

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपर पक्षने जो द्रव्यार्थिकनयमात्रको निश्चयनय और पर्यायार्थिकनयमात्रको व्यवहारनय कहा है वह ठीक नहीं है। पंचास्तिकाय गाथा ४ में नयोंके जो दो भेद द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय किये गये हैं उनका उस प्रकार भेद करनेका प्रयोजन भिन्न है। वहाँ पदार्थ व्यवस्थाकी दृष्टि मुख्य है और यहाँ नयोंके निश्चयनय और व्यवहारनय इन भेदोंके करनेमें मोक्षमार्गकी दृष्टि मुख्य है। परमागममें यथास्थान प्रयोजनको ध्यानमें रखकर ही नयोंकी योजना की गई है। ऐसा एक भी नय या उपनयका भेद नहीं है जिसकी प्रयोजनके बिना योजना की गई हो। उदाहरणार्थ चौबीस तीर्थंकरोंमें किसीको पीतवर्ण, किसीको शुक्लवर्ण और किसीको हरितवर्ण आदि लिखा है सो यह जिस प्रयोजनको ध्यानमें रखकर लिखा गया है उसी प्रयोजनको ध्यानमें रखकर उसको स्वीकार करनेवाले असद्भूत व्यवहारनयकी भी योजना की गई है। यहाँ असद्भूतका अर्थ स्पष्ट है, जीवमें वर्ण नहीं है, जीव उसको बनानेवाला भी नहीं है। फिर भी उसे जीवका कहना यह असद्भूत व्यवहारवचन है। इसी प्रकार सर्वत्र प्रयोजनको ध्यानमें रखकर नयोंका विचार कर लेना चाहिए। यहाँ अपर पक्षने समयसार गाथा १४१ तथा समयसार कलश १६९ से १८९ के आधारसे जिन विविध धर्मयुगलोंकी चरचा की है उनके विषयमें भी यही न्याय लागू कर लेना चाहिए। कौन धर्म जीवमें सद्भूत है और कौन सद्भूत नहीं है ऐसा विचार करनेसे एक द्रव्यकी स्वरूपस्थिति और दो द्रव्योंका पार्थक्य स्पष्ट प्रतिभासित होजाता है। ऐसा यथार्थ ज्ञान कराना ही नयोंका प्रयोजन है। एक द्रव्यके गुण-धर्मको दूसरे द्रव्यका स्वधर्म बतलाना यह नयोंका प्रयोजन नहीं है। यह नयज्ञानकी अपनी विशेषता है कि वह उपचरित धर्मको उपचरितरूपसे, विभावधर्मको विभावरूपसे और स्वभावधर्मको स्वभावरूपसे ही प्रसिद्ध करता है।

जिस वस्तुका जो धर्म हो उसकी उसमें नास्ति कही जाय यह तो हमारा कहना है नहीं। किन्तु जिस वस्तुका जो धर्म ही न हो उसकी उसमें भूतार्थ-यथार्थरूपसे सिद्धि की जाय इसे हम ही क्या अपर पक्ष भी स्वीकार नहीं कर सकता। जैसे द्रव्यकर्मकी अपेक्षा जीवमें बद्धस्पृष्टता धर्म नहीं है, क्योंकि व्यवहारसे जिस प्रकारकी बद्धस्पृष्टता पुद्गलकी पुद्गलके साथ बनती है वैसी बद्धस्पृष्टता मूर्त पुद्गलकी अमूर्त जीवके साथ नहीं बन सकती। इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें लिखा है—

जीव-कर्मणोः बन्धः कथमिति चेत्? परस्परं प्रदेशानुप्रवेशान्न त्वेकत्वपरिणामात्, तयोरेकद्रव्यानुपपत्तेः। 'चेतनाचेतनावेतौ बन्धं प्रत्येकतां गतौ' इति वचनात्तयोरेकत्वपरिणामहेतुर्बन्धोऽस्तीति चेत् न, उपसर्पतस्तदेकत्ववचनात्। भिन्नौ लक्षणतोऽत्यन्तमिति द्रव्यभेदाभिधानात्।

शंका—जीव और कर्मका बन्ध कैसे है?

समाधान—परस्पर प्रदेशोंके अनुप्रवेशसे उनका बन्ध है, एकत्व परिणामरूपसे उनका बन्ध नहीं है, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्य नहीं हो सकते।

शंका—'चेतन और अचेतन ये दोनों बन्धके प्रति एकपनेको प्राप्त हैं' इस प्रकारका वचन होनेसे उन दोनोंका एकत्व परिणामका हेतुभूत बन्ध है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वे दोनों परस्पर एक दूसरेका उपसर्पण करते हैं, इसलिए आगममें उन्हें बन्धकी अपेक्षा एक कहा है। वास्तवमें वे दोनों लक्षणकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न हैं इस प्रकार उन दोनोंमें द्रव्यभेद कहा है।

यह आगम वचन है। इससे सिद्ध है कि जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट है यह कथन उपचरित ही है। यह निराधार कल्पना भी नहीं है, क्योंकि दूध और पानीके समान संसार अवस्थामें ज्ञानावरणादि परिणामसे परिणत कर्म राग-द्वेषादि परिणामसे परिणत जीवके और राग-द्वेषादि परिणामसे परिणत जीव ज्ञानावरणादि परिणामसे परिणत कर्मके प्रति उपसर्पण करते हुए देखे जाते हैं। इसे ही आचार्य यहाँ 'एकत्वपरिणाम' पदसे व्यवहृत कर रहे हैं। जीव और कर्मका इससे भिन्न अन्य कोई एकत्वपरिणाम बन नहीं सकता। समयसार गाथा १४ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने 'भूतार्थ' पद द्वारा जिस बद्धस्पृष्टताका स्पष्टीकरण किया है वह यही है, अन्य नहीं। देखो, इस रूपसे जो कोई भव्य बद्धस्पृष्टताको जानेगा वह लक्षणभेदसे दोनोंको भिन्न-भिन्न भी अवश्य जानेगा। और जो कोई भव्य जीव लक्षणभेदसे दोनोंको भिन्न-भिन्न जानेगा उसकी दृष्टि स्वभावरूप तन्मय होकर परिणमे बिना रह ही नहीं सकती।

आचार्य कहते हैं कि जीवमें कर्म बद्ध है ऐसा विकल्प भी रागके उत्थान पूर्वक होनेसे चेतन आत्माका निर्मल परिणाम नहीं है और उसी प्रकार जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है ऐसा विकल्प भी रागके उत्थानपूर्वक होनेसे चेतन-आत्माका निर्मल परिणाम नहीं है। ये दोनों ही नयपक्ष हैं। जो आत्मामें अपने-अपने पक्षकी प्रसिद्धि करते हैं। आत्मामें कौन धर्म उपचरित रूपसे क्यों स्वीकार किया गया है और कौन धर्म उसी आत्माके पर्यायस्वभावको प्रसिद्ध करता है और इसी प्रकार कौन धर्म उसी आत्माके द्रव्य स्वभावको प्रसिद्ध करता है, नय दृष्टिसे इसे पृथक्-पृथक् जानकर अनेकान्तस्वरूप आत्माकी प्रसिद्धि करना अन्य बात है। किन्तु उनमेंसे उपचरित धर्मको स्वीकार करनेवाले और पर्याय धर्मको स्वीकार करनेवाले विकल्पको दूरसे ही त्यागकर तथा द्रव्यस्वभावको स्वीकार करनेवाले विकल्पमें भी हेय बुद्धि रखते हुए अपनेमें निर्विकल्प साक्षात् समयसारस्वरूप आत्माकी प्रसिद्धि करना अन्य बात है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर समयसार गाथा १४२ की आत्मख्याति टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोऽपि हि नयक्षप। य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः सम्भवति।

'जीवमें कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प तथा 'जीवमें कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प ये दोनों ही नयपक्ष हैं। जो नियमसे उभय पक्षका अतिक्रम करता है वह समस्त विकल्पोंका अतिक्रम करके समस्त विकल्पोंसे अतिक्रान्त होकर स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वभावरूप होता हुआ साक्षात् समयसार होता है।

अनेकान्तस्वरूप आत्माको स्वीकार करके निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव आत्माकी प्रसिद्धि कैसे होती है यह बतलाना समयसार गाथा १४१ आदिका प्रयोजन है। ६९ से लेकर ८९ तकके कलशोंकी रचना भी इसी प्रयोजनको ध्यानमें रखकर हुई है। यहाँ उनकी रचनाका अन्य प्रयोजन नहीं है। अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी प्रसिद्धिके कालमें सत्-असत् आदि दो-दो धर्मयुगलोंमेंसे एक-एक धर्मद्वारा वस्तुकी प्रसिद्धि करनेवाला एक-एक नय सापेक्षभावसे अपने-अपने विषयभूत धर्मद्वारा वस्तुकी प्रसिद्धि करे इसका निषेध कौन करता है। आचार्य समन्तभद्रने 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥ वचन इसी अभिप्रायसे लिखा है। जिसका अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी सिद्धि करना मुख्य प्रयोजन है वह यदि नय दृष्टिको मुख्य कर तत्स्वरूप वस्तुकी सिद्धि करना चाहता है तो उसे इसी मार्गका अवलम्बन लेना होगा। इसमें सन्देह नहीं।

किन्तु जो रागादि विभावभावों और बद्धस्पृष्टत्वादि उपचरित भावोंसे मुक्त अपने आत्माकी प्रसिद्धि करना चाहता है उसे उक्त मार्गपर न चलकर स्वभावके अवलम्बनको ही सर्वस्व मानना होगा। यह है समयसारके कथनका प्रयोजनभूत तात्पर्य। उसमें निश्चयनयको प्रतिषेधकस्वभाव और सद्भूत-असद्भूत दोनों व्यवहारनयोंको प्रतिषेध्यस्वभाव (समयसार गाथा २७२ में) क्यों कहा यह स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ उन दोनों नयोंके विषयकी अस्वीकृति नहीं है। यदि ऐसा होता तो आचार्य मात्र एक जीवपदार्थका ही विवेचन करते, शेष अजीवादि आठ पदार्थोंका विवेचन ही नहीं करते और न ही आचार्य अमृतचन्द्र 'नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति (स० क० ७) यह वचन ही लिखते। स्पष्ट है कि ऐसा लिखकर उक्त दोनों आचार्योंने अनेकान्तस्वरूप वस्तुको अपनी दृष्टिमें रखा है, उसका निषेध नहीं किया। अपर पक्षके 'जो नय परपक्षका निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्षके अस्तित्वका निश्चय करनेमें व्यापार करते हैं उनमें समीचीनता पाई जाती है।' इस कथनकी सार्थकता इस दृष्टिसे है। उसे हम अस्वीकार नहीं करते। हम ही क्या कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता।

किन्तु आत्मामें मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि निश्चयनय (निश्चयनयके विषय)के अवलम्बनसे ही हो सकती है। न तो प्रमाणके अवलम्बनसे होती है और न ही व्यवहारके अवलम्बनसे होती है। यही कारण है कि मोक्षमार्गमें इसीको मुख्यता दी गई है। यतः अन्य सब हेय हैं, स्वभावका अवलम्बन ही उपादेय है, क्योंकि स्वभावके अवलम्बन द्वारा तन्मय होकर परिणत होना ही मुख्य कार्य है, अतः निश्चयनय प्रतिषेधक स्वभाववाला होनेसे अन्य सबका प्रतिषेध करता है यह सिद्ध हो जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पद्मनन्दिपंचविंशतिका निश्चयपंचाशत् अधिकारमें लिखा है—

बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्तं मुक्तो भवेत्सदात्मानम्।
याति यदीयेन पथा तदेव पुरमश्नुते पान्थः ॥४८॥

जो जीव सदा आत्माको कर्मसे बद्ध देखता है वह कर्मबद्ध ही रहता है, किन्तु जो उसे मुक्त देखता (अनुभवता) है वह मुक्त हो जाता है। ठीक है—पथिक जिस नगरके मार्गसे जाता है उसी नगरको वह प्राप्त होता है ॥४८॥

आशय यह है कि जैसे बम्बई और कलकत्ता जानेवाले दोनों मार्ग अपनी-अपनी स्थितिमें सही है, जो बम्बई जाना चाहता है उसके लिए कलकत्ताका मार्ग हेय होनेसे निषिद्ध है और बम्बईका मार्ग उपादेय होनेसे उसका निषेध करनेवाला है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए।

'सम्यग्दृष्टि जीव यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है ऐसा विभाग नहीं करते' यह ठीक है। किन्तु यह नय उपचरित धर्मद्वारा वस्तुको विषय करता है और यह नय जिस वस्तुका जो धर्म है उस द्वारा ही उस वस्तुको विषय करता है ऐसा विभाग तो करते हैं, अन्यथा मिट्टीके कर्तृत्व धर्मको कुम्भकारका स्वीकार कर लेनेपर मिट्टी और कुम्भकारमें एकत्व प्राप्त होनेसे पदार्थ व्यवस्था ही नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि मिट्टीका कर्तृत्व धर्म भी घटकार्यको करता है और कुम्भकारका कर्तृत्व धर्म भी उसी घटकार्यको करता है तो एक कार्यके दो कर्ता मानने पड़ते है जो जिनागमके विरुद्ध है। अतः जिस रूपमें जिस नयका जो विषय है उस रूपमें उसे स्वीकार करनेवाला ही वह नय सत्य है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार अन्य-चर्चित विषयोंके साथ परमागममें निश्चयनय और व्यवहारनयका किस रूपमें विवेचन हुआ है इसका संक्षेपमें स्पष्टीकरण किया।

४. समयसार गाथा १४३ का यथार्थ तात्पर्य

समयसार गाथा १४३ में 'जो प्रमाण, नय और निक्षेपके समस्त विकल्पोंसे मुक्त होकर परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार हो जाता है वह दोनों नयोंके कथनको जानता तो है परन्तु किसी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता अर्थात् समस्त नय विकल्पोंसे मुक्त हो जाता है।' यह कहा गया है, किन्तु अपर पक्ष इस गाथाका इस रूपमें अर्थ करता है जिससे यह मालूम पड़े कि इस गाथा द्वारा आचार्यने दोनों नयोंके कथनको एक समान माननेकी प्रेरणा की है। इसे हम उस पक्षका अति-साहस ही कहेंगे। समयसारकी वह गाथा इस प्रकार है—

दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

समयप्रतिबद्ध अर्थात् चित्स्वरूप आत्माको अनुभवनेवाला जीव दोनों नयोंके कथनको मात्र जानता ही है। परन्तु वह नयपक्षसे अर्थात् नयोंके विकल्पसे रहित होता है, इसलिए नयपक्षको नहीं ग्रहण करता ॥१४३॥

उक्त गाथाका यह सही अर्थ है। किन्तु अपर पक्षने अपने अभिप्रायकी पुष्टिके लिये इसका यह अर्थ किया है—

जो पुरुष आत्मासे प्रतिबद्ध है अर्थात् आत्माको जानता है वह दोनों ही नयोंके कथनको केवल जानता है परन्तु नयपक्षको कुछ भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह नयोंके पक्षसे रहित है अर्थात् किसी एक नयका पक्ष (आग्रह) नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार ये दो अर्थ हैं। अब इनमेंसे कौन ठीक है इसका निर्णय करना है। श्री पद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके निश्चयपंचाशत् में लिखते हैं—

बद्धो वा मुक्तो वा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात्समयसारः ॥५३॥

चैतन्य आत्मा बद्ध है अथवा मुक्त है यह नयविचारका विधान है। किन्तु जो साक्षात् समयसार है वह सब नयपक्षोंसे रहित है ॥५३॥

यहाँ पर 'नयपक्ष' शब्दका अर्थ विकल्पमात्रसे है इसका स्पष्टीकरण अगले श्लोकसे हो जाता है—

नय-निक्षेप-प्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तम्।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम् ॥५४॥

जो नय, निक्षेप और प्रमाण आदि विकल्पोंसे रहित है, उत्कृष्ट है, शान्त है, एक है और शुद्ध अनु-भूतिरूप है वही चैतन्यधाम आत्मा मैं हूँ ॥५४॥

इससे स्पष्ट है कि अपर पक्षने उक्त गाथाका जो आशय लिया है वह ठीक नहीं है। यदि वह उक्त गाथाओंकी दोनों संस्कृत टीकाओं पर दृष्टिपात कर लेता तो वह उस परसे ऐसा विपरीत आशय कभी भी ग्रहण नहीं करता ऐसा हमारा विश्वास है।

इसमें सन्देह नहीं कि मोक्षमार्गकी दृष्टिसे विकल्पमात्र हेय है। परन्तु उसमें उतना विशेष है कि व्यवहारनय और व्यवहारनयका विषय ये दोनों तो सर्वथा हेय हैं ही, क्योंकि जिस प्राणीकी इनमें उपादेय बुद्धि होती है वह तो मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत कथा सुननेका भी पात्र नहीं। किन्तु सविकल्प निश्चयनय और उसके विषयमें इतना विवेक है कि निश्चयनय स्वयं एक विकल्प होनेसे वह तो हेय है, परन्तु उसका विषयभूत आत्मा उपादेय है, क्योंकि तत्स्वरूप अनुभूतिका नाम ही समयसार है। अतः उक्त गाथा द्वारा आचार्य यह बतला रहे हैं कि समयप्रतिबद्ध अर्थात् ज्ञायकस्वरूप आत्मानुभूतिरूपसे परिणत आत्मा दोनों नयोंके कथनरूप द्रव्य-पर्यायको मात्र जानता तो है परन्तु उनके विकल्परूपसे नहीं परिणमता। यहाँ अपर पक्ष कह सकता है कि यदि ऐसी बात है तो निश्चयनय उपादेय है ऐसा कथन क्यों किया जाता है? समाधान यह है कि अध्यात्ममें निश्चयनय और उसके विषयमें अभेदको स्वीकार करके ही यह कथन किया जाता है।

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपर पक्षने समयसार गाथा १४३ का जो आशय लिया है वह ठीक नहीं है।

५. विविध विषयोंका स्पष्टीकरण

अब इस बातका विचार करना है कि जहाँ व्यवहारको बहुजीवानुग्रहकारी या पूज्य आदि कहा है उसका क्या तात्पर्य है?

१. इसके लिए सर्वप्रथम हम जयधवला पु० १ पृ० ८ का 'ण च ववहारणओ चप्पलओ' यह उदाहरण लेते हैं। आचार्य वीरसेनने यह वचन गौतम स्थविरने मंगल क्यों किया इस तथ्यके समर्थनमें लिखा है। विचारणीय यह है कि यदि मोक्षमार्गमें निश्चयनय और व्यवहारनय समानरूपसे पूज्य होते तो उनके चित्तमें 'व्यवहारनय चपल नहीं है' इस प्रकारका वचन लिखकर उसके समर्थन करनेका विकल्प ही नहीं उठना चाहिए था। हमने यथासम्भव उपलब्ध पूरे जिनागमका आलोडन किया है, परन्तु इस प्रकारका विकल्प निश्चयनयके विषयमें आचार्यने उठाया हो और फिर उसका समाधान किया हो यह हमारे देखनेमें अभी तक नहीं आया और न ही अपर पक्षने ही कोई ऐसा आगमप्रमाण उपस्थित किया जिससे उक्त बातका समर्थन होता हो। स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेनने 'ण च ववहारणओ चप्पलओ' यह वचन व्यवहारनयसे अभिप्राय-विशेषको ध्यानमें रख कर ही लिखा है। वह अभिप्राय विशेष क्या हो सकता है इसका समाधान यह है कि वे इस वचन द्वारा निश्चयमूलक व्यवहारका समर्थन कर रहे हैं। ऐसा व्यवहार जो अन्तरंगमें निश्चयको लिये हुए हो साधकके सविकल्प अवस्थामें होता ही है। आचार्य उक्त वचन द्वारा ऐसे व्यवहारको बहुजीवानुग्रहकारी लिखकर उसका समर्थन कर रहे हैं, कोरे व्यवहारका नहीं। इसका आशय यह है कि सविकल्प अवस्थामें साधकके देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति-वन्दनारूप, पाँच अणुव्रत-महाव्रतरूप व्यवहार अवश्य होता है। किन्तु अन्तरंगमें वह निश्चयस्वरूप परिणतिको ही उस अवस्थामें उपादेय मानता रहता है। गुणस्थान परिपाटीसे आगे बढ़नेका यदि कोई मार्ग है तो एकमात्र यही मार्ग है, इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकलशमें लिखा भी है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं वे उसीके अभावसे बँधे हैं।

वीरसेन स्वामी आत्मज्ञानी महापुरुष थे। भला उन्हें उक्त वचन लिखते समय आगमके इस मूल अभिप्रायका विस्मरण कैसे हो सकता था। यदि अपर पक्ष इस वचनके प्रकाशमें उक्त वचनका अर्थ करेगा तो उसे यह समझनेमें देर नहीं लगेगी कि निश्चयमूलक सम्यक् व्यवहारको ध्यानमें रख कर ही उक्त वचन लिखा गया है। जैसा कि उनके इस कथनसे भले प्रकार समर्थन होता है—

पुण्णकम्मबंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं ण मुणीणं कम्मक्खयकंक्खुवाणमिदि ण वोत्तुं-जुत्तं, पुण्णबंधहेउत्तं पडि विसेसाभावादो, मंगलस्सेव सरागसंजमस्स विपरिच्चागपसंगादो।

यदि कहा जाय कि पुण्यकर्मके बाँधनेके इच्छुक देशव्रतियोंको मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मोंके क्षयके इच्छुक मुनियोंको मंगल करना युक्त नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्यबन्धके हेतुपनेकी अपेक्षा उनमें कोई विशेषता नहीं है। अन्यथा मंगलके समान उनके सरागसंयमके भी त्यागका प्रसंग प्राप्त होता है।

यह वचन बड़ा महत्त्व रखता है। इसका प्रारम्भ इस ढंगसे किया गया है जिससे यह मालूम पड़ता है कि देशव्रती पुण्यकर्म बाँधनेके इच्छुक होते हैं। किन्तु इस वचनका समाधान जिस ढंगसे किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **चाहे वीतरागी मुनि हों या देशव्रती, अन्तरंग अभिप्राय दोनोंका एक ही प्रकारका होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वीतराग साधु पुण्यबन्धके अभिप्रायवाले नहीं होते वैसे देशव्रती भी नहीं होते।** इस वचनसे जिन तथ्योंपर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है वे ये हैं—

(क) वीतरागी मुनि और देशव्रती दोनों ही पुण्यबन्धके अभिप्रायवाले नहीं होते।

(ख) उनका लक्ष्य स्वभावप्राप्ति रहता है।

(ग) जितने अंशमें स्वभावप्राप्ति होती है, कर्मक्षपणा उतने ही अंशमें होती है।

(घ) देशव्रत या सरागसंयम आदि कर्मक्षपणाके हेतु न होकर पुण्यबन्धके ही हेतु हैं।

(ङ) आचार्य वीरसेनने उक्त 'ण च ववहारणओ चप्पलओ' इत्यादि वचन व्यवहारनयकी मुख्यतासे लिखा है जो अपने साथ होनेवाले निश्चयकी क्या महिमा है इसकी प्रसिद्धि करता है। अन्यके कार्यको अन्यका कहना यह उपचरित व्यवहारका मुख्य लक्षण है।

२. अपर पक्षने दूसरा उद्धरण पं० नं० पं० वि० के निश्चयपंचाशत्का दिया है। किन्तु इस वचनमें आचार्यने स्वयं इस तथ्यको स्वीकार कर लिया है कि **जिसके द्वारा निश्चयकी प्रसिद्धि हो, व्यवहार उसीका नाम है** और इसी कारण व्यवहारनयसे उन्होंने इसे पूज्य कहा है। वस्तुतः यह श्लोक समयसार गाथा ८ के प्रकाशमें लिखा गया है। अतएव इस वचनके आशयको ग्रहण करते समय आचार्य अमृतचन्द्रके इस कथनको सदा ध्यानमें रखना चाहिए—

एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद् व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः।

इस प्रकार जगत् म्लेच्छ स्थानीय होनेसे और व्यवहार नय भी म्लेच्छभाषास्थानीय होनेसे वह परमार्थको कहनेवाला है, इसलिए व्यवहार नय स्थापित करने योग्य है। किन्तु ब्राह्मणको म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए इस वचनसे वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है—यह सिद्ध होता है।

'व्यवहारका विषय एक द्रव्यकी पर्याय है' यह लिखकर अपर पक्षने भेद विवक्षामें मात्र सद्भूत व्यवहारका निर्देश किया है। किन्तु एक असद्भूत व्यवहार भी है जिसका विषय मात्र उपचार है इसे अपर पक्ष भुला देता है। अपर पक्षने यहाँपर पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके जिस वचनको उद्धृत किया है उसमें 'मुख्योपचारविवृत्तिं' पद आया है जिससे निश्चयके साथ दोनों प्रकारके व्यवहारकी सूचना मिलती है। यदि वह उसमें आये हुए 'उपचार' पदसे केवल सद्भूत व्यवहारको ही स्वीकार करता है तो हम पूछते हैं कि वह 'जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म होता है' इस कथनको क्यों नहीं त्याग देता। उसे चाहिए कि वह यह स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा कर दे कि जीवित शरीरकी क्रियासे त्रिकालमें धर्म नहीं हो सकता। और साथ ही उसे यह भी घोषणा स्पष्ट शब्दोंमें कर देनी चाहिए कि एक द्रव्यका परिणाम दूसरे द्रव्यका कार्य अणुमात्र भी नहीं कर सकता। इतना ही क्यों उसे तो उक्त वचनके आधारसे यह भी घोषित कर देना चाहिए कि जितना भी व्यवहार है वह मोक्षप्राप्तिका यथार्थ हेतु तो त्रिकालमें नहीं है। उससे मात्र निश्चयका ज्ञान होता है, इसलिए उसे आगममें स्थान मिला हुआ है।

'पर्यायोंका समूह द्रव्य है अथवा गुण और पर्यायवाला द्रव्य है' अपर पक्षके इस कथनको हम स्वीकार करते हैं और इसी लिए हमारा कहना यह है कि जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होती है वह पर्यायस्वरूप द्रव्यका स्वकाल होनेसे निश्चयसे उसे वह द्रव्य स्वयं उत्पन्न करता है। यदि वह पक्ष इसे स्वीकार नहीं करेगा और ऐसा मानेगा कि प्रत्येक पर्यायको दूसरा द्रव्य उत्पन्न करता है तो पर्यायसमूहस्वरूप द्रव्यका कर्ता भी अन्य द्रव्यको मानना पड़ेगा जो मानना न केवल आगमके विरुद्ध है, अपि तु तर्क और अनुभवके भी विरुद्ध है। अतएव अपने इस वक्तव्यके आधारपर भी अपर पक्षको यही मान लेना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपने नियतकालमें नियत कार्यको ही करता है। और पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके आधारपर उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य करता है' इस प्रकारका व्यवहार वचन 'प्रत्येक द्रव्य अपने नियत कालमें अपने नियत कार्यको स्वयं कर्ता होकर करता है' इस निश्चय वचनका ज्ञान करानेके लिए आगममें लिखा गया है। अनगारधर्मामृतके 'कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः १-१०२ वचन भी इसी तथ्यको स्पष्ट करनेके लिये लिखा गया है। समयसार गाथा ८ और उसकी टीकाका भी यही आशय है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके लिए द्रव्य, गुण, पर्यायका वे जैसे है वैसा ज्ञान होना अतिआवश्यक है। किन्तु सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति कैसे होती है यह प्रश्न दूसरा है। इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टिको इनका यथार्थ श्रद्धान अवश्य होता है, इसलिए उनके सम्यग्दर्शनविनय भी बन जाती है। मूलाचार अ० ५, गा० १८९ का यही आशय है। सम्यग्दृष्टिके अर्थपर्यायोंके विषयमें किस आधारसे कैसी श्रद्धा होकर दर्शनविनय गुण प्रगट होता है यह इस गाथामें बतलाया गया है।

३. अपर पक्षने 'जो व्यवहारनयके बिना मात्र निश्चयके आश्रयसे मोक्ष चाहते हैं वे मूढ़ हैं, क्योंकि बीज बिना वृक्षफल भोगना चाहते हैं अथवा वे आलसी हैं।' यह लिखकर उसकी पुष्टि अनगारधर्मामृत अ० १ श्लो १०० से करनी चाही है। किन्तु अनगारधर्मामृतमें वह उल्लेख एकान्त निश्चयाभासियोंका निषेध करनेके लिए आया है इसे अपर पक्ष जानते हुए भी हमारे दृष्टि पथमें नहीं लाना चाहता है। बहुत सम्भव है कि इसी कारण अपर पक्षने यह वचन किस शास्त्रका है यह न बतलाकर 'व्यवहार पराचीनो' इत्यादिरूपसे उक्त श्लोकको उद्धृतकर उसके अन्तमें 'प्राचीन श्लोक' यह लिखकर छुट्टी पा ली

है। आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार कलश १११ में 'मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽप्यतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः' यह वचन लिखा है। उसीको ध्यानमें रखकर पण्डित आशाधरजीने उक्त श्लोककी रचना की है, अतः उस परसे वही आशय लेना चाहिए जो समग्र कलशका है। इसी तथ्यको पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

ज्ञानचेतनाके जगे प्रगटे केवलराय।
कर्मचेतनामें बसे कर्मबन्ध परिणाम ॥८६॥

अतएव उपादेय तो एकमात्र ज्ञायकभाव ही है ऐसा ही यहाँ निश्चय करना चाहिए।

४. अपर पक्षने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लो० ५० को उद्धृत कर उसका जो अर्थ दिया है वह ठीक न होनेपर भी हम उक्त श्लोकके आशयको स्वीकार करते हैं। उक्त श्लोक द्वारा 'जो निश्चयको न जानकर यद्वा तद्वा विचार और प्रवृत्तिको ही मोक्षमार्ग जानते हैं वे करण-चरण दोनोंका नाश करते हैं। वे बाह्य करणमें आलसी होनेसे बाल हैं।' यह भाव ऐसे पुरुषोंके प्रति प्रगट किया गया है जो निश्चयके ज्ञानसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उनके लिए नहीं जो निश्चयको जानकर तत्स्वरूप परिणतिमें तल्लीन हैं। मालूम नहीं कि इसे अपर पक्षने अपने अभिप्रायकी पुष्टिमें कैसे समझ लिया। यह वचन तो उनको उद्देश्यकर कहा गया है जो निश्चयको नहीं जानते (नहीं अनुभवते) और नाना वेष धरकर मोक्षमार्गी बनते हैं।

५. अपर पक्षने सन्मतितर्ककी गाथा १० 'दव्वट्ठियवत्तव्वं' इत्यादिको उद्धृतकर अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनी चाही है, किन्तु यह गाथा वस्तुविचारके प्रसंगमें आई है और यहाँ मोक्षमार्गकी दृष्टिसे विचार हो रहा है, इसलिए वह यहाँ प्रयोजनभूत नहीं है। मोक्षमार्गमें किसका आलम्बन लेकर तन्मय परिणमन द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है यह विचार मुख्य है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमानमें संसारी आत्मा पर्यायदृष्टिसे रागी, द्वेषी भी है और द्रव्यार्थिकदृष्टिसे ज्ञायकस्वभाव भी है। ऐसी अवस्थामें इस जीवके राग-द्वेष आदिसे मुक्त होनेका उपाय क्या? अपनेको सतत रागी-द्वेषी अनुभव करनेसे तो उनसे मुक्ति मिलेगी नहीं। उसे इनसे मुक्ति पानेके लिए कोई दूसरा उपाय करना होगा। इसी बातको ध्यानमें रखकर आचार्योंने उस मार्गका निर्देश किया है जिसपर चलकर अनन्त तीर्थंकरों और दूसरे महापुरुषोंने मुक्ति प्राप्त की है। वह मार्ग क्या है इसका निर्देश करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते हैं—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है ऐसा जिनदेवने कहा है। जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह नियमसे सम्यग्दृष्टि है ॥११॥

इसी तथ्यको पं० नं० पं० वि के निश्चयपंचाशत्में इन शब्दोंमें स्पष्ट किया गया है—

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥

आशय पूर्वोक्त ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द करुणाभावसे रयणसारमें लिखते हैं—

एक्कु खणं ण विचिंतेइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसहावं।
अणिसं विचित्तपावं बहुलालावं मणे विचिंतेइ ॥५०॥

यह जीव दिन-रात मनमें विचित्र पापरूप अनेक प्रकारके विकल्प करता रहता है। किन्तु जो साक्षात् मोक्षप्राप्तिका उपाय है ऐसे अपने आत्मस्वभावका यह एक क्षण भी विचार नहीं करता ॥५०॥

नियमसारमें लिखा है—

जीवादि बहित्तच्चं हेयमुपादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुण-पज्जाएहिं वदिरित्तो ॥३८॥

जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं। मात्र कर्मोपाधिको निमित्त कर उत्पन्न हुई गुणपर्यायोंसे भिन्न अपना आत्मा उपादेय है ॥३८॥

ऐसी अवस्थामें अपर पक्ष ही बतलावे कि प्रकृतमें सम्मतितर्ककी उक्त गाथाका क्या प्रयोजन रह जाता है? वह गाथा तो मात्र प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है इसे प्रसिद्ध करनेमें चरितार्थ है। किन्तु जो सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको जानता है और मोक्षमार्गका पदानुसरण कर मुक्ति प्राप्त करना चाहता है उसे तो समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थोंमें प्रतिपादित अध्यात्ममार्गका ही पदानुसरण करना होगा। आगममें बाह्य परिणतिरूप चरणानुयोगकी सफलता भी इसी आधारपर स्वीकार की गई है।

६. अपर पक्षने व्यवहारनयसे जीवके ज्ञान, दर्शन और चारित्रको जो सत्यार्थ-वास्तविक घोषित किये हैं उसे हम स्वीकार करते हैं। सद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षा वे यथार्थ हैं, वास्तविक हैं इसमें सन्देह नहीं। इसी प्रकार जीवादि द्रव्योंकी शुद्धाशुद्ध सभी पर्यायें भी सत्यार्थ हैं, वास्तविक हैं। ये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अवस्तु हैं इसका इतना ही आशय है कि उस नयका विषय सामान्य है, पर्यायें उसका विषय नहीं हैं। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा सामान्य अवस्तु है इसका भी यही आशय है कि उस नयका विषय विशेष है, सामान्य उसका विषय नहीं है। यहाँ एकको गौण और दूसरेको मुख्यकर यह कथन किया गया है, अन्यथा प्रत्येक नयकी चरितार्थता नहीं बन सकती। यहाँ एक नयकी विवक्षामें दूसरे नयके विषयको जो अवस्तु कहा गया है वह इस आशयसे नहीं कहा गया है कि ये खरविषाण या आकाशकुसुमके समान वास्तवमें अवस्तु हैं, क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेपर सामान्य और विशेष दोनोंका अभाव होकर प्रत्येक द्रव्यका ही अभाव प्राप्त होता है। यहाँ इतना विशेष और ज्ञातव्य है कि पर्यायार्थिकनयमें असद्भूतव्यवहारनयका भी अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि यह नय भी पर्यायको ही विषय करता है। यदि इसमें सद्भूत व्यवहारनयसे कोई भेद है तो इतना ही कि यह नय प्रयोजनादिवश दूसरे द्रव्यकी पर्यायको अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यकी कहता है। जब कि सद्भूत व्यवहारनय उसी द्रव्यकी पर्यायको भेदविवक्षामें उसीकी कहता है। आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार कलश ४० में असद्भूत व्यवहारनयके विषयको एक उदाहरण उपस्थित कर समझाया है, अपर पक्ष उसपर दृष्टिपात कर ले यह हमारी प्रेरणा है।

७. अपर पक्षने ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध आदिको प्रत्यक्ष और वास्तविक लिखा है, किन्तु इस कथनसे उस पक्षका क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं किया। ज्ञान प्रत्येक समयमें त्रैकालिक पर्यायों सहित सब द्रव्योंको जानता है और समस्त द्रव्य अपनी-अपनी त्रैकालिक पर्यायों सहित ज्ञानके विषय होते हैं यह समझना ही ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध कहलाता है, अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार अपर पक्षने अन्य जितने सम्बन्धोंका उल्लेख किया है उनके विषयमें भी व्याख्यान कर लेना चाहिए। यहाँ ज्ञान पदसे मुख्यतासे केवलज्ञानको ग्रहणकर कथन किया है। वास्तवमें देखा जाय तो घटको जाननेवाला ज्ञान ज्ञानरूप ही प्रतिभासित

होता है और घट उससे भिन्न घटरूप ही प्रतिभासित होता है, क्योंकि उस समय उत्पन्न हुआ घटज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी पर्याय है और जिस घटको उसने जाना वह मिट्टी आदि रूप पुद्गल द्रव्यकी व्यञ्जन पर्याय है। ज्ञान चेतनरूप है और घट जड़रूप है। इन दोनोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अत्यन्त भिन्न है। अतएव इनका वास्तविक सम्बन्ध तो बनता नहीं यह प्रत्यक्ष है। फिर भी इनका सम्बन्ध कहा जाता है, उसे व्यवहार ही जानना चाहिए। प्रयोजन आदि वश लोकमें ऐसा व्यवहार किया जाता है इतना सच है। इसके लिए प्रवचनसार गाथा ३६ की आचार्य अमृतचन्द्र रचित टीकापर दृष्टिपात कीजिए।

इस प्रकार वस्तु विचारके प्रसंगमें द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयका क्या तात्पर्य है और अध्यात्मदृष्टिसे निश्चयनय और व्यवहारनयका क्या तात्पर्य है इसका विशदरूपसे स्पष्टीकरण किया। अपर पक्षने अपनी प्रस्तुत प्रतिशंकाके प्रारम्भमें अनेकान्तका जो स्वरूप निर्देश किया है उसीसे वह स्पष्ट हो जाता है कि दो द्रव्यों और उनके गुणधर्मोंका अवलम्बन लेकर जितना भी कथन किया जाता है वह सब असद्भूत व्यवहार नयका ही विषय है, सद्भूत व्यवहारनयका विषय नहीं।

८. अपर पक्षने 'प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी है' ऐसा लिखकर इसकी सिद्धि जो निश्चयनय और व्यवहार नयसे की है सो यहां व्यवहारनयसे सद्भूत व्यवहारनय ही लिया गया है, असद्भूत व्यवहारनय नहीं, क्योंकि असद्भूत व्यवहारनय त्रिकालमें उसी द्रव्यके गुण-पर्यायकी उसीमें प्रसिद्धि न कर प्रयोजनादिवश अन्य द्रव्यके गुण-धर्मको उससे भिन्न दूसरे द्रव्यका प्रसिद्ध करता है।

अपर पक्ष समझता है कि हम व्यवहार नयको असत्य और अप्रामाणिक मानते हैं, किन्तु उसकी ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि उससे लोकव्यवहारकी प्रसिद्धि होती है, अतः इस दृष्टिसे आगममें उसे भी प्रामाणिक और सत्य ही माना गया है। यदि कोई नयवचन बिना प्रयोजन आदिके अन्य द्रव्यके गुणधर्मको अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यका कहता है तो वह नयाभास होनेके कारण अवश्य ही असत्य और अप्रामाणिक माना जायगा।

९. सर्वज्ञदेवने जो व्यवहार सम्यक्त्व व व्यवहार मोक्षमार्गका उपदेश दिया है वह इसलिए नहीं कि उसे वीतराग सम्यक्त्व व वीतराग मोक्षमार्ग मान लिया जाय, अन्यथा ये दो न होकर एक हो जावेंगे और ऐसी अवस्थामें परको निमित्त कर होनेवाले शुभभावोंका भी मोक्षमें सद्भाव मानना अनिवार्य हो जायगा। किन्तु भगवान्का तो यह उपदेश है—

कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहिंतो जायदे, सुद्धपरिणामेहिंतो तेसिं दोण्णं पि णिम्मूलक्खओ।

—धवलापु० १२ पृ० २७९

शुभ और अशुभ परिणामोंसे नियमसे कर्मबन्ध होता है तथा शुद्ध परिणामोंसे उन दोनोंका नियमसे निर्मूल क्षय होता है।

और भगवान्का यह उपदेश भी है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

—बृहद्द्रव्य-संग्रह

व्यवहारनयसे अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको चारित्र जानो। उसे जिनदेवने व्रत, समिति और गुप्तिरूप कहा है ॥४५॥

इससे स्पष्ट है कि व्यवहार मोक्षमार्गसे निश्चय मोक्षमार्ग भिन्न है। फिर भी भगवान्‌ने निश्चय मोक्षमार्गकी सिद्धिका बाह्य हेतु जानकर इसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। और जो जिसकी सिद्धिका हेतु हो उसे उस नामसे पुकारना असत्य नहीं कहलाता। इससे स्पष्ट है कि सर्वज्ञने व्यवहार सम्यक्त्व व व्यवहार मोक्षमार्गका उपदेश देकर जीवोंका अकल्याण न कर निश्चय मोक्षमार्ग ही यथार्थ मोक्षमार्ग है यह स्पष्ट किया है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसार गाथा १९९ की टीकामें निश्चय मोक्षमार्गको ही मोक्षका एक-यथार्थ मार्ग बतलाते हुए लिखा है—

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति।

सभी सामान्य चरमशरीरी, तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षण विधिसे प्रवृत्त हुए मोक्षमार्गको प्राप्त करके सिद्ध हुए, परन्तु ऐसा नहीं है कि अन्य मार्गसे भी सिद्ध हुए हों। इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नहीं।

६. बन्ध और मोक्षका नयदृष्टिसे स्पष्टीकरण

जैनदर्शन ध्रुवताके समान उत्पाद-व्ययको भी स्वीकार करता है। द्रव्यदृष्टिसे प्रत्येक द्रव्य ध्रुवस्वभाव सिद्ध होता है और पर्यायदृष्टिसे उत्पाद-व्ययरूप भी सिद्ध होता है। इस दृष्टिसे निश्चयनयका कथन जितना यथार्थ है, सद्भूत व्यवहारनय (निश्चय पर्यायार्थिकनय)का कथन भी उतना ही यथार्थ है। अन्य दर्शन इस प्रकार नयभेदसे वस्तुकी सिद्धि नहीं करते, इसलिए उनका कथन एकान्तरूप होनेसे मिथ्या है इसमें सन्देह नहीं।

अब देखना यह है कि जीवकी जो बन्ध और मोक्ष पर्याय कही है वह क्या है? यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि न तो एक द्रव्यकी पर्याय दूसरे द्रव्यमें होती है और न ही दो द्रव्य मिलकर उनकी एक पर्याय होती है। इसलिए जब हम जीवकी अपेक्षा विचार करते हैं तो यही सिद्ध होता है कि बन्ध और मोक्ष ये दोनों जीवकी ही पर्याय हैं। इस अपेक्षासे ये दोनों पर्यायें जीवमें सद्भूत हैं—यथार्थ हैं। भावसंसार और भावमोक्ष इन्हींका दूसरा नाम है। यह सद्भूत व्यवहारनयका वक्तव्य है। असद्भूत व्यवहारनयका वक्तव्य इससे भिन्न है। यह नय कार्मण वर्गणाओंके ज्ञानावरणादिरूपसे परिणमनको बन्ध कहता है और उन ज्ञानावरणादि कर्मोंके कर्मपर्यायको छोड़कर अकर्मरूपसे परिणमनेको मोक्ष कहता है। यद्यपि ये दोनों (कार्मणवर्गणाओंकी कर्मपर्यायरूप बन्धपर्याय और कर्मोंकी अकर्मरूप मोक्षपर्याय) जीवकी नहीं हैं, इन्हें जीवने उत्पन्न भी नहीं किया है। फिर भी असद्भूत व्यवहारनयसे ये जीवकी कही जाती हैं और जीवको ही इनका कर्ता भी कहा जाता है। ये पुद्गलपरिणाम आत्माका कार्य नहीं हैं इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें लिखते हैं—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्ण वि सव्वकालेसु ॥१८५॥

जीव सभी कालोंमें पुद्गलके मध्य रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मोको न तो ग्रहण करता है, न त्यागता है और न करता है ॥१८५॥

अपर पक्षका कहना है कि 'जो एक नयका विषय है वही विषय दूसरे नयका नहीं हो सकता । यदि ऐसा ही जाय तो दोनों नयोंमें कोई अन्तर ही नहीं रहेगा । दोनोंमें अन्तर नहीं रहनेसे नयोंका विभाजन व्यर्थ हो जायगा तथा सुव्यवस्था नहीं रहेगी, सर्व विप्लव हो जायगा । जो व्यवहारनयका विषय है उसका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे वह कथन नहीं हो सकता । अतः आर्षप्रमाणोंको यह कह कर टाल देना कि 'विवक्षित कथन व्यवहारनयसे है निश्चयसे नहीं' आगम संगत नहीं है ।'

सो इस सम्बन्धमें हमारा भी यही कहना है कि जो असद्भूतव्यहारनयका विषय है वही सद्भूत-व्यवहारनयका नहीं हो सकता । यदि ऐसा हो जाय तो दोनों नयोंमें कोई अन्तर ही नहीं रहेगा । दोनोंमें अन्तर नहीं रहनेसे नयोंका विभाजन व्यर्थ हो जायगा तथा दोनोंके कथनको एक माननेसे द्रव्यभेदकी प्रतीति नहीं होगी । द्रव्यभेदकी प्रतीति नहीं हो सकनेसे पृथक्-पृथक् द्रव्योंकी सत्ता नहीं सिद्ध होगी, सर्व विप्लव हो जायगा । अतः जो असद्भूत व्यवहारनयका विषय है उसे उपचरित मानना ही युक्त है । उसे सद्भूतरूपसे प्रसिद्ध करना आगमसंगत नहीं है । हमने अपने उत्तरोंमें आर्षप्रमाणोंको कहीं भी टालनेका प्रयत्न नहीं किया । हाँ, आगममें जो असद्भूत व्यवहारनयका वक्तव्य है उसे अवश्य ही उसी रूपमें प्रसिद्ध किया है ।

अपर पक्षने प्रस्तुत प्रतिशंकाको जिस प्रवीणतासे उपस्थित करनेका प्रयत्न किया है उसे हम अच्छी तरहसे समझ रहे हैं । पहले तो उस पक्षने प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध कर सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य आदिरूपसे दो दो धर्मयुगलोंकी स्थापना की । इसके बाद सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोंकी स्थापना कर उनकी निश्चयनय और व्यवहारनय यह संज्ञा रखी । और इस प्रकार व्यवहारनयके उत्तर भेदोंका नाम लिये विना और सद्भूतव्यवहारनयके विषयमें असद्भूतव्यवहारनयके विषयको मिलाकर प्रस्तुत प्रतिशंकाका ढांचा खड़ा किया । किन्तु हमारे विचारसे तत्त्वविचारकी यह पद्धति नहीं है । क्या इस प्रकार एक द्रव्यकी पर्यायको उसीकी प्रसिद्ध करनेवाले पर्यायार्थिकनयको व्यवहारनय बतलाकर असद्भूत व्यवहारनयके विषयको सद्भूत सिद्ध किया जा सकता है, कभी नहीं । स्पष्ट है कि जब कि असद्भूत व्यवहारनयका विषय उपचरित है तो वह उपचरित ही रहेगा । आगमसे उसे सद्भूत सिद्ध करना ठीक नहीं है ।

इस प्रकार बन्ध मोक्ष क्या है इसका नयदृष्टिसे स्पष्टीकरण किया ।

७. एकान्तका आग्रह ठीक नहीं

अभी हमने आगममें किये गये व्यवहारनयके उत्तर भेदों और उनके विषयको ध्यानमें रखकर बन्ध मोक्षके विषयमें स्पष्टीकरण किया । किन्तु अध्यात्म आगममें इस विषयपर और भी सूक्ष्मतासे विचार किया गया है । उसमें बतलाया है कि आत्माकी जो पर्याय परके लक्ष्यसे (रागभावसे परमें उपयुक्त होनेसे या परका सम्पर्क करनेसे) उत्पन्न होती है वह जिसके लक्ष्यसे उत्पन्न होती है उसीकी है । यही कारण है कि अध्यात्म आगममें जिनदेवने अध्यवसान आदि भावोंको जो जीव कहा है उसे अभूतार्थरूप व्यवहारका कथन जानना चाहिए । इस पर प्रश्न होता है कि इन अध्यवसान आदि भावोंको जीव कहना यह जब कि अभूतार्थ व्यवहार है तो फिर जिनदेवने ऐसे व्यवहारका कथन ही क्यों किया ? यह प्रश्न है । इसीका समाधान करते हुए आचार्यने समयसार गाथा ४६ की टीकामें 'व्यवहारो हि व्यवहारिणां' इत्यादि वचन लिखा है । इससे यह

स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थप्रवृत्तिके निमित्तका ज्ञान करानेके लिए व्यवहार दिखलाना अन्य बात है और उसे परमार्थरूप मान लेना अन्य बात है। व्यवहारनय व्यवहाररूप निमित्तका ज्ञान कराता है इसमें सन्देह नहीं और इसी लिए अध्यात्म आगममें उसका प्रतिपादन भी किया गया है। पर इस परसे यदि कोई अपर पक्षके मतानुसार व्यवहारनयको अन्यके धर्मको अन्यका कहनेवाला न मानकर उसके विषयको परमार्थरूप ही मान ले तो इस जीवका शरीर और रागादिभावोंसे मुक्त होना त्रिकालमें नहीं बन सकेगा और ये जीवके स्वरूप सिद्ध हो जानेपर बन्धव्यवस्था भी नहीं बन सकेगी। क्या अपर पक्षने इस तथ्यपर ध्यान दिया? वह एकान्तका परिहार करनेके लिए 'तमन्तरेण' इत्यादि टीका वचनको तो उद्धृत करता है पर उसकी मान्यताके अनुसार जो एकान्तकी प्रसक्ति होती है उसकी ओर अणुमात्र भी ध्यान नहीं देता। अतः उक्त वचनके आधारपर अपर पक्षको प्रकृतमें ऐसे ही अनेकान्तको स्वीकार कर लेना चाहिए कि निश्चय भूतार्थरूप है, अभूतार्थरूप नहीं। अभूतार्थरूप तो मात्र व्यवहार है जिसे व्यवहार नयसे तीर्थप्रवृत्तिका निमित्त जानकर जिनदेवने निर्दिष्ट किया है। हाँ यदि अभूतार्थ व्यवहारको तीर्थप्रवृत्तिका व्यवहार हेतु भी नहीं स्वीकार किया जाय तो क्या आपत्ति आती है इसे आचार्य अमृतचन्द्रने 'तमन्तरेण' इत्यादि वचन द्वारा स्पष्ट किया है। अतः निश्चय और व्यवहार दोनों ही परमार्थरूप हैं ऐसा एकान्त आग्रह करना उचित नहीं है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। व्यवहारनय अन्यके धर्मको अन्यका कहता है इसके लिए समयसार गाथा ५६ को आत्मख्याति टीका तथा आचार्य जयसेनकृत टीकापर दृष्टिपात कीजिए।

८. जीव परतन्त्र क्यों है इसका सांगोपांग विचार

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने जीवको परतन्त्र कौन बनाये हुए है इसकी सिद्धि करते हुए आचार्य विद्यानन्दिका 'जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति' इत्यादि वचन उद्धृत किया है। आचार्य विद्यानन्दि दर्शन-प्रभावक महान् आचार्य हो गये हैं इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। उनका नामस्मरण होते ही उनके प्रति श्रद्धासे मस्तक नत हो जाता है।

अपर पक्षने अपनी पिछली प्रतिशंकामें यह वाक्य लिखा है—'इस जीवको कर्म परवश बनाये हुए हैं। उसीके कारण यह परतन्त्र हो रहा है।' हमने इस वाक्यको एकान्त आग्रहका पोषक समझकर यथार्थ क्या है इसका पिछले उत्तरमें निर्देश किया था। किन्तु अपर पक्षने इस वचनको आचार्य विद्यानन्दिका बतलाकर पर्यायान्तरसे यह सूचित किया है कि हमारे द्वारा आचार्य विद्यानन्दिके वचनपर ही आपत्ति उठाई गई है। अपर पक्षने अपनी प्रस्तुत प्रतिशंकामें आचार्य विद्यानन्दिके मूल वाक्यको पुनः उपस्थित किये जानेका संकेत तो किया है पर पिछली प्रतिशंकामें वह वाक्य दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार हमारे जिन वचनोंपर यह प्रतिशंका उपस्थित की गई है उनके विषयमें यह तो लिखा है कि 'आपके द्वितीय वक्तव्य में निम्न वाक्योंको पढ़कर बहुत आश्चर्य हुआ।' और साथ ही यह भी लिखा है कि 'आपके निम्न वाक्यों पर आर्षप्रमाण सहित विचार किया जाता है।' परन्तु जिन वाक्योंपर विचार करनेकी अपर पक्ष यहाँ पर प्रतिज्ञा कर रहा है वे वाक्य यहाँ उद्धृत नहीं किये गये हैं। अस्तु,

आचार्य विद्यानन्दिके उक्त वचनको अपने पक्षमें समझकर अपर पक्षने उस आधारसे एक मत तो यह बनाया है—

'प्रगट है, जीवका क्रोधादि परिणाम स्वयं परतन्त्रता है, परतन्त्रताका कारण नहीं।'

आगे अपर पक्षने लिखा है कि—

'यदि मात्र अज्ञानभावको ही परतन्त्र करनेवाला मान लिया जावे……।'

इससे मालूम पड़ता है कि उस पक्षका एक मत यह भी है कि जीवका अज्ञान भाव भी परतन्त्रता का कारण है।

यह अपर पक्षका वक्तव्य है। इससे मालूम होता है कि अपर पक्ष एकान्तसे मात्र पुद्गल कर्मको जीवकी परतन्त्रताका हेतु मानता है, किन्तु उस पक्षका यह कथन स्वयं आचार्य विद्यानन्दिके अभिप्रायके विरुद्ध है। वे अष्टसहस्री पृ० ५१ में लिखते हैं—

तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च।

परन्तु उस अज्ञानादि दोषका हेतु आवरण कर्म है और अनन्तरपूर्व जीवका अपना परिणाम है।

इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य विद्यानन्दिने केवल ज्ञानावरणादि कर्मोंको ही परतन्त्रताका हेतु नहीं स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने राग, द्वेष और मोहको भी परतन्त्रताका हेतु स्वीकार किया है। ये रागादि भाव स्वयं पारतन्त्र्यस्वरूप हैं और परतन्त्रताके हेतु भी हैं। तथा ज्ञानावरणादि कर्म व्यवहारसे केवल जीवकी परतन्त्रताके हेतु तो हैं पर जीवके पारतन्त्र्य-स्वरूप नहीं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार जीवकी परतन्त्रताके दो हेतु प्राप्त हुए—बाह्य और आभ्यन्तर। अब इनमें मुख्य हेतु कौन है इसका विचार करना है। हरिवंशपुराण सर्ग ७ में लिखा है—

जायते भिन्नजातीयो हेतुर्यत्रापि कार्यकृत्।
तत्रासौ सहकारी स्यात् मुख्योपादानकारणः ॥१४॥

जहाँ भी भिन्नजातीय हेतु कार्यकृत होता है वहाँ वह सहकारी है और मुख्य उपादान कारण है ॥१४॥

इस प्रकार प्रत्येक कार्यका मुख्य कारण उपादान है, भिन्नजातीय पदार्थ नहीं इसका निर्णय होनेपर अब इस बातका विचार करना है कि बाह्य पदार्थको सहकारी क्यों कहा? इसका स्पष्टीकरण करते हुए समयसार गाथा १६ के बाद आचार्य जयसेनकृत टीकामें लिखा है—

अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहितपरिणामस्तदा मोक्षो भवति। अजीवे देहादौ यदा रागादि-परिणामस्तदा बन्धो भवति।

शुद्ध जीवके विषयमें जब रागादि रहित परिणाम होता है तब मोक्ष होता है तथा अजीव देहादिमें जब रागादि परिणाम होता है तब बन्ध होता है।

इस आशयकी पुष्टिमें वहाँ एक गाथा दी है—

जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बन्ध मोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥

—स० सा० गा० २० जयसेनकृत टीका

संक्षेपमें बन्ध और मोक्षका निदान यह है कि यदि यह जीव वर्तमान समयमें जीवमें उपयुक्त होता है अर्थात् उपादेय बुद्धिसे तन्मय होकर परिणमता है तो ऐसा होने पर मोक्ष है और यदि यह जीव वर्तमान

समयमें अजीव देहादि, कर्म और कर्मके फलमें उपादेय बुद्धिसे उपयुक्त होता है अर्थात् तन्मय होकर परिणमता है तो ऐसा होनेपर बन्ध है।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में लिखा है—

> भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
> रज्जदि तेणेव पुणो वज्झदि कम्मं त्ति उवऐसो ॥१७६॥

जिनदेवका ऐसा उपदेश है कि यह जीव प्राप्त विषयको जिस राग-द्वेष-मोहभावसे जानता-देखता है उस भावसे उपरंजित होकर कर्मबन्ध करता है ॥१७६॥

ये आगमप्रमाण हैं। इनसे विदित होता है कि कर्म (राग-द्वेष)और उनके फलमें यदि यह जीव उपयुक्त होता है तो ही ज्ञानावरणादि कर्म अज्ञानादि जीव परिणामके होनेमें हेतु संज्ञाको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए यही सिद्ध होता है कि अपनी परतन्त्रताका मूल कारण यह जीव स्वयं है, ज्ञानावरणादि कर्म नहीं। ज्ञानावरणादि कर्मको आचार्यने परतन्त्रताका हेतु इसलिए कहा कि उनमें उपयुक्त होकर जीव अपनेमें परतन्त्रताको स्वयं उत्पन्न करता है। वे स्वयं जीवको परतन्त्र नहीं बनाते। जीवके परिणामको निमित्तकर कर्मवर्गणारूप पुद्गल कर्मपरिणामको प्राप्त होते हैं और उत्तर कालमें जीवके उनमें उपयुक्त होते समय वे जीवके राग-द्वेपरूप पारतन्त्र्यके होनेमें व्यवहार हेतु होते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि यह जीव वास्तवमें स्वयं अपने अपराधवश परतन्त्र बनता है। चोरको कोतवाल ने परतन्त्र बनाया यह तो व्यवहार है। वास्तवमें वह स्वयं अपने अपराधके कारण परतन्त्र बनता है यह यथार्थ है। तत्त्वार्थवार्तिक ५-२४ के वचनका दूसरा अभिप्राय नहीं। यहाँ आया हुआ 'मूलकारण' पद निमित्तकारण अर्थका सूचक है। यथा—संजोयमूलं-संजोयनिमित्तम्। मूलाचार प्र० भा० २-४९ टीका।

पं० फूलचन्द्रने पंचाध्यायी पृ० १७३, पृ० ३३८ में जो कथन किया है वह व्यवहार हेतुकी मुख्यतासे किया है। इसलिए पूर्वापरका विरोध उपस्थित नहीं होता। यदि पं० फूलचन्द्र व्यवहार हेतुको निश्चय हेतु मानने लगें तो ही पूर्वापरका विरोध आता है, अन्यथा नहीं। तभी तो पं० फूलचन्द्रने उसी पंचाध्यायी पृ० १७३ में यह भी लिखा है—'किन्तु यह परतन्त्रता जीवकी निज उपार्जित वस्तु है। जीवमें स्वयं ऐसी योग्यता है जिससे वह सदासे परतन्त्र है।' और इसी प्रकार उसी पंचाध्यायीके पृ० ३३८ में भी यह लिखा है—'यह कमी जो थोड़ी बहुत अरिहंत अवस्थामें रहती है वह अनादिकालसे चली आ रही है। इसका कारण कर्म माना जाता है अवश्य, पर यह मूलतः जीवकी अपनी परिणतिका ही परिणाम है। इसे ही संसारदशा कहते हैं।

यद्यपि पं० फूलचन्द्रके उक्त कथनसे तो पूर्वापर विरोध नहीं आता। परन्तु अपर पक्ष जो व्यवहार हेतुको यथार्थ हेतु मनवानेका प्रयत्न कर रहा है उससे अवश्य ही आगमका विरोध होता है। आगम जब यह स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार करता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका त्रिकालमें यथार्थ कर्ता नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें अन्य द्रव्यके कार्यमें अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायको व्यवहार (उपचार) हेतु मान लेना ही आगम संगत है। यदि आगममें और आगमनुसारी कथनमें पूर्वापरका विरोध परिहार हो सकता है तो इसी स्वीकृतिसे हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अपर पक्षने अपना मन्तव्य लिखनेके बाद एक उद्धरण आप्तपरीक्षा पृ० २४६ का भी उपस्थित किया है। उसमें परतन्त्रताके निमित्त (बाह्य हेतु) रूपसे कर्मको स्वीकार किया गया है। यहाँ ज्ञातव्य यह

है कि इस परतन्त्रताका कोई आभ्यन्तर (निश्चय हेतु) अवश्य होना चाहिए, क्योंकि परतन्त्रतारूप कार्यकी उत्पत्ति केवल बाह्य हेतुसे होती हो यह तो अपर पक्षको भी मान्य नहीं होगा। आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० ६५ में लिखते हैं—

दण्ड-कपाट-प्रतर-लोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षण-परप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः सोऽन्तरंगः सहकारी निःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे नामाद्यघातिकर्म-त्रयस्य निर्जरानुपपत्तेर्निःश्रेयसानुत्पत्तेः। आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा न पुनरुपक्रमात्, तस्यानपवर्त्यत्वात्। तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्तिं न सम्पादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात्।

जिसका दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रियासे अनुमान होता है और जो अपकर्षण तथा परप्रकृति संक्रमणका हेतु है ऐसा भगवान्‌का शक्तिविशेषरूप जो अपना परिणामविशेष है वह रत्नत्रयका निःश्रेयसकी उत्पत्तिमें अन्तरंग सहकारी कारण है, क्योंकि उसके अभावमें नामादि तीन अघाति कर्मोंकी न तो निर्जरा बन सकती है और न ही निःश्रेयसकी उत्पत्ति हो सकती है। आयु कर्मकी तो यथाकाल अनुभवसे ही निर्जरा हो जाती है, उपक्रमसे नहीं, क्योंकि वह अनपवर्त्य है। उसकी अपेक्षासे युक्त क्षायिक रत्नत्रय सयोगकेवलीके प्रथम समयमें मुक्तिको नहीं ही सम्पादित करता है, क्योंकि उस समय उसके सहकारी (अन्तरंग हेतु) का असत्त्व है।

इससे स्पष्ट है कि चौदहवें गुणस्थान तक जो यह जीव परतन्त्र बना हुआ है उसका अन्तरंग कारण स्वयं इस जीवकी शक्तिहीनता ही है। आचार्य विद्यानन्दिने सर्वत्र कर्मको परतन्त्रताका हेतु बतलाते हुए उसका निमित्तरूपसे इसीलिए उल्लेख किया है ताकि कोई जीवकी परतन्त्रताका मुख्य कर्ता द्रव्यकर्मोदयको न मान ले। उन्होंने द्रव्यकर्मोंको परतन्त्रताका निमित्त बतलाते हुए उसकी पुष्टिमें बेड़ी (निगड़) को दृष्टान्तरूपमें उपस्थित किया है। बेड़ी किसीको स्वयं परतन्त्र नहीं बनाती। यह उसका स्वभाव नहीं। किन्तु जब उसे अपने अपराधवश धारण किया जाता है तब वह परतन्त्रतामें बाह्य निमित्त होती है, अन्यथा नहीं। इससे स्पष्ट है कि जीवकी परतन्त्रताका मूल हेतु मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं। इन्हें संसार (परतन्त्रता) के मूल हेतु कहनेका भी यही कारण है। कर्म शब्द द्रव्यकर्मके लिए तो प्रयुक्त होता ही है, भावकर्मके लिए मुख्यतासे प्रयुक्त होता है, क्योंकि यथार्थमें द्रव्यकर्मको करना जीवका अपना कार्य न होकर भावकर्मको करना जीवका अपना कार्य है। अतएव वस्तुतः ये मिथ्यात्वादिभाव ही सम्यक्त्वादिके प्रतिबन्धक स्वीकार किये गये हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए भगवान् कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते हैं—

सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिवद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिवद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

जिनदेवने सम्यक्त्वका प्रतिबन्धक मिथ्यात्वको कहा है। उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि है ऐसा

जानना चाहिए ॥१६१॥ जिनवरने ज्ञानका प्रतिबन्धक अज्ञानको कहा है। उसके उदयसे जीव अज्ञानी है ऐसा जानना चाहिए ॥१६२॥ जिनवरने चारित्रका प्रतिबंधक कषायको कहा है। उसके उदयसे जीव अचारित्र है ऐसा जानना चाहिए ॥१६३॥

रत्नत्रय परिणत आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र है इसे अपर पक्ष स्वीकार करता ही है और उसके प्रतिबन्धक ये मिथ्यात्वादि भाव हैं, इसलिए ये स्वयं परतन्त्रस्वरूप होकर भी परतन्त्रताके मूल हेतु भी हैं ऐसा यहाँ स्वीकार करना चाहिए। परमें एकत्व बुद्धि करके या रागबुद्धि करके जब यह जीव मिथ्यात्व आदिरूपसे परिणमता है तभी ज्ञानावरणादि कर्मोंमें परतन्त्रताकी व्यवहारहेतुता बनती है, अन्यथा नहीं। हमने अपने पिछले वक्तव्यमें यही आशय व्यक्त किया है, अतः वह आगमानुकूल होनेसे प्रमाण है। आचार्य जयसेनने प्रवचनसार गाथा ४५ की टीकामें इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर यह वचन लिखा है—

द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति।

द्रव्यमोहके भी उदय रहने पर यदि जीव शुद्धात्मभावनाके बलसे भावमोहरूपसे नहीं परिणमता है तो उस समय बन्ध नहीं होता।

'बन्ध नहीं होता' यह नयवचन है। इससे ज्ञात होता है कि शुद्धात्मभावनाके अभावमें जिस स्थिति-अनुभागको लिए हुए या मात्र तन्निमित्तक जिन प्रकृतियोंका बन्ध होता है उस प्रकारका या उन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता।

पूरे कथनका तात्पर्य यह है कि जीवकी परतन्त्रताका यथार्थ कारण कषाय है, द्रव्यकर्म नहीं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ६ सू० ४ में लिखते हैं—

कषायहेतुकं पुंसः पारतन्त्र्यं समन्ततः।
सत्त्वान्तरानपेक्षीह पद्ममध्यगभृंगवत् ॥८॥
कषायविनिवृत्तौ तु पारतन्त्र्यं निवर्त्यते।
यथेह कस्यचिच्छान्तकषायावस्थितिक्षणे ॥९॥

इस लोकमें कमलके मध्यमें अवस्थित भौंरेके समान इस जीवकी परतन्त्रता सब ओरसे कषायहेतुक होती है ॥८॥ और किसी जीवकी इस लोकमें कषायके शान्त रहते समय परतन्त्रता दूर हो जाती है उसी प्रकार कषायके निवृत्त हो जाने पर इस जीवकी परतन्त्रता भी निवृत्त हो जाती है।

यद्यपि इन्हीं आचार्यने आप्तपरीक्षा कारिका ११४-११५ की टीकामें तथा पृष्ठ २४६ में द्रव्यकर्मको जीवकी परन्त्रताका हेतु बतलाया है और यहाँ वे ही आचार्य कषायको परतन्त्रताका हेतु लिख रहे हैं। परन्तु इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जीवकी परतन्त्रताका यथार्थ हेतु कषाय है और उपचरित हेतु द्रव्यकर्म है। इसलिए हमने अपने पिछले उत्तरमें इस विषयको ध्यान में रख कर जिन तथ्योंका प्ररूपण किया है वे यथार्थ हैं ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए।

९. समग्र आर्हतप्रवचन प्रमाण है

अपर पक्षने हमारे 'समयसार अध्यात्मकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला आगम ग्रन्थ है, शेष ग्रन्थ व्यवहारनयकी मुख्यतासे लिखे गये हैं।' इस कथनको तूल देकर इस वीतराग चर्चाको जो विकृतरूप प्रदान करनेका प्रयत्न किया है वह श्लाघ्य नहीं है। हमने उक्त वाक्य किस ग्रन्थमें किस नयकी मुख्यतासे कथन है इस दृष्टिको ध्यानमें रख कर ही लिखा है और यह अभिप्राय हमारा नहीं है, जगन्मान्य गुरुपदसमलंकृत

आचार्य अमृतचन्द्रका है यह स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय गाथा १३२ का टीकावचन भी प्रमाणरूपमें दे दिया है। हमारे उक्त कथनके आधारसे ये तथ्य फलित होते हैं—

१. समयसारमें मुख्यरूपसे निश्चयनयको लक्ष्यमें रख कर कथन किया गया है, गौणरूपसे व्यवहार-नयको लक्ष्यमें रख कर भी कथन किया गया है।

२. 'समयसार' यह वचन उपलक्षण है। इससे इसी प्रकारके अन्य आगमग्रन्थोंका भी परिग्रह हो जाता है,

३. शेष ग्रन्थोंमें व्यवहार नयको लक्ष्यमें रख कर मुख्यरूपसे कथन किया गया है, गौणरूपसे निश्चयनयको लक्ष्यमें रख कर भी कथन किया गया है।

४. 'शेष ग्रन्थ' यह वचन उपलक्षण है। इससे उन्हीं ग्रन्थोंका परिग्रह होता है जिनमें व्यवहारनयको लक्ष्यमें रख कर की गई कथनीकी मुख्यता है।

अपर पक्षने हमारे उक्त कथनके आधारसे विचित्र अभिप्राय फलित किया है और पर्यायान्तररूपसे आचार्य अमृतचन्द्रको भी उसमें सम्मिलित कर लिया है। यह आचार्य अमृतचन्द्रका ही तो वचन है—

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्.......परभावं परस्य विदधाति।

यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होनेसे.......परभावको परका कहता है—समयसार गा० ५६

यह आचार्य वचन ही तो है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।

अन्य द्रव्यमें प्रसिद्ध धर्मका अन्य द्रव्यमें समारोप करना असद्भूतव्यवहार है। असद्भूतव्यवहार ही उपचार है। —आलापपद्धति

और यह आचार्य वचन ही तो है—

अण्णेसि अण्णगुण भणइ असब्भूद....॥२२३॥—नयचक्रादिसंग्रह

असद्भूत व्यवहार अन्यके गुणको अन्यका कहता है।

ये हमारे वचन नहीं है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्षका यह लिखना—कि उपरोक्त वाक्य स्पष्टतया इस प्रकारके अन्तरंग अभिप्रायको द्योतित करता है कि समस्त जैनवाङ्मय (शास्त्रों) में एकमात्र समयसार ही अध्यात्मग्रन्थ होनेके कारण सत्यार्थ, प्रामाणिक तथा मान्य है और अन्य समस्त ग्रन्थ (चाहे वह स्वयं श्री कुन्दकुन्द आचार्य कृत भी क्यों न हों) व्यवहारनयकी मुख्यतासे होनेके कारण असत्य, अप्रामाणिक एवं अमान्य हैं, क्योंकि आपके द्वारा व्यवहारनयको कल्पनारोपित उपचरित या असत्य ही घोषित किया गया है। वरना इस वाक्यको लिखनेकी आवश्यकता ही न थी। श्री समयसारमें भी स्थान-स्थान पर व्यवहारका कथन है, अतः वह भी असत्य ही होंगे, इस अपेक्षासे तो यह भी लिखा जाना चाहिये था कि श्री समयसारके तो मात्र वही अंश ग्राह्य हैं जिनमें केवल निश्चयनयसे कथन है। यह ही तो एकान्त निश्चय मिथ्यावाद है।' आदि,

किन्तु यह शब्दावलि किसी भी अवस्थामें शोभनीक नहीं कही जा सकती। यह झुँझलाहट ही है, जिसे अपर पक्षने उक्त शब्दोंमें व्यक्त किया है।

यह अपर पक्षके वक्तव्यका कुछ अंश है। इसमें या इससे आगेके वक्तव्यमें बहुत कुछ कहा गया है। यदि हम उसके बहुत भीतर जायें तो उसके उत्तरमें बहुत कुछ लिखा जा सकता है और यह सप्रमाण

सिद्ध किया जा सकता है कि प्रस्तुत चर्चामें अपर पक्षने कहाँ तक वीतरागताका निर्वाह किया है। यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि कोई भी नय कल्पनारोपित, अप्रामाणिक या असत्य नहीं होता। व्यवहारनयके लिये इन शब्दोंका प्रयोग अपर पक्ष ही कर रहा है, इसका हमें आश्चर्य ही नहीं खेद भी है। निश्चयनय जैसा वस्तुका स्वरूप है उसे उसी रूपमें निरूपित करता है, सद्भूत व्यवहारनय सद्भूत अर्थमें ही व्यवहारकी प्रसिद्धि करता है और असद्भूत व्यवहारनय उपचरित अर्थकी ही प्रसिद्धि करता है। सभी नय अपने-अपने विषयका ही निरूपण करते हैं, इसलिये वे यथार्थ हैं। कल्पनारोपित नहीं है। यह अपर पक्ष ही बतलावे कि क्या कोई ऐसा व्यवहारनय है जो गधेके सींगकी या आकाशकुसुमकी कहीं सिद्धि करता है जिससे कि उसे कल्पनारोपित, अप्रामाणिक या असत्य कहा जाय। अपर पक्षने हमारे किस कथनके आधारपर व्यवहारनयके लिये इन शब्दोंका प्रयोग कर हम पर यह आरोप किया है कि हम व्यवहारनयको कल्पनारोपित आदि कहते हैं यह हम नहीं समझ सके। यदि प्रयोजनवश मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहा जाता है तो वह कल्पनारोपित कैसे कहलाया इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। फिर भी निश्चयनय मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका ही कहेगा। स्वरूपका ज्ञापक होनेसे, घड़ा घीका है इसका तो, वह निषेध ही करेगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन करे।

अपर पक्षका कहना है कि 'जो प्ररूपणा जिस नयसे की गई है उस नयसे वह यथार्थ है।' हम अपर पक्षको विश्वास दिलाते हैं कि हमने अपने समग्र उत्तर पत्रोंमें इसे मान्य रखा है। और यही कारण है कि अपर पक्षने जहाँ व्यवहारनयकी कथनीको उद्धृत किया है वहाँ अनेक स्थलोंपर हमने यह लिखकर उत्तर दिया है कि यह व्यवहारनयका कथन या वक्तव्य है।

अपर पक्षका हम पर यह भी आरोप है कि हमने 'सर्वश्री अकलंकदेव या विद्यानन्दि द्वारा रचित शास्त्रोंके प्रमाणोंकी अपेक्षा गृहस्थोंके द्वारा रचित भाषा भजनोंको अधिक प्रामाणिक माना है और उन भजनोंका प्रमाण देकर परम पूज्य महान् आचार्योंके आर्षग्रन्थोंका निराकरण (खण्डन) किया।' किन्तु यह विपरीत अर्थ अपर पक्षने कहाँसे फलित कर लिया? क्या किसी आचार्यकी प्रयोजनवश की गई व्यवहार प्ररूपणाको उसी रूपमें सूचित करना उसका खण्डन है? आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा ९८ में 'आत्मा घट पट रथको करता है' इसे व्यवहार कथन कहा है। यदि अन्यत्र ऐसी कथनी उपलब्ध होती है और हम उसे व्यवहारनयकी कथनी प्रसिद्ध करते हैं तो क्या इसे उस कथनीका खण्डन माना जाय? आश्चर्य! महान् आश्चर्य!!

अपर पक्षको समझना चाहिए कि खण्डनका अर्थ होता है किसी कथनको विविध उपायोंका अवलम्बन लेकर अप्रमाणित घोषित करना। किसी कथनको यह किस नयका कथन है यह बतलाना खण्डन नहीं कहलाता। हमें तो आचार्योंके वचनोंके प्रति श्रद्धा है ही, गृहस्थों द्वारा रचित भाषा-भजनोंके प्रति भी श्रद्धा है। जो भगवद्वाणी है वह श्रद्धास्पद है ऐसा हमारा निर्णय है। अपर पक्ष गृहस्थों द्वारा रचित भाषा-भजनोंके प्रति हीनताका भाव भले ही रखे, परन्तु इससे हमारी श्रद्धापर आँच आनेवाली नहीं है। यह हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि हजारों लाखों नर-नारी उन्हीं भाषा-भजनोंका आलम्बन लेकर वीतरागमार्गका अनुसरण

करते हैं। वे भाषा-भजन उपेक्षणीय नहीं। उनके प्रति किसी भी प्रकारसे लघुता प्रगट करना अनर्थको आमंत्रण देना है।

हमने पंचास्तिकाय गाथा १२३ का 'एवमनया दिशा' इत्यादि टीका वचन जिस प्रयोजनसे पिछले उत्तरमें उद्धृत किया है उसका निर्देश वहां कर दिया है। अपर पक्षको उसकी व्याख्या करके यह बतलाना था कि जिस प्रयोजनसे हमने उसे उद्धृत किया है वह प्रयोजन इससे सिद्ध नहीं होता। किन्तु यह सब कुछ न लिखकर मात्र यह लिखना कि 'वरना इस वाक्यको लिखनेकी आवश्यकता ही न थी।' कोई मायने नहीं रखता।

पं० फूलचन्द्रने धवल पु० १३ पृ० ३६ पर विशेषार्थमें धवलशास्त्रको अध्यात्मशास्त्र स्वीकार किया है, वह धवल शास्त्रके आधारपर ही स्वीकार किया है। वहाँ उसे अध्यात्मशास्त्र जिस कारण कहा गया है इसका निर्देश भी कर दिया है। हम चाहते हैं कि अपर पक्ष पंचास्तिकाय गा० १२३ के टीका वचन और धवला पु० १३ पृ० १३६ के उक्त वचन इन दोनोंको प्रमाण माने। हमें दोनोंकी प्रामाणिकतामें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। जो कथन जिस दृष्टिकोणसे किया गया है वह वैसा ही है, अन्यथा नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसार गाथा ९३ की टीकामें जो यह वचन लिखा है—'इयं हि सर्वपदार्थानां' इत्यादि। उसे समझकर अपर पक्षने जो एकान्त नियतिवादका निषेध किया है उसका हम स्वागत करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार त्रिकाली ध्रुवस्वभाव सदाकाल एकरूप नियत रहता है उस प्रकार पर्याय क्रमनियमित होकर भी अर्थात् क्रमसे अपने-अपने नियत कालमें उत्पन्न होकर भी अनियत अर्थात् वही वही न होकर अन्य-अन्य होती है। ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है, उसमें चारा किसका।

इस प्रकार द्वादशांग वाणीका अनुसरण करनेवाला प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और वर्तमान कालमें बोली जानेवाली गुजराती, हिन्दी, मराठी, कनडी, तमिल आदि भाषामें जितना भी जिनागम लिखा गया है वह सब प्रमाण है। वह सब जिनागम द्वादशांग ही है ऐसी जो श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष गृहस्थों द्वारा लिखित भाषा-भजनोंको उक्त पद्धतिसे प्रमाणकोटिमें स्वीकार करेगा। वीतराग वाणीका नाम जिनवाणी है। अतएव जो वचन इसका पदानुसरण करते हैं वे भी जिनवाणीके समान पूज्य हैं ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए। वे गृहस्थों द्वारा लिखे गये यह गौण है। उनमें जिन वाणीका गुण होना मुख्य है, क्योंकि पूज्यता उसीसे आती है।

१०. व्यवहार व्रत, तप आदि मोक्षके साक्षात् साधक नहीं

अपर पक्षने प्रतिशंका २ में लिखा था—'अब हम व्यवहारनयके विषयभूत व्यवहार क्रियाओंपर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। दिगम्बर जैनागममें व्यवहार धर्मके आधारपर ही निश्चयस्वरूप शुद्धात्माकी प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति बतलाई गई है।' आदि,

हमने इसे और इसके आगेके कथनको ध्यानमें रखकर समयसार गाथा १५३ के आधारसे स्पष्ट किया था कि 'व्रत, नियमरूप व्यवहार तो मिथ्यादृष्टिके भी होता है, परन्तु इसे पालता हुआ भी वह परमार्थ बाह्य बना रहता है, इसलिए निर्वाणको प्राप्त नहीं होता।' ऐसा हमारा लिखनेका आशय यह था

कि अपर पक्षकी व्यवहार धर्मके आधारपर ही निश्चयस्वरूप शुद्धात्माकी प्राप्तिकी जो मान्यता बनी हुई है वह छूट जाय। उक्त गाथाकी आत्मख्याति टीकाको उद्धृत करनेका भी हमारा यही आशय था।

प्रसन्नता है कि अपर पक्षने यह स्वीकार कर लिया है कि 'निर्विकल्प दशामें ये शुभ प्रवृत्तिरूप बाह्य व्रतादिक नहीं होते।' आत्मख्याति टीकाका आशय स्पष्ट करते समय हम 'व्रत, नियम, शील और तप' पदके पूर्व 'बाह्य' पद लगाना छोड़ गये थे। अपर पक्षने इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया, हमें इसकी भी प्रसन्नता है, क्योंकि उस पक्ष द्वारा उक्त तथ्य स्वीकार कर लेनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्विकल्प समाधिरूप रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्षका साक्षात् साधन है, व्यवहार क्रियारूप व्रत आदि नहीं।

फिर भी अपर पक्ष शुभरूप मन, वचन, कायके व्यापारको परम्परासे मुक्तिका साधन मानता है, इसलिए यह विचारणीय हो जाता है कि इस विषयमें आगमका आशय क्या है?

यदि अपर पक्ष 'शुभरूप मन-वचन-कायके व्यापार' पदसे द्रव्यमन, भाषा वर्गणाओंकी वचनरूप पर्याय और औदारिकादि शरीरकी क्रिया लेता है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ये तीनों पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं। वे न तो शुभ होते हैं और न अशुभ।

यदि अपर पक्ष उक्त पदसे मुख्यतया तीनों योगोंका परिग्रह करता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शुभ परिणामके कारण ही ये तीनों योग शुभ कहलाते हैं।

अतएव परिशेषन्यायसे अपर पक्षको इस पद द्वारा शुभ परिणामसे परिणत आत्माको ही ग्रहण करना पड़ेगा। प्रवचनसार गाथा ९ में भी यही कहा है। स्पष्ट है कि जहाँ भी आगममें बाह्य व्रतादिको शुभ कहा है वहाँ उनसे शुभ परिणामरूप व्रतादिको ही ग्रहण किया है। यदि कहीं वचन-कायक्रियाको शुभ या अशुभ कहा भी है तो उससे शुभाशुभ काययोग और शुभाशुभ वचनयोगका ही परिग्रह किया है, भाषारूपसे परिणत वचनक्रियाका या औदारिकादि शरीरक्रियाका नहीं।

अब देखना यह है कि आगममें जो शुभ व्रतादिको परम्परा मोक्षका हेतु कहा है उसका आशय क्या है? यद्यपि इस प्रश्नका उत्तर सीधा है कि ये व्रतादि यदि मोक्षके परम्परा हेतु होते अर्थात् आंशिक आत्मशुद्धिके कारण होते और इस प्रकार उत्तरोत्तर शुद्धिको प्राप्त कर यह जीव मोक्ष प्राप्त करता होता तो आगम (प्रवचनसार) में यह न लिखा होता कि 'जब यह आत्मा राग-द्वेषसे युक्त होकर शुभ और अशुभरूपसे परिणमता है तब ज्ञानावरणादिरूपसे कर्मोंका बन्ध होता है (१८७)। और न यह लिखा होता कि 'परको लक्ष्य कर किया गया शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है तथा जो परिणाम अन्यको लक्ष्य कर नहीं किया गया है वह दुःखके क्षयका कारण है (१८१)। तब तो ऐसा विवेक करनेकी आवश्यकता ही नहीं थी कि 'मैं न देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ। उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ' (१६०)। यह विवेक करानेकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती कि 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ, अरूपी हूँ। अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है' (समयसार गा० ३८)। बस, यह जीव देवादिकी भक्ति करता रहे, व्रतादिका पालन करता रहे, उसीसे आंशिक शुद्धि उत्पन्न होकर परम्परा मोक्ष हो जायगी। क्या अपर पक्षने इसका भी कभी विचार किया कि आगममें जो उक्त प्रकारका उपदेश दिया है वह क्यों दिया है? यदि वह पक्ष गहराईसे इसका विचार करे तो उसे यह निर्णय करनेमें

देर न लगे कि शुभ परिणाम मात्र वन्धका कारण होनेसे मोक्षमार्गमें हेय है। साक्षात् मुक्तिका कारण तो हो ही नहीं सकता, आंशिक शुद्धिका भी कारण नहीं है। वह परिणाम सम्यग्दृष्टिका ही क्यों न हो, है वह वन्धका ही कारण, क्योंकि मोक्ष या आंशिक शुद्धिके कारणभूत परिणामसे उस परिणामकी जाति ही भिन्न है। यदि किसीके पगमें हलकी वेड़ी पड़ी हो, इसलिए कोई उसे देख कर यह कहे कि यह वेड़ी परम्परा अर्थात् क्रमसे मुक्तिका कारण है तो जैसे यह वात उपहासास्पद मानी जायगी वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए। अतः आईए, मिलकर विचार करें कि आगममें जो शुभ व्रतादिको मुक्तिका कारण कहा है उसका क्या तात्पर्य है। समयसार कलशमें इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

> तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्य वा किल।
> यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

वास्तवमें वह सामर्थ्य ज्ञावकी ही है अथवा विरागकी ही है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोंको भोगता हुआ भी कर्मोंसे नहीं वँधता ॥१३४॥

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट शब्दोंमें समझाते हुए वहाँ लिखा है—

> ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
> लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१४९॥

ज्ञानी जीव निजरससे ही सर्व रागरसके वर्जनस्वभाववाला है, इसलिए वह कर्मोंके बीच पड़ा हुआ भी सव प्रकारके कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥१४९॥

ज्ञानीकी ऐसी परिणति निरन्तर चलती रहती है। साथ ही इसमें जितनी प्रगाढ़ता आती जाती है उतनी ही विशुद्धिमें वृद्धि होती जाती है तथा कर्मवन्धके निमित्तभूत राग-द्वेपादिमें और सुख-दुखपरिणाममें हानि होती जाती है। यतः ये राग-द्वेपादि परिणाम आत्मविशुद्धिके सद्भाव और उसकी वृद्धिमें वाधक नहीं हो पाते, अतः देवादिविपयक और व्रतादि विपयक इन परिणामोंको व्यवहारसे परम्परा मोक्षका हेतु कहा है। ये आत्मशुद्धिको उत्पन्न करते हैं, इसलिए नहीं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वहीं लिखा है—

> यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
> कर्म-ज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
> किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म वन्धाय तत्
> मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

जव तक ज्ञानकी कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होती तव तक कर्म और ज्ञानका समुच्चय (मिलकर रहना) भी शास्त्रमें कहा है, इस प्रकार दोनोंके मिलकर रहनेमें कोई क्षति नहीं है। किन्तु यहाँ इतना विशेप जानना चाहिए कि आत्मामें अवशपने (हीन पुरुपार्थताके कारण) जो कर्म प्रगट होता है वह तो वन्धका कारण है और जो परद्रव्य-भावोंसे स्वतः विमुक्त परम ज्ञान है वह एकमात्र मोक्षका हेतु है ॥११०॥

ये व्रतादिक या अर्हद्भक्ति आदिक परम्परा मोक्षके हेतु हैं इसका यह आशय है कि जो ज्ञानी मोक्षके लिए उद्यतमन है जिसने अचिन्त्य संयम और तपभारको प्राप्त किया है। किन्तु जो वर्तमान भवमें परम

वैराग्यभूमिकाको आरोहण करनेमें असमर्थ है वह जैसे धुनकीमें चिपकी हुई रुई जल्दी छूटती नहीं वैसे ही अर्हदादिविषयक या नौ पदार्थविषयक परसमय प्रवृत्तिको छोड़नेमें विशेष उत्साहवान् न होनेके कारण उसी भवमें मोक्षको न प्राप्तकर पहले सुरलोक आदि सम्बन्धी क्लेशपरम्पराको भोग कर अन्तमें मुक्तिको प्राप्त होता है। यह 'व्रतादि और अर्हद्भक्ति आदि परम्परासे मोक्षके हेतु हैं' इसका तात्पर्य है, यह नहीं कि वे व्रतादिक और अर्हद्भक्ति आदिक प्रथम भूमिकामें आत्माकी आंशिक शुद्धिके हेतु हैं और इस प्रकार ये परम्परासे मोक्षके हेतु बन जाते हैं। इसी तथ्यको आचार्य अमृतचन्द्रने पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीकामें स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—

यः खलु मोक्षार्थमुद्यतमनाः समुपार्जिताचिन्त्यसंयमतपोभारोऽप्यसंभावितपरमवैराग्यभूमिकाधिरोहणप्रभुशक्तिः पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्यायेन नवपदार्थैः सहार्हदादिभक्तिरूपां परसमयप्रवृत्तिं परित्यक्तुं नोत्सहते स खलु नाम साक्षान्मोक्षं न लभते, किन्तु सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिरूपया परम्परया तमवाप्नोति।

इस प्रकार व्यवहार व्रत आदि मोक्षके साक्षात् साधक न होने पर भी आगममें जो उन्हें परम्परा साधक कहा उसका क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण किया।

११. प्रकृतमें 'ज्ञान' पदका अर्थ

परमागमस्वरूप समयसारमें 'ज्ञान ही मोक्षका साधन है' ऐसा कहा है। उसका क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण अपर पक्षने किया है। इस पर विशेष प्रकाश समयसार गाथा १५५ के विशेषार्थसे पड़ता है, इसलिए उसे यहाँ दे रहे हैं—

आत्माका असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है और इस प्रकरणमें ज्ञानको ही प्रधान करके विवेचन किया है। इसलिए, 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' यह कहकर ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। ज्ञान है वह अभेदविवक्षामें आत्मा ही है ऐसा कहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है, इसलिए टीकामें कई स्थानोंपर आचार्यदेवने ज्ञानस्वरूप आत्माको 'ज्ञान' शब्दसे कहा है।

एक बात यह भी है कि जहाँ क्रियाको मोक्षका साधन कहा है वहाँ उसका अर्थ रागादिका परिहाररूप स्वरूपस्थिति ही करना चाहिए। पण्डितप्रवर टोडरमल्लजीने सांचा मोक्षमार्ग क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ३७० में लिखा है—

शुद्ध आत्माका अनुभव सांचा मोक्षमार्ग है।

पापक्रियाकी निवृत्ति चारित्र है इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य वीरसेन धवला पु० ६ पृ० ४० में लिखते हैं—

पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्। घातिकर्माणि पावं। तेसिं किरिया मिच्छत्तासंजमकसाया। तेसिमभावो चारित्तं।

पापक्रियाकी निवृत्ति चारित्र है। घातिकर्म पाप हैं। उनकी क्रिया मिथ्यात्व, असंयम और कषाय हैं। उनका अभाव चारित्र है।

स्पष्ट है कि मोक्षमार्गमें 'क्रिया' पद द्वारा स्वरूपस्थितिका ही ग्रहण किया है, मिथ्यात्वरूप और शुभाशुभ भावोंका नहीं।

तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ११ के 'हतं ज्ञानं क्रियाहीनं' आदि उद्धृत श्लोकका यही तात्पर्य है।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि यदि ऐसी बात है तो व्रत, शील आदिको परमागममें मोक्षमार्ग क्यों कहा ? यह प्रश्न है। इसका समाधान करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ३७४ में लिखते हैं—

बहुरि परद्रव्यका निमित्त मेटनेकी अपेक्षा व्रत, शील, संयमादिककों मोक्षमार्ग कह्या सो इन ही कौं मोक्षमार्ग न मानि लेना। जातैं पर द्रव्यका ग्रहण-त्याग आत्माकै होय तौ आत्मा पर द्रव्यका कर्ता-हर्ता होय।

इस प्रकार ज्ञान ही मोक्षका साधन है इसका स्पष्टीकरण किया।

१२. सम्यक्त्व प्राप्तिके उत्कृष्ट कालका विचार

परमागममें यह जीव अधिकसे अधिक कितने कालके शेष रहनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है इसका विचार करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ० २ सू० ३ में लिखा है—

तत्र काललब्धिस्तावत् कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्व-ग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिक इतीयं काललब्धिरेका।

वहाँ काललब्धि तो कर्माविष्ट भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरिवर्तन नामवाले कालके शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणके योग्य होता है, अधिक काल रहने पर नहीं, यह एक काललब्धि है।

आचार्य पूज्यपादने भी सर्वार्थसिद्धि अ० २ सू० ३ में इन्हीं शब्दोंमें इसी बातको स्वीकार किया है।

१. यहाँ 'काल' पद विशेष्य है और 'अर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्य' पद विशेषण है। इससे हम जानते हैं कि प्रकृतमें एक समय, एक आवलि, एक उच्छ्वास, एक मुहूर्त, एक दिन-रात, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन, एक वर्ष, संख्यात वर्ष, असंख्यात वर्ष, पल्योपम-का असंख्यातवाँ भाग, पल्योपमका संख्यातवां भाग, एक सागरोपम, संख्यात सागरोपम, लोकका असंख्यातवां भाग, एक लोक, अंगुलका असंख्यातवां भाग, अंगुलका संख्यातवां भाग, क्षुल्लकभवग्रहण, पूर्वकोटि, पूर्वकोटिपृथक्त्व, असंख्यात लोक और अनन्तकाल आदि जिनका नाम है वे सब काल यहाँ पर नहीं लेने हैं। किन्तु यहाँ पर अर्धपुद्गलपरिवर्तन नामवाला काल लेना है। इसका यह आशय फलित हुआ कि आगममें जहाँ भी यह लिखा है कि अर्धपुद्गलपरिवर्तन कालके या अर्धपुद्गलपरिवर्तन नामवाले कालके शेष रहने पर यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणके योग्य होता है वहाँ उसका यही तात्पर्य है कि जब इस जीवको मोक्ष जानेके लिए अधिकसे अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण काल शेष रहता है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण कर सकता है, इससे अधिक कालके शेष रहनेपर नहीं। जहाँ समय, आवलि, उच्छ्वास, अन्तर्मुहूर्त, दिन-रात, सप्ताह पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्षादिके द्वारा कालका ज्ञान नहीं कराया जा सकता है वहाँ पल्योपम, सागरोपम, लोक, पुद्गलपरिवर्तन, और अर्धपुद्गलपरिवर्तन आदि उपमानोंके द्वारा उपमेयका ज्ञान कराया जाता है। यहाँ मोक्ष जानेके अधिकसे अधिक कितने काल पूर्व यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है इसका ज्ञान करानेके लिए इसी पद्धतिको अपनाया गया है।

२. कालप्ररूपणामें और अन्तरकालप्ररूपणामें कालकी ही मुख्यता रहती है। कालप्ररूपणामें यह बतलाया जाता है कि कमसे कम कितने कालतक और अधिकसे अधिक कितने कालतक यह जीव विवक्षित गुणस्थान या मार्गणास्थान आदिमें रहेगा। और अन्तर काल प्ररूपणामें यह बतलाया जाता है कि कमसे कम कितने काल बाद और अधिकसे अधिक कितने कालबाद यह जीव पुनः विवक्षित गुणस्थान या मार्गणास्थान आदिको प्राप्त करेगा और जिस गुणस्थान या मार्गणास्थानका एक जीव या नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरकाल नहीं बनता वहाँ उसका निषेध कर उसे निरन्तर बतलाया जाता है। इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि आगममें कालप्ररूपणामें जहाँ भी 'अर्धपुद्गलपरिवर्तन' पद आया है वहाँ उससे अर्धपुद्गलपरिवर्तनको ग्रहण न कर मात्र उसमें जितना काल लगता है उस कालको ग्रहण किया गया है।

प्रत्येक कार्य अपने प्रतिनियत कालके प्राप्त होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं होता इस तथ्यका खण्डन करनेके लिए आजकल यह भी कहा जाने लगा है कि अधिकसे अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तन कालके शेष रहने पर सम्यक्त्व प्राप्त होता है इसका आशय यह है कि जब जब यह जीव पुद्गलपरिवर्तन करता है तब तब उस परिवर्तनके आधे शेष रह जाने पर सम्यक्त्वको प्राप्त करनेकी योग्यता उत्पन्न होती है।

हमारे सामने यह प्रश्न रहा है और यहाँ भी अपर पक्षने जो कुछ भी लिखा है उससे यह भाव झलकता है, इसलिए हमें पूर्वोक्त स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

३. यह तो अपर पक्ष ही जानता है कि करणलब्धि द्रव्य, क्षेत्र आदि किसी भी परिवर्तनमें पड़े हुए जीवके न होकर उसका उच्छेद करने पर ही हो सकती है। स्पष्ट है कि जो जीव पुद्गलपरिवर्तन कर रहा है वह उसे करते हुए तो न करणलब्धि कर सकता है और न ही सम्यक्त्वको ही प्राप्त कर सकता है।

यदि कहा जाय कि जिस समय यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके सन्मुख होकर करणलब्धि करता है उस समय पुद्गलपरिवर्तनका विच्छेद होकर सम्यक्त्व प्राप्त करनेके समय सम्यक्त्व गुणके कारण उसका आधा काल रह जाता है? समाधान यह है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखसे यह आशय व्यक्त नहीं होता, क्योंकि उसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि कितना काल अवशिष्ट रहने पर अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणके योग्य होता है। इसका आशय तो इतना ही है कि यहाँसे लेकर यह जीव सदा प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणके योग्य है। जिस प्रकार संज्ञी पर्याप्तक कर्मभूमिज मनुष्यके सम्बन्धमें आगममें यह विधान है कि आठ वर्षका होने पर ऐसा मनुष्य सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमके ग्रहणके योग्य होता है। उसी प्रकारका यह विधान है। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। बाह्य सामग्रीके साथ यदि अन्तःसामग्रीकी अनुकूलता होती है तो कर लेता है, अन्यथा नहीं करता। कोई एक नियम नहीं, क्योंकि प्रत्येक जीवके अपने-अपने प्रतिनियत कार्योंका स्वकाल पृथक्-पृथक् है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ का भी यही आशय है।

४. अपर पक्षने धवला पु० ४ और ५ के दो प्रमाण दिये हैं। धवला पु० ४ के प्रमाणमें सम्यक्त्वकी मात्र महत्ता दिखलाई गई है, अन्यथा जो जो अनादि मिथ्यादृष्टि प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करे उन सबको अर्ध-पुद्गलपरिवर्तन काल तक संसारमें रहनेका प्रसंग उपस्थित होता है। किन्तु उक्त आगमका यह अभिप्राय नहीं है, क्योंकि कितने ही जीवोंको अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण कालके शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त होता है और कितने ही जीवोंको इससे कम काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६१ में लिखते हैं—

तथा कश्चित् संसारी सम्भवदासन्नमुक्तिरभिव्यक्तसम्यग्दर्शनादिपरिणामः, परोऽनन्तेनापि कालेन सम्भवदभिव्यक्तसद्दर्शनादिः ।

उसी प्रकार जिसे मुक्ति प्राप्त करना आसन्न-अतिनिकट है ऐसा संसारी जीव सम्यग्दर्शनादि परिणामको उत्पन्न करता है । दूसरा अनन्त कालके द्वारा भी सम्यग्दर्शनादि परिणामको उत्पन्न करता है ।

यदि अपर पक्ष कहे कि जो-जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है उन सबका सम्यक्त्व गुणके कारण मोक्ष प्राप्त करनेका काल तो अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण ही शेष रहता है । किन्तु बादमें कोई जीव उसे घटा लेते हैं और कोई जीव नहीं घटा पाते ? समाधान यह है कि—

(क) एक तो अपर पक्षके इस कथनका तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिके उक्त कथनके साथ स्पष्ट विरोध आता है, क्योंकि उन ग्रन्थोंके उक्त कथनमें सामान्य योग्यताका निर्देश करते हुए मात्र इतना ही कहा गया है कि अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण कालके शेष रहने पर संसारी जीव प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणके योग्य होता है । अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण कालके शेष रहने पर नियमसे प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है यह नहीं कहा गया है । अतः उक्त कथनको नियम वचन न जान कर मात्र सम्यक्त्वको प्राप्त करनेकी योग्यता, मोक्ष जानेके लिए संसारमें कितना काल शेष रह जानेपर, प्राप्त हो जाती है इस प्रकार योग्यताका सूचक वचन जानना चाहिए ।

(ख) दूसरे कोई जीव सम्यक्त्व गुणके कारण अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण कालमें और भी कमी कर लेते हैं और कोई जीव नहीं कर पाते, यदि ऐसा माना जाय तो पृथक्-पृथक् जीवोंकी अपेक्षा सम्यक्त्व गुणकी पृथक्-पृथक् सामर्थ्य माननेका प्रसंग उपस्थित होता है, जो युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जो विविध आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं उनसे अपर पक्ष अपने कथनकी रक्षा नहीं कर सकता । यथा—३ ऐसे जीव लीजिए, जिन्होंने एक साथ प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न किया है । उनमेंसे अन्तर्मुहूर्तबाद एक जीव वेदकसम्यग्दृष्टि बनता है, दूसरा मिश्र गुणस्थानमें जाता है और तीसरा मिथ्यादृष्टि हो जाता है । सो क्यों ? मालूम पड़ता है कि अपर पक्षने इस तथ्य पर अणुमात्र भी विचार नहीं किया । जब कि इन तीनों जीवोंने एक साथ सम्यक्त्व उत्पन्न किया है और वे तीनों ही जीव अनन्त संसारका उच्छेद कर सम्यक्त्व गुणके कारण उसे अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण कर लेते हैं । ऐसी अवस्थामें वे उसी सम्यक्त्व गुणके कारण ऐसी सामर्थ्य क्यों नहीं उत्पन्न कर पाते जिससे उन्हें पुनः मिथ्यादृष्टि या मिश्र गुणस्थानवाला बननेका प्रसंग ही उपस्थित न हो । अपर पक्ष इन जीवोंकी सम्यक्त्व गुणसम्बन्धी हीनाधिकताको तो इसका कारण कह नहीं सकता और न ही मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मोंकी बलवत्ताको इसका कारण कह सकता है, क्योंकि इन जीवोंमें सम्यक्त्व गुणकी हीनाधिकता मानने पर अपर पक्षका यह कथन कि वे जीव सम्यक्त्व गुणके कारण अनन्त संसारका उच्छेद कर समानरूपसे अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण कर लेते हैं कोई मायने नहीं रखता । अनन्त संसारका उच्छेद करनेकी सम्यक्त्व गुणकी सामर्थ्य मानी जाय और संसारकी जड़ मिथ्यात्वके समूल नाश करनेकी सामर्थ्य न मानी जाय इसे भला कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा ।

(ग) तीसरे धवला पु० ४ पृ० ३३५ में यह वचन आया है कि—

सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि ।

सम्यक्त्व गुणके कारण पहलेके अपरीत संसारका उच्छेदकर परीत पुद्गलपरिवर्तनका अर्धमात्र होकर उत्कृष्टरूपसे ठहरता है ।

धवला पु० ५ में यह वचन भी आया है कि—

अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपुग्गलपरियट्टमेत्तो कदो।

अनन्त संसारका छेद हुआ, अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण किया।

इस प्रकार अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें समझकर धवलाके ये दो वचन उद्धृत किये हैं। अब विचार यह करना है कि धवलाके उक्त कथनोंका आशय क्या है? इन उल्लेखोंमेंसे प्रथममें 'पहलेके अपरीत संसारका नाशकर उत्कृष्टरूपसे सम्यक्त्व गुणके कारण अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण परीत संसारकर लेनेकी' बात कही गई है। तथा दूसरे उल्लेखमें 'सम्यक्त्वगुणके कारण अनन्त संसारका छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण काल कर लेनेकी' बात कही गई है। किन्तु इन उल्लेखोंसे यह ज्ञात नहीं होता कि यहाँ 'अपरीत' और 'अनन्त' शब्दका क्या आशय है? और सम्यक्त्व गुणके द्वारा यदि अपरीत या अनन्त संसारका उच्छेद होता है तो जो परीत संसार शेष रहता है उसका क्या आशय है? वह अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परिवर्तनप्रमाण या कमसे कम अन्तर्मुहूर्तप्रमाण शेष रहता है, मात्र इतना ही उसका आशय है या ये 'अपरीत, परीत और अनन्त' शब्द नयवचन होनेसे किसी दूसरे अभिप्रायको सूचित करते हैं? प्रश्न मार्मिक है, अतएव आगमके प्रकाशमें इन पर विचार करना होगा। आईए, इन शब्दोंमें निहित तथ्योंपर विचार करें—

मूलाचार अधिकार २ में मरणकालमें सम्यक्त्वकी विराधनाकर जो जीव मरण करते हैं उनको ध्यानमें रखकर विचार करते हुए आचार्य लिखते हैं—

मरणे विराहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही।
संसारो य अणंतो होइ पुण आगमे काले ॥६१॥

मरणके समय सम्यक्त्वकी विराधना करनेपर देवदुर्गति तकका प्राप्त करना दुर्लभ है, बोधि-रत्नत्रयका प्राप्त करना तो दुर्लभ है ही। जीवका संसार अनन्त होता है ॥६१॥

यहाँ 'अनन्त' पदका अर्थ करते हुए टीकामें लिखा है—

अणंतो अनन्तः अर्धपुद्गलप्रमाणः कुतोऽस्यानन्तत्वम्, केवलज्ञानविषयत्वात्।

अनन्तका अर्थ है अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण।

शंका—यह काल अनन्त कैसे है?

समाधान—केवलज्ञानका विषय होनेसे इस कालको अनन्त कहा है।

यह आगमप्रमाण है। इससे विदित होता है कि जहाँ भी आगममें 'सम्यक्त्व गुणके कारण अनन्त संसारका छेद किया।' यह वचन आया है वहाँ उसका यही आशय है कि 'सम्यक्त्व गुणके प्राप्त होनेपर ऐसे जीवका संसारमें रहनेका जो उत्कृष्ट काल अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण शेष रहा था वह घटने तो अवश्य लगता है, किन्तु ऐसा जीव नियमसे पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है, अतः वह पुनः अनन्तसंसारी कहलाने लगता है। यद्यपि ऐसा जीव अधिकसे अधिक कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण काल तक ही मिथ्यादृष्टि बना रहता है, पर वह कहलाता है अनन्तसंसारी ही। इससे यह तात्पर्य फलित हुआ कि मिथ्यादृष्टिकी अनन्त संसारी संज्ञा है और सम्यग्दृष्टिको इसके विपरीत सान्त संसारी कहते हैं। श्रीधवलजीमें आचार्य वीरसेनने जो 'सम्मत्तगुणेण अणंतसंसारो छिण्णो' यह वचन दिया है उसका भी यही आशय है।

उस वचनका फलितार्थ यह है कि सम्यक्त्व गुणके कारण इस जीवने अनन्त संसार अर्थात् मिथ्यात्वका नाश किया। अन्यथा जो सम्यग्दृष्टि अपनी संक्लेशकी बहुलतावश पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है उसे अनन्तसंसारी कहना नहीं बन सकता।

इस प्रकार प्रकृतमें 'सम्यक्त्व गुणके कारण अनन्त संसारका छेद किया' धवलाके इस वचनका क्या आशय है यह स्पष्ट किया। आगे इसी प्रसंगसे जो 'परीत' और 'अपरीत' शब्दोंका प्रयोग हुआ है इनका क्या आशय है इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

मूलाचार अ० २ गा० ७२ की टीकामें 'परीत' शब्दके अर्थ पर प्रकाश डालते हुए संस्कृत टीकाकार लिखते हैं—

ते होंति-ते भवन्ति, परित्तसंसारा-परीतः परित्यक्तः परिमितो वा संसारः चतुर्गतिगमनं येषां यैर्वा ते परीतसंसाराः परित्यक्तसंसृतयो वा।

वे परीत संसारी होते हैं अर्थात् जिनका संसार अर्थात् चतुर्गतिगमन परीत अर्थात् परित्यक्त या परिमित हो जाता है वे परीतसंसारी या परित्यक्तसंसारी हैं।

इससे विदित होता है कि सम्यग्दृष्टिकी परित्यक्तसंसारी और मिथ्यादृष्टिकी अपरित्यक्तसंसारी संज्ञा मुख्यरूपसे है, जो उचित ही है, क्योंकि मुख्यतासे मिथ्यात्वका नाम ही संसार है और मिथ्यात्वका दूर होना ही संसारका त्याग है। पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने नाटक समयसारमें सम्यग्दृष्टिको जिनेश्वरका लघुनन्दन इसी अभिप्रायसे सूचित किया है। विचार कर देखा जाय तो मिथ्यात्वका उच्छेद होना ही संसारका उच्छेद है। आचार्य कुन्दकुन्दने सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल इसी आशयसे कहा है। मिथ्यात्वरूपी महामल्लके परास्त करनेपर अन्य कषायादिका उच्छेद करना दुर्लभ नहीं है यह उक्त कथनका आशय है। अतएव प्रकृतमें धवलाके 'अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण' पदका अर्थ पूर्वोक्त प्रमाण करना ही उचित है।

धवलाके उक्त उल्लेखमें सम्यक्त्व गुणके कारण अनन्त या अपरीत संसारका नाशकर उससे उत्कृष्ट रूपसे परीत अर्थात् अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण किया यह कहा है। सो इस उल्लेख परसे उक्त काल तक संसारको बनाये रखना सम्यक्त्वका कार्य नहीं समझना चाहिए। फिर भी उक्त उल्लेखमें जो उत्कृष्टरूपसे 'अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण किया' यह कहा गया है वह मात्र इस तथ्यको सूचित करता है कि ऐसे जीवका उत्कृष्ट काल इतना शेष रहता है, तभी समग्र आगमकी संगति बैठ सकती है। सम्यक्त्वगुण संसारके उच्छेदमें हेतु है, संसारके बनाये रखनेमें नहीं। सम्यक्त्वके प्राप्त होने पर किसीका कम और किसीका अधिक जो संसार बना रहता है उसके अन्तरंग-बहिरंग हेतु अन्य हैं। उनमें प्रमुख हेतु काललब्धि है। सब कार्योंकी अपनी-अपनी काललब्धि होती है। इसके अनुसार अपने-अपने कालमें सब कार्य होकर आगेके कार्योंके लिए वे यथायोग्य हेतु संज्ञाको प्राप्त होते रहते हैं। जगत्‌का क्रम इसी पद्धतिसे चल रहा है और चलता रहेगा।

धवला पु० ६ पृ० २०५ में सम्यक्त्वके प्रसंगसे यह प्रश्न उठाया गया है कि सूत्रमें मात्र काललब्धि कही है। उसमें इन लब्धियोंका सम्भव कैसे है? इसका समाधान करते हुए वीरसेन आचार्य लिखते हैं कि सूत्रमें जो प्रति समय अनन्त गुणहीन अनुभाग उदीरणा, अनन्त गुणक्रमसे वर्धमान विशुद्धि और आचार्यके उपदेशकी प्राप्ति कही है वह सब उसी काललब्धिके होनेपर ही सम्भव

हैं। इससे स्पष्ट है कि सब कार्य अपनी-अपनी काललब्धिके प्राप्त होने पर ही होते हैं। किसी अनादि मिथ्यादृष्टिको प्रथम सम्यक्त्व अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण कालके शेष रहनेपर होता है, किसीको इसमें एक समय, दो समय, तीन समय आदि संख्यात समय, असंख्यात समय काल कम होकर प्रथम सम्यक्त्व होता है उसका प्रमुख कारण काललब्धि ही है, अतः सम्यक्त्वोत्पत्तिका काल नियत नहीं है ऐसा लिखकर प्रत्येक कार्यकी काललब्धिकी अवहेलना करना उचित नहीं है। सब जीवोंका विवक्षित एक कार्य एक कालमें न हो यह दूसरी बात है, परन्तु प्रत्येक जीवका प्रत्येक कार्य अपने-अपने नियत कालमें ही होता है यह सुनिश्चित है। काललब्धिका ऐसा ही माहात्म्य है। धवला पु० ६ पृ० २०५ का वह उल्लेख इस प्रकार है—

सुत्ते काललद्धी चेव परूविदा, तम्हि एदासिं लद्धीणं कधं सम्भवो? ण, पडिसमयमणंतगुण-अणुभागुदीरणाए अणंतगुणकमेण वड्ढमाणविसोहीए आइरियोवदेसलंभस्स य तत्थेव संभवादो।

आशय पूर्वमें दिया ही है।

५. अपर पक्षने पंचास्तिकाय गा० २० की आचार्य जयसेनकृत टीकाका एक वाक्यांश उद्धृतकर अपने पक्षका समर्थन करना चाहा है, किन्तु वह इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि आचार्य जयसेनने वेणु (बाँस) दण्डको उदाहरणरूपमें उपस्थितकर उसके पूर्वार्ध भागको ही विचित्र-चित्ररूप बतलाया है। उसके उत्तरार्ध को तो वे विचित्र-चित्रपनेका अभाव होनेसे शुद्ध ही सूचित कर रहे हैं। स्पष्ट है कि इस उदाहरणसे तो यही सिद्ध होता है कि इस जीवकी जितनी सुनिश्चित संसार अवस्था है वह प्रतिनियत नानारूप है, मुक्त अवस्था नहीं। उनके उस कथनका प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है—

यथैको महान् वेणुदण्डः पूर्वार्धभागे विचित्रचित्रेण खचितः शबलितो मिश्रितः तिष्ठति। तस्मादूर्ध्वार्ध-भागे विचित्रचित्राभावाच्छुद्ध एव तिष्ठति। तत्र यदा कोऽपि देवदत्तो दृष्टावलोकनं करोति तदा भ्रान्तिज्ञान-वशेन विचित्रचित्रवशादशुद्धत्वं ज्ञात्वा तस्मादुत्तरार्धभागेऽप्यशुद्धत्वं मन्यते। आदि,

जिस प्रकार एक बहुत बड़ा वेणुदण्ड पूर्वार्धभागमें विचित्र-चित्ररूपसे खचित होकर शबलित मिश्रित स्थित है। परन्तु उससे ऊपरके अर्धभागमें विचित्र-चित्रका अभाव होनेसे शुद्ध ही स्थित है। उसपर जब कोई देवदत्त दृष्टि डालता है तब भ्रान्तिज्ञानके कारण विचित्र-चित्रवश अशुद्धताको जानकर उससे उत्तरार्ध भागमें भी वह अशुद्धता मानता है। आदि।

यह आचार्य जयसेनकी टीकाका कुछ अंश है। आचार्य अमृतचन्द्रने भी एक बड़े भारी वेणुदण्डको उदाहरणरूपमें उपस्थितकर इस विषयको समझाया है। विद्वान् पाठक इन दोनों टीका वचनोंको सावधानी पूर्वक अवलोकन कर लें। इस उदाहरणसे ये तथ्य फलित होते हैं—

१. द्रव्यार्थिक दृष्टिसे देखनेपर पूरा वेणुदण्ड शुद्ध ही है।

२. पर्यायार्थिक दृष्टिसे देखनेपर वेणुदण्डका प्रारम्भका कुछ भाग अशुद्ध है, शेष बहुभाग शुद्ध है।

३. वेणुदण्डमें पर्याय दृष्टिसे अशुद्धता वहीं तक प्राप्त होती है जहाँ तक वह अशुद्ध है। उसके बाद नियमसे पर्यायदृष्टिसे शुद्धता प्रगट हो जाती है।

यह उदाहरण है। इसे भव्य जीवपर लागू करनेपर विदित होता है कि यह जीव द्रव्यदृष्टिसे सदा शुद्ध है। पर्यायदृष्टिसे अशुद्धता नियत काल तक ही है। उसके व्यतीत होनेपर वह पर्यायमें भी शुद्ध ही है। इससे स्पष्ट है कि सभी कार्य अपने-अपने स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं। आगममें जो कार्य-

कारणभावका निर्देश किया है वह केवल यह बतलानेके लिए ही किया है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें होकर भी किस क्रमसे होते हैं। कार्य-कारणभाव मात्र इसी नियमको सूचित करता है। कोई भी कार्य अपने स्वकालको छोड़कर कभी भी किया जा सकता है इस नियमको नहीं।

१३. प्रतिनियत कार्य प्रतिनयत कालमें ही होता है।

अपर पक्षने परीक्षामुख अ० १ के कुछ सूत्र और उनका अर्थ देकर यह लिखा है कि 'जिस प्रकार घट-पट आदिकी ओर उपयोग ले जाकर जाननेका कोई नियत काल नहीं है, उसी प्रकार स्वोन्मुख होकर स्वको जाननेका भी कोई नियत काल नहीं है, क्योंकि सर्व कार्योंका नियामक कोई नियत काल नहीं है, किन्तु बाह्य-आभ्यन्तर समर्थ कारण सामग्री कार्यकी नियामक है।' आदि,

समाधान यह है कि उस बाह्य-आभ्यन्तर प्रतिनियत सामग्रीमें प्रतिनियत काल भी सम्मिलित है। इससे सिद्ध होता है कि प्रतिनियत कालमें ही प्रतिनियत सामग्रीकी उपलब्धि होती है और उसे निमित्त कर प्रतिनियत कार्यकी ही उत्पत्ति होती है। कोई किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता। अपने-अपने कालमें प्रतिनियत सामग्री प्राप्त होती है। अन्य सामग्रीके कालमें वह प्राप्त हो भी नहीं सकती, क्योंकि वह अन्य सामग्रीके प्राप्त होनेका स्वकाल है। यदि अन्य सामग्रीके कालमें उससे जुदी दूसरी सामग्री प्राप्त होने लगे तो किसी भी सामग्रीको प्राप्त होनेका अवसर न मिल सकनेसे कारणरूप बाह्याभ्यन्तर सामग्रीका अभाव हो जायगा और उसका अभाव होनेसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। परिणामस्वरूप उत्पाद-व्ययका अभाव होनेसे द्रव्यका ही अभाव हो जायगा। यतः द्रव्यका अभाव न हो, अतः प्रतिनियत कालमें प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके साथ प्रतिनियत पुरुषार्थको स्वीकार कर लेना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि प्रतिनियत कालमें प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्री प्राप्त होकर उससे प्रतिनियत कार्यकी ही उत्पत्ति हुआ करती है। भट्टाकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक १।३ में 'यदि हि' इत्यादि वचन सब कार्योंका मात्र एक काल ही कारण है इस एकान्तका निषेध करनेके लिए ही कहा है। प्रतिनियत कार्यका प्रतिनियत काल निमित्त है ऐसा होनेसे पुरुषार्थकी हानि हो जाती है ऐसा उनका कहना नहीं है। अतएव प्रतिनियत कार्यकी प्रतिनियत बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीमें जैसे प्रतिनियत अन्य सामग्रीका समावेश है उसी प्रकार उसमें प्रतिनियत काल और प्रतिनियत पुरुषार्थका भी समावेश है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। प्रमादी बन कर ऐशोआराममें वे ही मस्त रहते हैं जिनकी सम्यक्त्वोत्पत्तिकी प्रतिनियत काललब्धि नहीं आई, अतएव मोक्षमार्गके अनुरूप पुरुषार्थ न कर विपरीत दिशामें किये गये पुरुषार्थको मोक्षमार्गका पुरुषार्थ मानते हैं। वे नहीं जिनकी सम्यक्त्वोत्पत्तिकी काललब्धि आगई है अतएव उसके अनुरूप पुरुषार्थमें लगे हुए हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्वप्राप्तिके उत्कृष्ट कालका विचार करते हुए प्रस्तुत प्रतिशंकामें आई हुई अन्य बातोंका भी विचार किया।

१४. प्रकृतमें विवक्षित आलम्बनके ग्रहण-त्यागका तात्पर्य

आगे अपर पक्षने हमारे 'श्रावकके उत्कृष्ट विशुद्धरूप परिणामोंका आलम्बन छोड़ सर्व प्रथम अप्रमत्त-भावको प्राप्त होता है' इस वाक्य पर कड़ी टीका करते हुए लिखा है—'करणानुयोगके विशेषज्ञको भलीभाँति ज्ञात है कि सप्तम गुणस्थानमें प्रत्याख्यान कषायोदयका अभाव होनेसे श्रावकके पंचम गुणस्थानकी अपेक्षा

अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवाले मुनिके परिणामोंकी विशुद्धता अनन्तगुणी है अर्थात् श्रावककी उत्कृष्ट विशुद्धता अप्रमत्तसंयतकी विशुद्धतामें लीन हो जाती है। आदि,

समाधान यह है कि हम अपनेको करणानुयोगका विशेषज्ञ तो नहीं मानते, किन्तु उसका अभ्यासी अवश्य मानते हैं। हमने जो पूर्वोक्त वचन लिखा है वह उसके अभ्यासको ध्यानमें रख कर ही लिखा है और यथार्थ लिखा है।

उस वाक्यमें श्रावकके उत्कृष्ट विशुद्धरूप परिणामोंका आलम्बन छोड़नेकी बात कही गई है। वे परिणाम सप्तम गुणस्थानके परिणामोंमें लीन हो जाते हैं या उनका व्यय होकर अनन्तगुणी विशुद्धिको लिए हुए नये परिणामोंका उत्पाद होता है यह कुछ भी नहीं कहा गया है। जो जीव पाँचवें गुणस्थानसे सातवें गुणस्थानको प्राप्त होता है, वह नियमसे साकार उपयोगवाला होता है, अतएव ऐसे जीवके अपने उपयोगमें पंचम गुणस्थानके विशुद्ध परिणामोंसे परिणत आत्माका आलम्बन छूट कर नियमसे सातवें गुणस्थानके विशुद्ध परिणामोंसे परिणत आत्माका आलम्बन रहता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। स्पष्ट है कि प्रकृतमें हमारे उक्त वाक्यको ध्यानमें रखकर अपर पक्षने जो कुछ भी लिखा है वह युक्तियुक्त नहीं है। अपर पक्षका कहना है कि 'विशुद्धता छोड़ी नहीं जाती किन्तु प्रति प्रति गुणस्थान बढ़ती जाती है।' आदि। इस सम्बन्धमें हम अधिक टीका-टिप्पणी किये विना अपर पक्षका ध्यान उत्पाद-व्ययके सिद्धान्तको ओर आकर्षित कर देना चाहते हैं। इससे उस पक्षके ध्यानमें यह बात भली-भाँति आजायगी कि ६३ पुटवाली चरपराईका व्यय होकर द्रव्यमें जो शक्तिरूपमें ६४ पुटवाली चरपराई पड़ी है उसका पर्यायरूपसे उत्पाद होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्व पर्यायका व्यय होकर ही नवीन पर्याय उत्पन्न होती है। पिछली पर्यायें अगली पर्यायोंमें विलीन होकर उनका समुदाय नहीं बना करता।

१५. व्यवहारधर्मका खुलासा

हमने लिखा था कि 'निश्चयधर्मके साथ गुणस्थान परिपाटीके अनुसार जो देव, शास्त्र, गुरु, अहिंसादि अणुव्रत और महाव्रत आदि रूप शुभ विकल्प होता है जो कि रागपर्याय है उसको यहाँ व्यवहारधर्म कहा गया है।' अपर पक्ष इस वाक्यमेंसे 'अहिंसाआदि अणुव्रत' इत्यादि वाक्यको सामायिक और छेदोपस्थापना-संयमके विरुद्ध मानता है, किन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि अहिंसादि पाँच महाव्रतोंका सराग संयममें अन्तर्भाव होता है और सरागसंयममें अशुभसे निवृत्ति तथा शुभमें प्रवृत्तिकी मुख्यता है। सरागसंयमका लक्षण करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० ६ सू० १२ में लिखा है—

संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णोऽक्षीणाशयः सराग इत्युच्यते। प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः।

जो संसारके कारणोंकी निवृत्तिके प्रति उद्यत है, परन्तु जिसकी कषाय अभी क्षीण नहीं हुई है वह सराग कहलाता है। प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमें अशुभ प्रवृत्तिसे विरति होना संयम है। रागी जीवका संयम या रागसहित संयम सराग संयम है।

तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें सरागसंयमका यही अर्थ किया है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सू० १ में व्रतका जो लक्षण किया गया है वह उक्त अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ही किया गया है। व्रतमें जहाँ अशुभसे निवृत्ति इष्ट होती है वहाँ शुभमें प्रवृत्ति हुए बिना नहीं रहती।

परन्तु संवरका स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके परिणामोंके निरोधस्वरूप स्वीकार किया गया है। कहा भी है—

सः संवरो भावसंवरः शुभाशुभपरिणामनिरोधः। —अनगारधर्मामृत अ० २, श्लोक ४१

यही कारण है कि हमने अपने पूर्वोक्त कथनमें अहिंसादि अणुव्रत और महाव्रत आदिको रागरूप बतलाकर उनकी परिगणना व्यवहारधर्ममें की है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि ७-१ में लिखा है—

तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते, प्रधानत्वात्। सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि सस्यस्य वृत्तिपरिक्षेपवत्। सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतम्। तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधमिहोच्यते। ननु च अस्य व्रतस्यास्रवहेतुत्वमनुपपन्नम्, संवरहेतुष्वन्तर्भावात्। संवरहेतवो वक्ष्यन्ते गुप्तिसमित्यादयः। तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामन्तर्भाव इति? नैष दोषः, तत्र संवरो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते। प्रवृत्तिश्चात्र दृश्यते, हिंसानृतादत्तादानादिपरित्यागे अहिंसासत्यदत्तादानादिक्रियाप्रतीतेः गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च। व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेनोपदेशः कृतः।

यहाँ अहिंसाव्रतको आदिमें रखा है, क्योंकि वह प्रधान है। धान्यकी बाड़ीके समान ये सत्यादिक व्रत उसके परिपालनके लिए हैं।

सर्व सावद्यसे निवृत्तिलक्षण सामायिककी अपेक्षा एक व्रत है। वही छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। वही यहाँ कहा है।

शंका—इस व्रतकी आस्रवहेतुता नहीं बनती, क्योंकि संवरके हेतुओंमें इसका अन्तर्भाव होता है। गुप्ति, समिति आदि संवरके हेतु कहेंगे। वहाँ दश प्रकारके धर्ममें अथवा संयममें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ निवृत्तिलक्षण संवर कहेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदिका त्याग होनेपर अहिंसा, सत्यवचन और दत्तादान आदिरूप क्रिया प्रतीत होती है तथा ये अहिंसा आदि गुप्त्यादिरूप संवरके परिकर्मस्वरूप हैं। व्रतोंमें जिसने परिकर्म किया है ऐसा साधु सुखपूर्वक संवर करता है, इसलिए इनका पृथक्से उपदेश दिया है।

तत्त्वार्थवार्तिक ६-१ में लिखा है—

न संवरो व्रतानि परिस्पंददर्शनात्।।१३।। व्रतानि संवरव्यपदेशं नार्हन्ति। कुतः? परिस्पन्ददर्शनात्। परिस्पन्दो हि दृश्यते, अनृतादत्तादानपरित्यागे सत्यवचनदत्तादानक्रियाप्रतीतेः।

व्रत संवर नहीं है, क्योंकि परिस्पन्द देखा जाता है ॥१३॥ व्रत संवर व्यपदेशके योग्य नहीं हैं, क्योंकि परिस्पन्द देखा जाता है। परिस्पन्द नियमसे देखा जाता है, क्योंकि अनृत और अदत्तादानका त्याग होनेपर सत्य वचन और दत्तादान क्रियाकी प्रतीति होती है।

ये आगमप्रमाण हैं। इनसे भी अपर पक्षके अभिप्रायकी पुष्टि न होकर हमारे ही अभिप्रायकी पुष्टि होती है। यतः प्रकृतमें व्रत आस्रवरूप लिए गये हैं, अतः सामायिक और छेदोपस्थापना भी उक्तरूप होनेमें बाधा नहीं आती। हाँ, जहाँ संवरके प्रकरणमें इन्हें स्वीकार किया गया है वहाँ अवश्य ही ये सब परम वीतरागचारित्रस्वरूप प्राप्त होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र १।१ में जिस मोक्षमार्गका निर्देश है वह निश्चय रत्नत्रयस्वरूप आत्मधर्म है। उसे उपस्थित कर सरागचारित्र या सरागसंयमको वीतराग चारित्र या वीतराग संयम सिद्ध करना उचित नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र ९।२ तथा ९।१८ में संवररूप गुप्ति आदिका तथा सामायिक संयम आदिका निर्देश है, शुभप्रवृत्तिरूप व्रतादि तथा सामायिक आदिका निर्देश नहीं है। आस्रवरूप व्रतादिमें तथा संवररूप गुप्ति आदिमें बड़ा अन्तर है। अपर पक्ष इन दोनोंको मिला कर भ्रममें रखनेका प्रयत्न कैसे कर रहा है इसका हमें ही क्या सभीको आश्चर्य होगा। जिसे शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म कहा है वह निश्चयधर्ममें अनुरागका हेतु है, इसलिए वह पुण्यबन्धस्वरूप होकर भी धर्मरूपसे उपचरित किया जाता है। यहाँ उपचारका निमित्त एकार्थसम्बन्धीपना है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृत अ० १ श्लो० २३ की व्याख्यामें कहा है—

यथोक्तधर्मानुरागहेतुकोऽपि पुण्यबन्धो धर्म इत्युपचर्यते। निमित्तं चात्रोपचारस्यैकार्थसम्बन्धित्वम्।

इससे सिद्ध है कि अशुभकी निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिरूप जो व्रत है वह शुभ विकल्परूप होनेसे रागपरिणाम ही है। उसे संवररूप वे हो कह सकते हैं जिन्हें मात्र बाह्य क्रियामें धर्मसर्वस्व दिखलाई देता है। किन्तु जो निश्चयस्वरूप आत्मधर्मके पारखी हैं वे तो इसे स्वीकार करते ही नहीं। उनकी इस विपरीत मान्यताको तो आगम भी स्वीकार नहीं करता। आगम तो यही कहता है कि जिसे निश्चयधर्मकी प्राप्ति हुई है उसके ही समीचीन व्यवहारधर्म होता है। ऐसे धर्मात्मा पुरुषोंका सानिध्य होने पर भला कौन ऐसा ज्ञानी होगा जो उनके प्रति पदके अनुरूप वन्दना आदि नहीं करेगा। हाँ, जो आचार शास्त्रके अनुसार यथापदवी व्यवहारधर्मका पालन करें नहीं, प्रत्यक्ष ही जिनमें नाना विसंगतियाँ दिखलाई दें, फिर भी उन्हें चारित्रवान् कहा जाय इसे तो हम मोक्षमार्गका ही उपहास मानेंगे। हमारा किसीके प्रति विरोध नहीं है और न हम यह ही चाहते हैं कि मोक्षमार्गमें किसी प्रकारका अवरोध उत्पन्न हो। परन्तु हम इतना अवश्य जानते हैं कि आज-कल कल्पित की जा रहीं विपरीत मान्यताओंके आधार पर यदि शिथिलाचारको प्रोत्साहन दिया गया तो फिर समीचीन मोक्षमार्गकी रक्षा करना अतिदुष्कर हो जायगा।

अपर पक्षने लिखा है कि 'अथवा यह कह देते हैं कि हमारी क्रमबद्धपर्यायोंमें व्रत धारण करना पड़ा हुआ ही नहीं है, पर्याय आगे पीछे हो नहीं सकती फिर हम पापोंका कैसे त्याग कर सकते हैं?'

समाधान यह है कि जिसका क्रमबद्ध पर्यायमें विश्वास है, जो यह विश्वास करता है कि पर्याय आगे-पीछे नहीं हो सकती या नहीं की जा सकती तथा जिसे सर्वज्ञतामें विश्वास है वह अभिप्रायमें कुछ हो और बाहर कुछ करे ऐसा नहीं हो सकता। वास्तवमें देखा जाय तो वह निकटसंसारी है, वह शीघ्र ही निश्चयधर्मके अनुरूप व्रतोंको धारण कर मोक्षका पात्र बनेगा। वह 'सर्वज्ञने हमारी पर्यायमें व्रत देखे ही नहीं' ऐसा त्रिकालमें नहीं कह सकता। वह जब जिस पदवीमें होगा उस पदवीके अनुरूप बाह्य शुभाचारका नियमसे पालन करेगा। पापरूप प्रवृत्ति करनेकी उसकी स्वभावतः रुचि नहीं होगी।

१६. साध्य-साधनविचार

अपर पक्षका कहना है कि 'यदि व्रतोंको राग माना जायगा तो वे व्यवहारधर्म ही नहीं हो सकते, क्योंकि व्यवहारधर्म तो निश्चयधर्मका साधन है।'

समाधान यह है कि आचार्योंने संवरको शुभ-अशुभकी निवृत्तिस्वरूप कहा है और व्रत शुभमें प्रवृत्तिरूप है, इसलिए उन्हें प्रशस्त रागरूप मानना ही उचित है विशेष स्पष्टीकरण अन्यत्र किया ही है।

अब रह गया साधन-साध्यभावका विचार सो इसका निर्देश आचार्योंने परमागममें तीन प्रकारसे किया है—निश्चयनयसे, सद्भूतव्यवहारनयसे और असद्भूतव्यवहारनयसे। निश्चयनयसे सम्यग्दर्शनादिरूप परिणत आत्मा ही साधन है और वही साध्य है। सद्भूतव्यवहारनयसे निश्चय सम्यग्दर्शन आदि एक-एक साधन है और आत्मा साध्य है। असद्भूतव्यवहारनयसे शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहारधर्म साधन है और आत्मा साध्य है। यहाँ सर्वप्रथम व्रत, तप आदि रूप शुभ प्रवृत्तिमें धर्मका आरोपकर उसे व्यवहारधर्म कहा गया है और उसके बाद उसमें निश्चयधर्मके साधनपनेका व्यवहार किया गया है।

यहाँ व्रतादिरूप शुभ प्रवृत्तिको जो धर्म कहा है वह उपचारसे ही कहा है। इससे सिद्ध होता है कि व्रत आदि निश्चय मोक्षमार्गके यथार्थ साधन नहीं हैं, सहचरसम्बन्ध आदिकी अपेक्षासे ही इन्हें साधन कहा गया है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ३६७ में लिखते हैं—

बहुरि व्रत तप आदि मोक्षमार्ग हैं नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचारतैं इनको मोक्षमार्ग कहिए है। तातैं इनकौं व्यवहार कह्या।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वे वहीं पृ० ३७६ में लिखते हैं—

बहुरि नीचली दशा विषै केई जीवनिकै शुभोपयोग अर शुद्धोपयोगका युक्तपना पाईए है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोगकौं मोक्षमार्ग कह्या है।

आचार्य कुन्दकुन्दने पंचास्तिकाय गाथा १६० में निश्चय मोक्षमार्गके साथ अविनाभावरूपसे होनेवाले व्रतादिको उपचारसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। वह निश्चय मोक्षमार्गकी सिद्धिका हेतु है, इसलिए इसकी टीकामें आचार्यद्वयने व्यवहारनयसे व्यवहार मोक्षमार्गको साधन और निश्चय मोक्षमार्गको साध्य कहा है। इस गाथामें मोक्षमार्गका अनात्मभूत लक्षण कहा गया है, इसलिए वह मोक्षमार्ग कहलाया। अतः यह अनात्मभूत लक्षण होकर भी आत्मभूत यथार्थ मोक्षमार्गकी सिद्धि करता है, अतः व्यवहार मोक्षमार्ग साधन और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य ऐसा व्यवहार करना उचित ही है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

गाथा १६१ में निश्चयनयसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे समाहित आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग कहा गया है। यह मोक्षमार्गका आत्मभूत लक्षण है। इससे हम जानते हैं कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें एक-एकको मोक्षमार्ग कहना सद्भूतव्यवहार नयका वक्तव्य है और धर्मादि द्रव्योंकी श्रद्धा, अंग-पूर्वगत ज्ञान तथा अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको मोक्षमार्ग कहना यह असद्भूतव्यवहार नयका वक्तव्य है। इन्हें असद्भूतव्यवहारनयसे मोक्षमार्ग इसलिए कहा गया है कि इनमें यथार्थरूपमें मोक्षमार्गपना तो नहीं है, परन्तु ये यथार्थ मोक्षमार्गके अविनाभावी है, इसलिए इनमें एकार्थसम्बन्ध होनेसे मोक्षमार्गका उपचार किया गया है। इस प्रकार इस गाथाकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने व्यवहार मोक्षमार्गको साधन और निश्चय मोक्षमार्गको साध्य क्यों कहा इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

लोकमें निश्चय मोक्षमार्गको भी धर्म कहते हैं और व्यवहार मोक्षमार्गको भी धर्म कहते हैं। परन्तु इन दोनोंमें अन्तर क्या है इसे समझनेके लिए अनगारधर्मामृत अ० १, श्लोक २४ पर दृष्टिपात कीजिए। पण्डितप्रवर आशाधरजी इन दोनोंमें भेदको दिखलाते हुए लिखते हैं—

निरुन्धति नवं पापमुपात्तं क्षपयत्यपि।
धर्मेऽनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोऽभ्युदयप्रदः ॥२४॥

जो नये पापको रोकता है और उपात्त पापका क्षय भी करता है ऐसे धर्म (निश्चय धर्म) में अनुरागसे जो कर्म होता है वह धर्म अभ्युदयको देनेवाला है ॥२४॥

यहाँ पर 'कर्म' शब्द द्रव्यबन्ध और उसके निमित्तभूत शुभ परिणति इन दोनोंका सूचक है।

यह प्रश्न था कि रत्नत्रयधारी मुनिवरोंके देवायु आदि शुभ प्रकृतियोंका बन्ध कैसे सिद्ध होता है ? इसी प्रश्नको ध्यानमें रखकर आचार्य अमृतचन्द्र उसका समाधान करते हुए पुरुषार्थसिद्धयुपायमें लिखते हैं—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

इस लोकमें रत्नत्रय निर्वाणका ही हेतु है, अन्यका नहीं। और जो पुण्यका आस्रव होता है वह शुभोपयोगका ही अपराध है ॥२२०॥

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट करते हुए वे वहीं लिखते हैं—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

असमग्र रत्नत्रयको भाते हुए जीवके जो कर्मबन्ध होता है वह नियमसे विपक्ष (राग) का कार्य है, क्योंकि जो मोक्षका उपाय है वह बन्धनका उपाय नहीं हो सकता ॥२११॥

इस पर शंका होती है कि आगममें जो सम्यक्त्व और सम्यक्चारित्रको तीर्थंकर प्रकृति और आहारकद्विक प्रकृतियोंके बन्धका हेतु कहा है वह कैसे बनेगा ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए वे वहीं लिखते हैं—

सति सम्यक्त्व-चारित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः
योग-कषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥

सम्यक्त्व और चारित्रके होने पर योग और कषाय तीर्थंकर और आहारकद्वय इनके बन्धक होते हैं, सम्यक्त्व और चारित्रके अभावमें नहीं। (इसलिए उपचारसे सम्यक्त्व और चारित्रको बन्धका हेतु कहा है। (वस्तुतः देखा जाय तो) वे दोनों इस (बन्ध) में उदासीन हैं।

यदि कहा जाय कि जो जिस कार्यका हेतु नहीं उसे उसका उपचारसे भी हेतु क्यों कहा गया है ? इसका समाधान करते हुए वे वहीं लिखते हैं—

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥२१९॥

एकमें समवाय होनेसे अर्थात् एक आत्मामें (निश्चयधर्म और व्यवहारधर्मका) समवाय होनेसे अत्यन्त विरुद्ध कार्योंका भी वैसा व्यवहार ऐसे रूढ़िको प्राप्त हुआ है जैसे घी जलाता है यह व्यवहार रूढ़िको प्राप्त हुआ है ॥२१९॥

ये कतिपय आगमप्रमाण हैं। इनसे यह स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है कि निश्चयधर्म बन्धका वास्तविक हेतु न होने पर भी उसके सद्भावमें अमुक प्रकारका बन्ध होता है यह देख कर जैसे उसे उस बन्धका उपचारसे हेतु कहा जाता है वैसे ही व्यवहारधर्म निश्चयरत्नत्रयका

वास्तविक हेतु नहीं, फिर भी अमुक प्रकारके व्यवहार धर्मके सद्भावमें अमुक प्रकारका निश्चयधर्म होता है यह देख कर उसे निश्चयधर्मका उपचार हेतु कहा गया है। पंचास्तिकाय गाथा १६० व १६१ की टीकामें इसी तथ्यको ध्यानमें रख कर व्यवहार मोक्षमार्गको साधन और निश्चयमोक्षमार्गको साध्य कहा गया है।

अपर पक्षका कहना है कि बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीकामें यह कहा है कि 'जो निश्चय व व्यवहारको साध्य-साधनरूपसे स्वीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि है।' किन्तु उक्त टीकामें क्या कहा गया है यह यहाँ दे देना चाहते हैं। यथा—

स्वाभाविकानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयं इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चय-व्यवहारनयसाध्य-साधकभावेन मन्यते. परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादि-द्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्य-विरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्।

जो स्वाभाविक अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत निज परमात्मद्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रियसुख आदि पर द्रव्य त्याज्य है। इस तरह सर्वज्ञ देव प्रणीत निश्चय व व्यवहारनयको साध्य-साधक भावसे मानता है। परन्तु भूमिकी रेखाके समान क्रोध आदि द्वितीय कषायके उदयसे मारनेके लिए कोतवालके द्वारा पकड़े गये चोरकी भाँति आत्मनिन्दा सहित होकर इन्द्रिय सुखका अनुभव करता है वह अविरत-सम्यग्दृष्टिका लक्षण है।

यह बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीकाका वचन है, जिसके आधारसे अपर पक्षने आगे पीछेका सन्दर्भ छोड़कर पूर्वोक्त वाक्यकी रचना की है। इसमें त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव आत्माको निज द्रव्य बतलाकर उसमें सम्यग्दृष्टिके उपादेय बुद्धि होती है और इन्द्रिय सुखादिको परद्रव्य बतलाकर उसमें सम्यग्दृष्टिके हेयबुद्धि होती है। इस विधिसे जो वह सम्यग्दृष्टि है उसके लिए यहाँ ऐसा बतलाया गया है कि वह अर्हत्सर्वज्ञ प्रणीत निश्चय-व्यवहारनयको साध्य-साधकभावसे मानता है। इससे यह तथ्य फलित होता है—

१. सम्यग्दृष्टि ज्ञानादि अनन्त गुणोंके आधारभूत निज परमात्मद्रव्य (त्रिकाली चिच्चमत्कारस्वरूप ज्ञायक आत्मा)को मात्र उपादेय मानता है और इसके सिवा अन्य इन्द्रिय सुख आदिको परद्रव्य समझकर हेय मानता है। और इस प्रकार हेय उपादेयरूपसे इन दोनोंमें साध्य-साधक भाव मानता है।

यह तथ्य है जो उक्त कथनसे सुतरां फलित होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि जो निश्चयको साध्य और व्यवहारको साधन मानता है वह इस रूपमें नहीं मानता कि व्यवहार करते-करते उससे निश्चयकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु वह यह अच्छी तरहसे समझता है कि निश्चयस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति निश्चय रत्नत्रयकी समग्रताके होनेपर ही होती है, मात्र व्यवहार धर्मके आलम्बन द्वारा विकल्परूप बने रहनेसे नहीं होती। साथ ही साथ वह यह भी अच्छी तरहसे समझता है कि इसके पूर्व जितने अंशमें रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है वह भी निर्विकल्प ज्ञायक स्वरूप आत्माके अवलम्बनसे तन्मय परिणमन द्वारा ही होती है, व्यवहार धर्मका अवलम्बनकर उसमें अटके रहनेसे नहीं होती। सविकल्प दशामें प्रवृत्तिमें व्यवहार धर्मके होते हुए भी वह इन्द्रिय सुखके समान परमार्थसे है हेय ही। ऐसी यथार्थ श्रद्धापूर्वक जब सम्यग्दृष्टि वर्तता है तब निश्चय-व्यवहारनयमें साध्य-साधनभाव सुघटित होता है, अन्यथा नहीं। वह ऐसे कि साध्यभूत जो निश्चय है उसके ज्ञान करानेका हेतु व्यवहारनय है। यथा—

१. कोई देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धा-भक्ति-पूजाको छोड़कर कुदेवादि व शासनदेवता आदि रागी देवादिककी श्रद्धा-भक्ति-पूजा स्वप्नमें भी नहीं करता।

२. मद्य-मांस-मधु आदिका सेवन नहीं करता।

३. धर्मके नामपर एकेन्द्रियादि जीवों-तककी किसी भी प्रकारकी हिंसाको स्वप्नमें भी प्रश्रय नहीं देता।

४. वीतराग देवकी उपासना, वीतराग भावके प्रति श्रद्धावान् होकर की जानेपर ही यथार्थ उपासना मानता है।

इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टिके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि जितने भी बाह्य लक्षण हैं वे जिसमें पूरी तरहसे घटित होते हैं और जो निरन्तर अतीन्द्रिय आत्मसुखके वेदनको ही यथार्थ लाभ मानता है उसके व्यवहार धर्मरूप इस बाह्य लक्षणसे साध्यभूत निश्चयका ज्ञान होता है। यही कारण है कि आगममें व्यवहार धर्मको व्यवहार साधन और निश्चय धर्मको साध्य कहा है। इस द्वारा उस एकान्त निश्चयाभासीका परिहार किया गया है जो मेढ़केके समान अर्धनिमीलित लोचनवाला बन तथा कुछ भी चिन्ता मग्न होकर इच्छानुसार वर्तता है और प्रमादी होकर बाह्य क्रियाकाण्डसे सर्वदा विरत रहता है। आचार्य कहते हैं कि बाह्य क्रियाकाण्डसे निश्चयकी प्राप्ति नहीं होती यह जहाँ सच है वहाँ भूमिकानुसार यथाविधि बाह्य क्रियाकाण्ड होना ही चाहिए। अन्यथा यही समझना चाहिए कि इसे परमार्थस्वरूप निश्चयकी प्राप्ति नहीं हुई है।

'भूमिकानुसार यथाविधि बाह्य क्रियाकाण्ड होना ही चाहिये।' इसका आशय यह है कि चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवालेका जितना और जिस विधिसे आगममें क्रियाकाण्ड बतलाया है उतना और उस विधिसे उस गुणस्थानवालेका बाह्य-क्रियाकाण्ड नियमसे होता है। इसमें अपवाद नहीं। चौथे कालका बाह्य-क्रियाकाण्ड दूसरे प्रकारका हो और पाँचवें कालका बाह्य-क्रियाकाण्ड कोई दूसरे प्रकारका हो ऐसा नहीं है। जैसे उस गुणस्थानका अन्तरंग निश्चयधर्म एक प्रकारका है वैसे ही बहिरंग व्यवहारधर्म भी तदनुकूल एक प्रकारका है। ऐसा होनेपर ही इनमें उक्त प्रकारसे व्यवहारनयसे साध्य-साधनभाव बन सकता है, अन्यथा नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह तो है कि बाह्य-क्रियाकाण्ड शास्त्रोक्त विधिसे भी हो, परन्तु अन्तरंग निश्चयधर्म उसके न हो। पर यह नहीं है कि अन्तरंग निश्चयधर्म तो हो पर उसका साधनभूत (ज्ञान करानेवाला) बाह्य क्रियाकाण्ड शास्त्रोक्तविधिसे उसके न हो। यह आगमविधि है। सम्यग्दृष्टि इसे यथावत् जानता है।

स्पष्ट है कि इस वचन द्वारा अन्तरंग-बहिरंग दोनोंकी मर्यादाका ज्ञान कराया गया है। सम्यग्दृष्टि ऐसी मर्यादाको जानकर वर्तता है तभी वह अविरतसम्यग्दृष्टि कहलानेका पात्र है।

इस प्रकार साध्य-साधनभावका आशय क्या है, इसका संक्षेपमें स्पष्टीकरण किया। इसपर विशद प्रकाश समयसार गाथा ८ से पड़ता है। अपर पक्ष उस ओर दृष्टिपात करके साध्य-साधनभावका आशय क्या है इसे समझनेकी कृपा करे यह निवेदन है।

१६. उपयोग विचार

अपर पक्षने प्रवचनसार गा० ९ की टीकाके आधारसे अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इस प्रकार जो इन तीन भेदोंका निर्देश किया है वह ठीक है। इतनी विशेषता है कि श्रावकोंके यद्यपि

शुभोपयोगकी बहुलता है। परन्तु किसी कालमें उनके भी शुद्धोपयोग होता है ऐसा आगम है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन प्रवचनसार गाथा २४८ की टीकामें लिखते हैं—

ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते। श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते। तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति ? परिहारमाह—युक्तमुक्तं भवता परं किन्तु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते, यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते। येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात् ? बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति।

शंका—शुभोपयोगवाले जीवोंके भी किसी समय शुद्धोपयोगभावना देखी जाती है। इसी प्रकार शुद्धोपयोगी जीवोंके भी किसी समय शुभोपयोगभावना देखी जाती है। श्रावकोंके भी सामायिक आदिके कालमें शुद्ध भावना देखी जाती है। इनका विशेष भेद कैसे ज्ञात होता है ?

समाधान—आपने ठीक कहा है, किन्तु इतनी विशेषता है कि जो बहुलतासे शुभोपयोगके साथ वर्तते हैं वे यद्यपि किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावनाको करते हैं तो भी शुभोपयोगी ही कहे जाते हैं और जो शुद्धोपयोगी हैं वे यद्यपि किसी समय शुभोपयोगके साथ वर्तते हैं तो भी शुद्धोपयोगी ही हैं, क्योंकि इसमें आम्रवन और निम्बवनके समान बहुपदकी प्रधानता है।

आचार्य जयसेनके इस कथनसे यह बात तो स्पष्ट हुई कि उन्होंने इसी परमागमकी ९वीं गाथाकी टीकामें श्रावकोंके जो मात्र शुभोपयोग बतलाया है वह बहुलताकी अपेक्षा बहुपद वक्तव्य होनेसे ही बतलाया है। वैसे सम्यग्दृष्टि और श्रावक जब अपने ज्ञायकस्वभाव आत्माके लक्ष्यसे उपयोगस्वभावरूपसे परिणमते हैं तब उनके भी शुद्धोपयोग होता है। उक्त आगमका भी यही आशय है। शुद्धोपयोग उनके होता ही नहीं ऐसा आगमका आशय नहीं है।

अपर पक्षने लिखा है कि 'चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव है और कषायरूप अशुद्धभाव है, इन दोनों शुद्धाशुद्ध भावोंके मिश्रित भावरूप शुभोपयोग कहा है। इसी प्रकार यथासम्भव पाँचवें, छठे गुणस्थानमें भी यही शुद्धाशुद्ध मिश्रित भावरूप शुभोपयोग जानना चाहिये।' अपने इस कथनकी पुष्टिमें उसका तर्क यह है कि 'यदि शुभोपयोगको शुद्धाशुद्धभावरूप न माना जायेगा तो शुभोपयोग मोक्षका कारण नहीं हो सकेगा।' अपने इस कथनकी पुष्टिमें उस पक्षने प्रवचनसार गाथा २५४ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाका 'गृहिणां तु समस्त एव' इत्यादि वचन उद्धृत किया है।

अब यहाँ दो बातोंका विचार करना है। प्रथम तो यह देखना है कि शुभोपयोग कहते किसे हैं ? और दूसरे 'गृहिणां तु समस्त' इत्यादि टीका वचनका भी विचार करना है ?

१. इस जीवके चौथे गुणस्थानसे सम्यग्दर्शन होनेपर भी कषायका सद्भाव १० वें गुणस्थानतक बराबर पाया जाता है, इसलिए अपर पक्षने जो इन दोनों शुद्धाशुद्धभावोंके मिश्रितरूप उपयोगको शुभोपयोग कहा है वह ठीक नहीं है। किन्तु जिस समय उपयोग स्वभाववाले इस जीवका अर्हदादिकी भक्तिरूप परिणाम होता है, प्रवचनरत जीवोंके प्रति वात्सल्य भाव होता है, अपनेसे गुणोंमें अधिक श्रमणोंको देखकर खड़ा होने, अनुगमन करने, प्रणाम-विनय आदि करनेका भाव होता है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके उपदेशका भाव होता है, शिष्योंको स्वीकार करने और उन्हें सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे पुष्ट करनेका भाव होता है तथा अशुभका निवारण करनेके अभिप्रायसे अहिंसादि व्रतोंको सम्यक् प्रकारसे पालनेका अभिप्राय होता है तब इस

जीवको शुभोपयोगवाला कहा गया है। यह शुभोपयोग गृहस्थोंके बहुलतासे पाया जाता है। किन्तु मुनियोंके शुद्धोपयोगकी मुख्यता बतलाई है, क्योंकि गृहस्थोंके जहां अधिक मात्रामें परका अवलम्बन बना रहता है वहां साधु निरन्तर परके अवलम्बनको गौणकर अपने ज्ञायकस्वभाव आत्माके अवलम्बनके प्रति ही सदा उद्यमवान् रहते हैं। वे यद्यपि बाह्यमें आहारादि क्रिया करनेमें उपयुक्त प्रतीत होते हैं तथापि अन्तरंगमें उनके बहुलतासे आत्माका अवलम्बन बना रहता है, इसलिए इन क्रियाओंके कालमें भी उनके आत्मकार्यमें सावधानी देखी जाती है।

अपर पक्षने अपने पक्षका समर्थन करनेवाला जानकर उक्त टीकावचन यद्यपि उद्धृत तो किया है, परन्तु वह इस समग्र कथनपर सन्दर्भके साथ दृष्टिपात कर लेता तो उसकी ओरसे शुभोपयोगका जो अर्थ किया गया है वह कभी भी नहीं किया गया होता। संक्षेपमें परके लक्ष्यसे शुभरागसे अनुवासित उपयोगका होना शुभोपयोग है और आत्माके लक्ष्यसे उपयोगका तन्मय होकर परिणमना शुद्धोपयोग है। इस प्रकार शुद्धोपयोगसे भिन्न शुभोपयोग क्या है इसका निर्देश किया।

२. अब उक्त टीकावचनपर दृष्टिपात कीजिए। इसमें गृहस्थके शुद्धात्माके अनुभवका सर्वथा निषेध नहीं किया गया है। इसमें बतलाया है कि जिस प्रकार ईंधन स्फटिक मणि (सूर्यकान्त मणि) के माध्यमसे सूर्यके तेजको अनुभवता है अर्थात् स्फटिकमणिके संयोगमें जिस प्रकार ईंधन सूर्य किरणोंको निमित्तकर प्रज्वलित हो उठता है उसी प्रकार गृहस्थ भी शुद्धात्मामें प्रशस्त राग होनेसे रागका संयोग रहते हुए भी शुद्धात्माके लक्ष्यसे उसका (शुद्धात्माका) अनुभव करता है। यहाँ रागका प्राचुर्य है और शुद्धिकी मन्दता। फिर भी यह जीव उग्र पुरुषार्थ द्वारा आत्माके लक्ष्यसे रागको हीन-हीनतर करता हुआ शुद्धिमें वृद्धि करता जाता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ व्यवहारधर्मको मोक्षका परम्परा साधन कहा है वहाँ उसका अभिप्राय इतना ही है कि उसके सद्भावमें जो स्वभावके लक्ष्यसे शुद्धिमें आंशिक वृद्धि होती है वह व्यवहार धर्म उसकी वृद्धिमें बाधक नहीं है। शुद्धिकी उत्पत्ति और उसकी वृद्धिका यही क्रम है। यही कारण है कि श्रमणोंको लक्ष्यकर प्रवचनसार गाथा २४५ में यह कहा है कि श्रमण शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमें जो शुद्धोपयोगी श्रमण हैं वे निरास्रव हैं और जो शुभोपयोगी श्रमण हैं वे सास्रव हैं। इस नियममें गृहस्थोंका भी अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि यथार्थ मोक्षमार्ग एक है और वह यथापदवी सबके समानरूपसे लागू होता है। गृहस्थ शुभोपयोगके द्वारा कर्मोंकी क्षपणा करते हैं और मुनि शुद्धोपयोगके द्वारा कर्मोंकी क्षपणा करते हैं ऐसा न तो आगम ही कहता है और न तर्क तथा अनुभवसे ही सिद्ध होता है। स्पष्ट है कि उक्त वचनके आधारसे यह सिद्ध नहीं होता कि पर देवादिके लक्ष्यसे होनेवाला व्यवहारधर्म निराकुललक्षण मोक्षसुखका यथार्थ साधन है।

अपर पक्षने सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव और कषायरूप अशुद्धभाव इन दोनों शुद्धाशुद्धभावोंके मिश्रितरूप उपयोगको शुभोपयोग लिखा है। किन्तु उस पक्षका यह लिखना ठीक नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन श्रद्धाकी स्वभाव पर्याय है और राग चारित्र गुणकी विभाव पर्याय है। इन दोनोंका मिश्रण बन ही नहीं सकता। अपर पक्ष कह सकता है कि सान्निपातिकपनेकी अपेक्षा हम इन दोनोंको मिश्रित कहते हैं, किन्तु उस पक्षका यह कहना क्यों ठीक नहीं, इसके लिए हम उसका ध्यान तत्त्वार्थवार्तिक अ० २ सू० ७ की इन पंक्तियोंकी ओर आकृष्ट करते हैं—

सान्निपातिक एको भावो नास्तीति 'अभावात्' इत्युच्यते, संयोगापेक्षया अस्तीत्यार्षं वचनम्।

सान्निपातिक एक भाव नहीं है, इसलिए उसका अभाव कहा है, संयोगकी अपेक्षा है यह आर्षवचन है।

स्पष्ट है कि इन दोनोंके मिश्रित उपयोगको शुभोपयोग कहना उचित नहीं है। आगममें तो शुभोपयोगका यह लक्षण कहीं लिखा नहीं। फिर भी अपर पक्षने शुभोपयोगका यह लक्षण कल्पित करनेका साहस किया इसका हमें आश्चर्य है।

अपर पक्षने प्रतिशंका २में चारित्रगुणकी क्षायोपशमिक पर्यायको ध्यानमें रखकर यह लिखा है कि 'वह मिश्रित पर्याय है, केवल शुद्ध पर्याय नहीं। किन्तु शुद्धाशुद्ध है और स्थाई नहीं है' और प्रतिशंका ३ में वह पक्ष सम्यग्दर्शनरूप शुद्धभाव और कषायरूप अशुद्धभाव इन दोनों शुद्धाशुद्ध भावोंको मिलाकर मिश्रित भाव कह रहा है। इस प्रकार जो उसके कथनमें पूर्वापर विरोध है उसपर वह स्वयं दृष्टिपात करेगा ऐसी हमें आशा है।

इसलिए पिछले उत्तरमें हमने जो यह लिखा था कि 'कई स्थानोंपर प्रतिशंका २ में मिली हुई शुद्धाशुद्ध पर्यायको शुभ कहा गया है, इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह प्रतिशंका २ में स्वीकार कर लिया गया है कि जितना रागांश है वह मात्र बन्धका कारण है पर उसे निर्जराका हेतु सिद्ध करना इष्ट है, इसलिए पूरे परिणामको शुभ कहकर ऐसा अर्थ फलित करनेकी चेष्टा की गई है सो यह कथनकी चतुराईमात्र है।' वह उचित ही लिखा था, क्योंकि आगममें कहीं भी मिश्र पर्यायको शुभभाव नहीं कहा है। शुभ और अशुभ ये भेद योग और उपयोगके हैं। इनके सिवाय उपयोग शुद्ध भी होता है। अतएव चारित्रगुणकी मिश्र-पर्यायको या सम्यक्त्व तथा रागकी कल्पित की गई मिश्र पर्यायको शुभ कहना आगमसंगत नहीं है।

अपर पक्षने भावपाहुडकी १५१ वीं गाथा उद्धृतकर यह सिद्ध करना चाहा है कि जिनभक्ति जन्म-मरणरूपी वेलके मूलका नाश करनेवाली है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस सम्यग्दृष्टिके जिनदेवमें अपूर्व भक्ति होती है वह केवल भक्तिरूप प्रशस्त रागके कारण पुण्यबन्ध ही नहीं करता, किन्तु आत्मामें प्राप्त हुई सम्यग्दर्शनरूप विशुद्धिके कारण जन्म-मरणरूपी वेलको समूल नाश करनेमें भी समर्थ होता है। यही भाव भावपाहुडकी उक्त गाथामें व्यक्त किया गया है। एकके कार्यको सहचर सम्बन्धवश दूसरेका कहना ऐसा व्यवहार जिनागममें मान्य ठहराया गया है। प्रकृतमें इसी व्यवहारको ध्यानमें रखकर उक्त कथन किया गया है। पुरुषार्थसिद्धयुपायके आधारसे विशेष खुलासा पूर्वमें ही कर आये हैं।

अपर पक्षने परमात्मप्रकाश अ० २ गाथा ६१ की टीकामें आये हुए 'मुख्यवृत्त्या' पदको देखकर यह स्वीकार कर लिया है कि 'देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिको गौणरूपसे कर्मक्षयका हेतु कहा गया है' इसकी हमें प्रसन्नता है, क्योंकि स्वभावके लक्ष्यसे जो आत्मशुद्धि उत्पन्न होती है उसमें बाह्य (व्यवहार) हेतु गौण है। परके लक्ष्यसे कर्मक्षपणा न होकर कर्मबन्ध होता है यह इसका तात्पर्य है।

चारित्रगुणकी मिश्रित अखण्ड पर्यायमें जितना शुद्धयंश है वह पाप-पुण्य दोनोंकी निवृत्तिरूप है और जितना रागांश है, वह पापकी निवृत्ति और पुण्यकी प्रवृत्तिरूप है, इसलिए उभयकी निवृत्तिरूप जितना शुद्धयंश है वह स्वयं कर्मक्षयरूप होनेसे कर्मक्षयका हेतु है और जितना प्रवृत्त्यंश है वह स्वयं आस्रव-बन्धरूप होनेसे बन्धका हेतु है। तत्त्वार्थसूत्रमें जो सम्यक्त्वको देवायुका आस्रव लिखा है उसका आशय इतना ही है कि सम्यक्त्वके कालमें मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके रागनिमित्तक यदि आयुका बन्ध होता है तो देवायुका ही होता है। विशेष खुलासा आगम प्रमाणके साथ इसी उत्तरमें पहले ही कर आये हैं।

कहाँ कौन उपयोग किस दृष्टिसे कहा गया है इसका भी विशेष स्पष्टीकरण आगमप्रमाणके साथ पूर्वमें किया ही है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीकामें 'असंयतसम्यग्दृष्टिश्रावक' इत्यादि वचन शुद्धोपयोगका व्यवहार (उपचरित) हेतु क्या है यह दिखलानेके लिए लिखा गया है। शुभोपयोग परम्परासे अर्थात् उपचारसे शुद्धोपयोगका साधक है इसका हमने निषेध भी नहीं किया है। यदि सचमुचमें शुभोपयोग शुद्धोपयोगका यथार्थ हेतु होता तो उसे शुद्धोपयोगका परम्परासे साधक त्रिकालमें नहीं लिखा जाता। स्पष्ट है कि इस वचन द्वारा केवल यह बतलाया गया है कि जब यह जीव स्वभावसन्मुख होकर शुद्धोपयोगको उत्पन्न करता है, उसके पूर्व इसके नियमसे शुभोपयोग होता है। उसके अशुभोपयोग त्रिकालमें नहीं होता यह दिखलाना ही उक्त वाक्यका प्रयोजन है।

अपर पक्षने दूसरी दृष्टिसे ४ थे से १२ वें गुणस्थान तक जो शुभोपयोग लिखा है वह दृष्टि कौन सी और किस आधारसे यह कथन किया गया है यह हम न जान पाये। वस्तुतः यह कथन आगमविरुद्ध होनेसे इस पर विचार करना ही व्यर्थ है। फिर भी यहाँपर हम यह स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं कि किसी पर्यायका शुद्धाशुद्ध मिश्ररूप होना अन्य बात है और उपयोगका शुभ, अशुभ और शुद्धरूप होना अन्य बात है, क्योंकि उपयोग अनुष्ठानरूप होता है। जब विषयोंके आलम्बनसे अशुभ क्रियामें यह जीव उपयुक्त होता है तब अशुभोपयोग कहलाता है, जब देवादि और व्रतादिके आलम्बनसे शुभ क्रियामें यह जीव उपयुक्त होता है तब शुभोपयोग कहलाता है और जब चिच्चमत्काररूप ज्ञायक आत्माके अवलम्बन द्वारा शुद्ध निश्चयनयरूपसे यह जीव उपयुक्त होता है तब शुद्धोपयोग कहलाता है। इस प्रकार आलम्बनभेदसे उपयुक्त आत्माका उपयोग तीन प्रकारका होता है। चारित्रकी मिश्ररूप पर्याय शुभोपयोगके कालमें भी है और शुद्धोपयोगके कालमें भी है, परन्तु आलम्बनके भेदसे उपयोग दो भागोंमें विभक्त हो जाता है, अतएव चारित्र गुणकी मिश्र पर्यायसे उपयोगको भिन्न ही जानना चाहिए। जहाँ शुभोपयोग होता है वहाँ वह और चारित्रगुणका रागांश ये दोनों तो बन्धके ही हेतु हैं। हाँ वहाँ जितना शुद्ध्यंश होता है वह स्वयं संवर-निर्जरारूप होनेसे संवर-निर्जराका हेतु है। तथा जहाँ शुद्धोपयोग होता है वहाँ वह और जितना शुद्ध्यंश है वे दोनों स्वयं संवर-निर्जरारूप होनेसे संवर-निर्जराके हेतु हैं तथा वहाँ जितना रागांश है वह बन्धका हेतु है। यह आगमकी व्यवस्था है, इसे जानकर तत्त्वका व्याख्यान करना ही उचित है।

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार निर्जरा अधिकारमें भोगमें तन्मय होकर उपयुक्त हुए जीवके भोगको निर्जराका हेतु नहीं कहा है। किन्तु सम्यग्दृष्टिके सविकल्प दशामें भोगकी क्रिया होते हुए भी भोगमें जो विरक्ति है उसे निर्जराका हेतु कहा है। इसके लिए गाथा १९५ आदि पर दृष्टिपात कीजिये। समयसार-कलशमें इसका विशदतासे स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

यह ज्ञानी पुरुष विषय सेवन करता हुआ भी ज्ञानवैभव और विरागताके बलसे विषयसेवनके निजफल (रंजित परिणाम) को नहीं भोगता, इसलिए वह सेवक होने पर भी असेवक है ॥१३५॥

सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान-वैराग्य शक्ति होती है (स० क० १५६) यह लिखकर तो आचार्य अमृतचन्द्रने उक्त विषयको और भी स्पष्ट कर दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार निर्जराधिकारकी 'उपभोगमिंदिएहिं' गाथा द्वारा यह भाव व्यक्त कर रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीवको कर्मोदयनिमित्तक भोग अवश्य प्राप्त होते हैं पर वह उनमें विरक्त ही रहता है, इसलिए वे निर्जराके हेतु हैं। यहाँ निर्जराकी हेतुताका बल विरक्त भावों पर है, भोगों पर नहीं। अपर पक्ष सम्भवतः यह भूल जाता है कि भोगोंमें आसक्ति अशुभोपयोग है, शुभोपयोग नहीं, अन्यथा वह पक्ष उक्त वचनको इस रूपमें प्रकृतमें उदाहरणरूपमें उपस्थित न करता।

अपर पक्षने यहाँ पर शुद्धोपयोग ११ वें गुणस्थानसे होता है यह लिखकर कर्मबन्धकी व्यवस्थाका निर्देश किया है और पहले वह एक अपेक्षासे ६ वें गुणस्थान तक तथा दूसरी अपेक्षासे १२ वें गुणस्थान तक शुभोपयोग लिख आया है। यहाँ उस पक्षने 'यदि उपशमश्रेणि या क्षयकश्रेणिके आदि तीन गुणस्थानोंमें भी शुद्धोपयोग माना जावे' यह लिख कर अपने पिछले कथनके विरुद्ध निर्विवादरूपसे यह भी घोषित कर दिया है कि ७ वें गुणस्थानमें शुभोपयोग होता है, जब कि वह एक अपेक्षासे ७ वें गुणस्थानमें भी शुद्धोपयोग स्वीकार कर आया है। इस प्रकार चौथे गुणस्थानसे १२ वें गुणस्थान तक कौन उपयोग होता है इस सम्बन्धमें उस पक्षकी ये परस्पर विरुद्ध मान्यताएँ हैं। और आश्चर्य इस बातका है कि इन परस्पर विरुद्ध मान्यताओंके आधार पर वह पक्ष कर्मशास्त्रमें प्रयुक्त हुए 'संक्लेश' और विशुद्धि' शब्दोंके ऊपर ध्यान न देकर कर्मबन्धकी व्यवस्था करना चाहता है। अन्यथा वह पक्ष हमारे 'शुभोपयोग होने पर कर्मबन्धकी स्थिति और अनुभागमें वृद्धि हो जाती है और शुद्धोपयोगके होने पर उसकी स्थिति अनुभागमें हानि हो जाती है।' इस कथन पर अणुमात्र भी टीका न करता, क्योंकि सामान्यतः यह कथन आठों कर्मोंमें प्रधानभूत तथा जीवके अनुजीवी गुणोंका घात करनेमें निमित्त होनेवाले चार घातिकर्मोको लक्ष्यमें रख कर किया गया है, उन पर अविकल घटित भी होता है। पुण्य-पाप प्रकृतियोंमेंसे पाप प्रकृतियोंका बन्ध शुद्धोपयोगके कालमें होता ही नहीं। आयुकर्मके लिए नियम ही अलग है। इसलिए अघाति कर्मोकी दृष्टिसे उक्त वचन नहीं लिखा गया है।

अपर पक्षने शुभोपयोगका अर्थ विशुद्ध परिणाम किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि असाताके बन्धके योग्य परिणामका नाम संक्लेश है और साताके बन्धके योग्य परिणामका नाम विशुद्धि है। यथा—

को संकिलेसो णाम ? असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम। का विसोही ? सादबंधजोग्गपरिणामो। —ध० पु० ६ पृ० १८१

शुभोपयोगमें ये संक्लेश और विशुद्धिरूप दोनों प्रकारके परिणाम होते हैं, इसलिए शुभोपयोगका अर्थ न तो विशुद्ध परिणाम करना उचित है और न ही शुभोपयोगके आधार पर सब कर्मोके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धकी व्यवस्था करना ही उचित है। कर्मशास्त्रमें संक्लेश और विशुद्धि इन दोनों संज्ञाओंका स्वतन्त्ररूपसे प्रयोग हुआ है। उसे ध्यानमें रखकर यहाँ हमें विवेचन करना इष्ट नहीं था। यहाँ तो हमें केवल यह बतलाना इष्ट था कि जब यह जीव स्व-परप्रत्यय कषायसे उपयुक्त होता है तब घातिकर्मोका स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्ध कैसा होता है और जब यह जीव स्व-परप्रत्यय कषायसे उपयुक्त नहीं होता है तब घातिकर्मोका स्थितिबन्ध-अनुभागबन्ध कैसा होता है। इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर हमने उक्त वाक्य लिखा था। किन्तु अपर पक्षने शुभोपयोगका अर्थ केवल विशुद्ध परिणाम करके उस आधार पर तीन आयुओंको छोड़कर सब कर्मोके स्थिति और अनुभागबन्धकी व्यवस्था करनेकी चेष्टा की यह उचित नहीं है।

अपर पक्षके इस व्यवस्थासम्बन्धी वचनको पढ़ कर यह भी मालूम पड़ता है कि वह शुभोपयोग अर्थात् विशुद्ध परिणामोंसे अप्रशस्त प्रकृतियोंके स्थितिबन्धमें वृद्धि मानता है। हमें आश्चर्य होता है कि उस पक्षकी ओरसे गोम्मटसार गा० १३४ भी उद्धृत की गई है और फिर भी यह गलती हुई। यदि वह पक्ष विशुद्धि परिणामका अर्थ शुभोपयोग न करता तो सम्भवतः यह गलती न होती। वस्तुतः वह समग्र कथन ही भ्रमपूर्ण है, क्योंकि स्थितिबन्धके लिए अलग नियम हैं और अनुभागबन्धके लिए अलग नियम हैं। उनको पृथक्-पृथक् करने पर ही समग्र कर्मोंकी स्थिति-अनुभागबन्धसम्बन्धी व्यवस्थाका ज्ञान कराया जा सकता है।

इस प्रकार अशुभादि तीनों उपयोगोंका क्या तात्पर्य है इसका विचार किया।

१७. समयसार गाथा २७२ का आशय

अपर पक्षने समयसार गाथा २७२ को ध्यानमें रख कर लिखा है कि 'वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थित जीवोंके लिए व्यवहारनयका निषेध है, किन्तु प्राथमिक शिष्यके लिए वह प्रयोजनवान् है।' समाधान यह है कि जितना भी अध्यवसानभाव है वह पराश्रित होनेसे बन्धका हेतु है अतएव निश्चयनयके द्वारा उसका प्रतिषेध करते हुए आचार्यने व्यवहारनयमात्र प्रतिषिद्ध है ऐसा कहा है। इसलिए व्यवहारनयको प्रतिषेध्य ही जानना चाहिए, क्योंकि स्वाश्रित निश्चयनय पर आरूढ़ हुए ज्ञानियोंके ही कर्मोंसे छूटनापन सुघटित होता है।

जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह सविकल्प अवस्थामें आने पर भी व्यवहारनयको तो आश्रय योग्य मानता ही नहीं, क्योंकि उसकी सदाकाल उसमें हेयबुद्धि बनी रहती है। वह यह अच्छी तरहसे जानता है कि स्वरूपस्थिति हुए बिना मेरा भवबन्धनसे छुटकारा होना सम्भव नहीं है। इसलिए उसके सविकल्प अवस्थामें पंच परमेष्ठीकी भक्ति आदि, मोक्षमार्गके प्ररूपक शास्त्रोंका सुनना तथा अणुव्रत-महाव्रतका पालना आदि रूप परिणाम होते अवश्य हैं, परन्तु इनके होते हुए भी उसके चित्तमें एकमात्र ज्ञायक आत्माका आश्रयकर तत्स्वरूप परिणमनकी उपादेयता ही बनी रहती है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि जीव) व्यवहारनयको आश्रय करने योग्य मानता होगा यह तो प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ जो प्राथमिक मिथ्यादृष्टि जीव व्यवहारनयको आश्रय करनेयोग्य जान कर उसके आलम्बन द्वारा निरन्तर अज्ञानादिरूप परिणमता रहता है उसके लिए यह उपदेश है। आचार्य जयसेनने समयसार गाथा २७२ की टीकामें जो 'यद्यपि प्राथमिकापेक्षया' इत्यादि वचन लिखा है वह समयसार गाथा ८ के अभिप्रायको ध्यानमें रख कर ही लिखा है। व्यवहारनय निश्चयका साधक है इसका आशय ही यह है कि व्यवहारनय निश्चयका ज्ञान करानेवाला या सूचक है, क्योंकि सविकल्प अवस्थासे निर्विकल्प अवस्थामें पहुँचाना व्यवहारनयका कार्य नहीं। यह कार्य तो निर्विकल्प ज्ञायक आत्माका अवलम्बन कर तत्स्वरूप परिणमन द्वारा ही सम्पादित हो सकता है। कारण कि 'मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ, परम आनन्दका निधान हूँ।' इत्यादि विकल्प ही जब तक इस जीवके बना रहता है तब तक वह निर्विकल्प समाधिका अधिकारी नहीं हो पाता, ऐसी अवस्थामें बाह्य अणुव्रतादिरूप क्रिया व्यवहार उसका साधक होगा इसे कौन विवेकी स्वीकार कर सकता है।

आचार्य अमृतचन्द्रने पंचास्तिकायके अन्तमें जो 'व्यवहारनयेन भिन्नसाध्य-साधनभावं' इत्यादि वचन लिखा है वह भी समयसार गाथा ८ के आशयको ही सूचित करता है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि प्राथमिक शिष्य या जिसका वेदककाल व्यतीत हो गया है ऐसा सादि मिथ्यादृष्टि प्राथमिक शिष्य यह नहीं जानता कि

यह श्रद्धान करने योग्य है, यह श्रद्धान करने योग्य नहीं है, यह श्रद्धान करनेवाला है और यह श्रद्धान है आदि, म्लेच्छस्थानीय उसे म्लेच्छभाषास्थानीय व्यवहारनय द्वारा परमार्थका ज्ञान कराना आवश्यक है। ऐसे प्राथमिक शिष्यके लिए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि वह व्यवहारनयसे परमार्थको जानकर परमार्थके अवलम्बनसे तत्स्वरूप परिणमन द्वारा सुखसे-सहजरूपसे सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्गस्वरूप तीर्थमें प्रवेश करता है। न कि उनके लिए—जिन्हें परमागमका अभ्यास करते हुए चिरकाल व्यतीत हो गया है, जिन्होंने पंचपरमेष्ठीके स्वरूपको जानकर उनकी पूजा-वन्दनामें अपना जीवन निकाल दिया है या जो चिरकालसे अणुव्रत-महाव्रतादिका पालन कर रहे हैं और जो उनमें यत्किंचित् दोष लगनेपर कठोर प्रायश्चित्तादि द्वारा सदाकाल उसका वारण करनेमें तत्पर रहते हैं। यह अपर पक्ष ही बतलावे कि हम उन्हें म्लेच्छस्थानीय मानकर प्राथमिक शिष्यके रूपमें स्वीकार कैसे करें ? हमारा आत्मा तो इसे स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं। उनके लिए तो व्यवहार-नय इस अर्थमें प्रयोजनवान् है कि वे जिस भूमिकामें हों उसके अनुरूप व्यवहारका चरणानुयोगके अनुसार उन्हें यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। और सविकल्प अवस्थामें हेयबुद्धिसे उसका यथाविधि पालन करते हुए भी उनकी दृष्टि सदा परमार्थपर बनी रहनी चाहिए। यह है पंचास्तिकायके उक्त उल्लेखका आशय। इसी आशयको ध्यानमें रखकर पण्डितप्रवर जयचन्दजीने समयसार गाथा ८ के तात्पर्यको स्पष्ट करते हुए उसके भावार्थमें ये शब्द लिपिबद्ध किये हैं—

लोक शुद्धनयको जानते ही नहीं हैं, क्योंकि शुद्धनयका विषय अभेद एकरूप वस्तु है। तथा अशुद्धनयको ही जानते हैं, क्योंकि इसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है। इसलिए व्यवहारके द्वारा ही शुद्धनयस्वरूप परमार्थको समझ सकते हैं। इस कारण व्यवहारनयको परमार्थका कहनेवाला जान उसका उपदेश किया जाता है। यहाँ पर ऐसा न समझना कि व्यवहारका आलम्बन कराते हैं बल्कि यहाँ तो व्यवहारका आलम्बन छुड़ाके परमार्थको पहुँचाते हैं ऐसा जानना।

अपर पक्षका कहना है कि 'यदि विवक्षित नय अपने अपने प्रतिपक्षी नयके सापेक्ष हैं तो सुनय अथवा सम्यक् नय हैं जो सम्यग्दृष्टिके होते हैं। मिथ्यादृष्टिके वही नय परनिरपेक्ष होनेसे कुनय अथवा मिथ्यानय होते हैं।'

समाधान यह है कि प्रत्येक नय सापेक्ष होता है इसका तो हमने कहीं निषेध किया ही नहीं। परन्तु यहाँ पर 'सापेक्ष' का अर्थ क्या इसे जान लेना आवश्यक है। अष्टसहस्री पृ० २९० में आचार्यद्वय 'मिथ्या-समूहो मिथ्या' इत्यादि कारिकाकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

सुनय-दुर्णययोर्यथास्माभिर्लक्षणं व्याख्यातं तथा न चोद्यं न परिहारः, निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात् तद्विषयसमूहस्य मिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु सुनयत्वात् तद्विषयाणां अर्थक्रियाकारित्वात् तत्समूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः। तथा हि निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाण-नयाविशेषप्रसंगात् धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाण-नय-दुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च प्रमाणात्त-दतत्स्वभावप्रतिपत्तेः नयात्तत्प्रतिपत्तेः दुर्णयात्तदन्यनिराकृतेश्च। इति विश्वोपसंहृतिः, व्यतिरिक्त-प्रतिपत्तिप्रकाराणामसम्भवात्।

क... ...नय और दुर्नयका जिस प्रकारसे हमने लक्षण कहा है उस प्रकारसे न शंका है और न उसका परि-
किन्तु अपर ५... निरपेक्ष नय ही मिथ्या होते हैं, कारण कि उनके विषय-समूहको मिथ्यारूप स्वीकार किया है।
सब कर्मोके स्थिति ...न होते हैं, क्योंकि उनके विषय अर्थक्रियाकारी होते हैं तथा उनके विषयसमूहमें वस्तुपना

बन जाता है। यथा—निरपेक्षत्वका अर्थ है प्रत्यनीक धर्मका निराकरण, तथा सापेक्षत्वका अर्थ है उपेक्षा, अन्यथा प्रमाण और नयमें अविशेषताका प्रसंग उपस्थित होता है। कारण कि प्रमाण धर्मान्तरके आदान-लक्षणवाला होता है, नय धर्मान्तर की उपेक्षा लक्षणवाला होता है और दुर्नय धर्मान्तरको हानिलक्षणवाला होता है, यहाँ अन्य प्रकार सम्भव नहीं। तथा प्रमाणसे तदतत्स्वभाव वस्तुकी प्रतिपत्ति होती है, नयसे तत्‌की प्रतिपत्ति होती है और दुर्नयसे अन्य (धर्मान्तर) का निराकरण होता है। इस प्रकार समस्त प्रमाण, नय और दुर्नयोंका संग्रह हो जाता है, क्योंकि इनके सिवाय जाननेके दूसरे प्रकार सम्भव नहीं हैं।

यह आगमवचन है। इससे हमें तीन बातोंका स्पष्टतः ज्ञान होता है—

(१) सुनयका विषय अर्थक्रियाकारी होता है।

(२) सुनयमें सापेक्षत्वका अर्थ उपेक्षा है।

(३) और सुनय प्रतिपक्षी नयके विषयमें उपेक्षा धारण कर मात्र अपने विषयकी प्रतिपत्ति कराता है।

यह तो प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है कि लोकका समस्त व्यवहार पर्यायाश्रित होनेपर भी उसे मिथ्या नहीं माना जाता। कोई एक व्यक्ति सब्जीमण्डीमें जाकर यदि अनार लेना चाहता है तो दुकानदारसे यह नहीं कहता कि अनार पर्यायविशिष्ट पुद्गल दीजिए। किन्तु वह जाकर अनारकी माँग करता है, और दुकानदार इष्टार्थको जानकर उसकी उपलब्धि करा देता है यह है अर्थक्रियाकारीपना जो सुनयसे सम्पन्न होता है। आचार्योंका यहाँ यही कहना है कि यह जितना भी पर्यायाश्रित व्यवहार है वह रागमूलक होनेसे मोक्ष-मार्गमें ऐसे व्यवहारको छुड़ाया गया है। 'छुड़ाया गया है' इसका अर्थ है—उसमें उपेक्षा कराई गई है। साधक व्यवहारको छोड़ता नहीं, किन्तु निश्चय प्राप्तिरूप मूल प्रयोजनको ध्यानमें रखकर उसे करता हुआ भी उसमें उपेक्षा रखता है और मात्र निश्चयके विषयको आश्रय करने योग्य स्वीकार कर निरन्तर अपने उपयोगको उस दिशामें मोड़नेका प्रयत्न करता रहता है। वह यह अच्छी तरह जानता है कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप होनेसे वह सत् भी है और असत् भी है परन्तु उसने पर्यायार्थिक नयके विषयभूत असत् धर्मकी उपेक्षाकर निश्चय नयके विषयभूत 'सत्' को अपना केन्द्रबिन्दु बनाया है। यतः 'सत्' धर्म सत्स्वरूप ही है उसमें 'असत्' धर्मका अभाव है, इसलिए प्रत्येक साधक व्यवहार नयके विषयके प्रति उपेक्षा धारण कर अपनी बुद्धिमें यह निर्णय करता है कि 'मैं तो मात्र एक ज्ञायकस्वरूप हूँ, मैं न मनुष्य हूँ, न देव हूँ, न नारकी हूँ और न तिर्यञ्च हूँ' आदि। यतः प्रत्येक सुनयका विषय अर्थक्रियाकारी स्वीकार किया गया है, इसलिए बुद्धिमें ऐसा निर्णय करनेसे वह (साधक) अपनी बुद्धिको उसमें युक्त कर देता है। फल होता है रागकी हानिके साथ स्वभावप्राप्ति। आचार्य कहते हैं कि यही मोक्षमार्ग है। यदि मोक्षकी प्राप्ति होती है तो एकमात्र इसी मार्गसे होती है। अन्य सब विडम्बना है—भव बन्धनकी रखड़ना है।

इससे अपर पक्षको यह सुगमतासे समझमें आ जायगा कि नयप्ररूपणामें 'सापेक्ष' का अर्थ क्या इष्ट है और सुनयके विषयका अवलम्बन ही जीवनमें क्यों अर्थक्रियाकारी है।

अपर पक्षने नयचक्रादिसंग्रहकी गाथा ६८ को उपस्थित कर यह सिद्ध करना चाहा है कि 'मिथ्या-व्यवहार नयसे बन्ध होता है और सम्यक् व्यवहार नयसे मोक्ष होता है।' किन्तु वह पक्ष इस गाथासे ऐसा अभिप्राय फलित करते समय यदि उसीकी गाथा ७७ पर दृष्टिपात कर लेता तो सम्भव था कि वह उक्त प्रकारसे अपना मत न बनाता। गाथा ७७ इस प्रकार है—

ववहारादो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो ।
तम्हा कर (कुरु) तं गउणं सहावमाराहणाकाले ॥७७॥

यतः व्यवहारसे बन्ध है और स्वभावसंयुक्त मोक्ष है, इसलिए स्वभाव आराधनाके कालमें व्यवहारको गौण करो ।।७७।।

अतएव इस गाथाके प्रकाशमें गाथा ६८ का इतना ही आशय है कि सम्यग्दृष्टिको भेदोपचारका यथार्थ ज्ञान होता है, इसलिए वह मोक्षका अधिकारी है। उदाहरणार्थ जिसे ऐसा यथार्थ ज्ञान है कि मोहनीय कर्म मोह-राग-द्वेषको उत्पन्न करता है यह उपचरित कथन है वही यथार्थको जानकर स्वभावके आलम्बनसे मोक्षका अधिकारी होता है, अन्य मिथ्यादृष्टि नहीं, क्योंकि वह उपचारको भी आरोपित न जानकर यथार्थ जानता है, इसलिए वह कर्मबन्धनसे त्रिकालमें मुक्त नहीं हो सकता।

समयसार गाथा २७२ में 'पराश्रितो व्यवहारनयः' और 'आत्माश्रितो निश्चयनयः' यह लिखकर व्यवहारनयमात्रका प्रतिषेध किया है। आत्मख्याति टीकाके शब्द हैं—

तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितसमस्तमध्यवसानं बन्धुहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एव चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्।

इस टीकाका पं० जयचन्द्रजी कृत अनुवाद इस प्रकार है—

सो जैसे परके आश्रित समस्त अध्यवसान पर और आपको एक मानना वह बन्धका कारण होनेसे मोक्षके इच्छुकको छुड़ाता जो निश्चयनय उसकर उसी तरह निश्चयनयसे व्यवहारनय ही छुड़ाया है। इस कारण जैसे अध्यवसान पराश्रित है उसी तरह व्यवहारनय भी पराश्रित है इसमें विशेष नहीं है। इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि यह व्यवहारनय प्रतिषेधने योग्य ही है, क्योंकि जो आत्माश्रित निश्चयनयके आश्रित पुरुष हैं उनके ही कर्मोंसे छूटनापना है।

इससे स्पष्ट है कि समयसार गाथा २७२ में निश्चयनयके द्वारा समस्त व्यवहारनयको प्रतिषिद्ध ठहराया गया है। और इसे स्वीकार करने पर पूर्वापर विरोध भी नहीं आता, क्योंकि समयसार गाथा १२ में यह नहीं कहा गया है कि अपरम भाव (सविकल्प अवस्था) में स्थित जीवोंके लिए व्यवहारनय आश्रय करने योग्य है। आचार्य अमृतचन्द्रने जो 'ये तु प्रथम-' इत्यादि वचन लिखा है वह 'जहाँ जितनी शुद्धि उत्पन्न होती है वहाँ तद्युक्त आत्माका भी अनुभव होता है' यह बतलानेके लिए ही लिखा है। मालूम नहीं कि गाथा २७२ की टीकामें और १२ की टीकामें इतना स्पष्ट कथन होनेपर भी अपर पक्षने पूर्वापरके विरोधका भय दिखलाकर अपना अभिलषित अर्थ कैसे फलित कर लिया! क्या गाथा १२ में व्यवहारनयको आश्रय करने योग्य बतलाकर १२ वें गुणस्थानतक वह निश्चयनयके द्वारा प्रतिषिद्ध नहीं है यह कहा गया है। यदि नहीं तो गाथा २७२ के साथ इसका पूर्वापर विरोध कहाँ रहा, अर्थात् नहीं रहा।

अपर पक्षने भावार्थ लिखकर जो भाव व्यक्त किये हैं उस सम्बन्धमें यह निवेदन है कि व्यवहारनय प्रयोजनवान् है इसका यह अभिप्राय लेना चाहिए कि जब यह जीव सविकल्प अवस्थामें रहता है तब उस गुणस्थानके अनुरूप उसका व्यवहार नियमसे होता है। ऐसे व्यवहारके साथ उस गुणस्थानके अनुरूप शुद्धि बनी रहनेमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती। गुणस्थान परिपाटीके अनुसार व्यवहारका ज्ञान करानेके लिए उसका उपदेश भी दिया जाता है। किन्तु कोई भी मुमुक्षु व्यवहार करते रहनेमें इष्टार्थकी सिद्धि न मान स्वयं परमार्थस्वरूप बननेके लिए स्वभावका आलम्बन करनेको उद्यमशील रहता है।

व्यवहार यथापदवी प्रयोजनवान् होनेपर भी साधकको दृष्टिमें वह हेय ही है और स्वभावका आश्रय करनेसे तत्स्वरूप परिणमनद्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिए साधककी दृष्टिमें वह सदाकाल उपादेय ही है।

आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा १४ की टीकामें बद्धस्पृष्टताको भूतार्थ कालप्रत्ययासत्तिको ध्यानमें रखकर ही लिखा है। एक कालमें जीवकी अपनेमें और कर्मकी अपनेमें ऐसी पर्याय होती हैं जिनमें बद्धस्पृष्टता व्यवहार होता है। वे दोनों पर्यायें यथार्थ हैं, इस अपेक्षासे उसे भूतार्थं माननेमें कोई बाधा नहीं है। पर इतनेमात्रसे उसे उपादेय नहीं स्वीकार किया जा सकता : क्या अपर पक्ष यह चाहता है कि प्रत्येक संसारी जीव संसारी बना रहे। व्यवहारनयसे कालप्रत्यासत्तिवश बद्धस्पृष्टता भूतार्थ ठहरो इसमें बाधा नहीं, पर है वह सर्वदा हेय ही।

पं० फूलचन्द्रने प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३४५ से ३५५ के मध्य जो 'यदि निश्चय सत्याधिष्ठित है' इत्यादि वचन लिखा है वह मिथ्या एकान्तका परिहार करनेके अभिप्रायसे ही लिखा है। यद्यपि वहाँ सामान्यसे व्यवहारनय शब्दका प्रयोग हुआ है। पर उससे सद्भूतव्यवहारको ही ग्रहण करना चाहिये। पण्डितप्रवर बनारसीदासजी वर्तमानमें संसारी होते हुए भी अपनेको मुक्त मानने लगे थे। किन्तु सम्यग्ज्ञान होनेपर उन्होंने यह स्वीकार किया कि 'पर्यायदृष्टिसे वर्तमानमें मैं संसारी ही हूँ, मुक्त नहीं।' इसीको उस लेखमें कहा गया है कि 'उन्हें व्यवहारमें आना पड़ा।'

'निरपेक्षा नया मिथ्या' इस वचनके सम्बन्धमें पिछले उत्तरमें हम जो कुछ भी लिख आये हैं वह अर्थक्रियाकारीपनेको ध्यानमें रखकर ही लिख आये हैं। विशेष खुलासा अनन्तर पूर्व किया ही है। उससे हमारा पूर्वोक्त कथन किस प्रकार आगमानुकूल है यह स्पष्ट हो जायगा।

'मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि भी द्वयनयाधीन है।' यह अपर पक्षका कहना है। इस सम्बन्धमें इतना ही निवेदन है कि आगममें हमने यह तो पढ़ा है कि 'भगवान्‌की देशना एक नयके आधीन न होकर दो नयके आधीन है—

तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता।

—पंचास्तिकाय गा० ४ टीका

किन्तु अपर पक्षका जैसा कहना है वैसा वचन अभीतक हमारे देखनेमें नहीं आया।

पंचास्तिकाय १७२ गाथाकी आ० जयसेनकृत टीकामें जो कुछ कहा गया है उसका आशय यह है कि जो व्यवहाराभासी होते हैं उनमें अणुव्रत महाव्रतादिरूप द्रव्यचारित्र होते हुए भी निश्चयकी प्राप्ति न होनेसे वे संसारी ही बने रहते हैं। जो निश्चयाभासी होते हैं उनमें न तो व्यवहार चारित्र ही होता है और न उन्हें निश्चयकी प्राप्ति ही होती है, इसलिए वे भी संसारी बने रहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि निश्चयमूलक व्यवहार ही सच्चा व्यवहार कहलाता है। अतः अणुव्रत-महाव्रतके धारण करनेमात्रको परमार्थ न समझकर परमार्थकी प्राप्तिके लिए सदा उद्यमशील रहना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसार टीकामें यह तो लिखा है कि 'केवल यह (निश्चय) एक ही मोक्षमार्ग है—

तयोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गः। —गाथा १९९

ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते। —गा० ८२

तथा उन्होंने समयसारमें द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है इसका निषेध भी किया है। —गा० ४१०-४११

और जो द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग कहते हैं उनके उस कथनको अज्ञानका फल कहा है (गा० ४०९)। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मोक्षमार्गकी प्ररूपणा दो प्रकार की है, मोक्षमार्ग दो नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें पंचास्तिकायका हवाला देकर अपर पक्षका यह लिखना तो ठीक नहीं कि 'केवल निश्चयनयसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और केवल व्यवहारनयसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती।' किन्तु इसके स्थानमें यह लिखना ही समीचीन है कि निश्चयारूढ़ व्यक्तिके यथापदवी व्यवहार नियमसे होता है। यही इन दोनोंका अविरोध है। किन्तु जैसे-जैसे स्वतत्त्वमें विश्रान्ति प्रगाढ़ होती जाती है वैसे-वैसे क्रमशः कर्मका संन्यास होता जाता है और अन्तमें स्वतत्त्वमें परम विश्रान्ति होनेसे यह जीव आर्हन्त्यलक्षण परम विभूतिका स्वामी बनता है। अपर पक्षने जो 'तदिदं वीतरागत्वं' इत्यादि वचन उद्धृत किया है उसका भी यही आशय है।

हमने लिखा था कि 'पर्यायबुद्धि तो अनादि कालसे बनाये चला आ रहा है।' उसका जो आशय अपर पक्षने लिया है वह ठीक नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दने जिस अभिप्रायसे प्रवचनसार गा० ९३ में 'पज्जयमूढा हि परसमया' यह वचन लिखा है और जिस अभिप्रायसे उसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने

'यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति।'

जिससे कि बहुतसे जीव पर्यायमात्रका ही अवलम्बनकर तत्त्वकी अप्रतिपत्तिलक्षण मोहको प्राप्त होते हुए परसमय होते हैं।

यह वचन लिखा है वही भाव हमारा था। यदि अपर पक्षने इस वचन पर सम्यक् दृष्टिपात न किया हो तो अब कर ले। उससे उस पक्षको व्यवहारनयके विषयभूत पर्यायका अवलम्बन करनेसे आत्माकी क्या हानि होती है यह अच्छी तरह समझमें आ जायगा और उससे मोक्षमार्गमें व्यवहारनयका विषयभूत अणुव्रत-महाव्रतका पालना आश्रय करने योग्य क्यों नहीं बतलाया यह भी समझमें आ जायगा।

सम्भवतः अपर पक्षने 'प्रयोजनवान् है' और 'आश्रय करने योग्य है' इन पदोंके पृथक्-पृथक् आशयको ध्यानमें नहीं लिया तभी तो उसकी ओरसे यह वचन लिखा गया है—'जो एकान्तसे निश्चयनयका अवलम्बन लेते हैं वे मोक्षको तो प्राप्त करते ही नहीं, किन्तु उल्टा पापबन्ध ही करते हैं।' इसके लिए हम अपर पक्षका ध्यान समयसार कलश २३ की ओर आकृष्ट कर देना चाहते हैं। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि यदि एक मुहूर्तके लिये बुद्धि द्वारा यह जीव शरीरादि पर द्रव्य-परभावोंसे भिन्न होकर ज्ञायकस्वभाव आत्माका अनुभव कर ले तो उसके मोहके छेद होनेमें देर न लगे।

अन्तमें अपर पक्षने अपनी कल्पनासे ऐसी बहुतसी मान्यताओंका निर्देश किया है जिनका उसी स्तरसे उत्तर देना उचित प्रतीत नहीं होता। किन्तु इतना लिखे बिना नहीं रहा जाता कि अपर पक्षको स्वयं विचार करना चाहिए कि उनके सामने ऐसी कोई बाधा तो है जिससे समुचित बाह्य पुरुषार्थ करके भी और योग्य निमित्त मिलाने पर भी कार्यसिद्धि नहीं होती। स्पष्ट है कि काललब्धि नहीं आई। अन्य सब तथ्य इसीमें निहित हैं। यदि अपर पक्ष अनेकान्तकी वास्तवमें प्रतिष्ठा करना चाहता है तो उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वरूप वस्तुको प्रत्येक समयमें स्वतःसिद्ध परनिरपेक्ष स्वीकार कर लेना चाहिए। धर्म-धर्मीकी सिद्धिमें परस्पर सापेक्षताका व्यवहार किया जाय यह दूसरी बात है। वस्तुमें अनेकान्तकी प्रतिष्ठा इसी मार्गसे हो सकती है, अन्य मार्गसे नहीं।

इसप्रकार समयसार गाथा २७२ का क्या आशय है इसके स्पष्टीकरणके साथ प्रकृत प्रश्नसम्बन्धी प्रस्तुत प्रतिशंकाका सांगोपांग विचार किया।

प्रथम दौर

: १ :

शंका १७

उपचारका लक्षण क्या है ? निमित्तकारण और व्यवहारनयमें यदि क्रमशः कारणता और नयत्व उपचार है तो इनमें उपचारका लक्षण घटित कीजिये ?

समाधान १

(१) परके सम्बन्ध (आश्रय)से जो व्यवहार किया जाता है उसे उपचार कहते हैं। इसका उदाहरण देते हुए समयसारकलशमें कहा है—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

अर्थ—यदि 'घीका घड़ा' ऐसा कहनेपर भी जो घड़ा है वह घीमय नहीं है (मिट्टीमय ही है) तो इसी प्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहनेपर भी जो जीव है वह वर्णादिमय नहीं है (ज्ञानघन ही है) ॥४०॥

परके योगसे जो व्यवहार किया जाता है उसे उपचार कहते हैं इसका विशदरूपसे स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिकके इस वचनसे भी हो जाता है—

न हि उपचरितोऽग्निः पाकाद्यावुपयुज्यमानो दृष्टः, तस्य मुख्यत्वप्रसंगात्।

—श्लोकवार्तिक अ० ५ सू० ९

अग्निके स्थानमें उपचरित अग्निका उपयोग नहीं देखा जाता, अन्यथा उसे मुख्य अग्नि (यथार्थ अग्नि) हो जानेका प्रसंग आता है।

इसी प्रकार परमागममें उपचारके—

मुख्योपचारभेदैस्तेऽवयवैः परिवर्जिताः।

—त० श्लो० पृ० ४१९

भूतादिव्यवहारोऽतः कालः स्यादुपचारतः।

—त० श्लो० पृ० ४१९

अनेक उल्लेख उपलब्ध होते है। जिनके अनुगम करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मूल वस्तुके वैसा न होनेपर भी प्रयोजनादिवश उसमें परके सम्बन्धसे व्यवहार करनेको उपचार कहते हैं।

मुख्यके अभावमें निमित्त और प्रयोजनादि बतलानेके लिये उपचार प्रवृत्त होता है।

(२) जिस प्रकार निश्चय कारक छह प्रकारके हैं उसी प्रकार व्यवहार कारक भी छह प्रकारके हैं— कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। ऐसा नियम है कि जिसप्रकार कार्यको निश्चय कारकों-

के साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है उसी प्रकार अनुकूल दूसरे एक या एकसे अधिक पदार्थोंमें कार्यकी बाह्य व्याप्ति नियमसे उपलब्ध होती है। एक मात्र वस्तुस्वभावके इस अटल नियमको ध्यानमें रखकर परमागममें जिसके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति पाई जाती है उसे उपादान कर्त्ता आदि कहा गया है और उस कालमें जिस दूसरे पदार्थके साथ बाह्य व्याप्ति पाई जाती है उसमें निमित्तरूप व्यवहारका अवलम्बन कर जिसमें कर्त्तारूप व्यवहार होता है उसे कर्त्ता निमित्त कहते हैं, और जिसमें कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण कारकका व्यवहार होता है उसे कर्म निमित्त, करण निमित्त आदि कहते है। इस प्रकार कार्यके अनुकूल पर द्रव्यकी विवक्षित पर्यायमें कर्त्ता निमित्त आदिका किस प्रकार उपचार होता है इसका सम्यक् प्रकार ज्ञान हो जाता है। यहाँ आभ्यन्तर व्याप्ति और बाह्य व्याप्ति आदिके विषयमें जो कुछ लिखा गया है उसकी पुष्टि समयसार गाथा ८४ की टीकासे होती है। वहाँ लिखा है—

वहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्य-भावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद् व्यवहारः। तथान्तर्व्याप्य-व्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्माणि क्रियमाणे भाव्य-भावकभावेन पुद्गलद्रव्यमेवानुभूयमाने च...।

बाह्य-व्याप्य-व्यापकभावसे घड़ेकी उत्पत्तिमें अनुकूल ऐसे (इच्छारूप और हाथ आदिकी क्रियारूप अपने) व्यापारको करता हुआ तथा घड़ेके द्वारा किये गये पानीके उपयोगमें उत्पन्न तृप्तिको (अपने तृप्ति-भावको) भाव्य-भावकभावके द्वारा अनुभव करता हुआ—भोगता हुआ, कुम्हार घड़ेका कर्त्ता है और भोक्ता है ऐसा लोगोंका अनादिरूढ़ व्यवहार है। उसी प्रकार आभ्यन्तर व्याप्य-व्यापकभावसे पुद्गल द्रव्य कर्मको करता है और भाव्यभावकभावसे पुद्गल द्रव्य ही कर्मको भोगता है....।

व्यवहारनय नयज्ञानका एक भेद है। उसका कार्य जहाँ जैसा व्यवहार किया जाता हो उसको जाननामात्र है, उसे उसी रूपमें जानता है; इसलिए उसकी परिगणना सम्यग्ज्ञानमें की जाती है, अतः उसमें किसी प्रकारके उपचार करनेका कोई प्रयोजन न होनेसे वह अनुपचरित ही है।

द्वितीय दौर

: २ :

शंका १७

प्रश्न यह था—उपचारका लक्षण क्या है ? निमित्त कारण और व्यवहारनयमें यदि क्रमशः कारणता या नयत्वका उपचार है तो इसमें उपचारका लक्षण घटित कीजिये ?

प्रतिशंका २

इस प्रश्नके उत्तरमें यद्यपि आपने उपचारका लक्षण 'परके सम्बन्ध (आश्रय)से व्यवहार करना' बतलाया है, परन्तु इस लक्षणमें जो व्यवहार शब्द पड़ा हुआ है उसका जब तक अर्थ स्पष्ट नहीं हो जाता तब

तक उपचारको समझनेकी आवश्यकता बनी रहती है। दूसरी बात यह है कि इस लक्षणमें पठित 'परके सम्बन्ध' शब्दका अर्थ आपने 'परके आश्रय' किया है, लेकिन इससे उपचार शब्द बिलकुल संकुचित अर्थका बोधक रह गया है, जिसका परिणाम यह है कि लक्षणके आधारपर जिस प्रकार आप घीके आधारभूत घटको घृतकुम्भ कह सकते है उस प्रकार 'जीवो वर्णादिमान्' नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जीव न तो वर्णादिकका आधारभूत है और न वर्णादिविशिष्ट पुगद्ल द्रव्यका ही आधारभूत है। इसी प्रकार 'अन्नं वै प्राणाः, 'सिंहो माणवकः' इत्यादि स्थलोंमें भी इस लक्षणके आधारपर उपचारकी प्रवृत्ति नहीं की जा सकती है।

यद्यपि आगे चलकर आपने 'उपचार' शब्दका कुछ पमार्जित दूसरा अर्थ भी किया है, जैसा कि आपने लिखा है कि 'मूल वस्तुके वैसा न होनेपर भी प्रयोजनादिवश उसमें परके सम्बन्धसे व्यवहार करनेको उपचार कहते हैं' परन्तु इसमें भी पठित 'व्यवहार' शब्दसे आपको क्या अर्थ अभीष्ट है ? और 'प्रयोजनादि' शब्दके अन्तर्गत आदि शब्दसे आप किस अर्थका बोध कराना चाहते है ? यदि इतनी बात आप स्पष्ट कर दें तो फिर हम और आप उपचारके लक्षणके सम्बन्धमें सम्भवतः एकमत हो सकते हैं।

वास्तवमें 'एक वस्तु या धर्मको किसी वस्तु या धर्ममें आरोप करना' ही उपचारका युक्तिसंगत लक्षण है, क्योंकि इस लक्षणके आधारपर 'घृतकुम्भ' 'जीवो वर्णादिमान' 'अन्नं वै प्राणाः' और 'सिंहो माणवकः' आदि वाक्य प्रयोगोंकी संगति उचित ढंगसे हो जाती है। परन्तु यदि आपको हमारे द्वारा मान्य उपचारके इस लक्षणको, जो कि अपके द्वितीय लक्षणके बहुत समीप है, आप स्वीकार न करें तो कृपया नीचे लिखी बातोंका उत्तर दें—

(१) द्वितीय लक्षणमें पठित 'व्यवहार' शब्दसे आपको क्या अभिप्रेत है ?

(२) उसीमें पठित 'प्रयोजनादि' पदके आदि शब्दसे भी आप कौन-सा पदार्थ गृहीत करना चाहते हैं ?

आगे आपने लिखा है कि 'मुख्यके अभाव में निमित्त तथा प्रयोजनको दिखलानेके लिये उपचार प्रवृत्त होता है' हो सकता है यह आपने आलाप-पद्धतिके

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते।

इस कथनके आधारपर ही लिखा हो। इसलिये हमें यहाँपर यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि आलापपद्धतिके उक्त वाक्यका अर्थ करनेमें आपने थोड़ी भूल कर दी है। उसका सुसंगत अर्थ यह है कि 'मुख्यका अभाव रहते हुये निमित्त और प्रयोजनके बश उपचार प्रवृत्त होता है।'

इस अर्थमें हमारे और आपके मध्य अन्तर यह है कि जहाँ आप उपचारकी प्रवृत्ति निमित्त और प्रयोजन दिखलानेके लिये करना चाहते हैं वहाँ हमारा कहना है कि उपचार करनेका कुछ प्रयोजन हमारे लक्ष्यमें हो और उसका (उपचारका) कोई निमित्त (कारण) वहाँ विद्यमान हो तो उपचारकी प्रवृत्ति होती है।

उपचारकी इस प्रकारकी यह प्रवृत्ति 'घृतकुम्भः', 'जीवो वर्णादिमान्', 'अन्नं वै प्राणाः' और 'सिंहो माणवकः' आदि जहाँ २ आवश्यकता होती है वहाँ वहाँ ही की जाती है।

अब विचार यह करना है कि निमित्त कारणमें कारणताका और व्यवहारनयमें नयत्वका उपचार करना क्या आवश्यक है ? और यदि आवश्यक है तो क्या वह सम्भव है, तथा इनमें उपचारका लक्षण घटित होता है क्या ?

आपके उत्तरमें इन बातोंपर आपका मत यह है कि कारणता उपादानमें ही रहा करती है उसी

कारणताका निमितमें आरोप किया जाता है और तव इसके आधारपर ही निमित्तको उपचरित कारण कह दिया जाता है। जैसा कि 'जैन तत्त्वमीमांसा'में उद्धृत नयचक्रकी निम्नलिखित गाथाके वहाँ पर किये गये अर्थसे फलित होता है—

वंधे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो ।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिओ खलु सव्वदरसीहिं ॥२३५॥

इस गाथाका जो अर्थ 'जैन तत्त्वमीमांसा'में दिया है वह निम्न प्रकार है—

व्यवहारसे (उपचारसे) बन्ध और मोक्षका हेतु अन्य पदार्थ (निमित्त) को जानना चाहिये, किन्तु निश्चय (परमार्थ) से यह जीव स्वयं बन्धका हेतु है और यही जीव स्वयं मोक्षका हेतु है ॥२३५॥

यहाँ पर विचारना यह है कि जो यह अर्थ गाथाका 'जैन तत्त्वमीमांसा'में दिया गया है क्या वह ठीक है ? तो इस पर हमारा कहना है कि वह अर्थ ठीक नहीं है। कारण कि हमारी समझमें यह नहीं आता है कि गाथामें पठित अन्य शब्दका अर्थ वहाँ निमित्त किस आधारपर किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि गाथामें निमित्तका विरोधी उपादान शब्द होता तो उस हालतमें अन्य शब्दका 'निमित्त' अर्थ करना अनुचित नहीं था, परन्तु जब गाथामें उपादान शब्द न होकर जीव शब्द पाया जाता है तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ अन्य शब्दसे जीवके प्रतिपक्षी कर्म तथा नोकर्मको ही ग्रहण करना चाहिये। यदि यह तथ्य आप स्वीकार कर लें तो फिर गाथामें पठित 'ववहारदो' और 'णिच्छयदो' शब्दोंके अर्थ भी आपको दृष्टिगत करने होंगे। इस तरह गाथाका जो अर्थ हमारी दृष्टिसे हो सकता है वह इस प्रकार होगा—

'बन्ध और मोक्षमें जीव निश्चयनयसे कारण होता है अर्थात् उपादान कारण होता है और जीवसे अन्य—कर्म नोकर्मरूप पदार्थ व्यवहारनयसे कारण होते हैं अर्थात् निमित्त कारण होते हैं।'

अब आप अनुभव करेंगे कि बन्ध और मोक्षके प्रति इस गाथाके द्वारा जीवमें तो उपादान कारणता स्थापित की गई है। और कर्म तथा नोकर्ममें निमित्तकारणता स्थापित की गई है। इसी बातको प्रकट करनेके लिए यहाँपर निश्चय (स्वाश्रित) नय व व्यवहार (पराश्रित) नयका प्रयोग किया गया है। आप व्यवहारका उपचार अर्थ करके निमित्तकारणमें असत्यता सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं यह संगत नहीं मालूम होता। क्योंकि एक वस्तुका वस्तुत्व उपादान नहीं है और दूसरी वस्तुका वस्तुत्व निमित्त नहीं है। किन्तु अपने स्वतन्त्र वस्तुत्वको रखते हुए विवक्षित वस्तुमें विवक्षित कार्यके प्रति आश्रय होनेसे उपादान कारणता है और अपने स्वतन्त्र वस्तुत्वको रखती हुई अन्य विवक्षित वस्तुमें सहायक होनेसे निमित्त कारणता है। निमित्त और उपादान कारणोंके व्युत्पत्यर्थ पर यदि ध्यान दिया जाय तो एक वस्तुमें उपादानताका वास्तविक रूप क्या है ? और दूसरी वस्तुमें निमित्तका वास्तविक रूप क्या है ? यह अच्छी तरह समझमें आजाता है। इनका व्युत्पत्यर्थ निम्न प्रकार है—

'उपादीयतेऽनेन' इस विग्रहके आधारपर 'उप' उपसर्गपूर्वक आदानार्थक 'आ' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातुसे कर्त्ताके अर्थमें ल्युट् प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है। इस तरह जो वस्तु विवक्षित परिणमनको स्वीकार करे या ग्रहण करे अथवा जिसमें परिणमन निष्पन्न हो वह वस्तु उपादान कहलाती है इसी प्रकार 'निमेद्यति' इस विग्रहके आधारपर 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'मिद्' धातुसे भी कर्तृ अर्थमें 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। इस तरह निमित्त शब्दका अर्थ उपादानके प्रति मित्रवत् स्नेह करनेवाला या उपादानको उसकी विवक्षित कार्यरूप परिणतिमें सहायता देनेवाला होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि विवक्षित कार्यके प्रति कार्यका आश्रय होनेके कारण विवक्षित वस्तुमें विद्यमान उपादानकारणता जिस प्रकार वास्तविक है उसी प्रकार उसी विवक्षित कार्यके प्रति सहायक होनेके कारण विवक्षित अन्य वस्तुमें विद्यमान निमित्तकारणता भी वास्तविक सिद्ध होती है। इससे यह बात निष्पन्न होती है कि जिस प्रकार अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हुई विवक्षित वस्तु विवक्षित कार्यके प्रति वास्तविक उपादान कारण है उसी प्रकार अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हुई अन्य विवक्षित वस्तु भी उस विवक्षित कार्यके प्रति वास्तविक निमित्त कारण है। अब हम आपसे पूछना चाहते हैं—

उपादान वस्तुगत कारणताका निमित्तभूत वस्तुमें आरोप क्या आपको अभिष्ट है और यदि अभीष्ट भी है तो क्या संभव है। आगे इन्हीं प्रश्नोंपर विचार करना है।

यह तो निर्विवाद है कि लोकमें जिस प्रकार उपादानभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणति देखी जाती है उस प्रकार निमित्तभूत वस्तुकी कार्यरूप परिणति नहीं देखी जाती। यही कारण है कि जैन संस्कृतिमें निमित्तकी कार्यरूप परिणति नहीं स्वीकार की गई है, इसलिये निमित्तभूत वस्तुमें एक तो कारणताका आरोप अभीष्ट नहीं हो सकता है, न वह आवश्यक है और न वह संभव ही है, क्योंकि आलापपद्धति ग्रन्थके अनुसार एक वस्तुमें अथवा धर्ममें दूसरी वस्तु अथवा धर्मका आरोप निमित्त और प्रयोजन रहते हुए ही हो सकता है जो कि यहाँ घटित नहीं होता है, क्योंकि उपादानभूत वस्तुगत कारणताका आरोप निमित्तभूत वस्तुमें करनेके लिये कोई निमित्त (कारण) नहीं है और न उस आरोपका कोई प्रयोजन ही रह जाता है। कारण कि विना आरोपके ही अभीष्ट सिद्धि हो जाती है।

जब हम अध्यात्मकी व्याख्याको पढ़ते और सुनते हैं तो वह केवल एक द्रव्यमें तादात्म्यसे स्थित सब धर्मोंको स्वाश्रित होनेसे वास्तविक मानता है और जहाँ परकी अपेक्षा वर्णन किया जाता है तब उसे व्यवहार—अवास्तविक एवं सरल भाषामें उपचरित शब्दसे कहा जाता है, किन्तु वस्तुतः जिस धर्मको उपादानकी दृष्टिसे उपादेय कहा जाता है वही धर्म निमित्तकी अपेक्षा नैमित्तिक कहलाने लगता है। इस तरह एक ही उपादान-का परिणमन दो रूप कहा जाता है, इसलिये उसे अध्यात्मकी भाषामें स्वपरप्रत्यय कहते हैं। जैसे जीवकी नर-नारकादि पर्याय और मिट्टीकी घट कपालादि पर्याय। इन्हें आगम भाषामें वैभाविक पर्यायें भी कहते हैं।

इस तरह जब उपादानगत वह परिणमन उपादेय और नैमित्तिक उभयरूप है तब उपादानके व्यापार को वास्तविक और निमित्तके व्यापारको अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है। जब कि उपादान और निमित्त दोनोंके वास्तविक व्यापारोंसे वह आत्मलाभ पाता है।

आगे आपने जो निश्चय और व्यवहारकारक बतलाये हैं तथा अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्तिका प्रतिपादन किया है वह भी क्रमशः परस्पर सापेक्ष उपादान और निमित्तोंके पृथक्-पृथक् व्यापाराधीन है। अनेकान्तकी वस्तुव्यवस्था यही है अर्थात् जिस समय उपादान कारक और अन्तर्व्याप्तिका लक्ष्य रहता है तब निमित्त कारक और बहिर्व्याप्ति गौण हो जाती है और इसी तरह जब निमित्त कारक और बहिर्व्याप्तिका लक्ष्य रहता है तब उपादान कारक और अन्तर्व्याप्ति गौण हो जाती है। वस्तुतः कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों आवश्यक हैं और दोनों ही वास्तविक हैं। लोकमें भी दोनों ही प्रकारके वचन प्रयोग पाये जाते हैं। जैसे 'मिट्टीसे घड़ा बना है।' अथवा 'कुम्भकारने मिट्टीसे घड़ा बनाया है' दोनों ही वचनप्रयोग लोकमें सत्यार्थका प्रतिपादन करते हैं।

जैन तत्त्वज्ञान उभयनयसापेक्ष है। यह बात जुदी है कि कहीं निश्चयप्रधान कथन है और कहीं व्यवहारप्रधान कथन है। जहाँ निश्चय प्रधान कथन है वहाँ व्यवहारनयसे उसे समन्वित कर लेना चाहिये और जहाँ व्यवहारप्रधान कथन हैं वहाँ उसे निश्चयनयसे समन्वित कर लेना चाहिये। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामीके निम्नांकित वचन हमारे मार्गदर्शक हैं—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

—समयसार गाथा १२ का कलश

अर्थ—जो पुरुष उभयनयके विरोधको नष्ट करनेवाले और स्यात् पदसे चिह्नित जिनेन्द्र भगवान्के वचनोंमें स्वयं मोह—मिथ्यात्व रहित होकर रमण करते हैं ये उत्कृष्ट तथा अनयपक्षसे अक्षुण्ण—मिथ्यानयों के संचारसे रहित उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप समयसारका—आत्माकी शुद्ध परिणतिका शीघ्र ही अवलोकन करते हैं।

●

शंका १७

उपचारका लक्षण क्या है ? निमित्त कारण और व्यवहार नयमें यदि क्रमशः कारणता और नयत्वका उपचार है तो इनमें उपचारका लक्षण घटित कीजिए ?

प्रतिशंका २ का समाधान

इस प्रश्नके पिछले समाधानमें हम यह बतला आये हैं कि परके सम्वन्ध (आश्रय) से जो व्यवहार किया जाता है उसे 'उपचार' कहते हैं। इस लक्षणमें आश्रयका अर्थ आधार मानकर 'वर्णादिमान् जीवः' इत्यादि उदाहरणोंमें आधाराधेयभाव नहीं है यह बतलाकर लक्षणका खण्डन किया है वह संगत नहीं है, क्योंकि वहाँ आश्रयका अर्थ 'सम्बन्ध' स्वयं लिखा गया है, आधार नहीं। उपचारका उक्त लक्षण 'वर्णादिमान् जीवः' में घटित होनेकी बात स्वयं अमृतचन्द्र स्वामीने श्लोक ४० में लिखी है जिसका उद्धरण हम अपने समाधानमें दे चुके हैं, अतः सुसंगत है।

उपचारका जो दूसरा लक्षण हमने किया है उसे ठीक बताते हुए भी प्रयोजनादि शब्दमें 'आदि' शब्दसे और व्यवहार शब्दसे क्या अर्थ लिया गया है यह पृच्छा की है और लिखा है कि 'इतनी बात आप स्पष्ट कर दें तो फिर हम आप उक्त लक्षणके सम्बन्धमें संभवतः एकमत हो सकते हैं', सो 'आदि' शब्दसे निमित्त लिया गया है, तथा व्यवहार शब्दके अर्थको समझनेके लिये उसके पर्यायवाची नाम जो आगममें आते हैं वे हैं—व्यवहार-आरोप-उपचार आदि। नीचे लिखे आगम वाक्योंमें 'उपचार' शब्दका उपयोग आया है, जिससे उस शब्दका अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

दिशोऽप्याकाशेऽन्तर्भावः आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपंक्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपत्तेः।

—सर्वा० अ० ५, सूत्र ३, टीका

परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यगाहनहेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदात् तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते ।

—सर्वा० अ० ५, सूत्र ७, टीका

धर्मादीनां पुनरधिकरणं आकाशमित्युच्यते व्यवहारनयवशात्

—सर्वा० अ० ५, सूत्र १२, टीका

यथार्थका नाम निश्चय और उपचारका नाम व्यवहार है

—मो० मा० प्र०, अधि० ७, पृ० २८७

उपचार कर तिस द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यके भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है ।

—मो० मा० प्र० अधि० ७, पृष्ठ ३६९

असद्भूतव्यवहार एव उपचार :

—आलापप० पृष्ठ १३२

जीवपुद्गलानां क्रियावतां अवगाहिनां अवकाशदानं युक्तं धर्मस्तिकायादयः पुनः निष्क्रियाः नित्यसम्बन्धास्तेषां कथमवगाहः इति चेन्न, उपचारतस्तत्सिद्धेः ॥

—सर्वा० अ० ५, सूत्र १८ टीका

मुह्यते इति मोहनीयम् । एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं जीवादो अभिण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तधा उत्तीदो ।

—धवला पुस्तक ६, पृ० ११

उक्त उद्धरणोंमें आए हुए उपचार-व्यवहार-आरोप आदि शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें हुआ है यह विद्वानोंके लिए स्पष्ट है ।

प्रतिशंका २ के लेखानुसार 'आदि' और 'व्यवहार' शब्दसे क्या इष्ट है यह बताया गया । अतः यदि हमारे लक्षणसे आप अपने लेखानुसार एकमत हों तो प्रसन्नताकी बात होगी ।

'एक वस्तु या धर्मको किसी वस्तु या धर्ममें आरोप करना' उपचारका जो दूसरा लक्षण प्रस्तुत किया है इसमें हमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों लक्षण एक ही अर्थ को प्रतिपादित करते हैं ।

निमित्तकी कारणताके उपचारके सम्बन्धमें जो नयचक्रकी (पृ० ८३) २३५ वीं गाथा जैनतत्त्व-मीमांसामें पृ० १६ पर दी गई है उसके अर्थको गलत बताकर व्यर्थकी आपत्ति उठाई गई है । गाथा इस प्रकार है ।

> बंधे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो ।
> णिच्छयदो पुण जीवो भणियो खलु सव्वदरसीहिं ॥२३५॥

इस गाथाका अर्थ जो हमने किया है वह इस प्रकार है—

अर्थ—व्यवहारसे (उपचारसे) बन्ध और मोक्षका हेतु अन्य पदार्थ (निमित्त) को जानना चाहिए, किन्तु निश्चय (परमार्थ) से यह जीव स्वयं बन्धका हेतु है ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है ।

प्रतिशंकामें यह आलोचना की गई है कि 'हमारी समझमें यह नहीं आता कि गाथामें पठित 'अन्य (अण्णो) शब्दका अर्थ यहाँ 'निमित्त' किस आधारपर किया गया है....गाथामें उपादान शब्द जब नहीं है, 'जीव' शब्द पाया जाता है ।'

अब प्रतिशंका २ में जो अर्थ उक्त गाथाका किया गया है उसे पढ़िये—

अर्थ—बन्ध और मोक्षमें जीव निश्चयनयसे कारण होता है अर्थात् उपादान कारण होता है और जीवसे अन्य कर्म-नोकर्मरूप पदार्थ व्यवहारनयसे कारण होते हैं अर्थात् निमित्तकारण होते हैं।

पाठक देखेंगे कि 'अन्य' शब्दका अर्थ हमने निमित्त किया था उसपर आपत्ति उठाई थी, पर प्रति शंका २ में उसका अर्थ कर्म-नोकर्मरूप पदार्थको 'निमित्त' ही लिखा है और जीव शब्दको 'उपादान' शब्दसे ही लिखा गया है। इस तरह अर्थभेद न होते हुए भी आपत्ति की है। जो कि उचित नहीं मानी जा सकती। जब जीवको बंधका निश्चयसे कारण कहा था तब वह उपादान ही तो हुआ और अन्यका अर्थ बन्ध प्रकरणमें जीवसे भिन्न कर्म-नोकर्म ही होंगे, तब व्यर्थ अर्थभेद कर खण्डन किया गया है यह सहज ही समझा जा सकता है।

आगे चलकर प्रतिशंका २ में यह बताया गया है कि उपादान कारणताकी तरह निमित्तकारणता भी वास्तविक है सो निमित्त कारणताको वास्तविक कहनेका क्या अर्थ है? इसमें कोई स्पष्टीकरण तथा आगमप्रमाण न होनेसे विचार नहीं किया जा सकता। आगममें सर्वत्र निमित्तको व्यवहारसे कारण स्वीकार किया गया है और व्यवहारका अर्थ उपचार है यह पूर्वमें हम सिद्ध कर आये हैं। उपादानवस्तुगत कारणता-का अन्य वस्तुमें आरोप निश्चयकी सिद्धिके लिये ही किया जाता है और इसीलिये उसे निमित्तकारण कहा जाता है और इसीलिये उसमें कर्त्ता आदिका व्यवहार करते हैं।

यही बात अनगारधर्मामृतके प्रथम अध्यायमें प्रतिपादित है।

> कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः येन निश्चयसिद्धये।
> साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेदहक् ॥१०२॥

अर्थ—जिसके द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिये वस्तुसे भिन्न कर्त्ता आदि साधे जाते हैं, वह व्यवहार है और निश्चय वस्तुसे अभिन्न कर्ता आदिकको देखता है।

'मिट्टीसे घड़ा बना है। कुम्भकारने मिट्टीसे घड़ा बनाया है।' उक्त प्रकारसे लोकमें दोनों प्रकारके वचनप्रयोग देखे जाते हैं; ऐसा लिखना ठीक है पर इन वचनप्रयोगोंमें मिट्टीके साथ जैसे घटकी अन्तर्व्याप्ति है वैसी कुंभकारके साथ नहीं। अब निश्चयसे कर्त्ता-कर्म आदि षड्कारककी प्रवृत्ति उपादानसे है, निमित्तसे नहीं यह बात हम समयसार गाथा ८४ की टीकासे अपने उत्तरमें सिद्ध कर आये हैं।

इससे भिन्न जो लिखा है कि 'परिणमन उभयरूप है' वह बिना आगमप्रमाणके दिए लिखा गया है, अतः मान्य नहीं हो सकता। यदि परिणमन उभयरूप होता तो घटमें कुंभकारका भी रूप आता पर ऐसा नहीं होता।

जैनतत्त्वज्ञान उभयनयसापेक्ष वस्तुव्यवस्थापक है यह निर्विवाद है पर दोनों नयोंमें वस्तु जिस रूपमें विवक्षित है उसी रूपसे उसे जानना चाहिये और तभी अनेकान्तकी सिद्धि होती है।

तृतीय दौर

: ३ :

शंका १७

उपचारका लक्षण क्या है ? निमित्तकारण और व्यवहारमें यदि क्रमशः कारणता और नयत्वका उपचार है तो इनमें उपचारका लक्षण घटित कीजिये ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नका उत्तर लिखते हुए आपने अपने प्रथम उत्तरमें उपचारका लक्षण निम्न प्रकार लिखा था—'परके सम्बन्ध (आश्रय)से जो व्यवहार किया जाता है उसे उपचार कहते हैं।'

इस लक्षणमें आपने स्वयं 'सम्बन्ध' शब्दका अर्थ 'आश्रय' किया है, इसीलिये हमारी तरफसे यह आपत्ति उपस्थितकी गयी थी कि 'सम्बन्ध' शब्दका अर्थ 'आश्रय' करनेपर उपचार शब्दका अर्थ बिल्कुल संकुचित हो गया है, इसलिये उपचारका यह लक्षण 'जीवो वर्णादिमान्'में घटित नहीं हो सकता है। अब आपने अपने द्वितीय उत्तरमें यह लिखा है कि 'आश्रय' का अर्थ 'सम्बन्ध' है 'आधार' नहीं। अच्छा तो यही होता कि आप प्रथम ही 'सम्बन्ध' शब्दका अर्थ 'आश्रय' न करते। उस हालतमें हमें आपत्ति उपस्थित करनेको बाध्य नहीं होना पड़ता, क्योंकि यह बात तो हमें भी मालूम है कि आचार्य अमृतचन्द्रने 'जीवो वर्णादिमान्' इस वाक्यमें उपचार स्वीकार किया है। आपके कथनसे स्पष्ट हो गया है कि 'सम्बन्ध' शब्दका अर्थ आपको 'आश्रय' अर्थ अभीष्ट नहीं है, केवल 'सम्बन्ध सामान्य' ही 'सम्बन्ध' शब्दका अर्थ आपको अभीष्ट है।

इसके पहले हमने आपसे प्रश्न किया था कि आपके द्वारा माने गये उल्लिखित लक्षणमें जो 'व्यवहार' शब्द आया है उसका अर्थ क्या है ? इसी प्रकार आपने अपने उसी उत्तरमें आगे जो दूसरा लक्षण उपचारका लिखा था उसमें भी 'व्यवहार' शब्दका प्रयोग आपने किया है, इसलिये उस लक्षणमें पठित 'व्यवहार' शब्दका भी अर्थ हमें पूछनेके लिये बाध्य होना पड़ा था।

इस उत्तरमें आपने लिखा है कि माने हुए उपचारके लक्षणमें आये हुए 'व्यवहार' शब्दके पर्यायवाची शब्द आरोप और उपचार हैं। साथ ही यह लिखकर कि 'नीचे लिखे आगम वाक्योंमें 'उपचार' शब्दका उपयोग आया है जिससे उक्त शब्दका अर्थ स्पष्ट हो जायगा।'—आगे उन आगम वाक्योंका उल्लेख भी आपने कर दिया है और अन्तमें यह भी आपने लिख दिया है कि 'उद्धृत सभी आगम वाक्योंमें आये हुए उपचार, व्यवहार, आरोप आदि शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें हुआ है यह बात विद्वानोंके लिये स्पष्ट है।'

इस तरह हम देखते हैं कि आपके द्वारा मान्य उपचारके लक्षणोंमें प्रयुक्त 'व्यवहार' शब्दका अर्थ—आपके उत्तरसे स्पष्ट नहीं हो सका। यह ठीक है कि विद्वानोंके लिये व्यवहार, उपचार, आरोप आदि शब्दोंके अर्थ स्पष्ट हैं, परन्तु उपचारके लक्षणमें पठित व्यवहार शब्दका आपको कैसा अर्थ ग्राह्य है यह जाननेके लिये ही हमने अपने प्रश्नमें आपसे उसका अर्थ पूछा था, अज्ञात होनेके कारण नहीं पूछा था।

व्यवहार शब्दके प्रकरणानुसार बहुतसे अर्थ होते हैं। उनमेंसे कुछ अर्थ यहाँपर दिये जा रहे हैं—

व्यवहार शब्द वास्तवमें निश्चयशब्द सापेक्ष होकर ही अपने अर्थका प्रतिपादन करता है। प्रत्येक वस्तु में यथासम्भव अनेक प्रकारके निश्चय और व्यवहाररूप धर्मोके विकल्प पाये जाते हैं। जैसे—द्रव्य और पर्याय-के विकल्पोंमें द्रव्यरूपता निश्चय और पर्यायरूपता व्यवहार है, गुण और पर्यायके विकल्पोंमें गुणरूपता निश्चय है और पर्यायरूपता व्यवहार है, सहवर्तित्व और क्रमवर्तित्वके विकल्पोंमें सहवर्तित्व निश्चय है और क्रमवर्तित्व व्यवहार है, अन्वय और व्यतिरेकके विकल्पोंमें अन्वयरूपता निश्चय है और व्यतिरेकरूपता व्यवहार है, यौगपद्य और क्रमके विकल्पोंमें यौगपद्य निश्चय है और क्रमरूपता व्यवहार है, निर्विकल्प और सविकल्पके विकल्पोंमें निर्विकल्पकता निश्चय है और सविकल्पकता व्यवहार है, अवक्तव्य और वक्तव्यके विकल्पोंमें अवक्तव्यता निश्चय है और वक्तव्यता व्यवहार है, वास्तविक और कल्पितके विकल्पोंमें वास्तविकता निश्चय है और कल्पितरूपता व्यवहार है, अनुपचरित और उपचरितके विकल्पोंमें अनुचरितता निश्चय है और उप-चरितता व्यवहार है, कार्य और कारण, साध्य और साधन तथा उद्देश्य और विधेयके विकल्पोंमें कार्यरूपता, साध्यरूपता और उद्देश्यरूपता निश्चय है तथा कारणरूपता, साधनरूपता और विधेयरूपता व्यवहार है, उपादान और निमित्तके विकल्पोंमें उपादानरूपता निश्चय है और निमित्तरूपता व्यवहार है, अन्तरंग और बहिरंगके विकल्पोंमें अन्तरंगरूपता निश्चय है और बहिरंगरूपता व्यवहार है, द्रव्यलिंग और भावलिंगके विकल्पोंमें भाव निश्चय है और द्रव्य व्यवहार है, लब्धि और उपयोग तथा शक्ति और व्यक्तिके विकल्पोंमें लब्धिरूपता और शक्तिरूपता निश्चय है तथा उपयोगरूपता और व्यक्तिरूपता व्यवहार है, स्वाश्रित और पराश्रितके विकल्पोंमें स्वाश्रितता निश्चय है और पराश्रितता व्यवहार है, स्वभाव और विभावके विकल्पोंमें स्वभाव निश्चय है, और विभाव व्यवहार है अबद्धता और बद्धताके विकल्पोंमें अबद्धता निश्चय है और बद्धता व्यवहार है, मुक्ति और संसारके विकल्पोंमें मुक्ति निश्चय है और संसार व्यवहार है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें यथासम्भव विद्यमान अपने-अपने अनन्त धर्मोकी अपेक्षा परस्पर विरुद्ध-अनन्त-प्रकारके निश्चय और व्यवहारके युगलरूप विकल्प पाये जाते हैं। जैन संस्कृतिमें वस्तुको अनेका-न्तात्मक स्वीकार किया गया है, इसलिये उपर्युक्त निश्चय और व्यवहारके विकल्प परस्पर विरोधी होते हुए भी वस्तुमें परस्पर समन्वित होकर ही रह रहे हैं। एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व, तद्रूपता और अतद्रूपता, सद्रूपता और असद्रूपता, अभेदरूपता और भेदरूपता इत्यादि युगलोंमें भी पहला विकल्प निश्चयका और दूसरा विकल्प व्यवहारका है। चूँकि ये सभी वस्तुके ही धर्म हैं, अतः अपने-अपने रूपमें सद्भूत हैं, केवल असद्भूत नहीं हैं।

आपने उपचारका यह जो लक्षण लिखा है कि 'मूल वस्तुके वैसा न होनेपर भी प्रयोजनादिवश उसमें परके सम्बन्धसे व्यवहार करनेको उपचार कहते हैं। इसमें पठित प्रयोजनादि शब्दके 'आदि' शब्दसे निमित्त (कारण)का अर्थ आपको ग्राह्य है तो यह ठीक है। परन्तु यह बात हम अपनी प्रतिशंका २में पहले ही लिख चुके हैं कि उपचारके इस अर्थमें हमारे आपके मध्य अन्तर यह है कि 'जहाँ आप उपचारकी प्रवृत्ति निमित्त और प्रयोजन दिखलानेके लिये करना चाहते हैं वहाँ हमारा कहना यह है कि उपचार करनेका कुछ प्रयोजन हमारे लक्ष्यमें हो और उपचार प्रवृत्तिका कोई निमित्त (कारण) वहाँ विद्यमान हो तो उपचारकी प्रवृत्ति होगी।'

हमने अपनी प्रतिशंका २में यह लिखा था कि 'आपने नयचक्रकी 'बन्धे च मोक्ख हेऊ' इस गाथाका अर्थ गलत किया है, तो इसपर आपने प्रत्युत्तरमें लिखा है कि 'यह आपत्ति व्यर्थकी उठाई गयी है।' और फिर आगे वहींपर उभय पक्षके अर्थोंकी तुलना करते हुए आपने हमारे और आपके दोनों अर्थोंमें समानता दिखलाने-

का निरर्थक प्रयत्न किया है, क्योंकि दोनों अर्थोंमें बहुत अन्तर है। अपनी प्रतिशंका २में उस अन्तरको हमने दिखलाया भी है, परन्तु उसपर आपने ध्यान नहीं दिया, इसलिये हम यहाँपर उसको पुनः स्पष्ट कर रहे है—

बन्धे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो ।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिओ खलु सव्वदरसीहिं ॥२२५॥

आपके द्वारा किया गया अर्थ—'व्यवहारसे (उपचारसे) बन्ध और मोक्षका हेतु अन्य पदार्थ (निमित्त)को जानना चाहिये, किन्तु निश्चय (परमार्थ)से यह जीव स्वयं मोक्षका हेतु है।'

हमारे द्वारा किया गया अर्थ—'बन्ध और मोक्षमें जीव निश्चयनयसे कारण होता है अर्थात् उपादान कारण होता है और जीवसे अन्य कर्म-नोकर्मरूप पदार्थ व्यवहारनयसे कारण होते हैं अर्थात् निमित्तकारण होते हैं।'

इन दोनों अर्थोंमें अन्तर यह है कि जहाँ आपने 'अन्य' शब्दका अर्थ 'निमित्त' किया है वहाँ हमने उसका अर्थ 'कर्म-नोकर्म' किया है। इस तरह 'अण्णो ववहारदो हेदू'का अर्थ जहाँ आपको निमित्त व्यवहार याने उपचारसे कारण होता है यह मानना पड़ा है, वहाँ हमने उसका अर्थ ऐसा किया है कि 'कर्म-नोकर्म-रूप वस्तु व्यवहारनयसे कारण होती अर्थात् निमित्तकारण होती है।' इस प्रकार जहाँ आपने अपने अर्थमें निमित्तमें उपचारसे कारणता बतलायी है वह हमने अपने अर्थमें कर्म-नोकर्ममें वास्तविक निमित्तरूपसे कारणता बतलायी है।

हमने आपके अर्थको गलत और अपने अर्थको सही इसलिये कहा है कि गाथाके उत्तरार्धमें 'जीवो' शब्दका पाठ है, इसलिये 'णिच्छयदो पुण जीवो हेऊ' इतने वाक्यका यही अर्थ युक्ति-युक्त होगा कि 'जीव निश्चयनयसे कारण है अर्थात् उपादान कारण है।' आपके द्वारा किये गये इस वाक्यके अर्थसे भी यही आशय निकलता है, इसलिये हमारी समझमें यह नहीं आया कि उत्तरार्धमें 'जीवो' पदका पाठ रहते हुए और उसका अर्थ भी उपादानरूप न करके 'जीव नामकी वस्तु' करते हुए कैसे आप 'अण्णो' पदका निमित्तरूप अर्थ कर गये हैं। कारण कि जीवसे अन्य वस्तु यदि कोई इस प्रकरणमें गृहीत की जा सकती है तो वह 'कर्म-नोकर्म' ही होगी। निमित्त जीवसे अन्य वस्तु नहीं कहला सकती है, वह तो उपादान वस्तुसे ही अन्य वस्तु कहला सकती है, इसलिये जब गाथामें उपादान शब्द न होकर जीव शब्दका स्पष्ट पाठ है तो फिर गाथामें 'अण्णो' पदका कर्म-नोकर्म ही अर्थ उपयुक्त हो सकता है, निमित्तरूप अर्थ उपयुक्त नहीं हो सकता है। ऐसी स्थितिमें जिस प्रकार 'णिच्छयदो पुण जीवो हेऊ' अर्थात् 'जीव निश्चयसे कारण है' इसका आशय 'उपादानरूपसे कारण है' ऐसा आपको लेना पड़ा है उसी प्रकार 'अण्णो ववहारदो हेऊ' का 'कर्म-नोकर्म 'उपादानरूपसे कारण है' ऐसा आपको लेना पड़ा है उसी प्रकार 'अण्णो ववहारदो हेऊ' का 'कर्म-नोकर्म व्यवहारसे कारण है' इस तरह अर्थ करके इसका आशय 'निमित्तरूपसे कारण है' ऐसा आपको लेना चाहिये।

हमारे इतने लिखनेका अभिप्राय यह है कि आप गाथाका अपने अभिप्रायके अनुसार अर्थ करके जो निमित्तकारणकी असत्यता या कल्पितता सिद्ध करना चाहते हैं वह कदापि नहीं हो सकती है, क्योंकि हम अपनी प्रतिशंका२में बतला चुके हैं कि 'एक वस्तुका अपना वस्तुत्व उपादान नहीं है और दूसरी वस्तुका अपना वस्तुत्व निमित्त नहीं है; किन्तु अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको रखती हुई विवक्षित कार्यके प्रति आश्रय होनेसे उपादान कारण है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको रखती हुई अन्य विवक्षित वस्तु सहायक होनेसे निमित्त कारण है'। इससे यह भी तात्पर्य निकल आता है कि जो वस्तु अपनेमें होनेवाले कार्यके प्रति आश्रयपनेके आधार पर उपादान होता है वही वस्तु अन्य दूसरी वस्तुमें होनेवाले कार्यके प्रति सहायकपनेके आधारपर

निमित्त भी होती है इसी प्रकार जो वस्तु दूसरी वस्तुमें होनेवाले कार्यके प्रति सहायकपनेके आधारपर निमित्त होती है वही वस्तु अपनेमें होनेवाले कार्यके प्रति आश्रयपनेके आधार पर उपादान भी होती है। इस तरह जिस प्रकार वस्तुमें पायी जानेवाली उपादानता वस्तुका धर्म है उसी प्रकार वस्तुमें पायी जानेवाली निमित्तता भी वस्तुका धर्म ही सिद्ध होता है, इसलिये जिस प्रकार वस्तुमें पायी जानेवाली उपादानता वस्तु-धर्म होनेके कारण वास्तविक है उसी प्रकार वस्तुमें पायी जानेवाली निमित्तता भी वस्तुधर्म होनेके कारण वास्तविक ही सिद्ध होता है।

आपने स्वयं पहले उत्तरमें यह स्वीकार किया है कि 'जिस प्रकार निश्चयकारक छः प्रकारके हैं उसी प्रकार व्यवहारकारक भी छः प्रकारके हैं—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण। आगे आपने यह भी लिखा है कि 'जिस प्रकार कार्यकी निश्चय कारकोंके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है उसी प्रकार अनुकूल दूसरे एक या एकसे अधिक पदार्थोंमें कार्यकी बाह्य व्याप्ति नियमसे उपलब्ध होती है।' आगे आपने लिखा है कि 'एकमात्र वस्तु स्वभावके इस अटल नियमको ध्यानमें रखकर परमागममें जिसके साथ आभ्यंतर व्याप्ति पायी जाती है उसे उपादान कर्ता आदि कहा गया है और उस कालमें जिस दूसरे पदार्थके साथ बाह्य व्याप्ति पायी जाती है उसमें निमित्तरूप व्यवहारका अवलम्बन कर जिसमें कर्तारूप व्यवहार होता है उसे कर्तानिमित्त कहते हैं और जिसमें कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण कारकका व्यवहार होता है उसे कर्मनिमित्त, करणनिमित्त आदि कहते हैं।'

आपने अपने इस कथनमें जो यह लिखा है कि 'जिस दूसरे पदार्थके साथ बाह्य व्याप्ति पायी जाती है उसमें निमित्तरूप व्यवहारका अवलम्बन कर जिसमें कर्तारूप व्यवहार होता है उसे कर्ता निमित्त कहते हैं आदि', इसमें 'निमित्तरूप व्यवहारका अवलम्बनकर' इस वाक्यांशका अर्थ 'उस दूसरे पदार्थमें उपादानकी कार्यरूप परिणतिके अनुकूल जो सहायतारूप व्यापार हुआ करता है जिसके आधार उसमें बहिर्व्याप्तिकी व्यवस्था बन सकती है' यदि आपका अभीष्ट अर्थ हो, तो वह व्यापार उस दूसरे पदार्थका वास्तविक व्यापार ही तो माना जायगा। उसे अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है? यदि उस व्यापारको आप अवास्तविक कहना चाहते हैं तो फिर उसके आधार पर आप उस दूसरे पदार्थके साथ आगमसम्मत वास्तविक बहिर्व्याप्तिकी स्थापना कैसे करेंगे? यदि इस आपत्तिको टालनेके लिए आप उस बहिर्व्याप्तिको भी केवल कल्पनारोपित कहनेको तैयार होते हैं, तो यह महान् आश्चर्यकी बात होगी, क्योंकि आपने स्वयं ही अन्त र्व्याप्तिके समान बहिर्व्याप्तिकी वास्तविकताको पुष्ट करनेके लिए समयसार गाथा ८४ की टीकाको अपने उत्तरमें उपस्थित किया है, अतः आपकी ऐसी कल्पना आगमविरुद्ध होगी।

आगे आपने हमारे द्वारा प्रतिशंका २ में कही गयी निमित्तकारणताकी वास्तविकताके विषयमें यह लिखा है कि 'इसमें कोई स्पष्टीकरण तथा आगमप्रमाण न होनेसे विचार नहीं किया जा सकता है।' सो स्पष्टीकरण तो हमने पहले भी किया था और अभी भी कर दिया, साथ ही आगमप्रमाण भी उपस्थित कर रहे हैं—

सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत् (कार्यकारणत्वम्) स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत् कार्यमिति प्रतीतम्।....तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः संबन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथा अनवद्यत्वात्।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र ७ की टीका

इस उद्धरणका बीचका अंश इसलिए छोड़ दिया गया है कि वह यहाँके लिये अनावश्यक है, फिर भी प्रश्न नं० १ को तृतीय प्रतिशंकामें इसका सम्पूर्ण भाग दिया गया है, अतः वहाँसे देखा जा सकता है। इसका अर्थ निम्न प्रकार है—

सहकारी कारणके साथ कार्यका कार्यकारणभाव किस तरह बनता है? क्योंकि वहाँ पर कार्य और कारणमें एक द्रव्यप्रत्यासत्तिका अभाव है। ऐसी शंका यहाँ पर नहीं करना चाहिये, क्योंकि सहकारी कारणके साथ कार्यका कार्यकारणभाव कालप्रत्यासत्तिके रूपमें पाया जाता है। ऐसा देखा जाता है कि जिसके अनन्तर जो अवश्य ही होता है वह उसका सहकारी कारण होता है, उससे अन्य कार्य होता है।....इस तरह व्यवहारनयके आश्रयसे दो पदार्थोंमें विद्यमान कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध संयोग, समवाय आदि सम्बन्धोंकी तरह प्रतीतिसिद्ध ही है, अतः वह परमार्थिक ही है, उसे कल्पनारोपित नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यह सर्वथा अनवद्य है।

इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्तिकके प्रमाण भी देखिये—

स्व-परप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा द्रव्याणि ॥१॥ स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोः तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्चोत्पादविगमौ। स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषां स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः। के पुनस्ते? पर्यायाः। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्यः प्रत्ययः। तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दतीति। तत्समर्थः स्वश्च प्रत्ययः। तावुभौ संभूय भावानामुत्पादविगमयोः हेतू भवतः, नान्यतरापाये, कुशूलस्थमासपच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्। एवमुभयहेतुकोत्पादविगमैः तैस्तैः स्वपर्यायैः द्रूयन्ते गम्यते द्रवन्ति गच्छन्ति तान् पर्यायानिति द्रव्याणीति व्यपदिश्यन्ते।

—अध्याय ५ सूत्र २ की व्याख्या

भावार्थ—द्रव्य उत्पाद-व्ययरूप पर्यायोंसे विशिष्ट होता है और वे उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें स्वपर-प्रत्यय अर्थात् स्व और परके कारणसे ही हुआ करती हैं। इन स्व और पररूप कारणोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप तो बाह्य प्रत्यय (कारण) है। इनके विद्यमान रहते हुए भी यदि स्वयं वस्तु विवक्षित पर्यायरूपसे परिणमन करनेमें समर्थ नहीं है तो वह वस्तु पर्यायान्तरको प्राप्त नहीं होती है। उसमें समर्थ उस वस्तुकी अपनी योग्यता है। वह योग्यता उस वस्तुका स्वरूप प्रत्यय (कारण) है। इस प्रकार पर और स्व दोनों मिलकर पदार्थोंके उत्पाद और विगमके हेतु होते हैं। कारण कि उन दोनोंमेंसे एकके भी अभावमें वस्तुके उत्पाद और विगम (विनाश) हो नहीं सकते हैं। जैसे कोठी (टंकी) में रखे हुए उड़द पकनेकी योग्यता रखते हुए भी बाह्य कारणभूत उबलते हुए पानीके बिना पकते नहीं हैं और उबलते हुए पानीमें डले हुए घोटक (पकनेकी योग्यतासे रहित) उड़द पकनेकी योग्यताके बिना पकते नहीं है।

इस व्याख्यामें 'संभूय' और 'नान्यतरापाये' पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जो बतला रहे हैं कि परप्रत्यय अर्थात् बाह्यरूप निमित्त (सहकारी) कारण तथा स्वप्रत्यय अर्थात् अन्तरंगरूप उपादान कारण दोनोंके एक साथ प्रयुक्त होनेसे ही कार्य निष्पन्न होता है, किसी एकके अभावमें नहीं होता।

तत्त्वार्थवार्तिकका दूसरा प्रमाण भी देखिये—

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः ॥३१॥ इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलाल-दण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाधने-

कोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भावितुं समर्थः, तथा पतत्रिप्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं चावाप्नुमलमिति तदुपग्रहकारणधर्माधर्मास्तिकायसिद्धिः ।

—अध्याय ५ सूत्र १७ की व्याख्या

भावार्थ—यहाँ पर धर्म और अधर्म द्रव्योंका अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है। इनकी सिद्धिके लिये हेतु बतलाया है कि कार्यको सिद्धि (निष्पत्ति) अनेक कारणोंसे हुआ करती है। लोकमें भी अपनी घटपर्याय प्राप्तिकी अन्तरंग योग्यता रखनेवाला मिट्टीका पिण्ड अपनी घट पर्यायके निर्माणमें बाह्य कारणभूत कुलाल, चक्र, सूत, जल, काल, आकाश आदि अनेक वस्तुओंकी अपेक्षा रखता है। यह कभी नहीं हो सकता, कि अकेला मिट्टीका पिण्ड कुम्हार आदि बाह्य कारणोंके सहयोगके विना कभी घट बनता है। इसी प्रकार पक्षी आदि पदार्थ गति अथवा स्थितिरूप परिणतिके सन्मुख होते हुए भी—यथायोग्य-बाह्य अनेक कारणोंके सानिध्य (सहयोग) के विना गति अथवा स्थितिको प्राप्त नहीं हो सकते हैं, इसलिये उनको सहायता पहुँचानेमें कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्योंका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

एक प्रमाण प्रवचनसारकी आत्मख्याति टीकाका भी देखिये—

यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः, स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः, स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः। तथा अन्तरंगबहिरंगसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः, स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः।

—गाथा १२-१०, १०२

अर्थ—जिस प्रकार कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवरकी सहायतासे जो घटकी उत्पत्तिका क्षण है, वही मिट्टीके पिण्डका विनाशक्षण है और वही उत्पत्ति तथा विनाशरूप उभय कोटियोंमें व्याप्त मिट्टी सामान्यका स्थितिक्षण है। इसी प्रकार अन्तरंग (उपादान) और बहिरंग (निमित्त) रूप साधनोंके योगसे जो द्रव्यकी उत्तरपर्यायका उत्पत्तिक्षण है, वही पूर्व पर्यायका नाशक्षण है और वही उत्पत्ति तथा विनाशरूप उभयकोटियोंमें व्याप्त द्रव्यसामान्यका स्थितिक्षण है।

यहाँ पर कार्योत्पत्तिमें स्व और पर वस्तुओंकी संयुक्त हेतुताको स्पष्टरूपसे स्वयं अमृतचन्द्राचार्यने स्वीकार किया है।

परीक्षामुख और उसकी टीका प्रमेयरत्नमालाका प्रमाण भी देखिये—

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्। —सूत्र ६३ समुद्देश ३

टीका—हि शब्दो यस्मादर्थे। यस्मात् तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भावभावित्वं, तच्च तद्व्यापाराश्रितं। तस्मान्न प्रकृतयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः। अयमर्थः—अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशं प्रति।

इसके द्वारा अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियोंके आधार पर बाह्य वस्तुओंकी भी उपादानगत कार्यके प्रति कारणता प्रदर्शित की गयी है और इसके लिये घटरूप कार्यके प्रति कुलालका दृष्टान्त उपस्थित किया गया है।

ये सब प्रमाण स्पष्टरूपसे बाह्य वस्तुभूत निमित्तकारणोंमें भी वास्तविक कारणताकी घोषणा करते हैं।

इन सब प्रमाणोंके विरुद्ध आपने अपने वक्तव्यमें आगे लिखा है—

'आगममें सर्वत्र निमित्तको व्यवहारसे कारण स्वीकार किया गया है और व्यवहारका अर्थ उपचार है।'

इसका मतलब यह हुआ कि आप निमित्तमें कारणताका उपचार करना चाहते हैं, लेकिन यहाँ विचारना यह है कि निमित्त शब्दका अर्थ हो जब कारण होता है तो निमित्तमें विद्यमान कारणतासे अतिरिक्त और कौन-सी कारणताका उपचार आप निमित्तमें करना चाहते हैं ? तथा उसमें (निमित्तमें) कारणताके विद्यमान रहते हुए उस उपचरित कारणताका प्रयोजन ही क्या रह जाता है ?

यद्यपि आगे आपने स्वयं लिखा है कि 'उपादानवस्तुगत कारणताका अन्य वस्तुमें आरोप निश्चयकी सिद्धिके लिये ही किया जाता है और इसीलिये उसे निमित्तकारण कहा जाता है और इसीलिये उसमें कर्त्ता आदिका व्यवहार करते हैं।

तो इसका आशय भी यह हुआ कि कारणताका उपचार आपके मतसे फिर निमित्तमें नहीं होता है, बल्कि उन अन्य वस्तुओंमें होता है, जो वस्तुएँ उपादानवस्तुगत कारणताका आरोप हो जानेपर निमित्त कारण कहलाने लगती हैं लेकिन ऐसी हालतमें आपका यह लिखना गलत ठहर जायगा कि 'आगममें सर्वत्र निमित्तको व्यवहारसे कारण स्वीकार किया गया है और व्यवहारका अर्थ उपचार है।' क्योंकि जब आप उपर्युक्त प्रकारकी अन्य वस्तुमें कारणताका उपचार करनेकी बात स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर आपके मतसे निमित्त व्यवहारसे कारण नहीं रह जाता है बल्कि उस वस्तुको ही व्यवहारसे कारण स्वीकार करनेकी मान्यता आपके मतमें प्राप्त हो जाती है जिसमें उपदान-गत कारणताका उपचार किया जाता है। इस तरह स्वयं आपके इस कथनके आधारपर भी 'बंधे च मोक्ख हेऊ ...' इस गाथामें पठित 'अण्णो' पदका आपके द्वारा किया गया निमितरूप अर्थ गलत सिद्ध हो जाता है, क्योंकि हम पहले ही बतला चुके हैं कि 'अण्णो' पदका निमितरूप अर्थ करके आपने 'अण्णो ववहारदो हेऊ' इसका अर्थ 'निमित व्यवहारसे याने उपचारसे कारण होता है' यही तो किया है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक वस्तुमें समान रूपसे एक साथ पाये जानेवाले उपादानता और निमित्तता नामके दोनों ही धर्म कार्यसापेक्ष होते हुए भी वास्तविक ही हैं, इसलिये भी निमित्तको व्यवहार (उपचार) से कारण कहना असंगत ही है।

यदि आप उक्त असंगतताको समाप्त करनेके लिये 'निमित व्यवहारसे कारण है' इसके स्थानपर निमितभूत वस्तु व्यवहारसे कारण है' ऐसा कहनेको तैयार हों, तो भी आप पूर्वोक्त इस आपत्तिसे नहीं बच सकते हैं कि जिस निमित्तभूत वस्तुमें आप कारणताका उपचार करना चाहते हैं, उसमें जब स्वयं कारणता विद्यमान है, तो ऐसी हालतमें एक कारणताके विद्यमान रहते हुए उसमें दूसरी कारणताके उपचारका प्रयोजन ही क्या रह जाता है ? मालूम पड़ता है कि इन्हीं सब आपत्तियोंके भयसे ही आप अन्तमें इस निष्कर्षपर पहुंचे हैं कि 'उपादानवस्तुगत कारणताका आरोप अन्य उस वस्तुमें ही करना उचित है जो वस्तु उपादानवस्तुगत कारणताका आरोप हो जानेपर निमित्तकारण कहलाने लगती है, जैसा कि आपके उपर्युक्त

इस कथनसे प्रगट होता है कि उपादानवस्तुगत कारणताका अन्य वस्तुमें आरोप निश्चयकी सिद्धिके लिये ही किया जाता है और इसीलिये उसे निमितकारण कहा जाता है।'

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पहले तो आप अन्य वस्तुमें उपादानगत कारणताका आरोप कर लेते हैं और वादमें उस आरोपित कारणताके आधारपर ही उस वस्तुको आप निमित्तकारण नामसे पुकारने लगते हैं। अर्थात् जव तक उपादानगत कारणताका अन्य वस्तुमें आरोप न हो जावे तव तक उस अन्य वस्तुको आप निमित्तकारण माननेको तैयार नहीं हैं।

इस विषयमें अब यह विचार उत्पन्न होता है कि 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते।'

इस नियमके अनुसार उपचारकी प्रवृत्ति वहीं पर हुआ करती है जहाँ उस उपचार प्रवृत्तिका कोई न कोई निमित्त (कारण) विद्यमान रहता है और साथ ही कोई न कोई प्रयोजन भी होता है अर्थात् जिस वस्तुमें जिस वस्तुका या वस्तुके धर्मका उपचार करना अभीष्ट हो, उन दोनों वस्तुओंमें जव तक उपचार प्रवृत्तिके लिये कारणभूत कोई सम्बन्ध न पाया जाये तव तक और 'प्रयोजनमनुदिश्य न हि मन्दोपि प्रवर्तते'—इस सिद्धान्तके अनुसार उपचार प्रवृत्तिका जव तक प्रयोजन समझमें न आ जावे तव तक उपचारकी प्रवृत्ति होना असम्भव ही है। जैसे, 'अन्नं वै प्राणाः' यहाँ पर अन्नमें प्राणोंका उपचार तथा 'सिंहो माणवकः' यहाँ पर वालकमें सिंहका उपचार प्रदर्शित किया गया है। ये दोनों उपचार इसलिये उचित हैं कि इनमें उस उपचारकी प्रवृत्तिके लिये आधारभूत निमित्त (कारण) तथा प्रयोजनका सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् 'अन्नं वै प्राणाः' यहाँपर अन्नमें प्राणका उपचार करनेके लिये प्राणसंरक्षणरूप कार्यमें अन्ननिष्ठ कारणता ही निमित्त है। और प्राणोंके संरक्षणमें अन्नकी महत्ताका भान प्राणियोंको हो जाना ही उस उपचारप्रवृत्तिका प्रयोजन है। इसी प्रकार 'सिंहो माणवकः' यहाँ पर वालकमें सिंहका उपचार करनेके लिये वालकमें सिंह सदृश शौर्यका सद्भाव निमित्त (कारण) है और लोकमें वालकका सिंहके समान महत्त्व प्रस्थापित हो जाना ही उस उपचार प्रवृत्तिका प्रयोजन है, इसलिये ये या इसी किस्मकी और भी उपचार प्रवृत्तियाँ ग्राह्य मानी जा सकती हैं।

अव देखना यह है कि उस अन्य वस्तुमें उपादानवस्तुगत कारणताका उपचार करनेके लिये आवश्यक उक्त प्रकारके निमित्त तथा प्रयोजनका सद्भाव क्या यहाँपर पाया जाता है ? तो मालूम पड़ता है कि ऐसे निमित्त तथा प्रयोजनका सद्भाव यहाँपर नहीं पाया जाता है, इसलिये उपादानवस्तुगत कारणताका अन्य वस्तुमें उपचारकी प्रवृत्ति होना असम्भव ही समझना चाहिये।

यदि कहा जाय कि अन्य वस्तुमें उपादानगत कारणताका उपचार करनेके लिये उस अन्य वस्तुका उपादानवस्तुके परिणमनरूप कार्यमें सहयोग देना ही यहाँपर निमित्त (कारण) है और इस तरह लोकमें कार्यके प्रति उपादानकी सहयोगी उस अन्य वस्तुकी उपयोगिता प्रगट हो जाना अथवा उपादान वस्तुसे होने वाली कार्योत्पत्तिमें उपयोगी उस अन्य वस्तुके प्रति मनुष्योंका कार्य सम्पन्नताके लिये आकृष्ट होना ही प्रयोजन है, तो हम आपसे कहेंगे, कि यदि आप उपादानवस्तुगत कारणताका आरोप करनेके लिये उपादानसे होने वाली कार्योत्पत्तिमें सहयोग देनेरूप वास्तविक कारणताको उस अन्य वस्तुमें स्वभावतः स्वीकार करनेको तैयार हैं तो फिर यह वात विचारणीय हो जाती है कि सहयोग देनेरूप उस कारणताके अतिरिक्त और

कैसी कारणताका आरोप आप उस अन्य वस्तुमें करना आवश्यक समझते हैं? साथ ही इस तरह आपके कार्यके प्रति निमित्तकारणकी अकिंचित्करताके सिद्धान्तका खण्डन प्रसक्त हो जायगा।

एक बात और भी है यि यदि मनुष्योंका विवक्षित उपादानसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अवसरपर सहायक अन्य वस्तुके प्रति आकृष्ट होना ही उक्त उपचार प्रवृत्तिका प्रयोजन है तो यह बात भी आपके 'कार्यके प्रति निमित्तभूत वस्तु अकिंचित्कर ही रहती है'—इस सिद्धान्तके विल्कुल विपरीत हो जायगी, कारण कि कार्य निष्पत्तिके अवसरपर निमित्तभूत वस्तुओंके प्रति मनुष्योंका आकर्षण समाप्त करनेके लिये ही तो आपने उक्त सिद्धान्त निश्चित किया है।

यह तो ऊपर स्पष्ट किया ही जा चुका है कि निमित्तभूत अन्य वस्तुमें स्वत: वास्तविक कारणत्व माने विना निराधार उपचार नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह कही गई है कि यदि आरोपको सिद्ध करनेके लिये निमित्तभूत अन्य वस्तुमें स्वत: वास्तविक कारणता स्वीकार कर ली जाती है तो फिर आरोपकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? अथवा किस कारणताका आरोप किया जायगा। अब तीसरी बात यह है कि कारणतामें कारणताका तो आरोप किया नहीं जा सकता है, जैसे शूरवीर बालकमें शूरवीरताका आरोप तो किया नहीं जाता है या अन्नमें कारणताका आरोप नहीं किया जाता है। अत: बालकको शूरवीर कहना या अन्नको प्राणोंका निमित्त या सहायक कारण कहना आरोप नहीं है किन्तु वास्तविक है। उसी प्रकार उन अन्य वस्तुओंको निमित्तकारण कहना भी उपचार नहीं हो सकता, किन्तु वास्तविक ही है। हाँ, जिस प्रकार बालकगत शूरवीरताके आधारपर बालकमें सिंहत्वका आरोप किया जा सकता है, अन्नमें अपनी वास्तविक कारणताके आधारपर प्राणका उपचार किया जा सकता है उसी प्रकार निश्चितभूत अन्य वस्तुमें अपनी वास्तविक कारणताके आधारपर उपादानताका आरोप किया जा सकता है, किन्तु कारणताका नहीं। अतः जिस प्रकार बालकको सिंह कहना या अन्नको प्राण कहना उपचार है उसी प्रकार निमित्तभूत अन्य वस्तुको उपादान कहना उपचार हो सकता है, किन्तु निमित्तकारण कहना उपचार नहीं हो सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्तभूत अन्य वस्तुमें निमित्तता किसी प्रकार भी उपचरित सिद्ध नहीं होती है।

उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि यदि आप कार्यके प्रति निमित्तभूत वस्तुओंमें उपादानवस्तुगत कारणताका आरोप करना चाहते हैं, तो इसके लिये आपको उन निमित्तभूत वस्तुओंको कार्योत्पत्तिके प्रति उपादानका वास्तविक सहयोगी स्वभावत: मानना होगा। ऐसी हालतमें फिर निमित्तोंको अकिंचित्कर माननेका आपका सिद्धान्त गलत हो जायगा और यदि आप मनुष्योंको निमित्तोंकी उठाधरीसे विरत करनेके लिये निमित्तोंकी अकिंचित्करताके सिद्धान्तको नहीं छोड़ना चाहते हैं तो ऐसी हालतमें निमित्तभूत वस्तुओं-को कार्योत्पत्तिके अवसरपर उपादानका सहयोगी स्वीकार करनेका सिद्धान्त आपके लिये छोड़ना होगा, लेकिन तब उपादानगत कारणताका निमितभूत वस्तुमें आरोप करना असंभव हो जायगा।

थोड़ा इस बातपर भी आपको विचार करना है कि आपके पूर्वोक्त सिद्धान्तके अनुसार विना किसी आधारके पहले अन्य वस्तुमें उपादान वस्तुगत कारणताका आरोप हो जानेपर उसके अनन्तर ही उस अन्य वस्तुमें निमित्त कारणताका व्यवहार किया जा सकेगा तो फिर आपके मतसे प्रतिनियत अन्य वस्तुमें ही उपादान-वस्तुगत कारणताका आरोप करनेकी व्यवस्था भंग हो जायगी, इस तरह प्रत्येक उपादान वस्तुगत कारणताका आरोप सभी अन्य वस्तुमें होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

यह भी कितनी विचित्र बात है कि आप अन्य वस्तुमें उपादानवस्तुगत कारणताका उपचार इसलिये करना चाहते हैं कि कोई भी व्यक्ति उपादानवस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तभूत वस्तुको वास्तविक सहयोगी कारण न मान ले, परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि किसी वस्तुमें किसी वस्तु या उसके धर्मका आरोप तो उस वस्तुके महत्त्वको बढ़ानेके लिये ही किया जाता है, जैसा कि ऊपर 'अन्नं वै प्राणाः' और 'सिंहो माणवकः' इन दो उदाहरणोंमें बतलाया जा चुका है। ऐसी स्थितिमें उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तभूत वस्तुको स्वभावतः सिद्ध वास्तविक सहयोगात्मक कारणताको कल्पित, असत्य, निरुपयोगी बनानेके लिए उपादान-वस्तुगत-कारणताका आरोप अन्य वस्तुमें करना कहाँतक तर्कसम्मत हो सकता है ? तथा इस तरह तर्कसे असंगत उपादानवस्तुगत कारणताका अन्य वस्तुमें आरोप कर लेनेसे पूर्वोक्त प्रमाणों द्वारा आगमप्रसिद्ध उस अन्य वस्तुमें स्वभावतः वास्तविकरूपमें विद्यमान उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायता पहुँचानेरूप कारणताको समाप्त करनेका प्रयास कहाँतक उचित होगा ?

पुनश्च आपके कथनानुसार उपादानभूत वस्तुमें जो कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरणरूप छह कारकोंकी प्रवृत्ति पायी जाती है उन छह कारकोंकी प्रवृत्ति उपचारसे निमितभूत वस्तुमें हुआ करती है। इसका आशय यह हुआ कि उपादान वस्तुमें पाया जानेवाला कर्तृत्वरूप धर्म कर्तारूपसे निमित्तभूत अन्य वस्तुमें उपचरित हो जाता है। इसी प्रकार उपादानभूत वस्तुमें पाया जानेवाला करणत्वरूप धर्म करणरूपसे निमितभूत अन्य वस्तुमें उपचरित हो जाता है और यही प्रक्रिया संप्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारकोंके विषयमें भी लागू होती है। इसी प्रकार कर्मकारकके विषयमें भी यही प्रक्रिया लागू होगी, ऐसी हालतमें उपादानवस्तुगत कर्मत्वका आरोप आप कौन-सी अन्य वस्तुमें करेंगे ? इसपर ध्यान दीजिये, क्योंकि परस्परमें विलक्षण अपने-अपने अलग-अलग निमितत्वको धारण करनेवाली अन्य वस्तुओंमें ही जिस प्रकार कर्तृत्व, करणत्व आदिका आरोप होता है उस प्रकार कर्मत्वका आरोप करनेके लिये ऐसी कोई भी अन्य वस्तु वहाँ नहीं पायी जाती है, जिसमें उपादाननिष्ठ कर्मत्वका आरोप किया जा सके, कारण कि कर्मनामकी वस्तु तो वहाँपर उपादानका परिणामरूप एक ही है।

यह तो सुविदित ही है कि प्रत्येक वस्तु स्वकी अपेक्षा उपादान भी है और परकी अपेक्षा निमित्त भी है। जैसे—मिट्टी घड़ेकी उत्पत्ति होनेमें कुम्हार कर्तारूपसे निमित्त होता है और सूतसे वस्त्रकी उत्पत्ति होनेमें जुलाहा भी कर्तारूपसे निमित्त होता है, लेकिन कुम्हार और जुलाहा ये दोनों ही अपने-अपने परिणमनके प्रति स्वयं उपादान भी हैं। इसका मतलब यह हुआ कि घटादि वस्तुओंकी उत्पत्तिमें निमितभूत कुम्हार आदि वस्तुओंका जो योगोपयोगरूप व्यापार हुआ करता है वह उन कुम्हार आदि वस्तुओंका अपना व्यापार है, क्योंकि वह व्यापार उनकी उपादानशक्तिका ही परिणमन है, उस व्यापारको कुम्हार आदि अपने संकल्प, अपनी बुद्धि और अपनी शक्तिके अनुसार घटादिककी उत्पत्तिके अनुकूल किया करते हैं और तब उनके उस व्यापारके सहयोगसे मिट्टी आदि पदार्थोंसे घटादि पर्यायोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। उस व्यापारको तो उपचरित कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि वह कुम्हार आदिकी अपनी ही उपादानशक्तिसे प्रकट होनेवाला उनका अपना ही व्यापार है, अतः उस व्यापारको तो वास्तविक ही मानना होगा, और चूँकि उस व्यापारके चालू रहते ही घटादिका निर्माण कार्य होता है एवं उन कुम्हार आदिके संकल्पादि अथवा अन्य बाह्य साधनों द्वारा उनके उस व्यापारके बन्द हो जानेपर घटादिका निर्माण कार्य भी बन्द हो जाता है, इस तरह घटादि कार्योंका कुम्हार आदिके व्यापारके साथ अन्वय और व्यतिरेक घटित होता है। इस अन्वय और व्यतिरेकके विषयमें जब विचार किया जाता है तो यह भी वास्तविक ही सिद्ध होता है, उपचरित

नहीं, क्योंकि इस अन्वय और व्यतिरेकको आचार्य विद्यानन्दिने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें कालप्रत्यासत्तिके रूपमें स्वीकार करते हुए पारमार्थिक ही कहा है तथा उसमें कल्पनारोपितपनेका स्पष्ट निषेध किया है, जिसका उल्लेख हम पूर्वमें कर ही चुके हैं।

इसी काल-प्रत्यासत्तिरूप अन्वय तथा व्यतिरेकका ही अपर नाम निमित्तता या सहकारिकारणता है यह बात भी आचार्य विद्यानन्दिने वहींपर बतला दी है। ऐसी हालतमें इस निमित्तताको भी अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि यह सहारिकारणतारूप निमित्तता अपने आपमें वास्तविक न होकर यदि उपचरित ही है, तो इसके फलितार्थके रूपमें घटादिके साथ कुम्हार आदिका जो पूर्वोक्त (कुम्हारके योगोपयोगरूप व्यापारके होते हुए ही घटनिर्माण कार्य होता है और उसके उस व्यापारके अभावमें घटनिर्माण कार्य बन्द रहता है ऐसा) अन्वय तथा व्यतिरेक अनुभूत होता है, उसे भी उस हालतमें अवास्तविक ही मानना होगा, ऐसी हालतमें घटकी अन्वय और व्यतिरेकरूप बहिर्व्याप्ति कुम्हारके ही साथ है, अन्यके साथ नहीं तथा पटकी अन्वय और व्यतिरेकरूप बहिर्व्याप्ति जुलाहाके ही साथ है, अन्यके साथ नहीं—यह नियम कैसे बनाया जा सकता है?

यदि इसके उत्तरमें आप यह कहना चाहें, कि प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक पर्याय स्वाश्रित और स्वतः उत्पन्न होनेवाली ही है, इसलिये घटकी कुम्हारके साथ और पटकी जुलाहेके साथ जो बहिर्व्याप्ति बतलायी गयी है वह भी कल्पनारोपित ही है।

तो फिर इस तरहके कथनको प्रत्यक्षका अपलाप ही कहना होगा। कारण कि यह तो कमसे कम देखनेमें आता ही है कि कुम्हारके योगोपयोगरूप व्यापारके होते हुए ही घटका निर्माण कार्य होता है और यदि वह कुम्हार अपना योगापयोगरूप व्यापार बन्द कर देता है तो घटका निर्माण कार्य भी बन्द हो जाता है। आपने स्वयं अपने प्रथम वक्तव्यमें आभ्यन्तर व्याप्तिके साथ स्वपर-प्रत्यय कार्योत्पत्तिके लिये बहिर्व्याप्तिके अस्तित्वको स्वीकार किया है। इस विषयमें आपने-अपने प्रथम वक्तव्यमें निम्नलिखित वचन लिखे हैं:—

'ऐसा नियम है कि जिस प्रकार कार्यकी निश्चयकारकोंके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है उसी प्रकार अनुकूल दूसरे एक या एकसे अधिक पदार्थोंमें कार्यकी बाह्य व्याप्ति नियमसे उपलब्ध होती है। एकमात्र वस्तुस्वभावके इस अटल नियमको ध्यानमें रखकर परमागममें जिसके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति पाई जाती है उसे उपादान कर्ता आदि कहा गया है और उस कालमें जिस दूसरे पदार्थके साथ बाह्य व्याप्ति पाई जाती है उसमें निमित्तरूप व्यवहारका अवलम्बनकर जिसमें कर्तारूप व्यवहार होता है उसे कर्ता निमित्त कहते हैं।' आदि

हमारे इस कथनके विषयमें आगमप्रमाण भी देखिये—

यथान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशभृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद् व्यवहारः, तथान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गल-कर्मसम्भवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्म विपाकसम्पादित-

विषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽस्ति तावद् व्यवहारः ।

—आत्मख्याति टीका समयसार गाथा ८४

अर्थ—जैसे एक तरफ तो मिट्टी घड़ेको अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे अर्थात् उपादानोपादेयभावके आधार पर निश्चित हुए व्याप्यव्यापकभावरूप अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तिसे करती है तथा वही मिट्टी भाव्यभावकभावसे अर्थात् उस घटरूप परिणमनमें अपनेरूपको समाती हुई तन्मयताके साथ उस घटका भोग भी करती है और दूसरी तरफ कुम्हार भी बहिर्व्याप्यव्यापकभावसे अर्थात् निमित्त-नैमित्तिकभावके आधारपर निश्चित हुए व्याप्यव्यापकभावरूप अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिसे घटकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार करता हुआ करता है तथा वही कुम्हार भाव्यभावकभावसे उस घड़ेमें भरे हुए जलके उपयोगसे उत्पन्न तृप्तिको अनुभव करता हुआ उस घड़ेका ही अनुभव करता है—इस तरह मनुष्योंका अनादिकालसे व्यवहार चला आ रहा है । वैसे ही एक तरफ तो पुद्गलद्रव्य कर्मको अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे अर्थात् उपादानोपादेयभावके आधारपर निश्चित हुए व्याप्यव्यापकभावरूप अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तिसे करता है तथा वही पुद्गल-द्रव्य भाव्यभावकभावसे अर्थात् उस कर्मरूप परिणमनमें अपने रूपको समाता हुआ तन्मयताके साथ उस कर्मका भोग करता है और दूसरी तरफ जीव भी बहिर्व्याप्यव्यापकभावसे अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभावके आधारपर निश्चित हुए व्याप्यव्यापक-भावरूप अन्वय-व्यतिरेकसे अपनी विकाररूप परिणतिके कारण पुद्गलकर्मकी उत्पत्तिके अनुकूल परिणाम करता हुआ उस पुद्गलकर्मको करता है तथा वही जीव भाव्यभावकभावसे उस पुद्गलकर्मके उदयसे प्राप्त विषयोंकी समीपतासे आनेवाली सुख-दुःखरूप परिणतिको अनुभव करता हुआ उस कर्मका ही अनुभव करता है—इस तरह विकाररूप परिणतिमें वर्तमान प्राणियोंका भी अनादिसे व्यवहार चला आ रहा है ।

इस टीकामें इस बातको स्पष्ट तौरपर बतला दिया गया है कि उपादानोपादेयभावके आधारपर स्थापित अन्तर्व्याप्यव्यापकभावकी तरह निमितनैमितिकभावके आधारपर स्थापित बहिर्व्याप्यव्यापकभाव भी वास्तविक ही है, कल्पनारोपित नहीं है ।

ऐसा कौन है जो आबालवृद्ध अनुभवगम्य कुम्भकार आदि निमितभूत वस्तुओंके संकल्प, बुद्धि और शक्तिके आधारपर होनेवाले घटादिकी उत्पत्तिके प्रति अनुकूलताके रूपको लिये हुए स्वाश्रित व्यापारोंको कल्पनारोपित कहनेको तैयार होगा ? और जब ये व्यापार कल्पनारोपित नहीं हैं तो घटादि कार्योंके प्रति अनुकूलता लिये हुए कालप्रत्यासत्तिरूप सहकारी कारणताको कल्पनारोपित कहनेको भी कौन तैयार होगा ?

निमित्तभूत पृथक्-पृथक् वस्तुओंमें यथायोग्य कर्तृत्व, करणत्व, संप्रदानत्व, अपादानत्व और अधिकारणत्वके रूपमें पृथक्-पृथक् पायी जानेवाली यह कालप्रत्यासत्तिरूप सहकारी कारणता (निमित्त-कारणता) उन पृथक्-पृकक् वस्तुओंको क्रमशः कर्ता, करण, संप्रदान, आपादान और अधिकरण कारकोंमें विभक्त कर देती है, इसलिये इनमें पाये जानेवाले कर्तृत्व, करणत्व, संप्रदानत्व, अपादानत्व और अधिकरणत्व रूप निमित्तकारणताको भी कल्पनारोपित नहीं कहा जा सकता है । ऐसी स्थितिमें इनको उपचरित कहनेका एक ही कारण है कि कर्तृत्वादि ये सब धर्म कार्यभूत वस्तुसे भिन्न अन्य वस्तुओंमें विद्यमान वास्तविक निमित्त-नैमित्तिक भावके आधारपर निश्चित होते हैं । इसलिये कार्यकारणभावके प्रकरणमें जहाँ भी उपचार या

व्यवहार आदि शब्द आगममें प्रयुक्त किये गये हैं, उन सब शब्दोंको निमित्त शब्दके ही पर्यायवाची शब्द समझना चाहिये अर्थात् जहाँ भी उपचारसे कारण, अथवा उपचरित कारण और व्यवहारसे कारण अथवा व्यवहार कारण आदि वचनप्रयोग आगममें पाये जाते हैं उन सबका अर्थ निमित्तकारण ही करना चाहिये और निमित्तकारणताके भेदसे उन्हें उपचरित कर्ता, उपचरित करण, उपचरित संप्रदान, उपचरित अपादान तथा उपचरित अधिकरण कहना चाहिये। कल्पनारोपित निमित्त या कल्पनारोपित कर्ता आदि नहीं कहना चाहिये। एक बात और है कि निमित्तभूत वस्तुओंके जिस व्यापारमें आप निमित्तकारणता या निमित्तकर्तृत्वका आरोप करते हैं वह व्यापार तो वास्तविक ही है वह तो कमसे कम कल्पनारोपित नहीं है, इसलिये उसमें विद्यमान कार्योत्पत्तिके प्रति अनुकूलताको भी वास्तविक मानना ही युक्तिसंगत है, अतः निमित्तकारणता, बहिर्व्याप्यव्यापकभाव, बहिर्व्याप्ति, निमित्तनैमित्तकभाव, नैमित्तिक कर्तृकर्मभाव, निमित्तकर्तृत्व आदि सभी धर्म अपने रूपमें वास्तविक अर्थात् सत्रूप ही ठहरते हैं, कल्पनारोपित अर्थात् असत्रूप नहीं। हमने अपनी प्रतिशंकामें उपादान और निमित्त शब्दोंकी जो भाषाशास्त्रके आधारपर व्युत्पत्ति दिखलाई है, उससे भी निमित्तकारणकी वास्तविकता ही सिद्ध होती है।

इस प्रकार लोकमें और आगममें सर्वत्र घट, पटादि मिट्टी, सूत आदि वस्तुओंके स्वपरप्रत्यय परिणमन माने गये हैं, यही कारण है कि इनकी उत्पत्तिमें स्व (आश्रयभूत उपादान) के साथ निमित्तभूत परके वास्तविक सहयोगकी आवश्यकता अनिवार्यरूपसे अनुभूत होती है, अतः परके साथ अन्वय-व्यतिरेकके रूपमें बहिर्व्याप्तिको भी वास्तविकरूपमें ही स्वीकार किया गया है, कल्पनारोपितरूपमें नहीं।

आपने जो यह लिखा है कि 'उपादान वस्तुगत कारणताका अन्य वस्तुमें आरोप निश्चियकी सिद्धिके लिये ही किया जाता है।' व इसके समर्थनमें अनगारधर्मामृतके 'कर्त्राद्या वस्तुनो' भिन्नाः' श्लोकको भी प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है, लेकिन आपने यह स्पष्ट नहीं किया है कि आप वस्तुसे भिन्न कर्मादिका कौनसे निश्चयकी सिद्धिके लिये आरोप करना चाहते हैं? इसके अतिरिक्त आरोप-जिसे आप केवल कल्पनाका ही विषय स्वीकार करते हैं—से वास्तविक निश्चयकी सिद्धि कैसे संभव हो सकती है, क्योंकि जो स्वयं कल्पनारोपित होनेसे 'असद्रूप' ही है उससे सद्रूप वस्तुकी सिद्धि होना असंभव ही है। एक बात यह भी है कि अनगारधर्मामृतके उस श्लोकमें 'आरोप' शब्दका पाठ न होकर 'व्यवहार' शब्दका ही पाठ पाया जाता है, उसका अर्थ आपने 'आरोप' कैसे कर लिया? यह आप ही जानें। अनगारधर्मामृतका वह श्लोक निम्न प्रकार है :—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१०२॥

—अध्याय प्रथम

इसका सही अर्थ निम्न प्रकार है :—

जिसके द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिये (उपदानभूत) वस्तुसे भिन्न कर्ता आदिकी सिद्धि की जाती है वह व्यवहार कहलाता है और जिसके द्वारा वस्तुसे अभिन्न कर्ता आदिकी सिद्धि की जाती है वह निश्चय कहलाता है।

इसका आशय यह है कि क्योंकि उपादानभूत मिट्टी आदि वस्तुओंसे घटादि वस्तुओंका निर्माण कुम्हार आदि निमित्तकारणोंके सहयोगके बिना सम्भव नहीं है, अतः निमित्तकर्ता निमित्तकरण आदिके रूपमें

उन कुम्हार आदि आवश्यक निमित्तकारणोंका सहयोग लेना चाहिये। 'निश्चयकी सिद्धिके लिये' इस वाक्यांश-का अभिप्राय यही है। इस तरह अनगारधर्मामृतका उक्त श्लोक कर्ता, करण आदिरूपसे घटादि कार्यके प्रति मिट्टी आदि उपादानको वास्तविक सहयोग देनेवाले कुम्हार आदिके उस सहयोगको वास्तविक ही सिद्ध करता है, कल्पनारोपित नहीं। इसलिये इससे आपके अभिप्रायकी कदापि सिद्धि नहीं हो सकती है।

'मिट्टीसे घड़ा बना है' तथा 'कुम्हारने घड़ा बनाया है' इन दोनों प्रकारके लौकिक वचनोंको ठीक मानते हुए आपने जो यह लिखा है कि 'इन वचन प्रयोगोंमें मिट्टीके साथ जैसी घटकी अन्तर्व्याप्ति है वैसी कुम्भकारके साथ नहीं।'

इसके विषयमें हमारा कहना यह है कि उक्त दोनों प्रयोगोंमें घटकी मिट्टीके साथ जैसी अन्तर्व्याप्ति अनुभूत होती है वैसी अन्तर्व्याप्ति उसकी कुम्हारके साथ अनुभूत नहीं होती, इसका कारण यह नहीं है। कि मिट्टी घटके प्रति वास्तविक (सद्रूप) कारण है और कुम्हार सिर्फ कल्पनारोपित (असद्रूप) कारण है, बल्कि इसका कारण इतना ही है कि जिस प्रकार आश्रय होनेके कारण उपादानभूत मिट्टी घटरूप परिणत हो जाती है उस प्रकार केवल सहायक होनेके कारण निमितभूत कुम्हार कदापि घटरूप परिणत नहीं होता। अतः उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभावके आधार पर घटकी मिट्टीके साथ तो अन्तर्व्याप्ति वतलायी है और इससे भिन्न-निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभावके आधार पर घटकी कुम्भकारके साथ अन्तर्व्याप्ति न वतलाकर केवल बहिर्व्याप्ति ही वतलायी है। यही कारण है कि उक्त दोनों प्रकारके लौकिक प्रयोगोंमें भी अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है अर्थात् 'मिट्टीसे घड़ा बना है' यह प्रयोग अन्तर्व्याप्तिका होनेसे उपादानोपादेयभाव की सूचना मिट्टी और घड़ेमें देता है तथा 'कुम्हकारने मिट्टीसे घड़ा बनाया' यह प्रयोग बहिर्व्याप्तिका होनेसे निमित्तनैमित्तिकभावकी सूचना कुम्भकार और घड़ेमें देता है, इसलिये दोनों प्रयोगोंमें समानरूपसे अन्तर्व्याप्ति कैसे वतलायी जा सकती है।

इस प्रकार निमित्तकारणभूत वस्तुएँ उपादानोपादेयभावकी अपेक्षासे अवास्तविक (असद्रूप) होती हुई भी बहिर्व्याप्ति (निमित्तनैमित्तिकभाव) की अपेक्षासे वास्तविक (सद्रूप) ही हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि निमित्त, जिस कार्यका वह निमित्त है, उस कार्यमें वह निमित्त ही बना रहता है उसका वह कभी भी उपादान नहीं बन सकता है।

आगे आपने हमारे कथनको उद्धृत करते हुए आपत्ति उपस्थित की है कि 'परिणमन उभयरूप होता है—यह बिना आगमप्रमाणके मान्य नहीं हो सकता,' इसके साथ ही आपने यह भी लिखा है कि 'यदि परिणमन उभयरूप होता, तो घटमें कुम्भकारका रूप आ जाता।'

इसके विषयमें हमारा कहना यह है कि आगममें स्वपर-प्रत्यय परिणमनोंको स्वीकार किया गया है, इसके लिये प्रमाण भी दिये जा चुके हैं, आप भी स्वपर-प्रत्यय परिणमनोंको स्वीकार करते हैं, अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्तिकी व्यवस्थाको भी आपने स्वीकार किया है, इस तरह एक ही परिणमन या कार्यमें अन्तर्व्याप्तिकी अपेक्षा उपादेयता और बहिर्व्याप्तिकी अपेक्षा नैमित्तिकता रूप दो धर्मोंको स्वीकार करना असंगत नहीं है और न ऐसी स्वीकृतिको अशास्त्रीय ही कहा जा सकता है। 'निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता, सिर्फ उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है. इस अनुभूत, युक्त और आगमसिद्ध अटल नियमके रहते हुए कार्यमें नैमित्तिकतारूप धर्म पाया जानेमात्रसे उक्त कार्यमें निमित्तके रूपका प्रवेश प्रसक्त हो जायगा—ऐसी शंका करना उचित नहीं है।

इस विवेचनसे लोगोंका यह भय भी समाप्त हो जाना चाहिये कि निमित्त कर्तृत्व, निमित्तकरणत्व-आदिको वास्तविक माननेसे निमित्तोंमें द्विपक्रियाकारिताकी प्रसक्ति हो जायगी, क्योंकि अपने प्रतिनियत निमित्तोंके सहयोगसे अपनी उपादान शक्तिके परिणमनस्वरूप जो एक व्यापार उन निमित्तोंका हो रहा हो वह व्यापार ही उपादानको परिणति होनेके कारण उपादेय है और चूंकि निमित्तोंके सहयोगसे उत्पन्न हुआ है इसलिये नैमित्तिक है तथा वही व्यापार अन्य वस्तुके परिणमनमें सहायक है इसलिये निमित्तकर्त्ता आदि रूपमें निमित्तकारण भी है।

इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि निमित्तमें उपादानगत कारणताका उपचार नहीं होता है, क्योंकि 'सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते', उपचारका यह लक्षण वहाँ घटित नहीं होता है। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारण अपने रूपमें वास्तविक अर्थात् सद्भूत है उसी प्रकार निमित्त कारण भी अपने रूपमें वास्तविक अर्थात् सद्भूत ही है, कल्पनारोपित (असद्भूत) नहीं। इसी प्रकार व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंके विषयमें भी यही व्यवस्था समझना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार निश्चय अपने रूपमें वास्तविक है उसी प्रकार व्यवहार भी अपने रूपमें वास्तविक अर्थात् सद्भूत ही है। समयसार गाथा १३ और १४ की आत्मख्याति टीकामें व्यवहारको अपने रूपमें भूतार्थ ही स्वीकार किया है और उस व्यवहारमें जितना भी अभूतार्थताका प्रतिपादन किया गया है वह केवल निश्चयकी अपेक्षासे ही किया गया है अर्थात् जिस प्रकार निमित्तमें विद्यमान निमित्तता निमित्तता ही है वह उपादानता रूप नहीं हो सकती है, इसलिये उपादानतारूप न हो सकनेके कारण अवास्तविक होते हुए भी निमित्ततारूपसे वह वास्तविक ही है, उसी प्रकार व्यवहार व्यवहार ही है वह निश्चय कभी नहीं हो सकता है, इसलिये निश्चयरूप न हो सकनेके कारण अवास्तविक होते हुए भी व्यवहाररूपसे वह वास्तविक ही है।

यह बात हम पहले ही बतला आये हैं कि एक वस्तुके धर्मका आरोप अन्य उस वस्तुमें वहीं होता है जहाँ उपचारका उल्लिखित लक्षण घटित होता है। इस प्रकार उपचारके आधारपर वस्तुको ही उपचरित कहा जाता है। और इस तरह वस्तुके दो धर्म हो जाते हैं एक उपचरित धर्म और दूसरा अनुपचरित धर्म। इनमेंसे जो ज्ञान उपचरित धर्मको ग्रहण करता है वह उपचरित ज्ञाननय कहलाता है और जो ज्ञान अनुपचरित धर्मको ग्रहण करता है वह अनुपचरित ज्ञाननय कहलाता है। इसी प्रकार जो वचन उपचरित धर्मका प्रतिपादन करता है वह उपचरित वचननय कहलाता है और जो वचन अनुपचरित धर्मका प्रतिपादन करता है वह अनुपचरित वचननय कहलाता है।

नोट—इस विषयमें प्रश्न नं० १, ४, ५, ६ और ११ पर अवश्य दृष्टि डालिये। तथा इनके प्रत्येक दौरका विषय देखिये।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १७

उपचारका लक्षण क्या है? निमित्त कारण और व्यवहारमें यदि क्रमशः कारणता और नयत्वका उपचार है तो इनमें उपचारका लक्षण घटित कीजिए?

प्रतिशंका ३ का समाधान

प्रथम उत्तरमें मूल प्रश्नके अनुसार और द्वितीय उत्तरमें अपर पक्षके प्रपत्र २ के अनुसार विचार किया गया है। तत्काल अपर पक्षके प्रपत्र ३ पर विचार करना है।

१. पुनः स्पष्टीकरण

इसे प्रारम्भ करते हुए अपर पक्षने अपने पुराने विचारोंको दुहराया है। हमने प्रथम उत्तरमें उपचारका स्वरूप बतलाते हुए लिखा था कि 'परके सम्बन्ध (आश्रय) से जो व्यवहार किया जाता है उसे उपचार कहते है।' इसमें 'सम्बन्ध' पदके साथ उसका पर्यायवाची 'आश्रय' पद आया है।' अपर पक्षने 'आश्रय' पदका 'आधार' अर्थ कर अपने प्रपत्र २ में जो आपत्ति उपस्थित की थी उसका समाधान हमने यह लिखकर कर दिया था कि 'वहाँ आश्रयका अर्थ सम्बन्ध स्वयं लिखा गया है। अपर पक्षने पुनः उसे दुहराया है, इसलिए इतना संकेत करना पड़ा। विचार कर देखा जाय तो उक्त लक्षणमें ये दोनों शब्द आलम्बनके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

२. व्यवहारपदके विषयमें विशेष स्पष्टीकरण

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें 'व्यवहार' पदके अर्थके विषयमें भी स्पष्टीकरणकी पृच्छा की थी। उसका हमने अपने उत्तर २ में इतना ही स्पष्टीकरण किया था कि उपचार और आरोप पद इसी अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। अपर पक्षने अपने पत्रक ३ में लिखा है कि 'व्यवहार पदका अर्थ हमने अज्ञात होनेके कारण नहीं पूछा था।' और इसके बाद उस पक्षने ऐसे अनेक धर्म युगल इस पत्रकमें निर्दिष्ट किये हैं जिनमेंसे प्रथमको निश्चय और दूसरेको व्यवहार कहा गया है। यथा 'द्रव्य और पर्यायके विकल्पोंमें द्रव्यरूपता निश्चय है और पर्यायरूपता व्यवहार है।.........मुक्ति और संसारके विकल्पोंमें मुक्ति 'निश्चय है और संसार व्यवहार है।' आदि।

आगे अपर पक्षने लिखा है कि 'इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें यथासम्भव विद्यमान अपने-अपने अनन्त धर्मोंकी अपेक्षा परस्पर विरुद्ध अनन्त प्रकारके निश्चय और व्यवहारके युगलरूप विकल्प पाये जाते हैं। जैन संस्कृतिमें वस्तुको अनेकान्तात्मक स्वीकार किया गया है इसलिए उपर्युक्त निश्चय और व्यवहारके विकल्प परस्पर विरोधी होते हुए भी वस्तुमें परस्पर समन्वित होकर ही रह रहे हैं। एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व, तद्रूपता और अतद्रूपता, सद्रूपता और असद्रूपता, अभेदरूपता और भेदरूपता इत्यादि युगलों-में भी पहला विकल्प निश्चयका और दूसरा विकल्प व्यवहारका है। चूँकि ये सभी वस्तुके ही धर्म हैं, अतः अपने-अपने रूपमें सद्भूत हैं, केवल असद्भूत नहीं है।'

निश्चय किसे कहते हैं और व्यवहार किसे कहते हैं इस सम्बन्धमें यह अपर पक्षका वक्तव्य है। अपर पक्षने किस आगम प्रमाणके आधारसे यह स्पष्टीकरण किया है इसे देनेकी उस पक्षने इसलिए सम्भवतः आवश्यकता नहीं समझी होगी, क्योंकि वह पक्ष आगमके स्थानपर सर्वत्र अपने विचारोंको ही प्रधानता देता हुआ प्रतीत होता है। यदि हमने व्यवहार शब्दका अर्थ स्पष्ट नहीं किया था और अपर पक्ष उसे जानता था तो उस पक्षका यही कर्तव्य था कि आगमप्रमाण देकर उसका स्पष्टीकरण कर देता। हमने अभी तक जितने भी आगमोंका अवलोकन किया है उनमें न तो निश्चयको ही एक-एक धर्मरूप प्रतिपादित किया गया है और न व्यवहारको ही एक-एक धर्मरूप प्रतिपादित किया गया है। दो-दो धर्मयुगलोंमें प्रथम धर्म निश्चय

है और दूसरा धर्म व्यवहार है यह अपर पक्षकी अपनी कल्पना है, आगम नहीं। आलापपद्धतिमें निश्चय और व्यवहारके लक्षणोंका निर्देश करते हुए लिखा है—

अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते इति निश्चयः, भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारः।

अभेद और अनुपचाररूपसे वस्तु निश्चित करना निश्चय है तथा भेद और उपचार-रूपसे वस्तु व्यवहृत करना व्यवहार है।

निश्चय और व्यवहारके इन लक्षणोंमें अध्यात्मदृष्टिसे प्ररूपित लक्षणोंका भी समावेश हो जाता है, इसलिए यहाँपर हमने उनका पृथक्से निर्देश नहीं किया है।

निश्चय और व्यवहारके ये सामान्य लक्षण हैं, अतः इनका यथाप्रयोजन अपने उत्तर भेदोंमें घटित होना स्वाभाविक है। यहाँ इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि उक्त लक्षण निश्चयनय और व्यवहारनयकी मुख्यतासे प्ररूपित किये गये हैं, किन्तु इससे निश्चय और व्यवहारके स्वरूपका स्पष्टीकरण हो जाता है। इनके स्वरूपपर मोक्षमार्गकी दृष्टिसे स्पष्ट प्रकाश डालते हुए समयसार गाथा ७ की आत्मख्याति टीकामें लिखा है—

आस्तां तावद्बन्धप्रत्ययाज्ज्ञायकस्याशुद्धत्वम्, दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव न विद्यन्ते। यतो ह्यनन्त-धर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्म-धर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किञ्चिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रम्, ज्ञायक एव एक शुद्धः।

ज्ञायक आत्माके बन्धपर्यायके निमित्तसे अशुद्धता तो दूर रहो, उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही विद्यमान नहीं है, क्योंकि अनन्त धर्मवाले एक धर्मीका जिन्हें ज्ञान नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्योंको उसे (धर्मीको) बतलानेवाले कितने ही धर्मो द्वारा उसका अनुशासन करनेवाले आचार्योंका ऐसा उपदेश है कि यद्यपि धर्म और धर्मीमें स्वभावसे अभेद है तो भी नामसे भेद उपजाकर व्यवहारमात्रसे ही ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। परन्तु परमार्थसे देखा जाय तो एक द्रव्यके द्वारा पिये गये अनन्त पर्यायपनेसे जो एक है, किंचित् मिलित आस्वादवाला है, अभेदरूप है और एकस्वभाव है ऐसी वस्तुका अनुभव करनेवालेके न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है—एकमात्र शुद्ध ज्ञायक है।

इसी तथ्यको उदाहरण सहित सरल शब्दों द्वारा समझाते हुए आचार्य जयसेन उक्त गाथाकी टीकामें लिखते हैं—

यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव, पश्चाद् भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति पावकः प्रकाशं करोतीति प्रकाशक इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते। तथा जीवोऽपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं पश्यतीति दर्शनं चरतीति चरित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यत इति।

जिस प्रकार निश्चयनयसे अभेदरूपसे अग्नि एक ही है, पश्चात् भेदरूप व्यवहारसे दहन करती है, इसलिए दाहक है, पचाती है, इसलिए पाचक है और प्रकाश करती है, इसलिए प्रकाशक है इस तरह व्युत्पत्तिकरनेपर विषयभेदसे तीन प्रकारके भेदको प्राप्त होती है उसी प्रकार जीव भी निश्चयरूप अभेदनयसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप होकर भी भेदरूप व्यवहारनयसे जानता है, इसलिए ज्ञान है, देखता है, इसलिए दर्शन

है और चरण करता है, इसलिए चारित्र है इस प्रकार व्युत्पत्ति करनेपर विषयभेदसे तीन प्रकारके भेदको प्राप्त होता है।

ये आगम प्रमाण हैं। इन पर सम्यक् प्रकारसे दृष्टिपात करनेपर विदित होता है कि जो एक द्रव्यके द्वारा पिये गये अनन्त पर्यायपनेसे एक है, किंचित् मिलित आस्वादवाला है, अभेदरूप है और एक स्वभाव है वह निश्चय है, क्योंकि परमार्थसे वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। इस प्रकार इस कथन द्वारा वस्तुस्वरूपका ही उद्घाटन किया गया है, अतएव उक्त प्रकारसे वस्तुस्वरूपको ग्रहण करनेवाला निश्चयनय है यह सिद्ध होता है। स्पष्ट है कि त्रिकालाबाधित अभेदरूप एक अखण्ड वस्तुकी निश्चय संज्ञा है और उसे ग्रहण करनेवाला निश्चयनय है।

यह तो निश्चयस्वरूप वस्तुका और उसे ग्रहण करनेवाले निश्चयनयका स्वरूपनिर्देश है। अब व्यवहारनय और उसके विषयपर दृष्टिपात कीजिए।

आचार्य कहते हैं कि 'यद्यपि धर्म और धर्मीमें स्वभावसे अभेद है, तो भी नामसे भेद उपजाकर व्यवहारमात्रसे ही ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है और चारित्र है।' इससे विदित होता है कि धर्म-धर्मीमें स्वभावसे अभेद होनेपर भी भेद उपजाकर कथन करना व्यवहार है और इसे विषय करनेवाला व्यवहारनय है। यतः धर्म और धर्मी एक वस्तुमें सद्भूत हैं, इसलिए ऐसे नयको सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं।

यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि जिनागममें जो निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है उसमें यथार्थका नाम निश्चय है और उपचारका नाम व्यवहार है।

यह वस्तुस्थिति है। इसे दृष्टि ओझल करके अपर पक्ष वस्तुके एक धर्मको निश्चय कहता है और दूसरे धर्मको व्यवहार कहता है। यह बड़ी जटिल कल्पना है। उस पक्षने इस कल्पनाको मूर्तरूप किस आधारसे दिया यह हम अभी तक नहीं समझ सके। जब कि निश्चय शुद्ध अखण्ड वस्तु है और व्यवहार अखण्ड वस्तुमें भेद उपजाकर उसका कथन करनामात्र है। अपर पक्ष समझता है कि व्यवहारनयका विषय वस्तुका धर्मविशेष है तथा इसी प्रकार निश्चयनयका विषय भी वस्तुका धर्मविशेष है। किन्तु ऐसी बात नहीं है जैसा कि समयसार गाथा ७ की उक्त टीकासे स्पष्ट है। अपर पक्षको आगम पर दृष्टि रख कर उनके स्वरूपका निर्देश करना चाहिए। आगमके अभिप्रायको स्पष्ट करनेका यह विधिमार्ग है।

यद्यपि आगममें व्यवहारको प्रवृत्ति-निवृत्ति लक्षणवाला निर्दिष्ट किया गया है—

व्यवहारं प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणम्। —अनगारधर्मामृत अ० १ श्लोक ९९

सो प्रकृतमें उसका आशय इतना ही है कि जो व्रतादिरूप जीवकी प्रवृत्ति होती है उसे मोक्षमार्ग कहना यह व्यवहार है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

आगममें जो व्यवहारके सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार इत्यादि भेद किये गये हैं वे मात्र किस आलम्बनसे यह व्यवहार प्रवृत्त हुआ है यह दिखलानेके लिए किये गये हैं। अभेद और अनुपचरितरूप जो वस्तु है उसे इनमेंसे कोई भी व्यवहारनय विषय नहीं करता, क्योंकि सद्भूत व्यवहारनयका विषय संज्ञा, प्रयोजन और लक्षण आदिको ध्यानमें रखकर अखण्ड त्रिकालबाधित वस्तुमें

भेद उपजाकर कथन करनामात्र है और असद्भूत व्यवहारनयका विषय एक वस्तुमें अन्य वस्तुके गुण-धर्मका प्रयोजनादिवश आरोपकर कथन करनामात्र है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब कि प्रत्येक वस्तु त्रिकालाबाधित अखण्डरूपसे परमार्थ सत् है तो उसे विषय करनेवाले ज्ञानको निश्चयनय क्यों कहा गया है। ऐसे ज्ञानको प्रमाणज्ञान क्यों नहीं कहते? समाधान यह है कि यह ज्ञान धर्म और कालादि विशेषणसे विशिष्ट वस्तुको विषय नहीं करता, इसलिए यह ज्ञान नयज्ञान ही है और चूँकि वस्तु स्वभावसे अभेद-एकरूप ही परमार्थसत् है, इसलिए इसे स्वीकार करनेवाले नयविकल्पको निश्चयनय कहते हैं।

इस प्रकार 'व्यवहार' पदका क्या अर्थ है? उसे हमने अपने पिछले उत्तरमें उपचरित या आरोपित क्यों बतलाया इसका सप्रमाण स्पष्टीकरण हो जाता है। साथ ही अपर पक्षने निश्चय और व्यवहारको जो एक-एक धर्मस्वरूप बतलाया है वह ठीक नहीं है यह भी ज्ञात हो जाता है।

२. 'मुख्याभावे' इत्यादि वचनका स्पष्टीकरण

अपर पक्षने हमारे द्वारा निर्दिष्ट किये गये उपचारके लक्षणको मान्य कर लिया यह तो प्रसन्नताकी बात है। किन्तु उसे 'मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते' इस वचनमें पठित 'निमित्ते' पद पर विवाद है। उसका कहना है कि 'उपचारके इस अर्थमें हमारे आपके मध्य अन्तर यह है कि जहाँ आप उपचारकी प्रवृत्ति निमित्त और प्रयोजन दिखलानेके लिए करना चाहते हैं वहाँ हमारा कहना यह है कि उपचार करनेका कुछ प्रयोजन हमारे लक्ष्यमें हो और उपचार प्रवृत्तिका कोई निमित्त (कारण) वहाँ विद्यमान हो तो उपचारकी प्रवृत्ति होगी।' समाधान यह है कि आलापपद्धतिके उक्त वचन द्वारा 'मुख्याभावे सति' इस वचनका निर्देश कर यही तो बतला दिया गया है कि जहाँ व्यवहार हेतु और व्यवहार प्रयोजन बतलाना इष्ट हो वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। यहाँ 'निमित्त' और 'प्रयोजन' शब्द 'मुख्य हेतु' और 'मुख्य प्रयोजन' के अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है, अन्यथा उक्त वचनमें 'मुख्याभावे सति' इस वचनका सन्निवेश करना त्रिकालमें सम्भव नहीं था। आगममें उपचार कथनके जितने उदाहरण मिलते हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ 'सिंहोऽयं माणवकः' इस वचनपर दृष्टिपात कीजिए। इस द्वारा बालकमें सिंहका उपचार किया गया है। इसका कारण जिस गुणके कारण तिर्यञ्च विशेष यथार्थमें 'सिंह' कहलाता है, 'सिंह' के उस गुणका बालकमें सद्भाव स्वीकार करना ही तो है। यही उपचार करनेका व्यवहार हेतु है। अपर पक्ष ऐसा एक भी उदाहरण उपस्थित नहीं कर सकता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि एक द्रव्यका धर्म दूसरे द्रव्यमें वास्तवमें पाया जाता है। देखो, समयसार गाथा १०० में अज्ञानी जीवके योग और विकल्पको घटका निमित्तकर्ता कहा है। क्या अपर पक्ष यह साहस पूर्वक कह सकता है कि ये धर्म जीवके न होकर मिट्टीके हैं। यदि नहीं, तो अज्ञानी जीवके उन धर्मोंको घटका निमित्त या निमित्त कर्ता कहना हमारे उपचरित तथा उपचरितोपचरित ही तो होगा। प्रकृतमें 'सति निमित्ते प्रयोजने च' का यही तात्पर्य है और इसी तात्पर्यको स्पष्ट करनेके लिए आलापपद्धतिके उक्त वचनमें 'मुख्याभावे' पद दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपर पक्षने उक्त वचनके आधारपर हमारे और अपने बीच जिस मतभेदकी चर्चा की है वह वस्तुस्थितिको ध्यानमें न लेनेका ही परिणाम है। यदि अपर पक्ष आलापपद्धतिके उस प्रकरण पर ही दृष्टिपात कर ले जिस प्रकरणमें यह वचन आया है तो भी हमें आशा है कि वह पक्ष मतभेदको भूलकर इस विषयमें हमारे कथनसे सहमत हो जायगा।

४. 'वंधे च मोक्ख हेऊ' गाथाका अर्थ

अपर पक्षने नयचक्रकी 'वंधे च मोक्ख हेऊ' इस वचनको उद्धृत कर हमारे द्वारा किये गये उसके अर्थको गलत वतलाया है। अपर पक्षने जवकि वन्ध और मोक्षमें जीवको यथार्थ हेतु तथा कर्म-नोकर्मको व्यवहार हेतु स्वीकार कर लिया है तो इससे यह तो सुतरां सिद्ध हो जाता है कि कर्म और नोकर्मको जो वन्ध और मोक्षमें हेतु कहा है वह उपचारसे ही कहा है, क्योंकि 'व्यवहार हेतु' और 'उपचार हेतु' इन दोनों-का आशय एक ही है। अतएव उक्त गाथाके आधारसे अपर पक्षने जो यह तात्पर्य फलित किया है कि 'इस प्रकार जहाँ आपने अपने अर्थमें निमित्तमें उपचारसे कारणता वतलाई है वहाँ हमने अपने अर्थमें कर्म-नोकर्ममें वास्तविक निमित्तरूपसे कारणता वतलाई है।' वह आगमविरुद्ध है, क्योंकि अन्य वस्तु दूसरेके कार्यमें व्यवहारसे हेतु होता है, इसका ही यह अर्थ है कि वह उपचरित हेतु होता है। गाथामें 'ववहारदो' यह पद पृथक्से आया है। वह भी इस तथ्यकी घोषणा करता है कि वन्ध-मोक्षमें कर्म-नोकर्मको हेतु उपचारसे ही स्वीकार किया गया है, यथार्थमें नहीं।

हमने अपने अर्थमें कोष्टकमें जो 'निमित्त' पद दिया है वह नहीं देना था यह हमें इष्ट है, क्योंकि अन्य पदार्थ अन्यके कार्यका स्वभावसे हेतु नहीं होता। किन्तु इस परसे अपर पक्षके अभिमतकी सिद्धि नहीं होती। गाथा अपनेमें स्पष्ट है। उसके पूर्वार्धमें व्यवहार हेतु-उपचरित हेतुका और उत्तरार्धमें निश्चय हेतु-यथार्थ हेतुका निर्देश करके वतलाया गया है कि अन्य पदार्थ वन्ध-मोक्षमें व्यवहार हेतु है और जीव निश्चय हेतु है।

अपर पक्षका कहना है कि 'गाथाके उत्तरार्धमें 'जीव' पद है, इसलिए पूर्वार्धमें 'अण्णो' पदसे जीवसे भिन्न 'अन्य पदार्थ लिये गये हैं' सो यह कहना जहाँ ठीक है वहाँ कर्म-नोकर्मको व्यवहारसे निमित्त वतलाकर भी वे वास्तविक कारण है यह अर्थ करना संगत नहीं है, क्योंकि उक्त गाथामें 'हेऊ अण्णो ववहारदो' ये तीन पद स्वतन्त्ररूपसे आये हैं, जिनका अर्थ होता है कि 'व्यवहारनयसे अन्य पदार्थ हेतु अर्थात् निमित्त है।' इससे सिद्ध है कि उक्त गाथा द्वारा वन्ध और मोक्षमें अन्य वस्तुको उपचारसे हेतु स्वीकार किया गया है। अपर पक्ष 'ववहारदो हेऊ'का अर्थ 'निमित्त कारण' मात्र इतना करके उसे वास्तविक सिद्ध करना चाहता है यही उसकी भूल है। अपर पक्षको यह स्मरण रखना चाहिए कि निमित्त, कारण, हेतु और साधन इत्यादि शब्द एकार्थवाची हैं। यही कारण है कि गाथामें उपचार कारण और यथार्थ कारण इन दोनोंके लिए मात्र 'हेतु' शब्दका प्रयोग किया गया है। गाथामें वतलाया है कि वन्ध और मोक्षमें अन्य पदार्थ भी हेतु है और जीव भी हेतु है। परन्तु वे किस रूपमें हेतु हैं इसका ज्ञान कराते हुए 'ववहारदो' और 'णिच्छयदो' पद देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्य पदार्थ वन्ध-मोक्षमें व्यवहारसे (उपचारसे) हेतु है और जीव पदार्थ निश्चयसे (परमार्थसे) हेतु है। अतएव अपर पक्षने प्रकृतमें उक्त गाथाके आधारसे जितना व्याख्यान किया है वह ठीक नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्षका कहना है कि 'क्योंकि हम अपनी प्रतिशंकामें वतला चुके है कि एक वस्तुका अपना वस्तुत्व उपादान नहीं है और दूसरी वस्तुका अपना वस्तुत्व निमित्त नहीं है, किन्तु अपने स्वतन्त्र अस्तित्व-को रखती हुई विवक्षित वस्तु विवक्षित कार्यके प्रति आश्रय होनेसे उपादान कारण है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको रखती हुई अन्य विवक्षित वस्तु सहायक होनेसे निमित्त कारण है।' आदि।

समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तुकी उपादानकारणता उसका स्वरूप है। तभी तो प्रत्येक वस्तुमें

कर्त्ता आदि षट्कारक धर्मोंको यथार्थरूपमें स्वीकार किया गया है। इसके लिए समयसार परिशिष्टपर दृष्टिपात कीजिए। इसमें जीवमें भावशक्ति और क्रियाशक्तिका अस्तित्व बतलानेके बाद कर्मशक्ति, कर्तृशक्ति, करणशक्ति, सम्प्रदानशक्ति, अपादानशक्ति और अधिकरणशक्ति ये छह कारक शक्तियाँ निर्दिष्ट की गई हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तु स्वरूपसे अपने परिणामलक्षण कार्यका यथार्थ उपादान होनेके साथ वह उसका मात्र आश्रय न होकर कर्ता भी है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक वस्तुका अपना वस्तुत्व दूसरी वस्तुके कार्यका यथार्थ निमित्त अवश्य ही नहीं है। यही कारण है कि बन्ध-मोक्षमें अन्य वस्तुको व्यवहारसे (उपचारसे) निमित्त कहा है और जीवको निश्चयसे (परमार्थसे) हेतु कहा है। इस सन्दर्भमें जब हम अपर पक्षके उक्त वक्तव्यपर दृष्टिपात करते हैं तो हमें अपर पक्षका उक्त कथन आगमविरुद्ध ही प्रतीत होता है। इस छोटेसे वक्तव्यमें अपर पक्षने परस्पर विरुद्ध ऐसी मान्यताओंका समावेश कर दिया है जिनकी सीमा नहीं। जब कि अपर पक्षके कथनानुसार एक वस्तुका अपना वस्तुत्व उपादान ही नहीं तो वह अपने कार्यका यथार्थ आश्रय कैसे बन सकता है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। और साथ ही जब कि दूसरी वस्तुका अपना वस्तुत्व निमित्त नहीं तो वह दूसरेके कार्यका यथार्थ सहकारी कैसे कहला सकता है। हम तो अपर पक्षके इस कथनसे यही समझे हैं कि वह वास्तवमें वस्तुके वस्तुत्वमें ही संदिग्ध है।

हमने निश्चय छह कारक और व्यवहार छह कारक स्वीकार किये हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इन्हें स्वीकार करनेके साथ हमने यह भी तो बतलाया है कि निश्चय छह कारक यथार्थ हैं, और व्यवहार छह कारक कथनमात्र हैं, मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहनेके समान।

हमने 'जिसके साथ कार्यकी बाह्य व्याप्ति पाई जाती है उसमें कर्त्ता आदि निमित्त व्यवहार किया जाता है।' यह लिखा है। साथ ही इसी प्रसंगमें हमने यह भी लिखा है कि 'जिस दूसरे पदार्थके साथ बाह्य व्याप्ति पाई जाती है उसमें निमित्तरूप व्यवहारका आलम्बन कर जिसमें कर्त्तारूप व्यवहार होता है उसे कर्त्ता निमित्त कहते हैं।' आदि।

इसपर अपर पक्षने 'निमित्तरूप व्यवहारका आलम्बन कर' इस वाक्यांशके आधारसे लिखा है कि इस वाक्यांशका अर्थ 'उस दूसरे पदार्थमें उपादानकी कार्यरूप परिणतिके अनुकूल जो सहायतारूप व्यापार हुआ करता है जिसके आधार उसमें बहिर्व्याप्तिकी व्यवस्था बन सकती है, यदि आपका अभीष्ट अर्थ हो तो वह व्यापार उस दूसरे पदार्थका वास्तविक व्यापार ही तो माना जावेगा। उसे अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है।' आदि। समाधान यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यमें सहायतारूप व्यापार करता है यह कथनमात्र है। प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना व्यापार स्वयं करते हैं पर उनके एक साथ होनेका नियम है। मात्र इसलिये वहाँ उपादानसे भिन्न दूसरे द्रव्यके कार्यमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। जैसे घीका घड़ा कहना कल्पनारोपित नहीं है। व्यवहार षट्कारक विकल्प वश वस्तुमें ऐसे ही आरोपित किये जाते हैं जैसे—मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहा जाता है।

५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके एक प्रमाणका स्पष्टीकरण

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१के प्रमाणको अपर पक्ष अनेक बार उपस्थित कर आया है और हम भी उसका कहीं संक्षेपसे तथा कहीं विस्तारसे समाधान भी कर आये हैं। अपर पक्षने यहाँ पुनः उस प्रमाणको उपस्थित किया है। उसमें द्विष्ठ कार्य-कारणभावको व्यवहारनयसे परमार्थभूत कहा गया है। मात्र इसी कारण

अपर पक्ष उक्त कथनको अपने अभिमतके समर्थनमें मानता है। किन्तु आचार्य विद्यानन्दि उस कथनको निश्चय कथन नहीं बतला रहे हैं, मात्र व्यवहारनय कथन बतला रहे हैं, इसपर अपर पक्ष अपना ध्यान दे यह हमारा उस पक्षसे सविनय निवेदन है।

अब देखना यह है कि आचार्य विद्यानन्दिने यदि द्विष्ठ कार्य-कारणभावको व्यवहारनयसे परमार्थभूत कहा तो क्यों कहा ? बात यह है कि जिस प्रकार बौद्ध-दर्शन स्कन्धसन्तति आदिको संवृतिसत् (कल्पनारोपित) मानता है उस प्रकार जैनदर्शन उसे सर्वथा कल्पनारोपित नहीं मानता, क्योंकि दो आदि परमाणुओंमेंसे प्रत्येक परमाणुमें अपनेसे भिन्न दूसरे परमाणुको निमित्त कर अपनी योग्यतावश ऐसा परिणाम होता है जिसके कारण नाना परमाणुओंके उक्त परिणामको देश-भावप्रत्यासत्तिवश स्कन्ध आदि कहते हैं। ऐसा परिणाम सुसंस्कृत अर्थात् परमार्थसत् है, असंस्कृत अर्थात् कल्पनारोपित नहीं है। यहाँ प्रत्येक परमाणुके युगपत् देश-भाव-प्रत्यासत्तिरूप ऐसे परिणामको देखकर ही व्यवहारनयसे द्विष्ठ कार्य-कारणभावको परमार्थसत् कहा गया है। आशय यह है कि प्रत्येक परमाणुका उक्त प्रकारका परिणाम यथार्थ है। साथ ही उन सब परमाणुओंमें देश-भावप्रत्यासत्ति है। उनमें स्कन्ध व्यवहार करनेका यही कारण है। स्पष्ट है कि बौद्ध-दर्शन स्कन्धसन्ततिको जिस प्रकार संवृत्तिसत्-कल्पनारोपित मानता है उस प्रकार जैनदर्शन नहीं मानता। इसी कारण आप्तमीमांसा कारिका ५४ की अष्टशती टीकामें उसे सुसंकृत अर्थात् परमार्थसत् बतलाया है। आचार्य विद्यानन्दिने भी इसी आधारपर त० श्लो० वा०, पृ० १५१ में द्विष्ठ कार्य-कारणभावको परमार्थसत् कहा है। आचार्य विद्यानन्दिने वहीं पर उक्त उल्लेखके बाद संग्रह और ऋजुसूत्रनयसे उसे जो कल्पनामात्र घोषित किया है उसका यही तात्पर्य है कि स्कन्ध व्यवहारको प्राप्त हुए उन परमाणुओंकी न तो एक सत्ता है, क्यों कि सब परमाणुओंकी स्वरूपसत्ता पृथक्-पृथक् है और न एक पर्याय ही है, क्योंकि प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी पर्यायरूपसे परिणम रहा है। इस दृष्टिसे देखनेपर द्विष्ठ कार्य-कारणभाव कल्पनामात्र है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। उनके वे शब्द इस प्रकार हैं—

संग्रहर्जुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्सम्बन्धः अन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वमविरुद्धम्।

संग्रहनय और ऋजुसूत्रका आश्रय करने पर तो कल्पनामात्रको छोड़कर किसीका कोई सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार सर्व कथन अविरुद्ध है।

इस प्रकार समग्र कथनपर दृष्टिपात करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर द्विष्ठ कार्य-कारण-भावको जो परमार्थसत् कहा है वह विकल्परूप व्यवहारनयको ध्यानमें रखकर ही कहा है। व्यवहार नय मात्र विकल्परूप होनेसे उपचरित है इसके लिए समयसार गाथा १०७ की आत्मख्याति टीकापर दृष्टिपात कीजिए। संसारी जीवके ऐसा विकल्प साधार होता है, इसलिए तो वह कल्पनारोपित नहीं है और उस विकल्पकी विषयभूत वस्तु वैसी नहीं है, इसलिए वह उपचरित है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

अपर पक्षने तत्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० २ को उपस्थित कर प्रत्येक कार्य-स्वपर प्रत्यय होता है इसकी सिद्धि की है। समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य स्व-पर प्रत्यय होता है इसका निषेध नहीं। विचार तो यह करना है कि इन दोनोंमें किसकी कारणता यथार्थ है और किसकी कारणता उपचरित है। परमागममें इसका विचार करते हुए अपना कार्य करनेमें समर्थ स्वको यथार्थ कारण बत-लाया गया है और परकी कारणताको उपचरित बतलाया गया है। उक्त उल्लेखमें 'नान्यतरापाये

इत्यादि वचन निश्चय और व्यवहार इन दोनों पक्षोंकी सिद्धिके अभिप्रायसे लिखा गया है। यतः दोनों पक्षोंकी सिद्धि युगपत् नहीं हो सकती, अतः उनकी सिद्धि क्रमसे की गई है। पर इसका आशय यह नहीं कि प्रत्येक कार्यमें दोनों प्रकारके हेतुओंका युगपत् समागम नहीं होता। इसलिये प्रत्येक समयमें प्रतिनियत हेतुओंका समागम होकर प्रतिनियत कार्य ही उत्पन्न होता है ऐसा यहाँ उक्त कथनका आशय लेना चाहिए, अन्यथा एकान्तका परिहार करना अशक्य होनेसे समस्त कार्य-कारणपरम्परा ही गड़बड़ा जाती है। और इस प्रकार वस्तुमें प्रत्येक समयमें उत्पाद-व्ययके न बन सकनेके कारण वस्तुका ही अभाव प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है, अतः प्रत्येक समयमें प्रतिनियत वाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्तिको स्वीकार कर लेना यही आगमसम्मत मार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १७ का 'कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः' इत्यादि वचन उद्धृत किया है। सो उसका भी पूर्वोक्त आशय ही है। प्रत्येक कार्यके प्रति वाह्य उपकरण प्रतिनियत वाह्य सामग्री है और आभ्यन्तर उपकरण समर्थ उपादानरूप आभ्यन्तर सामग्री है। इनमेंसे कार्यका एक आत्मभूत विशेषण है और दूसरा अनात्मभूत विशेषण है। इसीको आचार्य समन्तभद्रने वाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता कहा है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिनियत वाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें ही प्रत्येक समयमें प्रतिनियत कार्य होता है। प्रवचनसार गाथा १०२ की सूरिकृत टीकाका भी यही आशय है। परीक्षामुख समुद्देश ३ सूत्र ६३ में जो 'तद्व्यापाराश्रितं' इत्यादि वचन आया है, इसमें मुख्यतया उपादानोपादेयभावकी दृष्टिसे विचार किया गया है। तथा 'कुलालस्येव कलशम्प्रति' इस वचन द्वारा उसकी पुष्टि की गई है। इस द्वारा वतलाया गया है कि जैसे कुलाल (कुम्हार) कलशके प्रति निमित्त (व्यवहार हेतु) है उसी प्रकार अनन्तर पूर्व क्षण कारण है और अनन्तर उत्तर क्षण कार्य है, क्योंकि कारण के होनेपर कार्यके होनेका नियम है। इस प्रकार इस वचन द्वारा भी पूर्वोक्त अभिप्रायकी ही पुष्टि की गई है। स्पष्ट है कि ये सब वचन हमारे अभिप्रायकी ही पुष्टि करते हैं, क्योंकि प्रतिनियत कार्यकी प्रतिनियत वाह्याभ्यन्तर सामग्रीके प्रतिनियत कालमें होनेका नियम है।

इस प्रकार त० श्लो० वा०, पृ० १५१ आदिके वचनोंका क्या आशय है इसका स्पष्टीकरण किया।

हमने लिखा था कि 'निमित्तको व्यवहारसे कारण स्वीकार किया गया है।' इस पर अपर पक्षका कहना है कि 'आप निमित्तमें कारणताका उपचार करना चाहते हैं। लेकिन यहाँ विचारना यह है कि निमित्त शब्दका अर्थ ही जब कारण होता है तो निमित्तमें विद्यमान कारणतासे अतिरिक्त और कौनसी कारणताका उपचार आप निमित्तमें करना चाहते हैं। तथा उसमें (निमित्तमें) कारणताके विद्यमान रहते हुए उस उपचरित कारणताका प्रयोजन ही क्या रह जाता है।' समाधान यह है कि यहाँ पर वाह्य सामग्रीके अर्थमें निमित्त शब्दका प्रयोग करके उसे अन्यके कार्यमें व्यवहार हेतु वतलाया गया है। अतः अपर पक्षको हमारा अभिप्राय समझकर ही उसका आशय ग्रहण करना चाहिए। 'बंधे च मोक्ख हेऊ' इत्यादि गाथाके अर्थपर अपर पक्षने जो टिप्पणी की है उसका स्पष्टीकरण हम इसी उत्तरमें पहले ही कर आये हैं। अतः व्यवहार हेतु और निश्चय हेतुके विषयमें जो आशय आगमका है, जिसका कि हमने विविध प्रमाणोंके आधारसे स्पष्टीकरण किया है वही ठीक है।

अपर पक्षने 'प्रत्येक वस्तुमें समानरूपसे एक साथ पाये जानेवाले उपादानता और निमित्तता नामके दोनों ही धर्म कार्यसापेक्ष होते हुए भी वास्तविक ही हैं।' इत्यादि लिखकर व्यवहार हेतुताको भी वास्तविक

बतलानेका प्रयत्न किया है। किन्तु अपर पक्षका यह कथन कल्पनामात्र है, क्योंकि एक वस्तुका उससे भिन्न वस्तुमें अत्यन्ताभाव है, इसलिए एक वस्तुके कार्यका कारण धर्म दूसरी वस्तुमें सद्भूत है यह मानना आगमसम्मत नहीं है। अतएव भेद विवक्षामें उपादानता नामके धर्मको कार्यसापेक्ष स्वीकार करना जहाँ सद्भूत व्यवहारका विषय है वहाँ व्यवहारहेतुको कार्यसापेक्ष स्वीकार करके भी असद्भूत व्यवहारनयका विषय मानना ही उचित है। यही कारण है कि परमागममें 'एक कार्यके दो कर्ता नहीं होते' यह स्वीकार किया गया है। इस विषयका विशेष खुलासा अनेक प्रश्नोंके उत्तरमें किया ही है।

अपर पक्षको एक वस्तुके कार्यका दूसरी वस्तुको निमित्तकर्ता कहना किस नयका विषय है और उस नयका लक्षण क्या है इस ओर ध्यान देना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि एक वस्तुके कार्यका दूसरी वस्तुको निमित्तकर्ता कहना मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहनेके समान उपचरित वचन ही है। प्रत्येक वस्तु स्वभावसे अपने ही कार्यका निमित्त (कारण) है। इसीको उपादानकारण कहते हैं। अन्य वस्तु अन्य वस्तुके कार्यको करे यह उसका स्वभाव नहीं है। अपर पक्ष अन्य वस्तुके कार्यका अन्य वस्तुको वास्तविक निमित्त मानकर उसे उपचरित माननेसे हिचकिचा रहा है। यही कारण है कि प्रकृतमें उसकी ओरसे जो तर्क उपस्थित किये गये हैं वे सब प्रकृतमें प्रयोजनीय नहीं हैं। अतएव उनकी उपेक्षाकर देना ही हम अपना प्रधान कर्तव्य मानते हैं।

अपर पक्षने यहाँ पर जो आपत्तियाँ उपस्थित की हैं, मात्र उनके भयसे हम उपादानगत कारणताका अन्य वस्तुमें आरोपकर उसे व्यवहारहेतु नहीं कहते। किन्तु एक वस्तुका कारण धर्म दूसरी वस्तुमें नहीं पाया जाता, फिर भी उसमें निमित्त व्यवहार होता है, मात्र इसलिए हम उपादानगत कारणताका आरोप अन्य वस्तुमें करते हैं।

अपर पक्षने 'मुख्याभावे सति प्रयोजने' इत्यादि वचनको उपस्थित कर पुनः उसे अपनी टीकाका विषय बनाया है। निवेदन यह है कि इसके आशयको समझनेके लिए सर्व प्रथम उस पक्षको 'मुख्याभावे' इस पदपर ध्यान देना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ मुख्य हेतु और मुख्य प्रयोजनके अभावमें व्यवहार हेतु और व्यवहार प्रयोजन दिखलाना हो वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। 'अन्नं वै प्राणाः; सिंहो माणवकः' इन उदाहरणोंको भी इसी न्यायसे समझ लेना चाहिये। अन्न प्राणोंके मुख्य हेतु नहीं हैं। प्राणोंका मुख्य हेतु तो उसका उपादान है। फिर भी अन्नको जो प्राण कहा गया है वह व्यवहार हेतुताको दिखलानेके लिए ही कहा गया है, अतः यहाँ उपाचारकी प्रवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणको भी घटित कर लेना चाहिए। स्वयं अन्न अपनेसे भिन्न प्राणोंका संरक्षण नहीं करते हैं, यह कार्य तो उपादानका है। प्राणोके संरक्षण आदिमें वह व्यवहार हेतु अवश्य है, इसलिए पहले तो अन्नमें प्राणोंकी व्यवहार हेतुताका उपचार किया गया और इसके बाद उसमें प्राणपनेका उपचारकर अन्नको प्राण ही कहा गया। इसलिए अन्नको प्राण कहना यह उपचरितोपचार है। अपर पक्षने अपनी कल्पनाको हमारा कथन बतलाकर यहाँ जो कुछ भी लिखा है उसका उक्त कथनसे निरास हो जाता है, अतः यहाँ हमने विस्तारसे अपने अभिप्रायको स्पष्ट नहीं किया है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यमें सहयोग कर नहीं सकता, मात्र कालप्रत्यासत्तिवश सहयोगका व्यवहार अवश्य किया जाता है। अज्ञानी जीव पर वस्तुमें इष्टानिष्ट या एकत्वबुद्धि करता है, इसे ही यदि अपर पक्ष अपनेसे भिन्न वस्तुमें आकृष्ट होना कहना चाहता है तो इसमें आपत्ति नहीं। किन्तु इस आधारपर यदि

अपर पक्ष यह मानना चाहता है कि उपादानसे भिन्न अन्य वस्तु उपादानके कार्यमें वास्तवमें सहयोग करती है या उसे वास्तवमें परिणमाती है तो ऐसा मानना मिथ्या है। उपादानके कार्यमें उससे भिन्न अन्य वस्तुको इसीलिए अकिंचित्कर कहा गया है।

'उपादानसे भिन्न वस्तुमें अपने कार्यका कारण धर्म वास्तविक है,इसलिए उपचार निराधार नहीं किया जाता' यह सच है। किन्तु वह कारण धर्म अपनेसे भिन्न अन्य वस्तुके कार्यका नहीं है, फिर भी प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर उसे अन्य वस्तुके कार्यका कारण कहा जाता है, इसलिए उसमें अन्य वस्तुके कार्यके वास्तविक कारणका आरोप करना लाजिमी होजाता है। अन्यथा उसे अन्य वस्तुके कार्यका कारण त्रिकालमें नहीं कहा जा सकता। अपर पक्ष आलापपद्धतिमें निर्दिष्ट किये गये उपचार प्रकरणमें आये हुए उन वचनोंपर दृष्टिपात कर ले। उन पर दृष्टिपात करनेसे अपर पक्षको समझमें यह बात अच्छी तरहसे आजायगी कि एककी कारणताको यदि दूसरेके कार्यकी कारणता कहा जाता है तो कारणतामें भी कारणताका आरोप करना बन जाता है। एक शूरवीर बालकको यदि दूसरा शूरवीर बालक कहा जाता है, जैसे आजके बलशाली मनुष्यको अतीत कालमें हुए भीमकी अपेक्षा भीम कहना, तो एक शूरवीर बालकमें दूसरे शूरवीर बालककी अपेक्षा शूरवीरताका आरोप करना बन जाता है। प्राणोंकी वास्तविक सहायक सामग्री तो स्वयं उनका उपादान है,अन्न नहीं। फिर भी अन्नको प्राणोंका सहायक कहना यह आरोपित कथन है। इसे वास्तविक मानना यही मिथ्या है। विशेष स्पष्टीकरण पूर्वमें किया ही है। स्पष्ट है कि अन्य वस्तु अन्यके कार्यका निमित्त कारण वास्तविक नहीं है, उपचरित ही है। बालककी शूरवीरतामें पहले सिंहकी शूरवीरताका आरोप होगा और इस आधारपर उसमें सिंहका आरोप कर उसे सिंह कहा जायगा। इसी प्रकार अन्नको प्राण क्यों कहा गया है इस विषयमें भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

एक द्रव्यके कार्यके प्रति दूसरी वस्तु स्वयं निमित्त (कारण) नहीं है। यह तो व्यवहार है। अतः आगममें अन्य वस्तुको दूसरेके कार्यके प्रति स्वभावतः सहयोगी नहीं माना गया है। यही कारण है कि 'अन्य वस्तु दूसरेके कार्यमें वास्तवमें अकिंचित्कर है' हमारा यह मानना युक्तियुक्त है। एक हम ही क्या, कोई भी व्यक्ति यदि परमें कारणताको वास्तविक मानकर परकी उठाधरीके विकल्प और योगप्रवृत्ति करता है तो उसे अज्ञानका फल ही मानना चाहिए। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर निष्कर्षरूपमें प्रवचनसार गाथा १६ की सूरिकृत टीकामें यह वचन उपलब्ध होता है—

अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते।

अतः निश्चयसे परके साथ आत्माका कारकरूप सम्बन्ध नहीं है, जिससे कि शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिए सामग्री (बाह्य सामग्री) ढूँढ़नेकी व्यग्रतावश जीव परतन्त्र होते हैं।

अन्य वस्तुमें कारणताका आरोप साधार किया जाता है। उसे निराधार कहना उचित नहीं है। दूसरेके उपादानमें अन्यके उपादानका आरोप करना ही निमित्तकारण कहलाता है। भ्रमका निरास करनेके लिए ही एकको उपादान कारण और दूसरेको निमित्तकारण कहा जाता है। तात्पर्य एक ही है। इसलिए पहले उपादानताका आरोप किया जाता है। बादमें निमित्तताका, ऐसा नहीं है। बाह्य वस्तुका अन्यके कार्यके प्रति स्वयं महत्त्व नहीं है। अपने अज्ञानरूप अपराधके कारण उसे अपने द्वारा महत्त्व

मिल जाता है। 'अन्नं वै प्राणाः' इत्यादि उदाहरणोंमें इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिए। उपचार सर्वथा कल्पित और निराधार नहीं है। किन्तु वह साधार है। उपचारको परमार्थभूत मानना ही असत्य है, अन्यथा वह व्यवहारसे सत्य है, क्योंकि व्यवहारीजनों की उसके आधारसे लोकव्यवहारकी प्रसिद्धि होती है। हम अन्यके कार्यमें अन्यकी सहायतारूप व्यवहारका लोप नहीं करना चाहते। उसे परमार्थरूप माननेका निषेध अवश्य करते हैं। अपर पक्ष अवश्य ही उसे परमार्थरूप सिद्ध करनेके प्रयत्नमें लगा है जो आगम, तर्क और अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है।

यहाँ निश्चयरूप छह कारकोंका उपचार कैसे होता है इसका निर्देश करते हुए अपर पक्षने कार्य-कारणके विषयमें लिखा है कि 'उपादान वस्तुगत कर्मत्वका आरोप आप कौनसी अन्य वस्तुमें करेंगे।' समाधान यह है कि उपादानका अपना कार्य वास्तविक कर्म है उसमें व्यवहार हेतु रूपसे स्वीकृत अन्य वस्तुके कर्मका आरोप करके उसे उसका नैमित्तिक (कार्य) कहिये। इससे कहाँ किस प्रकारका उपचार गृहीत है इसका सम्यक् परिज्ञान हो जाता है।

कुम्हार और जुलाहेका जो योग और विकल्परूप व्यापार होता है उसमें व्यवहार हेतुता इसलिए घटित होती है, क्योंकि उनकी क्रमशः घट और पट कार्यके साथ कालप्रत्यासत्ति पाई जाती है, इसलिए नहीं कि कुम्हार और जुलाहा घट और पटके यथार्थमें सहायक हैं। क्योंकि उन्हें घट और पटके वास्तविक सहायक माननेपर प्रत्येक द्रव्यकी वास्तविक स्वतन्त्रताकी हानिका प्रसंग उपस्थित हो जाता है जो युक्त नहीं है। घटादि कार्योंकी उत्पत्ति वास्तवमें अपने-अपने उपादानके व्यापारसे हुआ करती है, बाह्य सामग्रीके व्यापारसे उनकी उत्पत्ति कहना यही उपचार कथन है। बाह्य सामग्रीके साथ दूसरेके कार्यका अन्वय-व्यतिरेक बन जाता है, मात्र इसलिए बाह्य सामग्रीको यथार्थ कारण कहना उचित नहीं है। कौन यथार्थ कारण है और कौन उपचरित कारण है इसका निर्णय अनुपचरित और उपचरित कारणताके आधारपर करना ही ठीक है। बाह्य अन्वय-व्यतिरेक अन्तरंग अन्वय-व्यतिरेकका सहचर है। इसलिए इनमें कालप्रत्यासत्ति बन जानेसे बाह्य व्याप्तिको ध्यानमें रखकर यह भी कहा जाता है कि कुम्हारने अपना विवक्षित व्यापार बन्द कर दिया इसलिए घट नहीं बन रहा है। किन्तु है यह कथन उपचरित ही। वास्तविक कथन यह है कि उस समय मिट्टीने स्वयं कर्ता होकर अपना घटरूप व्यापार बन्द कर दिया, इसलिए घट नहीं बन रहा है। आचार्य विद्यानन्दिने कालप्रत्यासत्तिरूप अन्वय-व्यतिरेकको देखकर जो अन्य वस्तुको सहकारी कहा है वह व्यवहारसे ही कहा है, यथार्थमें नहीं। सो ऐसे व्यवहारका निषेध नहीं। यतः यह व्यवहार साधार होता है, इसलिए आधारकी अपेक्षा इसे परमार्थसत् भी कहते हैं। हाँ यदि निश्चयकी अपेक्षा विचार किया जाय तो यह अभूतार्थ ही कहा जायगा। यह तो वस्तुस्वभाव है कि कुम्हारके विवक्षित व्यापारके समय ही मिट्टी घट-रूप कार्य करती है। तभी तो इनका कालप्रत्यासत्तिरूप अन्वय-व्यतिरेक कहा गया है और तभी कुम्हारको घटका व्यवहार हेतु कहा गया है।

यहाँपर अपर पक्षने अन्तर्व्याप्ति और बाह्य व्याप्तिके जिस अटल सिद्धान्तका निरूपण किया है उसपर वह स्थिर रहे यह हमारी कामना है। तभी समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीकाका अपर पक्ष द्वारा उद्धृत किया जाना सार्थक है। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है, वह स्वसहाय है, इस सिद्धान्त-को भीतरसे स्वीकार कर लेने पर परसहाय कहना उपरित कैसे है यह समझमें आ जाता है। अपरपक्ष विवादकी स्थितिका त्यागकर इस ओर ध्यान दे यह निवेदन है। प्रत्यक्षसे जैसा प्रतीत होता है

उसे किसी अपेक्षासे मान्य रखते हुए भी वस्तुगत यथार्थ योग्यताको ध्यानमें रखकर निर्णय करना उचित है। तभी उस प्रत्यक्षज्ञानको प्रमाणीभूत माना जा सकता है। अन्यथा नहीं। यदि बाह्य व्याप्तिके प्रत्यक्षीकरणको प्रमाण माना जाय और उस आधारपर यह कहा जाय कि मिट्टी तो घटका उपादान है पर कुम्हारके विवक्षित व्यापारके अभावमें घट नहीं बन रहा है तो यही मानना पड़ेगा कि वस्तुतः ऐसा कहनेवाला व्यक्ति घटकी अपने उपादानके साथ रहनेवाली अन्तर्व्याप्तिको स्वीकार नहीं करना चाहता जो युक्त नहीं है। जो आबाल-वृद्ध कार्य-कारणभावकी सम्यक् व्यवस्थाको न जानकर मात्र प्रत्यक्षके आधारपर एकान्त पक्षका समर्थन करता है उसकी वह विचारधारा कल्पनारोपित ही है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि उक्त विचारधारा अन्तर्व्याप्तिके निश्चयपूर्वक ही सम्यक् कही जा सकती है, अन्यथा नहीं। घटादि कार्योंके प्रति कुम्हार आदिका व्यापार अनुकूल होता है यह कथन बाह्य व्याप्तिको ध्यानमें रखकर किया गया है और बाह्य व्याप्तिका कथन कालप्रत्यासत्तिके आधारपर किया गया है। तथा दो द्रव्योंके विवक्षित परिणामोंमें कालप्रत्यासत्ति कैसे बनती है इसका समाधान वस्तुगत स्वभावके आधारपर किया गया है। इससे यह फलित हुआ कि ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है कि जब-जब मिट्टी घटरूपसे स्वयं कर्त्ता होकर परिणमती है तब तब कुम्हारका विवक्षित व्यापार नियमसे होता है।

अपर पक्षने अपनी इस प्रतिशंकामें प्रवचनसार गाथा १०२की सूरिकृत टीका तथा समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका आदिके जो उद्धरण उपस्थित किये हैं उनका उक्त टीका वचनोंके अनुसार अर्थ न कर इस पद्धतिसे अर्थ किया है, जिससे साधारण पाठक भ्रममें पड़ जाय और इस प्रकार उक्त टीका वचनोंसे अपना अभिप्राय पुष्ट करना चाहा है। उदाहरणार्थ अनगारधर्मामृत प्रथम अध्याय श्लोक १०२ के अपर पक्ष द्वारा किये गये अर्थपर दृष्टिपात कीजिए। वह श्लोक इस प्रकार है—

> कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
> साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१०२॥

जिसके द्वारा निश्चय (भूतार्थ-यथार्थ) नयकी सिद्धिके लिए वस्तुसे भिन्न (पृथक्) कर्ता आदि कारक जाने जाते हैं वह व्यवहार है तथा वस्तुसे अभिन्न कर्त्ता आदिको जानना निश्चय है॥१०२॥

यह उक्त श्लोकका वास्तविक अर्थ है। इसके रचयिता पण्डितप्रवर आशाधरजीने इस श्लोकका स्वयं यह अर्थ किया है किन्तु इसके विरुद्ध अपर पक्षने इसका जो अर्थ किया है वह यद्यपि साधारण पाठकके ध्यानमें नहीं आयगा, फिर भी वह अर्थ सोद्देश्य किया गया है, इसलिए यहाँ दिया जाता है। उक्त श्लोकका अपर पक्ष द्वारा किया गया वह अर्थ इस प्रकार है—

जिसके द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिए (उपादानभूत) वस्तुसे भिन्न कर्ता आदिकी सिद्धि की जाती है वह व्यवहार कहलाता है और जिसके द्वारा वस्तुसे अभिन्न कर्ता आदिकी सिद्धि की जाती है वह निश्चय कहलाता है॥१०२॥

उक्त श्लोकके ये दो अर्थ हैं। एक वह जो वास्तविक है और दूसरा वह जो वास्तविक तो नहीं है, किन्तु अपने विपरीत अभिप्रायकी पुष्टिके लिए जिसे अपर पक्षने स्वीकार किया है।

अब हमें इस बातका विचार करना है कि उक्त श्लोकका हमारे द्वारा किया गया अर्थ ठीक क्यों है और अपर पक्ष द्वारा किया गया अर्थ ठीक क्यों नहीं है।

उक्त श्लोकमें आये हुए 'निश्चयसिद्धये, साध्यन्ते' और 'तदभेददृक्' ये पद ध्यान देने योग्य हैं।

स्वयं पण्डितप्रवर आशाधरजीने इनमेंसे 'साध्यन्ते' पदका अर्थ किया है—'ज्ञाप्यन्ते' 'निश्चयसिद्धये' पदका अर्थ किया है—'भूतार्थनयप्राप्त्यर्थम्' तथा 'तदभेददृक्' पदका अर्थ किया है—तेषां कर्त्रादीनामभेदेन वस्तुनोऽनर्थान्तरत्वेन दृक् प्रतिपत्तिः।'

उक्त पदोंका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा—'साध्यन्ते'—जाने जाते हैं, 'निश्चसिद्धये—भूतार्थनयकी प्राप्तिके लिए, तथा 'तदभेददृक्—उन कर्तादिकके अभेदसे वस्तुका अभेदरूपसे देखना जानना।

किन्तु अपर पक्षने इन तीनों पदोंका अर्थ किया है—'साध्यन्ते—सिद्धि की जाती है, निश्चय-सिद्धये—निश्चयकी सिद्धिके लिए तथा 'तदभेददृक्' जिसके द्वारा वस्तुसे अभिन्न कर्ता आदिकी सिद्धि की जाती है।

कर्ता आदिक वस्तुसे अभिन्न हैं, इसका नाम निश्चय है। यह यथार्थ है। इसे जाननेवाले निश्चयनय (भूतार्थनय–यथार्थनय) की सिद्धि ऐसे व्यवहारसे होती है जो वस्तुसे भिन्न कर्ता आदिका ज्ञान कराता है, यह उक्त श्लोकका तात्पर्य है। पण्डितजीने इसी ग्रन्थके अध्याय १ श्लोक ९९ में व्यवहारको अभूतार्थ कह कर अभूतार्थका अर्थ अविद्यमान इष्ट विषयरूप किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तुके कर्ता आदि धर्म उससे अभिन्न ही होते हैं। उससे भिन्न वस्तुमें उस वस्तुके कर्ता आदि धर्मोंका अत्यन्त अभाव ही होता है। इसलिए एक वस्तुके कर्ता आदि धर्म दूसरी वस्तुमें मानना यथार्थ न होकर मात्र व्यवहार ही है। इसे परमागममें जो असद्भूत व्यवहार कहा है उसका कारण भी यही है।

अनगारधर्मामृतके उक्त वचनमें यद्यपि 'आरोप' शब्द न आकर 'व्यवहार' शब्द ही आया है। पर यहाँ 'व्यवहार' पदसे क्या अर्थ लिया गया है इसका जब सम्यक् ज्ञान किया जाता है तो यही ज्ञात होता है कि उपादानमें रहनेवाले कर्ता आदि धर्मोंका अन्य वस्तुमें आरोप करना यही व्यवहार यहाँ पर इष्ट है।

यहाँ पर 'निश्चय' पदसे क्या अर्थ लिया गया है इसका ज्ञान प्रकरणसे हो जाता है। प्रकरण कार्य-कारणभावका है। कार्य कारणसे अभिन्न होता है इसका ज्ञान निश्चयनय कराता है। इसलिए इसे यथार्थ कहा गया है, क्योंकि परिणाम-परिणामीमें अभेद होनेसे प्रत्येक वस्तु स्वयं आप कर्ता होकर उसरूप परिणमती रहती है। इसके प्रकाशमें जब हम कार्य कारणसे भिन्न होता है इस कथन पर विचार करते हैं तो वह असद्भूत ही प्रतीत होता है, क्योंकि वह कारण कैसा जो विवक्षित कार्यसे भिन्न दूसरा कार्य करते हुए भी उस विवक्षित कार्यका कारण कहलावे। स्पष्ट है कि विवक्षित कार्यसे भिन्न वस्तुको उसका कारण कहना आरोपित कथन ही होगा। उससे विवक्षित कार्यके यथार्थ कारणका ज्ञान तो हो जाता है, पर वह स्वयं उसका यथार्थ कारण कहलानेका अधिकारी नहीं है। 'कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः' इस वचन द्वारा यही बतलाया गया है।

अपर पक्षने 'मिट्टीसे घड़ा बना है। तथा कुम्हारने घड़ा बनाया है' इन दोनों प्रकारके लौकिक वचनोंको ठीक मानते हुए' लिखकर यह भ्रम फैलानेकी चेष्टा की है कि हम भी इन दोनों वचनोंको लौकिक वचन मानते हैं। किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है, क्योंकि उक्त वचनोंमें 'मिट्टीसे घड़ा बना है' यह वचन यथार्थ है और 'कुम्हारने घड़ा बनाया है।' यह वचन लौकिक है।

हमने लिखा था कि 'इन वचन प्रयोगोंमें मिट्टीके साथ जैसी घटकी अन्तर्व्याप्ति है वैसी कुम्हारके साथ नहीं।' इसपर आपत्ति करते हुए अपर पक्षका कहना है कि 'उक्त दोनों प्रयोगोंमें घटकी मिट्टीके साथ

जैसी अन्तर्व्याप्ति अनुभूत होती है वैसी अन्तर्व्याप्ति उसकी कुम्हारके साथ अनुभूत नहीं होती इसका कारण यह नहीं है कि मिट्टी घटके प्रति वास्तविक (सद्रूप) कारण है और कुम्हार सिर्फ कल्पनारोपित (असद्रूप) कारण है।' आदि।

समाधान यह है कि मिट्टीमें घटकी कारणता वास्तविक है और कुम्हारमें योग और विकल्पकी कारणता वास्तविक है। परन्तु कुम्हारके योग और विकल्पकी घटके साथ असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति तथा प्रतिविशिष्ट भावप्रत्यासत्ति नहीं है। इस अपेक्षासे कुम्हारमें घटकी कारणता असद्रूप ही है। यदि इस रूपमें उसे सद्रूप मान लिया जाय तो कुम्हार और मिट्टी एक हो जावेंगे। यही कारण है कि आचार्योंने कालप्रत्यासत्तिवश कुम्हारको घटका व्यवहार (उपचरित) हेतु कहा है। अपर पक्ष ही स्वयं ऐसी कारणताको सर्वथा कल्पनारोपित (असद्रूप) लिखता है, अन्यथा वह उपचारके लिए इन शब्दोंका प्रयोग न करता। यह उस पक्षकी अपनी सूझ है। हमारे कथनका आशय नहीं। मिट्टी और घटमें अभेद होनेसे उपादानोपादेयभावके आधारपर जैसी अन्तर्व्याप्ति बन जाती है वैसी अन्तर्व्याप्ति कुम्हार और घटमें निमित्त-नैमित्तिकभावके आधारपर नहीं बनती, इसलिए कुम्हारको घटका निमित्त कहना और घटको कुम्हारका नैमित्तिक कहना यह उपचरित ही सिद्ध होता है। इसका आशय यह है कि कुम्हार घटका वास्तवमें निमित्त नहीं है और न घट कुम्हारका वास्तवमें नैमित्तिक ही है। यह मात्र व्यवहार है। जो उपचरित होनेसे असद्भूत ही है। कुम्हारके विवक्षित योग और विकल्पसे यह सूचना अवश्य मिलती है कि मिट्टीने घट बनाया। परन्तु उससे यह सूचना मिलती है, इसलिए कुम्हार और घटमें वास्तविक कर्ता-कर्मभाव घटित नहीं होता।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि निमित्त कारणको कहते हैं और नैमित्तिक कार्यका दूसरा नाम है। यही कारण है कि आगममें अनेक स्थलोंपर उपादानके लिए भी निमित्त शब्दका प्रयोग हुआ है। इसलिए अन्य द्रव्यमें अन्य द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा जो निमित्त व्यवहार किया जाता है वह उपचरित ही सिद्ध होता है।

आगममें स्व-परप्रत्यय परिणमनको स्वीकार किया है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उसी आगममें परको कारण उपचारसे माना गया है। इसे वह पक्ष क्यों स्वीकार नहीं करता। आगम तो दोनों हैं। एकको स्वीकार करना और दूसरेको अस्वीकार करना यह न्यायमार्ग नहीं कहा जा सकता। यदि अपर पक्ष एक द्रव्यके कार्यका कारण धर्म दूसरे द्रव्यमें वास्तविक सिद्ध कर दे तब तो बाह्य सामग्रीमें निमित्तता वास्तविक मानी जाय, अन्यथा उसे उपचरित मानना होगा।

अपर पक्षका कहना है कि 'निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता, सिर्फ उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है।' समाधान यह है कि जब कि अपर पक्ष बाह्य व्याप्तिके आधार पर बाह्य सामग्रीको वास्तविक निमित्त मानता है तो उसे भी कार्यरूपसे परिणत होना चाहिये। अतः वह कार्यरूपसे परिणत नहीं होता, इसीलिए उसे उपचरित मानना ही संगत है।

अपर पक्ष अपनी मान्यताके आधार पर यह भले ही समाधान करले कि निमित्त कर्तृत्व और निमित्त कारणत्व आदिको वास्तविक माननेसे निमित्तोंमें द्विक्रियाकारिताकी प्रसक्ति नहीं होगी। किन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि जिस बाह्य सामग्रीको अपर पक्ष अन्यके कार्यका वास्तविक निमित्त कहता है वह अपने कार्यका उपादान भी है, इसलिए जैसे उपादान होकर की गई उस (बाह्य सामग्री) की क्रिया वास्तविक है उसी प्रकार अन्यके कार्यके प्रति निमित्त होकर की गई उस वस्तुकी दूसरी क्रियाको भी वास्तविक मानना

होगा और ऐसी अवस्थामें वह वाह्य सामग्री दो क्रियाकी कर्ता हो जायगी जो जिनागमके सर्वथा विरुद्ध है। स्पष्ट है कि वाह्य सामग्रीमें जैसे निमित्त व्यवहार उपचरित है वैसे ही उसे निमित्त कर जो कार्य हुआ है उसमें नैमित्तिक व्यवहारको उपचरित मान लेना ही श्रेयस्कर है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहार उपचरित ही है। 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते' यह वचन इसी उपचरितपनेके दिखलाने लिए लिखा गया है। इसका विशेष स्पष्टीकरण पूर्वमें किया ही है। अतएव उपादानके समान निमित्त व्यवहारको वास्तविक नहीं माना जा सकता। निमित्त व्यवहारको कल्पनारोपित तो अपर पक्ष ही कहता है। हमारी ऐसी मान्यता नहीं है, क्योंकि जितना भी उपचरित कथन किया जाता है वह एकके धर्मको दूसरेका स्वीकार करके ही किया जाता है, सर्वथा निराधार नहीं किया जाता। यदि अपर पक्ष उपचाररूप लोकव्यवहारको कल्पनारोपित घोषित करनेमें ही अपनी इतिकर्तव्यता मानता रहेगा तो उसके मतसे 'यह बालक शेर है, घीका घड़ा ले आओ' आदि रूप समस्त व्यवहार कल्पनारोपित सिद्ध हो जायगा। किन्तु लोकमें ऐसा व्यवहार होता है और वह इष्टार्थका ज्ञान करानेमें भी समर्थ है, अतएव निमित्त-नैमित्तिक व्यवहारको उपचरित मान लेनेमें अपर पक्षको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अपर पक्षका कहना है कि 'समयसार गाथा १३,१४ की आत्मख्याति टीकामें व्यवहारको अपनेरूपमें भूतार्थ ही स्वीकार किया है।' सो यहाँ यही तो ज्ञातव्य है कि व्यवहारका वह अपना रूप कौनसा है जिस आधार पर उक्त टीकामें उसे भूतार्थ स्वीकार किया है। यहाँ अपर पक्ष मौन क्यों है?

अपर पक्षका कहना है कि 'जिस प्रकार निमित्तमें विद्यमान निमित्तता निमित्तता ही है वह उपादानतारूप नहीं हो सकती है, इसलिए उपादानतारूप न हो सकनेके कारण अवास्तविक होते हुए भी निमित्ततारूपसे वह वास्तविक ही है, उसी प्रकार व्यवहार-व्यवहार ही है वह निश्चय कभी नहीं हो सकता है, इसलिए निश्चय न हो सकनेके कारण अवास्तविक होते हुए भी व्यवहाररूपसे वह वास्तविक ही है।'

सो प्रकृतमें जानना तो यही है कि जिस प्रकार उपादानता वस्तुका वास्तविक धर्म है, इसलिए स्वयं वस्तु ही है इस प्रकार निमित्तता क्या वस्तुका वास्तविक धर्म है? यदि वह वास्तविक है तो क्या एक वस्तुका गुणधर्म दूसरी वस्तुमें सद्भूत हो सकता है? यदि नहीं तो उसे उपचरित मान लेनेमें अपर पक्षको आपत्ति नहीं होनी चाहिए। निमित्तता अपने रूपमें है यह कहना अन्य बात है और उसे वस्तुरूप मानना अन्य बात है। इसी न्यायसे व्यवहारके विषयमें भी समझ लेना चाहिए। समयसार गाथा १३,१४ की आत्मख्याति टीकामें अपनी-अपनी वन्धपर्यायकी अपेक्षा सद्भूत व्यवहारको भूतार्थ कहा है, असद्भूत व्यवहारको नहीं।

अपर पक्षने अन्तमें प्रस्तुत प्रतिशंकाका उपसंहार करते हुए लिखा है कि 'यह बात हम पहले ही बतला आये हैं कि एक वस्तु या वस्तुके धर्मका आरोप अन्य उस वस्तुमें वहीं होता है जहाँ उपचारका उल्लिखित लक्षण घटित होता है। इस प्रकार उपचारके आधार पर वस्तुको ही उपचरित कहा जाता है। और इस तरह वस्तुके दो धर्म हो जाते हैं एक उपचरित धर्म और दूसरा अनुपचरित धर्म। इनमेंसे जो ज्ञान उपचरित धर्मको ग्रहण करता है वह उपचरित ज्ञाननय कहलाता है और जो ज्ञान अनुपचरित धर्मको ग्रहण करता है वह अनुपचरित ज्ञाननय कहलाता है। इसी प्रकार जो वचन उपचरित धर्मका प्रतिपादन करता है वह उपचरित वचननय कहलाता है और जो वचन अनुपचरित धर्मका प्रतिपादन करता है वह अनुपचरित वचननय कहलाता है।'

खुलासा यह है कि प्रत्येक वस्तुमें उपचरित धर्मकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हुआ करती, किन्तु अन्य जिस वस्तुसम्बन्धी द्रव्य, गुण और पर्यायका प्रयोजनादिवश तद्भिन्न वस्तुमें द्रव्य, गुण या पर्याय जिस रूपसे उपचार किया जाता है वह द्रव्य, गुण या पर्याय जिसका उपचार किया गया है उस नामसे कहा जाता है। इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर आलापपद्धतिमें असद्भूत व्यवहारका अर्थ (विषय) नौ प्रकारका बतलाया गया है। और इसी आधारपर वस्तुमें असद्भूतव्यवहारसे उपचरितस्वभावकी भी स्थापना की गई है—असद्भूतव्यवहारेणोपचरितस्वभावः।—आलापप०।

अन्य वस्तुको या उसके धर्मको अन्यके कार्यका निमित्त कहना उपचरित इसलिए है कि इसमें अन्यके कार्यकी अपेक्षा मुख्य निमित्त (उपादान) और मुख्य प्रजोजनका सर्वथा अभाव है, किन्तु निश्चयका ज्ञान करानेके लिए व्यवहार हेतु और व्यवहार प्रयोजन दिखलाना आवश्यक है, इसलिए 'मुख्याभावे सति' इत्यादि वचनके अनुसार वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति हो जाती है।

अपर पक्षका कहना है 'कि इस प्रकार उपचारके आधार पर वस्तुको ही उपचरित कहा जाता है।' किन्तु सर्वथा ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कहीं पर पूरी वस्तुको, कहीं पर गुणको और कहीं पर पर्यायको इस प्रकार तीनोंको उपचरित कहा जाता है।

अपर पक्षने यहाँ पर जिस उपचार ज्ञाननय और उपचार वचननयका निर्देश किया है उसीकी दूसरी संज्ञा असद्भूतव्यवहारनय है।

इस प्रकार हमने अपने प्रथमादि उत्तरोंमें उपचारका जो लक्षण और अनेक उदाहरण निर्दिष्ट किये हैं वे आगमानुसार ही निर्दिष्ट किये हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्षसे निवेदन

जयपुर (खानिया)में तत्त्वचर्चाका जो उपक्रम किया गया था वह इस उत्तरके साथ अन्तिमरूपसे सम्पन्न हो रहा है। इस समग्र प्ररूपणा द्वारा वस्तु व्यवस्थामें और कार्य-कारणभावमें निश्चय और व्यवहारको जिनागम किस रूपमें स्वीकार करता है यही दिखलाना हमारा मुख्य प्रयोजन रहा है। हमारा क्षयोपशम मन्द है और जीवनमें प्रमादकी बहुलता है, किन्तु जिनागम द्वादशांग वाणीका सार होनेसे गहन और नय-प्ररूपणाबहुल है। इसलिए उक्त कारणोंसे पूरी सावधानी रखते हुए भी हमसे यदि कहीं चूक हुई हो तो अपर पक्ष हमारे क्षयोपशमकी मन्दता और प्रमादकी बहुलताकी ओर विशेष ध्यान न देकर उसे सम्हालकर ही यथार्थको स्वीकार करेगा यह निवेदन है।

विद्वान् श्रुतधर होते हैं। अतएव उन्हें श्रुतके आशयको उसीरूपमें प्ररूपित करना चाहिए जो द्वादशांग वाणीका सार है। वर्तमानकालीन विद्वानोंके सामने आचार्य परम्परा तो आदर्शरूपमें है ही, श्रुतधर पण्डितप्रवर राजमलजी, बनारसीदासजी, टोडरमलजी, दौलतरामजी, भागचन्द्रजी, द्यानतरायजी, भूधरदासजी जयचन्दजी आदि विद्वानोंकी परम्परा भी आदर्शरूपमें है। अतएव उसे ध्यानमें रखकर वर्तमानकालीन विद्वान् अपने कर्तव्यका निर्वाह करेंगे ऐसी आशा है।

जिनागममें निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंमेंसे कहीं निश्चयनयकी मुख्यतासे और कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे प्ररूपणा हुई है। उसका आशय क्या है इसका स्पष्टीकरण पण्डितप्रवर टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ में 'ववहारो भूयत्थोऽभूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ' इस आगम वचनको उद्धृत कर किया है। वे लिखते हैं—

याका अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूपको न निरूपै है। बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है सो भूतार्थ है। जैसा वस्तुका स्वरूप है तैसा निरूपै है।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वे आगे पुनः लिखते हैं—

जिनमार्गविषैं कहीं तौ निश्चयनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है। ताकौं तो 'सत्यार्थ ऐसैं ही है' ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है। ताकौं 'ऐसैं है नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोऊ नयनिका ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनिके व्याख्यानकौं समान सत्यार्थ जानि 'ऐसैं भी है, ऐसैं भी है' ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तनें करि तौ दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या है नाहीं।

इस प्रकार समाधानका तीसरा दौर समाप्त होकर प्रस्तुत तत्त्वचर्चा समाप्त हुई।